• ओ३म् •

सत्यार्थ-प्रकाश

स्वामी दयानन्द सरस्वती

❧ ओ३म् ❧
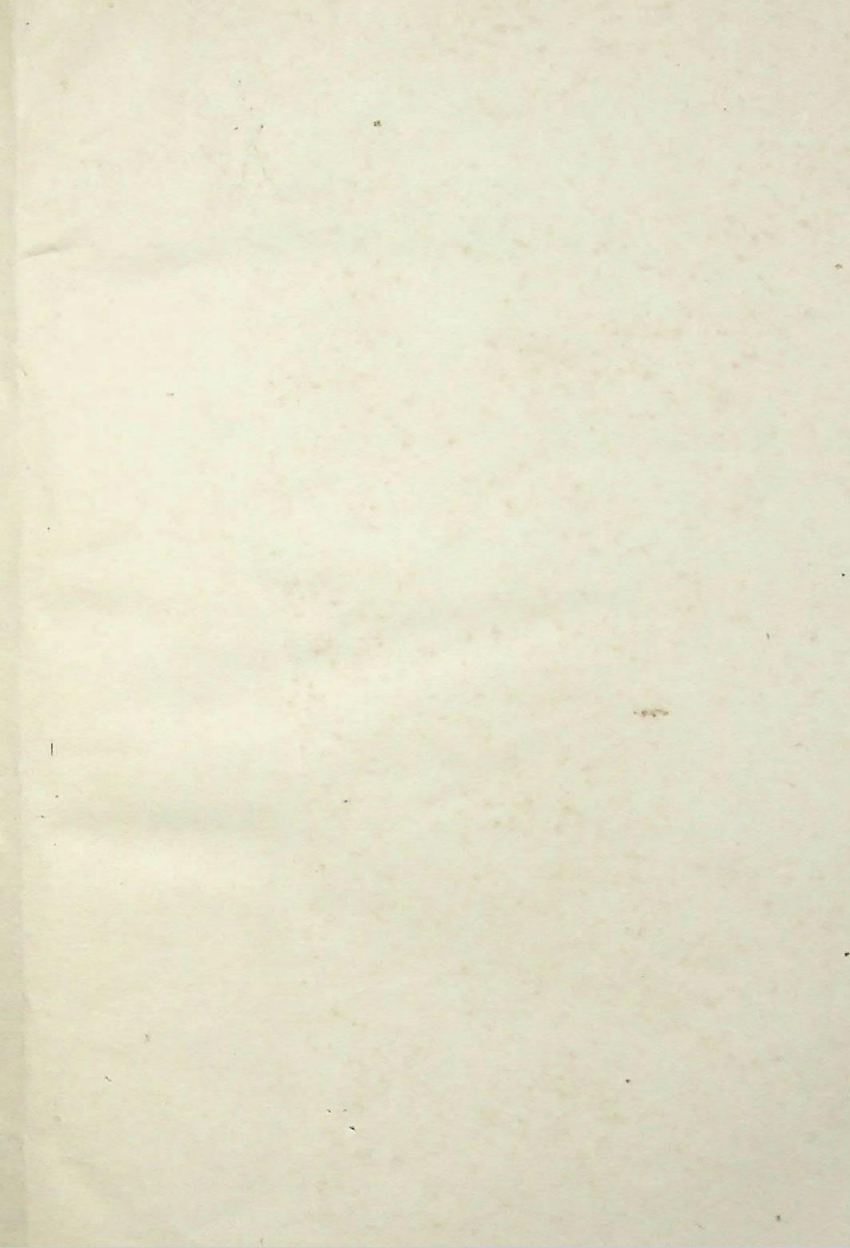
सत्यार्थ-प्रकाशः

वेदादि-विविध-सच्छास्त्र-प्रमाण-समन्वितः

[शिक्षा-धर्म-राजनीति-मतमतान्तर-विषयको विश्व-कोशः]

तस्येदं

शुद्धपाठयुतं विविध-टिप्पणीभिरलंकृतं प्रामाणिकं संस्करणम्

श्रीमत्स्वामी दयानन्दसरस्वती

प्रकाशक—
रामलाल कपूर ट्रस्ट
बहालगढ़ (सोनीपत-हरियाणा)

सम्पादक—
युधिष्ठिर मीमांसक
रामलाल कपूर ट्रस्ट

इस संस्करण की विशेषता

१—मूल पाठ का संरक्षण
२—विविध संस्करणों में परिवर्तित पाठों का पुनः मूल रूप में स्थापन
३—उद्धृत वचनों का शुद्ध पाठ वा मूल स्थान निर्देश
४—विविध प्रकार की २५०० टिप्पणियां=(१५० पृष्ठ)
५—विविध संस्करणों का विवेचनात्मक सम्पादकीय वक्तव्य
६—शुद्ध-मुद्रण
७—अन्त में दो विशिष्ट परिशिष्ट
८—लागत मात्र मूल्य

प्रथमवार ५००० | वि० सं० २०२९ | सन् १९७२
मूल्य—५-०० | सजिल्द ६-००
मुद्रक—सुरेन्द्र कुमार कपूर | रामलाल कपूर ट्रस्ट प्रस, | बहालगढ़ (सोनीपत)

ओ३म्

प्रकाशकीय

श्रीमती माता प्रेमदेवी जी दरगन ने अपने स्वर्गीय पतिदेव श्री केशवचन्द्र जी दरगन की स्थायी स्मृति के लिये 'सत्यार्थप्रकाश' के शुद्ध सुन्दर सटिप्पण संस्करण छापने के लिये ट्रस्ट को १४००० रु० दान दिया है। उसी से सत्यार्थ-प्रकाश का यह संस्करण छपा है।

इसके साथ ही आपने ४००० रु० 'वैदिक नित्य-कर्म-विधि' के मुद्रणार्थ दिया था। उसे ट्रस्ट गतवर्ष प्रकाशित कर चुका है।

यद्यपि जिस समय ५००० पांच हजार सत्यार्थ-प्रकाश के प्रकाशन के व्यय का व्यौरा दिया गया था, उसकी अपेक्षा जब कार्य आरम्भ होकर समाप्त हुआ, इस बीच कागज का भाव तथा अन्य वस्तुओं का मूल्य बहुत बढ़ गया, इस कारण ५००० छापने पर कुल व्यय उन्नीस सहस्र हुआ है, अर्थात् लगभग ४ रुपये प्रति पुस्तक लागत पड़ी है। कमीशन भी पुस्तक विक्रेता को न्यूनातिन्यून २०% देना ही पड़ता है, कुछ पुस्तकें भेंट में चली जाती हैं, और कुछ खराब भी हो जाती हैं। इस कारण इतना मूल्य रखना स्वाभाविक है कि मूल धन पूरा वापिस आ जावे, जिस से दानदात्री जी की इच्छानुसार दरगन जी की पुण्य स्मृति में इसे पुनः छपवाया जा सके। फिर भी दानदात्रीजी की इच्छा और ग्रन्थ के प्रचार की दृष्टि से इस का मूल्य ५ रु० (२० प्रतिशत कमीशन काटकर ४ रु०) मात्र रखा है।

ऋषि दयानन्द की सर्वजनोपयोगी कृति सत्यार्थ-प्रकाश के शुद्ध प्रामाणिक पाठ एवं विविध टिप्पणियों से सुभूषित संस्करण प्रकाशित करने के लिये माता श्रीमती प्रेमदेवी जी दरगन ने महती धनराशि देकर रामलाल कपूर ट्रस्ट को इस ग्रन्थ के प्रकाशन करने का जो सुअवसर प्रदान किया है, उसके लिये ट्रस्ट उनका अतीव आभारी है।

इस ग्रन्थ के लिये जो कागज लिया गया, उस में कई प्रकार का कागज आ गया, और छपाई भी कहीं-कहीं उत्तम नहीं हुई है। हमें इसी कारण मशीनमैन भी तीन बार बदलने पड़े, तब कहीं अच्छी छपाई का प्रबन्ध हो सका। इस कमी के लिये हमें बहुत खेद है।

श्री पं० शान्तिप्रकाश जी (मुजफ्फर नगर) ने ५०० रुपया दान किसी पुस्तक के प्रकाशन में लगाने के लिये दिया था। हमने इस दान का उपयोग इस ग्रन्थ की भेंट में दी जाने वाली प्रतियों के लिये किया है। इस दान के लिये हम श्री पं० शान्तिप्रकाश जी के भी आभारी हैं।

प्यारेलाल कपूर
मन्त्री—रामलाल कपूर ट्रस्ट
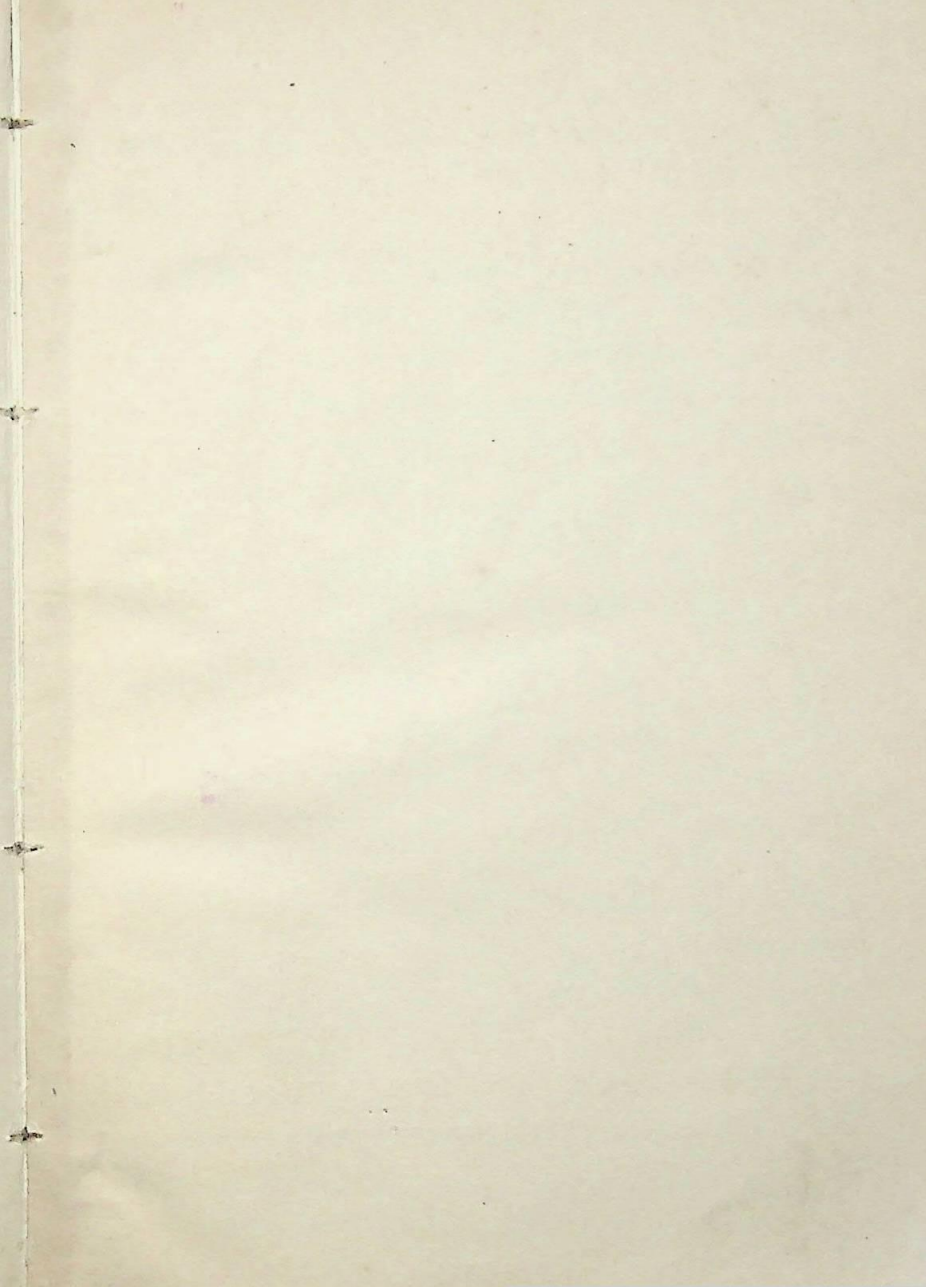
स्व० श्री केशवचन्द्र जी दरगन

जन्म १६ दिसम्बर १६१४ निधन १४ मई १६७०

जिन की पवित्र स्मृति में यह ग्रन्थ छपा है।

स्व० श्री केशवचन्द्र जी दरगन का परिचय

श्री केशवचन्द्र जी दरगन का जन्म १६ दिसम्बर १६१४ को मुलतान शहर (वर्तमान में पाकिस्तान) में हुआ था। आप के पूज्य पिता का नाम श्री सेवाराम जी दरगन था। मुलतान में आपका मकान देहली दरवाजे के अन्दर सागवाले मोहल्ले में था। आपने क्वेटा (पाकिस्तान) में 'सीनियर केम्ब्रिज' पास किया, और विवाह के पश्चात् आगे पढ़ाई के लिये सन् १६३६ में इङ्गलैण्ड चले गये। वहां ब्रिस्टल में मैकेनिकल इञ्जिनियरिंग का ५ वर्ष का कोर्स उत्तीर्ण किया। फिर ब्रिस्टल एरोप्लेन कम्पनी में कार्य करते रहे। सन् १६३६ में अपनी धर्मपत्नी श्रीमती प्रेमदेवी जी को भी वहीं पर बुला लिया। उन्होंने वहां पर एक 'जनरल स्टोर' खोला। ईश्वर की कृपा से आप का व्यापार बहुत बढ़ा। तत्पश्चात् दोनों पति-पत्नी १६५० में भारत वापिस आ गये।

यहां आकर श्री केशवचन्द्र जी दरगन पञ्जाब के सिचाई विभाग में कार्य पर लगे, और 'भाखड़ा बांध परियोजना' पर इञ्जिनियर नियुक्त हुये। भाखड़ा बांध परियोजना का कार्य जब समाप्त हुआ, तो आपको फिर 'व्यास-परियोजना' पर भेज दिया गया। वहां कुछ समय तलवाड़ में, पश्चात् पण्डोह (हिमाचल) में रहे। सितम्बर १६६६में आपका हरियाणा में स्थानान्तरण हो गया, और वहां सिचाई विभाग में टोहाना-डिविजन में एग्ज़ीक्यूटिव इञ्जिनियर नियुक्त हुए। परन्तु वहां आपका स्वास्थ्य ठीक नहीं रहा। इसलिये दिसम्बर १६६६ में अवकाश लेकर उपचार के लिये देहली चले गये। परन्तु स्वास्थ्य बिगड़ता ही चला गया। धर्मपत्नी और सम्बन्धियों के भरसक प्रयत्न करने पर भी आप स्वस्थ न हो सके, और १४ मई १६७० को आपका स्वर्गवास हो गया। आप हमारे प्रिय मित्रों में से थे, अतः उनके अचानक निधन का हमें बहुत दुःख हुआ।

आप ईश्वर-भक्त, सरल-स्वभाव, प्रसन्न-चित्त और ईमानदार होने के कारण अपने ऊपर के अधिकारियों तथा नीचे के कर्मचारियों दोनों में लोकप्रिय थे। आपको आर्य-समाज और वैदिकधर्म से विशेष प्रेम था। आप जहां-कहीं भी रहे, आर्यसमाज के साथ किसी न किसी रूप में सम्बन्धित रहे। अपने कार्य से अवकाश पाने के पश्चात् आपकी इच्छा एकान्तवास के रूप में ज्वालापुर के वान-प्रस्थाश्रम में स्थायीरूप से रहने की थी। इसी विचार से आपने वहां एक कुटिया के लिये भूमि भी सुरक्षित करा ली थी। अब आपके निधन के पश्चात् आपकी धर्मपत्नी जी वहीं पर निवास कर रही हैं।

श्री दरगन जी के निधन के पश्चात् आपकी धर्मपत्नी श्रीमती प्रमदेवी जी ने मेरे से जब यह इच्छा प्रकट की, कि वह अपने स्वर्गीय पतिदेव के नाम पर कोई स्थायी स्मृति बनवाना चाहती हैं, तो मैंने उन्हें कुछ वैदिक धर्म के ग्रन्थों के प्रकाशन कराने का सुझाव दिया। उसे उन्होंने सहर्ष स्वीकार किया, और यह निर्णय हुआ कि सत्यार्थ-प्रकाश का शुद्ध प्रामाणिक संस्करण तथा एक दूसरी पुस्तक सन्ध्या-हवन के मन्त्रों की अर्थ-सहित छपवाई जाये। अब समस्या उत्पन्न हुई कि यह कार्य किस संस्था से करवाया जाये। यतः हमारी इच्छा यह थी कि 'सत्यार्थ-प्रकाश' महर्षि के हस्तलेखों से प्रमाणित और शुद्ध होवे,तथा सन्ध्या-हवन के मन्त्रों की पुस्तक में अर्थ विषय अर्थात् विनियोग के अनुसार होवें। साथ ही आर्य-समाज के सत्सगों में जो भिन्नता पाई जाती है, उसको दूर करने के लिये प्रामाणिक निर्देश दिये जावें। इस कार्य के लिये जब चारों ओर दृष्टि डाली, तो अन्त में हमारी दृष्टि वेद के मर्मज्ञ विद्वान् और दयानन्द-भक्त श्री पं० युधिष्ठिर जी मीमांसक तथा श्री रामलाल कपूर ट्रस्ट पर जाकर टिकी। जब उनसे प्रार्थना की गई, तो उन्होंने हमारी इच्छा की पूर्ति में सहयोग देना सहर्ष स्वीकार कर लिया, कि दोनों पुस्तकों के भावी संस्करण भी श्री केशवचन्द्र जी दरगन की स्मृति में ही सदा छापते रहेंगे। इसके लिये हम उनके आभारी हैं। श्रीमती प्रेमदेवी जी ने

इन दोनों पुस्तकों के प्रकाशन के लिये श्री रामलाल कपूर ट्रस्ट को (१४०००+४०००=) १८ सहस्र रुपये दान में दिये। यह आप का अपने पूज्य पतिदेव के प्रति अगाध प्रेम और श्रद्धा का प्रतीक है।

सन्ध्या-हवन के मन्त्रों के अर्थ और व्याख्या की पुस्तक 'वैदिक-नित्य-कर्म-विधि' के नाम से गत वर्ष प्रकाशित हो चुकी है। इस का सम्पादन श्री पं० युधिष्ठिर जी मीमांसक ने किया है। यह पुस्तक अपने रूप में विशेष महत्त्व की है। यह आर्य-समाजों और सतसङ्गों में यज्ञ-विधि में एकरूपता लाने तथा भिन्नताएं दूर करने के लिये लाभदायक एवं प्रामाणिक है। मैं सभी आर्य-जनों से आग्रह करूंगा कि वे इस पुस्तक को अवश्य पढें, और इस में दिये गये यज्ञ-सम्बन्धी निर्देशों का पालन करें। इससे उन्हें जहां आर्यसमाजों के सत्संगों में एकरूपता लाने में सहयोग मिलेगा, वहां नैत्यिक कर्म के सम्बन्ध में अनेकविध आवश्यक जानकारी भी मिलेगी।

'सत्यार्थ-प्रकाश' के इस संस्करण का सम्पादन भी श्री पं० युधिष्ठिर जी मीमांसक ने किया है। इसकी विशेषता और प्रामाणिकता के विषय में उन्होंने अपने सम्पादकीय वक्तव्य में भली प्रकार लिख दिया है।

मैं आशा करता हूं कि आर्य-जनों को पूज्य पण्डित जी द्वारा सम्पादित अन्य पुस्तकों की भांति ही इसकी भी विशेषता एवं महत्ता का स्वयं ही अनुभव होगा। श्रीमान् पण्डित जी के विषय में कुछ लिखना मेरे लिये सूर्य को दीपक दिखलाने के सदृश होगा।

श्रीमती प्रेमदेवी जी दरगन भी धन्यवाद की पात्र हैं, जिन्होंने आर्य-समाज तथा वैदिकधर्म के अभ्युदय के लिये इतनी बड़ी राशि दान देकर जहां अपने पतिदेव की स्थायी स्मृति स्थापित की, वहां आर्य-जगत् को शुद्ध वैदिक ग्रन्थ उपलब्ध कराये। और वेद-प्रचार-रूपी महायज्ञ में अपनी पवित्र आहुति प्रदान की।

इन कार्यों के अतिरिक्त उन्होंने अपने पूज्य पतिदेव की स्मृति

में 'दयानन्द ब्राह्म महाविद्यालय, हिसार (हरियाणा)' में, जहां वैदिकधर्म के प्रचार के लिये उपदेशकों को प्रशिक्षित किया जाता है, एक स्थायी निधि भी स्थापित कराई है। इस निधि से वहां अध्ययन करनेवाले विद्यार्थियों को निश्शुल्क विद्या वा छात्रवृत्तियां प्राप्त होती रहेंगी।

जगद्-विधाता परमपिता परमात्मा का विधान भी विचित्र है। उसने जहां इस दम्पती पर लक्ष्मी की अपार कृपा की, वहां उन्हें सन्तान सुख से वञ्चित रखा। परन्तु जो पुण्य-कार्य श्रीमती प्रेमदेवी जी ने अपने पतिदेव की स्मृति को स्थिर रखने के लिये किये हैं, हमें विश्वास है कि सुयोग्य सन्तान की भांति इन पवित्र कार्यों द्वारा दोनों दम्पती का नाम संसार में, विशेषकर आर्य-जगत् में सदा अमर रहेगा।

हमें पूर्ण आशा है कि श्रीमती प्रेमदेवी जी भविष्य में भी इसी प्रकार वैदिकधर्म के प्रचार-प्रसार कार्य में सहयोग देकर अपने स्वर्गीय पतिदेव की इच्छा की पूर्ति करती रहेंगी, और स्वयं भी पुण्य कीर्ति की भागी बनेंगी।

धियो यो नः प्रचोदयात्।

८, सरक्यूलर एवेन्यू ईस्ट
नंगल टाऊन शिप
दीपावली, सं० २०२६

आसकरण दास सरदाना

सम्पादकीय

आनन्दकन्द भगवान् दयानन्द के द्वारा विरचित जितने भी ग्रन्थ हैं, उन में 'सत्यार्थ-प्रकाश' प्रमुख एवं सार्वजनीन ग्रन्थ है। इसी कारण उनके अन्य ग्रन्थों की अपेक्षा इस ग्रन्थ का प्रकाशन अत्यधिक हुआ है।

ऋषि दयानन्द सरस्वती ने अपने ग्रन्थों के प्रकाशन के लिये अपने जीवनकाल में श्रीमती परोपकारिणी सभा की स्थापना की थी। उसके द्वारा आज भी ऋषि के सभी ग्रन्थ प्रकाशित हो रहे हैं। पञ्जियन (रजिस्ट्रेशन) काल की अवधि समाप्त हो जाने पर अन्य व्यक्तियों एवं संस्थाओं ने भी ऋषि के कुछ ग्रन्थ छापे। इन के द्वारा भी सत्यार्थ-प्रकाश का ही प्रकाशन सर्वाधिक हुआ।

ऋषि दयानन्द ने सत्यार्थ-प्रकाश का प्रणयन वि० सं० १९३१ (सन् १८७४) में किया, और इसका प्रकाशन सं० १९३२ (=सन् १८७५) में प्रथम वार हुआ। उसके पीछे ग्रन्थकार ने वि० सं० १९३९ (=सन् १८८२) में इसका परिष्कृत संस्करण तैयार किया। पर उनके जीवन-काल (दीपावली सं० १९४०=३० अक्टूबर १८८३ तक) में लगभग ११ समुल्लास छपे, शेष ३ समुल्लास उनके निधन के पश्चात् मुद्रित हुए। निधन के कारण कई मास प्रेस बन्द रहा। इस कारण दिसम्बर १८८४ में द्वितीय संस्करण प्रकाश में आया। 'द्वितीय संस्करण' स्वयं ग्रन्थकार द्वारा परिष्कृत होने से यही प्रामाणिक है।

सत्यार्थ-प्रकाश के विभिन्न संस्करण

(१) परोपकारिणी सभा की ओर से इसके ३५ संस्करण छपे हैं। (इस में प्रथम संस्करण सम्मिलित है, शताब्दी संस्करण इस से पृथक् है)।

(२) अन्य प्रकाशकों द्वारा प्रकाशित संस्करणों में निम्न संस्करण मुख्य हैं—

(क) गोविन्दराम हासानन्द (कलकत्ता) द्वारा सं० १९८१ में प्रकाशित।

(ख) इन्हीं के द्वारा सं० २०१९ में प्रकाशित।

(ग) आर्य साहित्य मण्डल, अजमेर द्वारा सं० १९९६ में प्रकाशित तृतीय संस्करण।

(घ) श्री स्वामी वेदानन्द जी द्वारा सं० २०१३ में प्रकाशित।

उक्त संस्करणों का संक्षिप्त विवरण

परोपकारिणी सभा के संस्करण—परोपकारिणी सभा के ३५ संस्करण छपे हैं। उनकी पारस्परिक तुलना करने से हम निम्न निर्णय पर पहुंचे हैं—

१—उक्त सभा द्वारा जितने भी संस्करण छपे हैं, वे परस्पर पूरी तरह एक दूसरे से नहीं मिलते।

२—द्वितीय संस्करण के रूप में परिष्कृत ग्रन्थ प्रथम बार छपा है; किन्तु मुद्रणपत्र संशोधन में पूरी सावधानता न रखने के कारण यह बहुत अशुद्ध छपा है। पुनरपि इसमें संशोधक पण्डितों द्वारा अदला-बदली न होने से मूल ग्रन्थ के रूप में यही प्रमाणभूत संस्करण है।

इस संस्करण में ग्रन्थकार की अनुमति से मुंशी समर्थदान (प्रबन्धकर्त्ता वैदिक यन्त्रालय) ने उर्दू फारसी के शब्दों के स्थान पर आर्यभाषा (खड़ी बोली-हिन्दी) के शब्द रख दिये हैं। कतिपय स्थानों पर मुंशी जी ने टिप्पणियां भी दी हैं, जो हस्तलेख में नहीं हैं।

शब्द-परिवर्तन करने में कहीं-कहीं भूलें भी हो गई हैं। यथा—

पृष्ठ ३३९, ३४०, पं० २६ का हस्तलेख का पाठ था—'सूर्य का नाम (ब्रध्नः) पृथ्वी से लाखह गुना बड़ा।' यहां उर्दू के 'लाखह' बहुवचन के स्थान में भाषा का 'लाख' पद रख दिया गया। यहां शब्द-परिवर्तन 'लाखों' होना चाहिये।

पृष्ठ २९२, पं० २४ का हस्तलेख का पाठ था— 'भला एक मियान में दो तलवार कभी रह सकती हैं?' यहां 'मियान' के स्थान में 'घर' शब्द बनाया गया। घर शब्द निश्चय ही मियान के लिये प्रयुक्त हो सकता है,

तथापि उक्त वाक्य में 'घर' शब्द का मुख्यार्थ 'गृह' भी लिया जा सकता है। उस अवस्था में वाक्यार्थ अशुद्ध हो जायेगा। अतः असन्देह के लिये यहां 'मियान' शब्द ही उपयुक्त है। यह लोक-भाषा में व्यवहृत भी है।

३—तृतीय संस्करण में प्रथम वार संशोधक पण्डितों का हस्तक्षेप आरम्भ हुआ है। इस संस्करण के संशोधक पं० ज्वालादत्त और भीमसेन शर्मा थे। उन्होंने अपने अज्ञान के कारण कई स्थानों में पाठ-परिवर्तन किया। यथा—

पृष्ठ ८७, ८८, पं० २७, १ का मूल पाठ था— '(प्राण) भीतर से वायु को निकालना (अपान) बाहर से वायु को भीतर लेना।' इसके स्थान पर इस प्रकार परिवर्तन किया गया—'(प्राण) बाहर से वायु को भीतर लेना, (अपान) भीतर से वायु को निकालना।' यह परिवर्तन साधारण दृष्टि से ठीक प्रतीत होता है, परन्तु ग्रन्थकार के मन्तव्य एवं प्राचीन आचार्यों के सिद्धान्त से विपरीत है (द्र०—पृष्ठ ८८,२८० की हमारी टिप्पणी)। यही पाठ पुनः सप्तम समुल्लास पृष्ठ २८० पर आया है, परन्तु तृतीय संस्करण में यहां पाठ-परिवर्तन नहीं मिलता। पञ्चम संस्करण में पृष्ठ २८० का पाठ भी इस प्रकार बदल दिया गया—'(प्राण) प्राण को बाहर से भीतर को लेना, (अपान) प्राण वायु को बाहर निकालना।'

४—पञ्चम संस्करण का शोधन श्री पं० लेखराम जी ने किया था। उन्होंने अनेक प्रमाणों के पते, जो पहले उल्लिखित नहीं थे, ढूंढ कर दिये। साथ में अनेक स्थानों पर शुद्धता के लिये पाठ बदले। परन्तु इस परिवर्तन में अनेक स्थानों पर अवाञ्छनीय परिवर्तन भी हो गये। यथा—(क) प्राण अपान के अर्थ-परिवर्तन का उदाहरण पूर्व दे चुके हैं। (ख) पृष्ठ १४ पं० ३ का मूल पाठ था—'एतमग्निं वदन्त्येके'। पांचवें संस्करण में इसके स्थान पर 'एतमेके वदन्त्यग्निम्' मनु का वर्तमान पाठ बना दिया। ग्रन्थकार-सम्मत पूर्व पाठ ही था। (द्र०—पृष्ठ १४, टि० १)।

५—इस प्रकार उत्तरोत्तर कुछ-कुछ पाठ-परिवर्तन संस्करण १४, १५ तक होते रहे।

६—सम्भवत: १६ वां संस्करण श्री पं० भगवद्दत्त जी ने सम्पादित किया। उन्होंने अनेक पूर्व संस्करणों में बदले हुये पाठों को पुन: यथावत् बनाया। कुछ पाठों का नया संशोधन भी किया।

७—संस्करण १६ के पश्चात् शताब्दी-संस्करण छपा। इसके सम्पादक श्री पं० विश्वनाथ जी वेदोपाध्याय थे। उन्होंने इस संस्करण में कुछ प्रमाणों के नये पते दिये, कुछ पाठों को परिवर्तित वा परिवर्धित किया।

८—इसके पश्चात् संस्करण ३१ तक अनेक संस्करणों में थोड़ा-थोड़ा परिवर्तन होता ही रहा।

९—२६ वें संस्करण में एक विशेष परिवर्तन हुआ। वह है १४ वें समुल्लास की आयत-संख्याओं का शुद्धीकरण। यह कार्य श्री पं० महेशप्रसाद जी मौलवी आलिमफाजिल (अध्यक्ष, अरबी विभाग, हिन्दू विश्वविद्यालय काशी) ने सन् १९४३ में किया। यह शुद्धीकरण उचित था। आयत-संख्याओं की अशुद्धि के कारण मूल क़ुरान में ये पाठ यथा-निर्देश प्राप्त नहीं होते थे। परन्तु संस्करण २६ में यह शुद्धीकरण समीक्ष्यांश संख्या १३ (पृष्ठ ३४१, फार्म ४४) से हुआ। उससे पूर्व के समीक्ष्यांशों में कुछ संख्यायें अशुद्ध ही रहीं (जब श्री पं० महेशप्रसाद जी अजमेर आये थे, तब तक वह अंश छप चुका था)। अवशिष्ट आयत-संख्याओं का शुद्धीकरण सं० २७ में हुआ।

१०—३२ वें संस्करण के संशोधक श्री पं० भद्रसेन जी थे। उन्होंने इस संस्करण में अनेक स्थानों पर नई टिप्पणियां दी हैं, और बहुत से पाठ बदले हैं। कई टिप्पणियां अत्यन्त भ्रान्तिमूलक हैं। यथा—सं० ३२, पृष्ठ ५० में टिप्पणी है—'सम्भव है पहले अष्टाध्यायी श्लोकबद्ध हो।' ऋषि दयानन्द ने प्राचीन परिपाटी के अनुसार ग्रन्थ का परिमाण (=अक्षर-संख्या) बताने के लिये अष्टाध्यायी के लिये 'सहस्र श्लोकों' का प्रयोग किया है। संशोधक को इस प्राचीन ग्रन्थ-परिमाणबोधक परिपाटी का ज्ञान न होने से उन्होंने भ्रममूलक टिप्पणी दे दी।

विशेष—सब से चिन्तनीय बात तो यह है कि संशोधकों द्वारा दी गई टिप्पणियों और मूल ग्रन्थस्थ टिप्पणियों में भेद दर्शानेवाला कोई संकेत किसी

भी संस्करण में नहीं दिया। इस कारण सभी नई टिप्पणियां भी ग्रन्थकार की ही समझी जायेंगी, और उससे ग्रन्थकार का अज्ञान प्रकट होगा। ग्रन्थकार के साथ वर्त्ता गया संशोधकों का यह अन्याय अक्षम्य है।

११—३४ वें संस्करण के सम्पादक श्री धर्मचन्द जी कोठारी हैं। उन्होंने हस्तलेखों और पुराने संस्करणों से मिलाकर इस संस्करण का सम्पादन किया है। जहां तक कार्य का सम्बन्ध है,यह संस्करण पूर्व संस्करणों की अपेक्षा बहुत शुद्ध है। मूलपाठ को यथावत् रखने का पर्याप्त प्रयत्न किया है। परन्तु इस सम्पादन में भी कुछ बातें ऐसी हैं, जो सामान्य और विशेष सभी पाठकों को खटकनेवाली हैं। यथा—

(क) इस संस्करण में कई स्थानों पर १-२-४-८-१०-२० पंक्तियां अधिक मिलती हैं। वे पक्तियां इस संस्करण में कहां से उठाकर रखी गईं, इस का कुछ भी ज्ञान नहीं होता। जब लम्बे-लम्बे पाठ जो पूर्व संस्करणों में नहीं थे, इस संस्करण में बढ़ाये गये, तो उन पर सम्पादकीय टिप्पणी अत्यन्त आवश्यक थी। जिससे उसकी प्रामाणिकता का पाठकों को बोध हो सके।

(ख) १३ वें समुल्लास में बाइबल में प्रयुक्त नामों के साथ मूल ग्रन्थ में ही रोमन अक्षरों में नाम-निर्देश किया है। यद्यपि नाम का प्रामाणिक वर्णानुपूर्वी का निर्देश इस प्रकरण में आवश्यक है, तथापि उसे मूल में न घुसेड़कर नीचे टिप्पणी के रूप में दिया जाता, तो युक्ति-संगत कार्य होता।

इसी प्रकार १४ वें समुल्लास में भी कुछ स्थानों पर विशेष नामों का रोमन अक्षरों में निर्देश किया है।

(ग)इस संस्करण में बाइबल के अनेक पाठ ऋषि के ३२ वर्ष पश्चात् सन् १९१९ में छपी बाइबल के अनुसार बदले वा बढ़ाये गये हैं। यह कार्य कालान्तर में छपी बाइबल के अनुसार होने से चिन्त्य है।

३४ वें संस्करण में द्वितीय संस्करण से कितना भेद हुआ है, इसकी तालिका गुड़गावां के वयोवृद्ध स्वाध्यायशील श्री पं० वेदानन्दजी ने बनाकर हमारे पास भेजी है। उस का सार इस प्रकार है—

'पाठ-भेद १०० के लगभग; अंग्रेजी शब्दों की वृद्धि ११० के लगभग।'

२—३५ वें संस्करण में भी कुछ साधारण परिवर्तन हुए हैं। परन्तु विशेष ध्यान देने योग्य यह है कि ३४ वें संस्करण में जो विशिष्ट नाम रोमन अक्षरों में मूल पाठ में ही [ ] कोष्ठक में बढ़ाये थे, वे पृष्ठ ४५६ तक तो छापे गये,परन्तु पृष्ठ ४५७ से उन्हें निकाल दिया है। इसी प्रकार कई स्थानों में बाइबल और क़ुरान की आयतों में कोष्ठक में जो भाषा पद बढ़ाये थे, उन्हें भी हटा दिया है। इस प्रकार इस भाग में जो थोड़ा बहुत उपयोगी संशोधन था, उसे भी मिटा दिया गया।

प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि ३४ वां संस्करण जब कई मान्य विद्वानों की एक समिति द्वारा अनुमोदित होकर छपा था (द्रष्टव्य प्रकाशकीय वक्तव्य), तब उस में पुनः परिवर्तन क्योंकर किया गया? ३५ वें संस्करण के प्रकाशकीय वक्तव्य में लगभग आधा भाग तो पुराना ही है, शेष अंश क्यों हटा दिया? जब कि उस में वर्णित विषय इस ३५वें संस्करण में भी अधिकांश रूप में वैसा ही है। ३५वें संस्करण में जिन विद्वत्-समिति के विद्वानों का नाम-निर्देश किया गया है,उनमें श्री पं०ब्रह्मदत्त जी जिज्ञासु,और श्री पं० भगवद्दत्तजी रिसर्चस्कालर, तथा कविराज धर्मसिंह कोठारी का नाम निकाल दिया है (इस का कारण संभवतः प्रथम दो विद्वानों का स्वर्गवास हो जाना, और श्री कोठारी जी का सेवामुक्त हो जाना रहा होगा) तथा डा० श्री भवानी लाल भारतीय का नाम नया लिखा गया है। क्या ३५ वें संस्करण के प्रकाशकीय वक्तव्य में लिखे गये विद्वानों ने वस्तुतः इसका पुनर्निरीक्षण किया था? और उन्हीं के परामर्श से ३५ वें संस्करण में कुछ पाठ बदले वा कुछ पाठ निकाले गये हैं?

यह संक्षिप्त कथा है परोपकारिणी सभा के ३५ संस्करणों में हुए पाठ भेदों की। अब अन्य संस्करणों की बात सुनिये—

गोविन्दराम हासानन्द प्रकाशित संस्करण—सं० १९८१ में इनके यहां से जो संस्करण छपा था, उसके सम्पादक श्री पं० जयदेव जी

विद्यालंकार थे। उन्होंने कई पाठों का संशोधन किया है, और आदि में विस्तृत विषयसूची एवं अन्त में प्रमाणसूची दी हैं। ये दोनों कार्य बहुत उपयोगी थे। अगले संस्करणों में इन्हें निकाल दिया गया, यह अच्छा न हुआ।

संवत् २०१९ में प्रकाशित संस्करण के सम्पादक श्री पं० भगवद्दत्त जी थे। उन्होंने इस संस्करण में कुछ विशिष्ट पाठ शोधे, त्रुटित पाठों को [ ] कोष्ठक में बढ़ाया, तथा अनेक स्थानों पर उपयोगी टिप्पणियां दीं। परन्तु यह संस्करण उन जैसे विद्वान् मनीषी एवं ऋषिभक्त के सम्पादन के अनुरूप न बन सका। इसका कारण सम्भवतः शीघ्रता में छपना रहा हो। हमें आश्चर्य तो इस बात का है कि उन्होंने अपने सम्पादकीय वक्तव्य में ऋ० द० की जिस प्रयोगशैली का निर्देश किया है, उसका भी परिपालन सर्वत्र न हुआ।

हां, आपने अपने सम्पादकीय वक्तव्य में विशेषतः सत्यार्थ-प्रकाश और सामान्यतः अन्य ऋषिकृत ग्रन्थों के सम्पादन-कार्य के लिये जो विशिष्ट निर्देश दिये हैं, वे अत्यन्त महत्त्वपूर्ण एवं उपादेय हैं। हमने अपने संस्करण में उन निर्देशों से बहुत लाभ उठाया है।

आर्य साहित्य मण्डल का तीसरा संस्करण—आर्य साहित्य मण्डल ने सत्यार्थ-प्रकाश के कई संस्करण छापे। उनमें तृतीय संस्करण विशिष्ट है। इसके सम्पादक श्री पं० जयदेव जी थे। इस संस्करण में प्रथम बार लम्बे-लम्बे सन्दर्भों को छोटे-छोटे सन्दर्भों में बांटा गया और विषय-विभाग के अनुसार संख्यायें भी दी गईं।

श्री स्वामी वेदानन्द जी का संस्करण—श्री स्वामी वेदानन्द जी ने स्थूलाक्षरों में बड़े आकार में संवत् २०१३ में सटिप्पण एक संस्करण प्रकाशित किया। इसमें श्री स्वामी स्वतन्त्रानन्द जी का भी सहयोग था।

पाठ की दृष्टि से यह संस्करण पूरा विश्वसनीय नहीं है। क्योंकि सम्पादक महोदय ने सत्यार्थ-प्रकाश के जिन पाठों को अशुद्ध या त्रुटित समझा, उन्हें उन्होंने नया रूप दे दिया। जहां-जहां वह परिवर्तन किया गया, वहां-वहां टिप्पणी में उसका निर्देश भी नहीं किया। अतः सामान्य रूप से ग्रन्थ का पाठ प्रायः उचित होते हुये भी स्वेच्छा से पाठ-परिवर्तन करके

ग्रन्थकार के साथ अन्याय किया गया, ऐसी हमारी तुच्छ मति है।

जहां तक ऋषि के लेख की पुष्टि में नीचे जो सहस्रों टिप्पणियां दी हैं, वह बहुत उपयोगी कार्य हुआ है। यदि यह कहा जाये कि इस महत्त्वपूर्ण कार्य को उनके सदृश बहुश्रुत विद्वान् एवं ऋषिभक्ति-लीन-मानस व्यक्ति ही कर सकता था, तो अत्युक्ति न होगी। इसके साथ ही अन्त में विस्तृत विषय सूची एवं उद्धरणसूची देकर उन्होंने इस ग्रन्थ को बहुत उपयोगी बनाया है।

इस संस्करण में जो कुछ भूलें रह गईं थी, उन का संशोधन द्वितीय संस्करण में श्री पं० उदयवीर जी शास्त्री ने किया।

प्रस्तुत संस्करण

ऋषि दयानन्द सरस्वती के ग्रन्थों के परोपकारिणी सभा वा अन्यों के द्वारा प्रकाशित संस्करणों में जो उत्तरोत्तर परिवर्तन हुए, उन से ग्रन्थकार का मूल पाठ बहुत विकृत हो गया। इस से मननशील पाठकों की समझ में नहीं आता कि वे किस संस्करण के पाठ को ऋषि का मूल पाठ समझें। हमारे सामने भी संवत् २०१० में संस्कारविधि पर विशेष कार्य आरम्भ करने पर यही समस्या उत्पन्न हुई थी। इस कारण हमें उक्त कार्य उस समय स्थगित करना पड़ा। और निश्चय किया कि पहले ऋषि दयानन्द के मूल पाठ का निर्धारण किया जाये, तब कुछ कार्य किया जाये। इसी विचार से हमने सब से प्रथम संवत् २०२२ में 'संस्कारविधि' के २४ संस्करणों एवं हस्तलेखों के पाठों के अनुसार इसका शुद्ध संस्करण प्रकाशित किया। तदनन्तर संवत् २०२४ में ऋग्वेदादि-भाष्य-भूमिका का स्थूलाक्षरों में बड़े आकार में शुद्ध सटिप्पण संस्करण प्रकाशित किया।

सत्यार्थ-प्रकाश के भी ऐसे संस्करण की कमी हमें खटकती थी, और मैं इस कार्य को भी पूरा करना चाहता था। तभी अचानक सन् १९७१ में माननीय श्री आसकरण जी सरदाना की प्रेरणा से उनके स्वर्गीय मित्र की पत्नी श्रीमती माता प्रेमदेवी जी दरगन ने अपने पूज्य पतिदेव की स्मृति में सत्यार्थ-प्रकाश छपवाने के लिये १४००० रुपया रामलाल कपूर ट्रस्ट को दिया। इसी निमित्त से मैं इस ग्रन्थ के सम्पादन-कार्य में प्रवृत्त हुआ।

सत्यार्थ-प्रकाश के सम्पादन का कार्य संस्कारविधि और ऋग्वेदादि-भाष्यभूमिका की अपेक्षा तीन दृष्टियों से विशेष कठिन एव परिश्रमसाध्य रहा। प्रथम—पूर्व प्रकाशित दोनों ग्रन्थ सत्यार्थ-प्रकाश की दृष्टि से छोटे हैं। द्वितीय--सत्यार्थ-प्रकाश की अपेक्षा इन ग्रन्थों के संस्करण भी कम छपे थे। तृतीय—विषय एवं उद्धरण ग्रन्थों की दृष्टि से भी सत्यार्थ-प्रकाश का क्षेत्र पूर्व ग्रन्थों से कहीं अधिक विस्तृत है। फिर भी डेढ़ वर्ष की स्वल्प अवधि में इस महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ के लगभग ४० (वैदिक यन्त्रालय तथा अन्यत्र छपे) संस्करणों से पाठ मिलाना, सब पाठभेदों पर दृष्टि रखते हुये मूल पाठ को निर्धारित करना, उद्धरणों को मूल ग्रन्थों से यथासम्भव मिलाना, २५०० टिप्पणियां देना एव प्रकाशित करना रूप कार्य कितना कठिन है, यह कोई विज्ञ सम्पादक ही जान सकता है। भगवान् का कोटिशः धन्यवाद है कि उसकी अपार कृपा से निरन्तर एक वर्ष तक अस्वस्थ रहते हुये भी इस कार्य को पूर्ण करने में समर्थ हो सका हूं।

सम्पादन-कार्य

इस संस्करण को तैयार करने में निम्न बातों का विशेष ध्यान रखा गया है—

१—**मूल पाठ संरक्षण**—यद्यपि सत्यार्थ-प्रकाश के दो हस्तलेख (रफ कापी-प्रेस कापी) विद्यमान हैं, तथापि प्रत्येक लेखक यह जानता है कि जो शुद्ध कापी प्रेस में दी जाती है, उस में भी मुद्रण-काल में बहुत कुछ परिवर्तन-परिवर्धन हो जाता है। अतः प्रेस कापी की अपेक्षा उससे छापा हुआ संस्करण अधिक प्रामाणिक वा मान्य होता है। इसीलिये ग्रन्थकार के जीवन-काल में छपे द्वितीय संस्करण को प्रामाणिक माना गया है।

यद्यपि इस संस्करण के मुद्रण में संशोधक एवं मुद्रण प्रमाद से बहुत स्थानों पर पाठ भ्रष्ट हुआ है, तथापि ग्रन्थकार अभिप्रेत पाठ (अशुद्धियों को छोड़कर) यही माना जा सकता है। इसलिये हमने द्वितीय संस्करण के पाठ को (अशुद्धियों को छोड़कर) आदर्श मानकर 'सत्यार्थ-प्रकाश' के इस संस्करण का सम्पादन किया है। और ग्रन्थकार के पाठ को यथावत् रखने का भरसक प्रयत्न किया है।

२—द्वितीय संस्करण में रही अशुद्धियों में से कुछ अशुद्धियों का संशोधन सं० ३ तथा ५ में किया गया, उन्हें हमने इस संस्करण में अपना कर टिप्पणी में निर्देश कर दिया है। इन दोनों संस्करणों में संशोधकों ने जो ग्रन्थकार के आशय के विरुद्ध परिवर्तन किये, उन की हमने उपेक्षा की है।

३—उद्धरणों के पाठ भी उत्तर संस्करणों में बहुत स्थानों पर बदल दिये हैं, हमने उन्हें पुनः ग्रन्थकार के अभिप्रायानुसार पूर्ववत् बना दिया है। यथा—पृष्ठ १४, पं० ३—**एतमग्निं वदन्त्येके**; पृष्ठ १७४, पं० ६-७—**अङ्गादङ्गात् सम्भवसि** के पाठ।

४—कई पाठ जो मुद्रणदोष से आगे-पीछे हो रहे थे, उन को यथास्थान रख दिया है। यथा पृष्ठ ३६१, पं० ११-१४। द्रष्टव्य इसी पृष्ठ की टिप्पणी १।

५—कई पाठ आरम्भ से आज तक सभी संस्करणों में अशुद्ध छप रहे थे। उन का हमने प्रथम वार निर्देश किया है। यथा—पृष्ठ १०३, पं १९—**'जिस से बीस वा इक्कीस वर्ष के'** पर। द्र०—टि० २, पृष्ठ ६०६, पं० २—**'वर्ष ७५४'**। द्र०—टि० १।

६—बारहवें समुल्लास में जैन मत की प्राकृत गाथाओं का पाठ बहुत भ्रष्ट छप रहा था। उसे हमने मूल ग्रन्थ से मिलाकर शोधा है। यह कार्य हमने सन् १९५० में किया था। परोपकारिणी सभा के ३४ वें संस्करण में भी इन गाथाओं का शुद्ध पाठ छपा है।

७—कई स्थान ऐसे भी हैं, जहां गाथा कुछ छप रही है, और अर्थ किसी अन्य गाथा का दिया जा रहा है। ऐसे स्थानों पर हमने अर्थ के अनुसार (जिस गाथा का वह अर्थ था उस) गाथा का पाठ देकर पूर्व छप रही गाथा का पाठ टिप्पणी में दर्शा दिया है। यथा—पृष्ठ ६७६ की गाथा तथा उस पर टिप्पणी २; पृष्ठ ६७७ पर दूसरी गाथा, तथा टिप्पणी ३।

८—कहीं-कहीं समीक्ष्य गाथा का पाठ एवं अर्थ छूट गया है, उसे टिप्पणी में दर्शाया है। द्र०—पृष्ठ ६८२, टि० १।

९—१४ वें समुल्लास में क़ुरान की आयतों की संख्या स्व० श्री पं०

महेशप्रसाद जी मौलवी आलिम फाजिल (वै० यं० संस्करण २६) तथा श्री पं० रामचन्द्र जी देहलवी द्वारा निर्दिष्ट संख्या के अनुसार दी है।

१०—पचासों उद्धरणों के मूल स्थानों का निर्देश वा तत्सदृश पाठों का निर्देश टिप्पणियों में किया है।

११—ऋषि के लेख की पुष्टि में शतशः छोटी-मोटी टिप्पणियां दी गई हैं। सम्पूर्ण टिप्पणियों की संख्या लगभग २५०० ढाई हजार है।

१२—मुद्रण में दृष्टि-दोष से रही अशुद्धियों का शोधन प्रथम परिशिष्ट में दर्शाया है। और द्वितीय परिशिष्ट में १४वें समुल्लास में उद्धृत कुरान के पाठ के विषय में स्व० श्री पं० रामचन्द देहलवी का एक लेख छापा है।

१३—जहां-कहीं हमने सं० २ के पाठ की अशुद्धियों का संशोधन किया है, उनका निर्देश भी टिप्पणी में कर दिया है। हां, कतिपय पाठ जैसे—कर्त्ते (=करते), कर्त्ता (=करता) आदि जो अनेक स्थानों पर समानरूप से अशुद्ध थे, वहां सर्वत्र टिप्पणियां नहीं दी हैं।

कार्य में विशेष सहयोगी

इस संस्करण के सम्पादन एवं प्रकाशन में जिन महानुभावों से विशेष सहायता मिली है। वे ये हैं—

१. **श्री पं० महेन्द्र जी शास्त्री**—आपने इस ग्रन्थ के सम्पादन में विशेष सहायता की है। अनेक पाठ जो मेरे दृष्टि-दोष से रह गये थे, उन्हें शुद्ध करने का सुझाव देकर और सं० २ से पुनः मिलान कर महती सहायता की है। मुद्रण-पत्र (प्रूफ) संशोधन का सारा कार्य आपने ही किया है। अतः इस ग्रन्थ को शुद्धरूप से प्रकाशित करने में आपका महान् सहयोग प्राप्त हुआ है। आपके सहयोग के बिना यह कार्य किसी प्रकार सम्भव ही नहीं था।

२. **श्री पं० वेदानन्द जी (गुड़गांवा)**—आपने लगभग ८० वर्ष की अवस्था में भी द्वितीय संस्करण के साथ परोपकारिणी सभा के ३४ वें संस्करण के पाठ मिलाकर, तथा साथ में अनेक उपयोगी सुझाव देकर हमारी बहुत सहायता की है।

३. श्री पं० महामुनि जी (आचार्य गुरुकुल विद्यापीठ भैंसवाल)—आपने सत्यार्थ-प्रकाश की लगभग ५० विशिष्ट पाठाशुद्धियों की सूची, एवं उनके शुद्ध पाठ सुझाने का जो कष्ट किया है, उसके लिये हम आपके बहुत आभारी हैं। आपके द्वारा सुझाए गये बहुत से पाठों का इस में सन्निवेश हो गया है। अन्य अनेक पाठों पर सत्यार्थ-प्रकाश का 'आर्यसमाज-शताब्दी-संस्करण' के रूप में जो विशिष्ट संस्करण प्रकाशित किया है, उसके प्रथम परिशिष्ट में विचार किया गया है।

४. श्री पं० जगदीशजी विद्यार्थी (देहलवी)—आपने सत्यार्थ-प्रकाश तीसरे समुल्लास के अन्तर्गत पाठविधि प्रकरण के अन्त में छप रहे **'जिस से बीस इक्कीस वर्ष'** पाठ की अशुद्धि, एवं उस अशुद्धि के मूल कारण की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट करके हमें जो सहयोग दिया है, उस के लिये हम आपके कृतज्ञ हैं।

पूर्व सम्पादकों के कार्य से सहायता—इस सम्बन्ध में निम्न महानुभावों के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं—

१. श्री स्वामी वेदानन्द जी तीर्थ—आपके द्वारा सम्पादित सत्यार्थ-प्रकाश की टिप्पणियों से, विशेष कर १२ वें समुल्लास की टिप्पणियों से हमें इस कार्य में बहुत सहायता मिली है। प्रायः सभी स्थानों पर हमने आपके नाम का निर्देश किया है।

२. श्री पं० भगवद्दत्त जी रिसर्चस्कालर— आपने स्वसम्पादित सत्यार्थ-प्रकाश के सम्पादन-कार्य के लिये जो उपयोगी निर्देश दिये हैं। हमने उनसे पूरा-पूरा लाभ उठाया है। साथ ही हमने आपकी जिन टिप्पणियों को स्वीकार किया है, उन पर भ० द० के रूप में आप का नाम दे दिया है।

इस प्रकार डेढ़ वर्ष के अल्प-काल में ग्रन्थ का विविध संस्करणों से मिलान, सम्पादन एवं प्रकाशन-कार्य पूर्ण करने में कुछ त्रुटियों का रह जाना अत्यन्त स्वाभाविक है। कुछ कमियों का हमें स्वयं मुद्रण के पश्चात् परिज्ञान हुआ है। त्रुटियों की ओर जो भी पाठक हमारा ध्यान आकृष्ट करेंगे, उनके हम बहुत आभारी होंगे, और अगले संस्करण में हम उनको दूर कर देंगे।

अतः हमारा सभी पाठकों से निवेदन है कि ऋषि दयानन्द की इस महत्त्वपूर्ण कृति को सर्वाङ्ग सुन्दर बनाने में जिन्होंने सहायता दी है या भविष्य में देंगे, उन के हम सदा कृतज्ञ रहेंगे या होंगे ।

आवश्यक—अनेक व्यक्ति रामलाल कपूर ट्रस्ट के ग्रन्थों के पाठ परोपकारिणी सभा द्वारा प्रकाशित किसी संस्करण से भिन्न होने पर आक्षेप करते हैं कि—रा० ला० क० ट्रस्ट के संस्करणों में ऋषि दयानन्द के पाठ बदल दिये हैं। ऐसे जनों के लिये हम खुली घोषणा करते हैं कि रा० ला० क० ट्रस्ट के संस्करणों में साधारण अशुद्धियों के शोधन के अतिरिक्त कहीं भी ग्रन्थकार का मूल पाठ नहीं बदला गया । इसके विपरीत हमने अन्य सम्पादकों के द्वारा बदले हुये पाठों को अवश्य बदल कर ऋषि दयानन्द के मूल पाठ को व्यवस्थित किया है । इसे कोई पाठ बदलना कहे, तो यह उसका अज्ञान है । कार्य में पूरी सावधानता रखने पर भी हमसे कहीं भूल होना संभव है, उसे पाठकों द्वारा सुझाने पर अगले संस्करण के समय विशेष ध्यान रखा जायेगा ।

विदुषां वशंवदः—

युधिष्ठिर मीमांसक

सत्यार्थ-प्रकाश

आर्यसमाज-स्थापना-शताब्दी-संस्करण की विशेषता

१. प्रायः सभी संस्करणों से मिलान करके 'द्वितीय संस्करण' के आधार पर मूल पाठ का संरक्षण ।

२. विविध संस्करणों में परिवर्तित पाठों का पुनः मूलरूप में स्थापन ।

३. उद्धृत वचनों का शुद्धपाठ वा मूल स्थान निर्देश ।

४. ग्रन्थ के साथ प्रथम परिशिष्ट सहित ऋषि के लेख की पुष्टि में विविध प्रकार की लगभग २७५० टिप्पणियां = (१७५ पृष्ठ के बराबर) ।

५. उद्धरण-कार्य के लिये प्रति पृष्ठ पंक्ति-संख्याओं का निर्देश ।

६. पाठकों की सुविधा के लिये ग्रन्थ का छोटे-छोटे सन्दर्भों में विभाजन ।

७. विविध संस्करणों का विवेचनात्मक सम्पादकीय वक्तव्य ।

८. अन्त में अत्युपयोगी विविध प्रकार के १० विशिष्ट परिशिष्ट ।

९. अब तक छपे समस्त संस्करणों में सब से शुद्ध संस्करण ।

१०. सुन्दर मुद्रण, सुदृढ़ कागज, बढ़िया जिल्द ।

११. लागत मात्र मूल्य—सजिल्द १२ रु० ।

सत्यार्थ-प्रकाशः

वेदादि-विविध-सच्छास्त्र-प्रमाण-समन्वितः

सत्यार्थ-प्रकाश-विषयक

अप्रकाशित पांच श्लोक

सत्यार्थ-प्रकाश (सं० १९३२) की कापी में ऋषि दयानन्द के सत्यार्थ-प्रकाश की रचना से सम्बद्ध (जैसे भूमिका, संस्कारविधि आदि में हैं) ५ पांच श्लोक एक पत्रे पर लिखे हुए उपलब्ध हुए हैं। जो सम्भव है भूल से प्रथम संस्करण में छपने से रह गये थे। वे श्लोक इस प्रकार हैं—

दयाया आनन्दो विलसति परः स्वात्मविदितस्,
सरस्वत्यस्यान्ते निवसति मुदा सत्यशरणा।
तदाख्यातिर्यस्य प्रकटितगुणा राष्ट्रिपरमा,
सको दान्तश्शान्तो विदितविदितो वेद्यविदितः ॥१॥

सत्यादर्थप्रकाशाय ग्रन्थस्तेनैव निर्मितः।
वेदादि-सत्यशास्त्राणां प्रमाणैर्गुणसंयुतः ॥२॥

विशेषभागीह वृणोति यो हितं,
प्रियोऽत्र विद्यां सुकरोति तात्त्विकीम्।
अशेषदुःखात्तु विमुच्य विद्यया,
स मोक्षमाप्नोति न कामकामुकः ॥३॥

न ततः फलमस्ति हितं विदुषो,
ह्यधिकं परमं सुलभन्नु पदम्।
लभते, सुयतो भवतीह सुखी,
कपटी सुसुखी भविता [हि] न सः ॥४॥

धर्मात्मा विजयी स शास्त्रशरणो विज्ञानविद्यावरो,
ऽधर्मेणैव हतो विकारसहितोऽधर्मस्सुदुःखप्रदः।
येनाऽसौ विधिवाक्यमानमनसा पाखण्डखण्डः कृतः
सत्यं यो विदधाति शास्त्रविहितन्धन्योऽस्तु तारब्धि सः ॥५॥

सत्यार्थ-प्रकाश-[विषय-]सूचीपत्रम्

[पूर्वार्द्धः]

इति पूर्वार्द्धः

उत्तरार्द्धः

इति ॥

—: ओ३म् :—

सच्चिदानन्देश्वराय नमो नमः

भूमिका

जिस समय मैंने यह ग्रन्थ 'सत्यार्थ-प्रकाश' बनाया था, उस समय और उससे पूर्व संस्कृत-भाषण करने, पठन-पाठन में संस्कृत ही बोलने, और जन्मभूमि की भाषा गुजराती होने के कारण से मुझको इस भाषा का विशेष परिज्ञान न था, इससे भाषा अशुद्ध बन गई थी। अब भाषा बोलने और लिखने का अभ्यास हो गया है। इसलिये इस ग्रन्थ को भाषाव्याकरणानुसार शुद्ध करके दूसरी वार छपवाया है। कहीं-कहीं शब्द-वाक्य-रचना का भेद हुआ है, सो करना उचित था। क्योंकि इसके भेद किये विना भाषा की परिपाटी सुधरनी कठिन थी। परन्तु अर्थ का भेद नहीं किया गया है, प्रत्युत विशेष तो लिखा गया है। हां, जो प्रथम छपने में कहीं-कहीं भूल रही थी, वह निकाल-शोधकर ठीक-ठीक कर दी गई है।

यह ग्रन्थ १४ चौदह समुल्लास, अर्थात् चौदह विभागों में रचा गया है। इसमें १० दश समुल्लास पूर्वार्द्ध और ४ चार उत्तरार्द्ध में बने हैं। परन्तु अन्त्य के दो समुल्लास और पश्चात् स्वसिद्धान्त किसी कारण से प्रथम नहीं छप सके थे, अब वे भी छपवा दिये हैं।

(१) प्रथम समुल्लास में ईश्वर के ओङ्कारादि नामों की व्याख्या।

(२) द्वितीय समुल्लास में सन्तानों की शिक्षा।

(३) तृतीय समुल्लास में ब्रह्मचर्य, पठनपाठन-व्यवस्था, सत्यासत्य ग्रन्थों के नाम, और पढ़ने-पढ़ाने की रीति।

(४) चतुर्थ समुल्लास में विवाह और गृहाश्रम का व्यवहार।

(५) पञ्चम समुल्लास में वानप्रस्थ और संन्यासश्रम का[1] विधि।
(६) छठे समुल्लास में राजधर्म।
(७) सप्तम समुल्लास में वेदेश्वर-विषय।
(८) अष्टम समुल्लास में जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय।
(९) नवम समुल्लास में विद्या, अविद्या, बन्ध और मोक्ष की व्याख्या।
(१०) दशवें समुल्लास में आचार-अनाचार और भक्ष्याभक्ष्य विषय।
(११) एकादश समुल्लास में आर्यावर्त्तीय मतमतान्तर का खण्डन-मण्डन विषय।
(१२) द्वादश समुल्लास में चारवाक[2], बौद्ध और जैनमत का विषय।
(१३) त्रयोदश समुल्लास में ईसाईमत का विषय।
(१४) चौदहवें समुल्लास में मुसलमानों के मत का विषय।

और चौदह समुल्लासों के अन्त में आर्यों के सनातन वेदविहित मत की विशेषतः व्याख्या लिखी है, जिसको मैं भी यथ वत् मानता हूं।

मेरा इस ग्रन्थ के बनाने का मुख्य प्रयोजन सत्य-सत्य[3] अर्थ का प्रकाश करना है। अर्थात् जो सत्य है उसको सत्य, और जो मिथ्या है उसको मिथ्या ही प्रतिपादन करना, सत्य अर्थ का प्रकाश समझा है। वह सत्य नहीं कहाता, जो सत्य के स्थान में असत्य और असत्य के स्थान में सत्य का प्रकाश किया जाय। किन्तु जो पदार्थ जैसा है, उसको वैसा ही कहना, लिखना और मानना 'सत्य' कहाता है। जो मनुष्य पक्षपाती

---

१. संस्करण २ में 'की' पाठ है। स्वामी जी ने सर्वत्र 'का विधि' ऐसा ही प्रयोग किया है। २. संस्कृत शब्द 'चार्वाक' का रूपान्तर। स्वामीजी ने सर्वत्र 'चारवाक' ऐसा ही प्रयोग किया है।

३. पुराने संस्करणों में दो बार पठनीय शब्द के आगे २ संख्या का निर्देश मिलता है। पढ़ने के सौकर्य के लिये हमने २ संख्या से निर्दिष्ट पद को दो बार छापा है।

होता है, वह अपने असत्य को भी सत्य और दूसरे विरोधी मत वाले के सत्य को भी असत्य सिद्ध करने में प्रवृत्त होता है। इसलिये वह सत्य मत को प्राप्त नहीं हो सकता। इसीलिये विद्वान् आप्तों का यही मुख्य काम है कि उपदेश वा लेख द्वारा सब मनुष्यों के सामने सत्यासत्य का स्वरूप समर्पित करदें। पश्चात् वे स्वयं अपना हिताहित समझकर सत्यार्थ का ग्रहण और मिथ्यार्थ का परित्याग करके सदा आनन्द में रहैं।

मनुष्य का आत्मा सत्यासत्य का जाननेवाला है, तथापि अपने प्रयोजन की सिद्धि हठ दुराग्रह और अविद्यादि दोषों से सत्य को छोड़ असत्य में झुक जाता है। परन्तु इस ग्रन्थ में ऐसी बात नहीं रक्खी है, और न किसी का मन दुखाना वा किसी की हानि पर तात्पर्य है। किन्तु जिससे मनुष्य-जाति की उन्नति और उपकार हो, सत्यासत्य को मनुष्य लोग जानकर सत्य का ग्रहण और असत्य का परित्याग करें। क्योंकि सत्योपदेश के विना अन्य कोई भी मनुष्य-जाति की उन्नति का कारण नहीं है।

इस ग्रन्थ में जो कहीं-कहीं भूल-चूक से अथवा शोधने तथा छापने में भूल-चूक रह जाय, उसको जानने-जनाने पर जैसा वह सत्य होगा, वैसा ही कर दिया जायगा। और जो कोई पक्षपात से अन्यथा शङ्का वा खण्डन-मण्डन करेगा, उस पर ध्यान न दिया जायगा। हां, जो वह मनुष्यमात्र का हितैषी होकर कुछ जनावेगा, उसको सत्य-सत्य समझने पर उसका मत संगृहीत होता।

यदपि[1] आजकाल[2] बहुत से विद्वान् प्रत्येक मतों में हैं। वे पक्षपात छोड़ सर्वतन्त्र सिद्धान्त, अर्थात् जो-जो बातें सब के अनुकूल सब में सत्य हैं उनका ग्रहण, और जो एक-दूसरे से विरुद्ध बातें हैं

---

१. अर्थात् 'यद्यपि'। ग्रन्थकार दोनों शब्दों का एकार्थ में ही प्रयोग करते हैं।

२. यह प्रयोग गुजराती भाषा का है। अजमेर-मुद्रित के अगले संस्करणों में 'आजकल' बनाया गया।

उनका त्याग कर परस्पर प्रीति से वर्त्तें-वर्त्तावें तो जगत् का पूर्णहित होवे। क्योंकि विद्वानों के विरोध से अविद्वानों में विरोध बढ़कर अनेकविध दुःख की वृद्धि और सुख की हानि होती है। इस हानि ने, जो कि स्वार्थी मनुष्यों को प्रिय है, सब मनुष्यों को दुःखसागर में डुबा दिया है।

इनमें से जो कोई सार्वजनिक हित लक्ष्य में धर प्रवृत्त होता है, उससे स्वार्थी लोग विरोध करने में तत्पर होकर अनेक प्रकार विघ्न करते हैं। परन्तु **'सत्यमेव जयते नानृतं, सत्येन पन्था विततो देवयानः'**[1]। अर्थात् 'सर्वदा सत्य का विजय और असत्य का पराजय, और सत्य ही से विद्वानों का मार्ग विस्तृत होता है।' इस दृढ़ निश्चय के आलम्बन से आप्त लोग परोपकार करने से उदासीन होकर कभी सत्यार्थ-प्रकाश करने से नहीं हठते[2]।

यह बड़ा दृढ़ निश्चय है कि—**"यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम्"** यह **गीता** का वचन है[3]। इसका अभिप्राय यह है कि जो-जो विद्या और धर्म-प्राप्ति के कर्म हैं, वे प्रथम करने में विष के तुल्य, और पश्चात् अमृत के सदृश होते हैं। ऐसी बातों को चित्त में धरके मैंने इस ग्रन्थ को रचा है। श्रोता वा पाठकगण भी प्रथम प्रेम से देखके इस ग्रन्थ का सत्य-सत्य तात्पर्य जानकर यथेष्ट करें।

इसमें यह अभिप्राय रक्खा गया है कि जो-जो सब मतों में सत्य-सत्य बातें हैं, वे-वे सब में अविरुद्ध होने से उनका स्वीकार करके, जो-जो मतमतान्तरों में मिथ्या बातें हैं उन-उनका खण्डन किया है। इसमें यह भी अभिप्राय रक्खा है कि जब[4] मतमतान्तरों[5] की गुप्त

---

१. मुण्डकोप० ३।१।६॥ सं० २ में यहां 'जयति' पाठ है, किन्तु अन्त में 'स्वमन्तव्यामन्तव्य प्रकाश' में 'जयते' ही पाठ है।

२. अजमेर-मुद्रित सं० २-४ में यही पाठ हैं। आगे 'हटते' बनाया गया।

३. गीता १८।३७॥

४. अजमेर-मुद्रित संस्करण २८ तक यही पाठ है। सं० ३० से 'सब' पाठ मिलता है।

५. संस्करण २ में 'मतान्तरों' पाठ है। संस्करण ३ से 'मतमतान्तरों' पाठ छप रहा है।

वा प्रगट बुरी बातों का प्रकाश कर विद्वान्-अविद्वान् सब साधारण मनुष्यों के सामने रक्खा है। जिससे सबसे सबका विचार होकर परस्पर प्रेमी होके एक सत्य मतस्थ होवें।

यद्यपि मैं आर्यावर्त्त देश में उत्पन्न हुआ और वसता हूं, तथापि जैसे इस देश के मतमतान्तरों की झूठी बातों का पक्षपात न कर याथातथ्य प्रकाश करता हूं, वैसे ही दूसरे देशस्थ वा[1] मतोन्नतिवालों के साथ भी वर्त्तता हूं। जैसा स्वदेशवालों के साथ मनुष्योन्नति के विषय में वर्त्तता हूं, वैसा विदेशियों के साथ भी, तथा सब सज्जनों को भी वर्त्तना योग्य है। क्योंकि मैं भी जो किसी एक का पक्षपाती होता, तो जैसे आजकाल[2] के स्वमत की स्तुति मण्डन और प्रचार करते, और दूसरे मत की निन्दा हानि और बन्ध[3] करने में तत्पर होते हैं, वैसे मैं भी होता, परन्तु ऐसी बातें मनुष्यपन से बाहर हैं। क्योंकि जैसे पशु बलवान् होकर निर्बलों को दुःख देते और मार भी डालते हैं, जब मनुष्य-शरीर पाके वैसा ही कर्म करते हैं, तो वे मनुष्यस्वभावयुक्त नहीं, किन्तु पशुवत् हैं। और जो बलवान् होकर निर्बलों की रक्षा करता है, वही मनुष्य कहाता है; और जो स्वार्थवश होकर पर-हानि मात्र करता रहता[4] है, वह जानो पशुओं का भी बड़ा भाई है।

अब आर्यावर्त्तियों के विषय में विशेषकर ११ ग्यारहवें समुल्लास तक लिखा है। इन समुल्लासों में जो कि सत्यमत प्रकाशित किया है, वह वेदोक्त होने से मुझको सर्वथा मन्तव्य है। और जो नवीन पुराण तन्त्रादि ग्रन्थोक्त बातों का खण्डन किया है, वे त्यक्तव्य हैं।

---

१. ग्रन्थकार 'या' के अर्थ में सदा 'वा' का ही प्रयोग करते हैं। उत्तरवर्ती अ० मु० संस्करणों में 'या' पाठ मिलता है, वह ठीक नहीं है।

२. द्र० पृष्ठ ३ टि० २।

३. बन्ध=बन्धन अथवा बध। द्र० उत्तर वाक्य—दुःख देते और मार भी डालते हैं। संस्करण ४ में 'बन्द' पाठ बनाया गया।

४. 'रहता' पद अ० मु० संस्करण ६ में छूट गया, अतः अगले संस्करणों में उपलब्ध नहीं होता।

यदपि[1] जो १२ बारहवें समुल्लास में चारवाक का मत [दर्शाया है, वह] इस समय क्षीणास्त-सा है, और यह चारवाक बौद्ध-जैन से बहुत सम्बन्ध अनीश्वरवादादि में रखता है। यह चारवाक सबसे बड़ा नास्तिक है, उसकी चेष्टा का रोकना अवश्य है। क्योंकि जो मिथ्या बात न रोकी जाये, तो संसार में बहुत-से अनर्थ प्रवृत्त हो जायें। चारवाक का जो मत है वह [तथा][2] बौद्ध और जैन का [जो][3] मत है, वह भी १२ वें समुल्लास में संक्षेप से लिखा गया है।

और बौद्धों तथा जैनियों का भी चारवाक के मत के साथ मेल है, और कुछ थोड़ा-सा[3] विरोध भी है। और जैन भी बहुत-से अंशों में चारवाक और बौद्धों के साथ मेल रखता है, और थोड़ी-सी बातों में भेद है, इसलिये जैनों की भिन्न शाखा गिनी जाती है। वह भेद १२ बारहवें समुल्लास में लिख दिया है, यथायोग्य वहीं समझ लेना। जो इसका भिन्न[4] है, सो-सो बारहवें समुल्लास में दिखलाया है। बौद्ध और जैन मत का विषय भी लिखा है।

इनमें से बौद्धों के दीपवंशादि प्राचीन ग्रन्थों में बौद्धमत-संग्रह, सर्वदर्शनसंग्रह में दिखलाया है, उसमें से यहां लिखा है। और जैनियों के निम्नलिखित सिद्धान्तों के पुस्तक हैं।[5] उनमें से —

---

१. अ० मु० सं ४ में इस पद को हटा कर इस वाक्य में स्वल्प परिवर्तन किया गया है। सं० २ का पाठ अव्यवस्थित सा है। हमने तीन पद [ ] कोष्ठक में बढ़ा कर उसे ही व्यवस्थित कर दिया है।

२. अ० मु० संस्करण ४ में परिवर्धित पद।

३. अ० मु० सं २२ तक 'सा' पद छपता रहा। २३ वें में मुद्रण में छूटा।

४. अर्थात् 'भेद'। 'भिन्न' पद में भाव अर्थ में 'क्त' जानना चाहिये।

५. नीचे लिखे गये जैनियों के सिद्धान्त पुस्तकों के नाम श्री सेवकलाल कृष्णदास, मन्त्री आर्य समाज बम्बई के १५ जनवरी सन् १८८१ के पत्र में उल्लिखित हैं। सेवकलाल कृष्णदास ने ये पुस्तक श्री स्वामी जी महाराज के आदेशानुसार संगृहीत किये थे। इस पत्र के अन्त में जैनियों के अन्य बहुत से ग्रन्थों के नाम भी लिखे हैं, जिन्हें उन्होंने संगृहीत किया था। यह पत्र महात्मा मुंशीराम (स्वामी श्रद्धानन्द) जी द्वारा सम्पादित 'ऋषि दयानन्द का पत्रव्यवहार' प्रथम भाग में पृष्ठ २५५ से २६४ तक छपा है। सत्यार्थ-

४ चार मूलसूत्र, जैसे—१. आवश्यकसूत्र, २. विशेष आवश्यकसूत्र, ३. दशवैकालिकसूत्र, और ४. पाक्षिकसूत्र।

११ ग्यारह अंग, जैसे—१. आचारांगसूत्र, २. सुगडांगसूत्र, ३. थाणांगसूत्र, ४. समवायांगसूत्र, ५. भगवतीसूत्र, ६. ज्ञाताधर्मकथासूत्र, ७. उपासकदशासूत्र, ८. अन्तगड़दशासूत्र, ९. अनुत्तरोववाईसूत्र, १०. विपाकसूत्र, ११. प्रश्नव्याकरणसूत्र।

१२ बारह उपांग, जैसे—१. उपवाईसूत्र, २. रावप्सेनीसूत्र, ३. जीवाभिगमसूत्र, ४. पन्नगणासूत्र, ५. जम्बुद्वीपपन्नतीसूत्र, ६. चन्दपन्नतीसूत्र, ७. सूरपन्नतीसूत्र, ८. निरियावलीसूत्र, ९. कप्पियासूत्र, १०. कपबड़ीसयासूत्र, ११. पुप्पियासूत्र, और १२. पुप्यचूलियासूत्र।

५ पांच कल्पसूत्र, जैसे—१. उत्तराध्ययनसूत्र, २. निशीथसूत्र, ३. कल्पसूत्र, ४. व्यवहारसूत्र, और ५. जीतकल्पसूत्र।

६ छः छेद, जैसे—१. महानिशीथबृहद्वाचनासूत्र, २. महनिशीथलघुवाचनासूत्र, ३. मध्यमवाचनासूत्र, ४. पिंडनिरुक्तिसूत्र, ५. औघनिरुक्तिसूत्र, ६. पर्य्यूषणासूत्र।

१० दश पयन्नसूत्र[1], जैसे १. चतुस्सरणसूत्र, २. पञ्चखाणसूत्र, ३. तदुलवैयालिकसूत्र, ४. भक्तिपरिज्ञानसूत्र, ५. महाप्रत्याख्यानसूत्र, ६. चन्दाविजयसूत्र, ७. गणीविजयसूत्र, ८. मरणसमाधिसूत्र,

---

प्रकाश में छपे नामों से इस पत्र में जिन नामों में स्वल्पभेद हैं, वे इस प्रकार हैं—

ग्यारह अङ्ग······ठाणांगसूत्र ··········।

बारह उपाङ्ग ·····रायपसेनीसूत्र पन्नवणासूत्र जम्बुद्दिपपन्नत्तीसूत्र चंदपन्नत्तीसूत्र सुरपन्नत्तीसूत्र निरियावलिसूत्र पुप्पियासूत्र पुप्पचूलियासूत्र।

छः छेद · पिण्डनिर्युक्तिसूत्र औघनिर्युक्तिसूत्र पर्युषणासूत्र।

दश पन्नासूत्र—चतुःषरणसूत्र पंचखानसूत्र तंदुलवैयालिकसूत्र भक्तिपरिग्यानसूत्र · गणिविज्वासूत्र देवेन्द्रस्तवनसूत्र संस्थारसूत्र।

पांच पंचांग— २ निर्युक्ति ३चर्णी ·····।

सत्यार्थ-प्रकाश और सेवकलाल द्वारा निर्दिष्ट ग्रन्थ-नामों में कुछ अशुद्धियां हैं। हमने द्वि० सं० का ही पाठ रखा है।

१. 'पयन्नासूत्र' अपपाठ संस्करण ८ से छप रहा है।

९. देवेन्द्रस्तवनसूत्र[1], और १०. संसारसूत्र। तथा नन्दीसूत्र, योगोद्धारसूत्र भी प्रामाणिक मानते हैं।

५. पञ्चाङ्ग, जैसे—१. पूर्व सब ग्रन्थों की टीका, २. निरुक्ति, ३. चरणी, ४ भाष्य। ये चार अवयव और सब मूल मिलके 'पंचांग' कहाते हैं।

इनमें ढूंढिया अवयवों को नहीं मानते। और इनसे भिन्न भी अनेक ग्रन्थ हैं कि जिनको जैनी लोग मानते हैं। इनका विशेष मत पर विचार[2] १२ बारहवें समुल्लास में देख लीजिए।

जैनियों के ग्रन्थों में लाखों पुनरुक्तदोष हैं। और इनका यह भी स्वभाव है कि जो अपना ग्रन्थ दूसरे मत वाले के हाथ में हो वा छपा हो, तो कोई-कोई उस ग्रन्थ को अप्रमाण कहते हैं। यह बात उनकी मिथ्या है। क्योंकि जिसको कोई माने कोई नहीं, इससे वह ग्रन्थ जैन मत से बाहर नहीं हो सकता। हां, जिसको कोई न माने और न कभी किसी जैनी ने माना हो, तब तो अग्राह्य हो सकता है। परन्तु ऐसा कोई ग्रन्थ नहीं है कि जिसको कोई भी जैनी न मानता हो। इसलिए जो जिस ग्रन्थ को मानता होगा, उस ग्रन्थस्थ-विषयक खण्डन-मण्डन भी उसी के लिए समझा जाता है। परन्तु कितने ही ऐसे भी हैं कि उस ग्रन्थ को मानते-जानते हों, तो भी सभा वा संवाद में बदल जाते हैं। इसी हेतु से जैन लोग अपने ग्रन्थों को छिपा रखते हैं, दूसरे[3] मतस्थ को न देते, न सुनाते और न पढ़ाते। इसलिए कि उनमें ऐसी-ऐसी असम्भव बातें भरी हैं, जिनका कोई भी उत्तर जैनियों में से नहीं दे सकता। झूठ बात को छोड़ देना ही उत्तर है।

१३वें समुल्लास में ईसाइयों का मत लिखा है। ये लोग बाय-

---

१. अ० मु० सं० ९ से 'देवेन्द्रस्तमनसूत्र' ऐसा अपपाठ छप रहा है।

२. 'इनके मत पर विशेष विचार' इस रूप में पाठ परिवर्तन अ० मु० संस्करण ४ में हुआ है, तब से वही छप रहा है।

३. अ० मु० सं० ९ से 'और दूसरे' परिवर्धित पाठ छप रहा है। अन्त तक एक वाक्य होने से अन्त में 'और का निर्देश होना चाहिये (वहां विद्यमान है), मध्य में परिवर्धन अयुक्त है।

बिल को अपना धर्म-पुस्तक मानते हैं। इनका विशेष समाचार उसी १३वें समुल्लास में देखिए। और १४वें समुल्लास में मुसलमानों के मत-विषय में लिखा है। ये लोग कुरान को अपने मत का मूलपुस्तक मानते हैं। इनका भी विशेष व्यवहार १४वें समुल्लास में देखिये। और इसके आगे वैदिक मत के विषय में लिखा है।

जो कोई इस[1] ग्रन्थकर्ता के तात्पर्य से विरुद्ध मनसा से देखेगा, उसको कुछ भी अभिप्राय विदित न होगा। क्योंकि वाक्यार्थबोध में चार कारण होते हैं आकांक्षा, योग्यता, आसत्ति और तात्पर्य। जब इन चारों बातों पर ध्यान देकर जो पुरुष ग्रन्थ को देखता है, तब उसको ग्रन्थ का अभिप्राय यथायोग्य विदित होता है—

आकांक्षा—किसी विषय पर वक्ता की और वाक्यस्थ पदों की आकांक्षा परस्पर होती है।

योग्यता—वह कहाती है कि जिससे जो हो सके। जैसे जल से सींचना।

आसत्ति—जिस पद के साथ जिसका सम्बन्ध हो, उसी के समीप उस पद का बोलना वा लिखना।

तात्पर्य- जिसके लिये वक्ता ने शब्दोच्चारण वा लेख किया हो, उसी के साथ उस वचन वा लेख को युक्त करना।

बहुत-से हठी दुराग्रही मनुष्य होते हैं कि जो वक्ता के अभिप्राय: से विरुद्ध कल्पना किया करते हैं, विशेषकर मत-वाले लोग। क्योंकि मत के आग्रह से उनकी बुद्धि अन्धकार में फंस के नष्ट हो जाती है। इसलिए जैसा मैं पुराण, जैनियों के ग्रन्थ, बायबिल और कुरान को प्रथम ही बुरी दृष्टि से न देखकर उनमें से गुणों का ग्रहण और दोषों का त्याग, तथा अन्य मनुष्य-जाति की उन्नति के लिए प्रयत्न करता हूं, वैसा सबको करना योग्य है।

---

१. 'इस ग्रन्थकर्त्ता के' अर्थात् मेरे। अ० मु० सं० २० से 'इसे' अपपाठ छप रहा है। 'इसे' पद को संस्करण ३२ के बाद निकाल दिया।

इन मतों के थोड़े-थोड़े ही दोष प्रकाशित किये हैं, जिनको देख-कर मनुष्य लोग सत्यासत्य मत का निर्णय कर सकें, और सत्य का ग्रहण तथा असत्य का त्याग करने-कराने में समर्थ होवें। क्योंकि एक मनुष्य-जाति में बहकाकर, विरुद्ध बुद्धि कराके, एक-दूसरे को शत्रु बना लड़ा मारना विद्वानों के स्वभाव से बहि: है। यद्यपि इस ग्रन्थ को देखकर अविद्वान् लोग अन्यथा ही विचारेंगे, तथापि बुद्धिमान् लोग यथायोग्य इसका अभिप्राय समझेंगे। इसलिये मैं अपने परिश्रम को सफल समझता और अपना अभिप्राय सब सज्जनों के सामने धरता हूं। इसको देख-दिखला के मेरे श्रम को सफल करें, और इसी प्रकार पक्षपात न करके सत्यार्थ का प्रकाश करके मुझ वा[1] सब महाशयों का मुख्य कर्त्तव्य काम है।

सर्वात्मा सर्वान्तर्यामी सच्चिदानन्द परमात्मा अपनी कृपा से इस आशय को विस्तृत और चिरस्थायी करे।

अलमतिविस्तरेण बुद्धिमद्वरशिरोमणिषु[2]।

इति भूमिका ॥

स्थान महाराणाजी का उदयपुर,

(स्वामी) दयानन्दसरस्वती

भाद्रपद्र शुक्लपक्ष संवत् १९३९

---

१. 'करके मेरा वा' अ० मु० संस्करण ४ में, संस्करण ५ से 'करना मेरा वा' पाठ छप रहा है।

२: यहां 'बुद्धिमद्विद्वरशिरोमणि सु' पाठ उचित प्रतीत होता है।

—: ओ३म् :—

सच्चिदानन्देश्वराय नमो नमः

अथ सत्यार्थ-प्रकाशः

[प्रथम-समुल्लासः]

ओ३म्, शन्नो मित्रः शं वरुणः शन्नो भवत्वर्य्यमा ।

शन्नऽ इन्द्रो बृहस्पतिः शन्नो विष्णुरुरुक्रमः ॥

नमो ब्रह्मणे नमस्ते वायो त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि ।

त्वामेव प्रत्यक्षं ब्रह्म वदिष्यामि ऋतं वदिष्यामि सत्यं वदिष्यामि ।

तन्मामवतु तद्वक्तारमवतु अवतु मामवतु वक्तारम् ॥

ओ३म् शान्तिश्शान्तिश्शान्तिः ॥१॥[1]

अर्थ—(ओ३म्)[2] यह ओंकार शब्द परमेश्वर का सर्वोत्तम नाम है। क्योंकि इसमें जो अ उ और म् तीन अक्षर मिलकर एक 'ओ३म्' समुदाय हुआ है। इस एक नाम से परमेश्वर के बहुत

---

१. तै० आ० प्रपा० ७। अनु० १॥ यहां निर्दिष्ट '॥१॥' संख्या तै० आ० प्र० ७, अनु० १ की समाप्ति-द्योतक संख्या जाननी चाहिए। तै० आ० में प्रतिवाक्य विराम-चिह्न होने से सांहतिकस्वर में अन्तर है। हमने ग्रन्थकार के अभिप्रायानुसार सांहतिकस्वर शुद्ध करके छापा है। ग्रन्थकार ने 'शन्न' आदि में जो अनुस्वार को परसवर्ण किया है, वह शुक्ल यजुः (माध्यन्दिन) संहिता ३६।९ के अनुसार है। 'ऽ' विवृति का चिह्न भी इसी संहिता में उपलब्ध होता है। तै० आ० में परसवर्ण और ऽ विवृति चिह्न नहीं मिलता।

२. यहां प्लुत-निर्देश होने पर भी अभिप्राय प्लुत-रहित शुद्ध 'ओम्' पद से है।

नाम आते हैं। जैसे—अकार से **विराट्, अग्नि** और **विश्वादि;** उकार से **हिरण्यगर्भ, वायु** और **तैजसादि;** मकार से **ईश्वर, आदित्य** और **प्राज्ञादि** नामों का वाचक और ग्राहक है। उसका ऐसा ही वेदादि सत्यशास्त्रों में स्पष्ट व्याख्यान किया है कि प्रकरणानुकूल ये सब नाम परमेश्वर ही के हैं।

प्रश्न—परमेश्वर से भिन्न अर्थों के वाचक विराट् आदि नाम क्यों नहीं? ब्रह्माण्ड, पृथिवी आदि भूत, इन्द्रादि देवता और वैद्यकशास्त्र में शुण्ठ्यादि[1] ओषधियों के भी ये नाम हैं वा नहीं?

उत्तर—हैं, परन्तु परमात्मा के भी हैं।[2]

प्रश्न—केवल देवों का ग्रहण इन नामों से करते हो वा नहीं?

उत्तर—आपके ग्रहण करने में क्या प्रमाण है?

प्रश्न—देव सब प्रसिद्ध और वे उत्तम भी हैं, इससे मैं उनका ग्रहण करता हूं।

उत्तर—क्या परमेश्वर अप्रसिद्ध और उससे कोई उत्तम भी है? पुनः ये नाम परमेश्वर के भी क्यों नहीं मानते? जब परमेश्वर अप्रसिद्ध और उससे तुल्य भी कोई नहीं, तो उससे उत्तम कोई क्योंकर हो सकेगा? इससे आपका यह कहना सत्य नहीं। क्योंकि आपके इस कहने में बहुत-से दोष भी आते हैं। जैसे **"उपस्थितं परित्यज्यानुपस्थितं याचत इति बाधितन्यायः।"** किसी ने किसी के लिये भोजन का पदार्थ रखकर कहा कि आप भोजन कीजिए, और वह जो उसको छोड़ के अप्राप्त भोजन के लिए जहां-तहां भ्रमण करे, उसको बुद्धिमान् न जानना चाहिये। क्योंकि वह उपस्थित नाम समीप प्राप्त हुए पदार्थ को छोड़ के अनुपस्थित अर्थात् अप्राप्त पदार्थ की प्राप्ति के लिए श्रम करता है। इसलिए जैसा वह पुरुष

---

१. ऊपर पढ़े गये नामों में 'विश्व' शब्द का स्त्रीलिङ्ग 'विश्वा' रूप आयुर्वेदिक निघण्टुओं में 'शुण्ठी' का पर्याय माना गया है।

२. यहां प्रश्न में निर्दिष्ट 'विराट्' आदि पद ईश्वर के वाचक भी हैं, यह तात्पर्य्य जानना चाहिये, न कि 'ब्रह्माण्ड—शुण्ठी' आदि।

बुद्धिमान् नहीं, वैसा ही आपका कथन हुआ। क्योंकि आप उन विराट् आदि नामों के जो प्रसिद्ध प्रमाण-सिद्ध परमेश्वर और ब्रह्माण्डादि उपस्थित अर्थों का परित्याग करके असम्भव और अनुपस्थित देवादि के ग्रहण में श्रम करते हैं, इसमें कोई भी प्रमाण वा युक्ति नहीं।

जो आप ऐसा कहें कि जिसका जहां प्रकरण है वहां उसी का ग्रहण करना योग्य है। जैसे किसी ने किसी से कहा—"**हे भृत्य ! त्वं सैन्धवमानय**" अर्थात् तू सैन्धव को लेआ। तव उसको समय अर्थात् प्रकरण का विचार करना अवश्य है। क्योंकि सैन्धव नाम दो पदार्थों का है—एक घोड़े और दूसरे लवण का। जो स्वस्वामी का गमन-समय हो तो घोड़े, और भोजनकाल हो तो लवण को ले आना उचित है। और जो गमन-समय में लवण और भोजन-समय में घोड़े को ले आवे, तो उसका स्वामी उस पर क्रुद्ध होकर कहेगा कि तू निर्बुद्धि पुरुष है। गमन-समय में लवण और भोजनकाल में घोड़े के लाने का क्या प्रयोजन था ? तू प्रकरणवित् नहीं है, नहीं तो जिस समय में जिसको लाना चाहिए था, उसी को लाता। जो तुझको प्रकरण का विचार करना आवश्यक था वह तूने नहीं किया, इससे तू मूर्ख है, मेरे पास से चला जा। इससे क्या सिद्ध हुआ कि जहां जिसका ग्रहण करना उचित हो, वहां उसी अर्थ का ग्रहण करना चाहिए। तो ऐसा ही हम और आप सब लोगों को मानना और करना भी चाहिए।

अथ मन्त्रार्थः—ओं खम्ब्रह्म[1] ॥१॥ यजुः अ० ४०। मं० १७॥

देखिये वेदों में ऐसे-ऐसे प्रकरणों में 'ओम्' आदि परमेश्वर के नाम हैं।

ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीत ॥२॥ छान्दोग्य उपनिषत्[2]

ओमित्येतदक्षरमिदँ सर्वं तस्योपव्याख्यानम् ॥ ३॥ माण्डूक्य[3]

सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति तपांसि सर्वाणि च यद्वदन्ति,
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत् ॥४॥

कठोपनिषत् वल्ली २, मं० १५॥

---

१. इस मन्त्र में तथा आगे सर्वत्र संस्करण २ में स्वर-चिह्न नहीं दिये हैं। हमने स्वरचिह्न दे दिये हैं। २. छां० उ० १।१॥ ३. मां० उ० १॥

प्रशासितारं सर्वेषामणीयांसमणोरपि ।
रुक्माभं स्वप्नधीगम्यं विद्यात्तं पुरुषं परम् ॥५॥
एतमग्निं वदन्त्येके मनुमन्ये प्रजापतिम् ।
इन्द्रमेके परे प्राणमपरे ब्रह्म शाश्वतम् ॥६॥

मनु० अ० १२। श्लोक [१२२][2] १२३ ॥

स ब्रह्मा स विष्णुः स रुद्रस्स शिवस्सोऽक्षरस्स परमः स्वराट् ।
स इन्द्रस्स कालाग्निस्स चन्द्रमाः ॥७॥ कैवल्य उपनिषत्[3] ॥

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान् ।
एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः ॥८॥

ऋ० मं० १। सू० १६४। मं० ४६ ॥

भूरसि भूमिरस्यदितिरसि विश्वधाया विश्वस्य भुवनस्य धर्त्री ।
पृथिवीं यच्छ पृथिवीं दृꣳह पृथिवीं मा हिꣳसीः ॥९॥

यजुः अ० मं० ॥[4]

१ २ ३ १ २र ३ २ ३ २ ३ १ २
इन्द्रो मह्ना रोदसी पप्रथच्छव इन्द्रः सूर्यमरोचयत् ।
१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
इन्द्रे ह विश्वा भुवनानि येमिर इन्द्रे स्वानास इन्दवः ॥१०॥

सामवे० प्रपा० ६ त्रिक ८ मं० २ ॥[5]

---

१. सत्यार्थप्रकाश सं० १, २, ३; पूनाप्रवचन, प्रवचन ५ पृष्ठ ४६ (रा० क० ट्र० सं०) में यही पाठ मिलता है। सत्यार्थप्रकाश सं० ४ से संशोधकों द्वारा परिवर्तित 'एतमेके वदन्त्यग्निं' पाठ मिलता है। वेदभाष्य के नमूने के अङ्क में पृष्ठ २ पर 'एतमेके वदन्त्यग्निं' पाठ भी ग्रन्थकार ने उद्धृत किया है।

२. मनु के प्रथम श्लोक की संख्या संस्करण २ में त्रुटित है। इस श्लोक के प्रथम चरण के पाठ के विषय में टि० १ देखें। ३. तै० उ० १।८॥

४. यजुः १३।१८॥ प्रथम द्वितीय सं० में 'मा हिꣳसीः' के आगे 'पुरुषं जगत्' पाठ भी छपा है। उसे संस्करण २ के संशोधनपत्र में हटा दिया।

५. शुद्ध पता इस प्रकार है—साम० उत्तरार्चिक, प्रपाठक ७, तृतीयार्ध, त्रिक ८, मन्त्र २।

प्राणाय नमो यस्य सर्वमिदं वशे ।
यो भूतः सर्वस्येश्वरो यस्मिन्त्सर्वं प्रतिष्ठितम् ।।११।।

अथर्ववेदे काण्ड ११ प्रपा० २४ अ० २ मं० ८ ।।[1]

अर्थ—यहां इन प्रमाणों के लिखने में तात्पर्य यही है कि जो ऐसे-ऐसे प्रमाणों में ओङ्कारादि नामों से परमात्मा का ग्रहण होता है, [यह][2] लिख आये । तथा परमेश्वर का कोई भी नाम अनर्थक नहीं, जैसे लोक में दरिद्री आदि के धनपति आदि नाम होते हैं । इससे यह सिद्ध हुआ कि कहीं गौणिक, कहीं कार्मिक और कहीं स्वाभाविक अर्थों के वाचक हैं । 'ओ३म्' आदि नाम सार्थक हैं । जैसे—

(ओं खं०) **'अवतीत्योम्, आकाशमिव व्यापकत्वात् खम्, सर्वेभ्यो बृहत्वाद् ब्रह्म'** । रक्षा करने से **ओ३म्**, आकाशवत् व्यापक होने से **खम्**, और सबसे बड़ा होने से **'ब्रह्म'** ईश्वर का नाम है ।।१।।

[(**ओमित्ये०**)] **'ओ३म्'** जिसका नाम है, और जो कभी नष्ट नहीं होता, उसी की उपासना करनी योग्य है, अन्य की नहीं ।।२।।

(**ओमित्येत०**) सब वेदादि शास्त्रों में परमेश्वर का प्रधान और निज नाम **'ओ३म्'** को कहा है, अन्य सब गौणिक नाम हैं ।।३।।

(**सर्वे वेदा०**) क्योंकि सब वेद, सब धर्मानुष्ठानरूप तपश्चरण जिसका कथन और मान्य करते, और जिसकी प्राप्ति की इच्छा करके ब्रह्मचर्याश्रम करते हैं, उसका नाम **'ओ३म्'** है ।।४।।

(**प्रशासिता०**) जो सबको शिक्षा देनेहारा, सूक्ष्म-से-सूक्ष्म, स्वप्रकाशस्वरूप, समाधिस्थ बुद्धि[3] से जानने योग्य हैं, उसको परमपुरुष जानना चाहिए ।५। और स्वप्रकाश होने से **'अग्नि'**, विज्ञानस्वरूप होने से **'मनु'**, सबका पालन करने से [**'प्रजापति'**,][4] और परमैश्वर्यवान्

---

१. शुद्ध पता—अथर्व ११।४।१।। २. संस्करण ३ में परिवर्धित ।

३. जर्मन बूह्लर ने यहां—Sleep (-like abstraction) अनुवाद किया है । यह मूल के अभिप्राय के विरुद्ध है । भ० द०

४. संस्करण २-१४ में छूटा, शताब्दी सं०में बढ़ाया गया । यह परिवर्धन युक्त है ।

होने से '**इन्द्र**', सबका जीवनमूल होने से '**प्राण**', और निरन्तर[1] व्यापक होने से परमेश्वर का नाम '**ब्रह्म**' है ॥६॥

(**स ब्रह्मा स विष्णुः०**) सब जगत् के बनाने[2] से '**ब्रह्मा**', सर्वत्र व्यापक होने से '**विष्णु**', दुष्टों को दण्ड देके रुलाने से '**रुद्र**', मंगलमय और सबका कल्याणकर्त्ता होने से '**शिव**'। '**यः सर्वमश्नुते न क्षरति न विनश्यति तदक्षरम्**' ॥१॥ '**यः स्वयं राजते स स्वराट्**' [॥२॥] '**योऽग्निरिव कालः कलयिता प्रलयकर्त्ता स कालाग्निरीश्वरः**' ॥३॥ '**अक्षर**' जो सर्वत्र व्याप्त अविनाशी, '**स्वराट्**' स्वयं प्रकाशस्वरूप और '**कालाग्नि**' प्रलय में [जो अग्नि के समान] सबका काल और काल का भी काल है, इसलिए परमेश्वर का नाम '**कालाग्नि**' है ॥७॥

(**इन्द्रं मित्रं०**) जो एक अद्वितीय सत्य ब्रह्म वस्तु है, उसी के इन्द्रादि सब नाम हैं। '**द्युषु शुद्धेषु पदार्थेषु भवो दिव्यः**'; '**शोभनानि पर्णानि पालनानि पूर्णानि कर्माणि वा यस्य स [सुपर्णः]**'; '**यो गुर्वात्मा स गरुत्मान्**'; '**यो मातरिश्वा वायुरिव बलवान् स मातरिश्वा**'। '**दिव्य**' जो प्रकृत्यादि दिव्य पदार्थों में व्याप्त, '**सुपर्ण**' जिसके उत्तम पालन और पूर्ण कर्म हैं, '**गरुत्मान्**' जिसका आत्मा अर्थात् स्वरूप महान् है, [**मातरिश्वा**] जो वायु के समान अनन्त बलवान् है। इसलिए परमात्मा के '**दिव्य**', '**सुपर्ण**', '**गरुत्मान्**' और '**मातरिश्वा**' ये नाम हैं। शेष नामों का अर्थ आगे लिखेंगे ॥८॥

(**भूमिरसि०**) '**भवन्ति भूतानि यस्यां सा भूमिः**' जिसमें सब भूत प्राणी होते हैं, इसलिए ईश्वर का नाम '**भूमि**' है। शेष नामों का अर्थ आगे लिखेंगे ॥९॥

(**इन्द्रो मह्ना०**) इस मन्त्र में '**इन्द्र**' परमेश्वर ही का नाम है। इसलिए यह प्रमाण लिखा है ॥१०॥

---

१. निर् अन्तर=बिना **व्यवधान** के **अन्दर** बाहर सर्वत्र व्यापक, अर्थात् सबसे बड़ा। इस अर्थवाला 'ब्रह्म' शब्द बृहि 'वृद्धौ' (धातु० १।४८८) धातु से बनता है।

२. इस अर्थवाला ब्रह्मा शब्द 'बृह उद्यमने' (धातु० ६।५६) धातु से निष्पन्न होता है।

(प्राणाय०) जैसे प्राण के वश [में] सब शरीर [और] इन्द्रियां होती हैं, वैसे परमेश्वर के वश में सब जगत् रहता है ॥११॥

इत्यादि प्रमाणों के ठीक-ठीक अर्थों के जानने से इन नामों करके परमेश्वर ही का ग्रहण होता है। क्योंकि ओ३म् और अग्न्यादि नामों के मुख्य अर्थ से परमेश्वर ही का ग्रहण होता है। जैसा कि व्याकरण, निरुक्त, ब्राह्मण, सूत्रादि ऋषि-मुनियों के व्याख्यानों से परमेश्वर का ग्रहण देखने में आता है, वैसा ग्रहण करना सबको योग्य है। परन्तु 'ओ३म्' यह तो केवल परमात्मा ही का नाम है, और अग्नि आदि नामों से परमेश्वर के ग्रहण में प्रकरण और विशेषण नियम-कारक हैं। इससे क्या सिद्ध हुआ कि जहां-जहां स्तुति, प्रार्थना, उपासना [आदि प्रकरण, और] सर्वज्ञ, व्यापक, शुद्ध, सनातन और सृष्टिकर्त्ता आदि विशेषण लिखे हैं, वहीं-वहीं इन नामों से परमेश्वर का ग्रहण होता है।

और जहां-जहां ऐसे प्रकरण हैं कि—

ततो॑ वि॒राड॑जायत वि॒राजो॒ अधि॒ पूरु॑षः ॥१॥[1]

श्रोत्रा॑द्वा॒युश्च॑ प्रा॒णश्च॒ मुखा॑द॒ग्निर॑जायत ॥२॥[2]

तेन॑ दे॒वा अ॑यजन्त ॥३॥[3]

प॒श्चाद्भूमि॒मथो॑ पु॒रः ॥४॥[4] यजुः अ० ३१ ॥

तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः। आकाशाद्वायुः। वायोरग्निः। अग्नेरापः। अद्भ्यः पृथिवी। पृथिव्या ओषधयः। ओषधिभ्योऽन्नम्। अन्नाद्रेतः। रेतसः पुरुषः[5]। स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः ॥ यह तैत्तिरीयोपनिषद्[6] का वचन है ॥

---

१. यजुः ३१।५॥ २. यजुः ३१।१२॥ ३. यजुः ३१।९॥ ४. यजुः ३१।५॥

५. तै० उ० और तै० ब्रा० में प्रायः 'ओषधिभ्योऽन्नम्, अन्नात् पुरुषः' पाठ मिलता है। ग्रन्थकार द्वारा निर्दिष्ट पाठ तै० आरण्यक ८।२ के पाठान्तर में उपलब्ध होता है, द्र० आनन्दाश्रम पूना संस्करण। बम्बई की छपी मणिप्रभायुक्त एकादशोपनिषद में भी यह पाठ मिलता है।

६. ब्रह्मानन्दवल्ली १॥

ऐसे प्रमाणों में विराट्, पुरुष, देव, आकाश, वायु, अग्नि, जल, भूमि आदि नाम लौकिक पदार्थों के होते हैं। क्योंकि जहां-जहां उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय, अल्पज्ञ, जड़, दृश्य आदि विशेषण भी लिखे हों, वहां-वहां परमेश्वर का ग्रहण नहीं होता, वह उत्पत्ति आदि व्यवहारों से पृथक् है। और उपरोक्त मन्त्रों में उत्पत्ति आदि व्यवहार हैं, इसी से यहां विराट् आदि नामों से परमात्मा का ग्रहण न होके संसारी पदार्थों का ग्रहण होता है। किन्तु जहां-जहां सर्वज्ञादि विशेषण हों वहीं-वहीं परमात्मा, और जहां-जहां इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख, दुःख और अल्पज्ञादि विशेषण हों वहां-वहां जीव का ग्रहण होता है। ऐसा सर्वत्र समझना चाहिए, क्योंकि परमेश्वर का जन्म-मरण कभी नहीं होता। इससे विराट् आदिनाम और जन्मादि विशेषणों से जगत् के जड़ और जीवादि पदार्थों का ग्रहण करना उचित है, परमेश्वर का नहीं।

अब जिस प्रकार विराट् आदि नामों से परमेश्वर का ग्रहण होता है, वह प्रकार नीचे लिखे प्रमाणे जानो—

अथ ओङ्कारार्थः—'वि' उपसर्गपूर्वक **राजृ दीप्तौ**[1] इस धातु से 'क्विप्' प्रत्यय करने से 'विराट्' शब्द सिद्ध होता है। **"यो विविधं नाम चराऽचरं जगद्राजयति प्रकाशयति स विराट्"** विविध अर्थात् जो बहु प्रकार के जगत् को प्रकाशित करे, इससे **'विराट्'** नाम से परमेश्वर का ग्रहण होता है।

अञ्चु गतिपूजनयोः[2]; **अग, अगि, इण् गत्यर्थक**[3] धातु हैं, इनसे 'अग्नि' शब्द सिद्ध होता है। **'गतेस्त्रयोऽर्थाः—ज्ञानं गमनं प्राप्तिश्चेति। पूजनं नाम सत्कारः'**। **'योऽञ्चति अच्यतेऽगत्यङ्गत्येति [वा] सोऽयमग्निः'** जो ज्ञानस्वरूप, सर्वज्ञ, जानने प्राप्त होने और पूजा करने योग्य है, इससे उस परमेश्वर का नाम **'अग्नि'** है।

विश प्रवेशने[4] इस धातु से 'विश्व' शब्द सिद्ध होता है। **'विशन्ति प्रविष्टानि सर्वाण्याकाशादीनि भूतानि यस्मिन्, यो वाऽऽकाशादिषु**

---

१. धातुपाठ१।५६६।। २. धातु० १।११५।। ३. अग—धातु० १।५३८।। अगि—धातु० १।८८।। इण्—धातु० २।३८।। ४. धातु० ६।१३३।।

सर्वेषु भूतेषु प्रविष्टः स विश्व ईश्वरः' जिसमें आकाशादि सब भूत प्रवेश कर रहे हैं, अथवा जो इनमें व्याप्त होके प्रविष्ट हो रहा है, इसलिए उस परमेश्वर का नाम '**विश्व**' है। इत्यादि नामों का ग्रहण अकारमात्र[1] से होता है।

'**ज्योतिर्वै हिरण्यम्**[2], **तेजो वै हिरण्यम्**[3] **इत्यैतरेयशतपथ-ब्राह्मणे'**[4]। '**यो हिरण्यानां सूर्यादीनां तेजसां गर्भ उत्पत्तिनिमित्तमधिकरणं स हिरण्यगर्भः'** जिसमें सूर्यादि तेजवाले लोक उत्पन्न होके जिसके आधार रहते हैं, अथवा जो सूर्यादि तेजःस्वरूप पदार्थों का गर्भ नाम उत्पत्ति और निवास-स्थान है, इससे उस परमेश्वर का नाम '**हिरण्यगर्भ**' है। इसमें यजुर्वेद के मन्त्र का प्रमाण है—

हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम॥[5]

इत्यादि स्थलों में 'हिरण्यगर्भ' से परमेश्वर ही का ग्रहण होता है।

वा गतिगन्धनयोः[6] इस धातु से 'वायु' शब्द सिद्ध होता है। **गन्धनं हिंसनम्**[7]। '**यो वाति चराऽचरं जगद्धरति बलिनां बलिष्ठः स वायुः'** जो चराचर जगत् का धारण जीवन और प्रलय करता, और सब बलवानों से बलवान् है, इससे उस ईश्वर का नाम '**वायु**' है।

---

१. 'अकारमात्रा' पाठ संशोधकों ने माण्डूक्योपनिषद् के अनुसार बदला है।

२. शत० ब्रा० ६।७।१।२॥ ज्योतिर्वै शुक्रं हिरण्यम्। ऐ० ब्रा० ७।१२॥

३. तै० ब्रा० ८।१।९।१॥

४. मूलपाठ यही है। उत्तरवर्ती संस्करणों में 'ऐतरेये शतपथे च ब्राह्मणे' पाठ बनाया है। मूलपाठ में 'ऐतरेयं च शतपथं च=ऐतरेयशतपथम्, ऐतरेयशतपथं च तद् ब्राह्मणम् ऐतरेयशतपथब्राह्मणम् तस्मिन्' ऐसा समास जानना चाहिए।

५. यजुः १३।४॥ ६. धातु० २।४३॥

७. द्र० 'बस्त गन्ध अर्दने' (धातु० १०।१५२), अर्द हिंसायाम्' (धातु० १०।२५५)। 'गन्धनं मर्दनम्' इति क्षीरतरङ्गिण्यां क्वाचित्कः पाठः (२।४३, पृष्ठ १७८ रामलाल कपूर ट्रस्ट सं०)

तिज निशाने[१] इस धातु से 'तेजः', और इससे तद्धित[२] करने से 'तैजस' शब्द सिद्ध होता है। जो आप स्वयंप्रकाश और सूर्यादि तेजस्वी लोकों का प्रकाश करने वाला है, इससे उस ईश्वर का नाम **'तैजस'** है। इत्यादि नामार्थ उकारमात्र से ग्रहण होते हैं।

ईश ऐश्वर्ये[३] इस धातु से 'ईश्वर' शब्द सिद्ध होता है। **'य ईष्टे सर्वैश्वर्यवान् वर्त्तते स ईश्वरः'** जिसका सत्य विचारशील ज्ञान और अनन्त ऐश्वर्य है, इससे उस परमात्मा का नाम 'ईश्वर' है।

दो अवखण्डने[४] इस धातु से 'अदिति' और इससे तद्धित[५] करने से 'आदित्य' शब्द सिद्ध होता है। **'न विद्यते विनाशो यस्य सोऽयमदितिः, अदितिरेव आदित्यः'** जिसका विनाश कभी न हो, उसी ईश्वर की **'आदित्य'** संज्ञा है।

ज्ञा अवबोधने[६] **'प्र'** पूर्वक इस धातु से **'प्रज्ञ'** और इससे तद्धित[७] करने से 'प्राज्ञ' शब्द सिद्ध होता है। **'यः प्रकृष्टतया चराऽचरस्य जगतो व्यवहारं जानाति स प्रज्ञः, प्रज्ञ एव प्राज्ञः'** जो निर्भ्रान्त ज्ञानयुक्त सब चराचर जगत् के व्यवहार को यथावत् जानता है, इससे ईश्वर का नाम **'प्राज्ञ'** है। इत्यादि नामार्थ मकार से गृहीत होते हैं।

जैसे एक-एक मात्रा से तीन-तीन अर्थ यहां व्याख्यात किये हैं, वैसे ही अन्य नामार्थ भी ओंकार से जाने जाते हैं।

जो **'शन्नो मित्रः शं व॰'** इस मन्त्र में मित्रादि नाम हैं, वे भी परमेश्वर के हैं। क्योंकि स्तुति प्रार्थना उपासना श्रेष्ठ ही की की जाती है। श्रेष्ठ उसको कहते हैं—जो गुण कर्म स्वभाव और सत्य-सत्य व्यवहारों में सबसे अधिक हो। उन सब श्रेष्ठों में भी जो अत्यन्त

---

१. धातु॰ १।६६८॥ २. 'प्रज्ञादिभ्यश्च (अ॰ ५।४।३८) से स्वार्थ में 'अण्'। ३. धातु॰ २।१०॥ ४. धातु॰ ४।३६ ॥

५. 'अदिति' शब्द से अ॰ ४।१।८५ से प्राग्दीव्यतीय अर्थों में 'ण्य' प्रत्यय होकर 'आदित्य' शब्द सिद्ध होता है। ग्रन्थकार ने स्वार्थ में तद्धित प्रत्यय माना है। अतः यहां 'चातुर्वर्ण्यादीनां स्वार्थ उपसंख्यानम्' (महा॰ ५।१।१२४) वार्तिक से स्वार्थ मे 'ष्यञ्' प्रत्यय जानना चाहिए। चातुर्वर्ण्यादि आकृतिगण हैं।

६. धातु॰ ६।४०॥ ७. अ॰ ५।४।३८ से स्वार्थ में 'अण्'।

श्रेष्ठ, उसको परमेश्वर कहते हैं। जिस के तुल्य कोई न हुआ, न है और न होगा। जब तुल्य नहीं, तो उससे अधिक क्योंकर हो सकता है? जैसे परमेश्वर के सत्य न्याय दया सर्वसामर्थ्य और सर्वज्ञत्वादि अनन्त गुण हैं, वैसे अन्य किसी जड़ पदार्थ वा जीव के नहीं हैं। जो पदार्थ सत्य है, उसके गुण कर्म स्वभाव भी सत्य होते हैं। इसलिए मनुष्यों को योग्य है कि परमेश्वर ही की स्तुति प्रार्थना और उपासना करें, उससे भिन्न की कभी न करें। क्योंकि ब्रह्मा, विष्णु, महादेव नामक पूर्वज महाशय विद्वान्, दैत्य दानवादि निकृष्ट मनुष्य और अन्य साधारण मनुष्यों ने भी परमेश्वर ही में विश्वास करके उसी की स्तुति प्रार्थना और उपासना करी, उससे भिन्न की नहीं की; वैसे हम सबको करना योग्य है। इसका विशेष विचार मुक्ति और उपासना विषय में किया जाएगा।

प्रश्न—मित्रादि नामों से सखा और इन्द्रादि देवों के प्रसिद्ध व्यवहार देखने से उन्हीं का ग्रहण करना चाहिए।

उत्तर—यहां उनका ग्रहण करना योग्य नहीं। क्योंकि जो मनुष्य किसी का मित्र है, वही अन्य का शत्रु और किसी से उदासीन भी देखने में आता है। इससे मुख्यार्थ में सखा आदि का ग्रहण नहीं हो सकता। किन्तु जैसा परमेश्वर सब जगत् का निश्चित मित्र, न किसी का शत्रु और न किसी से उदासीन है, इससे भिन्न कोई भी जीव इस प्रकार का कभी नहीं हो सकता। इसलिये परमात्मा ही का ग्रहण यहां होता है। हां, गौण अर्थ में मित्रादि शब्द से सुहृदादि मनुष्यों का ग्रहण होता है।

ञिमिदा स्नेहने[1] इस धातु से औणादिक **'क्त्र'**[2] प्रत्यय के होने से मित्र शब्द सिद्ध होता है। **'मेद्यति स्निह्यति स्निह्यते वा स मित्रः'** जो सबसे स्नेह करने[3] और सबको प्रीति करने योग्य है, इससे उस परमेश्वर का नाम **'मित्र'** है।

---

१. धातु० ४।१२६॥ २. अमिचिमिदिशसिभ्यः क्त्रः (उ०४।१६४)से विहित 'क्त्र' बहुल ग्रहण से 'मिद' से भी जानना चाहिए। ३. सं०२ में 'करके' पाठ है।

वृञ् वरणे, वर ईप्सायाम्[१] इन धातुओं से उणादि **'उनन्'**[२] प्रत्यय होने से 'वरुण' शब्द सिद्ध होता है। **'यः सर्वान् शिष्टान् मुमुक्षून् धर्मात्मनो वृणोति, अथवा यः शिष्टैर्मुमुक्षुभिर्धर्मात्मभिर्व्रियते वर्य्यते वा स वरुणः परमेश्वरः'** जो आत्मयोगी विद्वान् मुक्ति की इच्छा करने वाले मुक्त और धर्मात्माओं का स्वीकार करता, अथवा जो शिष्ट मुमुक्षु मुक्त और धर्मात्माओं से ग्रहण किया जाता है, वह ईश्वर **'वरुण'** संज्ञक है। अथवा **'वरुणो नाम वरः श्रेष्ठः'** जिसलिये परमेश्वर सबसे श्रेष्ठ है, इसीलिए उसका नाम 'वरुण' है।

ऋ गतिप्रापणयोः[३] इस धातु से **'यत्'**[४] प्रत्यय करने से 'अर्य्य' शब्द सिद्ध होता है, और **'अर्य्य'** पूर्वक **माङ् माने**[५] इस धातु से **'कनिन्'**[६] प्रत्यय होने से **'अर्यमा'** शब्द सिद्ध होता है। **'योऽर्य्यान् स्वामिनो न्यायाधीशान् मिमीते मान्यान् करोति सोऽर्यमा'** जो सत्य न्याय के करनेहारे मनुष्यों का मान्य, और पाप तथा पुण्य करने वालों को पाप और पुण्य के फलों का यथावत् सत्य-सत्य नियमकर्त्ता है, इसी से उस परमेश्वर का नाम **'अर्यमा'** है।

इदि परमैश्वर्ये[७] इस धातु से **'रन्'**[८] प्रत्यय करने से 'इन्द्र' शब्द सिद्ध होता है। **'य इन्दति परमैश्वर्यवान् भवति स इन्द्रः परमेश्वरः'** जो अखिल ऐश्वर्ययुक्त है, इस से उस परमात्मा का नाम **'इन्द्र'** है।

'बृहत्' शब्दपूर्वक **पा रक्षणे**[९] इस धातु से **'डति'**[१०] प्रत्यय,

---

१: 'वृञ्'—धातु० ५।५८; 'वर' धातु० १०।२८०॥

२. कृवृदारिभ्य उनन् (उ० ३।५३)। बहुल-ग्रहण से 'वर' धातु से भी 'उनन्' जानना चाहिये। ३. धातु० १।६७०॥

४. अर्यः स्वामिवैश्ययोः (अ० ३।१।१०३) से स्वामी अर्थ में यत्प्रत्ययान्त निपातन किया है। ५. धातु० ३।६॥

६. श्वन्नुक्षन्......अर्यमन्......(उ० १।१५९) में कनिन्-प्रत्ययान्त निपातित है। ७. धातु० १।५१॥ ८. ऋज्रेन्द्राग्र० (उ० २।२८) में रन्प्रत्ययान्त निपातित है। ९. धातु० २।४९॥

१०. पातेर्डतिः। उ० ४।५७॥

बृहत् के तकार का लोप और सुडागम[1] होने से 'बृहस्पति' शब्द सिद्ध होता है। **'यो बृहतामाकाशादीनां पतिः स्वामी पालयिता स बृहस्पतिः'** जो बड़ों से भी बड़ा और बड़े आकाशादि ब्रह्माण्डों का स्वामी है, इससे उस परमेश्वर का नाम **'बृहस्पति'** है।

विष्लृ व्याप्तौ[2] इस से 'नु'[3] प्रत्यय होकर 'विष्णु' शब्द सिद्ध हुआ है। **'वेवेष्टि व्याप्नोति चराऽचरं जगत् स विष्णुः'** चर और अचररूप जगत् में व्यापक होने से परमात्मा का नाम **'विष्णु'** है।

उरुर्महान् क्रमः पराक्रमो यस्य स उरुक्रमः' अनन्तपराक्रमयुक्त होने से परमात्मा का नाम **'उरुक्रम'** है।

जो परमात्मा (उरुक्रमः) महापराक्रमयुक्त (मित्रः) सबका सुहृत् अविरोधी है, वह (शम्) सुखकारक, वह (वरुणः) सर्वोत्तम, वह (शम्) सुखस्वरूप, वह (अर्यमा) [न्यायाधीश, वह] (शम्) सुखप्रचारक, वह (इन्द्रः) [जो सकल ऐश्वर्यवान्,] (शम्) सकल ऐश्वर्यदायक, वह (बृहस्पतिः) सबका अधिष्ठाता, (शम्) विद्याप्रद और विष्णुः) जो सब में व्यापक परमेश्वर है, वह (नः) हमारा कल्याणकारक (भवतु) हो।

(वायो ते ब्रह्मणे नमोऽस्तु) **बृह बृहि वृद्धौ**[4] इन[5] धातुओं से 'ब्रह्म' शब्द सिद्ध हुआ है। जो सबके ऊपर विराजमान, सबसे बड़ा अनन्तबलयुक्त परमात्मा है, उस 'ब्रह्म' को हम नमस्कार करते हैं। हे परमेश्वर! (त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि) आप ही अन्तर्यामिरूप से प्रत्यक्ष ब्रह्म हो। (त्वामेव प्रत्यक्षं ब्रह्म वदिष्यामि) मैं आप ही को प्रत्यक्ष ब्रह्म कहूंगा, क्योंकि आप सब जगह में व्याप्त होके सबको नित्य ही प्राप्त हैं। (ऋतं वदिष्यामि) जो आपकी वेदस्थ यथार्थ

---

१. तद्बृहतोश्चोरदेवतयोः सुट् तलोपश्च (गण० ६।१।१५१ के) पारस्करादिस्थ गणसूत्र से।

२. धातु० ३।१३॥ ३. विषेः किच्च। उ० ३।३९॥

४. धातु० १।४८८॥ ५. बृंहेर्नोच्च (उ० ४।१४६) सूत्र से बृहि (बृंह) से बनाया है। 'बृह' से बहुल ग्रहण से 'अम्' आगम जानना चाहिए।

आज्ञा है, उसी को मैं सबके लिए उपदेश और आचरण भी करूंगा। (सत्यं वदिष्यामि) सत्य बोलूं, सत्य मानूं, और सत्य ही करूंगा। (तन्मामवतु) सो आप मेरी रक्षा कीजिए। (तद्वक्तारमवतु) सो आप मुझ आप्त सत्यवक्ता की रक्षा कीजिए, कि जिससे आपकी आज्ञा में मेरी बुद्धि स्थिर होकर विरुद्ध कभी न हो। क्योंकि जो आपकी आज्ञा है वही धर्म, और जो उससे विरुद्ध वही अधर्म है। (अवतु मामवतु वक्तारम्) यह दूसरी बार पाठ अधिकार्थ के लिए है। जैसे—'**कश्चित् कञ्चित् प्रति वदति त्वं ग्रामं गच्छ गच्छ**' इसमें दो बार क्रिया के उच्चारण से तू शीघ्र ही ग्राम को जा, ऐसा सिद्ध होता है, ऐसे ही यहां—कि आप मेरी अवश्य रक्षा करो, अर्थात् धर्म से सुनिश्चित और अधर्म से घृणा सदा करूं, ऐसी कृपा मुझ पर कीजिये, मैं आपका बड़ा उपकार मानूंगा।

(ओ३म् शान्तिः शान्तिः शान्तिः) इसमें तीन बार शान्तिपाठ का यह प्रयोजन है कि त्रिविध ताप अर्थात् इस संसार में तीन प्रकार के दुःख हैं—एक '**आध्यात्मिक**' जो आत्मा शरीर में अविद्या, राग-द्वेष, मूर्खता और ज्वर पीड़ादि होते हैं। दूसरा '**आधिभौतिक**' जो शत्रु, व्याघ्र और सर्पादि से प्राप्त होता है। तीसरा '**आधिदैविक**' अर्थात् जो अतिवृष्टि, अतिशीत, अति उष्णता, मन और इन्द्रियों की अशान्ति से होता है। इन तीन प्रकार के क्लेशों से आप हम लोगों को दूर करके कल्याणकारक कर्मों में सदा प्रवृत्त रखिये। क्योंकि आप ही कल्याणस्वरूप, सब संसार के कल्याणकर्त्ता और धार्मिक मुमुक्षुओं को कल्याण के दाता हैं। इसलिये आप स्वयं अपनी करुणा से सब जीवों के हृदय में प्रकाशित हूजिये, कि जिससे सब जीव धर्म का आचरण और अधर्म को छोड़ के परमानन्द को प्राप्त हों और दुःखों से पृथक् रहें।

'**सूर्य्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च**' इस यजुर्वेद[1] के वचन से 'जगत्' नाम प्राणी चेतन और जंगम अर्थात् जो चलते-फिरते हैं, 'तस्थुषः' अप्राणा अर्थात् स्थावर जड़ अर्थात् पृथिवी आदि हैं, उन सब के

१. यजुः ७।४२॥

आत्मा होने और स्वप्रकाशरूप सब के प्रकाश करने से परमेश्वर का नाम 'सूर्य्य' है।

अत सातत्यगमने[1] इस धातु से 'आत्मा' शब्द सिद्ध होता है। '**योऽतति व्याप्नोति स आत्मा**' जो सब जीवादि जगत् में निरन्तर व्यापक हो रहा है। [2]'**परश्चासावात्मा च, य आत्मभ्यो जीवेभ्यः सूक्ष्मेभ्यः परोऽतिसूक्ष्मः स परमात्मा**' जो सब जीव आदि से उत्कृष्ट, और जीव प्रकृति तथा आकाश से भी अति सूक्ष्म, और सब जीवों का अन्तर्यामी आत्मा है, इससे ईश्वर का नाम '**परमात्मा**' है।

सामर्थ्यवाले का नाम 'ईश्वर' है। '**य ईश्वरेषु समर्थेषु परमः श्रेष्ठः स परमेश्वरः**' जो ईश्वरों[3] अर्थात् समर्थों में समर्थ, जिसके तुल्य कोई भी न हो, उसका नाम '**परमेश्वर**' है।

षुञ् अभिषवे; षूङ् प्राणिगर्भविमोचने[4] इन धातुओं से 'सविता' शब्द सिद्ध होता है। '**अभिषवः प्राणिगर्भविमोचनं चोत्पादनम्। यश्चराचरं जगत् सुनोति सूते वोत्पादयति स सविता परमेश्वरः**' जो सब जगत् की उत्पत्ति करता है, इसलिए परमेश्वर का नाम 'सविता' है।

दिवु क्रीडाविजिगीषाव्यवहारद्युतिस्तुतिमोदमदस्वप्नकान्तिगतिषु इस धातु से 'देव' शब्द सिद्ध होता है। (क्रीड़ा) जो शुद्ध[5] जगत् को क्रीड़ा कराने (विजिगीषा) धार्मिकों को जिताने की इच्छायुक्त, (व्यवहार) सब चेष्टा के साधनोपसाधनों का दाता, (द्युति) स्वयं प्रकाशस्वरूप सबका प्रकाशक, (स्तुति) प्रशंसा के योग्य, (मोद) आप आनन्दस्वरूप और दूसरों को आनन्द देनेहारा, (मद) मदोन्मत्तों का

---

१. धातु० १।३१।। इस धातु से 'सातिभ्यां मनिन्मनिणौ' (उ० ४।१५३) से 'आत्मा' शब्द सिद्ध होता है।

२. यह 'परम' अर्थ वाले 'पर' शब्द से अर्थनिर्देश किया है। विग्रह 'परमश्चासावात्मा परमात्मा' ही जानना चाहिए।

३. सं० २ में 'ईश्वरो का' है। ४. षुञ्—धातु० ५।१।। षूङ्—धातु० २।२४।।

५. यह पद असम्बद्धसा है। अथवा इसे परमात्मा का विशेषण जानना चाहिए। अर्थात् स्वयं शुद्ध निर्लेप रहता हुआ भी जगत् को क्रीड़ा कराने वाला है।

ताड़नेहारा, (स्वप्न) सबके शयनार्थ रात्रि और प्रलय का करनेहारा, (कान्ति) कामना के योग्य, और (गति) ज्ञानस्वरूप है, इसलिये उस परमेश्वर का नाम 'देव' है। अथवा **'यो दीव्यति क्रीडति स देवः'** जो अपने स्वरूप में आनन्द से आप ही क्रीड़ा करे, अथवा किसी के सहाय के विना क्रीड़ावत् सहज स्वभाव से सब जगत् को बनाता, वा सब क्रीड़ाओं का आधार है, **'[यो] विजिगीषते स देवः'** जो सबका जीतनेहारा स्वयं अजेय, अर्थात् जिसको कोई भी न जीत सके, **'[यो] व्यवहारयति स देवः'** जो न्याय और अन्यायरूप व्यवहारों का जानन [हारा] और उपदेष्टा, **'यश्चराऽचरं जगत् द्योतयति [स देवः]'** जो सब का प्रकाशक, **'यः स्तूयते स देवः'** जो सब मनुष्यों की प्रशंसा के योग्य, और निन्दा के योग्य न हो, **'यो मोदयति स देवः'** जो स्वयं आनन्दस्वरूप और दूसरों को आनन्द कराता, जिसको दुःख का लेश भी न हो, **'यो माद्यति स देवः'** जो सदा हर्षित शोकरहित और दूसरों को हर्षित करने और दुःखों से पृथक् रखने वाला, **'यः स्वापयति स देवः'** जो प्रलय-समय अव्यक्त में सब जीवों को सुलाता, **'यः कामयते काम्यते वा स देवः'** जिसके सब सत्य काम, और जिसकी प्राप्ति की कामना सब शिष्ट करते हैं, तथा **'यो गच्छति गम्यते वा स देवः'** जो सबमें व्याप्त और जानने के योग्य है, इससे उस परमेश्वर का नाम 'देव' है।

कुबि[1] **आच्छादने** इस धातु से 'कुबेर' शब्द सिद्ध होता है। **'यः सर्वं कुम्बति**[2] **स्वव्याप्त्याच्छादयति स कुबेरो जगदीश्वरः'** जो अपनी

---

१. धातुपाठ १।२६० में 'कुबि' पाठ निश्चित है। 'कुम्बेर्नलोपश्च (उ० १।५६) में भी 'ब' सार्वत्रिक पाठ है। अथर्व ८।१४।१०; पै० सं० १६। १३५।६; श० ब्रा० १२।६।१।३; जै० उ० ब्रा० ३।७।४।१; तै० आ० १।३१। ६ आदि में बकारवान् पाठ असन्दिग्ध है। अतः हमने यहां 'कुबि' 'कुबति' 'कुबेर' शब्दों में बकारवान् पाठ बनाया है। 'कुवेर' दन्त्योष्ठ्य वकारवान् पाठ क्वचित् मिलता है, परन्तु वह उच्चारणदोषज भ्रष्ट पाठ है।

२. संस्करण २–४ में 'कुंवति' पाठ है। संस्करण ५ से 'कुवति' अधिक भ्रष्ट पाठ मिलता है।

व्याप्ति से सबका आच्छादन करे, इससे उस परमेश्वर का नाम 'कुबेर' है।

पृथु विस्तारे'[1] इस धातु से 'पृथिवी' शब्द सिद्ध होता है। **'यः पर्थति सर्वं जगद्विस्तृणाति स[2] पृथिवी'** जो सब विस्तृत जगत् का विस्तार करनेवाला है, इसलिए उस परमेश्वर का नाम **'पृथिवी'** है।

जल घातने[3] इस धातु से 'जल' शब्द सिद्ध होता है। **'जलति घातयति दुष्टान्, संघातयति अव्यक्तपरमाण्वादीन् तद् ब्रह्म जलम्'** जो दुष्टों का ताड़न और अव्यक्त तथा परमाणुओं का अन्योन्य संयोग वा वियोग करता है, वह परमात्मा 'जल'संज्ञक कहाता है।

---

१. स० ३ से प्रथ' 'यः प्रथते' पाठ मिलता है। हमारा पाठ सं २ के अनुसार है। 'पृथ' स्वतन्त्र धातु धातुपाठ में पठित नहीं है. पुनरपि 'तद् यत्र स्वरादनन्तरान्तस्थान्तर्धातुर्भवति तद् द्विप्रकृतीनां स्थानमिति प्रदिशन्ति। तत्र सिद्धायामनुपपद्यमानायामितरयोपपिपादयिषेत्। तत्राप्येकेऽल्पनिष्पत्तयो भवन्ति' इस निरुक्त (२।२) के वचनानुसार उन सभी धातुओं, जिनमें सम्प्रसारण का विधान करके वैयाकरण रूपान्तर बनाते हैं, का सम्प्रसारण वाला रूप स्वतन्त्र धात्वन्तर भी माना जाता है। तदनुसार यहां ग्रन्थकार ने 'प्रथ' के कृत-संप्रसारणरूप 'पृथ' को स्वतन्त्र धातु मान कर निर्देश किया है। वैयाकरण जिन प्रकृतियों में लोप आगम आदेश करके रूपान्तर बनाते हैं, वे सब वस्तुतः स्वतन्त्र प्रकृतियां हैं (विशेष द्र० 'ऋषि दयानन्द की पदप्रयोगशैली पृष्ठ४–१७)। 'पृथ' को स्वतन्त्र प्रकृति मानने पर 'पृथु' 'पृथिवी' आदि शब्दों में सम्प्रसारण की आवश्यकता नहीं रहती। निरुक्तकार ने १०।२३ में वैयाकरणों द्वारा 'ग्रह' धातु को सम्प्रसारण तथा हकार को भकारादेश करके बनाये गये 'गृभ' रूप को स्वतन्त्र धातु माना है–'गर्भो गृभेः'। धातु० १०।२२ में 'पृथ प्रक्षेपे' धातु भी है। प्रक्षेप का अर्थ बिखेरना, फैलाना भी होता है। 'अनित्यणिजन्ताश्चुरादयः' मत में णिच् के अभाव में 'पर्थति' रूप बनता है।

'प्रथ विस्तारे' पाठ में भी 'विस्तारे' अर्थ का निर्देश चिन्तनीय है। धातु-पाठ में 'प्रथ प्रख्याने' (१।५१६) पढ़ी है। ग्रन्थकार ने स्वीय उणादिकोश (१।२८, १५०) की व्याख्या (प्र० सं०) में विस्तारार्थ ही स्वीकार किया है। निरुक्त १।१२,१३ में भी 'प्रथन' का विस्तार अर्थ ही माना है।

२. संस्करण २ में 'तस्मात् स' पाठ है ३. धातु० १।५७५॥

काशृ दीप्तौ[1] [आङ्पूर्वक] इस धातु से 'आकाश' शब्द सिद्ध होता है। **'यः सर्वतः सर्वं जगत् प्रकाशयति स आकाशः'** जो सब ओर से जगत् का प्रकाशक है, इसलिए उस परमात्मा का नाम **'आकाश'** है।

अद भक्षणे[2] इस धातु से 'अन्न' शब्द सिद्ध होता है।

अद्यतेऽत्ति च भूतानि तस्मादन्नं तदुच्यते[3] ॥

अहमन्नमहमन्नमहमन्नम्। अहमन्नादोऽहमन्नादोऽहमन्नादः ॥

तैत्ति० उपनि०[3]

अत्ता चराऽचरग्रहणात् ॥ यह व्यासमुनिकृत शारीरक[4] सूत्र है।

जो सबको भीतर रखने, सबको ग्रहण करने योग्य, चराचर जगत् का ग्रहण करनेवाला है, इससे इस ईश्वर के **'अन्न' 'अन्नाद'** और **'अत्ता'** नाम हैं। और जो इनमें[5] तीन बार पाठ है, सो आदर के लिये है। जैसे गूलर के फल में कृमि उत्पन्न होके उसी में रहते और नष्ट हो जाते हैं, वैसे परमेश्वर के बीच में सब जगत् की अवस्था है।

वस निवासे[6] इस धातु से 'वसु' शब्द सिद्ध हुआ है। **'वसन्ति भूतानि यस्मिन् अथवा यः सर्वेषु वसति स वसुरीश्वरः'** जिसमें सब आकाशादि भूत वसते हैं, और जो सबमें वास कर रहा है, इसलिये उस परमेश्वर का नाम **'वसु'** है।

रुदिर् अश्रुविमोचने[7] इस धातु से 'णिच्' [और रक्] प्रत्यय[8] होने से 'रुद्र' शब्द सिद्ध होता है। **'यो रोदयत्यन्यायकारिणो जनान् स रुद्रः'** जो दुष्ट कर्म करनेहारों को रुलाता है, इससे उस परमेश्वर का नाम **'रुद्र'** है।

यन्मनसा ध्यायति तद्वाचा वदति, यद्वाचा वदति तत् कर्मणा

---

१. धातु० १।४३०॥ २. धातु० २।१॥

३. क्रमशः—ब्रह्मानन्दवल्ली २; भृगुवल्ली १०॥

४. संस्करण ३ से 'शारीरिक' अपपाठ मिलता है। दोनों दर्शन का नाम 'शारीरकसूत्र' ही है। उक्त वचन वेदान्त १।२।९ का है।

५. अर्थात् तै० उ० के वचनों में अन्न अन्नाद पद तीन बार पठित हैं।

६. धातु० १।७३१॥ ७. धातु० २।६०॥

८. रोदेर्णि लुक् च। उ० २।२२॥

करोति, यत् कर्मणा करोति तदभिसम्पद्यते ॥ यह यजुर्वेद के ब्राह्मण का वचन[1] है।

जीव जिसका मन से ध्यान करता उसको वाणी से बोलता, जिसको वाणी से बोलता उसको कर्म से करता, जिसको कर्म से करता उसी को प्राप्त होता है। इससे क्या सिद्ध हुआ कि जो जीव जैसा कर्म करता है वैसा ही फल पाता है। जब दुष्ट कर्म करने वाले जीव ईश्वर की न्यायरूपी व्यवस्था से दुःखरूप फल पाते तब रोते हैं, और इसी प्रकार ईश्वर उनको रुलाता है, इसलिये परमेश्वर का नाम 'रुद्र' है।

आपो नारा इति प्रोक्ता आपो वै नरसूनवः ।
ता यदस्यायनं पूर्वं तेन नारायणः स्मृतः ॥

मनु० अ० १ । श्लोक १० ॥

जल और जीवों का नाम 'नारा' है, वे अयन अर्थात् निवास-स्थान हैं जिसका, इसलिये सब जीवों में व्यापक परमात्मा का नाम **'नारायण'** है।

चदि आह्लादे[2] इस धातु से 'चन्द्र' शब्द सिद्ध होता है। **'यश्चन्दति चन्दयति वा स चन्द्रः'** जो आनन्दस्वरूप और सबको आनन्द देने वाला है, इसलिये ईश्वर का नाम **'चन्द्र'** है।

मगि गत्यर्थक[3] धातु से **'मङ्गेरलच्'**[4] इस सूत्र से 'मङ्गल' शब्द सिद्ध होता है। **'यो मङ्गति मङ्गयति वा स मङ्गलः'** जो आप मङ्गल-स्वरूप और सब जीवों के मङ्गल का कारण है, इसलिए उस परमेश्वर का नाम **'मङ्गल'** है।

बुध अवगमने[5] इस धातु से 'बुध' शब्द सिद्ध होता है। **'यो**

---

१. तुलना करो—'स यथाकामो भवति तथाक्रतुर्भवति, यथाक्रतुर्भवति तत्कर्म कुरुते, यत्कर्म कुरुते तदभिसंपद्यते ॥ शत० १४।७।२।७॥ काण्व शत० में भी यही पाठ है। वाजसनेय शतपथ के प्राचीन काल में १५ पाठ थे। द्र० सं० वि० पृष्ठ २९७ टि० १ (रालाकट्रस्ं० ३)। तु० करो—नृसिंहपूर्वतापिनी उ० १।१॥

२. धातु० १।५६॥

३. धातु० १।८८॥ ४. उ० ५।७०॥ ५. धातु० १।५९७॥

बुध्यते बोधयति[1] वा स बुधः' जो स्वयं बोधस्वरूप और सब जीवों के बोध का कारण है, इसलिए उस परमेश्वर का नाम **'बुध'** है।

'**बृहस्पति**' शब्द का अर्थ कह दिया[2]।

ईशुचिर पूतीभावे[3] इस धातु से 'शुक्र' शब्द सिद्ध हुआ है। **'यः शुचयति शोचयति वा स शुक्रः'** जो अत्यन्त पवित्र और जिसके सङ्ग से जीव भी पवित्र हो जाता है, इसलिए ईश्वर का नाम **'शुक्र'** है।

चर गतिभक्षणयोः[4] इस धातु से **'शनैस्'** अव्यय उपपद होने से 'शनैश्चर' शब्द सिद्ध हुआ है। **'यः शनैश्चरति स शनैश्चरः'** जो सब में सहज से प्राप्त धैर्यवान् है, इससे उस परमेश्वर का नाम **'शनैश्चर'** है।

रह त्यागे[5] इस धातु से 'राहु' शब्द सिद्ध होता है। **'यो रहति परित्यजति दुष्टान्, राहयति त्याजयति वा स राहुरीश्वरः'** जो एकान्तस्वरूप, जिसके स्वरूप में दूसरा पदार्थ संयुक्त नहीं, जो दुष्टों को छोड़ने और अन्य को छुड़ानेहारा है, इससे परमेश्वर का नाम **'राहु'** है।

कित निवासे रोगापनयने च[6] इस धातु से 'केतु' शब्द सिद्ध होता है। **'यः केतयति चिकित्सति वा स केतुरीश्वरः'** जो सब जगत् का निवासस्थान, सब रोगों से रहित, और मुमुक्षुओं को मुक्ति-समय में सब रोगों से छुड़ाता है, इसलिए उस परमात्मा का नाम **'केतु'** है।

यज देवपूजासंगतिकरणदानेषु[7] इस धातु से 'यज्ञ' शब्द सिद्ध होता है। **'यज्ञो वै विष्णुः'** यह ब्राह्मणग्रन्थ का वचन है[8]। **'यो यजति विद्वद्भिरिज्यते वा स यज्ञः'** जो सब जगत् के पदार्थों को संयुक्त करता, और सब विद्वानों का पूज्य है, और ब्रह्मा से लेके सब ऋषि-

---

१. सं० २ में 'बोध्यते' पाठ है।　　२. द्र० पूर्व पृष्ठ २२, २३॥
३. धातु० ४।५४॥ किन्हीं संस्करणों में 'पूतिभावे' अपपाठ है।
४. 'चर भक्षणे च' (धातु० १।३७६) चाद् गतौ च। यहां दोनों अर्थों को मिलाकर पढ़ा है।　　५. धातु० १।४८६॥
६. धातु० १।७१९॥　　७. धातु० १।७२८॥　　८. श० १३।१।८।८॥

मुनियों का पूज्य था, है और होगा, इससे उस परमात्मा का नाम 'यज्ञ' है। क्योंकि वह सर्वत्र व्यापक है[1]।

हु दानाऽदनयोः, आदाने चेत्येके[2] इस धातु से 'होता' शब्द सिद्ध हुआ है। **'यो जुहोति स होता'** जो जीवों को देने योग्य पदार्थों का दाता और ग्रहण करने योग्यों का ग्राहक है, इससे उस ईश्वर का नाम 'होता' है।

बन्ध बन्धने[3] इससे 'बन्धु' शब्द सिद्ध होता है। **'यः स्वस्मिन् चराचरं जगद् बध्नाति बन्धुवद्धर्मात्मनां सुखाय सहायो वा वर्त्तते स बन्धुः'** जिसने अपने में सब लोकलोकान्तरों को नियमों से बद्ध कर रखा[4], और सहोदर के समान सहायक है। इसी से[5] अपनी-अपनी परिधि वा नियम का उल्लंघन नहीं कर सकते। जैसे भ्राता भाइयों का सहायकारी होता है, वैसे परमेश्वर भी पृथिव्यादि लोकों के धारण, रक्षण और सुख देने से 'बन्धु' संज्ञक है।

पा रक्षणे[6] इस धातु से 'पिता' शब्द सिद्ध हुआ है। **'यः पाति सर्वान् स पिता'** जो सबका रक्षक, जैसे पिता अपने सन्तानों पर सदा कृपालु होकर उनकी उन्नति चाहता है, वैसे ही परमेश्वर सब जीवों की उन्नति चाहता है, इससे उसका नाम **'पिता'** है।

'यः पितॄणां पिता स पितामहः' जो पिताओं का भी पिता है, इससे उस परमेश्वर का नाम **'पितामह'** है।

'यः पितामहानां पिता स प्रपितामहः' जो पिताओं के पितरों का पिता है, इससे परमेश्वर का नाम **'प्रपितामह'** है।

'यो मिमीते मानयति सर्वाञ्जीवान् स माता' जैसे पूर्णकृपायुक्त जननी अपने सन्तानों का सुख और उन्नति चाहती है, वैसे परमेश्वर भी सब जीवों की बढ़ती चाहता है, इससे परमेश्वर का नाम **'माता'** है।

---

१. यह शतपथ के प्रमाण का अर्थ है। २. धातु० ३।१॥
३. धातु० ६।४१॥ ४. सं० २ में 'रक्खे' पाठ है।
५. अर्थात् ईश्वर-कृत बन्धन से। ६. धातु० २।४६॥

चर गतिभक्षणयोः[1] आङ्पूर्वक इस धातु से 'आचार्य' शब्द सिद्ध होता है। **'य आचारं ग्राहयति सर्वा विद्या बोधयति स आचार्य ईश्वरः'** जो सत्य आचार का ग्रहण करानेहारा और सब विद्याओं की प्राप्ति का हेतु होके सब विद्या प्राप्त कराता है, इससे परमेश्वर का नाम **'आचार्य'** है।

गॄ शब्दे[2] इस धातु से 'गुरु' शब्द बना है। **'यो धर्म्यान् शब्दान् गृणात्युपदिशति स 'गुरुः'** ।

स [एष] पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात् ।। योग०[3]

जो सत्यधर्मप्रतिपादक सकल विद्यायुक्त वेदों का उपदेश करता, सृष्टि की आदि में अग्नि वायु आदित्य अङ्गिरा और ब्रह्मादि गुरुओं का भी गुरु, और जिसका नाश कभी नहीं होता, इसलिये उस परमेश्वर का नाम **'गुरु'** है।

अज गतिक्षेपणयोः[4]; **जनी प्रादुर्भावे**[5] इन धातुओं से 'अज' शब्द बनता है। **'योऽजति सृष्टिं प्रति सर्वान् प्रकृत्यादीन् पदार्थान् प्रक्षिपति, जानाति[6] [वा] कदाचिन्न जायते सोऽजः'** जो सब प्रकृति के अवयव आकाशादि भूत परमाणुओं को यथायोग्य मिलाता, शरीर के साथ जीवों का सम्बन्ध करके जन्म देता, और स्वयं कभी जन्म नहीं लेता, इससे उस ईश्वर का नाम **'अज'** है।

(बृह बृहि वृद्धौ)[7] इन[8] धातुओं से 'ब्रह्मा' शब्द सिद्ध होता

---

१. धातु० १।३७६।। २. धातु० ६।२६।। मुद्रित संस्करणों में 'गृ शब्दे' अपपाठ है। ३. योगदर्शन १।२६।। ऋ० भाष्यभूमिका में 'स एष पूर्वेषामपि०' पाठ है (द्र० रालाकट्र सं० पृष्ठ १६१) किन्हीं संस्करणों में 'यह योगसूत्र है' ऐसा परिवर्धित पाठ मिलता है। सूत्रस्थ 'स एष' पद किन्हीं टीकाकारों के मत में सूत्र की उत्थानिकारूप हैं। सं० ४ में 'स' पद छोड़ दिया है।

४. धातु० १।१३६।। ५. धातु० ४।४०।।

६. यहां शुद्ध पाठ 'जनयति' चाहिए। यह अगले 'जन्म देता है' पदों से स्पष्ट है। भाषा में 'जानाति' का अर्थ नहीं है। ७. धातु० १।४८८।।

८. यहां तात्पर्य केवल **'बृहि'** धातु से है। वह अगले 'बृंहति' निर्देश से स्पष्ट है। यदि **'बृह' का भी आग्रह** हो, तो उस से सिद्धि पूर्व पृष्ठ २३ पर टि० ५ में दर्शाई है।

है। 'योऽखिलं जगन्निर्माणेन बर्हति [बृंहति] वर्द्धयति स ब्रह्मा' जो सम्पूर्ण जगत् को रचके बढ़ाता है, इसलिये परमेश्वर का नाम 'ब्रह्मा' है।

सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म ॥ यह तैत्तिरीयोपनिषद् का वचन है।[१]

'सन्तीति सन्तः, तेषु सत्सु साधु तत्सत्यम्'। 'यज्जानाति चराऽचरं जगत्तज्ज्ञानम्'। 'न विद्यतेऽन्तोऽवधिर्मर्यादा यस्य तदनन्तम्'। **'सर्वेभ्यो बृहत्वाद् ब्रह्म'** जो पदार्थ हों उनको 'सत्' कहते हैं, उनमें साधु होने से परमेश्वर का नाम 'सत्य' है। जो [चराचर जगत् का][२] जानने वाला है, इससे परमेश्वर का नाम 'ज्ञान' है। जिसका अन्त अवधि मर्यादा, अर्थात् इतना लम्बा-चौड़ा छोटा-बड़ा है, ऐसा परिमाण नहीं है, इसलिये परमेश्वर का नाम **'अनन्त'** है[३]।

डुदाञ् दाने[४] 'आङ्' पूर्वक इस धातु से 'आदि' शब्द, और नञ्-पूर्वक 'अनादि' शब्द सिद्ध होता है। **'यस्मात् पूर्वं नास्ति परं चास्ति स आदिरित्युच्यते**[५]। **न विद्यते आदिः कारणं यस्य सोऽनादिरीश्वरः'** जिसके पूर्व कुछ न हो और परे हो, उसको 'आदि' कहते हैं, जिसका आदि कारण कोई भी नहीं है, इसलिये परमेश्वर का नाम **'अनादि'** है।

टुनदि समृद्धौ[६] 'आङ्' पूर्वक इस धातु से 'आनन्द' शब्द बनता है। **'आनन्दन्ति सर्वे मुक्ता यस्मिन्, यद्वा यः सर्वान् जीवानानन्दयति स आनन्दः'** जो आनन्दस्वरूप, जिसमें सब मुक्त जीव आनन्द को प्राप्त होते, और [जो] सब धर्मात्मा जीवों को आनन्दयुक्त करता है, इससे ईश्वर का नाम **'आनन्द'** है।

अस भुवि[७] इस धातु से 'सत्' शब्द सिद्ध होता है। **'यदस्ति त्रिषु कालेषु न बाध्यते**[८] **तत्सद् ब्रह्म'** जो सदा वर्त्तमान, अर्थात् भूत

---

१. तै० उ० ब्रह्म० १॥ २. यह संस्करण ५ में परिवर्धित पाठ है। कई संस्करणों में 'सब जगत् का' ऐसा पाठ मिलता है।

३. संस्करण २ में 'परमेश्वर के नाम सत्, ज्ञान और अनन्त हैं' पाठ है।

४. धातु० ३।१०॥ ५. महाभाष्य १।१।२०॥ ६. धातु० १।५५॥

७. धातु० २।५८॥ ८. 'बाधते' संस्करण २ में अपपाठ है।

भविष्यत् वर्त्तमान कालों में जिसका बाध न हो, उस परमेश्वर को **'सत्'** कहते हैं।

चिती संज्ञाने[1] इस धातु से 'चित्' शब्द सिद्ध होता है। **'यश्चेतति चेतयति संज्ञापयति सर्वान् सज्जनान् योगिनस्तच्चित् परं ब्रह्म'** जो चेतनस्वरूप, सब जीवों को चिताने और सत्यासत्य का जनानेहारा है, इसलिए उस परमात्मा का नाम **'चित्'** है। इन तीनों शब्दों के विशेषण होने से परमेश्वर को **'सच्चिदानन्दस्वरूप'** कहते हैं।

'[यो] नित्यध्रुवोऽचलोऽविनाशी स नित्यः' जो निश्चल अविनाशी है, सो **'नित्य'** शब्द वाच्य ईश्वर है।

शुन्ध शुद्धौ[2] इससे 'शुद्ध' शब्द सिद्ध होता है। **'यः शुन्धति सर्वान् शोधयति वा स शुद्ध ईश्वरः'** जो स्वयं पवित्र, सब अशुद्धियों से पृथक्, और सबको शुद्ध करने वाला है, इससे उस ईश्वर का नाम 'शुद्ध' है।

बुध अवगमने[3] इस धातु से 'क्त' प्रत्यय होने से 'बुद्ध' शब्द सिद्ध होता है। **'यो बुद्धवान् सदैव ज्ञाताऽस्ति स बुद्धो जगदीश्वरः'** जो सदा सबको जाननेहारा है, इससे ईश्वर का नाम **'बुद्ध'** है।

मुच्लृ मोचने[4] इस धातु से 'मुक्त' शब्द सिद्ध होता है। **'यो मुञ्चति मोचयति वा मुमुक्षून् स मुक्तो जगदीश्वरः'** जो सर्वदा अशुद्धियों से अलग और सब मुमुक्षुओं को क्लेश से छुड़ा देता है, इसलिए परमात्मा का नाम **'मुक्त'** है। **'अत एव नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावो जगदीश्वरः'** इसी कारण से परमेश्वर का स्वभाव नित्य शुद्ध [बुद्ध] मुक्त है।

निर् और आङ् पूर्वक डुकृञ् करणे[5] इस धातु से 'निराकार'

---

१. धातु० १।३२॥ २. धातु० १।६०॥
३. धातु० १।५९७॥ ४. धातु० ६।१३९॥
५. **धातु० ८।१०॥ ग्रन्थकार ने अपने यजुःभाष्य ३।५८ में 'कृञ्करणे' का भ्वादि में पाठ माना है। विशेष द्र० अस्मत्सम्पादित 'क्षीरतरङ्गिणी' १।६३९ की टिप्पणी।**

शब्द सिद्ध होता है । **'निर्गत आकारात् स निराकारः'** जिसका आकार कोई भी नहीं, और न कभी शरीर धारण करता है, इसलिये परमेश्वर का नाम **'निराकार'** है।

अञ्जू व्यक्तिम्लक्षणकान्तिगतिषु[1] इस धातु से 'अञ्जन' शब्द और 'निर्' उपसर्ग के योग से 'निरञ्जन' शब्द सिद्ध होता है। **'अञ्जनं व्यक्तिर्म्लक्षणं कुकाम इन्द्रियैः प्राप्तिश्चेत्यस्माद् यो निर्गतः पृथग्भूतः स निरञ्जनः'** जो व्यक्ति अर्थात् आकृति, म्लेच्छाचार, दुष्टकामना और चक्षुरादि इन्द्रियों के विषयों के पथ से पृथक् है, इससे ईश्वर का नाम **'निरञ्जन'** है।

गण संख्याने[2] इस धातु से 'गण' शब्द सिद्ध होता, [और] इसके आगे ईश' वा 'पति' शब्द रखने से 'गणेश' और 'गणपति' शब्द सिद्ध होते हैं। **'ये प्रकृत्यादयो जडा जीवाश्च गण्यन्ते संख्यायन्ते तेषामीशः स्वामी पतिः पालको वा'** जो प्रकृत्यादि जड़ और सब जीव प्रख्यात पदार्थों का स्वामी वा पालन करनेहारा है, इससे उस ईश्वर का नाम **'गणेश'** वा **'गणपति'** है।

'यो विश्वमीष्टे स विश्वेश्वरः' जो संसार का अधिष्ठाता है, इससे उस परमेश्वर का नाम **'विश्वेश्वर'** है।

'यः कूटेऽनेकविधव्यवहारे स्वस्वरूपेणैव तिष्ठति स कूटस्थः परमेश्वरः' जो सब व्यवहारों में व्याप्त, और सब व्यवहारों का आधार होके भी किसी व्यवहार में अपने स्वरूप को नहीं बदलता, इससे परमेश्वर का नाम **'कूटस्थ'** है।

जितने **'देव'** शब्द के अर्थ लिखे हैं, उतने ही **'देवी'** शब्द के भी हैं। परमेश्वर के तीनों लिङ्गों में नाम हैं। जैसे—**'ब्रह्म चितिरीश्वरश्चेति'**। जब ईश्वर का विशेषण होगा तब 'देव', जब चिति का होगा तब 'देवी', इससे ईश्वर का नाम **'देवी'** है।

शक्लृ शक्तौ[3] इस धातु से 'शक्ति' शब्द बनता है। **'यः**

---

१. धातु० ७२०॥ २. धातु० १०२८१॥ ३. धातु० ५।१६॥

सर्वं जगत् कर्तुं शक्नोति स शक्तिः' जो सब जगत् के बनाने में समर्थ है, इसलिए उस परमेश्वर का नाम **'शक्ति'** है।

श्रिञ् सेवायाम्[1] इस धातु से 'श्री' शब्द सिद्ध होता है। **'यः श्रीयते सेव्यते सर्वेण जगता विद्वद्भिर्योगिभिश्च स श्रीरीश्वरः'** जिसका सेवन सब जगत् विद्वान् और योगीजन करते हैं, उस परमात्मा का नाम **'श्री'** है।

लक्ष दर्शनाङ्कनयोः[2] इस धातु से 'लक्ष्मी' शब्द सिद्ध होता है। **'यो लक्षयति पश्यत्यङ्क्ते चिह्नयति चराऽचरं जगत्, अथवा वेदैराप्तैर्योगिभिश्च यो लक्ष्यते स लक्ष्मीः सर्वप्रियेश्वरः'** जो सब चराचर जगत् को देखता, चिह्नित अर्थात् दृश्य बनाता, जैसे शरीर के नेत्र नासिका और वृक्ष के पत्र पुष्प, फल मूल; पृथिवी जल के कृष्ण रक्त श्वेत; मृत्तिका, पाषाण, चन्द्र सूर्यादि चिह्न बनाता तथा सबको देखता, सब शोभाओं की शोभा, और जो वेदादिशास्त्र वा धार्मिक-विद्वान् योगियों का लक्ष्य अर्थात् देखने योग्य है, इससे उस परमेश्वर का नाम **'लक्ष्मी'** है।

सृ गतौ[3] इस धातु से 'सरस्', उससे **'मतुप्'** और 'ङीप्' प्रत्यय होने से 'सरस्वती' शब्द सिद्ध होता है। **'सरो विविध ज्ञानं विद्यते यस्यां चितौ**[4] **सा सरस्वती'** जिसको विविध विज्ञान, अर्थात् शब्द अर्थ सम्बन्ध प्रयोग का ज्ञान यथावत् होवे, इससे उस परमेश्वर का नाम **'सरस्वती'** है।

'सर्वाः शक्तयो विद्यन्ते यस्मिन् स सर्वशक्तिमानीश्वरः' जो अपने कार्य करने में किसी अन्य की सहायता की इच्छा नहीं करता, अपने ही सामर्थ्य से अपने सब काम पूरा करता है, इसलिये उस परमात्मा का नाम **'सर्वशक्तिमान्'** है।

णीञ् प्रापणे[5] इस धातु से 'न्याय' शब्द सिद्ध होता है[6]। प्रमा-

---

१. धातु० १६३८॥ २. धातु० १०१५॥ ३. धातु० १।६६६॥
४. चितिशक्तावीश्वर इत्यर्थः। ५. धातु० १।६४२॥
६. अष्टाध्यायी ३।३।३७ तथा १२२ में दो स्थानों में न्याय शब्द का

णैरर्थपरीक्षणं न्यायः' यह वचन न्यायसूत्रों के [ऊ] पर वात्स्यायन-मुनिकृत भाष्य[1] का है। '**पक्षपातराहित्याचरणं न्यायः**' जो प्रत्यक्षादि प्रमाणों की परीक्षा से सत्य-सत्य सिद्ध हो, तथा पक्षपातरहित धर्मरूप आचरण है, वह '**न्याय**' कहाता है। '**न्यायं कर्तुं शीलमस्य स न्यायकारीश्वरः**' जिसका न्याय अर्थात् पक्षपातरहित धर्म करने ही का स्वभाव है, इससे उस ईश्वर का नाम '**न्यायकारी**' है।

दय दानगतिरक्षणहिंसादानेषु[2] इस धातु से 'दया' शब्द सिद्ध होता है। '**दयते ददाति जानाति गच्छति रक्षति हिनस्ति यया सा दया, बह्वी दया विद्यते यस्य स दयालुः परमेश्वरः**' जो अभय का दाता, सत्यासत्य[3] सर्वविद्याओं का जानने, सब सज्जनों की रक्षा करने, और दुष्टों को यथायोग्य दण्ड देने वाला है, इससे परमात्मा का नाम '**दयालु**' है।

'**द्वयोर्भावो द्वाभ्यामितं सा द्विता**[4] **द्वीतं वा सैव तदेव वा द्वैतम्,**

साधुत्व दर्शाया है। अ० ३।३।३७ में 'नि' उपसर्गपूर्वक 'इण् गतौ' धातु से तथा अ० ३।३।१२२ में 'न्याय' शब्द निपातित है। काशिका आदि में 'नीयतेऽनेनेति न्यायः' व्युत्पत्ति दर्शाई है। इसमें 'नीयते' 'नि'पूर्वक 'इण्' तथा 'णीञ्' दोनों धातुओं से सम्भव है। निपातन प्रायः अलाक्षणिक कार्य-द्योतनार्थ माना जाता है। अतः हमारे विचार में यहां 'णीञ्' से निपातन मानना अधिक युक्त है, क्योंकि निपूर्वक इण् से पूर्व (अ० ३।३।३७) में साधुत्व दर्शा चुके हैं। निपातन में नकार से परे मकार का आगम जानना चाहिये। यदि निपातन भी नि पूर्वक इण् से ही मानने का आग्रह हो, तो पृषोदरादि आकृतिगण (अ० ६।३।१०८) से 'णीञ्' धातु से साधुत्व जानना चाहिये।

१. न्यायभाष्य १।१॥ यह भाष्य आचार्य चाणक्य अपर नाम कौटिल्य विरचित है, ऐसा भारतीय ऐतिहासिकों का मत है। वात्स्यायन गोत्रनाम है।

२. धातु. १।३२२॥

३. यह सार्वत्रिक पाठ है। इस पाठ में '**असत्य**' शब्द का 'विद्या' के साथ अन्वय नहीं होता। जो विद्या है, वह असत्य नहीं हो सकती। अतः यहां ग्रन्थकार की शैली के अनुसार '**सत्य-सत्य**' पाठ होना चाहिये।

४. 'द्विता' शब्द का मुख्यार्थ है 'भेद'। ग्रन्थकार ने भी उत्तरवाक्य में यही अर्थ स्वीकार किया है। इस दार्शनिक दृष्टि से ब्रह्म जीव प्रकृति तीन को

न विद्यते द्वैतं द्वितीयेश्वरभावो यस्मिंस्तदद्वैतम्, अर्थात् सजातीय-विजातीयस्वगतभेदशून्यं ब्रह्म', दो का होना वा दोनों से युक्त होना वह द्विता वा द्वीत अथवा द्वैत[1] से रहित है, सजातीय जैसे मनुष्य का सजातीय दूसरा मनुष्य होता है, विजातीय जैसे मनुष्य से भिन्न जाति वाला वृक्ष पाषाणादि, स्वगत अर्थात् शरीर में जैसे आंख नाक कान आदि अवयवों का भेद है, वैसे दूसरे स्वजातीय ईश्वर विजातीय ईश्वर वा अपने आत्मा में तत्त्वान्तर वस्तुओं से रहित एक परमेश्वर है, इससे परमात्मा का नाम **'अद्वैत'** है।

'गुण्यन्ते ये ते गुणा वा यैर्गु णयन्ति[2] ते गुणाः, यो गुणेभ्यो निर्गतः स निर्गुण ईश्वरः' जितने सत्त्व, रज, तम, रूप, रस, स्पर्श, गन्धादि जड़ के गुण; अविद्या, अल्पज्ञता, राग, द्वेष और अविद्यादि क्लेश जीव के गुण हैं, उनसे जो पृथक् है। इसमें **'अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययम्'** इत्यादि उपनिषदों का प्रमाण है[3]। जो शब्द स्पर्श रूपादि गुण-रहित है, इससे परमात्मा का नाम **'निर्गुण'** है।

'यो गुणैः सह वर्त्तते स सगुणः' जो सबका ज्ञान, सर्वसुख, पवित्रता, अनन्तबलादि गुणों से युक्त है, इसलिये परमेश्वर का नाम **'सगुण'** है।

जैसे पृथिवी गन्धादि गुणों से 'सगुण' और इच्छादि गुणों से रहित होने से 'निर्गुण' है, वैसे जगत् और जीव के गुणों से पृथक् होने से परमेश्वर 'निर्गुण', और सर्वज्ञादि गुणों से सहित होने से 'सगुण' है। अर्थात् ऐसा कोई भी पदार्थ नहीं है जो सगुणता और निर्गुणता से पृथक् हो। जैसे चेतन के गुणों से पृथक् होने से जड़ पदार्थ निर्गुण, और अपने गुणों से सहित होने से सगुण, वैसे ही जड़

अनादि मानने वाला दर्शन भी द्वैतवादी कहा जाता है। इस कारण आर्यसमाज में व्यवहृत **'त्रैतवाद'** शब्द कहां तक दार्शनिक हो सकता है, यह विचारणीय है।

१. यहां 'द्वैत, उस से जो रहित' ऐसा पाठ होना चाहिये।

२. 'गण्यन्ते ‥ ‥यैर्गणयन्ति' सं० २ में अपपाठ है।

३. कठो० ३।१५॥

के गुणों से पृथक् होने से जीव निर्गुण, और इच्छादि अपने गुणों से सहित होने से सगुण, ऐसे ही परमेश्वर में भी समझना चाहिए।

'अन्तर्यन्तुं नियन्तुं शीलं यस्य सोऽयमन्तर्यामी' जो सब प्राणि और अप्राणिरूप जगत् के भीतर व्यापक होके सबका नियम करता है, इसलिये उस परमेश्वर का नाम **'अन्तर्यामी'** है।

'यो धर्मे[1] राजते स धर्मराजः' जो धर्म ही में प्रकाशमान और अधर्म से रहित धर्म ही का प्रकाश करता है, इसलिये उस परमेश्वर का नाम **'धर्मराज'** है।

यमु उपरमे[2] इस धातु से 'यम' शब्द सिद्ध होता है। **'यः सर्वान् प्राणिनो नियच्छति स यमः'** जो सब प्राणियों के कर्मफल देने की व्यवस्था करता और सब अन्यायों से पृथक रहता है, इसलिये परमात्मा का नाम **'यम'** है।

भज सेवायाम्[3] इस धातु से 'भग', इससे **'मतुप्'** होने से 'भगवान्' शब्द सिद्ध होता है। **'भगः सकलैश्वर्यं सेवनं वा विद्यते यस्य स भगवान्'** जो समग्र ऐश्वर्य से युक्त, वा भजने के योग्य है, इसीलिये उस ईश्वर का नाम **'भगवान्'** है।

मन ज्ञाने[4] [इस] धातु से 'मनु' शब्द बनता है। **'यो मन्यते स मनुः'** जो मनु अर्थात् विज्ञानशील और मानने योग्य है, इसलिये उस ईश्वर का नाम **'मनु'** है।

पॄ पालनपूरणयोः[5] इस धातु से 'पुरुष' शब्द सिद्ध हुआ है। **'यः स्वव्याप्त्या चराऽचरं जगत् पृणाति पूरयति[6] वा स पुरुषः'** जो सब जगत् में पूर्ण हो रहा है, इसलिये उस परमेश्वर का नाम **'पुरुष'** है।

डुभृञ् धारणपोषणयोः[7] **'विश्व'** पूर्वक इस धातु से **'विश्वम्भर'** शब्द सिद्ध होता है। **'यो विश्वं बिभर्ति धरति पुष्णाति वा स विश्व-**

---

१. 'धर्म्ये' सं. २ में अपपाठ है। २. धातु० १।७१०॥
३. धातु० १।७२४॥ ४. धातु० ४।६५॥ ५. धातु० ६।१८॥
६. 'पूरयत्यन्तरित्यन्तरपुरुषमभिप्रेत्य'। निरु० २।३॥ 'तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम्'। तै० आ० १०।१०॥ ७. धातु० ३।५॥

म्भरो जगदीश्वरः' जो जगत् का धारण और पोषण करता है, इसलिये उस परमेश्वर का नाम '**विश्वम्भर**' है।

कल संख्याने[1] इस धातु से 'काल' शब्द बना है। '**कलयति संख्याति सर्वान् पदार्थान् स कालः**' जो जगत् के सब पदार्थ और जीवों की संख्या करता है, इसलिये उस परमेश्वर का नाम '**काल**' है।

शिष्लृ विशेषणे[2] इस धातु से 'शेष' शब्द सिद्ध होता है[3]। '**यः शिष्यते स शेषः**' जो उत्पत्ति और प्रलय से शेष अर्थात् बच रहा है, इसलिये उस परमात्मा का नाम '**शेष**' है।

आप्लृ व्याप्तौ[4] इस धातु से 'आप्त' शब्द सिद्ध होता है। '**यः सर्वान् धर्मात्मन आप्नोति वा सर्वैर्धर्मात्मभिराप्यते छलादिरहितः स आप्तः**' [जो] सत्योपदेशक सकल-विद्यायुक्त सब धर्मात्माओं को प्राप्त होता, और [सब] धर्मात्माओं से प्राप्त होने योग्य, छल-कपटादि से रहित है, इसलिये उस परमात्मा का नाम '**आप्त**' है।

डुकृञ् करणे[5] '**शम्**' पूर्वक इस धातु से 'शङ्कर' शब्द सिद्ध हुआ है। '**यः शङ्कल्याणं सुखं करोति स शङ्करः**' जो कल्याण अर्थात् सुख का करनेहारा है, इससे उस ईश्वर का नाम '**शङ्कर**' है।

'महत्' शब्दपूर्वक 'देव' शब्द से 'महादेव' [शब्द][6] सिद्ध होता है। '**यो महतां देवः**[7] **स महादेवः**' जो महान्

---

१. धातु० १०।२६०॥　　२. धातु० ७।१४॥

३. 'शिष्लृ ... होता है' यह पाठ सं० २ में त्रुटित है, सं. ५ में बढ़ाया है।

४. धातु० ५।१५॥　　५. धातु० ८।१०॥

६. शताब्दी संस्करण से यह पद परिवर्धित हुआ है।

७. यह समास का विग्रह नहीं है, अर्थ-निदर्शन है। समास समानाधिकरण तत्पुरुष ही जानना चाहिये। सामासिक विग्रह से भिन्न पदों से अर्थ निर्देश करने की प्राचीन परिपाटी है। यथा— महाभाष्य १।१ आ० १ में षष्ठीतत्पुरुष '**धर्मनियमः**' का अर्थ 'धर्माय नियमः' और '**वृत्तिसमवायः**' का अर्थ '**वृत्तये समवायः**' पदों से दर्शाया है। शास्त्रीय नियमानुसार 'विकृतिवाचक चतुर्थ्यन्त सुबन्त का प्रकृतिवाचक सुबन्त के साथ ही समास होता है। द्र० 'चतुर्थी तदर्थार्थ०' (अ० २।१।३५) सूत्र के व्याख्याग्रन्थ। यदि इससे सन्तोष

देवों[1] का देव, अर्थात् विद्वानों का भी विद्वान्, सूर्यादि पदार्थों का प्रकाशक है, इसलिये उस परमात्मा का नाम 'महादेव' है।

प्रीञ् तर्पणे कान्तौ च[2] इस धातु से 'प्रिय' शब्द सिद्ध होता है। '**यः पृणाति प्रीयते वा स प्रियः**' जो सब धर्मात्माओं मुमुक्षुओं और शिष्टों को प्रसन्न करता, और सबको कामना के योग्य है, इसलिये उस ईश्वर का नाम 'प्रिय' है।

भू सत्तायाम्[3] 'स्वयं' पूर्वक इस धातु से 'स्वयम्भू' शब्द सिद्ध होता है। '**यः स्वयम्भवति स स्वयम्भूरीश्वरः**' जो आप से आप ही है, किसी से कभी उत्पन्न नहीं हुआ है, इससे उस परमात्मा का नाम '**स्वयम्भू**' है।

कु शब्दे[4] इस धातु से 'कवि' शब्द सिद्ध होता है। **यः कौति शब्दयति सर्वा विद्याः स कविरीश्वरः**' जो वेदद्वारा सब विद्याओं का उपदेष्टा और वेत्ता है, इसलिये उस परमेश्वर का नाम '**कवि**' है।

शिवु कल्याणे[5] इस धातु से 'शिव' शब्द सिद्ध होता है। '**बहुलमेतन्निदर्शनम्**'[6] इससे 'शिवु' धातु माना जाता है। जो कल्याणस्वरूप और कल्याण का करनेहारा है, इसलिये उस परमेश्वर का नाम 'शिव' है।

न हो तो जैसे षष्ठीतत्पुरुष '**महाघास, महाकर**' आदि में '**महदात्वे घासकरविशिष्टेषूपसंख्यानं पुंवद्वचनं 'चासमानाधिकरणार्थम्**' वार्तिक से आत्व होता है, तद्वत् जान लेना चाहिए।

१ यह भाषा तात्पर्यबोधक है। इसके अनुसार श्री स्वामी वेदानन्द जी ने संस्कृतपाठ में 'यो महतां देवानां देवः' पाठपरिवर्तन किया है, वह चिन्त्य है। ऐसा पाठ मानने पर एक 'देव' शब्द का लोपविधान करना होगा।

२. धातु० ९।२॥ ३. धातु० १।१॥ ४. धातु० २।३५॥

५. उणादि १।१५३ में 'शीङ् शये' धातु से 'वन्प्रत्ययान्त' निपातित है।

६. यह धातुपाठ १०।३३६ का सूत्र है। इस का अर्थ है—'धातुपाठ में धातुओं का निदर्शन प्रायिक है।' वृत्तिकारों ने इस सूत्र की व्याख्या में कतिपय लोकविज्ञात धातुओं का उदाहरण दिया है। इसी सूत्र के अनुसार ग्रन्थकार ने 'शिव' शब्द के अर्थ को लक्ष्य में रखकर इस धातु की कल्पना की है।

ये सौ[1] नाम परमेश्वर के लिखे हैं, परन्तु इनसे भिन्न परमात्मा के असंख्य नाम हैं क्योंकि जैसे परमेश्वर के अनन्त गुण कर्म स्वभाव हैं वैसे उसके अनन्त नाम भी हैं उनमें से प्रत्येक गुण कर्म्म और स्वभाव का एक-एक नाम है, इससे ये मेरे लिखे नाम समुद्र के सामने विन्दुवत् हैं। क्योंकि वेदादिशास्त्रों में परमात्मा के असंख्य गुण कर्म स्वभाव व्याख्यात किये हैं। उनके[2] पढ़ने-पढ़ाने से बोध हो सकता है। और अन्य पदार्थों का ज्ञान भी उन्हीं को पूरा-पूरा हो सकता है, जो वेदादिशास्त्रों को पढ़ते हैं।

प्रश्न– जैसे अन्य ग्रन्थकार लोग आदि मध्य और अन्त में मङ्गलाचरण करते हैं, वैसे आपने कुछ भी न लिखा न किया?

उत्तर– ऐसा हमको करना योग्य नहीं। क्योंकि जो आदि मध्य और अन्त में मङ्गल करेगा, तो उसके ग्रन्थ में आदि मध्य तथा अन्त के बीच में जो कुछ लेख होगा, वह अमङ्गल ही रहेगा। इसलिये **'मङ्गलाचरणं शिष्टाचारात् फलदर्शनाच्छ्रुतितश्चेति'** यह सांख्य-शास्त्र का वचन है[3]। इसका यह अभिप्राय है कि जो न्याय, पक्षपात-रहित, सत्य वेदोक्त ईश्वर की आज्ञा है, उसी का यथावत् सर्वत्र और सदा आचरण करना 'मङ्गलाचरण' कहाता है। ग्रन्थ के आरम्भ से लेके समाप्ति-पर्यन्त सत्याचार का करना ही 'मङ्गलाचरण' है, न कि कहीं मङ्गल और कहीं अमङ्गल लिखना। देखिये महाशय महर्षियों के लेख को

---

१. पुनरुक्त नाम-व्याख्यानों का परित्याग करने पर इस समुल्लास में १०४ नामों का व्याख्यान मिलता है। यदि परस्पर सम्बद्ध तथा पृथक् रूप से व्याख्यात नामों का एकीकरण किया जाये, यथा–'सत्, चित्, आनन्द=सच्चिदानन्द' तो यह संख्या १०० से कम हो जाती है। अतः यहां १०० संख्या को उपलक्षणार्थ जानना चाहिये।

विशेष – इन नामों की सप्रमाण सोदाहरण विस्तृत व्याख्या के लिए पं० विद्यासागर कृत 'अष्टोत्तरशतनाममालिका' ग्रन्थ देखना चाहिए।

२. अर्थात् वेदादि शास्त्रों के। ३. सांख्य ५।१॥

यान्यनवद्यानि कर्माणि तानि सेवितव्यानि नो इतराणि ।

यह तैत्तिरीयोपनिषद् का वचन है[१] ।

हे सन्तानो ! जो 'अनवद्य' अनिन्दनीय अर्थात् धर्मयुक्त कर्म हैं वे ही तुमको करने योग्य हैं, अधर्मयुक्त नहीं ।

इसलिये जो आधुनिक ग्रन्थों में **'श्रीगणेशाय नमः'**, **'सीतारामाभ्यां नमः'**, **'राधाकृष्णाभ्यां नमः'**, **'श्रीगुरुचरणारविन्दाभ्यां नमः'**, **'हनुमते नमः'**, **'दुर्गायै नमः'**, **'बटुकाय नमः'**, **'भैरवाय नमः'**, **'शिवाय नमः'**, **'सरस्वत्यै नमः'**, **'नारायणाय नमः'** इत्यादि लेख देखने में आते हैं, इनको बुद्धिमान् लोग वेद और शास्त्रों से विरुद्ध होने से मिथ्या ही समझते हैं, क्योंकि वेद और ऋषि [मुनि]यों के ग्रन्थों में कहीं ऐसा मङ्गलाचरण देखने में नहीं आता, और आर्षग्रन्थों में **'ओ३म्'** तथा **'अथ'** शब्द तो देखने में आता है[२] । देखो

'अथ शब्दानुशासनम्' । अथेत्ययं शब्दोऽधिकारार्थः प्रयुज्यते ।।

यह व्याकरण महाभाष्य[३] ।

'अथातो धर्मजिज्ञासा' । अथेत्यानन्तर्ये वेदाध्ययनानन्तरम् ।।

यह पूर्वमीमांसा[४] ।

'अथातो धर्मं व्याख्यास्यामः' । 'अथेति धर्मकथनानन्तरं धर्मलक्षणं विशेषेण व्याख्यास्यामः' ।। यह वैशेषिक दर्शन ।

'अथ योगानुशासनम्' । अथेत्ययमधिकारार्थः ।। यह योगशास्त्र ।

'अथ त्रिविधदुःखात्यन्तनिवृत्तिरत्यन्तपुरुषार्थः' । सांसारिक-

---

१. शिक्षावल्ली अनु० ११।। **संस्करण ४ में** 'प्रपाठक ७ अनु० ११' इतना अंश मूल में बढ़ाया है । तै० उ० में प्रपाठक हैं ही नहीं, भूल से तै० आरण्यक का पता दिया गया, और वह सं० ३० तक छपता रहा । (संस्करण ३१ हमारे पास नहीं है) सं० ३२ में 'वल्ली १ अनु० ११ शुद्धीकरण किया है ।

२. ओङ्काराथकारौ (शु० यजुः १।१७) 'स्वाध्यायादौ' इति पूर्वस्मादनुवर्तते । ३. 'का वचन है' यह अध्याहार जानना चाहिये ।

४. दर्शनशास्त्रों के उद्धरणों के अन्त में पठित शास्त्रनाम के आगे सर्वत्र 'का वचन है' ऐसा संबन्ध जानना चाहिए ।

विषयभोगानन्तरं त्रिविधदुःखात्यन्तनिवृत्त्यर्थः प्रयत्नः कर्त्तव्यः ॥

यह सांख्यशास्त्र।

'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा'[1] ॥ यह वेदान्त सूत्र है।

'ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीत्' ॥

वह छान्दोग्य उपनिषद् का वचन है।

'ओमित्येतदक्षरमिदꣳ सर्वं तस्योपव्याख्यानम्' ॥

यह माण्डूक्य उपनिषद् के आरम्भ का वचन है।

ऐसे ही अन्य ऋषि-मुनियों के ग्रन्थों में **'ओ३म्'** और **'अथ'** शब्द लिखे हैं। वैसे ही **अग्नि, इट्, अग्नि, ये त्रिषप्ताः परियन्ति॰** ये शब्द चारों वेदों के आदि[2] में लिखे हैं। 'श्रीगणेशाय नमः' इत्यादि शब्द कहीं नहीं। और जो वैदिक लोग वेद के आरम्भ में 'हरिः ओ३म्' लिखते और पढ़ते हैं, यह पौराणिक और तान्त्रिक लोगों की मिथ्या कल्पना से सीखे हैं, वेदादिशास्त्रों में 'हरि' शब्द आदि में कहीं नहीं। इसलिये **'ओ३म्'** वा **'अथ'** शब्द ही ग्रन्थ के[3] आदि में लिखना चाहिये।

यह किञ्चिन्मात्र ईश्वर के विषय में लिखा। इसके आगे शिक्षा के विषय में लिखा जायगा ॥

इति श्रीमद्दयानन्दसरस्वतीस्वामिकृते सत्यार्थप्रकाशे सुभाषाविभूषित ईश्वरनामविषये प्रथमः समुल्लासः सम्पूर्णः ॥

---

१. इसके बाद शताब्दी संस्करण से 'चतुष्टयसाधनसम्पत्त्यनन्तरं ब्रह्म जिज्ञास्यम्' यह पाठ और बढ़ा हुआ मिलता है।

२. ये चारों वेदों के क्रमशः उदाहरण हैं। इनमें तीन प्रारम्भिक पदों के प्रातिपदिक मात्र हैं, चौथा मन्त्र की प्रतीक रूप है।

३. संस्करण २ में 'की' पाठ है।

विशेष—यहां तक हमने सत्यार्थप्रकाश के परोपकारिणी सभा के उत्तरवर्ती संस्करणों में हुए प्रमुख परिवर्तन निदर्शनार्थ दर्शाये हैं। आगे हम विभिन्न संस्करणों के पाठान्तर उद्धृत नहीं करेंगे। मिलान आगे भी सभी संस्करणों का किया है। मूल पाठ हम सं० २ के अनुसार ही दे रहे हैं। अतः हमारा पाठ स० प्र० के किसी सं० के साथ न मिले तो उसे द्वितीय सं० में देखना चाहिए।

अथ द्वितीय-समुल्लासारम्भः

अथ शिक्षां प्रवक्ष्यामः

'मातृमान् पितृमानाचार्यवान् पुरुषो वेद' ।।

यह शतपथ ब्राह्मण का वचन है[1] ।

वस्तुतः जब तीन उत्तम शिक्षक, अर्थात् एक माता, दूसरा पिता और तीसरा आचार्य होवे, तभी मनुष्य ज्ञानवान् होता है । वह कुल धन्य ! वह सन्तान बड़ा भाग्यवान् ! जिसके माता और पिता धार्मिक विद्वान् हों । जितना माता से सन्तानों को उपदेश और उपकार पहुंचता है, उतना किसी से नहीं । जैसे माता सन्तानों पर प्रेम [और] और उनका[2] हित करना चाहती है, उतना अन्य कोई नहीं करता । इसलिये 'मातृमान्', अर्थात् **'प्रशस्ता धार्मिकी माता विद्यते यस्य स मातृमान् ।'** धन्य वह माता है कि जो गर्भाधान से लेकर जब तक पूरी विद्या न हो तब तक सुशीलता का उपदेश करे ।

माता और पिता को अति उचित है कि गर्भाधान के पूर्व मध्य और पश्चात् मादकद्रव्य, मद्य, दुर्गन्ध, रूक्ष, बुद्धिनाशक पदार्थों को छोड़के, जो शान्ति आरोग्य, बल, बुद्धि, पराक्रम और सुशीलता से सभ्यता को प्राप्त करे, वैसे घृत, दुग्ध, मिष्ट, अन्नपान आदि श्रेष्ठ पदार्थों का सेवन करें, कि जिससे रजस् वीर्य भी दोषों से रहित होकर अत्युत्तम-गुणयुक्त हो । जैसा ऋतुगमन का विधि अर्थात् रजो-

---

१ संस्कार-विधि के वेदारम्भ प्रकरण (पृ० १३० स० ३) में उक्त पाठ छान्दोग्य उपनिषद् के नाम से उद्धृत है । वस्तुतः 'मातृमान् पितृमान् आचार्यवान्' पाठ शत० १४।६।१०।२ में मिलता है, और 'आचायवान् पुरुषो वेद' पाठ छां० उप० ६।१४।२ में । संस्करण २ 'आचार्यमान्' पाठ है ।

२. आगे 'उतना' शब्द का प्रयोग होने से यहां 'जितना' शब्द का अध्याहार जानना चाहिये— 'जितना हित' ।

दर्शन के पांचवें दिवस से लेके सोलहवें दिवस तक ऋतुदान देने का समय है, उन दिनों में से प्रथम के चार दिन त्याज्य हैं। रहे १२ दिन उनमें एकादशी और त्रयोदशी को छोड़के, बाकी १० रात्रियों में गर्भाधान करना उत्तम है। और रजोदर्शन के दिन से लेके १६ वीं रात्रि के पश्चात् न समागम करना। पुन: जब तक ऋतुदान का समय पूर्वोक्त न आवे तब तक, और गर्भस्थिति के पश्चात् एक वर्ष तक संयुक्त न हों। जब दोनों के शरीर में आरोग्य, परस्पर प्रसन्नता, किसी प्रकार का शोक न हो; जैसा चरक और सुश्रुत में भोजन-छादन का विधान और मनुस्मृति में स्त्री-पुरुष की प्रसन्नता की रीति लिखी है, उसी प्रकार करें और वर्तें। गर्भाधान के पश्चात् स्त्री को बहुत सावधानी से भोजन-छादन करना चाहिये। पश्चात् एक वर्ष-पर्यन्त स्त्री पुरुष का संग न करे। बुद्धि, बल, रूप, आरोग्य, पराक्रम, शान्ति आदि गुणकारक द्रव्यों ही का सेवन स्त्री करती रहे, कि जब तक सन्तान का जन्म न हो।

जब जन्म हो तब अच्छे सुगन्धियुक्त जल से बालक को स्नान, नाड़ी-छेदन करके सुगन्धियुक्त घृतादि का होम[1] और स्त्री को[2] भी स्नान-भोजन का यथायोग्य प्रबन्ध करे कि जिससे बालक और स्त्री का शरीर क्रमशः आरोग्य और पुष्ट होता जाय। ऐसा पदार्थ उसकी माता वा धायी खावे कि जिससे दूध में भी उत्तम गुण प्राप्त हों। प्रसूता का दूध छ: दिन तक बालक को पिलावे, पश्चात् धायी पिलाया करे। परन्तु धायी को उत्तम पदार्थों का खान-पान माता-पिता करावें। जो कोई दरिद्र हों धायी को न रख सकें, तो वे गाय वा बकरी के दूध में

---

१. बालक के जन्म-समय में '**जातकर्म संस्कार**' होता है, उसमें हवनादि वेदोक्त कर्म होते हैं, वे श्री स्वामीजी ने '**संस्कार विधि**' में सविस्तर लिख दिये हैं।—**समर्थदान**

इस टिप्पणी में उल्लिखित 'संस्कार-विधि' का संकेत प्रथम सं० की ओर है। द्वितीय परिशोधित सं० का लेखन लगभग ८ मास पश्चात् आरम्भ हुआ था। वैसे टिप्पणी की **युक्तता द्वितीय संस्करण में भी यथावत्** विद्यमान है।

२. 'के' पाठ **युक्त जानना चाहिये**।

उत्तम ओषधि, जो कि बुद्धि पराक्रम आरोग्य करनेहारी हों, उनको शुद्ध जल में भिजा[1], औटा, छानके दूध के समान जल मिलाके बालक को पिलावें। जन्म के पश्चात् बालक और उसकी माता को दूसरे स्थान [में] जहां का वायु शुद्ध हो वहां रक्खें, सुगन्ध तथा दर्शनीय पदार्थ भी रक्खें। और उस देश में भ्रमण कराना उचित है कि जहां का वायु शुद्ध हो। और जहां धायी, गाय, बकरी आदि का दूध न मिल सके, वहां जैसा उचित समझें वैसा करें। क्योंकि प्रसूता स्त्री के शरीर के अंश से बालक का शरीर होता है, इसी से स्त्री प्रसव-समय निर्बल हो जाती है, इसलिये प्रसूता स्त्री दूध न पिलावे। दूध रोकने के लिये स्तन के छिद्र पर उस ओषधी का लेप करे, जिससे दूध स्रवित न हो। ऐसे करने से दूसरे महीने में पुनरपि युवती हो जाती है, तब तक पुरुष ब्रह्मचर्य्य से वीर्य का निग्रह रक्खे। इस प्रकार जो स्त्री वा पुरुष करेगा, उनके उत्तम सन्तान, दीर्घायु बल पराक्रम कि वृद्धि होती ही रहेगी, कि जिससे सब सन्तान उत्तम बल पराक्रम-युक्त दीर्घायु धार्मिक हों। स्त्री योनिसंकोच, शोधन और पुरुष वीर्य का स्तम्भन करे। पुनः सन्तान जितने होंगे, वे भी सब उत्तम होंगे।

बालकों को माता सदा उत्तम शिक्षा करे, जिससे सन्तान सभ्य हों, और किसी अंग से कुचेष्टा न करने पावें। जब बोलने लगे, तब उसकी माता बालक की जिह्वा जिस प्रकार कोमल होकर स्पष्ट उच्चारण कर सके वैसा उपाय करे, कि जो जिस वर्ण का स्थान-प्रयत्न अर्थात् जैसे 'प' इसका ओष्ठ स्थान और स्पृष्ट प्रयत्न दोनों ओष्ठों को मिलाकर बोलना, ह्रस्व, दीर्घ प्लुत अक्षरों को ठीक-ठीक बोल सकना। मधुर, गम्भीर, सुन्दर स्वर, अक्षर, मात्रा, [पद] वाक्य, संहिता, अवसान[2] भिन्न-भिन्न श्रवण होवे। जब वह कुछ-कुछ बोलने और समझने लगे, तब सुन्दर वाणी और बड़े-छोटे, मान्य पिता, माता, राजा, विद्वान् आदि से भाषण, उनसे वर्तमान और उनके

---

१. अर्थात् भिगोकर।

२. संहिता=सन्धि, अवसान=विराम, पद वा वाक्य की समाप्ति।

पास बैठने आदि की भी शिक्षा करें, जिससे कहीं उनका अयोग्य व्यवहार न होके सर्वत्र प्रतिष्ठा हुआ करे। जैसे सन्तान जितेन्द्रिय विद्याप्रिय और सत्संग में रुचि करें, वैसा प्रयत्न करते रहें। व्यर्थ क्रीड़ा, रोदन, हास्य, लड़ाई, हर्ष, शोक, किसी पदार्थ में लोलुपता, ईर्ष्या-द्वेषादि न करें। उपस्थेन्द्रिय के स्पर्श और मर्दन से वीर्य की क्षीणता, नपुंसकता होती और हस्त में दुर्गन्ध भी होता है, इससे उसका स्पर्श न करें। सदा सत्यभाषण, शौर्य, धैर्य, प्रसन्नवदन आदि गुणों की प्राप्ति जिस प्रकार हो, करावें।

जब पांच-पांच वर्ष के लड़का-लड़की हों, तब देवनागरी अक्षरों का अभ्यास करावें, अन्यदेशीय भाषाओं के अक्षरों का भी। उसके पश्चात् जिनसे अच्छी शिक्षा, विद्या, धर्म, परमेश्वर, माता-पिता, आचार्य, विद्वान् अतिथि, राजा, प्रजा, कुटुम्ब, बन्धु, भगिनी, भृत्य आदि से कैसे-कैसे वर्तना, इन बातों के मन्त्र, श्लोक, सूत्र, गद्य-पद्य[1] भी अर्थसहित कण्ठस्थ करावें, जिनसे सन्तान किसी धूर्त के बहकाने में न आवें। और जो-जो विद्याधर्मविरुद्ध भ्रान्तिजाल में गिरानेवाले व्यवहार हैं, उनका भी उपदेश कर दें। जिससे भूत-प्रेत आदि मिथ्या बातों का विश्वास न हो।

गुरोः प्रेतस्य शिष्यस्तु पितृमेधं समाचरन्।
प्रेतहारैः समं तत्र दशरात्रेण शुध्यति॥ मनु॰[2]

अर्थ—जब गुरु का प्राणान्त हो, तब मृतक-शरीर जिसका नाम प्रेत है, उसका दाह करनेहारा शिष्य प्रेतहार अर्थात् मृतक को उठाने वालों के साथ दशवें दिन शुद्ध होता है।

और जब उस शरीर का दाह हो चुका, तब उसका नाम 'भूत' होता है, अर्थात् वह अमुकनामा पुरुष था। जितने उत्पन्न हों वर्त्तमान में आके न रहें, वे भूतस्थ[3] होने से उनका नाम 'भूत' है

१. 'पद्य' पद पुनरुक्त है, पूर्वपठित 'श्लोक' शब्द से गतार्थ हो जाने से। यद्वा पूर्व 'श्लोक' शब्द से वेद से अतिरिक्त उपनिषद् आदि के पद्यों का ग्रहण जानना चाहिये, साहचर्य से। २. मनु॰ ५।६५॥ ३. अर्थात् 'भूतकालस्थ'।

ऐसा ब्रह्मा से लेके आज पर्यन्त के विद्वानों का सिद्धान्त है। परन्तु जिसको शंका, कुसंग, कुसंस्कार होता है, उसको भय और शंकारूप भूत, प्रेत, शाकिनी, डाकिनी आदि अनेक भ्रमजाल दुःखदायक होते हैं।

देखो, जब कोई प्राणी मरता है, तब उसका जीव पाप-पुण्य के वश होकर परमेश्वर की व्यवस्था से सुख-दुःख के फल भोगने के अर्थ जन्मान्तर धारण करता है। क्या इस अविनाशी परमेश्वर की व्यवस्था का कोई भी नाश कर सकता है? अज्ञानी लोग वैद्यक-शास्त्र[1] वा पदार्थविद्या के पढ़ने सुनने और विचार से रहित होकर सन्निपात ज्वरादि शारीरक और उन्मादकादि[2] मानस रोगों का नाम भूत-प्रेतादि धरते हैं। उनका औषध-सेवन और पथ्यादि उचित व्यवहार न करके उन धूर्त्त, पाखण्डी, महामूर्ख, अनाचारी, स्वार्थी, भंगी, चमार, शूद्र, म्लेच्छादि पर भी विश्वासी होकर अनेक प्रकार के ढोंग, छल कपट और उच्छिष्ट भोजन, डोरा धागा आदि मिथ्या मन्त्र-यन्त्र बांधते-बंधवाते फिरते हैं। अपने धन का नाश, सन्तान आदि की दुर्दशा और रोगों को बढ़ाकर दुःख देते फिरते हैं। जब आंख के अंधे और गाँठ के पूरे उन दुर्बुद्धि, पापी स्वार्थियों के पास जाकर पूछते हैं कि—'महाराज! इस लड़का, लड़की, स्त्री और पुरुष को न जाने क्या हो गया है? तब वे बोलते हैं कि—'इसके शरीर में बड़ा भूत, प्रेत, भैरव, शीतला आदि देवी आ गई है। जब तक तुम इसका उपाय न करोगे, तब तक ये न छूटेंगे और प्राण भी ले लेंगे। जो तुम मलीदा वा इतनी भेंट दो, तो हम मन्त्र जप-पुरश्चरण से झाड़ के इनको निकाल दें।' तब वे अंधे और उनके संम्बन्धी बोलते हैं कि 'महाराज! चाहे हमारा सर्वस्व जाओ, परन्तु इनको अच्छा कर दीजिये'। तब तो उनकी बन पड़ती है। वे धूर्त्त कहते हैं—'अच्छा लाओ इतनी सामग्री, इतनी दक्षिणा, देवता को भेंट और ग्रहदान कराओ।' झांझ मृदंग, ढोल, थाली लेके उसके सामने बजाते-गाते, और उनमें से एक पाखण्डी उन्मत्त होके नाच-कूद के कहता है 'मैं इसका प्राण ही ले लूंगा।

---

१. सं० २ में 'वैदिकशास्त्र' अपपाठ है। २. अर्थात् उन्मादादि।

तब वे अंधे उस भंगी, चमार आदि नीच के पगों में पड़के कहते हैं—'आप चाहें सो लीजिये, इसको बचाइये'। तब वह धूर्त बोलता है—'मैं हनुमान हूं, लाओ पक्की मिठाई, तेल सिंदूर, सवा मन का रोट और लाल लंगोट।' 'मैं देवी वा भैरव हूं, लाओ पांच बोतल मद्य, बीस मुर्गी, पांच बकरे, मिठाई और वस्त्र।' जब वे कहते हैं कि—'जो चाहो सो लो।' तब तो वह पागल बहुत नाचने-कूदने लगता है। परन्तु जो कोई बुद्धिमान् उनकी भेंट पांच जूता, दण्डा वा चपेटा लातें मारे, तो उसके हनुमान देवी और भैरव झट प्रसन्न होकर भाग जाते हैं। क्योंकि वह उनका केवल धनादि हरण करने का प्रयोजनार्थ ढोंग है।

और जब किसी ग्रहग्रस्त, ग्रहरूप, ज्योतिर्विदाभास के पास जाके वे कहते हैं—'हे महाराज! इसको क्या है?' तब वे कहते हैं कि—'इस पर सूर्य्यादि क्रूर ग्रह चढ़े हैं। जो तुम इनकी शान्ति, पाठ, पूजा, दान कराओ तो इसको सुख हो जाय। नहीं तो बहुत पीड़ित होकर मर जाय, तो भी आश्चर्य्य नहीं'।

उत्तर—कहिये ज्योतिर्वित्! जैसी यह पृथिवी जड़ है, वैसे ही सूर्य्यादि लोक हैं। वे ताप और प्रकाशादि से भिन्न कुछ भी नहीं कर सकते। क्या ये चेतन हैं जो क्रोधित होके दुःख, और शान्त होके सुख दे सकें?

प्रश्न—क्या जो यह संसार में राजा-प्रजा सुखी-दुःखी हो रहे हैं, यह ग्रहों का फल नहीं है?

उत्तर—नहीं, ये सब पाप-पुण्यों के फल हैं।

प्रश्न—तो क्या ज्योतिश्शास्त्र झूठा है?

उत्तर—नहीं, जो उसमें अङ्क, बीज, रेखागणित विद्या है वह सब सच्ची, जो फल की लीला है वह सब झूठी है।

प्रश्न—क्या जो यह जन्मपत्र है, सो निष्फल है?

उत्तर—हां, वह जन्मपत्र नहीं, किन्तु उसका नाम 'शोकपत्र' रखना चाहिये। क्योंकि जब सन्तान का जन्म होता है, तब सबको आनन्द होता है। परन्तु वह आनन्द तब तक होता है कि जब तक जन्मपत्र बनके ग्रहों का फल न सुनें। जब पुरोहित जन्मपत्र बनाने

को कहता है, तब उसके माता-पिता पुरोहित से कहते हैं—'महाराज! आप बहुत अच्छा जन्मपत्र बनाइये।' जो धनाढ्य हो तो बहुत-सी लाल-पीली रेखाओं से चित्र-विचित्र, और निर्धन हो तो साधारण रीति से जन्मपत्र बनाके सुनाने को आता है। तब उसके मां-बाप ज्योतिषी जी के सामने बैठके कहते हैं—'इसका जन्मपत्र अच्छा तो है?' ज्योतिषी कहता है—'जो है सो सुना देता हूं। इसके जन्मग्रह बहुत अच्छे और मित्रग्रह भी बहुत अच्छे हैं, जिनका फल धनाढ्य और प्रतिष्ठावान्। जिस सभा में जा बैठेगा, तो सबके ऊपर इसका तेज पड़ेगा, शरीर से आरोग्य और राज्यमानी होगा।' इत्यादि बातें सुनके पिता आदि बोलते हैं—'वाह-वाह ज्योतिषीजी! आप बहुत अच्छे हो।'

ज्योतिषीजी समझते हैं [कि] इन बातों से कार्य सिद्ध नहीं होता। तब ज्योतिषी बोलता है कि—'ये ग्रह तो बहुत अच्छे हैं, परन्तु ये ग्रह क्रूर हैं। अर्थात् फलाने-फलाने ग्रह के योग से ८ वर्ष में इसका मृत्युयोग है।' इसको सुनके माता-पितादि पुत्र के जन्म के आनन्द को छोड़के शोकसागर में डूबकर ज्योतिषीजी से कहते हैं कि—'महाराज जी! अब हम क्या करें?' तब ज्योतिषीजी कहते हैं—'उपाय करो।' गृहस्थ पूछे—'क्या उपाय करें?' ज्योतिषीजी प्रस्ताव करने लगते हैं कि 'ऐसा-ऐसा दान करो। ग्रह के मन्त्र का जप कराओ, और नित्य ब्राह्मणों को भोजन कराओगे तो अनुमान है कि नवग्रहों के विघ्न हट जायेंगे।' अनुमान शब्द इसलिये है कि जो मर जायगा, तो कहेंगे हम क्या करें, परमेश्वर के ऊपर कोई नहीं है। हमने [तो] बहुत-सा यत्न किया और तुमने कराया, उसके कर्म ऐसे ही थे। और जो बच जाय तो कहते हैं कि—'देखो, हमारे मन्त्र देवता और ब्राह्मणों की कैसी शक्ति है, तुम्हारे लड़के को बचा दिया।' यहां यह बात होनी चाहिये कि जो इनके जपपाठ से कुछ न हो, तो दूने-तिगुणे रुपये इन धूर्तों से ले लेने चाहियें। और बच जाये तो भी ले लेने चाहियें। क्योंकि जैसे ज्योतिषियों ने कहा कि—'इसके कर्म और परमेश्वर के नियम तोड़ने का सामर्थ्य किसीका नहीं', वैसे गृहस्थ भी कहें कि—'यह अपने कर्म

और परमेश्वर के नियम से बचा है, तुम्हारे करने से नहीं ।'

और तीसरे गुरु आदि भी पुण्यदान कराके आप ले लेते हैं, तो उनको भी वही उत्तर देना, जो ज्योतिषियों को दिया था ।

अब रह गई शीतला और मन्त्र तन्त्र यन्त्र आदि । ये भी ऐसे ही ढोंग मचाते हैं । कोई कहता है कि—'जो [हम] मन्त्र पढ़ के डोरा वा यन्त्र बना देवें, तो हमारे देवता और पीर उस मन्त्र यन्त्र के प्रताप से उसको कोई विघ्न नहीं होने देते' । उनको वही उत्तर देना चाहिए कि 'क्या तुम मृत्यु, परमेश्वर के नियम और कर्मफल से भी बचा सकोगे ? तुम्हारे इस प्रकार करने से भी कितने ही लड़के मर जाते हैं, और तुम्हारे घर में भी मर जाते हैं । और क्या तुम मरण से बच सकोगे' ? तब वे कुछ भी नहीं कह सकते, और वे धूर्त्त जान लेते हैं कि यहां हमारी दाल नहीं गलेगी । इससे इन सब मिथ्या व्यवहारों को छोड़कर धार्मिक, सब देश के उपकारकर्त्ता, निष्कपटता से सबको विद्या पढ़ाने वाले, उत्तम विद्वान् लोगों का प्रत्युपकार करना । जैसा वे जगत् का उपकार करते हैं, इस काम को कभी न छोड़ना चाहिए । और जितनी लीला रसायन, मारण, मोहन, उच्चाटन, वशीकरण आदि करना कहते हैं उनको भी महापामर समझना चाहिये । इत्यादि मिथ्या बातों का उपदेश बाल्यावस्था ही में सन्तानों के हृदय में डाल दें कि जिससे स्वसन्तान किसी के भ्रमजाल में पड़के दुःख न पावें ।

और वीर्य की रक्षा में आनन्द, और नाश करने में दुःख-प्राप्ति भी जना देनी चाहिये । जैसे—'देखो, जिसके शरीर में सुरक्षित वीर्य रहता है, तब उसको आरोग्य, बुद्धि, बल पराक्रम बढ़के बहुत सुख की प्राप्ति होती है । इसके रक्षण में यही रीति है कि विषयों की कथा, विषयी लोगों का संग, विषयों का ध्यान, स्त्री का दर्शन, एकान्त-सेवन, संभाषण और स्पर्श आदि कर्म से ब्रह्मचारी लोग पृथक् रहकर उत्तम शिक्षा और पूर्ण विद्या को प्राप्त होवें । जिसके शरीर में वीर्य नहीं होता, वह नपुंसक, महाकुलक्षणी; और जिसको प्रमेह रोग होता है वह दुर्बल, निस्तेज, निर्बुद्धि, उत्साह-साहस-धैर्य-बल-

पराक्रमादि गुणों से रहित होकर नष्ट हो जाता है। जो तुम लोग सुशिक्षा और विद्या के ग्रहण, वीर्य की रक्षा करने में इस समय चूकोगे, तो पुनः इस जन्म में तुमको यह अमूल्य समय प्राप्त नहीं हो सकेगा। जब तक हम लोग गृहकर्मों के करने वाले जीते हैं, तभी तक तुमको विद्याग्रहण और शरीर का बल बढ़ाना चाहिये।' इसी प्रकार की अन्य-अन्य शिक्षा भी माता और पिता करें। इसीलिये **'मातृमान् पितृमान्'** शब्द का ग्रहण उक्त वचन में किया है। अर्थात् जन्म से ५वें वर्ष तक बालकों को माता, ६ठें वर्ष से ८वें वर्ष तक पिता शिक्षा करे, और ९वें वर्ष के आरम्भ में द्विज अपने सन्तानों का उपनयन करके आचार्य्यकुल[1] में, अर्थात् जहां पूर्ण विद्वान् और पूर्ण विदुषी स्त्री शिक्षा और विद्यादान करने वाली हों, वहां लड़के और लड़कियों को भेज दें। और शूद्रादि वर्ण उपनयन किये विना विद्याभ्यास के लिए गुरुकुल में भेज दें।

उन्हीं के सन्तान विद्वान्, सभ्य और सुशिक्षित होते हैं, जो पढ़ाने में सन्तानों का लाड़न कभी नहीं करते, किन्तु ताड़ना ही करते रहते हैं। इसमें व्याकरण महाभाष्य का प्रमाण है—

सामृतैः पाणिभिर्घ्नन्ति गुरवो न विषोक्षितैः।
लालनाश्रयिणो दोषास्ताडनाश्रयिणो गुणाः॥[2]

अर्थ—जो माता-पिता और आचार्य्य सन्तान और शिष्यों का ताड़न करते हैं, वे जानो अपने सन्तान और शिष्यों को अपने हाथ से अमृत पिला रहे हैं। और जो सन्तानों वा शिष्यों का लाड़न करते हैं, वे अपने सन्तानों और शिष्यों को विष पिलाके नष्ट-भ्रष्ट कर देते हैं। क्योंकि लाड़न से सन्तान और शिष्य दोषयुक्त तथा ताड़ना से गुणयुक्त होते हैं। और सन्तान और शिष्यलोग भी ताड़ना से प्रसन्न और लाड़न से अप्रसन्न सदा रहा करें। परन्तु माता पिता तथा अध्यापक लोग ईर्ष्या द्वेष से ताड़न न करें, किन्तु ऊपर से भयप्रदान और भीतर से कृपादृष्टि रखें।

---

१. संस्करण २ में 'आर्यकुल' पाठ है। २. महाभाष्य ८।१।८ में पठित।

जैसी अन्य शिक्षा की, वैसी चोरी जारी, आलस्य प्रमाद, मादक द्रव्य, मिथ्याभाषण, हिंसा क्रूरता, ईर्ष्या द्वेष, मोह आदि दोषों के छोड़ने और सत्याचार के ग्रहण करने की शिक्षा करें। क्योंकि जिस पुरुष ने जिसके सामने एक वार चोरी, जारी, मिथ्याभाषणादि कर्म किया, उसकी प्रतिष्ठा उसके सामने मृत्युपर्य्यन्त नहीं होती। जैसी हानि प्रतिज्ञा मिथ्या करने वाले की होती है, वैसी अन्य किसी की नहीं। इससे जिसके साथ जैसी प्रतिज्ञा करनी, उसके साथ वैसी[1] ही पूरी करनी चाहिये, अर्थात् जैसे किसी ने किसी से कहा कि–'मैं तुमको वा तुम मुझसे अमुक समय में मिलूंगा वा मिलना, अथवा अमुक वस्तु अमुक समय में तुमको मैं दूंगा', इसको वैसी[1] ही पूरी करे, नहीं तो उसकी प्रतीति[2] कोई भी न करेगा। इसलिये सदा सत्यभाषण और सत्यप्रतिज्ञायुक्त सबको होना चाहिये। किसी को अभिमान[3] न [करना] चाहिये। छल कपट वा कृतघ्नता से अपना ही हृदय दुःखित होता है, तो दूसरे की क्या कथा कहनी चाहिये ?

'छल' और **'कपट'** उसको कहते हैं जो भीतर [और] बाहर और [रख] दूसरे को मोह में डाल, और दूसरे की हानि पर ध्यान न देकर स्वप्रयोजन सिद्ध करना। **'कृतघ्नता'** उसको कहते हैं कि किसी के किये हुए उपकार को न मानना। क्रोधादि दोष और कटुवचन को छोड़ शान्त और मधुर वचन ही बोले, और बहुत बकवाद न करे। जितना बोलना चाहिए उससे न्यून वा अधिक न बोले। बड़ों को मान्य दे, उनके सामने उठकर जाके उच्चासन पर बैठावे, प्रथम **'नमस्ते'** करे। उनके सामने उत्तमासन पर न बैठे। सभा में वैसे स्थान पर बैठे जैसी अपनी योग्यता हो, और दूसरा कोई न उठावे। विरोध किसी से न करे। सम्पन्न होकर गुणों का ग्रहण और दोषों का त्याग रक्खे। सज्जनों का संग और दुष्टों का त्याग, अपने माता पिता और आचार्य्य

---

१. संस्करण २ में 'वैसे' पाठ है। २. अर्थात् विश्वास।

३. यहां से आगे अजमेर मुद्रित सं० ३४ में पाठ परिवर्तन करके लगभग तीन पङ्क्तियां बढ़ाई गई हैं। आर्ष साहित्य प्रचार ट्रस्ट दिल्ली के सं० में भी वे पङ्क्तियां मिलती हैं।

की तन, मन और धनादि उत्तम-उत्तम पदार्थों से प्रीतिपूर्वक सेवा करे।

यान्यस्माकँ सुचरितानि तानि त्वयोपास्यानि नो इतराणि ॥

यह तैत्तिरीय[1] उपनिषद् का वचन है।

इसका यह अभिप्राय है कि माता पिता आचार्य्य अपने सन्तान और शिष्यों को सदा सत्य उपदेश करें। और यह भी कहें कि जो-जो हमारे धर्मयुक्त कर्म हैं उन-उनका ग्रहण करो, और जो-जो दुष्ट कर्म हों उनका त्याग कर दिया करो। जो-जो सत्य जानें उन-उनका प्रकाश और प्रचार करें। किसी पाखण्डी दुष्टाचारी मनुष्य पर विश्वास न करें। और जिस-जिस उत्तम कर्म केलिए माता पिता और आचार्य्य आज्ञा देवें, उस-उसका यथेष्ट पालन करो। जैसे माता पिता ने धर्म, विद्या, अच्छे आचरण के श्लोक, 'निघण्टु' 'निरुक्त' 'अष्टाध्यायी' अथवा अन्य सूत्र वा वेदमन्त्र कण्ठस्थ कराये हों, उन-उनका पुनः अर्थ विद्यार्थियों को विदित करावें। जैसे प्रथम समुल्लास में परमेश्वर का व्याख्यान किया है, उसी प्रकार मानके उसकी उपासना करें।

जिस प्रकार आरोग्य, विद्या और बल प्राप्त हो, उसी प्रकार भोजन छादन और व्यवहार करें-करावें, अर्थात् जितनी क्षुधा हो उससे कुछ न्यून भोजन करें। मद्य-मांसादि के सेवन से अलग रहें। अज्ञात गम्भीर जल में प्रवेश न करें। क्योंकि जलजन्तु वा किसी [अन्य] पदार्थ से दुःख, और जो तैरना न जाने तो डूब ही जा सकता है। **'नाविज्ञाते जलाशये'** यह मनु[2] का वचन [है]। अविज्ञात जलाशय में प्रविष्ट होके स्नानादि न करें।

दृष्टिपूतं न्यसेत्पादं, वस्त्रपूतं जलं पिबेत्।
सत्यपूतां वदेद्वाचं, मनःपूतं समाचरेत् ।।मनु०[3]

अर्थ—नीचे दृष्टि कर ऊंचे-नीचे स्थान को देखकर चले, वस्त्र

---

१. सं० २ में 'यह तैत्ति०' इतना ही पाठ है। यहां० शून्य से अवबोधित पाठ ग्रन्थकार की शैली से पूरा किया है। तै० उ० शिक्षावल्ली ११॥

२. मनु० ४।१२६ ॥ ३. मनु० ६।४६॥

से छान के जल पीवे। सत्य से पवित्र करके वचन बोले, मन में विचार के आचरण करे।

माता शत्रुः पिता वैरी येन बालो न पाठितः।
न शोभते सभामध्ये हंसमध्ये बको यथा ॥

यह किसी कवि का वचन है।[1]

[अर्थ—]वे माता और पिता अपने सन्तानों के पूर्ण वैरी हैं, जिन्होंने उनको विद्या की प्राप्ति न कराई। वे विद्वानों की सभा में वैसे तिरस्कृत और कुशोभित होते हैं, जैसे हंसों के बीच में बगुला।

यही माता-पिता का कर्त्तव्य कर्म, परमधर्म और कीर्ति का काम है, जो अपने सन्तानों को तन, मन, धन [से] विद्या, धर्म, सभ्यता और उत्तम शिक्षा युक्त करना।

यह बालशिक्षा में थोड़ा-सा लिखा, इतने ही से बुद्धिमान् लोग बहुत समझ लेंगे।[2] [इसके आगे ब्रह्मचर्याश्रम और गुरु शिष्य की शिक्षा लिखी जायेगी, उसी के भीतर पढ़ने पढ़ाने की शिक्षा भी लिखी जायेगी।]

इति श्रीमद्दयानन्दसरस्वतीस्वामिकृते सत्यार्थप्रकाशे
सुभाषाविभूषिते बालशिक्षाविषये द्वितीयः
समुल्लासः सम्पूर्णः ॥२॥

---

१. चाणक्य शतक ६; चाणक्य नीति २।११ गढ़वाली प्रेस देहरादून, सन् १६१४॥ कई संस्करणों में पाठभेद मिलता है।

२. ग्रन्थकार ने सर्वत्र प्रत्येक समुल्लास के अन्त में उत्तर समुल्लास के विषय का निर्देश किया है। तदनुसार यहां भी पाठ होना चाहिये। हमने इस की पूर्ति के लिये प्रथम संस्करणस्थ पङ्क्ति [ ] कोष्ठक में दे दी है।

अथ तृतीय-समुल्लासारम्भः

अथाऽध्ययनाध्यापनविधिं व्याख्यास्यामः

अब तीसरे समुल्लास में पढ़ने-पढ़ाने का प्रकार लिखते हैं। सन्तानों को उत्तम विद्या, शिक्षा, गुण, कर्म्म और स्वभावरूप आभूषणों का धारण कराना माता पिता, आचार्य्य और सम्बन्धियों का मुख्य कर्म है। सोने चांदी, माणिक, मोती मूंगा आदि रत्नों से युक्त आभूषणों के धारण करने से मनुष्य का आत्मा सुभूषित कभी नहीं हो सकता[1]। क्योंकि आभूषणों के धारण करने से केवल देहाभिमान विषयासक्ति और चोर आदि [का] भय तथा मृत्यु का भी सम्भव है। संसार में देखने में आता है कि आभूषणों के योग से बालकादिकों का मृत्यु दुष्टों के हाथ से होता है।

विद्याविलासमनसो धृतशीलशिक्षाः, सत्यव्रता रहितमानमलापहाराः
संसारदुःखदलनेन सुभूषिता ये, धन्या नरा विहितकर्मपरोपकाराः।

[अर्थ—]जिन पुरुषों का मन विद्या के विलास में तत्पर रहता, सुन्दर शीलस्वभावयुक्त, सत्यभाषणादिनियमपालनयुक्त, और जो अभिमान अपवित्रता से रहित, अन्य[की]मलीनता के नाशक, सत्योपदेश विद्यादान से संसारी जनों के दुःखों के दूर करने से सुभूषित, वेदविहितकर्मों से पराये उपकार करने में [लगे] रहते हैं, वे नर और नारी धन्य हैं।

इसलिए आठ वर्ष के हों तभी लड़कों को लड़कों की, और लड़कियों को लड़कियों की शाला[2] में भेज देवें। जो अध्यापक पुरुष वा स्त्री

---

१. केयूराणि न भूषयन्ति पुरुषं हारा न चन्द्रोज्ज्वलाः,
न स्नानं न विलेपनं न कुसुमं नालंकृता मूर्धजाः।
वाण्येका समलङ्करोति पुरुषं या संस्कृता धार्यते,
क्षीयन्ते खलु भूषणानि सततं वाग्भूषणं भूषणम्॥
नीतिशतक १५, निर्णय सागर संस्करण॥

२. पदेषु पदैकदेशान्(महाभाष्य)नियम के अनुसार पाठशाला=शाला।

दुष्टाचारी हों, उनसे शिक्षा न दिलावें। किन्तु जो पूर्ण विद्यायुक्त धार्मिक हों, वे ही पढ़ाने और शिक्षा देने योग्य हैं। द्विज अपने घर में लड़कों का यज्ञोपवीत और कन्याओं का भी यथायोग्य संस्कार करके यथोक्त आचार्य्यकुल अर्थात् अपनी-अपनी पाठशाला में भेज दें।

विद्या पढ़ने का स्थान एकान्त देश में होना चाहिये। और वे लड़के और लड़कियों की पाठशाला दो कोस एक दूसरे से दूर होनी चाहियें। जो वहां अध्यापिका और अध्यापक पुरुष वा भृत्य अनुचर हों, वे कन्याओं की पाठशाला में सब स्त्री और पुरुषों की पाठशाला में पुरुष रहैं। स्त्रियों की पाठशाला में पांच वर्ष का लड़का और पुरुषों की पाठशाला में पांच वर्ष की लड़की भी न जाने पावे। अर्थात् जब तक वे ब्रह्मचारी वा ब्रह्मचारिणी रहैं, तबतक स्त्री वा पुरुष का दर्शन, स्पर्शन, एकान्तसेवन, भाषण, विषयकथा, परस्परक्रीड़ा, विषय का ध्यान और संग, इन आठ प्रकार के मैथुनों से अलग रहैं। और अध्यापक लोग उनको इन बातों से बचावें, जिससे उत्तम विद्या, शिक्षा, शील स्वभाव, शरीर और आत्मा के बल [से] युक्त होके आनन्द को नित्य बढ़ा सकें।

पाठशालाओं से एक योजन अर्थात् चार कोस दूर ग्राम वा नगर रहे। सबको तुल्य वस्त्र खान-पान आसन दिये जायें, चाहे वह राजकुमार वा राजकुमारी हो, चाहे दरिद्र के सन्तान हों। सबको तपस्वी होना चाहिए। उनके माता-पिता अपने सन्तानों से वा सन्तान अपने माता-पिताओं से न मिल सकें, और न किसी प्रकार का पत्र-व्यवहार एक-दूसरे से कर सकें। जिससे संसारी चिन्ता से रहित होकर केवल विद्या बढ़ाने की चिन्ता रक्खें। जब भ्रमण करने को जायें, तब उनके साथ अध्यापक रहैं, जिससे किसी प्रकार की कुचेष्टा न कर सकें, और न आलस्य-प्रमाद करें।

कन्यानां सम्प्रदानं च कुमाराणां च रक्षणम्॥ मनु०[1]

इसका अभिप्राय यह है कि इसमें राजनियम और जातिनियम

---

१. मनु० ७।१५२॥

होना चाहिए, कि पांचवें अथवा आठवें वर्ष से आगे [कोई] अपने लड़कों और लड़कियों को घर में न रख सके। पाठशाला में अवश्य भेज देवें, जो न भेजे वह दण्डनीय हो। प्रथम लड़कों का यज्ञोपवीत घर में हो, और दूसरा पाठशाला में आचार्य्यकुल में हो। पिता-माता वा अध्यापक अपने लड़का-लड़कियों को अर्थसहित **गायत्री मन्त्र** का उपदेश कर दें। वह मन्त्र [यह है]—

ओं भूर्भुवः स्वः तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि।
धियो यो नः प्रचोदयात्॥[1]

इस मन्त्र में जो प्रथम 'ओ३म्' है, उसका अर्थ प्रथम समुल्लास में कर दिया है, वहीं से जान लेना। अब तीन महाव्याहृतियों के अर्थ संक्षेप से लिखते हैं—**'भूरिति वै प्राणः' यः प्राणयति चराऽचरं जगत् स भूः स्वयम्भूरीश्वरः**, जो सब जगत् के जीवन का आधार, प्राण से भी प्रिय और स्वयम्भू है, उस प्राण का वाचक होके 'भूः' परमेश्वर का नाम है। **'भुवरित्यपानः' यः सर्वं दुःखमपानयति सोऽपानः**, जो सब दुःखों से रहित, जिसके सङ्ग से जीव सब दुःखों से छूट जाते हैं, इसलिए उस परमेश्वर का नाम 'भुवः' है। **'स्वरिति व्यानः' यो विविधं जगद् व्यानयति व्याप्नोति स व्यानः**, जो नानाविध जगत् में व्यापक होके सबका धारण करता है, इसलिये उस परमेश्वर का नाम 'स्वः' है। ये तीनों वचन तैत्तिरीय आरण्यक[2] के हैं। (सवितुः) **यः सुनोत्युत्पादयति सर्वं जगत् स सविता तस्य**, जो सब जगत् का उत्पादक और सब ऐश्वर्य का दाता है, (देवस्य) **यो दीव्यति दीव्यते वा स देवः**, जो सर्व सुखों का देनेहारा, और जिसकी प्राप्ति की कामना सब करते हैं, उस परमात्मा का जो (वरेण्यम्) **वर्त्तुमर्हम्** स्वीकार करने योग्य अतिश्रेष्ठ (भर्गः) **शुद्धस्वरूपम्** शुद्धस्वरूप और पवित्र करने वाला चेतन ब्रह्म स्वरूप है, (तत्) उसी परमात्मा के स्वरूप को हम लोग (धीमहि) **धरेमहि** धारण करें। किस

---

१. यजुः ३६।३॥ स्वरचिह्न सं० २ में नहीं थे। २. तै० आ० ७।५॥

प्रयोजन के लिये ? कि (यः) **जगदीश्वरः** जो सविता देव परमात्मा (नः) **अस्माकम्** हमारी (धियः) **बुद्धीः** बुद्धियों को (प्रचोदयात्) **प्रेरयेत्** प्रेरणा करे, अर्थात् बुरे कामों से छुड़ाकर अच्छे कामों में प्रवृत्त करे।

हे परमेश्वर ! हे सच्चिदानन्दस्वरूप[१] ! हे नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभाव ! हे अज निरञ्जन निर्विकार ! हे सर्वान्तर्यामिन् ! हे सर्वाधार जगत्पते सकलजगदुत्पादक ! हे अनादे ! विश्वम्भर सर्वव्यापिन् ! हे करुणामृतवारिधे ! सवितुर्देवस्य तव यदोम्भूर्भुवः स्वर्वरेण्यं भर्गोऽस्ति, तद्वयं धीमहि दधीमहि धरेमहि ध्यायेम वा। कस्मै प्रयोजनायेत्यत्राह—हे भगवन् ! यः सविता देवः परमेश्वरो भवन्नस्माकं धियः प्रचोदयात्, स एवास्माकं पूज्य उपासनीय इष्टदेवो भवतु नातोऽन्यं भवत्तुल्यं भवतोऽधिकं च कञ्चित् कदाचिन्मन्यामहे।

हे मनुष्यो ! जो सब समर्थों में समर्थ, सच्चिदानन्दानन्तस्वरूप, नित्य शुद्ध, नित्य बुद्ध, नित्य मुक्त स्वभाववाला, कृपासागर, ठीक-ठीक न्याय का करनेहारा, जन्ममरणादिक्लेशरहित, आकाररहित, सबके घट-घट का जानने वाला, सबका धर्त्ता पिता उत्पादक, अन्नादि से विश्व का पोषण करनेहारा, सकल ऐश्वर्ययुक्त, जगत् का निर्माता, शुद्धस्वरूप, और जो प्राप्ति की कामना करने योग्य है, उस परमात्मा का जो शुद्ध चेतनस्वरूप है, उसी को हम धारण करें। इस प्रयोजन के लिए कि वह परमेश्वर हमारे आत्मा और बुद्धियों का अन्तर्यामिस्वरूप हमको दुष्टाचार, अधर्मयुक्त मार्ग से हटाके श्रेष्ठाचार सत्यमार्ग में चलावे। उसको छोड़कर दूसरे किसी वस्तु का ध्यान हम लोग नहीं करें। क्योंकि न कोई उसके तुल्य और न अधिक है। वही हमारा पिता, राजा, न्यायाधीश और सब सुखों का देनेहारा है।

इस प्रकार गायत्री मन्त्र का उपदेश करके सन्ध्योपासन की जो स्नान, आचमन, प्राणायाम आदि क्रिया हैं, सिखलावें।

---

१. किन्हीं संस्करणों में 'हे सच्चिदानन्दानन्तस्वरूप' ऐसा परिवर्धित पाठ है। द्रष्टव्य भाषा आगे।

प्रथम स्नान इसलिये है कि जिससे शरीर के बाह्य अवयवों की शुद्धि और आरोग्य आदि होते हैं। इसमें प्रमाण -

अद्भिर्गात्राणि शुध्यन्ति, मनः सत्येन शुध्यति।
विद्यातपोभ्यां भूतात्मा, बुद्धिर्ज्ञानेन शुध्यति ॥

यह मनुस्मृति का श्लोक है[1]।

[अर्थ—] जल से शरीर के बाहर के अवयव, सत्याचरण से मन, विद्या और तप अर्थात् सब प्रकार के कष्ट भी सहके धर्म ही के अनुष्ठान करने से जीवात्मा, ज्ञान अर्थात् पृथिवी से लेके परमेश्वर पर्यन्त पदार्थों के विवेक से बुद्धि दृढ़निश्चय पवित्र होता है। इससे स्नान भोजन के पूर्व अवश्य करना।

दूसरा प्राणायाम, इसमें प्रमाण—

प्राणायामादशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिराविवेकख्यातेः ॥

यह योगशास्त्र का सूत्र है[2]।

जब मनुष्य प्राणायाम करता है, तब प्रतिक्षण उत्तरोत्तर काल में अशुद्धि का नाश और ज्ञान का प्रकाश होता जाता है। जबतक मुक्ति न हो तबतक उसके आत्मा का ज्ञान बराबर बढ़ता जाता है।

दह्यन्ते ध्मायमानानां धातूनां हि यथा मलाः।
तथेन्द्रियाणां दह्यन्ते दोषाः प्राणस्य निग्रहात् ॥

यह मनुस्मृति का श्लोक है[3]।

[अर्थ—]जैसे अग्नि में तपाने से सुवर्णादि धातुओं का मल नष्ट होकर शुद्ध होते हैं, वैसे प्राणायाम करके मन आदि इन्द्रियों के दोष क्षीण होकर निर्मल हो जाते हैं।

प्राणायाम का विधिः—

प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां वा प्राणस्य ॥ योगसूत्र[4]

---

१. मनु० ५।१०९॥ २. योग दर्शन में 'योगाङ्गानुष्ठानादशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिराविवेकख्यातेः' (२।२८) पाठ है। प्राणायाम के प्रसंग में 'ततः क्षीयते प्रकाशावरणम्' (२।५२) पाठ है। ३. मनु० ३।७२॥
४. योग० १।३४॥

जैसे अत्यन्त वेग से वमन होकर अन्न-जल बाहर निकल जाता है, वैसे प्राण को बल से बाहर फेंक के बाहर ही यथाशक्ति रोक देवे। जब बाहर निकालना चाहे, तब मूलेन्द्रिय को ऊपर खींच रखे, तबतक प्राण बाहर रहता है। इसी प्रकार प्राण बाहर अधिक ठहर सकता है। जब गभराहट हो, तब धीरे-धीरे भीतर वायु को लेके फिर भी वैसे ही करता जाय, जितना सामर्थ्य और इच्छा हो। और मन में 'ओ३म्' इसका जप करता जाय। इस प्रकार करने से आत्मा और मन की पवित्रता और स्थिरता होती है। एक **'बाह्यविषय'** अर्थात् बाहर ही अधिक रोकना। दूसरा **'आभ्यन्तर'** अर्थात् भीतर जितना प्राण रोका जाय उतना रोके[1]। तीसरा **'स्थम्भवृत्ति'** अर्थात् एक ही बार जहां का तहां प्राण को यथाशक्ति रोक देना। चौथा **'बाह्याभ्यन्तराक्षेपी'** अर्थात् जब प्राण भीतर से बाहर निकलने लगे, तब उससे विरुद्ध उसको न निकलने देने के लिए बाहर से भीतर ले, और जब बाहर से भीतर आने लगे तब भीतर से बाहर की ओर प्राण को धक्का देकर रोकता जाय। ऐसे एक-दूसरे के विरुद्ध क्रिया करें, तो दोनों की गति रुककर प्राण अपने वश में होने से मन और इन्द्रियें भी स्वाधीन होते हैं। बल-पुरुषार्थ बढ़कर बुद्धि तीव्र सूक्ष्म-रूप हो जाती है, कि जो बहुत कठिन और सूक्ष्म विषय को भी शीघ्र ग्रहण करती है। इससे मनुष्य-शरीर में वीर्य वृद्धि को प्राप्त होकर स्थिर बल, पराक्रम, जितेन्द्रियता, सब शास्त्रों को थोड़े ही काल में समझ कर उपस्थित कर लेगा। स्त्री भी इसी प्रकार योगाभ्यास करे।

भोजन छादन, बैठने उठने, बोलने चालने, बड़े छोटे से यथा-योग्य व्यवहार करने का उपदेश करें।

सन्ध्योपासन, जिसको ब्रह्मयज्ञ भी कहते हैं। **'आचमन'** उतने जल को हथेली में लेके उसके मूल और मध्यदेश में ओष्ठ लगाके करे, कि वह जल कण्ठ के नीचे हृदय तक पहुंचे, न उससे अधिक न न्यून। उससे कण्ठस्थ कफ और पित्त की निवृत्ति थोड़ी-सी होती है। पश्चात् **'मार्जन'** अर्थात् मध्यमा और अनामिका अंगुली के अग्रभाग से

---

१. संस्करण २ में 'रोक के' ऐसा पाठ है।

नेत्रादि अङ्गों पर जल छिड़के। उससे आलस्य दूर होता है, जो आलस्य और जल प्राप्त न हो तो न करे। पुनः समन्त्रक **प्राणायाम, मनसापरिक्रमण, उपस्थान**, पीछे परमेश्वर की स्तुति प्रार्थना और उपासना की रीति सिखलावे। पश्चात् **'अघमर्षण'** अर्थात् पाप करने की इच्छा भी कभी न करे। यह सन्ध्योपासन एकान्त देश में एकाग्रचित्त से करे।

अपां समीपे नियतो नैत्यकं विधिमास्थितः।
सावित्रीमप्यधीयीत गत्वारण्यं समाहितः ॥

यह मनुस्मृति का वचन है[1]।

[अर्थ—]जंगल में अर्थात् एकान्तदेश में जा, सावधान होके जल के समीप स्थित होके नित्यकर्म को करता हुआ सावित्री अर्थात् गायत्री मन्त्र का उच्चारण, अर्थज्ञान और उसके अनुसार अपने चाल-चलन को करे, परन्तु यह जप मन[2] से करना उत्तम है।

दूसरा देवयज्ञ—जो अग्निहोत्र और विद्वानों का सङ्ग सेवादिक से होता है। सन्ध्या और अग्निहोत्र सायं-प्रातः दो ही काल में करे। दो ही रात दिन की सन्धिवेला हैं, अन्य नहीं। न्यून-से-न्यून एक घण्टा ध्यान अवश्य करे। जैसे समाधिस्थ होकर योगी लोग परमात्मा का ध्यान करते हैं, वैसे ही सन्ध्योपासन भी किया करे। तथा सूर्योदय के पश्चात् और सूर्यास्त के पूर्व अग्निहोत्र करने का भी समय है। उसके लिए एक किसी धातु वा मट्टी के ऊपर १२ वा १६ अंगुल चौकोर उतना ही गहिरा और नीचे ३ वा ४ चार अंगुल परिमाण से वेदी इस प्रकार बनावे। अर्थात् ऊपर जितनी चौड़ी हो उसकी
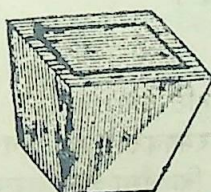
चतुर्थांश नीचे चौड़ी रहै। उसमें चन्दन, पलाश वा आम्रादि के श्रेष्ठ काष्ठों के टुकड़े उसी वेदी के परिमाण से बड़े-छोटे करके उसमें रक्खें। उसके मध्य में अग्नि रखके पुनः उस पर समिधा अर्थात्

१. मनु० २।१०४॥ २. सं० २ में 'जन्म से' अपपाठ है।

पूर्वोक्त इंधन रख दे। एक प्रोक्षणीपात्र
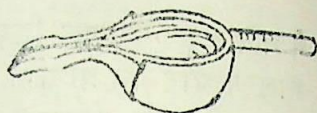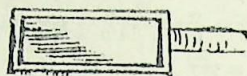
ऐसा, और तीसरा प्रणीतापात्र इस प्रकार का,

और एक इस प्रकार की आज्यस्थाली अर्थात् घृत रखने
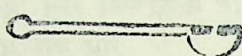
का पात्र और चमसा ऐसा सोने चांदी वा

काष्ठ का बनवाके प्रणीता और प्रोक्षणी में जल तथा घृतपात्र में घृत रखके घृत को तपा लेवे। प्रणीता जल रखने और प्रोक्षणी इसलिए है कि उससे हाथ धोने को जल लेना सुगम है। पश्चात् उस घी को अच्छे प्रकार से देख लेवे। फिर इन मन्त्रों से होम करे—

ओं भूरग्नये प्राणाय स्वाहा॥ भुवर्वायवेऽपानाय स्वाहा॥ स्वरादित्याय व्यानाय स्वाहा॥ भूर्भुवः स्वरग्निवाय्वादित्येभ्यः प्राणापानव्यानेभ्यः स्वाहा॥

इत्यादि अग्निहोत्र के प्रत्येक मन्त्र को पढ़कर एक-एक आहुति देवे। और जो अधिक आहुति देना हो तो—

विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परा सुव।
यद् भद्रन्तन्न आ सुव॥[1]

इस मन्त्र और पूर्वोक्त गायत्री मन्त्र से आहुति देवे।

'ओं भूः' और **'प्राण'** आदि ये सब नाम परमेश्वर के हैं। इनके अर्थ कह चुके हैं। **'स्वाहा'** शब्द का अर्थ यह है कि जैसा ज्ञान आत्मा में हो वैसा ही जीभ से बोले, विपरीत नहीं। जैसे परमेश्वर ने सब प्राणियों के सुख के अर्थ इस सब जगत् के पदार्थ रचे है, वैसे मनुष्यों को भी परोपकार करना चाहिये।

---

१. यजु० ३६।३॥

प्रश्न—होम से क्या उपकार होता है ?

उत्तर—सब लोग जानते हैं कि दुर्गन्धयुक्त वायु और जल से रोग, रोग से प्राणियों को दुःख; और सुगन्धित वायु तथा जल से आरोग्य, और रोग के नष्ट होने से सुख प्राप्त होता है।

प्रश्न—चन्दनादि घिसके किसी को लगावे वा घृतादि खाने को देवे तो बड़ा उपकार हो। अग्नि में डालके व्यर्थ नष्ट करना बुद्धिमानों का काम नहीं।

उत्तर—जो तुम पदार्थविद्या जानते, तो कभी ऐसी बात न कहते। क्योंकि किसी द्रव्य का अभाव नहीं होता। देखो, जहां होम होता है वहां से दूर देश में स्थित पुरुष के नासिका से सुगन्ध का ग्रहण होता है, वैसे दुर्गन्ध का भी। इतने ही से समझलो कि अग्नि में डाला हुआ पदार्थ सूक्ष्म होके फैलके वायु के साथ दूर देश में जाकर दुर्गन्ध की निवृत्ति करता है।

प्रश्न—जब ऐसा ही है तो केशर कस्तूरी, सुगन्धित पुष्प और अतर आदि के घर में रखने से सुगन्धित वायु होकर सुखकारक होगा।

उत्तर—उस सुगन्ध का वह सामर्थ्य नहीं है कि गृहस्थ वायु को बाहर निकालकर शुद्ध वायु को प्रवेश करा सके। क्योंकि उसमें भेदकशक्ति नहीं है। और अग्नि ही का सामर्थ्य है कि उस वायु और दुर्गन्धयुक्त पदार्थों को छिन्न-भिन्न और हलका करके बाहर निकालकर पवित्र वायु को प्रवेश करा[1] देता है।

प्रश्न—तो मन्त्र पढ़के होम करने का क्या प्रयोजन है ?

उत्तर—मन्त्रों में वह व्याख्यान है कि जिससे होम करने के[2] लाभ विदित हो जायें, और मन्त्रों की आवृत्ति होने से कण्ठस्थ रहें। वेद-पुस्तकों का पठन-पाठन और रक्षा भी होवे।

प्रश्न—क्या इस होम करने के विना पाप होता है ?

उत्तर—हां, क्योंकि जिस मनुष्य के शरीर से जितना दुर्गन्ध

---

१. सं० २ में 'कर' पाठ है। २. सं ३ में 'को' पाठ है।

उत्पन्न होके वायु और जल को बिगाड़ कर रोगोत्पत्ति का निमित्त होने से प्राणियों को दुःख प्राप्त कराता[1] है, उतना ही पाप उस मनुष्य को होता है। इसलिए उस पाप के निवारणार्थ उतना सुगन्ध वा उस से अधिक, वायु और जल में फैलाना चाहिए। और खिलाने-पिलाने से उसी एक व्यक्ति को सुख-विशेष होता है। जितना घृत और सुगन्धादि पदार्थ एक मनुष्य खाता है, उतने द्रव्य के होम से लाखों मनुष्यों का उपकार होता है। परन्तु जो मनुष्य लोग घृतादि उत्तम पदार्थ न खावें, तो उनके शरीर और आत्मा के बल की उन्नति न हो सके। इससे अच्छे पदार्थ खिलाना-पिलाना भी चाहिए, परन्तु उससे होम अधिक करना उचित है। इसलिए होम का करना अत्यावश्यक है।

प्रश्न—प्रत्येक मनुष्य कितनी आहुति करे ? और एक-एक आहुति का कितना परिमाण है ?

उत्तर—प्रत्येक मनुष्य को सोलह-सोलह आहुति और छः छः माशे घृतादि एक-एक आहुति का परिमाण न्यून-से-न्यून चाहिये, और जो इससे अधिक करे तो बहुत अच्छा है। इसीलिये आर्यवरशिरोमणि महाशय, ऋषि-महर्षि, राजे-महाराजे लोग बहुत-सा होम करते और कराते थे। जब तक [इस] होम करने का प्रचार रहा, तब तक आर्य्यावर्त्त देश रोगों से रहित और सुखों से पूरित था। अब भी प्रचार हो, तो वैसा ही हो जाय।

ये दो यज्ञ अर्थात् **ब्रह्मयज्ञ**—जो पढ़ना-पढ़ाना, सन्ध्योपासन, ईश्वर की स्तुति प्रार्थना उपासना करना। दूसरा **देवयज्ञ**—जो अग्निहोत्र से लेके अश्वमेधपर्यन्त यज्ञ और विद्वानों की सेवा संग करना। परन्तु ब्रह्मचर्य में केवल ब्रह्मयज्ञ और अग्निहोत्र का ही करना होता है।

ब्राह्मणस्त्रयाणां वर्णानामुपनयनं कर्त्तुमर्हति। राजन्यो द्वयस्य। वैश्यो वैश्यस्यैवेति। शूद्रमपि कुलगुणसम्पन्नं मंत्रवर्जमनुपनीतमध्यापयेदित्येके॥ यह सुश्रुत के सूत्रस्थान के दूसरे अध्याय का वचन है।

---

१. सं० २ में 'करता' पाठ है।

ब्राह्मण तीनों वर्ण—ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य; क्षत्रिय क्षत्रिय और वैश्य; तथा वैश्य एक वैश्य वर्ण को यज्ञोपवीत कराके पढ़ा सकता है। और जो कुलीन शुभलक्षणयुक्त शूद्र हो, तो उसको मन्त्रसंहिता छोड़के सब शास्त्र पढ़ावे। शूद्र पढ़े परन्तु उसका उपनयन न करे, यह मत अनेक आचार्य्यों का है।

पश्चात् पांचवें वा आठवें वर्ष से लड़के लड़कों की पाठशाला में और लड़की लड़कियों की पाठशाला में जावें। और निम्नलिखित नियमपूर्वक अध्ययन का आरम्भ करें—

षट्त्रिंशदाब्दिकं चर्य्यं गुरौ त्रैवैदिकं व्रतम्।
तदर्धिकं पादिकं वा ग्रहणान्तिकमेव वा।। मनु०[1]

अर्थ—आठवें वर्ष से आगे छत्तीसवें वर्ष पर्यन्त, अर्थात् एक-एक वेद के साङ्गोपाङ्ग पढ़ने में बारह-बारह वर्ष मिलके छत्तीस और आठ मिलके चौवालीस[2], अथवा अठारह वर्षों का ब्रह्मचर्य और आठ पूर्व के मिलके छब्बीस, वा नौ वर्ष तथा जब तक विद्या पूरी ग्रहण न कर लेवे तब तक ब्रह्मचर्य रक्खे।

पुरुषो वाव यज्ञस्तस्य यानि चतुर्विंशति वर्षाणि तत्प्रातःसवनं चतुर्विंशत्यक्षरा गायत्री गायत्रं प्रातःसवनं, तदस्य वसवोऽन्वायत्ताः प्राणा वाव वसव एते हीदं सर्वं वासयन्ति।।१।।

तञ्चेदेतस्मिन् वयसि किञ्चिदुपतपेत्स ब्रूयात्प्राणा वसव इदं मे प्रातःसवनं माध्यंदिनं सवनमनुसंतनुतेति माहं प्राणानां वसूनां मध्ये यज्ञो विलोप्सीयेत्युद्धैव तत एत्यगदो ह भवति।।२।।

अथ यानि चतुश्चत्वारिंशद्वर्षाणि तन्माध्यन्दिनं सवनं चतुश्चत्वारिंशदक्षरा त्रिष्टुप् त्रैष्टुभं माध्यंदिनं सवनं तदस्य रुद्रा अन्वायत्ताः प्राणा वाव रुद्रा एते हीदं सर्वं रोदयन्ति।।३।।

तं चेदेतस्मिन्वयसि किञ्चिदुपतपेत्स ब्रूयात्प्राणा रुद्रा इदं मे

---

१. मनु० ३।१।।

२. सं० २ में 'बयालीस' अपपाठ है। ३६+८ का योग ४४ होता है।

माध्यन्दिनं सवनं तृतीयसवनमनुसन्तनुतेति माहं प्राणानां रुद्राणां मध्ये यज्ञो विलोप्सीयेत्युद्धैव तत एत्यगदो ह भवति ।।४।।

अथ यान्यष्टाचत्वारिंशद्वर्षाणि तत् तृतीयसवनमष्टाचत्वारिंक्षदक्षरा जगती जागतं तृतीयसवनं तदस्यादित्या अन्वायत्ताः प्राणा वावादित्या एते हीदं सर्वमाददते ।।५।।

तं चेदेतस्मिन् वयसि किञ्चिदुपतपेत्स ब्रूयात् प्राणा आदित्या इदं मे तृतीयसवनमायुरनुसंतनुतेति माहं प्राणानामादित्यानां मध्ये यज्ञो विलोप्सीयेत्युद्धैव तत एत्यगदो हैव भवति ।।६।।

यह छान्दोग्योपनिषद् का वचन है ।[1]

ब्रह्मचर्य तीन प्रकार का होता है—[कनिष्ठ, मध्यम और उत्तम । उनमें से[2]] **कनिष्ठ**—जो पुरुष अन्नरसमय देह और पुरि अर्थात् देह में शयन करने वाला जीवात्मा यज्ञ अर्थात् अतीव शुभ गुणों से संगत और सत्कर्त्तव्य है । इसको आवश्यक[3] है कि २४ वर्षपर्यन्त जितेन्द्रिय अर्थात् ब्रह्मचारी रहकर वेदादिविद्या और सुशिक्षा का ग्रहण करे । और विवाह करके भी लम्पटता न करे, तो उसके शरीर में प्राण बलवान् होकर सब शुभगुणों के वास कराने वाले होते हैं ।।१।।

इस प्रथम वय में जो उसको विद्याभ्यास में संतप्त करे, और वह आचार्य्य वैसा ही उपदेश किया करे । और ब्रह्मचारी ऐसा निश्चय रक्खे कि जो मैं प्रथम अवस्था में ठीक-ठीक ब्रह्मचर्य्य [से] रहूंगा, तो मेरा शरीर और आत्मा आरोग्य बलवान् होके शुभगुणों को वसाने वाले मेरे प्राण होंगे । हे मनुष्यो! तुम इस प्रकार से सुखों का विस्तार करो, जो मैं ब्रह्मचर्य का लोप न करूं । २४ वर्ष के पश्चात् गृहाश्रम करूंगा, तो प्रसिद्ध है कि रोगरहित रहूंगा, और आयु भी मेरी ७० वा ८० वर्ष तक रहेगी ।।२।।

मध्यम ब्रह्मचर्य—यह है जो मनुष्य ४४ वर्षपर्यन्त ब्रह्मचारी रहकर वेदाभ्यास करता है, उसके प्राण इन्द्रियां अन्तःकरण और

---

१. छा० ३।१६।। २. यह पाठ सं० २ में नहीं है। ३. सं० २ में 'अवश्य' है।

आत्मा बलयुक्त होके सब दुष्टों को रुलाने और श्रेष्ठों का पालन करनेहारे होते हैं ॥३॥

जो मैं इसी प्रथम वय में जैसा आप कहते हैं, कुछ तपश्चर्या करूं, तो मेरे ये रुद्ररूप प्राणयुक्त यह मध्यम ब्रह्मचर्य सिद्ध होगा। हे ब्रह्मचारी लोगो! तुम इस ब्रह्मचर्य को बढ़ाओ। जैसे मैं इस ब्रह्मचर्य का लोप न करके यज्ञस्वरूप होता हूं, और उसी आचार्यकुल से आता और रोगरहित होता हूं। जैसाकि यह ब्रह्मचारी अच्छा काम करता है, वैसा तुम किया करो ॥४॥

उत्तम ब्रह्मचर्य—४८ वर्षपर्यन्त का तीसरे प्रकार का होता है। जैसे ४८ अक्षर की जगती, वैसे जो ४८ वर्षपर्यन्त यथावत् ब्रह्मचर्य करता है, उसके प्राण अनुकूल होकर सकल विद्याओं का ग्रहण करते हैं ॥५॥

जो आचार्य और माता-पिता अपने सन्तानों को प्रथम वय में विद्या और गुणग्रहण के लिए तपस्वी कर और उसी का उपदेश करें, और वे सन्तान आप-ही-आप अखण्डित ब्रह्मचर्य सेवन से तीसरे उत्तम ब्रह्मचर्य का सेवन करके पूर्ण अर्थात् चारसौ वर्ष पर्यन्त आयु को बढ़ावें, वैसे तुम भी बढ़ाओ। क्योंकि जो मनुष्य इस ब्रह्मचर्य को प्राप्त होकर लोप नहीं करते, वे सब प्रकार के रोगों से रहित होकर धर्म अर्थ काम और मोक्ष को प्राप्त होते हैं ॥६॥

चतस्रोऽवस्था शरीरस्य वृद्धिर्यौवनं संपूर्णता किञ्चित्परिहाणिश्चेति। आषोडशाद् वृद्धिः। आपञ्चविंशतेर्यौवनम्। आचत्वारिंशतः संपूर्णता, ततः किञ्चित्परिहाणिश्चेति॥

पञ्चविंशे ततो वर्षे पुमान् नारी तु षोडशे।
समत्वागतवीर्यौ तौ जानीयात् कुशलो भिषक्॥

यह सुश्रुत के सूत्रस्थान का वचन है[1]।

---

१. तुलना करो—सुश्रुत सूत्रस्थान ३५।२५॥ संप्रति उपलब्ध पाठ में भिन्नता है। सुश्रुत का एक वृद्ध पाठ भी था। **वृद्ध सुश्रुत** के अनेक पाठ प्राचीन ग्रन्थों में उद्धृत मिलते हैं। यही पाठ स०प्र० सं० १ पृष्ठ १०१; सं०

इस शरीर की चार अवस्था हैं। एक **वृद्धि**—जो १६ वें वर्ष से लेके २५ वें वर्षपर्यन्त सब धातुओं की बढ़ती होती है। दूसरी **यौवन**—जो २५ वें वर्ष के अन्त और २६ वें वर्ष के आदि में युवावस्था का आरम्भ होता है। तीसरी **सम्पूर्णता**—जो पच्चीसवें वर्ष से लेके चालीसवें वर्षपर्यन्त सब धातुओं की पुष्टि होती है। चौथी **किञ्चित्परिहाणि**—जब सब साङ्गोपाङ्ग शरीरस्थ सकल धातु पुष्ट होके पूर्णता को प्राप्त होते हैं, तदनन्तर जो धातु बढ़ता है वह शरीर में नहीं रहता, किन्तु स्वप्न प्रस्वेदादि द्वारा से बाहर निकल जाता है। वही ४० वां वर्ष उत्तम समय विवाह का है, अर्थात् उत्तमोत्तम तो अड़तालोसवें वर्ष में विवाह करना।

प्रश्न—क्या यह ब्रह्मचर्य का नियम स्त्री वा पुरुष दोनों का तुल्य ही है?

उत्तर—नहीं, जो २५ वर्ष पर्यन्त पुरुष ब्रह्मचर्य करे तो १६ सोलह वर्षपर्यन्त कन्या; जो पुरुष ३० तोस वर्षपर्यन्त ब्रह्मचारी रहै तो स्त्री १७ वर्ष; जो पुरुष ३६ वर्ष तक रहै तो स्त्री १८ वर्ष; जो पुरुष ४० वर्षपर्यन्त ब्रह्मचर्य करे तो स्त्री २० वर्ष; जो पुरुष ४४ वर्षपर्यन्त ब्रह्मचर्य करे तो स्त्री २२ वर्ष; जो पुरुष ४८ वर्ष ब्रह्मचर्य करे तो स्त्री २४ चौवीस वर्ष पर्यन्त ब्रह्मचर्य सेवन रक्खे। अर्थात् ४८ वें वर्ष से आगे पुरुष और २४ वें वर्ष से आगे स्त्री को ब्रह्मचर्य न रखना चाहिए।

परन्तु यह नियम विवाह करने वाले पुरुष और स्त्रियों का है। और जो विवाह करना ही न चाहैं, वे मरणपर्यन्त ब्रह्मचारी रह [सक]ते हों तो भले ही रहैं। परन्तु यह काम पूर्णविद्या वाले जितेन्द्रिय और निर्दोष योगी स्त्री और पुरुष का है। यह बड़ा कठिन काम है कि जो काम के वेग को थांभ के इन्द्रियों को अपने[1] वश में रखना।

वि० सं० २ वेदारम्भ संस्कार पृष्ठ ८३ तथा पूनाप्रवचन व्याख्यान ४ में मिलता है। सं० वि० के गर्भाधान संस्कार में 'आचतुर्विंशतेर्यौवनम्' पाठ है, पर अर्थ 'पच्चीसवें वर्ष से' ऐसा मिलता है। सं० २ में पते में 'शरीरस्थान' पाठ है। १. सं० २ में 'आप' पाठ है।

ऋतं च स्वाध्यायप्रवचने च। सत्यं च स्वाध्यायप्रवचने च। तपश्च स्वाध्यायप्रवचने च। दमश्च स्वाध्यायप्रवचने च। शमश्च स्वाध्यायप्रवचने च। अग्नयश्च स्वाध्यायप्रवचने च। अग्निहोत्रञ्च स्वाध्यायप्रवचने च। अतिथयश्च स्वाध्यायप्रवचने च। मानुषं च स्वाध्यायप्रवचने च। प्रजा च स्वाध्यायप्रवचने च। प्रजनश्च स्वाध्यायप्रवचने च। प्रजातिश्च स्वाध्यायप्रवचने च॥

यह तैत्तिरीयोपनिषद् का वचन है[1]।

ये पढ़ने-पढ़ानेवालों के नियम हैं—(ऋतं०) यथार्थ आचरण से पढ़ें और पढ़ावें। (सत्यं०) सत्याचार से सत्यविद्याओं को पढ़ें वा पढ़ावें। (तपः०) तपस्वी अर्थात् धर्मानुष्ठान करते हुए वेदादि-शास्त्रों को पढ़ें और पढ़ावें। (दमः०) बाह्य इन्द्रियों को बुरे आचरणों से रोक के पढ़ें और पढ़ाते जायें। (शमः०) अर्थात् मन की वृत्ति को सब प्रकार के दोषों से हटाके पढ़ते पढ़ाते जायें। (अग्नयः०) आहवनीयादि अग्नि और विद्युत् आदि को जानके पढ़ते-पढ़ाते जायें। और (अग्निहोत्रं०) अग्निहोत्र करते हुए पठन और पाठन करें-करावें। (अतिथयः०) अतिथियों की सेवा करते हुए पढ़ें और पढ़ावें। (मानुषं०) मनुष्य-सम्बन्धी व्यवहारों को यथायोग्य [करते हुए] पढ़ते-पढ़ाते रहैं। (प्रजा०) अर्थात् सन्तान और राज्य का पालन करते हुए पढते-पढ़ाते जायें। (प्रजन०) [वीर्य] की रक्षा और वृद्धि करते हुए पढ़ते-पढ़ाते जायें। (प्रजातिः०) अर्थात् अपने सन्तान और शिष्य का पालन करते हुए पढ़ते-पढ़ाते जायें।

यमान् सेवेत सततं न नियमान् केवलान् बुधः[2]।
यमान् पतत्यकुर्वाणो नियमान् केवलान् भजन्॥ मनु०[3]

यम पांच प्रकार के होते हैं—

तत्राहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः॥ योगसूत्र[4]

---

१. तै० शिक्षा वल्ली अनु० ९॥ २. यही पाठ संस्कार विधि वेदारम्भ सं० पृष्ठ १३६, रालाकट्र संस्करण ३ में है, किन्तु मनु० में **'न नित्यं नियमान् बुधः'** ऐसा पाठ मिलता है। ३. मनु० ४।२०४॥ ४. योग २।३०॥ सूत्र के आरम्भ में पठित 'तत्र' पद को कई व्याख्याता सूत्रांश नहीं मानते।

अर्थात् (अहिंसा) वैरत्याग, (सत्य) सत्य मानना सत्य बोलना और सत्य ही करना, (अस्तेय) अर्थात् मन वचन कर्म से चोरीत्याग, (ब्रह्मचर्य) अर्थात् उपस्थेन्द्रिय का संयम, (अपरिग्रह) अत्यन्त लोलुपता स्वत्वाभिमानरहित होना। इन पांच यमों का सेवन सदा करें।

केवल नियमों का सेवन, अर्थात्—

शौचसन्तोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः ।। योगसूत्र[1]

(शौच) अर्थात् स्नानादि से पवित्रता, (सन्तोष) सम्यक् प्रसन्न होकर निरुद्यम रहना सन्तोष नहीं, किन्तु पुरुषार्थ जितना होसके उतना करना, हानि-लाभ में हर्ष वा शोक न करना, (तपः) अर्थात् कष्टसेवन से भी धर्मयुक्त कर्मों का अनुष्ठान, (स्वाध्याय) पढ़ना-पढ़ाना, (ईश्वरप्रणिधान) ईश्वर की भक्ति-विशेष से आत्मा को अर्पित रखना, ये पांच **नियम** कहाते हैं।

यमों के विना केवल इन नियमों का सेवन न करे, किन्तु इन दोनों का सेवन किया करे। जो यमों के सेवन [को] छोड़के केवल नियमों का सेवन करता है, वह उन्नति को नहीं प्राप्त होता, किन्तु अधोगति अर्थात् संसार में गिरा रहता है।

कामात्मता न प्रशस्ता न चैवेहास्त्यकामता ।
काम्यो हि वेदाधिगमः कर्मयोगश्च वैदिकः ।। मनु०[2]

अर्थ—अत्यन्त कामातुरता और निष्कामता किसी के लिए भी श्रेष्ठ नहीं। क्योंकि जो कामना न करे तो वेदों का ज्ञान और वेदविहितकर्मादि उत्तम कर्म किसी से न हो सकें।

इसलिए—

स्वाध्यायेन व्रतैर्होमैस्त्रैविद्येनेज्यया सुतैः ।
महायज्ञैश्च यज्ञैश्च ब्राह्मीयं क्रियते तनुः ।। मनु०[3]

अर्थ—(स्वाध्याय) सकल विद्या पढ़ने-पढ़ाने, (व्रत) ब्रह्मचर्य सत्यभाषणादिनियम पालने, (होम) अग्निहोत्रादि होम, सत्य का

१. योग० २।३२।। २. मनु० २।२।। ३. मनु० २।२८।।

ग्रहण, असत्य का त्याग और सत्य विद्याओं का दान देने, (त्रैविद्येन) वेदस्थ कर्मोपासना, ज्ञान, विद्या के ग्रहण, (इज्यया) पक्षेष्ट्यादि करने, (सुतैः) सुसन्तानोत्पत्ति, (महायज्ञैः) ब्रह्म, देव, पितृ, वैश्वदेव और अतिथियों के सेवनरूप पंच महायज्ञ, और (यज्ञैः) अग्निष्टोमादि तथा शिल्पविद्या-विज्ञानादि यज्ञों के सेवन से इस शरीर को ब्राह्मी अर्थात् वेद और परमेश्वर की भक्ति का आधार[ण[रूप ब्राह्मण का शरीर बनाना[1] है। इतने साधनों के विना ब्राह्मण शरीर नहीं बन सकता।

इन्द्रियाणां विचरतां विषयेष्वपहारिषु।
संयमे यत्नमातिष्ठेद्विद्वान् यन्तेव वाजिनाम्॥मनु०[2]

अर्थ—जैसे विद्वान् सारथि घोड़ों को नियम में रखता है, वैसे मन और आत्मा को खोटे कामों में खैंचने वाले विषयों में विचरती हुई इन्द्रियों के निग्रह में प्रयत्न सब प्रकार से करे।

क्योंकि—

इन्द्रियाणां प्रसङ्गेन दोषमृच्छत्यसंशयम्।
सन्नियम्य तु तान्येव ततः सिद्धिं नियच्छति॥ मनु०[3]

अर्थ—जीवात्मा इन्द्रियों के वश [में] होके निश्चित बड़े-बड़े दोषों को प्राप्त होता है। और जब इन्द्रियों को अपने वश [में] करता है, तभी सिद्धि को प्राप्त होता है।

वेदास्त्यागश्च यज्ञाश्च नियमाश्च तपांसि च।
न विप्रदुष्टभावस्य सिद्धिं गच्छन्ति कर्हिचित्॥ मनु०[4]

जो दुष्टाचारी, अजितेन्द्रिय पुरुष है, उसके वेद, त्याग, यज्ञ, नियम और तप तथा अन्य अच्छे काम कभी सिद्धि को नहीं प्राप्त होते।

वेदोपकरणे चैव स्वाध्याये चैव नैत्यके।
नानुरोधोऽस्त्यनध्याये होममन्त्रेषु चैव हि॥१॥

---

१. संस्करण २ में 'बनना' पाठ है। कुछ संस्करणों में 'किया जाता' ऐसा परिवर्तित पाठ मिलता है।
२. मनु० २।८८॥
३. मनु० २।९३॥
४. मनु० २।९७॥

नैत्यके नास्त्यनध्यायो ब्रह्मसत्रं हि तत् स्मृतम् ।
ब्रह्माहुतिहुतं पुण्यमनध्यायवषट्कृतम् ॥२॥ मनु०[1]

वेद के पढ़ने-पढ़ाने, सन्ध्योपासनादि पञ्च महायज्ञों के करने, और होममन्त्रों में अनध्याय-विषयक अनुरोध आग्रह नहीं है ॥१॥

क्योंकि नित्यकर्म में अनध्याय नहीं होता । जैसे श्वास-प्रश्वास सदा लिए जाते हैं, बन्ध[2] नहीं किये जाते[3]; वैसे नित्यकर्म प्रतिदिन करना चाहिये, न किसी दिन छोड़ना। क्योंकि अनध्याय में भी अग्नि-होत्रादि उत्तम कर्म किया हुआ पुण्यरूप होता है । जैसे झूठ बोलने में सदा पाप और सत्य बोलने में सदा पुण्य होता हैं, वैसे ही बुरे कर्म करने में सदा अनध्याय और अच्छे कर्म करने में सदा स्वाध्याय ही होता है ॥२॥

अभिवादनशीलस्य नित्यं वृद्धोपसेविन: ।
चत्वारि तस्य वर्द्धन्त[4] आयुर्विद्या यशो बलम् ॥ मनु०[5]

जो सदा नम्र, सुशोल, विद्वान् और वृद्धों की सेवा करता है, उसका आयु, विद्या, कीर्ति और बल ये चार सदा बढ़ते हैं । और जो ऐसा नहीं करते उनके आयु आदि चार नहीं बढ़ते ।

अहिंसयैव भूतानां कार्यं श्रेयोऽनुशासनम् ।
वाक् चैव मधुरा श्लक्ष्णा प्रयोज्या धर्ममिच्छता ॥१॥
यस्य वाङ्मनसे[6] शुद्धे सम्यग्गुप्ते च सर्वदा ।
स वै सर्वमवाप्नोति वेदान्तोपगतं फलम् ॥२॥ मनु०[7]

विद्वान् और विद्यार्थियों को योग्य है कि वैरबुद्धि छोड़के सब मनुष्यों के कल्याण के मार्ग का उपदेश करें । और उपदेष्टा सदा मधुर सुशीलतायुक्त वाणी बोलें । जो धर्म की उन्नति चाहै वह सदा सत्य में चलें, और सत्य ही का उपदेश करे ॥१॥

---

१. मनु० २।१०५,१०६॥ २. द्र० पूर्व पृष्ठ ५, टि० ३ ।
३. कुछ संस्करणों में 'जा सकते' परिवर्तित पाठ है ।
४. मनु० में 'वर्धन्ते सन्धिरहित पाठ है । ५. मनु० २।१२१॥
६. मनु० में 'वाङ्मनसी' पाठ मिलता है । ७. मनु० २।१५९,१६०॥

जिस मनुष्य के वाणी और मन शुद्ध तथा सुरक्षित सदा रहते हैं, वही सब वेदान्त अर्थात् सब वेदों के सिद्धान्तरूप फल को प्राप्त होता है ॥२॥

सम्मानाद् ब्राह्मणो नित्यमुद्विजेत विषादिव ।
अमृतस्येव चाकाङ्क्षेदवमानस्य सर्वदा ॥ मनु०[1]

वही ब्राह्मण समग्र वेद और परमेश्वर को जानता है, जो प्रतिष्ठा से विष के तुल्य सदा डरता है, और अपमान की इच्छा अमृत के समान किया करता है ।

अनेन क्रमयोगेन संस्कृतात्मा द्विजः शनैः ।
गुरौ वसन् संश्चिनुयाद्[2] **ब्रह्माधिगमिकं तपः ॥मनु०**[3]

इसी प्रकार से कृतोपनयन द्विज ब्रह्मचारी कुमार और ब्रह्मचारिणी कन्या धीरे-धीरे वेदार्थ के ज्ञानरूप उत्तम तप को बढ़ाते चले जायें ।

योऽनधीत्य द्विजो वेदमन्यत्र कुरुते श्रमम् ।
स जीवन्नेव शूद्रत्वमाशु गच्छति सान्वयः ॥मनु०[4]

जो वेद को न पढ़के अन्यत्र श्रम किया करता है, वह अपने पुत्र-पौत्र सहित शूद्रभाव को शीघ्र ही प्राप्त हो जाता है ।

वर्जयेन्मधुमांसञ्च गन्धं माल्यं रसान् स्त्रियः ।
शुक्तानि यानि सर्वाणि प्राणिनां चैव हिंसनम् ॥१॥
अभ्यङ्गमञ्जनं चाक्ष्णोरुपानच्छत्रधारणम् ।
कामं क्रोधं च लोभं च नर्त्तनं गीतवादनम् ॥२॥
द्यूतं च जनवादं च परिवादं तथाऽनृतम् ।
स्त्रीणां च प्रेक्षणालम्भमुपघातं परस्य च ॥३॥
एकः शयीत सर्वत्र न रेतः स्कन्दयेत् क्वचित् ।
कामाद्धि स्कन्दयन् रेतो हिनस्ति व्रतमात्मनः ॥४॥ मनु०[5]

---

१. मनु० २।१६२॥ २. मनु० में 'संचिनुयात्' पाठ है । यदि 'वसन् सन् चिनुयात्' विग्रह करें, तो सत्यार्थप्रकाश संस्करण २ का पाठ उपयुक्त हो सकता है । ३. मनु० २।१६४॥
४. मनु० २।१६८॥ ५. मनु० २।१७७–१८०॥

ब्रह्मचारी और ब्रह्मचारिणी मद्य, मांस, गन्ध, माला, रस, स्त्री और पुरुष का संग, सब खटाई, प्राणियों की हिंसा ॥१॥

अंगों का मर्दन, विना निमित्त उपस्थेन्द्रिय का स्पर्श, आंखों में अंजन, जूते और छत्र का धारण, काम क्रोध, लोभ मोह, भय शोक, ईर्ष्या द्वेष, नाच-गान और बाजा बजाना ॥२॥

द्यूत, जिस किसी की कथा, निन्दा, मिथ्याभाषण, स्त्रियों का दर्शन, आश्रय, दूसरे की हानि आदि कुकर्मों को सदा छोड़ देवें ॥३॥

सर्वत्र एकाकी सोवें, वीर्य स्खलित कभी न करें। जो कामना से वीर्य स्खलित कर दे, तो जानो कि अपने ब्रह्मचर्य व्रत का नाश कर दिया ॥४॥

वेदमनूच्याचार्योऽन्तेवासिनमनुशास्ति — सत्यं वद। धर्मं चर। स्वाध्यायान्मा प्रमदः। आचार्याय प्रियं धनमाहृत्य प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेत्सीः। सत्यान्न प्रमदितव्यम्। [धर्मान्न प्रमदितव्यम्।][1] कुशलान्न प्रमदितव्यम्। [भूत्यै न प्रमदितव्यम्।][2] स्वाध्यायप्रवचनाभ्यां न प्रमदितव्यम् ॥१॥ देवपितृकार्याभ्यां न प्रमदितव्यम्। मातृदेवो भव। पितृदेवो भव। आचार्यदेवो भव। [अतिथिदेवो भव।][1] यान्यनवद्यानि कर्माणि तानि सेवितव्यानि नो इतराणि। यान्यस्माकं सुचरितानि तानि त्वयोपास्यानि नो इतराणि। ये के चास्मच्छ्रेयांसो ब्राह्मणास्तेषां त्वयासनेन[3] प्रश्वसितव्यम्। श्रद्धया देयम्। अश्रद्धया देयम्। श्रिया देयम्। ह्रिया देयम्। भिया देयम्। संविदा देयम्। अथ यदि ते कर्मविचिकित्सा वा वृत्तविचिकित्सा[4] वा स्यात् ॥२-३॥ ये तत्र ब्राह्मणाः समदर्शिनो[5] युक्ता

---

१. संस्करण २ में मुद्रण में छूटा हुआ पाठ, इसकी भाषा है।

२. भाषा भी सं० २ में नहीं है।

३. संस्करण २ में 'त्वया सेवनेन' पाठ है। भाषा 'त्वयासनेन' की है।

४. संस्करण २ में 'व्रतविचिकित्सा' पाठ है।

५. तै० उप० में 'सम्मर्शिनो' पाठ है। ऋ० भाष्य भू० (रालाकट्र संस्करण पृ० ११६) में 'सम्मर्शिनो' पाठ मिलता है। परन्तु पृ० १२२ पर 'पक्षपातरहितानां' व्याख्या 'समदर्शिनः' की प्रतीत होती है। स० प्र० संस्करण २ में भाषा में 'समदर्शी' ही पाठ है।

अयुक्ता[1] अलूक्षा धर्मकामाः स्युर्यथा ते तत्र वर्त्तेरन्, तथा तत्र वर्तेथाः। एष आदेश [एष उपदेश][2] एषा वेदोपनिषत्। एतदनुशासनम्। एवमुपासितव्यम्। एवमु चैतदुपास्यम् ॥४॥ तैत्तिरीय०[3]

आचार्य अन्तेवासी अर्थात् अपने शिष्य और शिष्याओं को इस प्रकार उपदेश करे कि—'तू सदा सत्य बोल, धर्माचार कर, प्रमादरहित होके पढ़-पढ़ा, पूर्ण ब्रह्मचर्य से समस्त विद्याओं को ग्रहण [कर।] और आचार्य के लिए प्रिय धन देकर विवाह करके सन्तानोत्पत्ति कर। प्रमाद से सत्य को कभी मत छोड़, प्रमाद से धर्म का त्याग मत कर। प्रमाद से आरोग्य और चतुराई को मत छोड़, [प्रमाद से उत्तम ऐश्वर्य की वृद्धि को मत छोड़।] प्रमाद से पढ़ने और पढ़ाने को कभी मत छोड़ ॥१॥

देव-विद्वान् और माता-पितादि की सेवा में प्रमाद मत कर। जैसे विद्वान् का सत्कार करे, उसी प्रकार माता-पिता, आचार्य और अतिथि की सेवा सदा किया कर। जो अनिन्दित धर्मयुक्त कर्म हैं, उन सत्यभाषणादि को किया कर, उनसे भिन्न मिथ्याभाषणादि कभी मत कर। जो हमारे सुचरित्र अर्थात् धर्मयुक्त कर्म हों उनका ग्रहण कर, और जो हमारे पापाचरण [हों] उनको कभी [ग्रहण] मत कर।

जो कोई हमारे मध्य में उत्तम विद्वान् धर्मात्मा ब्राह्मण हैं, उन्हीं के समीप बैठ, और उन्हीं का विश्वास किया कर। श्रद्धा से देना, अश्रद्धा से देना, शोभा से देना, लज्जा से देना, भय से देना और प्रतिज्ञा से भी देना चाहिए। जब कभी तुझको कर्म वा शील तथा उपासना ज्ञान में किसी प्रकार का संशय उत्पन्न हो ॥२-३॥

---

१. तै० उप० में 'आयुक्ता' पाठ है। ऋ० भाष्य भू० संस्करण १ में मुद्रित 'अयुक्ता' का संशोधनपत्र में 'आयुक्ता' पाठ दर्शाया है (द्र० गलाकट्र संस्करण पृष्ठ ११६ टि० २)। स० प्र० में भाषा 'अयुक्ता' पाठ की ही है।

२. द्र० पृष्ठ ५० की टि० ३।

३. तै० उ० शिक्षा० ११॥

तो जो वे समदर्शी[1] पक्षपातरहित योगी, अयोगी, आर्द्रचित्त, धर्म की कामना करने वाले धर्मात्मा जन हों, जैसे वे धर्ममार्ग में वर्त्तें वैसे तू भी उसमें वर्त्ता कर। यही आदेश=आज्ञा, यही उपदेश, यही वेद की उपनिषत् और यही शिक्षा है। इसी प्रकार वर्त्तना और अपना[2] चालचलन सुधारना चाहिए ॥४॥

अकामस्य क्रिया काचिद् दृश्यते नेह कर्हिचित्।
यद्यद्धि कुरुते किञ्चित् तत्तत्कामस्य चेष्टितम् ॥ मनु०[3]

मनुष्यों को निश्चय करना चाहिए कि निष्काम पुरुष में नेत्र का संकोच-विकाश का होना भी सर्वथा असम्भव है। इससे यह सिद्ध होता है कि जो-जो कुछ भी करता है, वह-वह चेष्टा कामना के विना नहीं है।

आचारः परमो धर्मः श्रुत्युक्तः स्मार्त्त एव च।
तस्मादस्मिन्सदा युक्तो नित्यं स्यादात्मवान् द्विजः ॥१॥
आचाराद्विच्युतो विप्रो न वेदफलमश्नुते।
आचारेण तु संयुक्तः सम्पूर्णफलभाग् भवेत् ॥२॥ मनु०[4]

कहने, सुनने-सुनाने, पढ़ने-पढ़ाने का फल यही है कि जो वेद और वेदानुकूल स्मृतियों में प्रतिपादित धर्म का आचरण करना। इस लिए धर्माचार में सदा युक्त रहैं ॥१॥

क्योंकि जो धर्माचरण से रहित है, वह वेदप्रतिपादित धर्मजन्य सुखरूप फल को प्राप्त नहीं हो सकता। और जो विद्या पढ़के धर्माचरण करता है, वही सम्पूर्ण सुख को प्राप्त होता है ॥२॥

योऽवमन्येत ते मूले हेतुशास्त्राश्रयाद् द्विजः।
स साधुभिर्बहिष्कार्यो नास्तिको वेदनिन्दकः ॥ मनु०[5]

जो वेद और वेदानुकूल आप्त पुरुषों के किए शास्त्रों का अपमान करता है, उस वेदनिन्दक नास्तिक को जाति पंक्ति और देश से बाह्य कर देना चाहिए।

---

१. स० ३ में मूलपाठ में 'सम्मर्शिनो' बना कर भाषा म भी विचारशील' पाठ बदला है। २. सं० २ में 'अपनी' पाठ है।
३. मनु० २।४॥ ४. मनु० १।१०८,१०९॥ ५. मनु० २।११॥

क्योंकि—

श्रुतिः[1] स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः।
एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद्धर्मस्य लक्षणम् ॥ मनु०[2]

श्रुति=वेद,[3] स्मृति=वेदानुकूल आप्तोक्त मनुस्मृत्यादि शास्त्र, सत्पुरुषों का आचार जो सनातन अर्थात् वेदद्वारा परमेश्वर-प्रतिपादित कर्म, और अपने आत्मा में प्रिय, अर्थात् जिसको आत्मा चाहता है जैसा कि सत्य भाषण, ये चार **धर्म के लक्षण** अर्थात् इन्हीं से धर्माधर्म का निश्चय होता है। जो पक्षपातरहित न्याय सत्य का ग्रहण, असत्य का सर्वथा परित्यागरूप आचार है उसी का नाम **धर्म**, और इससे विपरीत जो पक्षपातसहित अन्यायाचरण, सत्य का त्याग और असत्य का ग्रहणरूप कर्म है उसी को **अधर्म** कहते हैं।

अर्थकामेष्वसक्तानां धर्मज्ञानं विधीयते।
धर्मं जिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः॥ मनु०[4]

जो पुरुष अर्थ=सुवर्णादि रत्न, और काम=स्त्रीसेवनादि में नहीं फंसते हैं, उन्हीं को धर्म का ज्ञान प्राप्त होता है। जो धर्म के ज्ञान की इच्छा करें, वे वेदद्वारा धर्म का निश्चय करें। क्योंकि धर्माऽधर्म का निश्चय विना वेद के ठीक-ठीक नहीं होता।

इस प्रकार आचार्य्य अपने शिष्य को उपदेश करे। और विशेषकर राजा इतर क्षत्रिय, वैश्य और उत्तम शूद्रजनों को भी विद्या का अभ्यास अवश्य करावे। क्योंकि जो ब्राह्मण हैं वे ही केवल विद्याभ्यास करें और क्षत्रियादि न करें, तो विद्या, धर्म, राज्य और धनादि की वृद्धि कभी नहीं हो सकती। क्योंकि ब्राह्मण तो केवल पढ़ने-पढ़ाने और क्षत्रियादि से जीविका को प्राप्त होके जीवन धारण कर सकते हैं। जीविका के आधीन और क्षत्रियादि के आज्ञादाता और यथावत् परीक्षक दण्डदाता न होने से ब्राह्मणादि सब वर्ण पाखण्ड ही में फंस

---

१. मनु० में 'वेदः' पाठ है। २. मनु० २।१२॥

३. संस्करण ३ में मनु के श्लोक में 'श्रुतिः' पाठ बदलकर यहां भाषा में भी 'श्रुति' पद हटाया। ४. मनु० २।१३॥

जाते हैं। और जब क्षत्रियादि विद्वान् होते हैं, तब ब्राह्मण भी अधिक विद्याभ्यास और धर्मपथ में चलते हैं, और उन क्षत्रियादि विद्वानों के सामने पाखण्ड=झूठा व्यवहार भी नहीं कर सकते। और जब क्षत्रियादि अविद्वान् होते हैं, तो वे जैसा अपने मन में आता है, वैसा ही करते-कराते हैं।

इसलिए ब्राह्मण भी अपना कल्याण चाहें तो क्षत्रियादि को वेदादि सत्यशास्त्र का अभ्यास अधिक प्रयत्न से करावें। क्योंकि क्षत्रियादि ही विद्या, धर्म, राज्य और लक्ष्मी की वृद्धि करनेहारे हैं। वे कभी भिक्षावृत्ति नहीं करते, इसलिये वे विद्या-व्यवहार में पक्षपाती भी नहीं हो सकते। और जब सब वर्णों में विद्या सुशिक्षा होती है, तब कोई भी पाखण्डरूप अधर्म-युक्त मिथ्या-व्यवहार को नहीं चला सकता। इससे क्या सिद्ध हुआ कि क्षत्रियादि को नियम में चलाने वाले ब्राह्मण और संन्यासी, तथा ब्राह्मण और संन्यासी को सुनियम में चलाने वाले क्षत्रियादि होते हैं। इसलिए सब वर्णों के स्त्री-पुरुषों में विद्या और धर्म का प्रचार अवश्य होना चाहिए।

अब जो-जो पढ़ना-पढ़ाना हो, वह-वह अच्छी प्रकार परीक्षा करके होना योग्य है। **परीक्षा** पांच प्रकार से होती है—

एक—जो-जो ईश्वर के गुण कर्म स्वभाव और वेदों से अनुकूल हो वह-वह सत्य, और उससे विरुद्ध असत्य है।

दूसरी जो-जो सृष्टिक्रम से अनुकूल वह-वह सत्य, और जो-जो सृष्टिक्रम से विरुद्ध है वह-वह असत्य है। जैसे कोई कहे [कि] विना माता-पिता के योग से लड़का उत्पन्न हुआ। ऐसा कथन सृष्टिक्रम से विरुद्ध होने से सर्वथा असत्य है।

तीसरी—'आप्त' अर्थात् जो धार्मिक विद्वान्, सत्यवादी, निष्कपटियों का संग उपदेश के अनुकूल है। वह-वह ग्राह्य और जो-जो विरुद्ध वह-वह अग्राह्य है।

चौथी—अपने आत्मा की पवित्रता विद्या के अनुकूल, अर्थात् जैसा अपने को सुख प्रिय और दुःख अप्रिय है, वैसे ही सर्वत्र समझ

लेना कि—'मैं भी किसी को दुःख वा सुख दूंगा, तो वह भी अप्रसन्न और प्रसन्न होगा'।

और **पांचवीं**—आठों **प्रमाण**, अर्थात् प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, ऐतिह्य, अर्थापत्ति, सम्भव और अभाव।

इनमें से प्रत्यक्ष के लक्षणादि में जो-जो सूत्र नीचे लिखेंगे, वे-वे सब न्यायशास्त्र के प्रथम और द्वितीय अध्याय के जानो—

इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानमव्यपदेश्यमव्यभिचारि व्यवसायात्मकं प्रत्यक्षम् ॥ न्याय० अध्याय १। आह्निक १। सूत्र ४॥

जो श्रोत्र, त्वचा, चक्षु, जिह्वा और घ्राण का शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध के साथ अव्यवहित अर्थात् आवरण[1] रहित सम्बन्ध होता है, इन्द्रियों के साथ मन का और मन के साथ आत्मा के संयोग से [जो] ज्ञान उत्पन्न होता है, उसको '**प्रत्यक्ष**' कहते हैं। परन्तु जो व्यपदेश्य अर्थात् संज्ञासंज्ञी के सम्बन्ध से उत्पन्न होता है, वह-वह ज्ञान न हो। जैसा किसी ने किसी से कहा कि 'तू जल ले आ'। वह लाके उसके पास धर के बोला कि 'यह जल है'। परन्तु वहां 'जल' इन दो अक्षरों की संज्ञा लाने वा मंगवाने वाला नहीं देख सकता है। किन्तु जिस पदार्थ का नाम जल है, वही प्रत्यक्ष होता है, और जो शब्द से ज्ञान उत्पन्न होता है, वह शब्द प्रमाण का विषय है। 'अव्यभिचारि' जैसे किसी ने रात्रि में खम्भे को देखके पुरुष का निश्चय कर लिया, जब दिन में उसको देखा तो रात्रि का पुरुषज्ञान नष्ट होकर स्तम्भज्ञान रहा, ऐसे विनाशी ज्ञान का नाम व्यभिचारी है, [सो प्रत्यक्ष नहीं कहाता][2]। 'व्यवसायात्मक' किसी ने दूर से नदी की बालू को देखके कहा कि—'वहां वस्त्र सूख रहे हैं, जल है वा और कुछ है'; 'वह देवदत्त खड़ा है वा यज्ञदत्त'। जब तक एक निश्चय न हो तबतक वह प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं है। किन्तु जो अव्यपदेश्य, अव्यभिचारी और निश्चयात्मक ज्ञान है, उसी को '**प्रत्यक्ष**' कहते हैं।

दूसरा अनुमान—

---

१. सं० २ में 'आवर्ण' पाठ है। २. इसके विना यहां अर्थ अस्पष्ट रहता है।

अथ तत्पूर्वकं त्रिविधमनुमानं पूर्ववच्छेषवत्सामान्यतोदृष्टञ्च ।
न्याय० अ० १ । आ० १ । सू० ५ ।

जो प्रत्यक्षपूर्व[क] अर्थात् जिसका कोई एक देश वा सम्पूर्ण द्रव्य किसी स्थान वा काल में प्रत्यक्ष हुआ हो, उसका दूर देश से सहचारी एकदेश के प्रत्यक्ष होने से अदृष्ट अवयवी का ज्ञान होने को **'अनुमान'** कहते हैं। जैसे पुत्र को देखके पिता, पर्वतादि में धूम को देखके अग्नि, जगत् में सुख-दुःख देखके पूर्वजन्म का ज्ञान होता है।

वह अनुमान तीन प्रकार का है—

एक—**'पूर्ववत्'** जैसे बद्दलों को देखके वर्षा, विवाह को देखके सन्तानोत्पत्ति, पढ़ते हुए विद्यार्थियों को देखके विद्या होने का निश्चय होता है, इत्यादि जहां-जहां कारण को देखके कार्य का ज्ञान हो, वह 'पूर्ववत्'।

दूसरा—**'शेषवत्'** अर्थात् जहां कार्य को देखके कारण का ज्ञान हो। जैसे नदी के प्रवाह की बढ़ती देख[के]ऊपर हुई वर्षा का, पुत्र को देखके पिता का, सृष्टि को देखके अनादि-कारण का तथा कर्त्ता ईश्वर का, और पाप-पुण्य के आचरण देखके सुख-दुःख का ज्ञान होता है[1], इसी को 'शेषवत्' कहते हैं।

तीसरा—**'सामान्यतोदृष्ट'** जो कोई किसी का कार्य-कारण न हो, परन्तु किसी प्रकार का साधर्म्य एक-दूसरे के साथ हो। जैसे कोई भी विना चले दूसरे स्थान को नहीं जा सकता, वैसे ही दूसरों की भी स्थानान्तर में जाना विना गमन के कभी नहीं हो सकता। अनुमान शब्द का अर्थ यही है कि 'अनु अर्थात् प्रत्यक्षस्य पश्चान्मीयते ज्ञायते येन तदनुमानम्' जो प्रत्यक्ष के पश्चात् उत्पन्न हो। जैसे धूम के प्रत्यक्ष देखे विना अदृष्ट अग्नि का ज्ञान कभी नहीं हो सकता।

तीसरा उपमान—

---

१. यहां कार्य को देखकर कारण के अनुमान के उदाहरण दिये हैं। अतः यहां **"और सुख-दुःख देखके पाप-पुण्य के आचरण का ज्ञान होता है'** ऐसा पाठ होना चाहिये।

प्रसिद्धसाधर्म्यात्साध्यसाधनमुपमानम् ।।

न्याय० अ० १ । आ० १ । सू० ६ ।।

जो प्रसिद्ध प्रत्यक्ष साधर्म्य से साध्य अर्थात् सिद्ध करने योग्य ज्ञान की सिद्धि करने का साधन हो, उसको '**उपमान**' कहते हैं । 'उपमीयते येन तदुपमानम्' जैसे किसी ने किसी भृत्य से कहा कि—'तू देवदत्त के सदृश[1] विष्णुमित्र को बुला ला'। वह बोला कि 'मैंने उसको कभी नहीं देखा'। उसके स्वामी ने कहा कि 'जैसा यह देवदत्त है वैसा ही वह विष्णुमित्र है' । वा 'जैसी यह गाय है वैसा ही गवय अर्थात् नील गाय होता[2] है ।' जब वह वहां गया, और देवदत्त के सदृश उस को देख निश्चय कर लिया कि यही विष्णुमित्र है उसको ले आया । अथवा किसी जंगल में जिस पशु को गाय के तुल्य देखा, उसको निश्चय कर लिया कि इसी का नाम गवय है ।

चौथा शब्दप्रमाण—

आप्तोपदेशः शब्दः ।। न्याय० अ० १ । आ० १ । सू० ७ ।।

जो आप्त अर्थात् पूर्ण विद्वान्, धर्मात्मा, परोपकारप्रिय, सत्यवादी, पुरुषार्थी, जितेन्द्रिय पुरुष जैसा अपने आत्मा में जानता हो, और जिससे सुख पाया हो, उसी के कथन की इच्छा से प्रेरित सब मनुष्यों के कल्याणार्थ उपदेष्टा हो, अर्थात् जितने पृथिवी से लेके परमेश्वरपर्यन्त पदार्थों का ज्ञान प्राप्त होकर उपदेष्टा होता है । जो ऐसे पुरुष और पूर्ण आप्त परमेश्वर के उपदेश वेद हैं,उन्हीं को शब्द-प्रमाण जानो ।

पांचवां ऐतिह्य—

न चतुष्ट्वमैतिह्यार्थापत्तिसम्भवाभावप्रामाण्यात् ।।[3]

न्याय० अ० २ । आ० २ । सू० १ ।।

---

१. 'देवदत्त के सदृश' यह पाठ यहां असम्बद्ध है । इसके होने पर उत्तर वाक्य 'जैसा यह ·· विष्णुमित्र है' व्यर्थ हो जाता है ।

२. 'गवय' के कारण पुंलिंग निर्देश है ।

३: **सूत्रार्थ**—ऐतिह्य, अर्थापत्ति, सम्भव और अभाव इन चार का भी प्रमाण होने से प्रमाण केवल चार ही नहीं हैं ।

जो इति ह अर्थात् इस प्रकार का था, उसने इस प्रकार किया, अर्थात् किसी के जीवन-चरित्र का नाम 'ऐतिह्य' है।

छठा अर्थापत्ति—

'अर्थादापद्यते सा अर्थापत्तिः'। केनचिदुच्यते—'सत्सु घनेषु वृष्टिः, सति कारणे कार्य्यं भवतीति, किमत्र प्रसज्यते—असत्सु घनेषु वृष्टिरसति कारणे [च] कार्य्यं न भवति' जैसे किसी ने किसी से कहा कि—'बद्दल के होने से वर्षा और कारण के होने से कार्य उत्पन्न होता है', इससे विना कहे यह दूसरी बात सिद्ध होती है कि—'विना बद्दल वर्षा और विना कारण [के] कार्य्य कभी नहीं हो सकता'।

सातवां सम्भव—

'सम्भवति यस्मिन् स सम्भवः' कोई कहे कि—'माता-पिता के विना सन्तानोत्पत्ति [हुई]। किसी ने मृतक जिलाये, पहाड़ उठाये, समुद्र में पत्थर तराये, चन्द्रमा के टुकड़े किये, परमेश्वर का अवतार हुआ, मनुष्य के सींग देखे, और बन्ध्या के पुत्र और पुत्री का विवाह किया' इत्यादि सब असम्भव हैं। क्योंकि ये सब बातें सृष्टिक्रम से विरुद्ध हैं। जो बात सृष्टिक्रम के अनुकूल हो, वही '**सम्भव**' है।

आठवां अभाव—

'न भवन्ति यस्मिन् सोऽभावः' जैसे किसी ने किसी से कहा कि—'हाथी ले आ'। उसने वहां हाथी का अभाव देखकर जहां हाथी था वहां से ले आया।

ये आठ प्रमाण [हैं]। इनमें से जो शब्द में ऐतिह्य और अनुमान में अर्थापत्ति, सम्भव [और] अभाव की गणना करें, तो चार प्रमाण रह जाते हैं।

इन पांच प्रकार की परीक्षाओं से मनुष्य सत्यासत्य का निश्चय कर सकता है, अन्यथा नहीं।

धर्मविशेषप्रसूताद् द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायानां पदार्थानां [साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां][1] तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसम्॥

वैशेषिक अ० १। आ० १। सू० ४॥

---

१. यह पाठ संस्करण २ में छूटा, भाषार्थ विद्यमान है।

जब मनुष्य धर्म के यथायोग्य अनुष्ठान करने से पवित्र होकर, 'साधर्म्य' अर्थात् जो तुल्य धर्म है, जैसा पृथिवी जड़ और जल भी जड़, 'वैधर्म्य' अर्थात् पृथिवी कठोर और जल कोमल, इसी प्रकार से द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय इन[1] छः पदार्थों के तत्त्वज्ञान अर्थात् स्वरूपज्ञान से 'निःश्रेयसम्'=मोक्ष को प्राप्त होता है।

पृथिव्यापस्तेजोवायुराकाशं कालो दिगात्मा मन इति द्रव्याणि ॥
वै० अ० १। आ० १। सू० ५॥

पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश, काल, दिशा, आत्मा और मन ये नव 'द्रव्य' हैं।

क्रियागुणवत्समवायिकारणमिति द्रव्यलक्षणम् ॥
वै० अ० १। आ० १। सू० १५॥

'क्रियाश्च गुणाश्च विद्यन्ते यस्मिंस्तत् क्रियागुणवत्' जिसमें क्रियागुण और केवल गुण भी रहें, उसको 'द्रव्य' कहते हैं। उनमें से पृथिवी, जल, तेज, वायु, मन और आत्मा ये छः द्रव्य क्रिया और गुण वाले हैं। तथा आकाश, काल और दिशा ये तीन क्रियारहित गुणवाले हैं। **समवायि='समवेतुं शीलं यस्य तत् समवायि; प्राग्वृत्तित्वं कारणं; समवायि च तत्कारणं च समवायिकारणम्,' 'लक्ष्यते येन तल्लक्षणम्'**। जो मिलने के स्वभावयुक्त, कार्य से कारण पूर्वकालस्थ हो, उसी को 'द्रव्य' कहते हैं। जिससे लक्ष्य जाना जाय, जैसा आंख से रूप जाना जाता है, उसको 'लक्षण' कहते हैं।

रूपरसगन्धस्पर्शवती 'पृथिवी' ॥ वै० अ० २। आ० १। सू० १॥

रूप, रस, गन्ध, स्पर्शवाली **पृथिवी** है। उनमें रूप, रस और स्पर्श, अग्नि जल और वायु के योग से है।

व्यवस्थितः पृथिव्यां गन्धः ॥ वै० अ० २। आ० २ सू०। २॥

पृथिवी में गन्ध गुण स्वाभाविक है। वैसे ही जल में रस, अग्नि में रूप, वायु में स्पर्श और आकाश में शब्द स्वाभाविक है।

---

१. संस्करण २ में 'ये' पाठ है।

रूपरसस्पर्शवत्य आपो द्रवाः स्निग्धाः ॥

वै० अ० २। आ० १। सू० २॥

रूप, रस और स्पर्शवान्, द्रवीभूत और कोमल 'जल' कहाता है। परन्तु इनमें जल का रस स्वाभाविक गुण, तथा रूप स्पर्श अग्नि और वायु के योग से हैं।

अप्सु शीतता ॥ वै० अ० २। आ० २। सू० ५॥

और जल में शीतलत्व भी गुण स्वाभाविक है।

तेजो रूपस्पर्शवत् ॥ वै० अ० २। आ० १। सू० ३॥

जो रूप और स्पर्शवाला है, वह 'तेज' है। परन्तु इसमें रूप स्वाभाविक और स्पर्श वायु के योग से है।

स्पर्शवान् वायुः ॥ वै० अ० २। आ० १। सू० ४॥

स्पर्श गुणवाला 'वायु' है। परन्तु इसमें भी उष्णता शीतता, तेज और जल के योग से रहते हैं।

त आकाशे न विद्यन्ते ॥ वै० अ० २। आ० १। सू० ५॥

रूप, रस, गन्ध और स्पर्श आकाश में नहीं हैं, किन्तु शब्द ही आकाश का गुण है।

निष्क्रमणं प्रवेशनमित्याकाशस्य लिङ्गम् ॥

वै० अ० २। आ० १। सू० २०॥

जिसमें प्रवेश और निकलना होता है, वह 'आकाश' का लिङ्ग है।

कार्य्यान्तराप्रादुर्भावाच्च शब्दः स्पर्शवतामगुणः ॥

वै० अ० २। आ० १। सू० २५॥

अन्य पृथिवी आदि कार्यों से प्रकट न होने से शब्द, स्पर्श गुण-वाले भूमि आदि का गुण नहीं है, किन्तु शब्द आकाश ही का गुण है।

अपरस्मिन्नपरं युगपच्चिरं क्षिप्रमिति काललिङ्गानि ॥

वै० अ० २। आ० २। सू० ६॥

जिसमें अपर, पर, युगपत्=एकवार, चिरम्=विलम्ब, क्षिप्रम्=शीघ्र इत्यादि प्रयोग होते हैं, उसको 'काल' कहते हैं।

नित्येष्वभावादनित्येषु भावात् कारणे कालाख्येति ॥

वै० अ० २। आ० २। सू० ९॥

जो नित्य पदार्थों में न हो, और अनित्यों में हो, इसलिये कारण में ही काल संज्ञा है।

इत इदमिति यतस्तद् दिश्यं लिङ्गम् ॥

वै० अ० २। आ० २। सू० १०॥

यहां से यह पूर्व, दक्षिण, पश्चिम, उत्तर, ऊपर, नीचे जिसमें यह व्यवहार होता है, उसी को 'दिशा' कहते हैं।

आदित्यसंयोगाद् भूतपूर्वाद् भविष्यतो भूताच्च प्राची ॥

वै० अ० २। आ० २। सू० १४॥

जिस ओर प्रथम आदित्य का संयोग हुआ, है, होगा, उसको **पूर्व दिशा** कहते हैं। और जहां अस्त हो, उसको **पश्चिम** कहते हैं। पूर्वाभिमुख मनुष्य के दाहिनी ओर **दक्षिण**, और बांई ओर **उत्तर दिशा** कहाती है।

एतेन दिगन्तरालानि व्याख्यातानि ॥

वै० अ० २। आ० २। सू० १६॥

इससे पूर्व दक्षिण के बीच की दिशा को **आग्नेयी**, दक्षिण-पश्चिम के बीच को **नैर्ऋति**, पश्चिम-उत्तर के बीच को **वायवी**, और उत्तर-पूर्व के बीच को **ऐशानी** दिशा कहते हैं।

इच्छाद्वेषप्रयत्नसुखदुःखज्ञानान्यात्मनो लिङ्गमिति ॥

न्याय० अ० १। आ० १। सू० १०॥

जिसमें (इच्छा) राग, (द्वेष) वैर, (प्रयत्न) पुरुषार्थ, सुख, दुःख, (ज्ञान) जानना गुण हों, वह **'जीवात्मा'** [कहाता] है।

वैशेषिक में इतना विशेष है—

प्राणाऽपाननिमेषोन्मेषजीवनमनोगतीन्द्रियान्तर्विकाराः सुख, दुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नाश्चात्मनो लिङ्गानि ॥

वै० अ० ३। आ० २। सू० ४॥

(प्राण) भीतर से वायु को निकालना, (अपान) बाहर से

वायु को भीतर लेना[1], (निमेष) आंख को नीचे ढांकना, (उन्मेष) आंख को ऊपर उठाना, (जीवन) प्राण का धारण करना, (मनः) मनन विचार अर्थात् ज्ञान, (गति) यथेष्ट गमन करना, (इन्द्रिय) इन्द्रियों को विषयों में चलाना, उनसे विषयों का ग्रहण करना, (अन्तर्विकार) क्षुधा तृषा ज्वर पीड़ा आदि विकारों का होना, सुख दुःख इच्छा द्वेष और प्रयत्न ये सब **आत्मा के लिङ्ग** अर्थात् कर्म और गुण हैं।

युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो लिङ्गम् ॥

न्या० अ० १। आ० १। सू० १६ ॥

जिससे एक काल में दो पदार्थों का ग्रहण ज्ञान नहीं होता, उसको '**मन**' कहते हैं।

यह द्रव्य का स्वरूप और लक्षण कहा। अब गुणों को कहते हैं—

रूपरसगन्धस्पर्शाः संख्या[:]परिमाणानि पृथक्त्वं संयोगविभागौ परत्वाऽपरत्वे बुद्धयः सुखदुःखेच्छाद्वेषौ प्रयत्नाश्च गुणाः ।

वै० अ० १। आ० १। सू० ६ ॥

रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, गुरुत्व[2], द्रवत्व, स्नेह, संस्कार, धर्म, अधर्म और शब्द ये **२४ गुण** कहाते हैं।

गुण उसको कहते हैं कि[3]—

---

१. प्राण-अपान के इन शुद्ध अर्थों को संस्करण ३ में बदलकर छापा गया, अर्थात् प्राण के आगे अपान का और अपान के आगे प्राण का। यह परिवर्तित पाठ १४-१५ सस्करणों तक निरन्तर छपता रहा। प्राचीन शास्त्रों से अपरिचित जन ग्रन्थकार के प्राण-अपान के अर्थों को अशुद्ध कहते हैं। ग्रन्थकार ने यही अर्थ यजुर्भाष्य २२।२३, ऋ० भाष्यभूमिका पृष्ठ ११७ (रालाकट्र सं०), पत्रव्यवहार पृष्ठ ६६ (द्वि० संस्करण) में किया है। सायण के अथर्व १८।२।४६ के भाष्य में 'मुखनासिकाभ्यां बर्हिनिस्सरन् वायुः प्राणः, अन्तर्गच्छन्नपानः' ही किया है। यही प्राचीन वाङ्मय सम्मत अर्थ है।

२. 'च शब्दसमुच्चिताश्च गुरुत्वद्रवत्वस्नेहसंस्कारादृष्ट (=धर्माधर्म)-शब्दाः सप्त'। प्रशस्तपाद भाष्य।

३. यह पाठ संस्करण २ में सूत्रार्थ के आरम्भ में है, जबकि सूत्रार्थ के

द्रव्याश्रय्यगुणवान् संयोगविभागेष्वकारणमनपेक्ष इति गुण-लक्षणम् ॥ वै० अ० १ । आ० २ । सू० १६ ।

जो द्रव्य के आश्रय रहै, अन्य गुण का धारण न करे, संयोग और विभाग में कारण न हो, अनपेक्ष अर्थात् एक-दूसरे की अपेक्षा न करे, उसका नाम 'गुण' है ।

श्रोत्रोपलब्धिर्बुद्धिनिर्ग्राह्यः प्रयोगेणाभिज्वलित आकाशदेशः शब्दः ॥ महाभाष्य[1]

जिसकी श्रोत्रों से प्राप्ति, जो बुद्धि से ग्रहण करने योग्य, और प्रयोग से प्रकाशित, तथा आकाश जिसका देश है, वह **शब्द** कहाता है[2]।

नेत्र से जिसका ग्रहण हो वह **रूप**, जिह्वा से जिस मिष्टादि अनेक प्रकार का ग्रहण होता है वह **रस**, नासिका से जिसका ग्रहण हो वह **गन्ध**, त्वचा से जिसका ग्रहण होता है वह **स्पर्श** एक द्वि इत्यादि गणना जिससे होती है वह **संख्या**, जिससे तोल अर्थात् हल्का-भारी[3] विदित होता है वह **परिमाण**, एक दूसरे से अलग होना वह **पृथक्त्व**, एक-दूसरे के साथ मिलना वह **संयोग**, एक-दूसरे से मिले हुए के अनेक टुकड़े होना वह **विभाग**, इससे यह परे है वह **पर**, उससे यह उरे है वह **अपर**, जिससे अच्छे-बुरे का ज्ञान होता है वह **बुद्धि**, आनन्द का नाम **सुख**, क्लेश का नाम **दुःख**, **इच्छा**=राग, **द्वेष**=विरोध, (**प्रयत्न**) अनेक प्रकार का बल-पुरुषार्थ (**गुरुत्व**) भारीपन (**द्रवत्व**) पिघल जाना, (**स्नेह**) प्रीति और चिकनापन, (**संस्कार**) दूसरे के योग से वासना का होना, (**धर्म**) न्यायाचरण और कठिनत्वादि (**अधर्म**) अन्यायाचरण और कठिनता से विरुद्ध कोमलता [दि] ये चौबीस गुण हैं ।

अन्त में 'उसका नाम गुण है' ऐसा पाठ विद्यमान है । अतः हमने इसे समुचित स्थान पर रख दिया है । कई संस्करणों में अन्तिम पाठ हटा दिया है ।

१. महा० अ० १. पा० १, आ० १॥

२. यहां से आगे 'रूपरसगन्धस्पर्शाः ' सूत्रगत शेष रूपादि की व्याख्या जाननी चाहिये । ३. यहां 'जिससे माप अर्थात् अणु महत् दीर्घ ह्रस्व' ऐसा पाठ होना चाहिये (द्र० प्रशस्तपादभाष्य)। 'हलका भारी' गुरुत्व' से गृहीत होता है ।

उत्क्षेपणमवक्षेपणमाकुञ्चनं प्रसारणं गमनमिति कर्माणि ॥

वै० अ० १ । आ० १ । सू० ७ ॥

'उत्क्षेपण'—ऊपर को चेष्टा करना 'अवक्षेपण'—नीचे को चेष्टा करना, 'आकुञ्चन'—संकोच करना, 'प्रसारण' फैलाना, 'गमन'—आना, जाना, घूमना आदि, इनको 'कर्म' कहते है।

अब कर्म का लक्षण—

एकद्रव्यमगुणं संयोगविभागेष्वनपेक्षकारणमिति कर्मलक्षणम् ॥

वै० अ० १ । आ० १ । सू० १७ ॥

'एकं द्रव्यमाश्रय आधारो यस्य तदेकद्रव्यं, न विद्यते गुणो यस्य यस्मिन् वा तदगुणं, संयोगेषु विभागेषु चापेक्षारहितं कारणं तत्कर्मलक्षणम्' 'अथवा यत् क्रियते तत्कर्म, लक्ष्यते येन तल्लक्षणम्. कर्मणो लक्षणं कर्मलक्षणम्' एक द्रव्य के आश्रित, गुणों से रहित. संयोग और विभाग होने में [जो] अपेक्षारहित कारण हो, उसको **'कर्म्म'**[1] कहते हैं।

द्रव्यगुणकर्मणां द्रव्यं कारणं सामान्यम् ॥

वै० अ० १ । आ० २ । सू० १८ ॥

जो कार्य द्रव्य, गुण और कर्म का कारण द्रव्य है, वह **सामान्य** द्रव्य है।

द्रव्याणां द्रव्यं कार्यं सामान्यम् । वै० अ १ । आ० । १ सू० २३॥

जो द्रव्यों का कार्य द्रव्य है, वह कार्यपन से सब कार्यों में सामान्य है।

द्रव्यत्वं गुणत्वं कर्मत्वञ्च सामान्या[नि] विशेषाश्च ॥

वै० अ० १ । आ० २ । सू० ५ ॥

द्रव्यों में द्रव्यपन, गुणों में गुणपन, कर्मों में कर्मपन ये सब **सामान्य** और **विशेष** कहाते हैं। क्योंकि द्रव्यों में द्रव्यत्व सामान्य, और गुणत्व कर्मत्व से द्रव्यत्व विशेष है। इसी प्रकार सर्वत्र जानना।

---

१. यह कर्म ही पाश्चात्य साइंस के अनुसार Energy (ऐनर्जी) का रूप धारण करता है। यह द्रव्य से पृथक् पदार्थ नहीं, अतः आईंस्टीन ने लिखा है कि भविष्य में मैटर और ऐनर्जी का भेद मिट जायेगा। भ० द०

सामान्यं विशेष इति बुद्ध्यपेक्षम् ॥

वै० अ० १ । आ० २ । सू० ३ ॥

सामान्य और विशेष बुद्धि की अपेक्षा से सिद्ध होते हैं। जैसे—मनुष्य व्यक्तियों में मनुष्यत्व सामान्य, और पशुत्वादि से विशेष; तथा स्त्रीत्व और पुरुषत्व इनमें ब्राह्मणत्व, क्षत्रियत्व, वैश्यत्व, शूद्रत्व भी विशेष हैं। ब्राह्मण व्यक्तियों में ब्राह्मणत्व सामान्य और क्षत्रियादि से विशेष है। इसी प्रकार सर्वत्र जानो।

इहेदमिति यतः कार्यकारणयोः [स] समवायः ॥

वै० अ० ७ । आ० २ । सू० २६ ॥

[१]कारण अर्थात् अवयवों में अवयवी, कार्यों में क्रिया क्रियावान्[१], गुण गुणी, जाति व्यक्ति, कार्य्य कारण, अवयव अवयवी इनका नित्य सम्बन्ध होने से **समवाय** कहाता है। और जो दूसरा द्रव्यों का परस्पर सम्बन्ध होता है, वह संयोग अर्थात् अनित्य सम्बन्ध है।

द्रव्यगुणयोः सजातीयारम्भकत्वं साधर्म्यम् ॥

वै० अ० १ । आ० १ । सू० ९ ॥

जो द्रव्य और गुण का समानजातीयक कार्य का आरम्भ होता है, उसको **साधर्म्य** कहते हैं। जैसे पृथिवी में जडत्व धर्म और घटादिकार्योत्पादकत्व स्वसदृश धर्म है। वैसे ही जल में भी जडत्व और हिम[२]

---

१. यही पाठ सं० २ से ३२ तक मिलता है। ३४ वें संस्करण में 'इसमें यह, जैसे द्रव्य में क्रिया, गुणी में गुण, व्यक्ति में जाति, अवयवों में अवयवी, कार्यों में कारण अर्थात् क्रिया क्रियावान्' पाठ है। सूत्रार्थ इस प्रकार जानना चाहिए—**'यह यहां' ऐसी प्रतीति जिस कारण से होती है, वह समवाय सम्बन्ध है। जैसे कार्य और कारण का सम्बन्ध**। सूत्र में 'कार्यकारणयोः' ग्रहण उपलक्षणार्थ है। अकार्यकारण में भी यह सम्बन्ध जानना चहिए। इसी लिये प्रशस्तपाद भाष्य में लिखा है—**'अयुतसिद्धानामाधार्याधारभूतानां यः सम्बन्ध इहेति प्रत्ययहेतुः स समवायः'**। अविनाभाव-सम्बन्ध से रहने वाले, आधार, आधेयरूप पदार्थों का जो सम्बन्ध 'इस में यह' इस बुद्धि का कारण है, वह 'समवाय' कहाता है। सत्यार्थ-प्रकाश का पाठ उक्तसूत्र एवं प्रशस्तपाद-भाष्य का फलितार्थरूप है।

२. संस्करण २ में 'हैम' अपपाठ है।

आदि स्वसदृश कार्य का आरम्भ पृथिवी के साथ जल का और जल के साथ पृथिवी का तुल्य धर्म है। अर्थात् '**द्रव्यगुणयोर्विजातीयारम्भकत्वं वैधर्म्यम्**' यह विदित हुआ है कि जो द्रव्य और गुण का विरुद्ध धर्म और कार्य का आरम्भ है, उसको **वैधर्म्य** कहते हैं। जैसे पृथिवी में कठिनत्व, शुष्कत्व और गन्धवत्त्व धर्म जल से विरुद्ध, और जल का द्रवत्व, कोमलता और रसगुणयुक्तता पृथिवी से विरुद्ध है।

कारणभावात् कार्यभावः ॥ वै० अ० ४। आ० १। सू० ३॥

कारण के होने ही से कार्य होता है।

न तु कार्याभावात्कारणाभावः॥ वै० अ० १। आ० २। सू० २॥

[किन्तु] कार्य के अभाव से कारण का अभाव नहीं होता।

कारणाऽभावात्कार्याऽभावः॥ वै० अ० १। आ० २। सू० १॥

कारण के न होने से कार्य कभी नहीं होता।

कारणगुणपूर्वकः कार्यगुणो दृष्टः॥ वै० अ० २। आ० १। सू० २४॥

जैसे कारण में गुण होते हैं, वैसे ही कार्य में होते हैं।

परिमाण दो प्रकार का है—

अणु महदिति तस्मिन्विशेषभावाद्विशेषाभावाच्च ॥

वै० अ० ७। आ० १। सू० ११॥

अणु=सूक्ष्म, महत्=बड़ा, जैसे त्रसरेणु लिक्षा से छोटा और द्व्यणुक से बड़ा है, तथा पहाड़ पृथिवी से छोटे [और] वृक्षों से बड़े हैं।

सदिति यतो द्रव्यगुणकर्मसु सा सत्ता ॥

वै० अ० १। आ० २। सू० ७॥

जो द्रव्य गुण [और] कर्मों में सत् शब्द अन्वित रहता है, अर्थात् '**सद् द्रव्यम् सन्[1] गुणः सत्कर्म**' सत् द्रव्य, सत् गुण, सत् कर्म, अर्थात् वर्त्तमानकालवाची शब्द का अन्वय सब के साथ रहता है।

भावोऽनुवृत्तेरेव हेतुत्वात् सामान्यमेव ॥

वै० अ० १। आ० २। सू० ४॥

---

१. संस्करण २ में यही पाठ है। यहां गुण के पुंल्लिङ्ग होने से पुंल्लिङ्ग रूप 'सन्' पढ़ा है। कुछ संस्करणों में 'सद्' पाठ है।

जो सबके साथ अनुवर्त्तमान होने से सत्तारूप भाव है, सो **महासामान्य** कहाता है। यह क्रम भावरूप द्रव्यों का है।

और जो अभाव है, वह पांच प्रकार का होता है—

क्रियागुणव्यपदेशाभावात् प्रागसत् ॥

वै० अ० ९। आ० १। सू० १॥

[जो] क्रिया और गुण के विशेष निमित्त के[1] प्राक् अर्थात् पूर्व 'असत्' न था, जैसे घट वस्त्रादि उत्पत्ति के पूर्व नहीं थे, इसका नाम **प्रागभाव** [है]।

दूसरा—

सदसत् ॥ वै० अ० ९। आ० १ सू० २॥

जो होके न रहै, जैसे घट उत्पन्न होके नष्ट हो जाय, यह **प्रध्वंसाभाव** कहाता है।

तीसरा –

सच्चासत् ॥ वै० अ० ९। आ० १। सू० ४॥

जो होवे और न होवे, जैसे **'अगौरश्वोऽनश्वो गौः'** यह घोड़ा गाय नहीं और गाय घोड़ा नहीं, अर्थात् घोड़े में गाय का और गाय में घोड़े का अभाव, और गाय में गाय घोड़े में घोड़े[2] का भाव है, यह **अन्योन्याभाव** कहाता है।

चौथा—

यच्चान्यदसदतस्तदसत् ॥ वै० अ० ९। आ० १। सू० ५॥

जो पूर्वोक्त तीनों अभावों से भिन्न है, उसको **अत्यन्ताभाव** कहते हैं। जैसे **'नरशृङ्ग'** अर्थात् मनुष्य का सींग, 'खपुष्प' आकाश का फूल, और 'बन्ध्यापुत्र' बन्ध्या का पुत्र, इत्यादि।

पांचवां—

---

१. शताब्दी-संस्करण से 'निमित्त के अभाव से प्राग्' पाठ छप रहा है। सूत्रार्थ—'द्रव्य की उत्पत्ति से पूर्व (=कारणावस्था में) क्रिया (=घट है), गुण (=लाल पीला घड़ा) का कथन न होने से कार्य प्राक्=पहले (=कारण में) नहीं 'था' यह प्रागभाव कहाता है'। २. सं० २ में 'घोड़ा' पाठ है।

नास्ति घटो गेह इति सतो घटस्य गेहसंसर्गप्रतिषेधः ॥
वै० अ० ६ । आ० १ । सू० १० ॥

घर में घड़ा नहीं अर्थात् अन्यत्र है, घर के साथ घड़े का सम्बन्ध नहीं है, [यह **संसर्गाभाव** कहाता है।] ये पांच अभाव कहाते है।

इन्द्रियदोषात् संस्कारदोषाच्चाविद्या ॥
वै० अ० ६ । आ० २ । सू० १० ॥[1]

इन्द्रियों और संस्कार के दोष से 'अविद्या' उत्पन्न होती हैं

तद् दुष्टज्ञानम् ॥ वै० अ० ६ । आ० २ । सू० ११ ॥

जो दुष्ट अर्थात् विपरीत ज्ञान है, उसको '**अविद्या**' कहते हैं।

अदुष्ट विद्या ॥ वै० अ० ६ । आ० २ । सू० १२ ॥

जो अदुष्ट अर्थात् यथार्थ ज्ञान है, उसको '**विद्या**' कहते हैं।

पृथिव्यादिरूपरसगन्धस्पर्शा द्रव्यानित्यत्वादनित्याश्च ॥
वै अ ७ । आ० १ । सू० २ ॥

एतेन नित्येषु नित्यत्वमुक्तम् ॥वै० अ० ७ । आ० १ । सू० ३॥

जो कार्यरूप पृथिव्यादि पदार्थ और उनमें रूप, रस, गन्ध, स्पर्श गुण हैं, ये सब [कार्य] द्रव्यों के अनित्य होने से अनित्य हैं। और जो इस के[2] कारणरूप पृथिव्यादि नित्य द्रव्यों में गन्धादि गुण हैं, वे **नित्य** हैं।

सदकारणवन्नित्यम् ॥वै० अ० ४ । आ० १ । सू० १ ॥

जो विद्यमान हो, और जिसका कारण कोई भी न हो, वह नित्य है। अर्थात् "**सत्कारणवदनित्यम्**" जो कारण वाले कार्यरूप गुण हैं, वे **अनित्य** कहाते हैं।

अस्येदं कार्यं कारणं संयोगि विरोधि समवायि चेति लैङ्गिकम् ॥ वै० अ० ६ । आ० २ । सू० १ ॥

इसका यह कार्य वा कारण है, इत्यादि समवायि, संयोगि, एकार्थसमवायि[3] और विरोधी यह चार प्रकार का **लैङ्गिक** अर्थात्

---

१. संस्करण २ में ११ अशुद्ध संख्या है।
२. संस्करण २ में 'इस से' पाठ है।
३. यहां सूत्रस्थ 'चकार' से (३।१।८) में निर्दिष्ट '**एकान्तसमवायि**' का समुच्चय जानना चाहिए।

लिङ्ग-लिङ्गी के सम्बन्ध से ज्ञान होता है। 'समवायि'—जैसे आकाश परिमाण वाला है। 'संयोगि'—जैसे शरीर त्वचा वाला है, इत्यादि का नित्य संयोग है। 'एकार्थसमवायि'—एक अर्थ में दो का रहना, जैसे कार्यरूप स्पर्श कार्य का लिङ्ग अर्थात् जनानेवाला है। 'विरोधि'—जैसे हुई वृष्टि होने वाली वृष्टि का विरोधी लिङ्ग है।

व्याप्ति—

नियतधर्मसाहित्यमुभयोरेकतरस्य वा व्याप्तिः ॥

निजशक्त्युद्भवमित्याचार्याः ॥ आधेयशक्तियोग इति पञ्चशिखः ॥

सांख्यसूत्र [अ० ५। सू०] २९, ३१, ३२।

जो दोनों साध्य साधन, अर्थात् सिद्ध करने योग्य और जिससे सिद्ध किया जाय उन दोनों अथवा एक साधनमात्र का निश्चित धर्म का सहचार है, उसी को व्याप्ति कहते हैं। जैसे धूम और अग्नि का सहचार है ॥२९॥

तथा व्याप्य जो धूम, उसकी[1] निज शक्ति से उत्पन्न होता है, अर्थात् जब देशान्तर में दूर धूम जाता है, तब विना अग्नियोग के भी धूम स्वयं रहता है, उसी का नाम 'व्याप्ति' है। अर्थात् अग्नि के छेदन-भेदन सामर्थ्य से जलादि पदार्थ धूमरूप प्रकट होता है ॥३१॥

जैसे महत्तत्त्वादि में प्रकृत्यादि की व्यापकता, बुद्ध्यादि में व्याप्यता धर्म के सम्बन्ध का नाम 'व्याप्ति' है। जैसे शक्ति आधेयरूप और शक्तिमान् आधाररूप का सम्बन्ध है ॥३२॥

इत्यादि शास्त्रों के प्रमाणादि से परीक्षा करके पढ़ें और पढ़ावें। अन्यथा विद्यार्थियों को सत्य बोध कभी नहीं हो सकता। जिस-जिस ग्रन्थ को पढ़ावें, उस-उस की पूर्वोक्त प्रकार से परीक्षा करके जो-[जो] सत्य ठहरे वह-वह ग्रन्थ पढ़ावें। जो-जो इन परीक्षाओं से विरुद्ध हों, उन-उन ग्रन्थों को न पढ़ें न पढ़ावें। क्योंकि **लक्षणप्रमाणाभ्यां वस्तुसिद्धिः**। लक्षण—जैसा कि '**गन्धवती पृथिवी**', जो पृथिवी है वह गन्धवाली है, ऐसे लक्षण और प्रत्यक्षादि प्रमाण इनसे सब सत्यासत्य और पदार्थों का निर्णय हो जाता है, इसके विना कुछ भी नहीं होता।

१. अर्थात् व्याप्य धर्म को।

अथ पठनपाठनविधिः

अब पढ़ने-पढ़ाने का प्रकार लिखते हैं—

प्रथम पाणिनिमुनिकृत **शिक्षा**[१] जो कि सूत्ररूप है, उसकी रीति अर्थात् इस अक्षर का यह स्थान, यह प्रयत्न, यह करण है। जैसे 'प' इसका ओष्ठ स्थान, स्पृष्ट प्रयत्न और प्राण तथा जीभ की क्रिया करना करण कहाता है। इसी प्रकार यथायोग्य सब अक्षरों का उच्चारण माता-पिता, आचार्य सिखलावें।

तदनन्तर **व्याकरण** अर्थात् प्रथम अष्टाध्यायी के सूत्रों का पाठ, जैसे '**वृद्धिरादैच्**'[२]। फिर पदच्छेद, जैसे '**वृद्धिः आत् ऐच् वा**[३] **आदैच्**। फिर समास—'**आच्च ऐच्च आदैच्**'। और अर्थ जैसे '**आदैचां वृद्धिसंज्ञा क्रियते**' अर्थात् आ, ऐ, औ की वृद्धिसंज्ञा [की जाती] है। '**तः परो यस्मात्स तपरस्तादपि परस्तपरः**' तकार जिससे परे और जो तकार से भी परे हो वह तपर कहाता है। इससे क्या सिद्ध हुआ, जो आकार से परे त्[४], और त् से परे ऐच् दोनों तपर हैं। तपर का प्रयोजन यह है कि ह्रस्व[५] और प्लुत की वृद्धि संज्ञा न हुई।

---

१. पाणिनिमुनिकृत शिक्षासूत्रों का एक हस्तलेख ग्रन्थकार ने उपलब्ध करके आर्यभाषा व्याख्या सहित 'वर्णोच्चारण-शिक्षा' के नाम से वि० सं० १९३६ में छपवाया था। ग्रन्थकार को उपलब्ध हस्तलेख त्रुटित था। उसकी दूसरी प्रति प्राप्त करके हमने '**शिक्षा-सूत्राणि**' संग्रह में छापा है। डा० मनमोहन घोष ने ग्रन्थकार द्वारा प्रकाशित पाणिनीय शिक्षासूत्रों को स्वसम्पादित 'पाणिनीयशिक्षा' की भूमिका में जाली सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। इसका उत्तर हमने '**मूल पाणिनीय शिक्षा**' शीर्षक लेख ('साहित्य' पटना, वर्ष ७ अङ्क ४ सन् १९५७) में दिया है। २. अ० १।१।१॥

३. कुछ व्याख्याता 'आत् ऐच्' दो पद मानते हैं, कुछ 'आदैच्' समस्त एक पद। ४. इसका भाव यह है कि आकार से परे 'त्' होने से आकार तपर है और 'त्' से परे ऐच् होने से ऐच् भी तपर है।

५. '**अणुदित्सवर्णस्य चाप्रत्ययः**' (अ० १।१।६८) के नियम से सूत्र-पठित 'अण्' सवर्णों के ग्राहक होते हैं। '**तपरस्तत्कालस्य**' (अ० १।१।६९) के नियम से तपर वर्ण उसी काल वाले का ग्रहण कराते हैं, जिस काल वाले वर्ण के साथ तकार पढ़ा गया है। यह पूर्व (१।१।६८) का अपवाद है। आकार

उदाहरण--'भागः' यहां 'भज्' धातु से 'घञ्' प्रत्यय के परे[1] 'घ्, ञ्' की इत्संज्ञा होकर लोप हो गया। पश्चात् 'भज् अ' यहां जकार के पूर्व भकारोत्तर अकार को वृद्धिसंज्ञक आकार हो गया है, तो 'भाज्' पुनः 'ज्' को ग् हो अकार के साथ मिलके 'भागः' ऐसा प्रयोग हुआ।

'अध्यायः' यहां अधिपूर्वक 'इङ्' धातु के ह्रस्व इ के स्थान में 'घञ्' प्रत्यय के परे 'ऐ' वृद्धि और उसको 'आय्' हो मिलके 'अध्यायः'।

'नायकः' यहां 'नीञ्' धातु के दीर्घ ईकार के स्थान में 'ण्वुल्' प्रत्यय के परे 'ऐ' वृद्धि और उसको 'आय्' होकर मिलके 'नायकः'।

और 'स्तावकः' यहां 'स्तु' धातु से 'ण्वुल्' प्रत्यय होकर ह्रस्व उकार के स्थान में 'औ' वृद्धि [और] 'आव्' आदेश होकर अकार में मिल गया, तो 'स्तावकः'।

'कृञ्' धातु से आगे 'ण्वुल्' प्रत्यय, 'ल्' की इत्संज्ञा होके लोप, 'वु' के स्थान में अक आदेश, और ऋकार के स्थान में 'आर्' वृद्धि होकर 'कारकः' सिद्ध हुआ।

जो-जो सूत्र आगे-पीछे के प्रयोग में लगें, उनका कार्य्य सब बतलाता जाय। और सिलेट अथवा लकड़ी के पट्ट पर दिखला-दिखलाके कच्चा रूप धरके, जैसे—'भज[2]+घञ्+सु' इस प्रकार धरके प्रथम अकार[3] का लोप, पश्चात् घ्कार का, फिर ञ् का लोप होकर 'भज्+अ+सु' ऐसा रहा। फिर [अ को आकार वृद्धि और] 'ज्' के स्थान

के अण् न होने से उस में सवर्णग्राहकता नहीं है। इस कारण आकार को तपर करने का प्रयोजन न होने से यहां तपर का 'ह्रस्व की वृद्धि संज्ञा नहीं हुई' यह प्रयोजन दर्शाना मन्दबुद्धियों के लिए है, ऐसा जानना चाहिए।

१. यहां 'प्रत्यय के धातु से परे अवस्थित हो जाने पर' यह अभिप्राय जानना चाहिए।

२. सं० २ में 'भज्' हलन्त छपा है, परन्तु आगे अकार के लोपनिर्देश होने से 'भज' मूल धातुस्वरूप यहां अभिप्रेत है, ऐसा जानना चाहिये। इसी हलन्त पाठ से भ्रान्त होकर सं० ४ में 'अकार का लोप पश्चात्' इतना पाठ निकाल दिया। सं० ३४ में पुनः समाविष्ट किया।

३. देखो इससे पूर्व टिप्पणी २।

में 'ग्' होने से 'भाग्+अ+सु', पुनः अकार में मिल जाने से 'भाग+सु' रहा। अब उकार की इत्संज्ञा, 'स्' के स्थान में 'रु' होकर पुनः उकार की इत्संज्ञा लोप हो जाने [के] पश्चात् 'भागर्' ऐसा रहा। अब रेफ के स्थान में (:) विसर्जनीय होकर 'भागः' यह रूप सिद्ध हुआ। जिस-जिस सूत्र से जो-जो कार्य होता है, उस-उसको पढ़-पढ़ाके और लिखवाकर कार्य कराता जाय। इस प्रकार पढ़ने-पढ़ाने से बहुत शीघ्र दृढ़ बोध होता है।

एक बार इसी प्रकार[1] अष्टाध्यायी[2] पढ़ाके धातुपाठ अर्थसहित और दश लकारों के रूप तथा प्रक्रियासहित सूत्रों के उत्सर्ग अर्थात् सामान्य सूत्र, जैसे **'कर्मण्यण्'**[3] कर्म-उपपद लगा हो तो धातुमात्र से अण् प्रत्यय हो, जैसे **'कुम्भकारः'**। पश्चात् अपवाद सूत्र, जैसे, **'आतोऽनुपसर्गे कः'**[4] उपसर्ग-भिन्न कर्म उपपद लगा हो तो आकारान्त धातु से 'क' प्रत्यय होवे। अर्थात् जो बहुव्यापक जैसा कि कर्मोपपद लगा हो तो सब धातुओं से 'अण्' प्राप्त होता है। उससे विशेष अर्थात् अल्प-विषय उसी पूर्वसूत्र के विषय में से आकारान्त धातु को 'क' प्रत्यय ने ग्रहण कर लिया। जैसे उत्सर्ग के विषय में अपवाद सूत्र की प्रवृत्ति होती है, वैसे अपवाद सूत्र के विषय में उत्सर्ग सूत्र की प्रवृत्ति नहीं होती। जैसे चक्रवर्त्ती राजा के राज्य में माण्डलिक और भूमि-वालों की प्रवृत्ति होती है, वैसे माण्डलिक-राजादि के राज्य में चक्र-वर्त्ती की प्रवृत्ति नहीं होती।

इसी प्रकार पाणिनि महर्षि ने सहस्र श्लोकों[5] के बीच

---

१. ऊपर जिस प्रकार अष्टाध्यायी के पठन-पाठन का निर्देश ग्रन्थकार ने किया है, उसके अनुसार स्व० श्री पं० ब्रह्मदत्त जी जिज्ञासु ने अष्टाध्यायी भाष्य (प्रथमावृत्ति) नाम की व्याख्या लिखी है। इस में सब उदाहरणों की सिद्धि भी विस्तार से दी है। यह ग्रन्थ रा०ला०क०ट्रस्ट से प्रकाशित हुआ है।

२. अष्टाध्यायी और धातुपाठ का शुद्ध और सुन्दर संस्करण रामलाल कपूर ट्रस्ट से छपा है। ३. अ० ३।२।१॥ ४. अ० ३।२।३॥

५. अष्टाध्यायी के सूत्र गद्य रूप हैं। किसी भी गद्यग्रन्थ का परिमाण दर्शाने के लिये प्राचीन परिपाटी है कि उस ग्रन्थ के अक्षरों की गिनती करके

में अखिल शब्द अर्थ और सम्बन्धों की विद्या प्रतिपादित कर दी है। धातुपाठ[1] के पश्चात् उणादिगण के पढ़ाने में सर्व सुबन्त का विषय अच्छी प्रकार पढ़ाके, पुनः दूसरी बार शंका-समाधान,[2] वार्त्तिक,[3] कारिका, परिभाषा की घटनापूर्वक, अष्टाध्यायी की द्वितीयानुवृत्ति[4] पढ़ावे। तदनन्तर महाभाष्य पढ़ावे। अर्थात् जो बुद्धिमान्, पुरुषार्थी, निष्कपटी, विद्यावृद्धि के चाहने वाले नित्य पढ़ें-पढ़ावें, तो डेढ़ वर्ष में अष्टाध्यायी और डेढ़ वर्ष में महाभाष्य पढ़के तीन वर्ष में पूर्ण वैयाकरण होकर वैदिक और लौकिक शब्दों का व्याकरण से [बोध कर] पुनः अन्य शास्त्रों को शीघ्र सहज में पढ़-पढ़ा सकते हैं। किन्तु जैसा बड़ा परिश्रम व्याकरण में होता है, वैसा श्रम अन्य शास्त्रों में करना नहीं पड़ता।

और जितना बोध इनके पढ़ने से तीन वर्षों में होता है, उतना बोध कुग्रन्थ अर्थात् सारस्वत, चन्द्रिका, कौमुदी, मनोरमादि के पढ़ने से पचास वर्षों में भी नहीं हो सकता। क्योंकि जो महाशय महर्षि लोगों ने सहजता से महान् विषय अपने ग्रन्थों में प्रकाशित किया है, वैसा इन क्षुद्राशय मनुष्यों के कल्पित ग्रन्थों में क्यों कर हो सकता है?

महर्षि लोगों का आशय, जहां तक हो सके वहां तक, सुगम और जिसके ग्रहण में समय थोड़ा लगे, इस प्रकार का होता है। [और] क्षुद्राशय लोगों की मनसा ऐसी होती है कि जहां तक बने वहां तक कठिन रचना करनी, जिसको बड़े परिश्रम से पढ़के अल्प लाभ उठा सकें, जैसे पहाड़ का खोदना कौड़ी का लाभ होना। और आर्ष

अनुष्टुप् छन्द की अक्षर संख्या ३२ से भाग देने पर जो भागफल उपलब्ध होता है, वह उस ग्रन्थ का श्लोक रूप में परिमाण माना जाता है। इस प्रकार अष्टाध्यायी के सहस्र श्लोक अर्थात् ३२००० अक्षर जानने चाहियें।

१. सं० २ में केवल 'धातु' शब्द है।

२. साक्षात् सूत्रस्थ पदों से संबद्ध शंका समाधानमात्र।

३. प्रयोग सिद्धि में साक्षात् सहयोगी वार्तिक मात्र।

४. अर्थात् द्वितीयावृत्ति।

ग्रन्थों का पढ़ना ऐसा है कि जैसा एक गोता लगाना बहुमूल्य मोतियों का पाना।

व्याकरण को पढ़के यास्कमुनिकृत **निघण्टु**[1] और **निरुक्त** छः वा आठ महीने में सार्थक पढ़ें और पढ़ावें। अन्य नास्तिककृत अमरकोशादि में अनेक वर्ष व्यर्थ न खोवें। तदनन्तर पिङ्गलाचार्यकृत **छन्दोग्रन्थ**, जिससे वैदिक लौकिक छन्दों का परिज्ञान, नवीन रचना और श्लोक बनाने की रीति भी यथावत् सीखें। इस ग्रन्थ और श्लोकों की रचना तथा प्रस्तार को चार महीने में सीख पढ़-पढ़ा सकते हैं। और वृत्तरत्नाकर आदि अल्पबुद्धिप्रकल्पित ग्रन्थों में अनेक वर्ष न खोवें।

तत्पश्चात् **मनुस्मृति, वाल्मीक**[2] **रामायण** और **महाभारत** के **उद्योगपर्वान्तर्गत विदुरनीति**[3] आदि अच्छे-अच्छे प्रकरण, **जिनसे दुष्ट व्यसन दूर हों**, और उत्तमता सभ्यता प्राप्त हो, वैसे को काव्यरीति से अर्थात् पदच्छेद, पदार्थोक्ति, अन्वय, विशेष्य-विशेषण और भावार्थ को अध्यापक लोग जनावें, और विद्यार्थी लोग जानते जायें। इनको [एक] वर्ष के भीतर पढ़ लें।

तदनन्तर **पूर्वमीमांसा, वैशेषिक, न्याय, योग, सांख्य** और **वेदान्त**, अर्थात् जहां तक बन सके वहां तक ऋषिकृत व्याख्यासहित, अथवा उत्तम विद्वानों की सरल व्याख्यायुक्त छः शास्त्रों को पढ़ें-पढ़ावें, परन्तु वेदान्तसूत्रों के पढ़ने के पूर्व ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, ऐतरेय, तैत्तिरीय,[4] छान्दोग्य और बृहदारण्यक इन दश उपनिषदों को

---

१. ग्रन्थकार ने स्व सम्पादित निघण्टु की भूमिका में भी ऐसा ही लिखा है। यास्कीय निरुक्त अ० ७ खं० १३ में निघण्टु के प्रवचन-सम्बन्ध में दो बार **समामने** उत्तम पुरुष की क्रिया का निर्देश होने से निघण्टु का प्रवक्ता यास्क है, यह स्पष्ट है।

२. काशकृत्स्न-काशकृत्स्नि के समान वाल्मीक और वाल्मीकि दोनों नाम एक ही व्यक्ति के हैं। रामायण भाषार्थ सहित रालाकट्रस्ट से छपी है।

३. विदुरनीति का पदार्थ और व्याख्या सहित एक उत्तम संस्करण रालाकट्रस्ट से छपा है।

४. सं० २ में 'ऐतरेयी, तैत्तिरेयी' पाठ है।

पढ़के छः शास्त्रों के भाष्यवृत्ति-सहित सूत्रों को दो वर्ष के भीतर पढ़ावें और पढ़ लेवें।

पश्चात् छः वर्षों के भीतर चारों ब्राह्मण अर्थात् **ऐतरेय, शतपथ,** साम[1] और गोपथ ब्राह्मणों के सहित चारों वेदों को स्वर, शब्द, अर्थ, सम्बन्ध तथा क्रिया-सहित पढ़ना योग्य है। इसमें प्रमाण—

स्थाणुरयं भारहारः किलाभूदधीत्य वेदं न विजानाति योऽर्थम्।
योऽर्थज्ञ इत्सकलं भद्रमश्नुते नाकमेति ज्ञानविधूतपाप्मा॥[2]

यह निरुक्त[3] में मन्त्र है।

जो वेद को स्वर और पाठमात्र को पढ़के अर्थ नहीं जानता, वह जैसा वृक्ष डाली, पत्ते, फल, फूल, और अन्य पशु धान्य आदि का भार उठाता है, वैसे भारवाह अर्थात् भार का उठाने वाला है। और जो वेद को पढ़ता और उनका यथावत् अर्थ जानता है, वही सम्पूर्ण आनन्द को प्राप्त होके देहान्त के पश्चात् ज्ञान से पापों को छोड़ पवित्र धर्माचरण के प्रताप से सर्वानन्द को प्राप्त होता है।

उत त्वः पश्यन्न ददर्श वाचमुत त्वः शृण्वन्न शृणोत्येनाम्।
उतो त्वस्मै तन्वं१ विसस्रे जायेव पत्य उशती सुवासाः॥

ऋ० मं० १०। सू० ७१। मं० ४॥

जो अविद्वान् हैं वे सुनते हुए नहीं सुनते, देखते हुए नहीं देखते, बोलते हुए नहीं बोलते। अर्थात् अविद्वान् लोग इस विद्या-वाणी के रहस्य को नहीं जान सकते। किन्तु जो शब्द अर्थ और सम्बन्ध का जानने वाला है, उसके लिए विद्या जैसे सुन्दर वस्त्र-आभूषण धारण करती अपने पति की कामना करती हुई स्त्री अपने[4] शरीर और स्वरूप का प्रकाश पति के सामने करती है, वैसे विद्या विद्वान् केलिए अपने[4]

---

१. ग्रन्थकार ने स्वीय ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका मे लिखा है—'सामब्राह्मणानि बहूनि सन्ति।' ये ब्राह्मण संख्या में आठ हैं। २. इस मन्त्र तथा अगले मन्त्रों में स्वर-चिन्ह सं० २ में नहीं हैं। ३. द्र० निरुक्त १।१८॥
४. संस्करण २ में 'अपना' पाठ है।

स्वरूप का प्रकाश करती है, अविद्वानों के लिए नहीं।

ऋचो अक्षरे परमे व्योमन् यस्मिन् देवा अधि विश्वे निषेदुः।
यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति य इत्तद्विदुस्त इमे समासते॥

ऋ० मं० १। सू० १६४। मं० ३९॥

जिस व्यापक अविनाशी सर्वोत्कृष्ट परमेश्वर में सब विद्वान् और पृथिवी सूर्य आदि सब लोक स्थित हैं, कि जिसमें सब वेदों का मुख्य तात्पर्य है। उस ब्रह्म को जो नहीं जानता, वह ऋग्वेदादि से क्या कुछ सुख को प्राप्त हो सकता है? नहीं-नहीं। किन्तु जो वेदों को पढ़ के धर्मात्मा योगी होकर उस ब्रह्म को जानते हैं, वे सब परमेश्वर में स्थित होके मुक्तिरूपी परमानन्द को प्राप्त होते हैं। इसलिये जो कुछ पढ़ना वा पढ़ाना हो, वह अर्थज्ञान-सहित [होना] चाहिये।

इस प्रकार सब वेदों को पढ़के, **आयुर्वेद** अर्थात् जो चरक, सुश्रुत आदि ऋषि-मुनिप्रणीत वैद्यक-शास्त्र है, उसको अर्थ, क्रिया, शस्त्र, छेदन, भेदन, लेप, चिकित्सा, निदान, औषध, पथ्य, शरीर[1], देश, काल और वस्तु के गुणज्ञानपूर्वक ४ चार वर्ष के भीतर पढ़ें-पढ़ावें।

तदनन्तर **धनुर्वेद**[2] अर्थात् जो राजसम्बन्धी काम करना है। इसके दो भेद—एक निज राजपुरुष सम्बन्धी और दूसरा प्रजासम्बन्धी होता है। राजकार्य में सब सेना के अध्यक्ष, शस्त्रास्त्र-विद्या, नाना प्रकार के व्यूहों का अभ्यास, अर्थात् जिसको आजकाल 'कवायद' कहते हैं, जो कि शत्रुओं से लड़ाई के समय में क्रिया करनी होती है, उनको यथावत् सीखें, और जो-जो प्रजा के पालने और वृद्धि करने का प्रकार है, उनको सीखके न्यायपूर्वक सब प्रजा को प्रसन्न रक्खें,

१. संस्करण २ में 'शारीर' अपपाठ प्रतीत होता है।
२. विश्वामित्र, जमदग्नि के धनुर्वेदों के कुछ भाग अब भी मिलते हैं।
३. राजविद्या के दो भाग पूर्व दर्शाये हैं। उन दोनों को दो-दो वर्षों में अर्थात् धनुर्वेद को ४ वर्ष में पढ़ें-पढ़ावें।

दुष्टों को यथायोग्य दण्ड, श्रेष्ठों के पालन का प्रकार सब प्रकार सीख लें।

इस राजविद्या को दो-दो[2] वर्ष में सीखकर **गान्धर्ववेद** कि जिसको 'गानविद्या' कहते हैं, उसमें स्वर, राग, रागिणी, समय, ताल, ग्राम, तान, वादित्र, नृत्य, गीत आदि को यथावत् सीखें। परन्तु मुख्य करके सामवेद का गान वादित्रवादनपूर्वक[1] सीखें, और नारद-संहिता आदि जो-जो आर्ष ग्रन्थ हैं उनको पढ़ें। परन्तु भडुवे, वेश्या, और विषयासक्तिकारक वैरागियों के गर्दभशब्दवत् व्यर्थ आलाप कभी न करें।

अर्थवेद कि जिसको 'शिल्पविद्या' कहते हैं, उसको पदार्थ-गुण-विज्ञान, क्रिया-कौशल, नानाविध पदार्थों का निर्माण, पृथिवी से लेके आकाश-पर्यन्त की विद्या को[1] यथावत् सीखके, अर्थात् जो ऐश्वर्य को बढ़ाने वाला है उस विद्या को सीखके, **दो वर्ष में ज्योतिषशास्त्र** सूर्यसिद्धान्तादि, जिसमें बीजगणित, अंक, भूगोल खगोल और भूगर्भ-विद्या है, इसको यथावत् सीखें। तत्पश्चात् सब प्रकार की हस्तक्रिया यन्त्रकला आदि को सीखें।

परन्तु जितने ग्रह, नक्षत्र, जन्मपत्र, राशि, मुहूर्त आदि के फल के विधायक ग्रन्थ हैं, उनको झूठ समझके कभी न पढ़ें और [न] पढ़ावें। ऐसा प्रयत्न पढ़ने और पढ़ाने वाले करें कि जिससे बीस वा इक्कीस[2]

---

१. यहां समय का निर्देश सम्भवतः छूट गया है। पूर्व दो उपवेदों का काल ४-४ वर्ष कहा है। तदनुसार यहां भी ४ चार वर्ष जानना चाहिये। संस्कारविधि में तीन उपवेदों का ३-३ वर्ष और अर्थवेद का ६ वर्ष लिखा है।

२. यहां वर्ष गणना में भूल प्रतीत होतीहै। राजविद्या के भागों के अध्ययन के लिये दो-दो वर्ष अर्थात् ४ वर्ष गिनने चाहियें। गान्धर्ववेद और अर्थवेद का अध्ययन काल लिखना रह गया है। पूर्व दो उपवेदों के समान इनका भी चार-चार वर्ष काल माना जाये तो यहां '**तीस वा इकत्तीस**' योग होगा। संस्कारविधि में कुछ भेद होने पर भी अध्ययन काल ३१ वर्ष लिखा है (पृष्ठ १४५ तृ० संस्करण)। कुल योग इस प्रकार जानना चाहिये—

व्याकरण ३ वर्ष, निरुक्त ८ मास, पिङ्गल छन्द ४ मास, साहित्य १ वर्ष, छः दर्शन २ वर्ष, चारों ब्राह्मणसहित वेद ६ वर्ष, आयुर्वेद ४ वर्ष,

वर्ष के भीतर समग्र विद्या उत्तम शिक्षा प्राप्त होके मनुष्य लोग कृतकृत्य होकर सदा आनन्द में रहैं। जितनी विद्या इस रीति से बीस वा इक्कीस[१] वर्षों में हो सकती है, उतनी अन्य प्रकार से शत वर्ष में भी नहीं हो सकती।

ऋषिप्रणीत ग्रन्थों को इसलिए पढ़ना चाहिए कि वे बड़े विद्वान्, सब शास्त्रविद् और धर्मात्मा थे[२]। और अनृषि अर्थात् जो अल्प-शास्त्र पढ़े हैं, और जिनका आत्मा पक्षपातसहित है, उनके बनाये हुए ग्रन्थ भी वैसे ही हैं।

पूर्वमीमांसा पर व्यासमुनिकृत व्याख्या, वैशेषिक पर गौतम-मुनि कृत, न्यायसूत्र पर वात्स्यायनमुनिकृत भाष्य, पतञ्जलिमुनिकृत सूत्र पर व्यासमुनिकृत भाष्य, कपिलमुनिकृत सांख्यसूत्र पर भागुरि-मुनिकृत भाष्य, व्यासमुनिकृत वेदान्तसूत्र पर वात्स्यायनमुनिकृत भाष्य अथवा बौधायनमुनिकृत भाष्य वृत्तिसहित पढ़े-पढ़ावें। इत्यादि सूत्रों को कल्प[३] अङ्ग में भी गिनना चाहिए। जैसे ऋग्यजु साम और अथर्व चारों वेद ईश्वरकृत हैं, वैसे ऐतरेय, शतपथ, साम और गोपथ चारों ब्राह्मण, शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निघण्टु, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष छः वेदों के अङ्ग; मीमांसादि छः शास्त्र वेदों के उपाङ्ग; आयुर्वेद, धनुर्वेद, गान्धर्ववेद और अर्थवेद ये चार वेदों के उपवेद इत्यादि सब ऋषि-मुनि[यों] के किये ग्रन्थ हैं।

इनमें भी जो-जो वेदविरुद्ध प्रतीत हो उस-उसको छोड़ देना। क्योंकि वेद ईश्वरकृत होने से निर्भ्रान्त, स्वतःप्रमाण अर्थात् वेद

राजविद्या २+२(=४) वर्ष, गान्धर्ववेद [४ वर्ष], अर्थवेद [४ वर्ष] ज्योतिष २ वर्ष=३१ वर्ष कुलयोग। १. द्र० पृ० १०३ टि० २।

२. किस प्रकार के शास्त्रग्रन्थों का अध्ययन करना चाहिये, इस की विशद मीमांसा चरक विमानस्थान अ० ८ खं ३ में विस्तार से की है। उसे अवश्य देखना चाहिये।

३. यहां पाठ कुछ भ्रष्ट हुआ प्रतीत होता है। आश्वलायन आदि कृत श्रौत गृह्य तथा धर्म सूत्रों की कल्प-संज्ञक अङ्ग में गणना होती है। यदि 'इत्यादि सूत्रों' से पूर्व-निर्दिष्ट दर्शनशास्त्रों का ग्रहण अभिप्रेत हो, तो वहां 'उपाङ्ग' शब्द का निर्देश होना चाहिये।

का प्रमाण वेद ही से होता है। ब्राह्मणादि सब ग्रन्थ परतःप्रमाण, अर्थात् इनका प्रमाण वेदाधीन है। वेद की विशेष व्याख्या ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में देख लीजिए, और इस ग्रन्थ में भी आगे लिखेंगे।

अब जो परित्याग के योग्य ग्रन्थ हैं, उनका परिगणन संक्षेप से किया जाता है। अर्थात् जो-जो नीचे ग्रन्थ लिखेंगे, वह-वह जाल-ग्रन्थ समझना चाहिये—

व्याकरण में कातन्त्र, सारस्वत, चन्द्रिका, मुग्धबोध, कौमुदी, शेखर, मनोरमादि। **कोश** [में] अमरकोशादि; **छन्दोग्रन्थ** में वृत्तरत्नाकरादि। **शिक्षा** में 'अथ शिक्षां प्रवक्ष्यामि पाणिनीयं मतं यथा' इत्यादि। **ज्योतिष** में शीघ्रबोध, मुहूर्त्तचिन्तामणि आदि। **काव्य** में नायिकाभेद, कुवलयानन्द, रघुवंश, माघ, किरातार्जुनीयादि। **मीमांसा** में धर्मसिन्धु, व्रतार्कादि; **वैशेषिक** में तर्कसंग्रहादि; **न्याय** में जागदीशी आदि; **योग** में हठप्रदीपिकादि; **सांख्य** में सांख्यतत्त्वकौमुद्यादि; **वेदान्त** में योगवासिष्ठ, पञ्चदश्यादि। **वैद्यक** में शार्ङ्गधरादि; **स्मृतियों** में एक मनुस्मृति इसमें भी प्रक्षिप्त श्लोक[1] [और] अन्य सब स्मृति। सब तन्त्रग्रन्थ, सब पुराण, सब उपपुराण, तुलसीदासकृत भाषारामायण, रुक्मिणीमंगलादि। और सर्व भाषाग्रन्थ, ये सब कपोलकल्पित मिथ्याग्रन्थ हैं।

प्रश्न—क्या इन ग्रन्थों में कुछ भी सत्य नहीं ?

उत्तर—थोड़ा सत्य तो है, परन्तु इसके साथ बहुत-सा असत्य भी है। इससे '**विषसम्पृक्तान्नवत् त्याज्याः**' जैसे अत्युत्तम अन्न विष से युक्त होने से छोड़ने योग्य होता है, वैसे ये ग्रन्थ हैं।

प्रश्न—क्या आप पुराण-इतिहास को नहीं मानते ?

उत्तर—हां मानते हैं, परन्तु सत्य को मानते हैं मिथ्या को नहीं।

प्रश्न—कौन सत्य और कौन मिथ्या है ?

---

१. यह सं० २ का पाठ है। यहां शुद्ध पाठ 'स्मृतियों में एक मनुस्मृति में प्रक्षिप्त श्लोक .....' जानना चाहिये। 'एक' पद का सम्बन्ध मनु के प्रक्षिप्त श्लोकों के साथ है।

उत्तर—**ब्राह्मणानीतिहासान् पुराणानि कल्पान् गाथा नाराशंसीरिति** ॥ यह गृह्यसूत्रादि[1] का वचन है।

जो ऐतरेय, शतपथादि ब्राह्मण लिख आये, उन्हींके इतिहास, पुराण, कल्प, गाथा और नाराशंसी पांच नाम हैं[2]। श्रीमद्भागवतादि का नाम पुराण नहीं।

प्रश्न—जो त्याज्य ग्रन्थों में सत्य है, उसका ग्रहण क्यों नहीं करते?

उत्तर—जो-जो उनमें सत्य है, सो-सो वेदादि-सत्य-शास्त्रों का है, और मिथ्या उनके घर का है। वेदादि-सत्य-शास्त्रों के स्वीकार में सब सत्य का ग्रहण हो जाता है। जो कोई इन मिथ्या ग्रन्थों से सत्य का ग्रहण करना चाहे, तो मिथ्या भी उसके गले लिपट जावे। इसलिये 'असत्यमिश्रं सत्यं दूरतस्त्याज्यमिति' असत्य से युक्त ग्रन्थस्थ सत्य को भी वैसे ही छोड़ देना चाहिये, जैसे विषयुक्त अन्न को।

प्रश्न—क्या[3] तुम्हारा मत है?

उत्तर—वेद, अर्थात् जो-जो वेद में करने और छोड़ने की शिक्षा की है, उस-उसका हम यथावत् करना, छोड़ना मानते हैं[4]। जिसलिये वेद हमको मान्य है, इसलिये हमारा मत वेद है। ऐसा ही मानकर

---

१. तै॰ आ॰ २।९॥ अन्त में 'इति' पद उद्धरण का निर्देशक है। आश्व॰ गृह्य ३।३।१ मे पाठ इस प्रकार है—**ब्राह्मणानि कल्पान् गाथा नाराशंसीरितिहासपुराणानीति**।

२. सायण ने तै॰ आ॰ २।९ के उक्त वचन की व्याख्या में इतिहास-पुराणादि पदों से ब्राह्मण वचनों का ही निर्देश माना है (पक्षान्तर में इतिहास—महाभारतादि, पुराण—ब्राह्मणादि भी लिखा है)। ऐसा ही व्याख्यान तै॰ आ॰ ८।२ में किया है, (द्र॰ पृष्ठ ५६३ पूना संस्करण) शंकराचार्य ने भी बृह॰ उप॰ २।४।१० के व्याख्यान में इतिहास पुराणशब्दों से ब्राह्मणगत विशिष्ट वचनों का ही निर्देश किया है।

३. 'क्या' पद उत्तरान्वयी है, अर्थात् तुम्हारा मत क्या है?

४. विहित का करना और प्रतिषिद्ध का परित्याग रूप अर्थ ही यहां मुख्य है। अप्रतिषिद्ध कर्म किया जा सकता है। जैमिनि ने भी कहा है—**विरोधे त्वनपेक्ष्यं स्यादसति ह्यनुमानम्** (मीमांसा १।३।२)।

सब मनुष्यों को, विशेष[तः] आर्य्यों को ऐकमत्य होकर रहना चाहिये।

प्रश्न—जैसा सत्यासत्य और दूसरे ग्रन्थों का परस्पर विरोध है, वैसे अन्य शास्त्रों में भी है। जैसा सृष्टि-विषय में छः शास्त्रों का विरोध है—मीमांसा कर्म, वैशेषिक काल,[1] न्याय परमाणु, योग पुरुषार्थ, सांख्य प्रकृति और वेदान्त ब्रह्म से सृष्टि की उत्पत्ति मानता है। क्या यह विरोध नहीं है ?

उत्तर—प्रथम तो विना सांख्य और वेदान्त के दूसरे चार शास्त्रों में सृष्टि की उत्पत्ति प्रसिद्ध[2] नहीं लिखी और इनमें विरोध [भी] नहीं। क्योंकि तुमको विरोधाविरोध का ज्ञान नहीं। मैं तुमसे पूछता हूं कि विरोध किस स्थल में होता है ? क्या एक विषय में अथवा भिन्न-भिन्न विषयों में ?

प्रश्न—एक विषय में अनेकों का परस्पर विरुद्ध कथन हो, उस को 'विरोध' कहते हैं। यहां भी सृष्टि एक ही विषय है।

उत्तर—क्या विद्या एक है वा दो ? एक है। जो एक है तो व्याकरण, वैद्यक, ज्योतिष आदि का भिन्न-भिन्न विषय क्यों हैं ? जैसा एक विद्या में अनेक विद्या के अवयवों का[3] एक-दूसरे से भिन्न प्रतिपादन होता है, वैसे ही सृष्टिविद्या के भिन्न-भिन्न छः अवयवों का छः[4] शास्त्रों में प्रतिपादन करने से इनमें कुछ भी विरोध नहीं। जैसे घड़े के बनाने में कर्म, समय, मट्टी, विचार संयोग-वियोगादि का पुरुषार्थ, प्रकृति के गुण और कुंभार कारण है, वैसे ही सृष्टि का जो कर्म कारण है उसकी व्याख्या मीमांसा में, समय की व्याख्या वैशेषिक में, उपादान कारण की व्याख्या न्याय में, पुरुषार्थ की व्याख्या योग में, तत्त्वों के अनुक्रम से परिगणन की व्याख्या सांख्य में, और निमित्त

---

१. इसी काल को श्वेताश्वतर (उप० १।२) में सृष्टि के कारणों में गिना है। कबीर सम्प्रदाय के साधु सुन्दरदास ने सुन्दरविलास में लिखा है—**'और वैशेषिक काल बखाने'**। २. अर्थात् प्रकट वा स्पष्ट रूप से। ३. सं० २ में 'के' पाठ है। ४. यह 'छः' पाठ मूल में है।

कारण जो परमेश्वर है उसकी व्याख्या वेदान्तशास्त्र में है। इससे कुछ भी विरोध नहीं।

जैसे वैद्यकशास्त्र में निदान, चिकित्सा, ओषधि-दान और पथ्य के प्रकरण भिन्न-भिन्न कथित हैं, परन्तु सब का सिद्धान्त रोग की निवृत्ति है, वैसे ही सृष्टि के छः कारण हैं। इनमें से एक-एक कारण की व्याख्या एक-एक शास्त्रकार ने की है। इसलिये इनमें कुछ भी विरोध नहीं। इसकी विशेष व्याख्या सृष्टि-प्रकरण में कहेंगे।

जो विद्या **पढ़ने-पढ़ाने के विघ्न** हैं उनको छोड़ देवें। जैसा—कुसंग अर्थात् दुष्ट विषयी जनों का संग; दुष्टव्यसन जैसा मद्यादि-सेवन और वेश्यागमनादि; बाल्यावस्था में विवाह,अर्थात् पच्चीस [वें] वर्ष[1] से पूर्व पुरुष और सोलहवें वर्ष से पूर्व स्त्री का विवाह हो जाना, पूर्ण ब्रह्मचर्य न होना; राजा माता-पिता और विद्वानों का प्रेम वेदादि शास्त्रों के प्रचार में न होना; अतिभोजन, अतिजागरण करना; पढ़ने-पढ़ाने परीक्षा लेने वा देने में आलस्य वा कपट करना; सर्वोपरि विद्या का लाभ न समझना; ब्रह्मचर्य से बल, बुद्धि, पराक्रम, आरोग्य, राज्य-धन की वृद्धि न मानना; ईश्वर का ध्यान छोड़ अन्य पाषाणादि जड़ मूर्त्ति के दर्शन-पूजन में व्यर्थ काल खोना; माता-पिता, अतिथि और आचार्य्य, विद्वान् इनको सत्य मूर्त्ति मानकर सेवा सत्संग न करना।

वर्णाश्रम के धर्म को छोड़ ऊर्ध्वपुण्ड्र, त्रिपुण्ड्र, तिलक, कण्ठी, माला-धारण; एकादशी, त्रयोदशी आदि व्रत करना; काश्यादि तीर्थ और राम, कृष्ण, नारायण, शिव, भगवती, गणेशादि के नाम स्मरण से पाप दूर होने का विश्वास; पाखण्डियों के उपदेश से विद्या पढ़ने में अश्रद्धा का होना; विद्या धर्म योग परमेश्वर की उपासना के बिना मिथ्या पुराणनामक भागवतादि की कथादि से मुक्ति का मानना; लोभ से धनादि में प्रवृत्ति होकर विद्या में प्रीति न रखना; इधर-उधर

---

१. संस्करण २ में 'पच्चीस वर्षों' पाठ है।

व्यर्थ घूमते रहना; इत्यादि मिथ्या-व्यवहारों में फंसके ब्रह्मचर्य्य और विद्या के लाभ से रहित होकर रोगी और मूर्ख बने रहते हैं।

आजकाल के संप्रदायी और स्वार्थी ब्राह्मण आदि, जो दूसरों को विद्या-सत्संग से हटा और अपने जाल में फंसाके उनका तन मन धन नष्ट कर देते हैं, और चाहते हैं कि जो क्षत्रियादि वर्ण पढ़कर विद्वान् हो जायेंगे, तो हमारे पाखण्डजाल से छूट, और हमारे छल को जानकर हमारा अपमान करेंगे। इत्यादि विघ्नों को राजा और प्रजा दूर करके अपने लड़कों और लड़कियों को विद्वान् करने के लिए तन मन धन से प्रयत्न किया करें।

प्रश्न—क्या स्त्री और शूद्र भी वेद पढ़ें? जो ये पढ़ेंगे तो हम फिर क्या करेंगे? और इनके पढ़ने में प्रमाण भी नहीं है। जैसा यह निषेध है—

स्त्रीशूद्रौ नाधीयातामिति श्रुतेः।[1]

स्त्री और शूद्र न पढ़ें, यह श्रुति है।

उत्तर—सब स्त्री और पुरुष अर्थात् मनुष्यमात्र को पढ़ने का अधिकार है। तुम कुआ में पड़ो, और यह श्रुति तुम्हारी कपोल-कल्पना से हुई है। किसी प्रामाणिक ग्रन्थ की नहीं। और सब मनुष्यों के वेदादि शास्त्र पढ़ने-सुनने के अधिकार का प्रमाण यजुर्वेद के छब्बीसवें अध्याय में दूसरा मन्त्र है[2]—

यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः।
ब्रह्मराजन्याभ्यां शूद्राय चार्याय च स्वाय चारणाय॥

परमेश्वर कहता है कि (यथा) जैसे मैं (जनेभ्यः) सब मनुष्यों

---

१. '**न स्त्रीशूद्रौ वेदमधीयाताम्**' इस रूप में मीमांसा न्यायप्रकाश के टीकाकारों ने 'रथकार का अग्न्याधान में अधिकार' प्रकरण के अन्त में उद्धृत किया है।

२. पं० सत्यव्रत सामश्रमी ने ग्रन्थकार द्वारा उद्धृत मन्त्र का प्रामाण्य स्वीकार किया—शूद्रस्य वेदाधिकारे साक्षात् वेदवचनमपि प्रदर्शितं स्वामिदयानन्देन—यथेमां वाचं······। ऐतरेयालोचन पृष्ठ १७।

के लिए (इमाम्) इस (कल्याणीम्) कल्याण अर्थात् संसार और मुक्ति के सुख देनेहारी (वाचम्) ऋग्वेदादि चारों वेदों की वाणी का (आवदानि) उपदेश करता हूं, वैसे तुम भी किया करो। यहां कोई ऐसा **प्रश्न** करे कि 'जन' शब्द से द्विजों का ग्रहण करना चाहिये। क्योंकि स्मृत्यादि ग्रन्थों में ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य ही के वेदों के पढ़ने का अधिकार लिखा है, स्त्री और शूद्रादि वर्णों का नहीं। **उत्तर**– (ब्रह्मराजन्याभ्याम्) इत्यादि, देखो परमेश्वर स्वयं कहता है कि हमने ब्राह्मण, क्षत्रिय, (अर्य्याय) वैश्य, (शूद्राय) शूद्र और (स्वाय) अपने भृत्य वा स्त्री आदि[1] (अरणाय) और अति-शूद्रादि के लिए भी वेदों का प्रकाश किया है, अर्थात् सब मनुष्य वेदों को पढ़-पढ़ा और सुन-सुनाकर विज्ञान को बढ़ाके अच्छी बातों का ग्रहण और बुरी बातों का त्याग करके दुःखों से छूटकर आनन्द को प्राप्त हों।

कहिये अब तुम्हारी मानें वा परमेश्वर की? परमेश्वर की बात अवश्य माननीय है। इतने पर भी जो कोई इसको न मानेगा, वह नास्तिक कहावेगा। क्योंकि **'नास्तिको वेदनिन्दकः'**[2] वेदों का निन्दक और न मानने वाला **'नास्तिक'** कहाता है।

क्या परमेश्वर शूद्रों का भला करना नहीं चाहता? क्या ईश्वर पक्षपाती है कि वेदों के पढ़ने-सुनने का शूद्रों के लिए निषेध और द्विजों के लिए विधि करे? जो परमेश्वर का अभिप्राय शूद्रादि के पढ़ाने-सुनाने का न होता, तो इनके शरीर में वाक् और श्रोत्र इन्द्रिय क्यों रचता? जैसे परमात्मा ने पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, चन्द्र, सूर्य और अन्नादि पदार्थ सब के लिये बनाये हैं, वैसे ही वेद भी सबके लिये प्रकाशित किये हैं। और जहां कहीं निषेध किया है, उसका यह अभिप्राय है कि जिसको पढ़ने-पढ़ाने से कुछ भी न आवे, वह निर्बुद्धि और मूर्ख होने से **'शूद्र'** कहाता है। उसका पढ़ना-पढ़ाना व्यर्थ है।

और जो स्त्रियों के पढ़ने का निषेध करते हो, वह तुम्हारी

---

१. सं० २ में 'स्त्रियादि' पाठ है।　　२. मनु० ५।११॥

मूर्खता, स्वार्थता और निर्बुद्धिता का प्रभाव है। देखो वेद में कन्याओं के पढ़ने का प्रमाण—

ब्रह्मचर्येण कन्या३ युवानं विन्दते पतिम् ॥

अथर्व० अ० ३। प्र० २४। का० ११। मं० १८॥[1]

जैसे लड़के ब्रह्मचर्य-सेवन से पूर्ण विद्या और सुशिक्षा को प्राप्त होके युवती, विदुषी, अपने अनुकूल प्रिय सदृश स्त्रियों के साथ विवाह करते हैं, वैसे (कन्या) कुमारी (ब्रह्मचर्येण) ब्रह्मचर्य्य-सेवन से वेदादि-शास्त्रों को पढ़, पूर्ण विद्या और उत्तम शिक्षा को प्राप्त युवती होके, पूर्ण युवावस्था में अपने सदृश प्रिय विद्वान् (युवानम्) पूर्ण युवावस्थायुक्त पुरुष को (विन्दते) प्राप्त होवे। इसलिए स्त्रियों को भी ब्रह्मचर्य्य और विद्या का ग्रहण अवश्य करना चाहिये।

प्रश्न—क्या स्त्रीलोग भी वेदों को पढ़ें ?

उत्तर अवश्य, देखो श्रौतसूत्रादि में '**इमं मन्त्रं पत्नी पठेत्**'[2] अर्थात् स्त्री यज्ञ में इस मन्त्र को पढ़े। जो वेदादिशास्त्रों को न पढ़ी होवे, तो यज्ञ में स्वरसहित मन्त्रों का उच्चारण और संस्कृतभाषण कैसे कर सके ? भारतवर्ष की स्त्रियों में भूषणरूप गार्गी आदि वेदादि शास्त्रों को पढ़के पूर्ण विदुषी हुई थीं, यह 'शतपथ ब्राह्मण'[3] में स्पष्ट लिखा है।

भला जो पुरुष विद्वान् और स्त्री अविदुषी, और स्त्री विदुषी और पुरुष अविद्वान् हो, तो नित्यप्रति देवासुर-संग्राम घर में मचा रहै, फिर सुख कहां ? इसलिये जो स्त्री न पढ़े, तो कन्याओं की पाठशाला में अध्यापिका क्योंकर हो सके ? तथा राजकार्य न्याया-

---

१. सरल पता—काण्ड ११, सूक्त ५, मन्त्र १८ ॥

२. तुलना करो—**पत्नीं वाचयति मेध्यामेवैनां करोति पत्यै प्रदाय वाचयेद् धोताऽध्वयुर्वा वेदोऽसि वित्तिरसि**······(आ० श्रौ० १।११); यत्पत्नी पुरोऽनुवाक्यामनुब्रूयात् (तै० ब्रा० १।६।५।६)। **ज्ञाते च वाचनं नह्यविद्वान् विहितोऽस्ति** (मीमांसा ३।८।१८) से भी पत्नी द्वारा मन्त्र-वाचन तभी सम्भव है, जब वह विदुषी वेद पढ़ी हुई होवे।

३. द्र० **शत० १४।६।६ गार्गी याज्ञवल्क्य संवाद।**

धीशत्वादि गृहाश्रम का कार्य—जो पति को स्त्री और स्त्री को पति प्रसन्न रखना, घर के सब काम स्त्री के आधीन रहना—इत्यादि काम विना विद्या के[१] अच्छे प्रकार कभी ठीक नहीं हो सकते।

देखो, आर्य्यावर्त्त के राजपुरुषों की स्त्रियां धनुर्वेद अर्थात युद्ध-विद्या भी अच्छी प्रकार जानती थीं। क्योंकि जो न जानती होतीं, तो केकयी आदि दशरथ आदि के साथ युद्ध में क्योंकर जा सकतीं और युद्ध कर सकतीं[२]? इसलिये ब्राह्मणी [को सब विद्या][३] और क्षत्रिया [को] सब विद्या [और युद्ध तथा राजविद्या विशेष][३], वैश्या को व्यवहारविद्या और शूद्रा को पाकादि सेवा की विद्या अवश्य पढ़नी चाहिये।

जैसे पुरुषों को व्याकरण, धर्म और अपने व्यवहार की विद्या न्यून-से-न्यून अवश्य पढ़नी चाहिये, वैसे स्त्रियों को भी व्याकरण, धर्म, वैद्यक, गणित, शिल्पविद्या तो अवश्य ही सीखनी चाहिये। क्योंकि इनके सीखे विना सत्यासत्य का निर्णय, पति आदि से अनुकूल वर्तमान, यथायोग्य सन्तानोत्पत्ति, उनका पालन वर्द्धन और सुशिक्षा करना, घर के सब कार्यों को जैसा चाहिये वैसा करना-कराना, वैद्यक-विद्या से औषधवत् अन्न-पान बनाना[४] और बनवाना नहीं कर सकतीं। जिससे घर में रोग कभी न आवे, और सब लोग सदा आनन्दित रहैं।

शिल्पविद्या के जाने विना घर का बनवाना, वस्त्र आभूषण आदि का बनाना-बनवाना, गणितविद्या के विना सबका हिसाब समझना-समझाना, वेदादि-शास्त्रविद्या के विना ईश्वर और धर्म को न जानके अधर्म से कभी न बच सकें। इसलिये वे ही धन्य-

---

१. संस्करण २ में 'आधीन रहना विना विद्या के इत्यादि काम अच्छे प्रकार' ऐसा पूर्वापर-मुद्रित पाठ है।

२. वाल्मीकि रामायण दाक्षिणात्य संस्करण, अयोध्या० ९।११ तथा ११।१८,१९॥

३. कोष्ठान्तर्गत पाठ संस्करण २ से ३३ तक में नहीं हैं, ३४ में हैं।

४. संस्करण २ में 'बना' पाठ है।

वादाह और कृतकृत्य हैं कि जो अपने सन्तानों को ब्रह्मचर्य्य, उत्तम शिक्षा और विद्या से शरीर और आत्मा के पूर्ण बल को बढ़ावें। जिनसे वे सन्तान, मातृ, पितृ, पति, सासु, श्वसुर, राजा, प्रजा, पड़ोसी, इष्ट-मित्र और सन्तानादि से यथायोग्य धर्म से वर्त्तें।

यही कोश अक्षय है। इसको जितना व्यय करे उतना ही बढ़ता जाय। अन्य सब कोश व्यय करने से घट जाते हैं, और दायभागी भी निज भाग लेते हैं। और विद्याकोश का चोर वा दायभागी कोई भी नहीं हो सकता। इस कोश की रक्षा और वृद्धि करने वाला विशेष राजा और प्रजा भी हैं।

कन्यानां सम्प्रदानं च कुमाराणां च रक्षणम्॥ मनु०[1]

राजा को योग्य है कि सब कन्या और लड़कों को उक्त समय से उक्त समय तक ब्रह्मचर्य्य में रख के विद्वान् कराना। जो कोई इस आज्ञा को न माने, तो उसके माता-पिता को दण्ड देना। अर्थात् राजा की आज्ञा से आठ वर्ष के पश्चात् लड़का वा लड़की किसी के घर में न रहने पावें, किन्तु आचार्यकुल में रहैं[2]। जब तक समावर्त्तन का समय न आवे, तब तक विवाह न होने पावे।

सर्वेषामेव दानानां ब्रह्मदानं विशिष्यते।
वार्य्यन्नगोमहीवासस्तिलकाञ्चनसर्पिषाम्॥ मनु[3]

संसार में जितने दान हैं, अर्थात् जल, अन्न, गौ, पृथिवी, वस्त्र, तिल, सुवर्ण और घृतादि, इन सब दानों से वेदविद्या का दान अतिश्रेष्ठ है। इसलिए जितना बन सके, उतना प्रयत्न तन मन धन से विद्या की वृद्धि में किया करें। जिस देश में यथायोग्य ब्रह्मचर्य्य, विद्या और वेदोक्त धर्म का प्रचार होता है, वही देश सौभाग्यवान् होता है।

यह ब्रह्मचर्य्याश्रम की शिक्षा संक्षेप से लिखी गई। इसके आगे चौथे समुल्लास में समावर्त्तन और गृहाश्रम की शिक्षा लिखी जायगी।

इति श्रीमद्दयानन्दसरस्वतीस्वामिकृते सत्यार्थप्रकाशे सुभाषाविभूषिते शिक्षाविषये तृतीयः समुल्लासः सम्पूर्णः॥३॥

---

१. मनु० ७।१५२॥ २. सं० २ में 'रहते हैं' पाठ है। ३. मनु० ४।२३३॥

अथ चतुर्थसमुल्लासारम्भः

अथ समावर्त्तन-विवाह-गृहाश्रमविधिं वक्ष्यामः

वेदानधीत्य वेदौ वा वेदं वापि यथाक्रमम् ।

अविप्लुतब्रह्मचर्यो गृहस्थाश्रममाविशेत्[1] **॥१॥ मनु०**[2]

जब यथावत् ब्रह्मचर्य्य [में] आचार्य्यानुकूल वर्त्तकर, धर्म से चारों तीन वा दो अथवा एक वेद को साङ्गोपाङ्ग पढ़के जिसका ब्रह्मचर्य्य खण्डित न हुआ हो, वह पुरुष वा स्त्री गृहाश्रम में प्रवेश करे ॥१॥

तं प्रतीतं स्वधर्मेण ब्रह्मदायहरं पितुः ।

स्रग्विणं तल्प आसीनमर्हयेत् प्रथमं गवा ॥२॥ मनु०[3]

जो स्वधर्म अर्थात् यथावत् आचार्य्य और शिष्य का धर्म है, उससे युक्त पिता जनक वा अध्यापक से ब्रह्मदाय अर्थात् विद्यारूप भाग का ग्रहण, और माला का धारण करने वाला अपने पलंग पर[4] बैठे हुए आचार्य्य को प्रथम गोदान से सत्कार [करे]। वैसे लक्षणयुक्त विद्यार्थी को भी कन्या का पिता गोदान से सत्कृत करे ॥२॥

गुरुणानुमतः स्नात्वा समावृत्तो यथाविधि ।

उद्वहेत द्विजो भार्यां सवर्णां लक्षणान्विताम् ॥३॥ मनु०[5]

गुरु की आज्ञा से स्नान कर, गुरुकुल से अनुक्रमपूर्वक आके, ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य अपने वर्णानुकूल सुन्दर-लक्षणयुक्त कन्या से विवाह करे ॥३॥

असपिण्डा च या मातुरसगोत्रा च या पितुः ।

सा प्रशस्ता द्विजातीनां दारकर्मणि मैथुने ॥४॥ मनु०[6]

---

१. मनु० के संवत् १९२६ के काशी संस्करण में 'आविशेत्' ही पाठ है। संस्कारविधि (पृष्ठ १५६, सं० ३ रा० ला० क० ट्र०) में भी यही पाठ उद्धृत है। मनु० के कुछ संस्करणों में 'आवसेत्' पाठ है। २. मनु० ३।२॥ ३. मनु० ३।३॥

४. संस्करण २ में 'पलङ्ग में बैठे' पाठ है।

५. मनु० ३।४॥ ६. मनु० ३।५॥

जो कन्या माता के कुल की छः पीढ़ियों में न हो, और पिता के गोत्र की न हो, उस कन्या से विवाह करना उचित है ॥४॥

इसका यह प्रयोजन है कि—

परोक्षप्रिया इव हि देवाः प्रत्यक्षद्विषः । शतपथ[1]

यह निश्चित बात है कि जैसी परोक्ष पदार्थ में प्रीति होती है, वैसी प्रत्यक्ष में नहीं । जैसे किसी ने मिश्री के गुण सुने हों और खाई न हो, तो उसका मन उसी में लगा रहता है। जैसे किसी परोक्ष वस्तु की प्रशंसा सुनकर मिलने की उत्कट इच्छा होती है, वैसे ही दूरस्थ, अर्थात् जो अपने गोत्र वा माता के कुल में निकट सम्बन्ध की न हो, उसी कन्या से वर का विवाह होना चाहिए ।

निकट और दूर विवाह करने में गुण ये हैं—

(१) एक—जो बालक बाल्यावस्था से निकट रहते हैं, परस्पर क्रीड़ा लड़ाई और प्रेम करते, एक दूसरे के गुण दोष स्वभाव वा बाल्यावस्था के विपरीत आचरण जानते, और जो नंगे भी एक दूसरे को देखते हैं, उनका परस्पर विवाह होने से प्रेम कभी नहीं हो सकता ।

(२) दूसरा—जैसे पानी में पानी मिलने से विलक्षण गुण नहीं होता, वैसे [ही] एक गोत्र पितृ वा मातृकुल में विवाह होने में धातुओं के अदल-बदल नहीं होने से उन्नति नहीं होती ।

(३) तीसरा—जैसे दूध में मिश्री वा शुण्ठ्यादि ओषधियों के योग होने से उत्तमता होती है, वैसे ही भिन्न-गोत्र मातृ-पितृकुल से पृथक् वर्त्तमान स्त्री-पुरुषों का विवाह होना उत्तम है ।

(४) चौथा—जैसे एक देश में रोगी हो, वह दूसरे देश में वायु और खान-पान के बदलने से रोगरहित होता है, वैसे ही दूरदेशस्थों के विवाह होने में उत्तमता है ।

(५) पांचवें—निकट सम्बन्ध करने में एक-दूसरे के निकट होने में सुख-दुःख का भान और विरोध होना भी सम्भव है, दूरदेश-

---

१. शत० १४।३।११।२॥

स्थों में नहीं। और दूरस्थों के विवाह में दूर-दूर प्रेम की डोरी लम्बी बढ़ जाती है, निकटस्थ विवाह में नहीं।

(६) छठे—दूर दूर देश के वर्त्तमान[1] और पदार्थों की प्राप्ति भी दूर सम्बन्ध होने में सहजता से हो सकती है, निकट विवाह होने में नहीं। इसीलिये—

दुहिता दुर्हिता दूरेहिता भवतीति। निरु०[2]

कन्या का नाम 'दुहिता' इस कारण से है कि इसका विवाह दूर देश में होने से हितकारी होता है, निकट करने[3] में नहीं।

(७) सातवें—कन्या के पितृकुल में दारिद्र्य होने का भी सम्भव है। क्योंकि जब-जब कन्या पितृकुल में आवेगी, तब-तब इसको कुछ-न-कुछ[4] देना ही होगा।

(८) आठवां—कोई निकट होने से एक-दूसरे को अपने-अपने पितृकुल के सहाय का घमण्ड, और जब कुछ भी दोनों में वैमनस्य होगा, तब स्त्री झट ही पिता के कुल में चली जायगी। एक दूसरे की निन्दा अधिक होगी और विरोध भी। क्योंकि प्राय:स्त्रियों का स्वभाव तीक्ष्ण और मृदु होता है। इत्यादि कारणों से पिता के एक गोत्र, माता की छ: पीढ़ी, और समीप देश में विवाह करना अच्छा नहीं।

महान्त्यपि समृद्धानि गोऽजाविधनधान्यतः।
स्त्रीसम्बन्धे दशैतानि कुलानि परिवर्जयेत् ॥१॥ मनु०[5]

चाहे कितने ही धन-धान्य, गाय, अजा, हाथी, घोड़े, राज्य, श्री आदि से समृद्ध ये कुल हों, तो भी विवाह-सम्बन्ध में निम्नलिखित दश कुलों का त्याग कर दे—॥१॥

हीनक्रियं निष्पुरुषं निश्छन्दो रोमशार्शसम्।
क्षय्यामयाव्यपस्मारिश्वित्रि[6] कुष्ठिकुलानि च ॥२॥ मनु०[7]

जो कुल सत्क्रिया से हीन, सत्पुरुषों से रहित, वेदाध्ययन से

---

१. अर्थात् वृत्त समाचार। २. निरु० ३।४॥

३. संस्करण २ में 'रहने' अपपाठ। ४. सं०२ में 'कुछ न देना' पाठ है।

५. मनु० ३।६॥ ६. संस्करण २ में 'श्वितृ' अपपाठ। ७. मनु० ३।७॥

विमुख, शरीर पर बड़े-बड़े लोम, अथवा बवासीर, क्षयी, दमा[1], खांसी, आमाशय[2], मिरगी, श्वेतकुष्ठ और गलितकुष्ठयुक्त कुलों की कन्या वा वर के साथ विवाह होना न चाहिये। क्योंकि ये सब दुर्गुण और रोग विवाह करने वाले के कुल में भी प्रविष्ट हो जाते हैं। इसलिये उत्तम कुल के लड़के और लड़कियों का आपस में विवाह होना चाहिये ॥२॥

नोद्वहेत् कपिलां कन्यां नाऽधिकाङ्गीं न रोगिणीम्।
नालोमिकां नातिलोमां न वाचाटां न पिङ्गलाम् ॥३॥ मनु०[3]

न पीले वर्ण वाली, न अधिकाङ्गी अर्थात् पुरुष से लम्बी चौड़ी, अधिक बल वाली, न रोगयुक्ता, न लोमरहित, न बहुत लोम वाली, न बकवाद करनेहारी, और भूरे नेत्रवाली ॥३॥

नर्क्षवृक्षनदीनाम्नीं नान्त्यपर्वतनामिकाम्।
न पक्ष्यहिप्रेष्यनाम्नीं न च भीषणनामिकाम् ॥४॥ मनु०[4]

न ऋक्ष अर्थात् अश्विनी भरणी रोहिणीदेई रेवतीबाई चित्तारी[5] आदि नक्षत्र नामवाली; तुलसिया[6] गेंदा गुलाबा चम्पा चमेली आदि वृक्ष नाम वाली; गङ्गा जमुना आदि नदी नाम वाली; चाण्डाली आदि अन्त्य नाम वाली; विन्ध्या हिमालया पार्वती आदि पर्वत नाम वाली; कोकिला मैना आदि पक्षी नाम वाली; नागी भुजंगा आदि सर्प नाम वाली; माधोदासी मीरादासी आदि प्रेष्य नाम वाली; और भीमकुंवरी[7] चंडिका काली आदि भीषण नामवाली कन्या के साथ विवाह न करना चाहिये। क्योंकि ये नाम कुत्सित और अन्य पदार्थों के भी हैं ॥४॥

---

१. संस्करण २ में 'दम' पाठ है।

२. अर्थात् अग्निमन्दता से आमाशय का रोग (द्र० सं० वि० पृ० १५८ तृ० सं०)। ३. मनु० ३।८॥

४. मनु० ३।९॥ ५. संस्करण २ में 'चित्तारि' पाठ है। चित्रा नक्षत्र पर 'चित्तरी' 'चितरी' नाम देखा जाता है।

६. सं०२ में 'तुलसिआ' पाठ है। ७. सं०२ में 'भीम कुंअरी' पाठ है।

अव्यङ्गाङ्गीं सौम्यनाम्नीं हंसवारणगामिनीम् ।
तनुलोमकेशदशनां मृद्वङ्गीमुद्वहेत् स्त्रियम् ।।५।। मनु०[1]

जिसके सरल सूधे अंग हों विरुद्ध न [हों], जिसका नाम सुन्दर अर्थात् यशोदा सुखदा आदि हो, हंस और हथिनी के तुल्य जिसकी चाल हो, सूक्ष्म लोम केश और दांतयुक्त[2], और जिसके सब अंग कोमल हों, वैसी स्त्री के साथ विवाह करना चाहिये ।।५।।

प्रश्न—विवाह का समय और प्रकार कौन सा अच्छा है ?

उत्तर—सोलहवें वर्ष से लेकर चौबीसवें वर्ष तक कन्या, और २५ पच्चीसवें वर्ष से लेके ४८वें वर्ष तक पुरुष का विवाह-समय उत्तम है । इसमें जो सोलह और पच्चीस में विवाह करे तो निकृष्ट, अठारह बीस की स्त्री और तीस पैंतीस वा चालीस वर्ष के पुरुष का मध्यम, चौबीस वर्ष की स्त्री और अड़तालीस वर्ष के पुरुष[3] का विवाह [होना] उत्तम है । जिस देश में इसी प्रकार विवाह की विधि श्रेष्ठ[4] और ब्रह्मचर्य्य विद्याभ्यास अधिक होता है वह देश सुखी, और जिस देश में ब्रह्मचर्य्य विद्याग्रहणरहित बाल्यावस्था और अयोग्यों का विवाह होता है वह देश दुःख में डूब जाता है । क्योंकि ब्रह्मचर्य्य विद्या के ग्रहणपूर्वक विवाह के सुधार ही से सब बातों का सुधार और बिगड़ने से बिगाड़ हो जाता है ।

प्रश्न—अष्टवर्षा भवेद् गौरी नववर्षा च रोहिणी ।
दशवर्षा भवेत् कन्या तत ऊर्ध्वं रजस्वला ।।१।।
माता चैव पिता तस्या ज्येष्ठो भ्राता तथैव च ।
त्रयस्ते नरकं यान्ति दृष्ट्वा कन्यां रजस्वलाम् ।।२।।

ये श्लोक पाराशरी[5] और शीघ्रबोध[6] में लिखे हैं । अर्थ यह है कि कन्या की आठवें वर्ष में गौरी, नववें वर्ष रोहिणी,

---

१. मनु० ३।१०।। २. सं० २ में 'दान्त' पाठ है । ३. सं० २ में 'औरकन्या' पाठ है ।
४. 'श्रेष्ठ विधि' युक्ततर पाठ जानना चाहिए ।
५. पाराशरी स्मृति के लघु बृहत् दो पाठ हैं । लघु पाठ में अ० ७ । श्लोक ६, ८ द्र० ।
६. शीघ्रबोध १।५४, ६५ (संस्करण भेद से श्लोक संख्या में भेद) ।

दशवें वर्ष कन्या और उसके आगे रजस्वला संज्ञा हो जाती है ।।१।।

दशवें वर्ष तक विवाह न करके रजस्वला कन्या को माता-पिता और उसका बड़ा भाई ये तीनों देखके नरक में गिरते हैं[1] ।।२।।

(उत्तर)—ब्रह्मोवाच—

एकक्षणा भवेद् गौरी द्विक्षणेयं तु[2] रोहिणी ।
त्रिक्षणा सा भवेत् कन्या ह्यत ऊर्ध्वं रजस्वला ।।१।।
माता पिता तथा भ्राता मातुलो भगिनी स्वका ।
सर्वे ते नरकं यान्ति दृष्ट्वा कन्यां रजस्वलाम् ।।२।।

यह सद्योनिर्मित ब्रह्मपुराण का वचन है ।

अर्थ—जितने समय में परमाणु एक पलटा खावे, उतने समय को क्षण कहते हैं । जब कन्या जन्मे तब एक क्षण में गौरी, दूसरे में रोहिणी, तीसरे में कन्या, और चौथे में रजस्वला हो जाती है ।।१।।

उस रजस्वला को देखके उसकी[3] माता, पिता, भाई, मामा और बहिन सब नरक को जाते हैं ।।२।।

प्रश्न—ये श्लोक प्रमाण नहीं ।

उत्तर—क्यों प्रमाण नहीं ? जो ब्रह्माजी के श्लोक प्रमाण नहीं, तो तुम्हारे भी प्रमाण नहीं हो सकते ।

प्रश्न—वाह-वाह ! पराशर और काशीनाथ का भी प्रमाण नहीं करते ?

उत्तर—वाह जी वाह ! क्या तुम ब्रह्माजी का प्रमाण नहीं करते ? पराशर, काशीनाथ से ब्रह्माजी बड़े नहीं हैं ? जो तुम ब्रह्माजी के श्लोकों को नहीं मानते, तो हम भी पराशर [और] काशीनाथ के श्लोकों को नहीं मानते ।

प्रश्न—तुम्हारे श्लोक असम्भव होने से प्रमाण नहीं । क्योंकि

---

१. यही पाठ संस्करण २ से ३३ तक है । संस्करण ३४ में परिवर्तित पाठ मिलता है ।

२. सर्वत्र 'द्विक्षणेयन्तु' परसवर्ण पाठ है । उससे भ्रान्त होकर 'द्विक्षणे यन्तु' पदच्छेद कर दिया गया । हमने स्पष्टता के लिये द्विक्षणा + इयं + तु = द्विक्षणेयं तु पाठ छापा है ।

३. सं० २ में 'उसी की' पाठ है ।

सहस्र क्षण जन्म-समय ही में बीत जाते हैं, तो विवाह कैसे हो सकता है ? और उस समय विवाह करने का कुछ फल भी नहीं दीखता।

उत्तर – जो हमारे श्लोक असम्भव हैं, तो तुम्हारे भी असम्भव हैं। क्योंकि आठ नौ और दशवें वर्ष[में] भी विवाह करना निष्फल है। क्योंकि सोलहवें वर्ष के पश्चात् चौबीसवें वर्ष पर्यन्त विवाह होने से पुरुष का वीर्य परिपक्व, शरीर बलिष्ठ, स्त्री का गर्भाशय पूरा और शरीर भी बलयुक्त होने से सन्तान उत्तम होते हैं *।

जैसे आठवें वर्ष की कन्या में सन्तानोत्पत्ति का होना असम्भव है, वैसे ही गौरी रोहिणी नाम देना भी अयुक्त है। यदि गौरी कन्या न हो किन्तु काली हो, तो उसका नाम गौरी रखना व्यर्थ हैं। और गौरी महादेव की स्त्री, रोहिणी वसुदेव की स्त्री थी, उसको तुम पौराणिक लोग मातृ-समान मानते हो। जब कन्यामात्र में गौरी आदि की भावना करते हो, तो फिर उनसे विवाह करना कैसे सम्भव और धर्मयुक्त हो सकता है? इसलिये तुम्हारे और हमारे दो-दो श्लोक मिथ्या ही हैं। क्योंकि

---

* उचित समय से न्यून आयु वाले स्त्री-पुरुष को गर्भाधान में मुनिवर धन्वन्तरिजी सुश्रुत में निषेध करते है—

ऊनषोडशवर्षायामप्राप्तः पञ्चविंशतिम्।
यद्याधत्ते पुमान् गर्भं कुक्षिस्थः स विपद्यते ॥१॥

जातो वा न चिरं जीवेज्जीवेद्वा दुर्बलेन्द्रियः।
तस्मादत्यन्तबालायां गर्भाधानं न कारयेत् ॥२॥

[सुश्रुतशारीरस्थाने अ० १०। श्लोक ४७, ४८॥]

अर्थ - सोलह वर्ष से न्यून वयवाली स्त्री में पच्चीस वर्ष से न्यून आयु वाला पुरुष जो गर्भ को स्थापन करे, तो वह कुक्षिस्थ हुआ गर्भ विपत्ति को प्राप्त होता, अर्थात् पूर्ण काल तक गर्भाशय में रह कर उत्पन्न नहीं होता ॥१॥

अथवा उत्पन्न हो तो [फिर] चिरकाल तक न जीवे, वा जीवे तो दुर्बलेन्द्रिय हो। इस कारण से अति बाल्यावस्था वाली स्त्री में गर्भस्थापन न करे ॥२॥

ऐसे-ऐसे शास्त्रोक्त नियम और सृष्टिक्रम को देखने और बुद्धि से विचारने से यही सिद्ध होता है कि १६ वर्ष से न्यून स्त्री और २५ वर्ष से न्यून आयु वाला पुरुष कभी गर्भाधान करने के योग्य नहीं होता। इन नियमों से विपरीत जो करते हैं, वे दुःखभागी होते हैं। द० स०

जैसा हमने ब्रह्मोवाच करके श्लोक बना लिये हैं वैसे वे भी पराशर आदि के नाम से बना लिये हैं। इसलिये इन सबका प्रमाण छोड़के वेदों के प्रमाण से सब काम किया करो[1]। देखो मनु में—

त्रीणि वर्षाण्युदीक्षेत कुमार्यृतुमती सती ।
ऊर्ध्वं तु कालादेतस्माद् विन्देत सदृशं पतिम् ॥ मनु०[2]

कन्या रजस्वला हुए पीछे तीन वर्ष-पर्यन्त पति की खोज करके अपने तुल्य पति को प्राप्त होवे। जब प्रतिमास रजोदर्शन होता है, तो तीन वर्षों में ३६ वार रजस्वला हुए पश्चात् विवाह करना योग्य है, इससे पूर्व नहीं।

काममामरणात् तिष्ठेद् गृहे कन्यर्त्तुमत्यपि ।
न चैवैनां प्रयच्छेत्तु गुणहीनाय कर्हिचित् ॥ मनु०[3]

चाहे लड़का लड़की मरणपर्यन्त कुमारे रहैं, परन्तु असदृश अर्थात् परस्पर विरुद्ध गुण कर्म स्वभाव वालों का विवाह कभी न होना चाहिए। इससे सिद्ध हुआ कि न पूर्वोक्त समय से प्रथम वा असदृशों का विवाह होना योग्य है।

प्रश्न—विवाह माता पिता के आधीन होना चाहिये, वा लड़का लड़की के आधीन रहै ?

उत्तर—लड़का लड़की के आधीन विवाह होना उत्तम है। जो माता-पिता विवाह करना कभी विचारें, तो भी लड़का-लड़की की प्रसन्नता के विना न होना चाहिये। क्योंकि एक दूसरे की प्रसन्नता से विवाह होने में विरोध बहुत कम होता [है], और सन्तान उत्तम होते हैं। अप्रसन्नता के विवाह में नित्य क्लेश ही रहता है। विवाह में मुख्य प्रयोजन वर और कन्या का है, माता पिता का नहीं। क्योंकि जो उनमें परस्पर प्रसन्नता रहै, तो उन्हीं को सुख और विरोध में उन्हीं को दुःख होता [है]। और—

---

१. द्रष्टव्य—एतदुक्तं भवति मन्त्रेणैवानुकृतं कर्म कर्तव्यम्। स्कन्द निरुक्त टीका १।२, भाग १, पृष्ठ १६॥

२. मनु० ९।९०॥ ३. मनु० ९।८९॥

सन्तुष्टो भार्यया भर्त्ता भर्त्रा भार्य्या तथैव च ।
यस्मिन्नेव कुले नित्यं कल्याणं तत्र वै ध्रुवम् ।। मनु०[१]

जिस कुल में स्त्री से पुरुष और पुरुष से स्त्री सदा प्रसन्न रहती है, उसी कुल में आनन्द लक्ष्मी और कीर्ति निवास करती है। और जहां विरोध कलह होता है, वहां दुःख दरिद्र[ता] और निन्दा निवास करती है।

इसलिए जैसी स्वयंवर की रीति आर्य्यावर्त्त में परम्परा से चली आती है, वही विवाह उत्तम है। जब स्त्री-पुरुष विवाह करना चाहैं, तब विद्या, विनय, शील, रूप, आयु, बल, कुल, शरीर का परिमाणादि यथायोग्य होना चाहिये। जब तक इनका मेल नहीं होता, तब तक विवाह में कुछ भी सुख नहीं होता। और न बाल्यावस्था में विवाह करने से सुख होता[है]।

युवा सुवासाः परिवीत आगात् स उ श्रेयान् भवति जायमानः।
तं धीरासः कवय उन्नयन्ति स्वाध्यो मनसा देवयन्तः ।।१।।

ऋ० मं० ३। सू० ८। मं० ४।।

आ धेनवो धुनयन्तामशिश्वीः सबर्दुघाः[२] शशया अप्रदुग्धाः ।
नव्यानव्या युवतयो भवन्तीर्महद्देवानामसुरत्वमेकम् ।।२।।

ऋ० मं० ३। सू० ५५। मं० १।।

पूर्वीरहं शरदः शश्रमाणा दोषा वस्तोरुषसो जरयन्तीः ।
मिनाति श्रियं जरिमा तनूनामप्यू नु पत्नीर्वृषणो जगम्युः।।३।।

ऋ० मं० १। सू० १७९। मं० १ ।।

[अर्थ—]जो पुरुष (परिवीतः) सब ओर से यज्ञोपवीत, ब्रह्मचर्य्य-सेवन से उत्तम शिक्षा और विद्या से युक्त, (सुवासाः) सुन्दर वस्त्र धारण किया हुआ, ब्रह्मचर्य्ययुक्त (युवा) पूर्ण ज्वान होके विद्याग्रहण कर

१. मनु० ३।६०।। २. संस्करण २ में 'शबर्दुघाः' अपपाठ है।

गृहाश्रम में (आगात्) आता है, (स उ) वही दूसरे विद्याजन्म में (जायमानः) प्रसिद्ध होकर (श्रेयान्) अतिशय शोभायुक्त मङ्गलकारी (भवति) होता है। (स्वाध्यः) अच्छे प्रकार ध्यानयुक्त, (मनसा) विज्ञान से (देवयन्तः) विद्यावृद्धि की कामनायुक्त, (धीरासः) धैर्ययुक्त (कवयः) विद्वान् लोग (तम्) उसी पुरुष को (उन्नयन्ति) उन्नतिशील करके प्रतिष्ठित करते हैं। और जो ब्रह्मचर्य्यधारण, विद्या उत्तम शिक्षा का ग्रहण किये विना अथवा बाल्यावस्था में विवाह करते हैं, वे स्त्री-पुरुष नष्ट-भ्रष्ट होकर विद्वानों में प्रतिष्ठा को प्राप्त नहीं होते ॥१॥

जो (अप्रदुग्धाः) किसी ने दुही नहीं, उन (धेनवः) गौओं के समान (अशिश्वीः) बाल्यावस्था से रहित, (सबर्दुघाः[1]) सब प्रकार के उत्तम व्यवहारों को पूर्ण करनेहारी, (शशयाः) कुमारावस्था को उल्लंघन करनेहारी, (नव्यानव्याः) नवीन-नवीन शिक्षा और अवस्था से पूर्ण (भवन्तीः) वर्त्तमान (युवतयः) पूर्ण युवावस्थास्थ स्त्रियां (देवानाम्) ब्रह्मचर्य्य सुनियमों से पूर्ण विद्वानों के (एकम्) अद्वितीय (महत्) बड़े (असुरत्वम्) प्रज्ञा शास्त्रशिक्षायुक्त, प्रज्ञा में रमण के भावार्थ को प्राप्त होती हुई, तरुण पतियों को प्राप्त होके (आ धुनयन्ताम्) गर्भ-धारण करें[2], कभी भूल के भी बाल्यावस्था में पुरुष का मन से भी ध्यान न करें। क्योंकि यही कर्म इस लोक और परलोक के सुख का साधन है। बाल्यावस्था में विवाह से जितना पुरुष का नाश उससे अधिक स्त्री का नाश होता है ॥२॥

जैसे (नु) शीघ्र (शश्रमाणाः) अत्यन्त श्रम करनेहारे (वृषणः) वीर्य सींचने में समर्थ पूर्ण युवावस्थायुक्त पुरुष (पत्नीः) युवावस्थास्थ, हृदयों को प्रिय स्त्रियों को (जगम्युः) प्राप्त होकर पूर्ण शतवर्ष वा उससे अधिक वर्ष आयु को आनन्द से भोगते, और पुत्र पौत्रादि से संयुक्त रहते रहैं, वैसे स्त्री-पुरुष सदा वर्त्तें। जैसे (पूर्वीः) पूर्व वर्त्तमान (शरदः) शरद् ऋतुओं और (जरयन्तीः) वृद्धावस्था को

---

१. संस्करण २ में (शबर्दुघाः) अपपाठ है।
२. संस्करण २ में 'करके' पाठ है।

प्राप्त कराने वाली (उषस:) प्रात:काल की वेलाओं को (दोषा:) रात्री और (वस्तो.) दिन (तनूनाम्) शरीरों की (श्रियम्) शोभा को (जरिमा) अतिशय वृद्धपन बल और शोभा को [(मिनाति)] दूर कर देता है, वैसे (अहम्) मैं स्त्री वा पुरुष (उ) अच्छे प्रकार (अपि) निश्चय करके ब्रह्मचर्य्य से विद्या शिक्षा शरीर और आत्मा के बल और युवावस्था को प्राप्त होही के विवाह करूं। इससे विरुद्ध करना वेदविरुद्ध होने से सुखदायक विवाह कभी नहीं होता ॥३॥

जब तक इसी प्रकार ऋषि-मुनि राजा-महाराजा आर्य्य लोग ब्रह्मचर्य्य से विद्या पढ़ ही के स्वयंवर विवाह करते थे, तब तक इस देश की सदा उन्नति होती थी। जब से यह ब्रह्मचर्य्य से विद्या का न पढ़ना, बाल्यावस्था में पराधीन अर्थात् माता-पिता के आधीन विवाह होने लगा, तब से क्रमश: आर्य्यावर्त्त देश की हानि होती चली आई है। इससे इस दुष्ट काम को छोड़के सज्जन लोग पूर्वोक्त प्रकार से स्वयंवर विवाह किया करें। सो विवाह वर्णानुक्रम से करें, और वर्णव्यवस्था भी गुण कर्म स्वभाव के अनुसार होनी चाहिये।

प्रश्न—क्या जिसके माता-पिता ब्राह्मण हों, वह ब्राह्मणी ब्राह्मण[1] होता है? और जिसके माता-पिता अन्यवर्णस्थ हों, उनका सन्तान कभी ब्राह्मण हो सकता है?

उत्तर—हां बहुत से हो गये, होते हैं, और होंगे भी। जैसे छान्दोग्य उपनिषद में जाबाल ऋषि अज्ञातकुल[2], महाभारत में विश्वामित्र क्षत्रियवर्ण,[3] और मातङ्ग ऋषि चाण्डाल कुल

---

१. यहां 'क्या जिसके माता ब्राह्मणी पिता ब्राह्मण हों, वह ब्राह्मण होता है' पाठ युक्त प्रतीत होता है।

२. सा (जाबाला) हैनमुवाच नाहमेतद् वेद तात यद्गोत्रस्त्वमसि बह्वहं चरन्ती परिचारिणी यौवने त्वामलभे।......... ... त होवाच (आचार्य:) नैतदब्राह्मणो विवक्तुमर्हति। छान्दोग्योप० ४।४।२-५॥

३. कथं प्राप्तं महाराज क्षत्रियेण महात्मना। विश्वामित्रेण धर्मात्मन् ब्राह्मणत्वं नरर्षभ॥ महा० अनु० ३।१,२॥ इसी प्रकार द्र० अनु० ४।४८, ४९; ५२, ४ चित्रशाला प्रेस पूना संस्करण।

से[1] ब्राह्मण हो गये थे। अब भी जो उत्तम विद्या स्वभाववाला है, वही ब्राह्मण के योग्य और मूर्ख शूद्र के योग्य होता है। और वैसा ही आगे भी होगा।

प्रश्न—भला जो रज-वीर्य से शरीर हुआ है, वह बदल कर दूसरे वर्ण के योग्य कैसे हो सकता [है]?

उत्तर—रज-वीर्य्य के योग से ब्राह्मण शरीर नहीं होता। किन्तु—

स्वाध्यायेन [2]जपैर्होमैस्त्रैविद्येनेज्यया सुतैः।
महायज्ञैश्च यज्ञैश्च ब्राह्मीयं क्रियते तनुः॥ मनु०[3]

इसका अर्थ पूर्व[4] कर आये हैं। अब यहां भी संक्षेप से कहते हैं— (स्वाध्यायेन[5]) पढ़ने-पढ़ाने, (जपैः) विचार करने-कराने, [(होमैः)] नानाविध होम के अनुष्ठान, [(त्रैविद्येन)] सम्पूर्ण वेदों को शब्द अर्थ सम्बन्ध स्वरोच्चारणसहित पढ़ने-पढ़ाने, (इज्यया) पौर्णमासी इष्टि आदि के करने, पूर्वोक्त विधिपूर्वक (सुतैः) धर्म से सन्तानोत्पत्ति, (महायज्ञैश्च) पूर्वोक्त ब्रह्मयज्ञ, देवयज्ञ, पितृयज्ञ, वैश्वदेवयज्ञ और अतिथियज्ञ, (यज्ञैश्च) अग्निष्टोमादि यज्ञ, विद्वानों का संग-सत्कार, सत्यभाषण, परोपकारादि सत्कर्म, और सम्पूर्ण शिल्पविद्यादि पढ़के दुष्टाचार छोड़ श्रेष्ठाचार में वर्त्तने से (इयम्) यह (तनुः) शरीर (ब्राह्मी) ब्राह्मण का (क्रियते) किया जाता है।

क्या इस श्लोक को तुम नहीं मानते? मानते हैं। फिर क्यों रज-वीर्य्य के योग से वर्णव्यवस्था मानते हो? मैं अकेला नहीं मानता, किन्तु बहुत से लोग परम्परा से ऐसा ही मानते हैं।

प्रश्न—क्या तुम परम्परा का भी खण्डन करोगे?

उत्तर—नहीं, परन्तु तुम्हारी उलटी समझ को नहीं मानके खण्डन भी करते हैं।

---

१. स्थाने मतङ्गो ब्राह्मण्यमालभद् भरतर्षभ।
चण्डालयोनौ जातो हि कथं ब्राह्मण्यमवाप्तवान्॥ महा०अनु० ३।१९॥

२. पूर्व पृष्ठ ७२ पर इस श्लोक में 'व्रतैः' पाठ स्वीकार किया है। मनु में भी यही पाठ है।

३. मनु० २।२८।

४. पूर्व पृष्ठ ७२।

५. संस्करण २ में '(स्वाध्याय)' पाठ है।

प्रश्न – हमारी उलटी और तुम्हारी सूधी समझ है, इसमें क्या प्रमाण [है] ?

उत्तर—यही प्रमाण है कि जो तुम पांच-सात पीढ़ियों के वर्त्तमान को सनातन व्यवहार मानते हो। और हम वेद तथा सृष्टि के आरम्भ से आज-पर्यन्त की परम्परा मानते हैं। देखो, जिसका पिता श्रेष्ठ उसका पुत्र दुष्ट, और जिसका पुत्र श्रेष्ठ उसका पिता दुष्ट, तथा कहीं दोनों श्रेष्ठ वा दुष्ट देखने में आते हैं। इसलिए तुम लोग भ्रम में पड़े हो।

देखो मनु महाराज ने क्या कहा है—

येनास्य पितरो याता येन याताः पितामहाः।
तेन या यात् सतां मार्गं तेन गच्छन्न रिष्यते॥ मनु०[1]

जिस मार्ग से इसके पिता-पितामह चले हों, उसी मार्ग में सन्तान भी चलें। परन्तु 'सताम्'=जो सत्पुरुष पिता-पितामह हों उन्हीं के मार्ग में चलें। और जो पिता-पितामह दुष्ट हों, तो उनके मार्ग में कभी न चलें। क्योंकि उत्तम धर्मात्मा पुरुषों के मार्ग में चलने से दुःख कभी नहीं होता।

इसको तुम मानते हो वा नहीं? हां हां मानते हैं। और देखो, जो परमेश्वर की प्रकाशित वेदोक्त बात है वही **सनातन**, और [जो] उसके विरुद्ध है वह सनातन कभी नहीं हो सकती। ऐसा ही सब लोगों को मानना चाहिए वा नहीं? अवश्य चाहिये। जो ऐसा [न] माने, उससे कहो कि किसी का पिता दरिद्र हो और उसका पुत्र धनाढ्य होवे, तो क्या अपने पिता की दरिद्रावस्था के अभिमान से धन को फेंक देवे? क्या जिसका पिता अन्धा हो उसका पुत्र भी अपनी आंखों को फोड़ लेवे? जिसका पिता कुकर्मी हो क्या उसका पुत्र भी कुकर्म को ही करे? नहीं-नहीं, किन्तु जो-जो पुरुषों के उत्तम कर्म हों उनका सेवन, और दुष्ट कर्मों का त्याग कर देना सब को अत्यावश्यक है।

---

१. मनु ४।१७८॥

जो कोई रज-वीर्य्य के योग से वर्णाश्रम-व्यवस्था माने, और गुण कर्मों के योग से न माने, तो उससे पूछना चाहिए कि—जो कोई अपने वर्ण को छोड़ नीच अन्त्यज अथवा कृश्चीन मुसलमान हो गया हो, उसको भी ब्राह्मण क्यों नहीं मानते ? यहां यही कहोगे कि उसने ब्राह्मण के कर्म छोड़ दिये, इसलिये वह ब्राह्मण नहीं है। इससे यह भी सिद्ध होता है[कि]जो ब्राह्मणादि उत्तम कर्म करते हैं वे ही ब्राह्मणादि, और जो नीच भी उत्तम वर्ण के गुण कर्म स्वभाव वाला होवे, तो उसको भी उत्तम वर्ण में, और जो उत्तम वर्णस्थ होके नीच काम करे, तो उसको नीच वर्ण में गिनना अवश्य चाहिये।

प्रश्न—

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः ।
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रोऽअजायत ॥

यह यजुर्वेद के ३१ वें अध्याय का ११ वां मन्त्र है।

इसका यह अर्थ है कि—ब्राह्मण ईश्वर के मुख, क्षत्रिय बाहू, वैश्य ऊरू और शूद्र पगों से उत्पन्न हुआ है। इसलिए जैसे मुख न बाहू आदि, और बाहू आदि न मुख होते हैं, इसी प्रकार ब्राह्मण न क्षत्रियादि और क्षत्रियादि न ब्राह्मण हो सकते[हैं]।

उत्तर—इस मन्त्र का अर्थ जो तुमने किया, वह ठीक नहीं। क्योंकि यहां पुरुष अर्थात् निराकार व्यापक परमात्मा की अनुवृत्ति है। जब वह निराकार है, तो उसके मुखादि अंग नहीं हो सकते। जो मुखादि अङ्गवाला हो वह पुरुष अर्थात् व्यापक नहीं। और जो व्यापक नहीं, वह सर्वशक्तिमान्, जगत् का स्रष्टा, धर्त्ता, प्रलयकर्त्ता, जीवों के पुण्य-पापों[1] की व्यवस्था करनेहारा, सर्वज्ञ, अजन्मा[2], मृत्युरहित आदि विशेषणवाला नहीं हो सकता।

इसलिये इसका यह अर्थ है कि—

जो (अस्य) पूर्ण व्यापक परमात्मा की सृष्टि में मुख के सदृश

१. अनेक संस्करणों में 'पापों को जानके व्यवस्था' पाठ है।

२. संस्करण २ में 'आत्मा' पाठ है।

सब में मुख्य उत्तम हो वह (ब्राह्मण:) 'ब्राह्मण' (बाहू) **'बाहुर्वै बलम्, बाहुर्वै वीर्यम्'** शतपथ ब्राह्मण[1]। बल वीर्य्य का नाम बाहु है, वह जिसमें अधिक हो सो (राजन्य:) 'क्षत्रिय', (ऊरू) कटि के अधो और जानु के उपरिस्थ भाग का नाम [ऊरू] है, जो सब पदार्थों और सब देशों में ऊरू के बल से जावे-आवे, प्रवेश करे वह (वैश्य:) 'वैश्य' और (पद्भ्याम्) जो पग के अर्थात् नीचे अङ्ग के सदृश मूर्खत्वादि गुण वाला हो वह 'शूद्र' है।

अन्यत्र 'शतपथ ब्राह्मणादि' में भी इस मन्त्र का ऐसा ही अर्थ किया है। जैसे—

'यस्मादेते मुख्यास्तस्मान्मुखतो ह्यसृज्यन्त'[2] इत्यादि।

जिससे ये मुख्य हैं, इससे मुख से उत्पन्न हुए, ऐसा कथन संगत होता है। अर्थात् जैसा मुख सब अङ्गों में श्रेष्ठ है, वैसे पूर्ण विद्या और उत्तम गुण कर्म स्वभाव से युक्त होने से मनुष्यजाति में उत्तम 'ब्राह्मण' कहाता है। जब परमेश्वर के निराकार होने से मुखादि अंग ही नहीं हैं, तो मुख [आदि] से उत्पन्न होना असंभव है, जैसा कि बन्ध्या स्त्री[3] के पुत्र का विवाह होना।

और जो मुखादि अङ्गों से ब्राह्मणादि उत्पन्न होते, तो उपादान कारण के सदृश ब्राह्मणादि की आकृति अवश्य होती। जैसा मुख का आकार गोलमाल है, वैसे ही उनके शरीर का भी गोलमाल मुखाकृति के समान होना चाहिये। क्षत्रियों के शरीर भुजा के सदृश, वैश्यों के ऊरू के तुल्य, और शूद्रों के[4] शरीर पग के समान आकारवाले होने चाहियें? ऐसा नहीं होता। और जो कोई तुमसे प्रश्न करेगा

---

१. अनुपलब्धमूल। जिन सम्पादकों ने इनके पते दिये हैं उन्होंने मूल पाठ बिना मिलाये ही पते दे दिये हैं।

२. तुलना करो—तै० सं० ७।१।१।४ 'तस्मादेते मुख्या मुखतो ह्यसृज्यन्त'।

३. सं०२ में 'तो मुख से····· बन्ध्या स्त्री आदि के' पाठ है। यहां 'स्त्री' से आगे पढ़ा गया 'आदि' पद अस्थान में है, उसे 'मुख' शब्द से परे होना चाहिये।

४. संस्करण २ में 'का' पाठ है।

कि जो-जो मुखादि से उत्पन्न हुए थे, उनकी ब्राह्मणादि संज्ञा हो, परन्तु तुम्हारी नहीं। क्योंकि जैसे [और] सब लोग गर्भाशय से उत्पन्न होते हैं, वैसे तुम भी होते हो। तुम मुखादि से उत्पन्न न होकर ब्राह्मणादि संज्ञा का अभिमान करते हो[1]। इसलिये तुम्हारा कहा अर्थ व्यर्थ है, और जो हमने अर्थ किया है, वह सच्चा है।

ऐसा ही अन्यत्र भी कहा है। जैसा—

शूद्रो ब्राह्मणतामेति ब्राह्मणश्चैति शूद्रताम्।
क्षत्रियाज्जातमेवन्तु विद्याद् वैश्यात्तथैव च॥ मनु०[2]

[जो] शूद्रकुल में उत्पन्न होके ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्य के समान गुण कर्म स्वभाव वाला हो, तो वह शूद्र, ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्य हो जाय। वैसे ही जो ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्य कुल में उत्पन्न हुआ हो, और उसके गुण कर्म स्वभाव शूद्र के सदृश हों, तो वह शूद्र हो जाय। वैसे क्षत्रिय [वा] वैश्य के कुल में उत्पन्न होके ब्राह्मण[3] वा शूद्र के समान होने से ब्राह्मण और शूद्र भी हो जाता है। अर्थात् चारों वर्णों में जिस-जिस वर्ण के सदृश जो-जो पुरुष वा स्त्री हो, वह-वह उसी वर्ण में गिनी जावे।

धर्मचर्य्यया जघन्यो वर्णः पूर्वं पूर्वं वर्णमापद्यते जातिपरिवृत्तौ॥१॥
अधर्मचर्य्यया पूर्वो वर्णो जघन्यं जघन्यं वर्णमापद्यते जातिपरिवृत्तौ॥२॥

ये आपस्तम्ब के सूत्र[4] हैं।

धर्माचरण से निकृष्ट वर्ण अपने से उत्तम-उत्तम वर्ण को प्राप्त होता है। और वह उसी वर्ण में गिना जावे कि जिस-जिसके योग्य होवे॥१॥

वैसे अधर्माचरण से पूर्व-पूर्व अर्थात् उत्तम [उत्तम] वर्णवाला

---

१. इसके आगे 'तो तुमसे कुछ उत्तर न बन पड़ेगा' इतना पाठ आवश्यक है। द्र० वेदानन्द सं० पृ० ८२॥

२. मनु० १०।६५॥ ३. सं० २ में 'ब्राह्मण ब्राह्मण' पुनरुक्त अपपाठ। इसे कुछ सम्पादकों ने 'ब्राह्मण ब्राह्मणी' बना दिया, जो अप्रासङ्गिक है।

४. आपस्तम्ब के धर्मसूत्र २।५।११।१०,११॥

मनुष्य अपने से नीचे-नीचे वाले वर्ण को प्राप्त होता है। और [वह] उसी वर्ण में गिना जावे ॥२॥

जैसे पुरुष जिस-जिस वर्ण के योग्य होता है, वैसे ही स्त्रियों की भी व्यवस्था समझनी चाहिये। इससे क्या सिद्ध हुआ कि इस प्रकार होने से सब वर्ण अपने-अपने गुण कर्म स्वभावयुक्त होकर शुद्धता के साथ रहते हैं। अर्थात् ब्राह्मणकुल में कोई क्षत्रिय वैश्य और शूद्र के सदृश न रहे, और क्षत्रिय वैश्य तथा शूद्र वर्ण भी शुद्ध रहते हैं। अर्थात् वर्णसंकरता प्राप्त न होगी, इससे किसी वर्ण की निन्दा वा अयोग्यता भी न होगी।

प्रश्न—जो किसी के एक ही पुत्र वा पुत्री हो वह दूसरे वर्ण में प्रविष्ट हो जाय, तो उसके मां-बाप की सेवा कौन करेगा? और वंशच्छेदन भी हो जायगा। इसकी क्या व्यवस्था होनी चाहिये?

उत्तर—न किसी की सेवा का भङ्ग, और न वंशच्छेदन होगा। क्योंकि उनको अपने लड़के-लड़कियों के बदले स्ववर्ण के योग्य दूसरे सन्तान विद्यासभा और राजसभा की व्यवस्था से मिलेंगे। इसलिये कुछ भी अव्यवस्था न होगी।

यह गुण कर्मों से वर्णों की व्यवस्था कन्याओं की सोलहवें वर्ष और पुरुषों की पच्चीसवें वर्ष की परीक्षा में नियत करनी चाहिये। और इसी क्रम से अर्थात् ब्राह्मण वर्ण का ब्राह्मणी, क्षत्रिय वर्ण का क्षत्रिया, वैश्य वर्ण का वैश्या और शूद्र वर्ण का शूद्रा के साथ विवाह होना चाहिये। तभी अपने-अपने वर्णों के कर्म और परस्पर प्रीति भी यथायोग्य रहेगी।

इन चारों वर्णों के कर्त्तव्य-कर्म और गुण ये हैं—

अध्यापनमध्ययनं यजनं याजनं तथा।
दानं प्रतिग्रहश्चैव ब्राह्मणानामकल्पयत् ॥१॥ [मनु०][1]
शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम् ॥२॥ भ० गी०[2]

---

१. मनु० १।८८॥ २. भ० गीता १८।४२॥

ब्राह्मण के पढ़ना-पढ़ाना, यज्ञ करना-कराना, दान देना-लेना, ये छः कर्म हैं। परन्तु 'प्रतिग्रहः प्रत्यवरः' मनु०[1], अर्थात् प्रतिग्रह लेना नीच कर्म है ॥१॥

[(शम)] मन से बुरे काम की इच्छा भी न करनी, और उसको अधर्म में कभी प्रवृत्त न होने देना, (दम) श्रोत्र और चक्षु आदि इन्द्रियों को अन्यायाचरण से रोककर धर्म में चलाना, (तप) सदा ब्रह्मचारी जितेन्द्रिय होके धर्मानुष्ठान करना, (शौच)—

अद्भिर्गात्राणि शुध्यन्ति मनः सत्येन शुध्यति।
विद्यातपोभ्यां भूतात्मा बुद्धिर्ज्ञानेन शुध्यति ॥ मनु०[2]

जल से बाहर के अङ्ग, सत्याचार से मन, विद्या और धर्मानुष्ठान से जीवात्मा, और ज्ञान से बुद्धि पवित्र होती है। भीतर रागद्वेषादि दोष और बाहर के मलों को दूर कर शुद्ध रहना, अर्थात् सत्यासत्य के विवेकपूर्वक [सत्य के] ग्रहण और असत्य के त्याग से निश्चय पवित्र होता है।

(क्षान्ति) अर्थात् निन्दा-स्तुति, सुख-दुःख, शीतोष्ण, क्षुधा-तृषा, हानि-लाभ, मानापमान आदि हर्ष शोक छोड़के धर्म में दृढ़ निश्चय रहना, (आर्जव) कोमलता, निरभिमान, सरलता, सरलस्वभाव रखना, कुटिलतादि दोष छोड़ देना, (ज्ञान) सब वेदादि शास्त्रों को साङ्गोपाङ्ग पढ़के पढ़ाने का सामर्थ्य, विवेक सत्य का निर्णय=जो वस्तु जैसा हो अर्थात् जड़ को जड़ चेतन को चेतन जानना और मानना, (विज्ञान) पृथिवी से लेके परमेश्वर-पर्यन्त पदार्थों को विशेषता से जानकर उनसे यथायोग्य उपयोग लेना, (आस्तिक्य) कभी वेद, ईश्वर, मुक्ति, पूर्व-पर-जन्म, धर्म, विद्या, सत्सङ्ग, माता-पिता, आचार्य्य और अतिथियों की सेवा को न छोड़ना, और निन्दा कभी न करना। ये पन्द्रह कर्म और गुण ब्राह्मण वर्णस्थ मनुष्यों में अवश्य होने चाहियें ॥२॥

क्षत्रिय—

प्रजानां रक्षणं दानमिज्याध्ययनमेव च।
विषयेष्वप्रसक्तिश्च क्षत्रियस्य समासतः ॥१॥ मनु०[3]

---

१. मनु० १०।१०९॥ २. मनु० ५।१०९॥ ३. मनु० १।८९॥

शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम् ।

दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम् ॥२॥ भ० गीता[1]

[(प्रजा०)]न्याय से प्रजा की रक्षा, अर्थात् पक्षपात छोड़के श्रेष्ठों का सत्कार और दुष्टों का तिरस्कार करना, सब प्रकार से सब का पालन, (दान) विद्या-धर्म की प्रवृत्ति और सुपात्रों की सेवा में धनादि पदार्थों का व्यय करना, (इज्या) अग्निहोत्रादि यज्ञ करना वा कराना[2], (अध्ययन) वेदादिशास्त्रों का पढ़ना तथा पढ़ाना[3], और [विषयेष्व०] विषयों में न फंसकर जितेन्द्रिय रहके सदा शरीर और आत्मा से बलवान् रहना ॥१॥

(शौर्य्य) सैकड़ों सहस्रों से भी युद्ध करने में अकेले को भय न होना, (तेज) सदा तेजस्वी अर्थात् दीनता-रहित प्रगल्भ दृढ़ रहना, (धृति) धैर्यवान् होना, (दाक्ष्य) राजा और प्रजा-सम्बन्धी व्यवहार और सब शास्त्रों में अतिचतुर होना, (युद्धे०) युद्ध में भी दृढ़ निःशङ्क रहके उससे कभी न हटना न भागना, अर्थात् इस प्रकार से लड़ना कि जिससे निश्चित विजय होवे आप बचे, जो भागने से वा शत्रुओं को धोखा देने से जीत होती हो तो ऐसा ही करना, (दान) दानशीलता रखना, (ईश्वरभाव) पक्षपातरहित होके सब के साथ यथायोग्य वर्त्तना, विचार के देना, [प्रतिज्ञा[4]] पूरी करना, उस को कभी भङ्ग होने न देना। ये ग्यारह क्षत्रिय वर्ण के कर्म और गुण हैं [॥२॥]

वैश्य—

पशूनां रक्षणं दानमिज्याध्ययनमेव च ।

वणिक्पथं कुसीदं च वैश्यस्य कृषिमेव च ॥ मनु०[5]

(पशुरक्षा) गाय आदि पशुओं का पालन-वर्द्धन करना, (दान)

---

१. भ० गीता १८।४३॥ २. 'वा कराना' यह पाठ सं० ३ में हटाया गया, और सं० १४के पश्चात् पुनः सन्निविष्ट हुआ, यह अनावश्यक है। संस्कार विधि पृष्ठ २७९ (संस्करण ३ रालाकट्र) पर भी यह अंश नहीं है।

३. 'तथा पढ़ाना' इस पाठ के विषय में भी पूर्ववत् समझें।

४. 'प्रतिज्ञा' सं० ३ में परिवर्धित पाठ। ५. मनु० १।९० ॥

विद्या-धर्म की वृद्धि करने-कराने के लिए धनादि का व्यय करना, (इज्या) अग्निहोत्रादि यज्ञों का करना, (अध्ययन) वेदादिशास्त्रों का पढ़ना, (वणिक्पथ) सब प्रकार के व्यापार करना, (कुसीद) एक सैकड़े में चार, छः, आठ, बारह, सोलह वा बीस आनों से अधिक व्याज, और मूल से दूना अर्थात् एक रुपया दिया हो तो सौ वर्ष में भी दो रुपये से अधिक न लेना और न देना, (कृषि) खेती करना। ये वैश्य के गुण कर्म हैं।

शूद्र—

एकमेव हि शूद्रस्य प्रभुः कर्म समादिशत्।
एतेषामेव वर्णानां शुश्रूषामनसूयया॥ मनु०[1]

शूद्र को योग्य है कि निन्दा, ईर्ष्या, अभिमान आदि दोषों को छोड़ के ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्य की सेवा यथावत् करना, और उसी से अपना जीवन-[निर्वाह] करना। यही एक शूद्र का कर्म गुण है।

ये संक्षेप से वर्णों के गुण और कर्म लिखे। जिस-जिस पुरुष में जिस-जिस वर्ण के गुण कर्म हों, उस-उस वर्ण का अधिकार देना। ऐसी व्यवस्था रखने से सब मनुष्य उन्नतिशील होते हैं। क्योंकि उत्तम वर्णों को भय होगा कि जो हमारे सन्तान मूर्खत्वादि दोषयुक्त होंगे, तो शूद्र हो जायेंगे। और सन्तान भी डरते रहेंगे कि जो हम उक्त चाल-चलन और विद्यायुक्त न होंगे, तो शूद्र होना पड़ेगा। और नीच वर्णों को उत्तम वर्णस्थ होने के लिए उत्साह बढ़ेगा।

विद्या और धर्म के प्रचार का अधिकार ब्राह्मण को देना। क्योंकि वे पूर्ण विद्यावान् और धार्मिक होने से उस काम को यथायोग्य कर सकते हैं। क्षत्रियों को राज्य के अधिकार देने से कभी राज्य की हानि वा विघ्न नहीं होता। पशुपालनादि का अधिकार वैश्यों ही को होना योग्य है। क्योंकि वे इस काम को अच्छे प्रकार कर सकते हैं। शूद्र को सेवा का अधिकार इसलिये है कि वह विद्यारहित मूर्ख होने से विज्ञान

---

१. तुलना—मनु० १।९१॥ मनु० में 'एकमेव तु' पाठ है। सं० विधि पृष्ठ २७९ (सं० ३ रा० ला० क० ट्र०) में भी सत्यार्थप्रकाशवत् पाठ है।

सम्बन्धी काम कुछ भी नहीं कर सकता, किन्तु शरीर के काम सब कर सकता है।

इस प्रकार वर्णों को अपने-अपने अधिकार में प्रवृत्त करना राजा आदि सभ्य जनों का काम है।

विवाह के लक्षण

ब्राह्मो दैवस्तथैवार्षः प्राजापत्यस्तथाऽऽसुरः।
गान्धर्वो राक्षसश्चैव पैशाचश्चाष्टमोऽधमः॥ मनु०[1]

विवाह आठ प्रकार का होता है—एक ब्राह्म, दूसरा दैव, तीसरा आर्ष, चौथा प्राजापत्य, पांचवां आसुर, छठा गान्धर्व, सातवां राक्षस, आठवां पैशाच।

इन विवाहों की यह व्यवस्था[2] है कि—वर कन्या दोनों यथावत् ब्रह्मचर्य्य से पूर्ण विद्वान् धार्मिक और सुशील हों, उनका परस्पर प्रसन्नता से विवाह होना **'ब्राह्म'** कहाता है। विस्तृत यज्ञ करने में ऋत्विक् कर्म करते हुए जामाता को अलङ्कार-युक्त कन्या का देना[3] **'दैव'**। वर से कुछ लेके [वर कन्या का] विवाह होना **'आर्ष'**। दोनों का विवाह धर्म की वृद्धि के अर्थ होना **'प्राजापत्य'**। वर और कन्या को कुछ देके विवाह होना **'आसुर'**। अनियम असमय किसी कारण से वर-कन्या का इच्छापूर्वक परस्पर संयोग[4] होना **'गान्धर्व'**। लड़ाई करके बलात्कार अर्थात् छीन-झपट वा कपट से कन्या का ग्रहण करना **'राक्षस'**। शयन वा मद्यादि पी हुई पागल कन्या से बलात्कार संयोग करना **'पैशाच'**।

---

१. मनु० ३।२१॥ २. इस व्यवस्था के बोधक मनुस्मृति के श्लोक ग्रन्थकारने सं० विधि में उद्धृत करके व्याख्यात किये हैं। द्र० पृष्ठ १५७-१६० (सं० ३, रा० ला० क० ट्र०)।

३. इस का तात्पर्य यह है कि 'यज्ञ में कार्य करते हुए किसी ऋत्विक् को अलङ्कारयुक्त कन्या देकर जामाता बना लेना 'दैव' विवाह कहाता है। द्र. सं. विधि पृ. १५६ (सं. ३ रा० ला० क० ट्र०)।

४. संस्करण १४ से ३४ तक 'किसी कारण से दोनों की इच्छापूर्वक वर-कन्या का परस्पर संयोग' ऐसा पाठ मिलता है।

इन सब विवाहों में ब्राह्म विवाह सर्वोत्कृष्ट, दैव [और प्राजापत्य] मध्यम, आर्ष आसुर और गान्धर्व निकृष्ट, राक्षस अधम, और पैशाच महाभ्रष्ट है। इसलिये यही निश्चय रखना चाहिये कि कन्या और वर का विवाह के पूर्व एकान्त में मेल न होना चाहिये। क्योंकि युवावस्था में स्त्री-पुरुष का एकान्तवास दूषणकारक है।

परन्तु जब कन्या वा वर के विवाह का समय हो, अर्थात् जब एक वर्ष वा छः महीने ब्रह्मचर्य्याश्रम और विद्या पूरी होने में शेष रहैं, तब उन कन्या और कुमारों का प्रतिबिम्ब अर्थात् जिसको 'फोटोग्राफ' कहते हैं, अथवा प्रतिकृति उतारके कन्याओं की अध्यापिकाओं के पास कुमारों की, कुमारों के अध्यापकों के पास कन्याओं की प्रतिकृति भेज देवें।

जिस-जिस का रूप मिल जाय, उस-उस के इतिहास अर्थात् जन्म से लेके उस दिन पर्यन्त जन्मचरित्र का [जो] पुस्तक हो, उसको अध्यापक लोग मंगवाके देखें। जब दोनों के गुण-कर्म-स्वभाव सदृश हों, तब जिस-जिस के साथ जिस-जिस का विवाह होना योग्य समझें, उस-उस पुरुष और कन्या का प्रतिबिम्ब और इतिहास कन्या और वर के हाथ में देवें, और कहें कि कि इसमें जो तुम्हारा अभिप्राय हो सो हमको विदित कर देना।

जब उन दोनों का निश्चय परस्पर विवाह करने का हो जाय, तब उन दोनों का समावर्त्तन एक ही समय में होवे। जो वे दोनों अध्यापकों के सामने विवाह करना चाहैं तो वहां, नहीं तो कन्या के माता-पिता के घर में विवाह होना योग्य है। जब वे समक्ष हों, तब उन अध्यापकों वा कन्या के माता-पिता आदि भद्र पुरुषों के सामने उन दोनों की आपस में बातचीत, शास्त्रार्थ कराना। और जो कुछ गुप्त व्यवहार पूछें, सो भी सभा में लिखके एक दूसरे के हाथ में देकर प्रश्नोत्तर कर लेवें।

जब दोनों का दृढ़ प्रेम विवाह करने में हो जाय, तब से उनके खानपान का उत्तम प्रबन्ध होना चाहिये। कि जिससे उनका शरीर,

जो पूर्व ब्रह्मचर्य्य और विद्याध्ययनरूप तपश्चर्य्या और कष्ट से दुर्बल होता है,वह चन्द्रमा की कला के समान बढ़के पुष्ट थोड़े ही दिनों में हो जाय। पश्चात् जिस दिन कन्या रजस्वला होकर जब शुद्ध हो,तब वेदी और मण्डप रचके अनेक सुगन्ध्यादि द्रव्य और घृतादि का होम, तथा अनेक विद्वान् पुरुष और स्त्रियों का यथायोग्य सत्कार करें। पश्चात् जिस दिन ऋतुदान देना योग्य समझें, उसी दिन 'संस्कार विधि'[1] पुस्तकस्थ विधि के अनुसार सब कर्म करके मध्यरात्रि वा दश बजे अति प्रसन्नता से सब के सामने पाणिग्रहणपूर्वक विवाह के विधि को पूरा करके एकान्त-सेवन करें।

पुरुष वीर्य्यस्थापन और स्त्री वीर्य्याकर्षण का जो विधि है, उसी के अनुसार दोनों करें। जहां तक बने वहां तक ब्रह्मचर्य्य के वीर्य्य को व्यर्थ न जाने दें। क्योंकि उस वीर्य्य वा रज से जो शरीर उत्पन्न होता है,वह अपूर्व उत्तम सन्तान होता है। जब वीर्य्य का गर्भाशय में गिरने का समय हो, उस समय स्त्री और पुरुष दोनों स्थिर और नासिका के सामने नासिका, नेत्र के सामने नेत्र अर्थात् सूधा शरीर और अत्यन्त प्रसन्नचित्त रहैं, डिगें नहीं। पुरुष अपने शरीर को ढीला छोड़े और स्त्री वीर्य्यप्राप्ति [के] समय अपान वायु को ऊपर खींचे। योनि को ऊपर संकोच कर वीर्य्य का ऊपर आकर्षण करके गर्भाशय में स्थित करे। पश्चात् दोनों शुद्ध जल से स्नान करें ‡।

गर्भस्थिति होने का परिज्ञान विदुषी स्त्री को तो उसी समय हो जाता है, परन्तु इसका निश्चय एक मास के पश्चात् रजस्वला न होने पर सबको हो जाता है। सोंठ, केशर, असगन्ध, छोटी इलायची और सालममिश्री डालके गर्म[2] करके जो प्रथम ही रक्खा हुआ ठण्डा दूध

---

‡ यह बात रहस्य की है, इसलिये इतने ही से समग्र बातें समझ लेनी चाहियें, विशेष लिखना उचित नहीं। द० स०

१. पूर्व पृष्ठ ४६ टि० १ का दूसरा संदर्भ—'इस . टिप्पणी विद्यमान है' यहां भी यथावत् जानना चाहिये।

२. 'गर्भस्नान करके' संस्करण २-४ में अपपाठ है। सं. ५ में उचित शोधन किया। सं० ३४ में 'डालके गर्भस्नान करके जो प्रथम ही [गर्म कर] रक्खा

है, उसको यथारुचि दोनों पीके अलग-अलग अपनी-अपनी शय्या में शयन करें। यही विधि जब-जब गर्भाधान किया करें, तब-तब करना उचित है।

जब महीने भर में रजस्वला न होने से गर्भस्थिति का निश्चय हो जाय, तब से एक वर्ष पर्यन्त स्त्री-पुरुष का समागम कभी न होना चाहिये। क्योंकि ऐसा न[1] होने से सन्तान उत्तम और पुनः दूसरा सन्तान भी वैसा ही होता है। अन्यथा वीर्य्य व्यर्थ जाता, दोनों की आयु घट जाती, और अनेक प्रकार के रोग होते हैं। परन्तु ऊपर से भाषणादि प्रेमयुक्त व्यवहार दोनों को अवश्य रखना चाहिये।

पुरुष वीर्य्य की स्थिति और स्त्री गर्भ की रक्षा और भोजन-छादन इस प्रकार का करे कि जिससे पुरुष का वीर्य्य स्वप्न में भी नष्ट न हो, और गर्भ में बालक का शरीर अत्युत्तम, रूप-लावण्य, पुष्टि-बल, पराक्रमयुक्त होकर दशवें महीने में जन्म होवे। विशेष उसकी रक्षा चौथे महीने से और अतिविशेष आठवें महीने से आगे करनी चाहिये। कभी गर्भवती स्त्री रेचक रूक्ष मादक द्रव्य, बुद्धि और बलनाशक पदार्थों के भोजनादि का सेवन न करे। किन्तु घी, दूध, उत्तम चावल, गेहूं, मूंग, उर्द आदि अन्नपान और देश-काल का भी सेवन युक्तिपूर्वक करे। गर्भ[2] में दो संस्कार, एक चौथे महीने में पुंसवन और दूसरा आठवें महीने में सीमन्तोन्नयन विधि के अनुकूल करे।

जब सन्तान का जन्म हो, तब स्त्री और लड़के के शरीर की रक्षा बहुत सावधानी से करे। अर्थात् शुण्ठीपाक अथवा सौभाग्य-शुण्ठीपाक प्रथम ही बनवा रक्खे। उस समय सुगन्धियुक्त उष्ण जल, जो कि किंचित् उष्ण रहा हो, उसी से स्त्री स्नान करे, और बालक को भी स्नान करावे। तत्पश्चात् नाड़ीछेदन बालक की नाभि के जड़ में एक कोमल सूत से बांध चार अंगुल छोड़के ऊपर से काट डाले।

हुआ' ऐसा भ्रष्टतर पाठ छपा है।

१. यहां 'न' पद असंबद्ध सा है। २. गर्भ में=गर्भकाल में।

उसको ऐसा बांधे कि जिससे शरीर से रुधिर का एक बिन्दु भी न जाने पावे।

पश्चात् उस स्थान को शुद्ध करके, उसके द्वार के भीतर सुगन्धादियुक्त घृतादि का होम करे। तत्पश्चात् सन्तान के कान में पिता '**वेदोऽसीति**' अर्थात् 'तेरा नाम वेद है' सुनाकर, घी और सहत[1] को लेके सोने की शलाका से जीभ पर '**ओ३म्**' अक्षर लिखकर मधु और घृत को उसी शलाका से चटवावे[2]। पश्चात् उसको माता को दे देवे, जो दूध पीना चाहे तो उसकी माता पिलावे। जो उसकी माता के दूध न हो, तो किसी स्त्री की परीक्षा करके उसका दूध पिलावे। पश्चात् दूसरे शुद्ध कोठरी वा जहां का[3] वायु शुद्ध हो, उसमें सुगन्धित घी का होम प्रातः और सायङ्काल किया करे। और उसी में प्रसूता स्त्री तथा बालक को रक्खे।

छः दिन तक माता का दूध पिये। और स्त्री भी अपने शरीर के पुष्टि के अर्थ अनेक प्रकार के उत्तम भोजन करे, और योनिसंकोचादि भी करे। छठे दिन स्त्री बाहर निकले, और सन्तान के दूध पीने के लिए कोई धायी रक्खे। उसको खान-पान अच्छा करावे। वह सन्तान को दूध पिलाया करे, और पालन भी करे। परन्तु उसकी माता लड़के पर पूर्णदृष्टि रक्खे। किसी प्रकार का अनुचित व्यवहार उसके पालन में न हो। स्त्री दूध बन्ध करने के अर्थ स्तन के अग्रभाग पर ऐसा लेप करे कि जिससे दूध स्रवित न हो। उसी प्रकार खान-पान का व्यवहार भी यथायोग्य रक्खे। पश्चात् नामकरणादि संस्कार '**संस्कारविधि**' की रीति से यथाकाल करता जाय। जब स्त्री फिर रजस्वला हो, तब शुद्ध होने के पश्चात् उसी प्रकार ऋतुदान देवे।

ऋतुकालाभिगामी स्यात् स्वदारनिरतः सदा।
ब्रह्मचार्य्येव भवति यत्र तत्राश्रमे वसन्॥ मनु०[4]

---

१. सहत=शहद। २. चटवावें=चटावे।

३. 'कोठरी वा कमरे में जहां का' पाठ संस्करण १४ से आगे ३४ तक। यहां 'कमरे में' व्यर्थ परिवर्धन है। ४. मनु० ३।४५ पूर्वार्ध, ५० उत्तरार्ध।

जो अपनी ही स्त्री से प्रसन्न और ऋतुगामी होता है, वह गृहस्थ भी ब्रह्मचारी [ही] के सदृश है।

सन्तुष्टो भार्यया भर्त्ता भर्त्रा भार्या तथैव च।
यस्मिन्नेव कुले नित्यं कल्याणं तत्र वै ध्रुवम् ॥१॥
यदि हि स्त्री न रोचेत पुमांसन्न प्रमोदयेत्।
अप्रमोदात् पुनः पुंसः प्रजनं न प्रवर्त्तते ॥२॥
स्त्रियां तु रोचमानायां सर्वं तद्रोचते कुलम्।
तस्यां त्वरोचमानायां सर्वमेव न रोचते ॥३॥ मनु०[1]

जिस कुल में भार्य्या से भर्त्ता और पति से पत्नी अच्छे प्रकार प्रसन्न रहती है, उसी कुल में सब सौभाग्य और ऐश्वर्य्य निवास करते हैं। जहां कलह होता है, वहां दौर्भाग्य और दारिद्रय स्थिर होता है ॥१॥

जो स्त्री पति से प्रीति और पति को प्रसन्न नहीं करती, तो पति के अप्रसन्न होने से काम उत्पन्न नहीं होता ॥२॥

जिस स्त्री की प्रसन्नता में सब कुल प्रसन्न होता, उसकी अप्रसन्नता में सब अप्रसन्न अर्थात् दुःखदायक हो जाता है ॥३॥

पितृभिर्भ्रातृभिश्चैताः पतिभिर्देवरैस्तथा।
पूज्या भूषयितव्याश्च बहुकल्याणमीप्सुभिः ॥१॥
यत्र नार्य्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः।
यत्रैतास्तु न पूज्यन्ते सर्वास्तत्राऽफलाः क्रियाः ॥२॥
शोचन्ति जामयो यत्र विनश्यत्याशु तत्कुलम्।
न शोचन्ति तु यत्रैता वर्द्धते तद्धि सर्वदा ॥३॥
तस्मादेताः सदा पूज्या भूषणाच्छादनाशनैः।
[2]भूतिकामैर्नरैर्नित्यं सत्कारेषूत्सवेषु च ॥४॥ मनु०[3]

पिता भाई पति और देवर इनको सत्कारपूर्वक भूषणादि से प्रसन्न रक्खें। जिनको बहुत कल्याण की इच्छा हो, वे ऐसे करें ॥१॥

---

१. मनु० ३।६०-६२॥
२. मं. २ में 'पूति०' अपपाठ है। ३. मनु० ३।५५-५७, ५९॥

जिस घर में स्त्रियों का सत्कार होता है, उसमें विद्यायुक्त पुरुष होके देवसंज्ञा धराके आनन्द से क्रीड़ा करते हैं। और जिस घर में स्त्रियों का सत्कार नहीं होता, वहां सब क्रिया निष्फल हो जाती है ॥२॥

जिस घर वा कुल में स्त्रीलोग शोकातुर होकर दुःख पाती हैं, वह कुल शीघ्र नष्ट-भ्रष्ट हो जाता है। और जिस घर वा कुल में स्त्रीलोग आनन्द से उत्साह और प्रसन्नता में भरी हुई रहती हैं, वह कुल सर्वदा बढ़ता रहता है ॥३॥

इसलिये ऐश्वर्य की कामना करनेहारे मनुष्यों को योग्य है कि सत्कार और उत्सव के समय में भूषण वस्त्र और भोजनादि से स्त्रियों का नित्यप्रति सत्कार करें ॥४॥

यह बात सदा ध्यान में रखनी चाहिये कि 'पूजा' शब्द का अर्थ सत्कार है। और दिन-रात में जब-जब प्रथम मिलें वा पृथक् हों, तब-तब प्रीतिपूर्वक 'नमस्ते' एक दूसरे से करें।

सदा प्रहृष्टया भाव्यं गृहकार्येषु दक्षया।
सुसंस्कृतोपस्करया व्यये चामुक्तहस्तया ॥१॥ [मनु०][1]

स्त्री को योग्य है कि अतिप्रसन्नता से घर के कामों में चतुराई-युक्त, सब पदार्थों के उत्तम संस्कार [तथा][2] घर की शुद्धि [रक्खे।][2] और व्यय में अत्यन्त उदार [न][3] रहे। अर्थात् सब चीजें[4] पवित्र और पाक इस प्रकार बनावे, जो औषधरूप होकर शरीर वा आत्मा में रोग को न आने देवे। जो-जो व्यय हो, उसका हिसाब यथावत् रखके पति आदि को सुना दिया करे। घर के नौकर-चाकरों से यथायोग्य काम लेवे, घर के किसी काम को बिगड़ने न देवे।

---

१. मनु० ५।१५०॥ २. संस्करण ५ में उचित परिवर्धित पाठ।
३. संस्करण ३ में उचित परिवर्धित पाठ।

४. 'अर्थात् यथायोग्य खर्च करे और सब चीजें' सं० ५ में परिवर्धित पाठ सं० ३४ तक छप रहा है। यह परिवर्धन अनावश्यक है। 'अर्थात्' लिख कर पूर्व भाग का ही विस्तार से व्याख्यान किया है।

स्त्रियो रत्नान्यथो विद्या सत्यं शौचं सुभाषितम् ।
विविधानि च शिल्पानि समादेयानि सर्वतः ॥मनु०[1]

उत्तम स्त्री, नाना प्रकार के रत्न, विद्या, सत्य, पवित्रता, श्रेष्ठ-भाषण और नाना प्रकार की शिल्पविद्या[2] अर्थात् कारीगरी[2] सब देश तथा सब मनुष्यों से ग्रहण करे ।

सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयान्न ब्रूयात् सत्यमप्रियम् ।
प्रियं च नानृतं ब्रूयादेष धर्मः सनातनः ॥१॥
भद्रं भद्रमिति ब्रूयाद् भद्रमित्येव वा वदेत् ।
शुष्कवैरं विवादं च न कुर्यात् केनचित् सह ॥२॥ मनु०[3]

सदा प्रिय सत्य, दूसरे का हितकारक बोले, अप्रिय सत्य अर्थात् काणे को काणा न बोले । अनृत अर्थात् झूठ दूसरे को प्रसन्न करने के अर्थ न बोले ॥१॥

सदा भद्र अर्थात् सब के हितकारी वचन बोला करे । शुष्क वैर अर्थात् विना अपराध किसी के साथ विरोध वा विवाद न करे ॥२॥

जो-जो दूसरे का हितकारक हो और बुरा भी माने, तथापि कहे विना न रहै ।

पुरुषा बहवो राजन् सततं प्रियवादिनः ।
अप्रियस्य तु पथ्यस्य वक्ता श्रोता च दुर्लभः ॥
उद्योगपर्व विदुरनीति०[4] ।

हे धृतराष्ट्र ! इस संसार में दूसरे को निरन्तर प्रसन्न करने के लिये प्रिय बोलनेवाले प्रशंसक लोग बहुत हैं । परन्तु सुनने में अप्रिय विदित हो, और वह कल्याण करनेवाला वचन हो, उसका कहने और सुननेवाला पुरुष दुर्लभ है ।

---

१. द्र० मनु० २।२४०॥ वहां 'सत्यं' के स्थान में 'धर्मः' पाठ है ।

२. इसी कारण श्री स्वामी जी जर्मनी आदि देशों से शिल्प सीखने के लिये आर्य पुरुषों को वहां भेजने के लिये प्रयत्नशील थे । द्रष्टव्य ऋ. द. का पत्र० विज्ञापन, ग्रन्थ पृष्ठ २१५, २१६, २३१, २३७, २५६। द्वि. सं. रालाकट्र०

३. मनु० ४।१३८, १३९॥ ४. महा. उ० पर्व ३७।१५॥

क्योंकि सत्पुरुषों को योग्य है कि मुख के सामने दूसरे का दोष कहना और अपना दोष सुनना, परोक्ष में दूसरे के गुण सदा कहना। और दुष्टों की यही रीति है कि सम्मुख में गुण कहना और परोक्ष में दोषों का प्रकाश करना। जबतक मनुष्य दूसरे से अपने दोष नहीं [सुनता, वा कहने वाला नहीं][1] कहता, तबतक मनुष्य दोषों से छूट कर गुणी नहीं हो सकता।

कभी किसी की निन्दा न करे। जैसे—'**गुणेषु दोषारोपणमसूया, अर्थात् दोषेषु गुणारोपणमप्यसूया**'; '**गुणेषु गुणारोपणं दोषेषु दोषारोपणं च स्तुतिः**' जो गुणों में दोष, दोषों में गुण लगाना वह 'निन्दा', और गुणों में गुण, दोषों में दोषों का कथन करना 'स्तुति' कहाती है। अर्थात् मिथ्याभाषण का नाम 'निन्दा' और सत्य-भाषण का नाम 'स्तुति' है।

बुद्धिवृद्धिकराण्याशु धन्यानि च हितानि च ।
नित्यं शास्त्राण्यवेक्षेत निगमांश्चैव वैदिकान् ॥१॥
यथा यथा हि पुरुषः शास्त्रं समधिगच्छति ।
तथा तथा विजानाति विज्ञानं चास्य रोचते ॥२॥ मनु०[2]

जो शीघ्र बुद्धि धन और हित की वृद्धि करनेहारे शास्त्र और वेद हैं,उनको नित्य सुनें और सुनावें। [जो]ब्रह्मचर्य्याश्रम में पढ़ें हों, उनको स्त्री-पुरुष नित्य विचारा और पढ़ाया करें ॥१॥

क्योंकि जैसे-जैसे मनुष्य शास्त्रों को यथावत् जानता है,वैसे-वैसे उस विद्या का विज्ञान बढ़ता जाता, और उसी में रुचि बढ़ती रहती है ॥२॥

ऋषियज्ञं देवयज्ञं भूतयज्ञं च सर्वदा ।
नृयज्ञं पितृयज्ञं च यथाशक्ति न हापयेत् ॥१॥
अध्यापनं ब्रह्मयज्ञः पितृयज्ञश्च तर्प्पणम् ।
होमो दैवो बलिर्भौतो नृयज्ञोऽतिथिपूजनम् ॥२॥

---

१. कोष्ठान्तर्गत पाठ सं. ३४ के अनुसार है। संस्करण २ से ३३ तक नहीं।
२. मनु० ४।१९,२०॥

स्वाध्यायेनार्चयेतर्षीन् होमैर्देवान् यथाविधि ।
पितॄन् श्राद्धैश्च नॄनन्नैर्भूतानि बलिकर्मणा ॥३॥ मनु०[1]

दो यज्ञ ब्रह्मचर्य्य में लिख आए। वे अर्थात् एक—वेदादिशास्त्रों का पढ़ना-पढ़ाना, संध्योपासन, योगाभ्यास[2]। दूसरा—देवयज्ञ, विद्वानों का संग,सेवा, पवित्रता, दिव्य गुणों का धारण, दातृत्व,विद्या की उन्नति करना है। ये दोनों यज्ञ सायं प्रातः करने होते हैं[3]—

सायंसायं गृहपतिर्नो अग्निः प्रातःप्रातः सौमनसस्य[4] दाता ॥१॥
प्रातःप्रातर्गृहपतिर्नो अग्निः सायंसायं सौमनसस्य[4] दाता ॥२॥
अ० कां० १६। अनु० ७। मं० ३, ४॥[5]

तस्मादहोरात्रस्य संयोगे ब्राह्मणः सन्ध्यामुपासीत ।
उद्यन्तमस्तं [6]यान्तमादित्यमभिध्यायन् ॥३॥ ब्राह्मणे[7]
न तिष्ठति तु यः पूर्वां नोपास्ते यस्तु पश्चिमाम् ।
स साधुभिर्बहिष्कार्यः सर्वस्माद् द्विजकर्मणः ॥४॥ मनु०[8]

जो सन्ध्या-सन्ध्या काल में होम होता है,वह हुत द्रव्य प्रातःकाल तक वायु-शुद्धि द्वारा सुखकारी होता है ॥१॥

जो अग्नि में प्रातः-प्रातः काल में होम किया जाता है, वह-वह हुत द्रव्य सायंकाल-पर्यन्त वायु के शुद्धि-द्वारा बल-बुद्धि और आरोग्य-कारक होता है ॥२॥

---

१. क्रमशः—मनु० ४।२१; ३।७०; ३।८१॥

२. यह ऋषियज्ञ-ब्रह्मयज्ञ पदों की व्याख्या है।

३. इन श्लोकों का शेष अभिप्राय क्रमशः आगे दर्शाया है।

४. सत्यार्थ प्रकाश सं० २, ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका सं० १ तथा पञ्च-महायज्ञविधि में 'सौमनस्य' अपपाठ है।

५. सरल पता—अथर्व १६।५५।३,४॥

६. पञ्चमहायज्ञविधि में भी यही पाठ है। मूल ग्रन्थ का पाठ 'यन्तम्' है।

७. उक्त पाठ क्रमशः षड्विंश ब्रा० ४।५ तथा तै० आरण्यक २।२ के हैं। आरण्यक ग्रन्थों की भी ब्राह्मण में गणना होती है। अतः ग्रन्थकार ने सामान्यरूप से 'ब्राह्मणे' लिखा है।

८. द्र० मनु० २।१०३॥ मनु का पाठ—'यश्च पश्चिमाम्। स शूद्रवद् बहिष्कार्यः' है। यही पाठ ग्रन्थकार ने पञ्चमहायज्ञविधि में उद्धृत किया है।

इसीलिये दिन और रात्रि के संधि में अर्थात् सूर्योदय और अस्त-समय में परमेश्वर का ध्यान और अग्निहोत्र अवश्य करना चाहिये ।।३।।

और [जो] ये दोनों काम सायं और प्रात:काल में न करे, उसको सज्जन लोग सब द्विजों के कर्मों से बाहर निकाल देवें, अर्थात् उसे शूद्रवत् समझें ।।४।।

प्रश्न—त्रिकाल संध्या क्यों नहीं करना ?

उत्तर—तीन समय में सन्धि नहीं होती । प्रकाश और अन्धकार की सन्धि भी सायं-प्रात: दो ही वेला में होती है । जो इसको न मान कर मध्याह्नकाल में तीसरी सन्ध्या माने, वह मध्यरात्रि में भी संध्योपासन क्यों न करे ? जो मध्यरात्रि में भी करना चाहै, तो प्रहर-प्रहर, घड़ी-घड़ी, पल-पल, और क्षण-क्षण की भी सन्धि होती हैं, उन में भी संध्योपासन किया करे । जो ऐसा भी करना चाहै, तो हो ही नहीं सकता ।

और किसी शास्त्र का मध्याह्न-संध्या में प्रमाण भी नहीं । इसलिये दोनों कालों में सन्ध्या और अग्निहोत्र करना समुचित है, तीसरे काल में नहीं । और जो तीन काल होते हैं, वे भूत भविष्यत् और वर्तमान के भेद से हैं, संध्योपासन[1] के भेद से नहीं ।

तीसरा—पितृयज्ञ, अर्थात् जिसमें देव जो विद्वान्, ऋषि जो पढ़ने-पढ़ाने हारे, पितर [जो] माता-पिता आदि वृद्ध ज्ञानी और परम योगियों की सेवा करनी । पितृयज्ञ के दो भेद हैं—एक **श्राद्ध,** और दूसरा **तर्पण** । श्राद्ध अर्थात् 'श्रत्' सत्य का नाम है, '**श्रत्सत्यं दधाति यया क्रियया सा श्रद्धा, श्रद्धया यत् क्रियते तच्छ्राद्धम्**' जिस क्रिया से सत्य का ग्रहण किया जाय उसको 'श्रद्धा', और जो श्रद्धा से कर्म किया जाय उसका नाम '**श्राद्ध**' है । और '**तृप्यन्ति तर्पयन्ति येन पितॄन् तत्तर्पणम्**' जिस-जिस कर्म से तृप्त अर्थात् विद्यमान माता-पितादि पितर प्रसन्न हों और प्रसन्न किये जायें, उसका नाम '**तर्पण**'

१. यहां 'सन्ध्या के भेद से नहीं' पाठ अधिक युक्त है ।

[है]। परन्तु यह जीवितों[1] के लिये है, मृतकों के लिये नहीं।

[अथ देव-तर्पणम्]

ओं ब्रह्मादयो देवास्तृप्यन्ताम्। ब्रह्मादिदेवपत्न्यस्तृप्यन्ताम्। ब्रह्मादिदेवसुतास्तृप्यन्ताम्। ब्रह्मादिदेवगणास्तृप्यन्ताम्॥[2]

इति देव-तर्पणम्।

'विद्वाँसो हि देवाः' यह शतपथ ब्राह्मण[3] का वचन है। जो विद्वान् हैं उन्हीं को '**देव**' कहते हैं। जो साङ्गोपाङ्ग चार वेदों के जाननेवाले हों, उनका नाम '**ब्रह्मा**'। और जो उनसे न्यून [पढ़े] हों, उनका भी नाम देव अर्थात् विद्वान् है। उनके सदृश विदुषी स्त्री उनकी[4] ब्रह्माणी और देवी, उनके तुल्य पुत्र और शिष्य, तथा उनके सदृश उनके गण अर्थात् सेवक हों, उनकी सेवा करना है, उसका नाम श्राद्ध और तर्पण है।

अथर्षि-तर्पणम्

ओं मरीच्यादय ऋषयस्तृप्यन्ताम्। मरीच्याद्यृषिपत्न्यस्तृप्यन्ताम्। मरीच्याद्यृषिसुतास्तृप्यन्ताम्। मरीच्याद्यृषिगणास्तृप्यन्ताम्॥[5]

इति ऋषि-तर्पणम्।

जो ब्रह्मा के प्रपौत्र मरीचिवत् विद्वान् होकर पढ़ावें, और जो उनके सदृश विद्यायुक्त उनकी स्त्रियां कन्याओं को विद्यादान देवें, उनके तुल्य पुत्र और शिष्य, तथा उनके समान उनके सेवक हों, उनका सेवन [और] सत्कार करना 'ऋषि-तर्पण' है।

अथ पितृ-तर्पणम्

ओं सोमसदः पितरस्तृप्यन्ताम्। अग्निष्वात्ताः पितरस्तृप्यन्ताम्। बर्हिषदः पितरस्तृप्यन्ताम्। सोमपाः पितरस्तृप्यन्ताम्। हविर्भुजः

---

१. संस्करण २ में 'जीवतों' पाठ है।

२. सम्भवतः ये वचन आश्व० गृह्य ३।४; पार० गृह्य. परिशिष्ट ३ के आधार पर ऊहित हैं। ३. शतपथ० ३।७।३।१०॥

४. कई संस्करणों में 'सदृश उनकी विदुषी स्त्री ब्राह्मणी देवी और उनके' पाठ मिलता है। ५. द्र० पृष्ठ ९७, टि० २॥

पितरस्तृप्यन्ताम् । आज्यपाः पितरस्तृप्यन्ताम् । [सुकालिनः पितरस्तृप्यन्ताम् ।][1] **यमादिभ्यो नमः यमादींस्तर्पयामि । पित्रे स्वधा नमः पितरं तर्पयामि । पितामहाय स्वधा नमः पितामहं तर्पयामि । [प्रपितामहाय स्वधा नमः प्रपितामहं तर्पयामि ।]**[1] **मात्रे स्वधा नमो मातरं तर्पयामि । पितामह्यै स्वधा नमः पितामहीं तर्पयामि । [प्रपितामह्यै स्वधा नमः प्रपितामहीं तर्पयामि ।]**[1] **स्वपत्न्यै स्वधा नमः स्वपत्नीं तर्पयामि । सम्बन्धिभ्यः स्वधा नमः सम्बन्धिनस्तर्पयामि ।**[2] **सगोत्रेभ्यः स्वधा नमः सगोत्रांस्तर्पयामि ।।**[3]**इति पितृ-तर्पणम्**

ये सोमे जगदीश्वरे पदार्थविद्यायां च सीदन्ति ते सोमसदः— जो परमात्मा और पदार्थविद्या में निपुण हों, वे 'सोमसद' । **यैरग्नेर्विद्युतो विद्या गृहीता ते अग्निष्वात्ताः**— जो अग्नि अर्थात् विद्युदादि पदार्थों के जाननेवाले हों, वे 'अग्निष्वात्त' । **ये बर्हिषि उत्तमे व्यवहारे सीदन्ति ते बर्हिषदः**—जो उत्तम विद्यावृद्धियुक्त व्यवहार में स्थित हों, वे 'बर्हिषद्' । **ये सोममैश्वर्यमोषधीरसं वा पान्ति पिबन्ति वा ते सोमपाः**— जो ऐश्वर्य के रक्षक, और महौषधि रस का पान करने से रोगरहित, और अन्य के ऐश्वर्य के रक्षक, औषधों को देके रोगनाशक हों, वे 'सोमपाः' ।

ये हविर्होतुमत्तुमर्हं भुञ्जते भोजयन्ति वा ते हविर्भुजः— जो मादक और हिंसाकारक द्रव्यों को छोड़के भोजन करनेहारे हों, वे 'हविर्भुज' । **य आज्यं ज्ञातुं प्राप्तुं वा योग्यं रक्षन्ति वा पिबन्ति त आज्यपाः**—जो जानने के योग्य वस्तु के रक्षक, और घृतदुग्धादि खाने और पीनेहारे हों, वे 'आज्यपा' । **शोभनः कालो विद्यते**

---

१. यह कोष्ठान्तर्गत पाठ सं० २ में नहीं है । पंचमहायज्ञविधि में ग्रन्थकार ने इन का संकेत किया है । इस ग्रन्थ में भी इन की व्याख्या विद्यमान है ।

२. 'सबन्धींस्तर्पयामि' पाठ होना चाहिये ।

३. सोमसदोऽग्निष्वात्तारच तथा बर्हिषदोऽपि च ।
सोमपाश्च तथा विद्वंस्तथैव च हविर्भुजः ।।
आज्यपाश्च तथा वत्स तथा ह्यन्ये सुकालिनः ।
एते चान्ये च पितरः पूज्याः सर्वे द्विजातिभिः ।।

द्र. पराशर स्मृति ७।१६७,१६८।।

येषां ते सुकालिनः—जिनका अच्छा धर्म करने का सुख-रूप समय हो, वे 'सुकालिन्'। ये दुष्टान् यच्छन्ति निगृह्णन्ति ते यमा न्यायाधीशाः—जो दुष्टों को दण्ड और श्रेष्ठों का पालन करनेहारे न्यायकारी हों, वे 'यम'।

यः पाति स पिता—जो सन्तानों का अन्न और सत्कार से रक्षक वा जनक हो, वह 'पिता'। पितुः पिता पितामहः, पितामहस्य पिता प्रपितामहः—जो पिता का पिता हो, वह 'पितामह', और जो पितामह का पिता हो, वह 'प्रपितामह'। या मानयति सा माता—जो अन्न और सत्कारों से सन्तानों का मान्य करे, वह 'माता'। या पितुर्माता सा पितामही, पितामहस्य माता प्रपितामही—जो पिता की माता हो, वह 'पितामही', और [जो] पितामह की माता हो, वह 'प्रपितामही'। अपनी स्त्री, तथा भगिनी सम्बन्धी, और एक गोत्र के तथा अन्य कोई भद्रपुरुष वा वृद्ध हों, उन सबको अत्यन्त श्रद्धा से उत्तम अन्न वस्त्र सुन्दर यान आदि देकर अच्छे प्रकार जो तृप्त करना, अर्थात् जिस-जिस कर्म से उनका आत्मा तृप्त और शरीर स्वस्थ रहै, उस-उस कर्म से प्रीतिपूर्वक उनकी सेवा करनी, वह श्राद्ध और तर्पण कहाता है।

चौथा—वैश्वदेव, अर्थात् जब भोजन सिद्ध हो, तब जो कुछ भोजनार्थ बने, उसमें से खट्टा लवणान्न और क्षार को छोड़के घृतमिष्टयुक्त अन्न लेकर चूल्हे से अग्नि अलग धर निम्नलिखित मन्त्रों से आहुति और भाग करे—

वैश्वदेवस्य सिद्धस्य गृह्येऽग्नौ विधिपूर्वकम्।
आभ्यः कुर्य्याद्देवताभ्यो ब्राह्मणो होममन्वहम्॥ मनु०[1]

जो कुछ पाकशाला में भोजनार्थ सिद्ध हो, उसका दिव्यगुणों के अर्थ उसी पाकाग्नि में निम्नलिखित मन्त्रों से विधिपूर्वक होम नित्य करे।

होम करने के मन्त्र—

ओम् अग्नये स्वाहा। सोमाय स्वाहा। अग्नीषोमाभ्यां स्वाहा।

१. मनु० ३।८४॥

विश्वेभ्यो देवेभ्यः स्वाहा। धन्वन्तरये स्वाहा। [कुह्वै स्वाहा।] अनुमत्यै स्वाहा। प्रजापतये स्वाहा। सह[1] द्यावापृथिवीभ्यां स्वाहा। स्विष्टकृते[2] स्वाहा॥[3]

इन प्रत्येक मन्त्रों से एक-एक वार आहुति प्रज्वलित अग्नि में छोड़े। पश्चात् थाली अथवा भूमि में पत्ता रखके पूर्वदिशादि क्रमानुसार यथाक्रम इन मन्त्रों से भाग रक्खे—

ओं सानुगायेन्द्राय नमः। सानुगाय यमाय नमः। सानुगाय वरुणाय नमः। सानुगाय सोमाय नमः[4]। मरुद्भ्यो नमः। अद्भ्यो नमः। वनस्पतिभ्यो नमः। श्रियै नमः। भद्रकाल्यै नमः। ब्रह्मपतये नमः[5]। वास्तुपतये नमः। विश्वेभ्यो देवेभ्यो नमः। दिवाचरेभ्यो भूतेभ्यो नमः[6]। नक्तञ्चारिभ्यो भूतेभ्यो नमः। सर्वात्मभूतये नमः। [7][**पितृभ्यः**

---

१. पंचमहायज्ञविधि, ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका तथा सं. विधि के उत्तरवर्ती संस्करणों में 'सह' पद मिलता है। सं० विधि सं० २, ३, ४ में 'सह' पद नहीं है। मनु० ३।८६ में 'सह द्यावापृथिव्योश्च' पाठ है, परन्तु वह समुच्चयार्थ है, मन्त्रावयव नहीं।

२. मनु० ३।८६ में केवल **स्विष्टकृते** पद है, तथापि वह अग्नि का विशेषण रूप से प्रसिद्ध होने से विशेष्य का आक्षेप करके 'अग्नये स्विष्टकृते स्वाहा' ऐसा मन्त्र होना चाहिये।

३. मनु० ३।८५, ८६ के आधार पर ऊहित मन्त्र।

४. मनु० ३।८७ के '**सानुगेभ्यो बलिं हरेत्**' वचन के अनुसार आरम्भिक चार मन्त्रों का ऊहित पाठ है। मनु० के टीकाकार तथा आश्व० गृ० १।२।५ के अनुसार **इन्द्राय नमः, इन्द्रपुरुषेभ्यो नमः, यमाय नमः, यमपुरुषेभ्यो नमः; वरुणाय नमः, वरुणपुरुषेभ्यो नमः; सोमाय नमः, सोमपुरुषेभ्यो नमः**, इस प्रकार पाठ की ऊहा करते हैं।

५. मनु० ३।८९ के अनुसार **ब्रह्मणे नमः** मन्त्र है। ग्रन्थकार ने सं० विधि तथा पंचमहायज्ञविधि में **ब्रह्मपतये नमः** पाठ ही दिया है।

६. मनु० ३।९० के अनुसार **दिवाचरेभ्यः**······से दिन में, तथा **नक्तंचारिभ्यः**··· से रात्रि में भाग रखने का विधान है। द्र० आश्व० गृह्य १।२।८, ९॥ ७. कोष्ठान्तर्गत पाठ सं० विधि तथा पंचमहायज्ञविधि में है। मनु० ३।९१ के अनुसार भी आवश्यक है। इस ओर स. प्र. के किसी सम्पादक ने ध्यान नहीं दिया। स. प्र. सं० १ (१९३२) पृष्ठ ४४ पर तथा सं. वि. स.२

स्वधायिभ्य: स्वधा नमः ॥][1]

इन भागों को जो कोई अतिथि हो तो उसको जिमा देवे, अथवा अग्नि में छोड़ देवे। इसके अनन्तर लवणान्न अर्थात् दाल, भात, शाक, रोटी आदि लेकर छः भाग भूमि में धरे। इसमें प्रमाण—

शुनां च पतितानां च श्वपचां पापरोगिणाम्।
वायसानां कृमीणां च शनकैर्निर्वपेद् भुवि ॥ मनु०[2]

इस प्रकार 'श्वभ्यो नमः, **पतितेभ्यो नमः, श्वपग्भ्यो नमः,**[3] **पापरोगिभ्यो नमः, वायसेभ्यो नमः, कृमिभ्यो नमः**'[4] धरकर, पश्चात् किसी दुःखी बुभुक्षित प्राणी अथवा कुत्ते कौवे आदि को दे देवे। यहां **नमः शब्द का अर्थ अन्न** अर्थात् कुत्ते, पापी, चाण्डाल, पापरोगी, कौवे और कृमि अर्थात् चींटी आदि को अन्न देना। यह मनुस्मृति आदि की विधि है।

हवन करने का प्रयोजन यह है कि—पाकशालास्थ वायु का शुद्ध होना, और जो अज्ञात अदृष्ट जीवों की हत्या होती है, उसका प्रत्युपकार कर देना।

अब **पांचवीं—अतिथि-सेवा 'अतिथि'** उसको कहते हैं कि जिसकी कोई तिथि निश्चित न हो, अर्थात् अकस्मात् धार्मिक, सत्योपदेशक, सबके उपकारार्थ सर्वत्र घूमने वाला पूर्ण विद्वान्, परमयोगी, संन्यासी गृहस्थ के यहां आवे, तो उसको प्रथम पाद्य अर्घ और आचमनीय तीन प्रकार का जल देकर, पश्चात् आसन पर सत्कारपूर्वक बिठाल कर, खान-पान आदि उत्तमोत्तम पदार्थों से सेवा-शुश्रूषा करके उनको प्रसन्न करे। पश्चात् सत्संग कर उनसे ज्ञान-विज्ञान आदि, जिनसे धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की प्राप्ति होवे, ऐसे-ऐसे उपदेशों का श्रवण करे। और अपना[5] चाल-चलन भी उनके सदुपदेशानुसार रक्खे।

में **ओं पितृभ्यः स्वधा नमः** इतना ही पाठ है। सं. विधि सं. ३ में उपर्युक्त पाठ बनाया है। १. मनु० ३।८७-९१ के आधार पर ऊहित मन्त्र।
२. मनु० ३।९२॥ ३. **'श्वपचेभ्यो नमः'** पाठ भी जानना चाहिये।
४. मनु० ३।९२ के अनुसार ऊहित मन्त्र। ५. सं. २ में 'अपनी' पाठ है।

समय पाके गृहस्थ और राजादि भी अतिथिवत् सत्कार करने योग्य हैं। परन्तु—

पाषण्डिनो विकर्मस्थान् वैडालवृत्तिकान् शठान्।
हैतुकान् बकवृत्तींश्च वाङ्मात्रेणापि नार्चयेत्॥ मनु०[1]

(पाषण्डी) अर्थात् वेदनिन्दक, वेदविरुद्ध आचरण करनेहारे, (विकर्मस्थ) जो वेदविरुद्ध कर्म का कर्त्ता, मिथ्याभाषणादियुक्त, [(वैडालवृत्तिक)] जैसे बिडाला छिप और स्थिर रहकर ताकता-ताकता झपट से मूषे आदि प्राणियों को मार अपना पेट भरता है, वैसे जनों का नाम वैडालवृत्तिक,(शठ)अर्थात् हठी दुराग्रही अभिमानी, आप जानें नहीं औरों का कहा मानें नहीं,(हैतुक)कुतर्की, व्यर्थ बकने वाले, जैसे कि आजकल के वेदान्ती बकते हैं—हम ब्रह्म और जगत् मिथ्या है, वेदादिशास्त्र और ईश्वर भी कल्पित है, इत्यादि गपोड़ा[2] हांकनेवाले, (बकवृत्ति) जैसे बक एक पैर उठा ध्यानावस्थित के समान होकर झट मच्छी के प्राण हरके अपना स्वार्थ सिद्ध करता है, वैसे आजकल के वैरागी और खाखी आदि हठी दुराग्रही वेद-विरोधी हैं, ऐसों का सत्कार वाणीमात्र से भी न करना चाहिये। क्योंकि इनका सत्कार करने से ये वृद्धि को पाकर संसार को अधर्मयुक्त करते हैं। आप तो अवनति[3] के काम करते ही हैं, परन्तु साथ में सेवक को भी अविद्यारूपी महासागर में डुबा देते हैं।

इन पांच **महायज्ञों का फल** यह है कि—'**ब्रह्मयज्ञ**' के करने से विद्या, शिक्षा, धर्म, सभ्यता आदि शुभ गुणों की वृद्धि। '**अग्निहोत्र**' से वायु, वृष्टि, जल की शुद्धि होकर वृष्टि द्वारा संसार को सुख प्राप्त होना, अर्थात् शुद्धवायु का श्वासा-स्पर्श[4], खान-पान से आरोग्य बुद्धि बल पराक्रम बढ़के, धर्म अर्थ काम और मोक्ष का अनुष्ठान

---

१. मनु० ४।३०॥ वहां 'वैडालव्रतिकाञ्छठान्' पाठ मिलता है। 'विडाल' शब्द के दन्त्योष्ठ्यवान् होने से स. प्र. का पाठ शुद्ध है। अगला पाठ भी सन्धि के वैकल्पिक होने से ठीक है। २. सं० २ में 'गपोड़ी' पाठ है।
३. सं० २ में 'अवनती' पाठ है। ४. यही सं० २ का पाठ है। श्वासा=नासिका से उस का स्पर्श=श्वास लेना। अन्य सं. में 'श्वासस्पर्श' पाठ है।

पूरा होना, इसीलिये इसको 'देवयज्ञ'[1] कहते हैं। 'पितृयज्ञ' से जब माता-पिता और ज्ञानी महात्माओं की सेवा करेगा, तब उसका[2] ज्ञान बढ़ेगा। उससे सत्यासत्य का निर्णय कर सत्य का ग्रहण और असत्य का त्याग करके सुखी रहेगा। दूसरा—कृतज्ञता, अर्थात् जैसी सेवा माता-पिता और आचार्य ने सन्तान और शिष्यों की की[3] है, उसका बदला देना उचित ही है। 'बलिवैश्वदेव' का भी फल जो पूर्व कह आये [हैं] वही हैं।

['अतिथियज्ञ'] जब तक उत्तम अतिथि जगत् में नहीं होते, तब तक उन्नति भी नहीं होती। उनके सब देशों में घूमने और सत्योपदेश करने से पाखण्ड की वृद्धि नहीं होती। और सर्वत्र गृहस्थों को सहज से सत्य विज्ञान की प्राप्ति होती रहती है। और मनुष्यमात्र में एक ही धर्म स्थिर रहता है। विना अतिथियों के सन्देह-निवृत्ति नहीं होती। सन्देह-निवृत्ति के विना दृढ़ निश्चय भी नहीं होता। निश्चय के विना सुख कहां?

ब्राह्मे मुहूर्ते बुध्येत धर्मार्थौ चानुचिन्तयेत्।
कायक्लेशांश्च तन्मूलान् वेदतत्त्वार्थमेव च॥ मनु०[4]

रात्रि के चौथे प्रहर अथवा चार घड़ी रात से उठे। आवश्यक कार्य करके धर्म और अर्थ, शरीर के रोगों का निदान, और परमात्मा का ध्यान करे। कभी अधर्म का आचरण न करे।

क्योंकि—

नाधर्मश्चरितो लोके सद्यः फलति गौरिव।
शनैरावर्त्तमानस्तु कर्त्तुर्मूलानि कृन्तति॥ मनु०[5]

किया हुआ अधर्म निष्फल कभी नहीं होता। परन्तु जिस समय अधर्म करता है, उसी समय फल भी नहीं होता। इसलिये अज्ञानी लोग अधर्म से नहीं डरते। तथापि निश्चय जानो कि वह अधर्माचरण धीरे-धीरे तुम्हारे सुख के मूलों को काटता चला जाता है।

---

१. सं. २ में 'अतिथियज्ञ' पाठ है। २. सं० २ में 'उसको' पाठ है।
३. सं. २ में 'किई' पाठ है। ४. मनु० ४।९२॥ ५. मनु० ४।१७२॥

इस क्रम से—

अधर्मेणैधते तावत्ततो भद्राणि पश्यति ।
ततः सपत्नान् जयति समूलस्तु विनश्यति ।। मनु०[१]

जब अधर्मात्मा मनुष्य धर्म की मर्यादा छोड़ (जैसा तालाब के बन्ध को तोड़ जल चारों ओर फैल जाता है, वैसे) मिथ्याभाषण, कपट, पाखण्ड अर्थात् रक्षा करनेवाले वेदों का खण्डन, और विश्वासघातादि कर्मों से पराये पदार्थों को लेकर प्रथम बढ़ता है। पश्चात् धनादि ऐश्वर्य से खान-पान, वस्त्र, आभूषण, यान, स्थान, मान-प्रतिष्ठा को प्राप्त होता है। अन्याय से शत्रुओं को भी जीतता है, पश्चात् शीघ्र नष्ट हो जाता है। जैसे जड़ काटा हुआ वृक्ष नष्ट हो जाता है, वैसे अधर्मी नष्ट हो जाता है।

सत्यधर्मार्यवृत्तेषु शौचे चैवारमेत् सदा ।
शिष्यांश्च शिष्याद्धर्मेण वाग्बाहूदरसंयतः ।। मनु०[२]

जो [विद्वान्] वेदोक्त सत्यधर्म, अर्थात् पक्षपात-रहित होकर सत्य के ग्रहण और असत्य के परित्याग, न्यायरूप वेदोक्त धर्मादि, आर्य [वृत्त] अर्थात् धर्म में चलते हुए के समान धर्म से शिष्यों को शिक्षा किया करे।

ऋत्विक्पुरोहिताचार्य्यैर्मातुलातिथिसंश्रितैः ।
बालवृद्धातुरैर्वैद्यैर्ज्ञातिसम्बन्धिबान्धवैः ।।१।।
मातापितृभ्यां यामीभिर्भ्रात्रा पुत्रेण भार्यया ।
दुहित्रा दासवर्गेण विवादं न समाचरेत् ।।२।। मनु०[३]

(ऋत्विक्) यज्ञ का करनेहारा, (पुरोहित) सदा उत्तम चाल-चलन की शिक्षाकारक, (आचार्य) विद्या पढ़ानेहारा, (मातुल) मामा, (अतिथि) अर्थात् जिसकी कोई आने-जाने की निश्चित तिथि न हो, (संश्रित) अपने आश्रित, (बाल) बालक, (वृद्ध) बुड्ढा, (आतुर) पीड़ित, (वैद्य) आयुर्वेद का ज्ञाता, (ज्ञाति) स्वगोत्र वा स्ववर्णस्थ, (सम्बन्धी) श्वसुर आदि, (बान्धव) मित्र ।।१।।

---

१. मनु० ४।१७४।। २. मनु० ४।१७५।। ३. मनु० ४।१७६, १८०।।

(माता) माता, (पिता) पिता, (यामी) बहिन, (भ्राता) भाई, (भार्या) स्त्री, (दुहिता[1]) पुत्री, और [(दासवर्ग)] सेवक लोगों से विवाद अर्थात् विरुद्ध लड़ाई-बखेड़ा कभी न करे ॥२॥

अतपास्त्वनधीयानः प्रतिग्रहरुचिर्द्विजः ।
अम्भस्यश्मप्लवेनेव सह तेनैव मज्जति ॥ मनु०[2]

एक (अतपाः) ब्रह्मचर्य्य-सत्यभाषणादि-तपरहित, दूसरा (अनधीयानः) विना पढ़ा हुआ, तीसरा (प्रतिग्रहरुचिः) अत्यन्त धर्मार्थ दूसरों से दान लेने वाला, ये तीनों पत्थर की नौका से समुद्र में तरने के समान अपने दुष्ट कर्मों के साथ ही दुःखसागर में डूबते हैं। वे तो डूबते ही हैं, परन्तु दाताओं को [भी] साथ डुबा लेते हैं।

त्रिष्वप्येतेषु दत्तं हि विधिनाप्यर्जितं धनम् ।
दातुर्भवत्यनर्थाय परत्रादातुरेव च ॥ मनु०[3]

जो धर्म से प्राप्त हुए धन का उक्त तीनों को देना है, वह दान दाता का नाश इसी जन्म, और लेनेवाले का नाश परजन्म में करता है।

जो वे ऐसे हों, तो क्या हो—

यथा प्लवेनौपलेन निमज्जत्युदके तरन् ।
तथा निमज्जतोऽधस्तादज्ञौ दातृप्रतीच्छकौ ॥ मनु०[4]

जैसे पत्थर की नौका में बैठके जल में तरने वाला डूब जाता है, वैसे अज्ञानी दाता और ग्रहीता दोनों अधोगति अर्थात् दुःख को प्राप्त होते हैं।

पाखण्डियों के लक्षण

धर्मध्वजी सदा लुब्धश्छाद्मिको लोकदम्भकः ।
वैडालव्रतिको ज्ञेयो हिंस्रः सर्वाभिसन्धकः ॥१॥
अधोदृष्टिर्नैष्कृतिकः स्वार्थसाधनतत्परः ।
शठो मिथ्याविनीतश्च बकव्रतचरो द्विजः ॥२॥ मनु०[5]

(धर्मध्वजी) [जो] धर्म कुछ भी न करे, परन्तु धर्म के नाम से लोगों

---

१. संस्करण २ में '(कन्या)' पाठ है। २. मनु० ४।१९०॥
३. मनु० ४।१९३॥ ४. मनु० ४।१९४॥ ५. मनु० ४।१९५, १९६॥

को ठगे, (सदालुब्ध:) सर्वदा लोभ से युक्त, (छाद्मिक:) कपटी, (लोकदम्भक:) संसारी मनुष्यों के सामने अपनी बड़ाई के गपोड़े मारा करे, (हिंस्र:) प्राणियों का घातक, अन्य से वैरबुद्धि रखनेवाला, (सर्वाभिसन्धक:) सब अच्छे और बुरों से भी मेल रक्खे, उसको (वैडालव्रतिक:) अर्थात् विडाल के समान धूर्त और नीच समझो ॥१॥

(अधोदृष्टि:) कीर्ति के लिए नीचे दृष्टि रक्खे, (नैष्कृतिक:) ईर्ष्यक, किसी ने उसका पैसा-भर अपराध किया हो, तो उसका बदला प्राण तक लेने को[1] तत्पर रहे, (स्वार्थसाधन०) चाहे कपट अधर्म विश्वासघात क्यों न हो, अपना प्रयोजन साधने में चतुर, (शठ:) चाहे अपनी बात झूठी क्यों न हो परन्तु हठ कभी न छोड़े, (मिथ्याविनीत:) झूठमूठ ऊपर से शील-संतोष और साधुता दिखलावे, उसको (बकव्रत०) बगुले के समान नीच समझो। ऐसे-ऐसे लक्षणों-वाले पाखण्डी होते हैं, उनका विश्वास वा सेवा कभी न करे [॥२॥]

धर्मं शनैः सञ्चिनुयाद् वल्मीकमिव पुत्तिका:[2] ।
परलोकसहायार्थं सर्वभूतान्यपीडयन् ॥१॥
नामुत्र हि सहायार्थं पिता माता च तिष्ठतः ।
न पुत्रदारं न ज्ञातिर्धर्मस्तिष्ठति केवलः ॥२॥
एकः प्रजायते जन्तुरेक एव प्रलीयते ।
एकोनुभुङ्क्ते सुकृतमेव एव च दुष्कृतम् ॥३॥ मनु[3]
एकः पापानि कुरुते फलं भुङ्क्ते महाजनः ।
भोक्तारो विप्रमुच्यन्ते कर्त्ता दोषेण लिप्यते ॥४॥[4]
मृतं शरीरमुत्सृज्य काष्ठलोष्ठसमं क्षितौ ।
विमुखा बान्धवा यान्ति धर्मस्तमनुगच्छति ॥५॥ मनु०[5]

स्त्री और पुरुष को चाहिये कि जैसे पुत्तिका अर्थात् दीमक

---

१. यह सं० ३ में शोधा गया पाठ है। सं० २ में 'बदला लेने को प्राण तक' पाठ है। २. संस्करण २ में 'पुत्तिका' अपपाठ है।
३. मनु० ४।२३८–२४०॥ ४. महा० उद्यो० ३३।४७॥
५. मनु० ४।२४१॥

वल्मीक अर्थात् बांबी को बनाती है, वैसे सब भूतों को पीड़ा न देकर परलोक अर्थात् परजन्म के सुखार्थ धीरे-धीरे धर्म का संचय करें ॥१॥

क्योंकि परलोक में न माता, न पिता, न पुत्र, [न] स्त्री, न ज्ञाति सहाय कर सकते हैं, किन्तु एक धर्म ही सहायक होता है ॥२॥

देखिये, अकेला ही जीव जन्म और मरण को प्राप्त होता, एक ही धर्म का फल सुख और अधर्म का [जो] दुःखरूप फल उसको भोगता है ॥ ३ ॥

यह भी समझो कि कुटुम्ब में एक पुरुष पाप करके पदार्थ लाता है, और महाजन अर्थात् सब कुटुम्ब उसको भोगता[1] है। भोगनेवाले दोषभागी नहीं होते, किन्तु अधर्म का कर्त्ता ही दोष का भागी होता है ॥ ४ ॥

जब कोई किसी का सम्बन्धी मर जाता है, उसको मट्टी के ढेले के समान भूमि में छोड़कर, पीठ दे बन्धुवर्ग विमुख होकर चले जाते हैं। कोई उसके साथ जाने वाला नहीं होता, किन्तु एक धर्म ही उसका सङ्गी होता है ॥५॥

तस्माद्धर्मं सहायार्थं नित्यं सञ्चिनुयाच्छनैः।
धर्म्मेण हि सहायेन तमस्तरति दुस्तरम् ॥१॥
धर्मप्रधानं पुरुषं तपसा हतकिल्बिषम्।
परलोकं नयत्याशु भास्वन्तं खशरीरिणम् ॥२॥ मनु०[2]

उस हेतु से परलोक अर्थात् परजन्म में सुख और जन्म के सहायार्थ नित्य धर्म का संचय धीरे-धीरे करता जाय। क्योंकि धर्म ही के सहाय से बड़े-बड़े दुस्तर दुःख-सागर को जीव तर सकता है ॥ १ ॥

किन्तु जो पुरुष धर्म ही को प्रधान समझता, जिसका धर्म के अनुष्ठान से कर्त्तव्य पाप दूर हो गया उसको, प्रकाश-स्वरूप और आकाश जिसका शरीरवत् है उस परलोक अर्थात् परमदर्शनीय परमात्मा को, धर्म ही शीघ्र प्राप्त कराता है ॥ २ ॥

---

१. संस्करण २ में 'भोक्ता' पाठ है। २. मनु० ४।२४२,२४३॥

इसलिये

दृढकारी मृदुर्दान्तः क्रूराचारैरसंवसन् ।
अहिंस्रो दमदानाभ्यां जयेत् स्वर्गं तथाव्रतः ॥ १ ॥
वाच्यर्था नियताः सर्वे वाङ्मूला वाग्विनिःसृताः ।
तान्तु यः स्तेनयेद्वाचं स सर्वस्तेयकृन्नरः ॥ २ ॥
आचाराल्लभते ह्यायुराचारादीप्सिताः प्रजाः ।
आचाराद्धनमक्षय्यमाचारो हन्त्यलक्षणम् ॥ ३ ॥ मनु०[1]

सदा दृढ़कारी, कोमल-स्वभाव, जितेन्द्रिय, हिंसक क्रूर दुष्टाचारी पुरुषों से पृथक् रहनेहारा, धर्मात्मा, मन को जीत[2] और विद्यादि दान से सुख को प्राप्त होवे ॥ १ ॥

परन्तु यह भी ध्यान में रक्खे कि जिस वाणी में [सब] अर्थ अर्थात् व्यवहार निश्चित होते हैं, वह वाणी ही उनका मूल, और वाणी ही से सब व्यवहार सिद्ध होते हैं। उस वाणी को जो चोरता अर्थात् मिथ्याभाषण करता है, वह सब चोरी आदि पापों का करनेवाला है ॥ २ ॥

इसलिये मिथ्याभाषणादिरूप अधर्म को छोड़ जो धर्माचार अर्थात् ब्रह्मचर्य्य जितेन्द्रियता से पूर्ण आयु, और धर्माचार से उत्तम प्रजा, तथा अक्षय धन को प्राप्त होता है, तथा जो धर्माचार में वर्त्तकर दुष्ट लक्षणों का नाश करता है, उसके आचरण को सदा किया करे ॥ ३ ॥

क्योंकि—

दुराचारो हि पुरुषो लोके भवति निन्दितः ।
दुःखभागी च सततं व्याधितोऽल्पायुरेव च ॥ १ ॥ मनु०[3]

जो दुष्टाचारी पुरुष है, वह संसार में सज्जनों के मध्य में निन्दा को प्राप्त, दुःख-भागी, और निरन्तर व्याधियुक्त होकर अल्पायु का भी भोगनेहारा होता है ॥ १ ॥

---

१. मनु० ४।२४६,२५६,१५६॥ २. संस्करण २ में 'जीव' पाठ है।
३. मनु० ४।१५७॥

इसलिये ऐसा प्रयत्न करे—

यद्यत् परवशं कर्म तत्तद्यत्नेन वर्जयेत् ।
यद्यदात्मवशं तु स्यात्तत्त सेवेत यत्नतः ॥ १ ॥
सर्वं परवशं दुःखं सर्वमात्मवशं सुखम् ।
एतद्विद्यात् समासेन लक्षणं सुखदुःखयोः ॥ २ ॥ मनु०[1]

जो-जो पराधीन कर्म हो उस उसका प्रयत्न से त्याग, और जो-जो स्वाधीन कर्म हो उस-उसका प्रयत्न के साथ सेवन करे ॥ १ ॥

क्योंकि जो-जो पराधीनता है वह-वह सब दुःख, और जो-जो स्वाधीनता है वह-वह सब सुख। यही संक्षेप से सुख और दुःख का लक्षण जानना चाहिये ॥ २ ॥

परन्तु जो एक-दूसरे के आधीन काम है, वह-वह आधीनता से ही करना चाहिये। जैसा कि स्त्री और पुरुष का एक-दूसरे के आधीन व्यवहार, अर्थात् स्त्री-पुरुष का और पुरुष-स्त्री का परस्पर प्रियाचरण, अनुकूल रहना, व्यभिचार वा विरोध कभी न करना। पुरुष की आज्ञानुकूल घर के काम स्त्री, और बाहर के काम पुरुष के आधीन रहना, दुष्ट व्यसन में फसने से एक-दूसरे को रोकना। अर्थात् यही निश्चय जानना [कि] जब विवाह होवे तब स्त्री के साथ पुरुष, और पुरुष के साथ स्त्री बिक चुकी। अर्थात् जो स्त्री और पुरुष के साथ हाव-भाव, नखशिखाग्रपर्यन्त जो कुछ हैं, वह वीर्य्यादि एक-दूसरे के आधीन हो जाता है। स्त्री वा पुरुष प्रसन्नता के विना कोई भी व्यवहार न करें। इनमें बडे अप्रियकारक व्यभिचार, वेश्या-परपुरुषगमनादि काम हैं। इनको छोड़के अपने पति के साथ स्त्री और स्त्री के साथ पति सदा प्रसन्न रहें।

जो ब्राह्मणवर्णस्थ हों, तो पुरुष लड़कों को पढ़ावे, तथा सुशिक्षिता स्त्री लड़कियों को पढ़ावे। नानाविधि उपदेश और वक्तृत्व करके उनको विद्वान् करें। स्त्री का पूजनीय देव पति और पुरुष की पूजनीय अर्थात् सत्कार करने योग्य देवी स्त्री है। जब तक गुरुकुल

---

१. मनु० ४।१५९,१६०॥

में रहैं, तब तक माता-पिता के समान अध्यापकों को समझें। और अध्यापक अपने सन्तानों के समान शिष्यों को समझें।

पढ़ानेहारे अध्यापक और अध्यापिका कैसे होने चाहियें—

आत्मज्ञानं समारम्भस्तितिक्षा धर्मनित्यता।
यमर्था[1] नापकर्षन्ति स वै पण्डित उच्यते॥ १॥
निषेवते[2] प्रशस्तानि निन्दितानि न सेवते।
अनास्तिकः श्रद्दधान एतत् पण्डितलक्षणम्॥ २॥
क्षिप्रं विजानाति चिरं शृणोति,
विज्ञाय चार्थं भजते न कामात्।
नासम्पृष्टो ह्युपयुङ्क्ते[3] परार्थे,
तत्प्रज्ञानं प्रथमं पण्डितस्य॥ ३॥
नाप्राप्यमभिवाञ्छन्ति नष्टं नेच्छन्ति शोचितुम्।
आपत्सु च न मुह्यन्ति नराः पण्डितबुद्धयः॥४॥
प्रवृत्तवाक् चित्रकथ ऊहवान् प्रतिभानवान्।
आशु ग्रन्थस्य वक्ता च यः स पण्डित उच्यते॥५॥
श्रुतं प्रज्ञानुगं यस्य प्रज्ञा चैव श्रुतानुगा।
असंभिन्नार्यमर्यादः पण्डिताख्यां लभेत सः॥६॥

ये सब महाभारत उद्योगपर्व विदुरप्रजागर[4] के श्लोक हैं।

अर्थ—जिसको आत्मज्ञान, सम्यक् आरम्भ अर्थात् जो निकम्मा आलसी कभी न रहै, सुख-दुःख हानि-लाभ मानापमान निन्दास्तुति में हर्ष-शोक कभी न करे, धर्म ही में नित्य निश्चित रहै, जिसके मन को उत्तम-उत्तम पदार्थ अर्थात् विषय-सम्बन्धी वस्तु आकर्षण न कर सकें, वही 'पण्डित' कहाता है॥ १॥

---

१. महाभारत में 'यमर्थान्नापकर्षन्ति' पाठ है। इस पाठ में अध्याहार करना पड़ता है। (द्र० नीलकण्ठ टीका)। ऊपर वाला पाठ युक्त और प्रकरणानुकूल है। ग्रन्थकार ने ये तथा अगले श्लोक स्वीय 'व्यवहारभानु' में भी उद्धृत किए हैं। वहां भी यहां वाले ही पाठ हैं। २. सं० २ में 'निसेवते' पाठ है। ३. महाभारत में 'व्युपयुङ्क्ते' पाठ है।
४. अ० ३३। श्लोक २०-२१, २७-२८, ३३-३४॥

सदा धर्मयुक्त कर्मों का सेवन, अधर्मयुक्त कामों का त्याग, ईश्वर वेद सत्याचार की निन्दा न करनेहारा, ईश्वर आदि में अत्यन्त श्रद्धालु हो, यही 'पण्डित' का कर्त्तव्याकर्त्तव्य कर्म है ॥२॥

जो कठिन विषय को भी शीघ्र जान सके, बहुत कालपर्यन्त शास्त्रों को पढ़े सुने और विचारे, जो कुछ जाने उसको परोपकार में प्रयुक्त करे, अपने स्वार्थ के लिए कोई काम न करे, विना पूछे वा विना योग्य समय जाने दूसरे के अर्थ में सम्मति न दे, वही प्रथम प्रज्ञान 'पण्डित' को होना चाहिये ॥३॥

जो प्राप्ति के अयोग्य की इच्छा कभी न करे, नष्ट हुए पदार्थ पर शोक न करे, आपत्काल में मोह को न प्राप्त अर्थात् व्याकुल न हो, वही बुद्धिमान् 'पण्डित' है ॥४॥

जिसकी वाणी सब विद्याओं और प्रश्नोत्तरों के करने में अति निपुण, विचित्र शास्त्रों के प्रकरणों का वक्ता, यथायोग्य तर्क और स्मृतिमान्, ग्रन्थों के यथार्थ अर्थ का शीघ्र वक्ता हो, वही 'पण्डित' कहाता है ॥ ५ ॥

जिसकी प्रज्ञा सुने हुए सत्य अर्थ के अनुकूल और जिसका श्रवण बुद्धि के अनुसार हो, जो कभी आर्य अर्थात् श्रेष्ठ धार्मिक पुरुषों की मर्यादा का छेदन न करे, वही 'पण्डित' संज्ञा को प्राप्त होवे ॥६॥

जहां ऐसे-ऐसे स्त्री-पुरुष पढ़ानेवाले होते हैं, वहां विद्या धर्म और उत्तमाचार की वृद्धि होकर प्रति-दिन आनन्द ही बढ़ता रहता है।

पढ़ाने में अयोग्य और मूर्ख के लक्षण—

अश्रुतश्च समुन्नद्धो दरिद्रश्च महामनाः ।
अर्थांश्चाऽकर्मणा प्रेप्सुर्मूढ इत्युच्यते बुधैः ॥ १ ॥
अनाहूतः प्रविशति ह्यपृष्टो[1] बहु भाषते ।
अविश्वस्ते विश्वसिति मूढचेता नराधमः ॥ २ ॥

ये श्लोक भी भारत उद्योगपर्व विदुरप्रजागर[2] के हैं।

---

१. महाभारत में 'प्रविशति अपृष्टो' पाठ है। २. अ० ३३। श्लोक ३५,४१।

अर्थ—जिसने कोई शास्त्र न पढ़ा न सुना, और [जो] अतीव घमंडो, दरिद्र होकर बड़े-बड़े मनोरथ करनेहारा, विना कर्म से पदार्थों की प्राप्ति की इच्छा करनेवाला हो, उसी को बुद्धिमान् लोग 'मूढ़' कहते हैं ॥ १ ॥

जो विना बुलाये सभा वा किसी के घर में प्रविष्ट हो उच्च आसन पर बैठना चाहै, विना पूछे सभा में बहुत-सा बके, विश्वास के अयोग्य वस्तु वा मनुष्य में विश्वास करे, वही 'मूढ़' और सब मनुष्यों में नीच मनुष्य कहाता है ॥ २ ॥

जहां ऐसे पुरुष अध्यापक, उपदेशक, गुरु और माननीय होते हैं, वहां अविद्या, अधर्म, असभ्यता, कलह, विरोध और फूट बढ़के दुःख ही बढ़ जाता है।

अब विद्यार्थियों के[1] लक्षण—

आलस्यं मदमोहौ च चापलं गोष्ठिरेव च ।
स्तब्धता चाभिमानित्वं तथाऽत्यागित्वमेव च ।
एते वै सप्त दोषाः स्युः सदा विद्यार्थिनां मताः ॥ १॥
सुखार्थिनः कुतो विद्या कुतो[2] विद्यार्थिनः सुखम् ।
सुखार्थी वा त्यजेद्विद्यां विद्यार्थी वा त्यजेत् सुखम् ॥२॥

ये भी विदुरप्रजागर के श्लोक हैं[3]।

अर्थ—आलस्य=शरीर और बुद्धि में जड़ता, नशा, मोह=किसी वस्तु में फसावट, चपलता, और इधर-उधर की व्यर्थ कथा करना-सुनना, पढ़ते-पढ़ाते रुक जाना, अभिमानी अत्यागी होना, ये सात दोष विद्यार्थियों में होते हैं ॥ १ ॥

जो ऐसे हैं उनको विद्या [क]भी नहीं आती। सुख भोगने की इच्छा करनेवाले को विद्या कहां? और विद्यापढ़नेवाले को सुख कहां? क्योंकि विषय-सुखार्थी विद्या को, और विद्यार्थी विषयसुख को छोड़ दे ॥ २ ॥

---

१. संस्करण २ में 'का' पाठ है। २. महाभारत में 'नास्ति' पाठ है।
३. अ० ४० । श्लोक ५,६॥

ऐसे किये विना विद्या कभी नहीं हो सकती। और ऐसे को विद्या होती है—

सत्ये रतानां सततं दान्तानामूर्ध्वरेतसाम् ।
ब्रह्मचर्यं दहेद्राजन् सर्वपापान्युपासितम् ॥१॥[1]

जो सदा सत्याचार में प्रवृत्त, जितेन्द्रिय, और जिनका वीर्य्य अधःस्खलित कभी न हो, उन्हीं का ब्रह्मचर्य्य सच्चा, और वे ही विद्वान् होते हैं ॥ १ ॥

इसलिये शुभ लक्षणयुक्त अध्यापक और विद्यार्थियों को होना चाहिये। अध्यापक लोग ऐसा यत्न किया करें, जिससे विद्यार्थी लोग सत्यवादी, सत्यमानी, सत्यकारी, सभ्यता जितेन्द्रियता सुशीलतादि शुभगुणयुक्त, शरीर और आत्मा का पूर्ण [बल] बढ़ाके समग्र वेदादि-शास्त्रों में विद्वान् हों। सदा उनकी कुचेष्टा छुड़ाने में, और विद्या पढ़ाने से चेष्टा किया करें। और विद्यार्थी लोग सदा जितेन्द्रिय, शान्त, पढ़ानेहारों में प्रेम, विचारशील, परिश्रमी होकर ऐसा पुरुषार्थ करें, जिससे पूर्ण विद्या, पूर्ण आयु, परिपूर्ण धर्म और पुरुषार्थ करना आ जाय। इत्यादि ब्राह्मण वर्णों के काम हैं। क्षत्रियों का कर्म राजधर्म में कहेंगे।

[2][जो वैश्य हों वे ब्रह्मचर्य्यादि से वेदादि विद्या पढ़, विवाह करके नाना] देशों की भाषा, नाना प्रकार के व्यापार की रीति, उनके भाव जानना, बेचना-खरीदना, द्वीपद्वीपान्तर में जाना-आना, लाभार्थ काम का आरम्भ करना, पशुपालन और खेती की उन्नति चतुराई से करनी-करानी, धन को बढ़ाना, विद्या और धर्म की उन्नति में व्यय करना, सत्यवादी निष्कपटी होकर सत्यता से सब व्यापार करना, सब वस्तुओं की रक्षा ऐसी करनी जिससे कोई नष्ट न होने पावे।

---

१. यह श्लोक ग्रन्थकार ने 'व्यवहारभानु' में भी उद्धृत किया है। वहां इसे भीष्म-वचन कहा है।

२. यह कोष्ठान्तर्गत पाठ सं. २ में नहीं है, यह सं० ३४ के अनुसार है। अन्य संस्करणों में यहां भिन्न-भिन्न पाठ है।

शूद्र सब सेवाओं में चतुर, पाकविद्या में निपुण, अतिप्रेम से द्विजों की सेवा, और उन्हीं से अपनी उपजीविका करे। और द्विज लोग इसके खान-पान, वस्त्र, स्थान, विवाहादि में जो कुछ व्यय हो सब-कुछ देवें, अथवा मासिक कर देवें।

चारों वर्ण परस्पर प्रीति, उपकार, सज्जनता, सुख-दुःख हानि-लाभ में ऐक्यमत्य रहकर राज्य और प्रजा की उन्नति में तन मन धन का व्यय करते रहना[1]।

स्त्री-पुरुष का वियोग कभी न होना चाहिये। क्योंकि—

पानं दुर्जनसंसर्गः पत्या च विरहोऽटनम्।
स्वप्नोऽन्यगेहवासश्च नारीसन्दूषणानि षट्॥ १॥

मनु०[2]

मद्य भांग आदि मादक द्रव्यों का पीना, दुष्ट पुरुषों का संग, पतिवियोग, अकेली जहां-तहां व्यर्थ पाखंडी आदि के दर्शन मिस से फिरती रहना, और पराये घर में जाके शयन करना वा वास, ये छः स्त्री को दूषित करने वाले दुर्गुण हैं। और ये पुरुषों के भी हैं[॥१॥]

पति और स्त्री का वियोग दो प्रकार का होता है—कहीं कार्यार्थ देशान्तर में जाना, और दूसरा मृत्यु से वियोग होना। इनमें से प्रथम का उपाय यही है कि दूर देश में यात्रार्थ जावे, तो स्त्री को भी साथ रक्खे[3]। इसका प्रयोजन यह है कि बहुत समय तक वियोग न रहना चाहिये।

प्रश्न—स्त्री और पुरुष का बहु-विवाह होना योग्य है, वा नहीं?
उत्तर—युगपत् न, अर्थात् एक समय में नहीं।
प्रश्न—क्या समयान्तर में अनेक विवाह होना चाहिये?
उत्तर—हां, जैसे—

---

१. यहां 'रहें' पाठ युक्त प्रतीत होता है। २. मनु० ६।१३॥
३. यह लम्बी अवधि के लिये जानना चाहिये। द्र० उत्तर वाक्य।

या स्त्री त्वक्षतयोनिः स्यात् गतप्रत्यागतापि वा ।
पौनर्भवेन भर्त्रा सा पुनः संस्कारमर्हति ॥ मनु०[1]

जिस स्त्री वा पुरुष का पाणिग्रहणमात्र संस्कार हुआ हो, और संयोग [न हुआ हो,] अर्थात् अक्षतयोनि स्त्री और अक्षतवीर्य्य पुरुष हो, उनका अन्य स्त्री वा पुरुष के साथ पुनर्विवाह होना चाहिये। किन्तु ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्य वर्णों में क्षतयोनि स्त्री क्षतवीर्य्य पुरुष का पुनर्विवाह न होना चाहिये।

प्रश्न—पुनर्विवाह में क्या दोष है?

उत्तर—(पहिला)–स्त्री-पुरुष में प्रेम न्यून होना। क्योंकि जब चाहै तब पुरुष को स्त्री और स्त्री को पुरुष छोड़कर दूसरे के साथ सम्बन्ध करले। (दूसरा)–जब स्त्री वा पुरुष पति [वा] स्त्री के मरने के पश्चात् दूसरा विवाह करना चाहें, तब प्रथम स्त्री के पूर्व पति के पदार्थों को उड़ा ले जाना, और उनके कुटुम्ब वालों का उनसे झगड़ा करना। (तीसरा)–बहुत से भद्रकुल का नाम वा चिह्न भी न रहकर उसके पदार्थ छिन्न-भिन्न हो जाना। (चौथा)–पतिव्रत और स्त्रीव्रत धर्म नष्ट होना। इत्यादि दोषों के अर्थ द्विजों में पुनर्विवाह वा अनेक विवाह कभी न होना चाहिये।

प्रश्न—जब वंशच्छेदन हो जाय, तब भी उसका कुल नष्ट हो जायेगा। और स्त्री-पुरुष व्यभिचारादि कर्म करके गर्भपातनादि बहुत दुष्ट कर्म करेंगे। इसलिये पुनर्विवाह होना अच्छा है।

उत्तर—नहीं-नहीं, क्योंकि जो स्त्री-पुरुष ब्रह्मचर्य्य में स्थित रहना चाहैं, तो कोई भी उपद्रव न होगा। और जो कुल की परम्परा रखने के लिए किसी अपने स्वजाति का लड़का गोद ले लेंगे, उससे कुल चलेगा, और व्यभिचार भी न होगा। और जो ब्रह्मचर्य्य न रख सकें, तो नियोग करके सन्तानोत्पत्ति करलें।

प्रश्न—पुनर्विवाह और नियोग में क्या भेद है।

---

१. द्र. मनु० ९।१७६।। वहां 'सा चेत्' पाठ मिलता है। 'सा' पद का तृतीय चरण में पाठ होने से **'यत्तदोर्नित्यसंबन्धः'** नियम से ग्रन्थकार द्वारा उद्धृत 'या' पाठ युक्त है। तुलना करो—मनु० ९।१७५ के साथ।

उत्तर—(पहिला)—जैसे, विवाह करने में कन्या अपने पिता का घर छोड़ पति के घर को प्राप्त होती है, और पिता से विशेष सम्बन्ध नहीं रहता। और विधवा स्त्री उसी विवाहित पति के घर में रहती है।

(दूसरा)—उसी विवाहिता स्त्री के लड़के उसी विवाहित पति के दायभागी होते हैं। और विधवा स्त्री के लड़के वीर्य्यदाता के न पुत्र कहलाते, न उसका गोत्र होता, और न उसका स्वत्व उन लड़कों पर रहता [है,] किन्तु वे मृत पति के पुत्र बजते, उसी का गोत्र रहता, और उसी के पदार्थों के दायभागी होकर उसी घर में रहते हैं।

(तीसरा)—विवाहित स्त्री-पुरुष को परस्पर सेवा और पालन करना अवश्य है। और नियुक्त स्त्री-पुरुष का कुछ भी सम्बन्ध नहीं रहता।

(चौथा)—विवाहित स्त्री-पुरुष का सम्बन्ध मरणपर्यन्त रहता [है।] और नियुक्त स्त्री-पुरुष का कार्य्य के पश्चात् छूट जाता है।

(पांचवां)—विवाहित स्त्री-पुरुष आपस में गृह के कार्यों की सिद्धि करने में यत्न किया करते [हैं]। और नियुक्त स्त्री-पुरुष अपने-अपने घर के काम किया करते हैं।

प्रश्न—विवाह और नियोग के नियम एक-से हैं, वा पृथक्-पृथक्?

उत्तर—कुछ थोड़ा-सा भेद है। जितने पूर्व कह आये, और यह कि विवाहित स्त्री-पुरुष एक पति और एक ही स्त्री मिलके दश सन्तान [तक[1]] उत्पन्न सकते हैं। और नियुक्त स्त्री-पुरुष दो वा चार से अधिक सन्तानोत्पत्ति नहीं कर सकते। अर्थात् जैसा कुमार-कुमारी ही का विवाह होता है, वैसे जिसकी स्त्री वा पुरुष मर जाता है, उन्हीं का नियोग होता है, कुमार कुमारी का नहीं। जैसे विवाहित स्त्री-पुरुष सदा सङ्ग में रहते हैं, वैसे नियुक्त स्त्री-पुरुष का व्यवहार नहीं। किन्तु विना ऋतुदान के समय एकत्र न हों। जो स्त्री अपने लिये नियोग करे, तो जब दूसरा गर्भ रहै उसी दिन से स्त्री-पुरुष का सम्बन्ध छूट जाय। और जो पुरुष अपने लिए करे, तो भी दूसरा[2] गर्भ रहने से

---

१. केवल मूल में। भ. द.

२. सं. में 'दूसरे' पाठ है। पूर्व वाक्य में 'दूसरा गर्भ' पाठ के समान यहां भी 'दूसरा' पाठ युक्त है।

सम्बन्ध छूट जाय। परन्तु वही नियुक्त स्त्री दो-तीन वर्ष पर्यन्त उन लड़कों का पालन करके नियुक्त पुरुष को दे देवे। ऐसे एक विधवा स्त्री दो अपने लिये और दो-दो अन्य चार नियुक्त पुरुषों के लिये[1] सन्तान कर सकती [है]। और एक मृतस्त्री [क]पुरुष भी दो अपने लिये, और दो-दो अन्य अन्य चार विधवाओं के लिए पुत्र उत्पन्न कर सकता है। ऐसे मिलकर दश-दश सन्तानोत्पत्ति की आज्ञा वेद में है—

इमां त्वमिन्द्र मीढ्वः सुपुत्रां सुभगां कृणु।
दशास्यां पुत्राना धेहि पतिमेकादशं कृधि॥
ऋ० मं० १०। सू० ८५। मं० ४५॥

हे (मीढ्व इन्द्र) वीर्य-सिंचन में समर्थ ऐश्वर्ययुक्त पुरुष! तू इस विवाहित स्त्री वा विधवा स्त्रियों को श्रेष्ठ पुत्र और सौभाग्ययुक्त कर। इस विवाहित स्त्री में दश पुत्र उत्पन्न कर, और ग्यारहवीं स्त्री को मान। हे स्त्री! तू भी विवाहित पुरुष वा नियुक्त पुरुषों से दश सन्तान उत्पन्न कर, और ग्यारहवें पति को समझ।

इस वेद की आज्ञा से ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्यवर्णस्थ स्त्री और पुरुष दश-दश सन्तान से अधिक उत्पन्न न करें। क्योंकि अधिक करने से सन्तान निर्बल, निर्बुद्धि, अल्पायु होते हैं। और स्त्री तथा पुरुष भी निर्बल, अल्पायु और रोगी होकर वृद्धावस्था में बहुत-से दुःख पाते हैं।

प्रश्न—यह नियोग की बात व्यभिचार के समान दीखती है।

उत्तर—जैसे विना विवाहितों का व्यभिचार होता है, वैसे विना नियुक्तों का व्यभिचार कहाता है। इससे यह सिद्ध हुआ कि जैसा नियम से विवाह होने पर व्यभिचार नहीं कहाता, तो नियमपूर्वक नियोग होने से व्यभिचार न कहावेगा। जैसे दूसरे की कन्या का दूसरे [के] कुमार के साथ शास्त्रोक्त-विधिपूर्वक विवाह होने पर समागम में व्यभिचार वा पाप लज्जा नहीं होती, वैसे ही वेदशास्त्रोक्त नियोग में व्यभिचार [वा] पाप लज्जा न मानना चाहिये।

प्रश्न—है तो ठीक, परन्तु यह वेश्या के सदृश कर्म दीखता है।

---

१. संस्करण २ में इसके आगे पुनः 'दो-दो' यह अनावश्यक पाठ है।

उत्तर—नहीं, क्योंकि वेश्या के समागम में किसी निश्चित पुरुष का[1] कोई नियम नहीं है। और नियोग में विवाह के समान नियम हैं। जैसे दूसरे को लड़की देने, दूसरे के साथ समागम करने में विवाहपूर्वक लज्जा नहीं होती, वैसे ही नियोग में भी न होनी चाहिये। क्या जो व्यभिचारी पुरुष वा स्त्री होते हैं, वे विवाह होने पर भी कुकर्म से बचते हैं ?

प्रश्न—हमको नियोग की बात में पाप मालूम पड़ता है।

उत्तर—जो नियोग की बात में पाप मानते हो, तो विवाह में पाप क्यों नहीं मानते ? पाप तो नियोग के रोकने में है। क्योंकि ईश्वर के सृष्टिक्रमानुकूल स्त्री-पुरुष का स्वाभाविक व्यवहार रुक ही नहीं सकता, सिवाय वैराग्यवान् पूर्ण विद्वान् योगियों के। क्या गर्भ-पातनरूप भ्रूणहत्या, और विधवा स्त्री और मृत-स्त्रीक पुरुषों के महासन्ताप को पाप नहीं गिनते हो ? क्योंकि जब तक वे युवावस्था में हैं, मन में सन्तानोत्पत्ति और विषय की चाहना होने वालों को किसी राज्यव्यवहार वा जातिव्यवहार से रुकावट होने से गुप्त-गुप्त कुकर्म बुरी चाल से होते रहते हैं।

इस व्यभिचार और कुकर्म के रोकने का एक यही श्रेष्ठ उपाय है कि जो जितेन्द्रिय रह सकें, वे[2] विवाह वा नियोग भी न करें तो ठीक है। परन्तु जो ऐसे नहीं हैं, उनका विवाह, और आपत्काल में नियोग अवश्य होना चाहिये। इससे व्यभिचार का न्यून होना, प्रेम से उत्तम सन्तान होकर मनुष्यों की वृद्धि होना सम्भव है। और गर्भहत्या सर्वथा छूट जाती है।

नीच पुरुषों से उत्तम स्त्री और वेश्यादि नीच स्त्रियों से उत्तम पुरुषों का व्यभिचाररूप कुकर्म, उत्तम कुल में कलंक, वंश का उच्छेद, स्त्री-पुरुषों को सन्ताप, और गर्भहत्यादि कुकर्म विवाह और नियोग से निवृत्त होते हैं। इसलिए नियोग करना चाहिये।

प्रश्न—नियोग में क्या-क्या बात होनी चाहिए ?

---

१. संस्करण २ में 'वा' पाठ है। २. संस्करण २ में 'किन्तु' पाठ है।

उत्तर—जैसे प्रसिद्धि से विवाह, वैसे ही प्रसिद्धि से नियोग। जिस प्रकार विवाह में भद्र पुरुषों की अनुमति और कन्या-वर की प्रसन्नता होती है,वैसे नियोग में भी। अर्थात् जब स्त्री-पुरुष का नियोग होना हो, तब अपने कुटुम्ब में पुरुष-स्त्रियों के सामने [प्रकट करें कि][1] हम दोनों नियोग सन्तानोत्पत्ति के लिए करते हैं। जब नियोग का नियम पूरा होगा, तब हम संयोग न करेंगे। जो अन्यथा करें, तो पापी और जाति वा राज[2]के दण्डनीय हों। महीने-महीने में एक बार गर्भाधान का काम करेंगे। गर्भ रहे पश्चात् एक वर्ष-पर्यन्त पृथक् रहेंगे।

प्रश्न—नियोग अपने वर्ण में होना चाहिए, वा अन्य वर्णों के साथ भी ?

उत्तर—अपने वर्ण में, वा अपने से उत्तम वर्णस्थ पुरुष के साथ। अर्थात् वैश्या स्त्री वैश्य, क्षत्रिय और ब्राह्मण के साथ, क्षत्रिया क्षत्रिय और ब्राह्मण के साथ, ब्राह्मणी ब्राह्मण के साथ नियोग कर सकती है। इसका तात्पर्य यह है कि वीर्य सम वा उत्तम वर्ण का चाहिये, अपने से नीचे के वर्ण का नहीं। स्त्री और पुरुष की सृष्टि का यही प्रयोजन है कि धर्म से अर्थात् वेदोक्त रीति से विवाह वा नियोग से सन्तानोत्पत्ति करना।

प्रश्न—पुरुष को नियोग करने की क्या आवश्यकता है, क्योंकि वह दूसरा विवाह करेगा ?

उत्तर—हम लिख आये हैं[कि]द्विजों में स्त्री और पुरुष का एक ही वार विवाह होना वेदादिशास्त्रों में लिखा है, द्वितीय वार नहीं। कुमार और कुमारी का ही विवाह होने में न्याय,और विधवा स्त्री के साथ कुमार पुरुष और कुमारी स्त्री के साथ मृतस्त्री[क] पुरुष के विवाह होने में अन्याय अर्थात् अधर्म है। जैसे विधवा स्त्री के साथ [कुमार]पुरुष विवाह नहीं किया चाहता, वैसे ही विवाहित स्त्री से[3] समागम किये हुए पुरुष के साथ विवाह करने की इच्छा कुमारी भी न

१. कोष्ठान्तर्गत पाठ सं. २ में नहीं है। २. अर्थात् राज्य।
३. सं. २ में यही पाठ है। अन्य संस्करणों में दो पाठान्तर मिलते हैं।

करेगी। जब विवाह किये पुरुष को कोई कुमारी कन्या, और विधवा स्त्री का ग्रहण कोई कुमार पुरुष न करेगा, तब पुरुष और स्त्री को नियोग करने की आवश्यकता होगी। और यही धर्म है कि जैसे के साथ वैसे ही का सम्बन्ध होना चाहिये।

प्रश्न—जैसे विवाह में वेदादिशास्त्रों का प्रमाण है, वैसे नियोग में प्रमाण है वा नहीं ?

उत्तर—इस विषय में बहुत प्रमाण हैं। देखो और सुनो—

कुह स्विद्दोषा कुह वस्तोरश्विना कुहाभिपित्वं करतः कुहोषतुः।
को वां शयुत्रा विधवेव देवरं मर्यं न योषा कृणुते सधस्थ आ ॥१॥

ऋ० मं० १०। सू० ४०। मं० २॥

उदीर्ष्व नार्यभि जीवलोकं गतासुमेतमुप शेष एहि।
हस्तग्राभस्य दिधिषोस्तवेदं पत्युर्जनित्वमभि सं बभूथ ॥२॥

ऋ० मं० १०। सू० १८। मं० ८॥

हे (अश्विना) स्त्री-पुरुषो ! जैसे (देवरं विधवेव) देवर को विधवा और (योषा मर्यं न) विवाहिता स्त्री अपने पति को (सधस्थे) समान स्थान शय्या में एकत्र होकर सन्तानों[1] को (आ कृणुते) सब प्रकार से उत्पन्न करती है, वैसे तुम दोनों स्त्री-पुरुष (कुहस्विद्दोषा) कहां रात्रि, और (कुह वस्तः) कहां दिन में वसे थे ? (कुहाभिपित्वम्) कहां पदार्थों की प्राप्ति (करतः) की ? और (कुहोषतुः) किस समय कहां वास करते थे ? (को वां शयुत्रा) तुम्हारा शयन-स्थान कहां है ? तथा कौन वा किस देश के रहने वाले हो ? [॥१॥]

इससे यह सिद्ध हुआ कि देश-विदेश में स्त्री-पुरुष सङ्ग ही में रहें। और विवाहित पति के समान नियुक्त पति को ग्रहण करके विधवा स्त्री भी सन्तानोत्पत्ति कर लेवे।

---

१. सं. २ में 'सन्तानों को' पदों के मध्य स्थान रिक्त है, उस की पूर्ति 'सन्तानोत्पत्ति को' इस प्रकार की है। यहां 'उत्पत्ति' शब्द का योग व्यर्थ है, क्योंकि वाक्यान्त में 'उत्पन्न' विद्यमान है।

प्रश्न—यदि किसी का छोटा भाई ही न हो, तो विधवा नियोग किसके साथ करे ?

उत्तर—देवर के साथ। परन्तु देवर शब्द का अर्थ जैसा तुम समझते हो वैसा नहीं। देखो निरुक्त में—

देवरः कस्माद् द्वितीयो वर उच्यते। निरु० अ० ३। खं० १५॥[1]

'देवर' उसको कहते हैं कि जो विधवा का दूसरा पति होता है। चाहे छोटा भाई वा बड़ा भाई, अथवा अपने वर्ण वा अपने से उत्तम वर्ण वाला हो। जिससे नियोग करे, उसी का नाम 'देवर' है।

[हे] (नारि)[2] विधवे ! तू (एतं गतासुम्) इस मरे हुए पति की आशा छोड़ के (शेषे) बाकी पुरुषों में से (अभि जीवलोकम्) जीते हुए दूसरे पति को (उपैहि) प्राप्त हो। और (उदीर्ष्व) इस बात का विचार और निश्चय रख कि जो (हस्तग्राभस्य दिधिषोः) तुझ विधवा के पुनः पाणिग्रहण करनेवाले नियुक्त पति के सम्बन्ध के लिए नियोग होगा, तो (इदम्) यह (जनित्वम्) जना हुआ बालक उसी नियुक्त (पत्युः) पति का होगा। और जो तू अपने लिए नियोग करेगी, तो यह सन्तान (तव) तेरा होगा। ऐसे निश्चययुक्त (अभि सम् बभूथ) हो, और नियुक्त पुरुष भी इसी नियम का पालन करे॥२॥

अदेवृघ्न्यपतिघ्नीहैधि शिवा पशुभ्यः सुयमा सुवर्चाः।
प्रजावती वीरसूर्देवृकामा स्योनेममग्निं गार्हपत्यं सपर्य॥१॥

अथर्व० कां० १४। अनु० २। मं० १८॥[3]

हे (अपतिघ्न्यदेवृघ्नि[4]) पति और देवर को दुःख न देनेवाली स्त्री ! तू (इह) इस गृहाश्रम में (पशुभ्यः) पशुओं के लिए (शिवा)

---

१. निरुक्त के दो पाठ हैं—लघु और वृद्ध (बड़ा)। यह वचन वृद्ध पाठ में मिलता है २. सं. २ में मन्त्रपद शुद्ध छपा था, अगले संस्करणों में 'नारी' अपपाठ मिलता है। ३. सरल पता—कां० १४. सू० २, मं. १८॥

४. स्वरशास्त्रानुरोध से मन्त्र में **'अपतिघ्नी, अदेवृघ्नी'** पद हैं (द्र० पदपाठ)। ऋ. भा. भूमिका में भी स. प्र. के ही समान पाठ ग्रन्थकार ने माना है। द्र. पृ. २४६, २४७ (रालाकट्र सं०)।

कल्याण करनेहारी, (सुयमा) अच्छे प्रकार धर्म-नियम में चलने [वाली] (सुवर्चाः) रूप और सर्वशास्त्र-विद्यायुक्त. (प्रजावती) उत्तम पुत्र-पौत्रादि से सहित, (वीरसूः) शूरवीर पुत्रों को जनने [वाली], (देवृकामा) देवर की कामना करनेवाली, (स्योना) और सुख देनेहारी, पति वा देवर को (एधि) प्राप्त होके (इमम्) इस (गार्हपत्यम्) गृहस्थसम्बन्धी (अग्निम्) अग्निहोत्र को (सपर्य) सेवन किया कर [।१।]

तामनेन विधानेन निजो विन्देत देवरः ॥ मनु०[1]

जो अक्षतयोनि स्त्री विधवा हो जाय, तो पति का निज छोटा भाई भी उससे विवाह कर सकता है।

प्रश्न—एक स्त्री वा पुरुष कितने नियोग कर सकते हैं? और विवाहित नियुक्त पतियों का नाम क्या होता है?

उत्तर—सोमः प्रथमो विविदे गन्धर्वो विविद उत्तरः ।

तृतीयो अग्निष्टे पतिस्तुरीयस्ते मनुष्यजाः ॥

ऋ० मं० १० । सू० ८५ । मं० ४० ॥

हे स्त्रि[2] ! जो (ते) तेरा (प्रथमः) पहिला विवाहित (पतिः) पति तुझको (विविदे) प्राप्त होता है, उसका नाम (सोमः) सुकुमारतादि-गुणयुक्त होने से सोम। जो दूसरा नियोग से (विविदे) प्राप्त होता [है,] वह (गन्धर्वः) एक स्त्री से संभोग करने से गन्धर्व। जो (तृतीय उत्तरः) दो के पश्चात् तीसरा पति होता है, वह (अग्निः) अत्युष्णतायुक्त होने से अग्निसंज्ञक। और जो (ते) तेरे (तुरीयः[3]) चौथे से लेके ग्यारहवें तक नियोग से पति होते हैं, वे (मनुष्यजाः) मनुष्य नाम से कहाते हैं। जैसा (इमां त्वमिन्द्र०[4]) इस मन्त्र में ग्यारहवें पुरुष तक स्त्री नियोग कर सकती है, वैसे पुरुष भी ग्यारहवीं स्त्री तक नियोग कर सकता है।

---

१. मनु० ६।६१।। २. संस्कृत भाषानुसार सम्बोधन पद।
३. संस्करण २ में 'तुर्य्यः' पाठ है।
४. पूर्व पृष्ठ १६५ में उद्धृत। वहां 'दश सन्तान' परक अर्थ किया है। और यहां नियोग पक्ष में दश नियोगज पति और एक स्वकीय विवाहित परक।

प्रश्न—एकादश शब्द से दश पुत्र और ग्यारहवें पति को क्यों न गिनें ?

उत्तर—जो ऐसा अर्थ करोगे, तो **'विधवेव देवरम्'**; **'देवर: कस्माद् द्वितीयो वर उच्यते'**; **'अदेवृघ्नि'**[1]; और **'गन्धर्वो विविद उत्तर:'** इत्यादि वेदप्रमाणों से विरुद्धार्थ होगा। क्योंकि तुम्हारे अर्थ से दूसरा भी पति प्राप्त नहीं हो सकता।

> **देवराद्वा सपिण्डाद्वा स्त्रिया सम्यङ्नियुक्तया।**
> **प्रजेप्सिताधिगन्तव्या सन्तानस्य परिक्षये ॥१॥**
> **ज्येष्ठो यवीयसो भार्यां यवीयान् वाग्रजस्त्रियम्।**
> **पतितौ भवतो गत्वा नियुक्तावप्यनापदि ॥२॥**
> **औरस: क्षेत्रजश्चैव० ॥३॥ मनु**[2]

इत्यादि मनु जी ने लिखा है कि सपिण्ड अर्थात् पति की छ: पीढ़ियों में पति का छोटा वा बड़ा भाई, अथवा स्वजातीय, तथा अपने से उत्तम जातिस्थ पुरुष से विधवा स्त्री का नियोग होना चाहिए। परन्तु जो वह मृतस्त्री[क] पुरुष औ रविधवा स्त्री सन्तानोत्पत्ति की इच्छा करती हो, तो नियोग होना उचित है। और जब सन्तान का सर्वथा क्षय हो, तब नियोग होवे।

जो आपत्काल अर्थात् सन्तानों के होने की इच्छा न होने में बड़े भाई की स्त्री से छोटे का, और छोटे को स्त्री से बड़े भाई का नियोग होकर सन्तानोत्पत्ति हो जाने पर भी पुन: वे नियुक्त आपस में समागम करें, तो पतित हो जायें। अर्थात् एक नियोग में दूसरे पुत्र के गर्भ रहने तक नियोग की अवधि है। इसके पश्चात् समागम न करें।

और जो दोनों के लिये नियोग हुआ हो, तो चौथे गर्भ तक। अर्थात् पूर्वोक्त रीति से दश सन्तान तक हो सकते हैं। पश्चात् विषयासक्ति गिनी जाती है, इससे वे पतित गिने जाते हैं। और जो विवाहित स्त्री-पुरुष भी दशवें गर्भ से अधिक समागम करें, तो कामी

---

१. द्र० पृष्ठ १६६ की टि० ४॥

२. मनु० ९।५९, ५८, १५९॥

और निन्दित होते हैं। अर्थात् विवाह वा नियोग सन्तानों ही के अर्थ किये जाते हैं, पशुवत् कामक्रीड़ा के लिए नहीं।

प्रश्न—नियोग मरे पीछे ही होता है, वा जीते पति के भी ?

उत्तर—जीते भी होता है—

अन्यमिच्छस्व सुभगे पतिं मत् ॥ ऋ० मं० १०। सू० १०। मं० १०॥

जब पति सन्तानोत्पत्ति में असमर्थ होवे, तब अपनी स्त्री को आज्ञा देवे कि हे (सुभगे) सौभाग्य की इच्छा करनेहारी स्त्री ! तू (मत्) मुझसे (अन्यम्) दूसरे पति की (इच्छस्व) इच्छा कर। क्योंकि अब मुझसे सन्तानोत्पति की आशा मत कर[1]। [तब स्त्री दूसरे से नियोग करके सन्तानोत्पत्ति करे।] परन्तु उस विवाहित महाशय पति की सेवा में तत्पर रहै। वैसे ही स्त्री भी जब रोगादि दोषों से ग्रस्त होकर सन्तानोत्पत्ति में असमर्थ होवे, तब अपने पति को आज्ञा देवे कि—हे स्वामी! आप सन्तानोत्पत्ति की इच्छा मुझसे छोड़-के किसी दूसरी विधवा स्त्री से नियोग करके सन्तानोत्पति कीजिये। जैसाकि पाण्डु राजा की स्त्री कुन्ती और माद्री आदि ने किया। और जैसा व्यासजी ने चित्राङ्गद और विचित्रवीर्य के मर जाने [के] पश्चात् उन अपने भाइयों[2] की स्त्रियों से नियोग करके अम्बिका[3] में धृतराष्ट्र और अम्बालिका में पाण्डु, और दासी[4] में विदुर की उत्पत्ति की। इत्यादि इतिहास भी इस बात में प्रमाण हैं।

---

१. स. २ में 'करे' पाठ है। अगला कोष्ठान्तर्गत पाठ नहीं है। सं. ३४ में 'सन्तानोत्पत्ति न हो सके [गी]' पाठ है। अगला पाठ भी विना कोष्ठक के छपा है।

२. महाभारत के अनुसार चित्राङ्गद अविवाहित मर गया था। विचित्र-वीर्य का विवाह अम्बिका और अम्बालिका से हुआ था (आदि० १०२। ६५)। अतः यहां विचित्रवीर्य की ही स्त्रियों से नियोग हुआ, ऐसा जानना चाहिये।

३. सं. २ तथा आगे भी १४-१५ संस्करणों में 'अम्बिका अम्बा में' पाठ मिलता है। यहां 'अम्बा' का निर्देश उचित नहीं है। इस का अनौचित्य इसी से स्पष्ट है कि 'अम्बिका, अम्बा' दो स्त्रियों से धृतराष्ट्र की उत्पत्ति नहीं हो सकती।

४. संस्करण २ में 'दाशि' अपपाठ है।

प्रोषितो धर्मकार्यार्थं प्रतीक्ष्योऽष्टौ नरः समाः ।
विद्यार्थं षड् यशोर्थं वा कामार्थं त्रींस्तु वत्सरान् ॥१॥
वन्ध्याष्टमेऽधिवेद्याब्दे दशमे तु मृतप्रजा ।
एकादशे स्त्रीजननी सद्यस्त्वप्रियवादिनी ॥२॥ मनु०[1]

विवाहित स्त्री जो विवाहित पति धर्म के [अर्थ] परदेश गया हो तो आठ वर्ष, विद्या और कीर्ति के लिये गया हो तो छः, और धनादि-कामना के लिए गया हो, तो तीन वर्ष तक बाट देखके पश्चात् नियोग करके सन्तानोत्पत्ति करले । जब विवाहित पति आवे, तब नियुक्त पति छूट जावे ॥१॥

वैसे ही पुरुष के लिए भी नियम है कि वन्ध्या हो तो आठवें (विवाह से आठ वर्ष तक स्त्री को गर्भ न रहै), सन्तान होकर मर जायें तो दशवें, जब-जब हों तब-तब कन्या ही होवें पुत्र न हो तो ग्यारहवें वर्ष तक, और जो अप्रिय बोलनेवाली हो तो सद्यः उस स्त्री को छोड़के दूसरी स्त्री से नियोग करके सन्तानोत्पत्ति कर लेवे ॥२॥

वैसे ही जो पुरुष अत्यन्त दुःखदायक हो, तो स्त्री को उचित है कि उसको छोड़के दूसरे पुरुष से नियोग कर सन्तानोत्पत्ति करके उसी विवाहित पति के दायभागी सन्तान कर लेवे। इत्यादि प्रमाण और युक्तियों से स्वयंवर विवाह और नियोग से अपने-अपने कुल की उन्नति करें । जैसा **'औरस'** अर्थात् विवाहित पति से उत्पन्न हुआ पुत्र पिता के पदार्थों का स्वामी होता है, वैसे ही **'क्षेत्रज'** अर्थात् नियोग से उत्पन्न हुए पुत्र भी [मृत] पिता के दाय-भागी होते हैं ।

अब इस पर स्त्री और पुरुष को ध्यान रखना चाहिये कि वीर्य और रज को अमूल्य समझें । जो कोई इस अमूल्य पदार्थ को परस्त्री वेश्या वा दुष्ट पुरुषों के संग में खोते हैं, वे महामूर्ख होते हैं । क्योंकि जो किसान वा माली मूर्ख होकर भी अपने खेत वा वाटिका के विना

---

१. मनु० ९।७६, ८१ ॥

अन्यत्र बीज नहीं बोते। जो कि साधारण बीज और मूर्ख का ऐसा वर्तमान है, तो जो सर्वोत्तम मनुष्य-शरीर-रूप वृक्ष के बीज को कुक्षेत्र में खोता है, वह महामूर्ख कहाता है। क्योंकि उसका फल उसको नहीं मिलता।

और '**आत्मा वै जायते पुत्रः**'[1] यह ब्राह्मण ग्रन्थों का वचन है।

अङ्गादङ्गात् सम्भवसि हृदयादधिजायसे।
आत्मासि पुत्र मा मृथा स जीव शरदः शतम्॥[2]

यह सामवेद [ब्राह्मण] का वचन[3] है।

हे पुत्र! तू अङ्ग-अङ्ग से उत्पन्न हुए वीर्य से और हृदय से उत्पन्न होता है, इसलिये तू मेरा आत्मा है। मुझसे पूर्व मत मरे, किन्तु सौ वर्ष तक जी।

जिससे ऐसे-ऐसे महात्मा और महाशयों के शरीर उत्पन्न होते हैं, उसको वेश्यादि दुष्टक्षेत्र में बोना, वा दुष्ट बीज अच्छे क्षेत्र में बुवाना महापाप का काम है।

प्रश्न—विवाह क्यों करना? क्योंकि इससे स्त्री-पुरुष को बन्धन में पड़के बहुत संकोच करना, और दुःख भोगना पड़ता है। इसलिए जिसके साथ [जब तक] जिसकी प्रीति हो, तबतक वे मिले रहैं। जब प्रीति छूट जाय तो छोड़ देवें।

उत्तर—यह पशु-पक्षियों का व्यवहार है, मनुष्यों का नहीं। जो

---

१. तुलना करो—'**आत्मा वै पुत्रनामासि**'। शत० ४।६।४।२६; निरुक्त ३।४ में भी उद्धृत।

२. छान्दोग्य (मन्त्र) ब्राह्मण में स्वर-चिह्न नहीं हैं। यह निरुक्त ३।४ में कुछ पाठ-भेद से है। वहां सस्वर पाठ है, उसी के अनुसार संस्करण ३ में पाठ बादल कर स्वर-चिह्न दिये गये। ३४ वें सं. में मन्त्र का शुद्ध पाठ छाप कर भी स्वर-चिह्न 'मा मृथाः' इस प्रकार अशुद्ध छापे हैं। निषेधार्थक 'मा' पद उदात्त होता है। 'मृथाः' को सर्वानुदात्त होकर 'मा मृथाः' स्वर होना चाहिये।

३. छान्दो० (मन्त्र) ब्राह्मण १।५।१७ का पूर्वार्ध और १८ का उत्तरार्ध।

मनुष्यों में विवाह का नियम न रहै, तो सब गृहाश्रम के अच्छे-अच्छे व्यवहार नष्ट-भ्रष्ट हो जायें। कोई किसी की सेवा भी न करे, और महाव्यभिचार बढ़कर सब रोगी निर्बल और अल्पायु होकर शीघ्र-शीघ्र मर जायें।[1] कोई किसी से भय वा लज्जा न करे। वृद्धावस्था में कोई किसी की सेवा भी नहीं करे, और महाव्यभिचार बढ़कर सब रोगी निर्बल और अल्पायु होकर कुलों के कुल नष्ट हो जायें। कोई किसी के पदार्थों का स्वामी वा दायभागी भी न हो सके। और न किसी का किसी पदार्थ पर दीर्घकाल-पर्यन्त स्वत्व रहे। इत्यादि दोषों के निवारणार्थ विवाह ही होना सर्वथा योग्य है।

प्रश्न—जब एक विवाह होगा, एक पुरुष को एक स्त्री और एक स्त्री को एक पुरुष रहेगा। तब स्त्री गर्भवती स्थिररोगिणी अथवा पुरुष दीर्घरोगी हो, और दोनों की युवावस्था हो, रहा न जाय तो फिर क्या करें ?

उत्तर—इसका प्रत्युत्तर नियोग-विषय में दे चुके हैं। और गर्भवती स्त्री से एक वर्ष समागम न करने के समय में पुरुष वा [दीर्घरोगी पुरुष की] स्त्री से न रहा जाय, तो किसी से नियोग करके उसके लिए पुत्रोत्पत्ति कर दें। परन्तु वेश्यागमन वा व्यभिचार कभी न करें। जहां तक हो वहां तक अप्राप्त वस्तु की इच्छा, प्राप्त का रक्षण और रक्षित की वृद्धि, बढ़े हुए धन का व्यय देशोपकार करने में किया करें[2]। सब प्रकार के अर्थात् पूर्वोक्त रीति से अपने-अपने वर्णाश्रम के व्यवहारों को अत्युत्साहपूर्वक प्रयत्न से तन, मन, धन से सर्वदा परमार्थ किया करें।

अपने माता, पिता, शाशु, श्वशुर की अत्यन्त शुश्रूषा करें। मित्र और अड़ोसी-पड़ोसी, राजा, विद्वान्, वैद्य और सत्पुरुषों से प्रीति रखके, और जो दुष्ट अधर्मी [हों] उनसे उपेक्षा अर्थात् द्रोह छोड़कर उनके सुधारने का यत्न किया करें। जहां तक बने वहां तक प्रेम

---

१. यह पूरा वाक्य अनावश्यक है, अगली पंक्ति में पुनरावृत्ति होने से।
२. द्र०—**अलब्धं चैव लिप्सेत लब्धं रक्षेत् प्रयत्नतः।**
रक्षितं वर्धयेच्चैव वृद्धं पात्रेषु निक्षिपेत्॥ मनु० ७।९९॥

से अपने सन्तानों के विद्वान् और सुशिक्षा करने-कराने में धनादि पदार्थों का व्यय करके उनको पूर्ण विद्वान् सुशिक्षायुक्त कर दें। और धर्मयुक्त व्यवहार करके मोक्ष का भी साधन किया करें, कि जिसकी प्राप्ति से परमानन्द भोगें।

और ऐसे-ऐसे श्लोकों को न मानें। जैसे—

पतितोऽपि द्विज: श्रेष्ठो न च शूद्रो जितेन्द्रिय:।
निर्दुग्धा चापि गौ: पूज्या न च दुग्धवती खरी ॥१॥
अश्वालम्भं गवालम्भं संन्यासं पलपैत्रिकम्।
देवराच्च सुतोत्पत्तिं कलौ पञ्च विवर्जयेत् ॥२॥
नष्टे मृते प्रव्रजिते क्लीबे च पतिते पतौ।
पञ्चस्वापत्सु नारीणां पतिरन्यो विधीयते ॥३॥

ये कपोलकल्पित पाराशरी के श्लोक[1] हैं।

जो दुष्ट कर्मकारी द्विज को श्रेष्ठ, और श्रेष्ठ कर्मकारी शूद्र को नीच मानें, तो इससे परे पक्षपात अन्याय अधर्म दूसरा अधिक क्या होगा? क्या [जैसे] दूध देने वाली वा न देने वाली गाय गोपालों को पालनीय होती है, वैसे कुम्हार आदि को गधही पालनीय नहीं होती? और यह दृष्टान्त भी विषम है। क्योंकि द्विज और शूद्र मनुष्य जाति, गाय और गधही भिन्न जाति हैं। कथञ्चित् पशुजाति से दृष्टान्त का एकदेश दार्ष्टान्त[2] में मिल भी जावे, तो भी इसका आशय अयुक्त होने से यह श्लोक विद्वानों के माननीय कभी नहीं हो सकते ॥१॥

---

१. पाराशरी स्मृति के लघु और वृद्ध (बृहत्) दो पाठ हैं। उपर्युक्त श्लोकों में से प्रथम श्लोक पाराशरी लघुपाठ ८।३३ में इस प्रकार मिलता है—'दु:शीलोऽपि द्विज: श्रेष्ठो न शूद्रो विजितेन्द्रिय:। क: परित्यज्य गां दुष्टां दुहेच्छीलवतीं खरीम् ॥' शब्दभेद होने पर भी भाव एक ही है। दूसरा श्लोक हमें उपलब्ध नहीं हुआ। तृतीय श्लोक पाराशरी लघुपाठ ४।२५में है। स्वामी वेदानन्द जी ने अपने सं० में प्रथम दो श्लोकों का पता ८।३३; ४,३२दिया है। वह अशुद्ध है। इसी प्रकार तृतीय श्लोक का पता ब्रह्मवैवर्त पु० १।४।११२, ११३ दिया है, वह भी अशुद्ध है।

२. कुछ संस्करणों में 'दृष्टान्त' अपपाठ छपा है।

जब अश्वालम्भ अर्थात् घोड़े को मारके[1] अथवा [गवालम्भ] गाय को मारके[1] होम करना ही वेदविहित नहीं है, तो उसका कलियुग में निषेध करना वेदविरुद्ध क्यों नहीं ? जो कलियुग में इस नीच कर्म का निषेध माना जाय, तो त्रेता आदि में विधि आ जाय। तो इसमें ऐसे दुष्ट काम का श्रेष्ठयुग[2] में होना सर्वथा असम्भव है। और संन्यास का[3] वेदादिशास्त्रों में विधि है, उसका निषेध करना निर्मूल है। जब मांस का निषेध है, तो सर्वदा ही निषेध है। जब देवर से पुत्रोत्पत्ति करना वेदों में लिखी है, तो यह श्लोककर्त्ता क्यों भूंषता[4] है ? ॥२॥

यदि नष्ट अर्थात् पति किसी देश-देशान्तर को चला गया हो, घर में स्त्री नियोग कर लेवे, उसी समय विवाहित पति आ जाय, तो वह किसकी स्त्री हो ? कोई कहे कि विवाहित पति की। हमने माना, परन्तु ऐसी व्यवस्था पाराशरी में तो नहीं लिखी। क्या स्त्री के पांच ही आपत्काल हैं ? जो रोगी पड़ा हो, वा लड़ाई हो गई हो, इत्यादि आपत्-काल पांच से भी अधिक हैं। इसलिये ऐसे-ऐसे श्लोकों को कभी न मानना चाहिये ॥३॥

प्रश्न—क्योंजी तुम पराशर मुनि के वचन को भी नहीं मानते ?

उत्तर—चाहे किसी का वचन हो, परन्तु वेदविरुद्ध होने से नहीं मानते। और यह तो पाराशर का वचन भी नहीं है। क्योंकि जैसे **ब्रह्मोवाच, वशिष्ठ उवाच, राम उवाच, शिव उवाच, विष्णुरुवाच, देव्युवाच** इत्यादि श्रेष्ठों का नाम लिखके ग्रन्थरचना इसलिये करते हैं कि सर्वमान्य के नाम से इन ग्रन्थों को सब संसार मान लेवे, और हमारी पुष्कल जीविका भी हो। इसलिये अनर्थ-गाथायुक्त ग्रन्थ बनाते हैं। कुछ-कुछ प्रक्षिप्त श्लोकों को छोड़के मनुस्मृति ही वेदानुकूल है,

---

१. यह अर्थ पौराणिकों के मतानुसार है।

२. पौराणिकों के मतानुसार 'श्रेष्ठयुग' कहा है।

३. सं० २ में 'की' पाठ है, यह ग्रन्थकार की शैली के विरुद्ध है।

४. लौकिक उच्चारण 'भूंखता या भोंखता'। स्वामी वेदानन्द जी ने 'भूंसता' अपपाठ बनाया है।

अन्य स्मृति नहीं। ऐसे ही अन्य जालग्रन्थों की व्यवस्था समझलो।

प्रश्न—गृहाश्रम सबसे छोटा वा बड़ा है?

उत्तर—अपने-अपने कर्त्तव्य-कर्मों में सब बड़े हैं। परन्तु—

यथा नदीनदाः सर्वे सागरे यान्ति संस्थितिम्।
तथैवाश्रमिणः सर्वे गृहस्थे यान्ति संस्थितिम्॥१॥
यथा वायुं समाश्रित्य वर्त्तन्ते सर्वजन्तवः।
तथा गृहस्थमाश्रित्य वर्त्तन्ते सर्व आश्रमाः॥२॥
यस्मात् त्रयोऽप्याश्रमिणो दानेनान्नेन[1] चान्वहम्।
गृहस्थेनैव धार्य्यन्ते तस्माज्ज्येष्ठाश्रमो गृही॥३॥
स संधार्यः प्रयत्नेन स्वर्गमक्षयमिच्छता।
सुखं चेहेच्छता नित्यं योऽधार्यो दुर्बलेन्द्रियैः॥४॥ मनु०[2]

जैसे नदी और बड़े-बड़े नद तब तक भ्रमते ही रहते हैं, जब तक समुद्र को प्राप्त नहीं होते, [वैसे ही सब आश्रमी गृहस्थ ही को प्राप्त होके स्थिर होते हैं॥ १॥][3]

[जैसे वायु के आश्रय से सब जीवों का वर्तमान सिद्ध होता है,][3] वैसे गृहस्थ ही के आश्रय से सब आश्रम स्थिर रहते हैं। विना इस आश्रम के किसी आश्रम का कोई व्यवहार सिद्ध नहीं होता॥ २॥[4]

---

१. यही पाठ सं० वि० पृष्ठ २३६ (सं० ३) पर उद्धृत है। मनु० में 'ज्ञानेनान्नेन' पाठ है। मनु० के संवत् १९२६ के संस्करण में द०स० ने 'ज्ञा' को काट कर 'दा' स्वहस्त से बनाया है। यह संस्करण वै० पुस्तकालय अजमेर में सुरक्षित है।

२. क्रमशः मनु० ६।९०; ३।७७-७९॥

३. यह कोष्ठान्तर्गत पाठ मूल कापी में दो स्थानों पर 'वैसे' पद के कारण दृष्टिदोष से छूट गया। अत एव उपलब्ध नहीं होता। हमने यह पाठ ऋषि के शब्दों में ही सं० वि० गृहाश्रम प्रकरण पृष्ठ २३६-२३८ (सं० ३, रालाकट्र०) से इन श्लोकों की व्याख्या से पूरा किया है। इस पाठ में प्रथम श्लोक के उत्तरार्ध और द्वितीय श्लोक के पूर्वार्ध की व्याख्या छूटी है।

४. सं० २ में '॥१॥' संख्या छपी है। इसी कारण कुछ सम्पादकों ने यहां त्रुटित पाठ जोड़ा है। यहां परिवर्धन, श्लोकों के अर्थ तथा सं० वि० की व्याख्या से विपरीत है।

जिससे[1] ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ और संन्यासी तीन आश्रमों को दान और अन्नादि देके प्रतिदिन गृहस्थ ही धारण करता है, इससे गृहस्थ ज्येष्ठाश्रम है। अर्थात् सब व्यवहारों में धुरन्धर कहाता है ॥३॥

इसलिये [जो] मोक्ष और संसार के सुख की इच्छा करता हो, वह प्रयत्न से गृहाश्रम का धारण करे। जो गृहाश्रम दुर्बलेन्द्रिय अर्थात् भीरु और निर्बल पुरुषों से धारण करने अयोग्य है, उसको अच्छे प्रकार धारण करे ॥४॥

इसलिये जितना कुछ व्यवहार संसार में है, उसका आधार गृहाश्रम है। जो यह गृहाश्रम न होता, तो सन्तानोत्पत्ति के न होने से ब्रह्मचर्य वानप्रस्थ और संन्यासाश्रम कहां से हो सकते? जो कोई गृहाश्रम की निन्दा करता है वही निन्दनीय है, और जो प्रशंसा करता है वही प्रशंसनीय है। परन्तु तभी गृहाश्रम में सुख होता है, जब स्त्री और पुरुष दोनों परस्पर प्रसन्न, विद्वान्, पुरुषार्थी और सब प्रकार के व्यवहारों के ज्ञाता हों। इसलिये गृहाश्रम के सुख का मुख्य कारण ब्रह्मचर्य और पूर्वोक्त स्वयंवर विवाह है।

यह संक्षेप से समावर्त्तन, विवाह और गृहाश्रम के विषय में शिक्षा लिख दी। इसके आगे वानप्रस्थ और संन्यास के विषय में लिखा जायगा।

**इति श्रीमद्दयानन्दसरस्वतीस्वामिकृते सत्यार्थप्रकाशे
सुभाषा-विभूषिते समावर्त्तन-विवाह-गृहाश्रमविषये
चतुर्थः समुल्लासः सम्पूर्णः ॥४॥**

---

१. सं० २ में 'जिससे गृहस्थ, ब्रह्मचारी' पाठ है। वाक्य के अन्त में 'गृहस्थ' पद का पाठ होने से यहां 'गृहस्थ' पद अनावश्यक है।

अथ पञ्चमसमुल्लासारम्भः

अथ वानप्रस्थ-संन्यासविधिं वक्ष्यामः

ब्रह्मचर्य्याश्रमं समाप्य गृही भवेत्, गृही भूत्वा वनी भवेद्, वनी भूत्वा प्रव्रजेत् ।। शत० कां० १४।।[1]

मनुष्यों को उचित है कि ब्रह्मचर्याश्रम को समाप्त करके गृहस्थ होकर वानप्रस्थ,और वानप्रस्थ होके संन्यासी होवें, अर्थात् यह अनुक्रम से आश्रम का विधान है ।

एवं गृहाश्रमे स्थित्वा विधिवत्स्नातको द्विजः ।
वने वसेत्तु नियतो यथावद्विजितेन्द्रियः ।।१।।
गृहस्थस्तु यदा पश्येद् वलीपलितमात्मनः ।
अपत्यस्यैव चापत्यं तदारण्यं समाश्रयेत् ।।२।।
संत्यज्य ग्राम्यमाहारं सर्वं चैव परिच्छदम् ।
पुत्रेषु भार्यां निःक्षिप्य[2] वनं गच्छेत् सहैव वा ।।३।।
अग्निहोत्रं समादाय गृह्यं चाग्निपरिच्छदम् ।
ग्रामादरण्यं निःसृत्य निवसेन्नियतेन्द्रियः ।।४।।
मुन्यन्नैर्विविधैर्मेध्यैः शाकमूलफलेन वा ।
एतानेव महायज्ञान् निर्वपेद्विधिपूर्वकम् ।।५।।[3]

इस प्रकार स्नातक अर्थात् ब्रह्मचर्यपूर्वक गृहाश्रम का कर्त्ता

---

१. सं० वि० में भी यही पाठ है, और शतपथ ब्रा० का निर्देश है । जाबालोप० खं० ४ में यह पाठ 'ब्रह्मचर्यं परिसमाप्य' पाठान्तर से मिलता है । उपलब्ध जाबाल ब्रा०भी माध्यन्दिन-काण्व शतपथ के समान शतपथ का ही एक भेद है । जाबाल उप० का सम्बन्ध इसी जाबाल शतपथ के साथ है । विस्तृत टिप्पणी सं० वि० पृष्ठ २९७ (सं० ३, रालाकट्र०) पर देखें ।

२. मनु० ६।३ में 'निक्षिप्य' पाठ है । यही सं० वि० पृष्ठ ३०१ (सं० ३, रालाकट्र०)में । दोनों पाठ महा० ८।३।३६ में पठित वार्तिकानुसार युक्त हैं ।

३. मनु० ६।१-५।।

द्विज, अर्थात् ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्य गृहाश्रम में ठहरकर निश्चितात्मा और यथावत् इन्द्रियों को जीतके वन में वसे ॥१॥

परन्तु जब गृहस्थ शिर के श्वेत केश और त्वचा ढीली हो जाय, और लड़के का लड़का भी हो गया हो, तब वन में जाके वसे ॥२॥

सब ग्राम के आहार और वस्त्रादि सब उत्तमोत्तम पदार्थों को छोड़, पुत्रों के पास स्त्री को रख, वा अपने साथ लेके वन में निवास करे ॥३॥

साङ्गोपाङ्ग अग्निहोत्र को लेके, ग्राम से निकल दृढ़ेन्द्रिय होकर अरण्य में जाके वसे ॥४॥

नाना प्रकार के सामा[1] आदि अन्न, सुन्दर-सुन्दर शाक, मूल, फल, फूल,कन्दादि से पूर्वोक्त पञ्चमहायज्ञों को करे। और उसी से अतिथि-सेवा और आप भी निर्वाह करे ॥५॥

स्वाध्याये नित्ययुक्त स्याद्दान्तो मैत्रः समाहितः।
दाता नित्यमनादाता सर्वभूतानुकम्पकः ॥१॥
अप्रयत्नः सुखार्थेषु ब्रह्मचारी धराशयः।
शरणेष्वममश्चैव वृक्षमूलनिकेतनः ॥२॥[2]

स्वाध्याय अर्थात् पढ़ने-पढ़ाने में नि[त्य] युक्त, जितात्मा, सब का मित्र, इन्द्रियों का दमनशील, विद्यादि का दान देनेहारा, और सब पर दयालु, किसी से कुछ भी पदार्थ न लेवे। इस प्रकार सदा वर्तमान करे ॥ १ ॥

शरीर के सुख के लिए अति प्रयत्न [न]करे। किन्तु ब्रह्मचारी [रहे],अर्थात् अपनी स्त्री साथ हो तथापि उससे विषय-चेष्टा कुछ न करे। भूमि में सोवे, अपने आश्रित वा स्वकीय पदार्थों में ममता न करे, वृक्ष के मूल में वसे ॥ २ ॥

तपःश्रद्धे ये ह्युपवसन्त्यरण्ये शान्ता विद्वांसो भैक्षचर्य्यां चरन्तः।
सूर्यद्वारेण ते विरजाः प्रयान्ति यत्राऽमृतः स पुरुषो ह्यव्ययात्मा ॥१॥

मुण्ड० खं० २। मं० ११ ॥[3]

---

१. 'सांवा' नाम से प्रसिद्ध चावल।
२. मनु० ६।८,२६॥ ३. मुण्डकोप० १।२।११॥

जो शान्त विद्वान् लोग वन में तप-धर्मानुष्ठान और सत्य की श्रद्धा करके भिक्षाचरण करते हुए जङ्गल में वसते हैं, वे जहां नाश-रहित पूर्ण-पुरुष हानि-लाभ-रहित परमात्मा है, वहां निर्मल होकर प्राणद्वार से उस परमात्मा को प्राप्त होके आनन्दित हो जाते हैं ।।१।।

अभ्या दधामि समिधमग्ने व्रतपते त्वयि ।
व्रतञ्च श्रद्धां चोपैमीन्धे त्वा दीक्षितोऽ अहम् ।।१।।

यजुर्वेद अध्याय २० । मन्त्र २४ ।।

वानप्रस्थ को उचित है कि—मैं अग्नि में होम कर दीक्षित होकर व्रत-सत्याचरण और श्रद्धा को प्राप्त होऊं, ऐसी इच्छा करके वानप्रस्थ हो नाना प्रकार की तपश्चर्या, सत्संग, योगाभ्यास, सुविचार से ज्ञान और पवित्रता प्राप्त करे । पश्चात् जब संन्यासग्रहण की इच्छा हो,तब स्त्री को पुत्रों के पास भेज देवे,फिर संन्यास ग्रहण करे ।

इति संक्षेपेण वानप्रस्थविधि: ।।

अथ संन्यासविधि:

वनेषु च विहृत्यैवं तृतीयं भागमायुष: ।
चतुर्थमायुषो भागं त्यक्त्वा सङ्गान् परिव्रजेत् ।। मनु०[1]

इस प्रकार वन में आयु का तीसरा भाग, अर्थात् पचासवें[2] वर्ष से पचहत्तरवें वर्ष पर्यन्त वानप्रस्थ होके, आयु के चौथे भाग में संगों को छोड़के परिव्राट् अर्थात् संन्यासी हो जावे ।

प्रश्न—गृहाश्रम और वानप्रस्थाश्रम न करके संन्यासाश्रम करे, उसको पाप होता है वा नहीं ?

उत्तर—होता है, और नहीं भी होता ।

प्रश्न—यह दो प्रकार की बात क्यों कहते हो ?

उत्तर—दो प्रकार की नहीं, क्योंकि जो बाल्यावस्था में विरक्त होकर विषयों में फंसे वह महापापी । और जो न फंसे वह महा-पुण्यात्मा सत्पुरुष है ।

---

१. मनु० ६।३३।। २. संस्करण २ में 'पच्चीसवें' पाठ है ।

यदहरेव विरजेत्तदहरेव प्रव्रजेद् वनाद्वा, गृहाद् वा ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेत् । । ये ब्राह्मण ग्रन्थ के वचन हैं[1] ।

जिस दिन वैराग्य प्राप्त हो, उसी दिन [ब्रह्मचर्य्य,] घर वा वन से संन्यास ग्रहण कर लेवे । पहले संन्यास का पक्षक्रम[2] कहा, और इसमें विकल्प अर्थात् वानप्रस्थ [न] कर, गृहस्थाश्रम ही से संन्यास ग्रहण करे [यह द्वितीय पक्ष,] और तृतीय पक्ष यह है कि जो पूर्ण विद्वान् जितेन्द्रिय विषयभोग की कामना से रहित परोपकार करने की इच्छा से युक्त पुरुष हो, वह ब्रह्मचर्याश्रम ही से संन्यास लेवे ।

और वेदों में भी '**यतयः[3] ब्राह्मणस्य विजानतः**' इत्यादि पदों से संन्यास का विधान है । परन्तु—

नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः ।
नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात् ॥

कठ० वल्ली २ । मं० २४॥

जो दुराचार से पृथक् नहीं, जिसको शान्ति नहीं, जिसका आत्मा योगी नहीं, और जिसका मन शांत नहीं है, वह संन्यास लेके भी प्रज्ञान से परमात्मा को प्राप्त नहीं होता ।

इसलिये—

यच्छेद् वाङ्मनसी प्राज्ञस्तद्यच्छेद् ज्ञान आत्मनि ।
ज्ञानमात्मनि महति नियच्छेत्तद्यच्छेच्छान्त आत्मनि ॥

कठ० वल्ली ३ । मं० १३ ॥

संन्यासी बुद्धिमान् वाणी और मन को अधर्म से रोके, उनको ज्ञान और आत्मा में लगावे । और उस ज्ञानस्वात्मा को परमात्मा में लगावे । और उस विज्ञान को शान्तस्वरूप आत्मा में स्थिर करे ।

---

१. जाबालोपनिषद्, खं० ४ में आगे पीछे पाठ मिलता है ।

२. पूर्व पृष्ठ १८० पर उद्धृत शतपथ (जाबालोप०) वचन में । यहां 'क्रमपक्ष' पाठ होना चाहिए ।

३. ऋ० ८।६।१८॥

परीक्ष्य लोकान् कर्मचितान् ब्राह्मणो निर्वेदमायान्नास्त्यकृतः कृतेन ।
तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम् ।।
मुण्ड० खं० २ । मं० १२।।[1]

सब लौकिक भोगों को कर्म से संचित हुए देखकर ब्राह्मण अर्थात् संन्यासी वैराग्य को प्राप्त होवे। क्योंकि अकृत अर्थात् न किया हुआ परमात्मा, कृत अर्थात् केवल कर्म से प्राप्त नहीं होता। इसलिये कुछ अर्पण के अर्थ हाथ में लेके, वेदवित् और परमेश्वर को जाननेवाले गुरु के पास विज्ञान के लिये जावे। जाके सब सन्देहों की निवृत्ति करे।

परन्तु सदा इनका संग छोड़ देवे, कि जो—

अविद्यायामन्तरे वर्त्तमानाः स्वयं धीराः पण्डितम्मन्यमानाः ।
जङ्घन्यमानाः परियन्ति मूढा अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः ।।१।।
अविद्यायां बहुधा वर्त्तमाना वयं कृतार्था इत्यभिमन्यन्ति बालाः ।
यत्कर्मिणो न प्रवेदयन्ति रागात् तेनातुराः क्षीणलोकाश्च्यवन्ते ।।२
मुण्ड० खं० २ । मं० ८,९।।[2]

जो अविद्या के भीतर खेल रहे, अपने को धीर और पण्डित मानते हैं, वे नीच गति को जानेहारे मूढ़ जैसे अंधे के पीछे अंधे दुर्दशा को प्राप्त होते हैं, वैसे दुःखों को पाते हैं ।।१।।

जो बहुधा अविद्या में रमण करनेवाले, बालबुद्धि, हम कृतार्थ हैं ऐसा मानते हैं, जिसको केवल कर्मकाण्डी लोग राग से मोहित होकर नहीं जान और जना सकते, वे आतुर[3] होके जन्ममरणरूप दुःख में गिरे रहते हैं ।। २ ।।

इसलिये—

वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः संन्यासयोगाद्यतयः शुद्धसत्त्वाः ।
ते ब्रह्मलोकेषु परान्तकाले परामृताः[4] परिमुच्यन्ति सर्वे ।।
मुण्ड० ३। खं० २ । मं० ६।।

---

१. मुण्डकोप० १।२।१२।।   २. मुण्डकोप० १।२।८,९।।

३. अर्थात् स्वर्गादि की कामना से यज्ञादि सकाम कर्मों में आतुर ।

४. नवम समुल्लास में '**परामृतात्**' पाठ उद्धृत किया है। यहां भी

जो वेदान्त अर्थात् परमेश्वर-प्रतिपादक वेदमन्त्रों के अर्थज्ञान और आचार में अच्छे प्रकार निश्चित, संन्यासयोग से शुद्धान्तःकरण संन्यासी होते हैं, वे परमेश्वर में मुक्तिसुख को प्राप्त हो, भोग के पश्चात् जब मुक्ति में सुख की अवधि पूरी हो जाती है, तब वहां से छूटकर संसार में आते हैं। मुक्ति के विना दुःख का नाश नहीं होता।

क्योंकि—

न [वै] सशरीरस्य सतः प्रियाप्रिययोरपहतिरस्त्यशरीरं वा वसन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशतः ।। छान्दो०[1]

जो देहधारी है, वह सुख दुःख की प्राप्ति से पृथक् कभी नहीं रह सकता। और जो शरीररहित जीवात्मा मुक्ति में सर्वव्यापक परमेश्वर के साथ शुद्ध होकर रहता है, तब उसको सांसारिक सुख-दुःख प्राप्त नहीं होता।

इसलिये—

लोकैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च पुत्रैषणायाश्चोत्थायाथ भैक्षचर्यं चरन्ति ।। शत० कां० १४ ।।[2]

लोक में प्रतिष्ठा वा लाभ, धन से भोग वा मान्य, पुत्रादि के मोह से अलग होके संन्यासी लोग भिक्षुक होकर रात-दिन मोक्ष के साधनों में तत्पर रहते हैं।

भाषा इसी पाठ के अनुसार है। मुण्डकोप० में प्रायः ऊपर मुद्रित पाठ ही मिलता है, तथापि 'परामृतात्' पाठ भी बहुत्र मिलता है। सन् १९२५ के निर्णयसागर प्रेस में छपे १०८ उपनिषदों के गुटके में मुण्डक का यही पाठ (पृष्ठ १८) छपा है। सूतसंहिता की तात्पर्य टीका (बालमनोरमा प्रेस माइलापुर, मद्रास संस्करण) में पृष्ठ १३२ पर माधव ने इस मन्त्र के उद्धरण में 'परामृतात्' पाठ ही उद्धृत किया है। तै०आ० १०।१०।३; नारायणोप० (द्वितीय पाठ पृष्ठ १४०) नि० सा० संस्करण सन् १९२५) में भी यही पाठ छपा है।

१. छन्दोग्योप० ८।१२।१।।

२. शत० १४।६।४।१।। वहां 'पुत्रैषणायाश्च व्युत्थाय' पाठ है। संस्कार विधि पृष्ठ ३२५ (सं० ३) में सत्यार्थप्रकाश वाला ही पाठ उद्धृत है।

प्राजापत्यां निरूप्येष्टि तस्यां सर्ववेदसम् हुत्वा ब्राह्मणः प्रव्रजेत्॥ १॥
यजुर्वेदब्राह्मणे[1]

प्राजापत्यां निरूप्येष्टिं सर्ववेदसदक्षिणाम् ।
आत्मन्यग्नीन् समारोप्य ब्राह्मणः प्रव्रजेद् गृहात् ॥ २ ॥
यो दत्वा सर्वभूतेभ्यः प्रव्रजत्यभयं गृहात् ।
तस्य तेजोमया लोका भवन्ति ब्रह्मवादिनः ॥३ । मनु०[2]

प्रजापति अर्थात् परमेश्वर की प्राप्ति के अर्थ इष्टि अर्थात् यज्ञ करके, उसमें यज्ञोपवीत शिखादि चिह्नों को छोड़,आहवनीयादि पांच अग्नियों[3] को प्राण, अपान, व्यान, उदान और समान इन पांच प्राणों में आरोपण करके, ब्राह्मण ब्रह्मवित् घर से निकलकर संन्यासी हो जावे[4] ॥ १[,२॥]

जो सब भूत प्राणिमात्र को अभयदान देकर, घर से निकलके संन्यासी होता है, उस ब्रह्मवादी अर्थात् परमेश्वर-प्रकाशित वेदोक्त धर्मादि विद्याओं के उपदेश करनेवाले संन्यासी के लिये प्रकाशमय, अर्थात् मुक्ति का आनन्दस्वरूप लोक प्राप्त होता है ॥ [३ ॥]

प्रश्न—संन्यासियों का क्या धर्म है ?

उत्तर—धर्म तो पक्षपातरहित-न्यायाचरण, सत्य का ग्रहण, असत्य का परित्याग, वेदोक्त ईश्वर की आज्ञा का पालन, परोपकार, सत्यभाषणादि लक्षण सब आश्रमियों का अर्थात् सब मनुष्यमात्र का एक ही है ।

परन्तु **संन्यासी का विशेष धर्म** यह है कि—

दृष्टिपूतं न्यसेत्पादं वस्त्रपूतं जलं पिबेत् ।
सत्यपूतां वदेद्वाचं मनःपूतं समाचरेत् ॥ १ ॥

---

१. द्र० न्यायसूत्र ४।१।६१-६२ के वात्स्यायन भाष्य में उद्धृत—'प्राजापत्यामिष्टिं निरूप्य तस्यां सर्ववेदसं हुत्वा आत्मन्यग्नीन् समारोप्य ब्राह्मणः प्रव्रजेत्' । २. मनु० ६।३८।३९॥

३. आहवनीय, गार्हपत्य दक्षिणाग्नि, आवसथ्य और सभ्य इन पांच श्रौत स्मार्त अग्नियों की ओर संकेत है ।

४. यह भाषार्थ संख्या १, २ के दोनों प्रमाणों का सम्मिलित है ।

क्रुद्ध्यन्तं न प्रतिक्रुद्ध्येदाक्रुष्टः कुशलं वदेत् ।
सप्तद्वारावकीर्णां च न वाचमनृतां वदेत् ॥२॥
अध्यात्मरतिरासीनो निरपेक्षो निरामिषः ।
आत्मनैव सहायेन सुखार्थी विचरेदिह ॥३॥
क्लृप्तकेशनखश्मश्रुः पात्री दण्डी कुसुम्भवान् ।
विचरेन्नियतो नित्यं सर्वभूतान्यपीडयन् ॥४॥
इन्द्रियाणां निरोधेन रागद्वेषक्षयेण च ।
अहिंसया च भूतानाममृतत्वाय कल्पते ॥५॥
दूषितोऽपि चरेद्धर्मं यत्र तत्राश्रमे रतः ।
समः सर्वेषु भूतेषु न लिंगं धर्मकारणम् ॥ ६ ॥
फलं कतकवृक्षस्य यद्यप्यम्बुप्रसादकम् ।
न नामग्रहणादेव तस्य वारि प्रसीदति ॥ ७ ॥
प्राणायामा ब्राह्मणस्य त्रयोऽपि विधिवत्कृताः ।
व्याहृतिप्रणवैर्युक्ता विज्ञेयं परमन्तपः ॥ ८ ॥
दह्यन्ते ध्मायमानानां धातूनां हि यथा मलाः ।
तथेन्द्रियाणां दह्यन्ते दोषाः प्राणस्य निग्रहात् ॥ ९ ॥
प्राणायामैर्दहेद्दोषान् धारणाभिश्च किल्बिषम् ।
प्रत्याहारेण संसर्गान् ध्यानेनानीश्वरान् गुणान् ॥ १० ॥
उच्चावचेषु भूतेषु दुर्ज्ञेयामकृतात्मभिः ।
ध्यानयोगेन संपश्येद् गतिमस्यान्तरात्मनः ॥ ११ ॥
अहिंसयेन्द्रियासंगैर्वैदिकैश्चैव कर्मभिः ।
तपसश्चरणैश्चोग्रैस्साधयन्तीह तत्पदम् ॥१२॥
यदा भावेन भवति सर्वभावेषु निःस्पृहः[1] ।
तदा सुखमवाप्नोति प्रेत्य चेह च शाश्वतम् ॥१३॥
चतुर्भिरपि चैवैतैर्नित्यमाश्रमिभिर्द्विजैः ।
दशलक्षणको धर्मः सेवितव्यः प्रयत्नतः ॥१४॥

---

१. यही पाठ सं० वि० पृष्ठ ३१३ (सं० ३, रालाकट्र०) में है । मनु० में 'निस्पृहः' पाठ है । दोनों पाठ ठीक हैं । द्र० पृष्ठ १८० टि० २॥

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम् ॥१५॥
अनेन विधिना सर्वांस्त्यक्त्वा संगाञ्शनैः शनैः।[1]
सर्वद्वन्द्वविनिर्मुक्तो ब्रह्मण्येवावतिष्ठते ॥१६॥

मनु० अ० ६॥[2]

जब संन्यासी मार्ग में चले, तब इधर-उधर न देख कर नीचे पृथिवी पर दृष्टि रखके चले। सदा वस्त्र से छानके जल पिये। निरन्तर सत्य ही बोले। सर्वदा मन से विचारके सत्य का ग्रहण कर असत्य को छोड़ देवे ॥१॥

जब कहीं उपदेश वा संवादादि में कोई संन्यासी पर क्रोध करे अथवा निन्दा करे, तो संन्यासी को उचित है कि उस पर आप क्रोध न करे, किन्तु सदा उसके कल्याणार्थ उपदेश ही करे। और [एक] मुख के, दो नासिका के, दो आंख के, और दो कान के छिद्रों में बिखरी हुई वाणी को किसी कारण से मिथ्या कभी न बोले ॥२॥

अपने आत्मा और परमात्मा में स्थिर, अपेक्षारहित, मद्यमांसादि वर्जित होकर, आत्मा ही के सहाय से सुखार्थी होकर, इस संसार में धर्म और विद्या के बढ़ाने में उपदेश के लिए सदा विचरता रहै ॥३॥

केश, नख, डाढ़ी, मूंछ को छेदन करवावे। सुन्दर पात्र, दण्ड और कुसुम्भ[3] आदि से रंगे हुए वस्त्रों को ग्रहण करके, निश्चितात्मा, सब भूतों को पीड़ा न देकर सर्वत्र विचरे ॥४॥

इन्द्रियों को अधर्माचरण से रोक, रागद्वेष को छोड़, सब प्राणियों से निर्वैर वर्त्तकर मोक्ष के लिये सामर्थ्य बढ़ाया करे ॥५॥

कोई संसार में उसको दूषित वा भूषित करे, तो भी जिस किसी

---

१. सं० वि० में भी यही पाठ है (द्र० पृष्ठ ३१३, सं० ३ रालाकट्र०)। मनु० में 'ञ्छनैः शनैः' पाठ है।

२. क्रमशः श्लोक—४६, ४८, ४६, ५२, ६०, ६६, ६७, ७०-७३, ७५, ८०, ६१, ६२, ८१॥

३. सं० २ में श्लोक तथा भाषार्थ में 'कुशुम्भवान्' और 'कुशुम्भ' पाठ है। सं० वि० में शुद्ध पाठ है (द्र० पृष्ठ ३१२, ३१४, सं० ३, रालाकट्र०)।

आश्रम में वर्त्तता हुआ पुरुष अर्थात् संन्यासी सब प्राणियों में पक्षपात-रहित होकर, स्वयं धर्मात्मा और अन्यों को धर्मात्मा करने में प्रयत्न किया करे। और यह अपने मन में निश्चित जाने कि दण्ड कमण्डलु और काषायवस्त्र आदि चिह्न-धारण धर्म का कारण नहीं है। सब मनुष्यादि प्राणियों की[1] सत्योपदेश और विद्यादान से उन्नति करना संन्यासी का मुख्य कर्म है ॥६॥

क्योंकि यद्यपि निर्मली वृक्ष का फल पीसके गदरे जल में डालने से जल का शोधक होता है, तदपि विना [उसके] डाले उसके नाम-कथन वा श्रवणमात्र से[2] जल शुद्ध नहीं हो सकता ॥७॥

इसलिये ब्राह्मण अर्थात् ब्रह्मवित् संन्यासी को उचित है कि ओंकारपूर्वक सप्त व्याहृतियों से विधिपूर्वक प्राणायाम, जितनी शक्ति हो उतने करे। परन्तु तीन से तो न्यून प्राणायाम कभी न करे। यही संन्यासी का परम तप है ॥८॥

क्योंकि जैसे अग्नि में तपाने और गलाने से धातुओं के मल नष्ट हो जाते हैं, वैसे ही प्राणों के निग्रह से मन आदि इन्द्रियों के दोष भस्मीभूत होते हैं ॥९॥

इसलिये संन्यासी लोग नित्यप्रति प्राणायामों से आत्मा अन्तः-करण और इन्द्रियों के दोष, धारणाओं से पाप, प्रत्याहार से संगदोष, ध्यान से अनीश्वर के गुणों अर्थात् हर्ष-शोक और अविद्यादि जीव के दोषों को भस्मीभूत करें ॥१०॥

इसी ध्यानयोग से, जो अयोगी अविद्वानों के दुःख से जानने योग्य छोटे-बड़े पदार्थों में परमात्मा की व्याप्ति, उसको और अपने आत्मा और अन्तर्यामी परमेश्वर की गति को देखे ॥११॥

सब भूतों से निर्वैर, इन्द्रियों के विषयों का त्याग, वेदोक्त कर्म और अत्युग्रतपश्चरण से इस संसार में मोक्ष-पद को पूर्वोक्त संन्यासी ही सिद्ध कर और करा सकते हैं, अन्य [कोई] नहीं ॥१२॥

---

१. संस्करण २ में 'के' अपपाठ है।

२. संस्करण २ में इसके आगे 'उसका' पाठ है।

जब संन्यासी सब भावों में अर्थात् पदार्थों में निःस्पृह कांक्षारहित, और सब बाहर-भीतर के व्यवहारों में भाव से पवित्र होता है, तभी इस देह में और मरण पाके निरन्तर सुख को प्राप्त होता है ॥१३॥

इसलिये ब्रह्मचारी गृहस्थ वानप्रस्थ और संन्यासियों को योग्य है कि प्रयत्न से दशलक्षणयुक्त निम्नलिखित धर्म का सेवन करें ॥१४॥

पहिला लक्षण—(धृति) सदा धैर्य रखना। दूसरा—(क्षमा) जो कि निन्दा-स्तुति, मानापमान, हानि-लाभ आदि दुःखों में भी सहनशील रहना। तीसरा—(दम) मन को सदा धर्म में प्रवृत्त कर अधर्म से रोक देना, अर्थात् अधर्म करने की इच्छा भी न उठे। चौथा—(अस्तेय) चोरी-त्याग, अर्थात् विना आज्ञा, वा छल कपट-विश्वासघात, वा किसी व्यवहार तथा वेदविरुद्ध उपदेश से परपदार्थ का ग्रहण करना **चोरी**, और उसको छोड़ देना साहूकारी कहाती है। पांचवां—(शौच) राग-द्वेष पक्षपात छोड़के भीतर, और जल मृत्तिका मार्जन आदि से बाहर की पवित्रता रखनी। छठा—(इन्द्रियनिग्रह) अधर्माचरणों से रोकके इन्द्रियों को धर्म ही में सदा चलाना। सातवां—(धीः) मादकद्रव्य, बुद्धिनाशक अन्य पदार्थ, दुष्टों का संग, आलस्य-प्रमाद आदि को छोड़के श्रेष्ठ पदार्थों का सेवन, सत्पुरुषों का संग, योगाभ्यास से बुद्धि का बढ़ाना। आठवां—(विद्या) पृथिवी से लेके परमेश्वर-पर्यन्त यथार्थज्ञान और उनसे यथायोग्य उपकार लेना[1] [विद्या,] इससे विपरीत अविद्या है। नववां—(सत्य) जैसा आत्मा में वैसा मन में, जैसा [मन में वैसा वाणी में, जैसा] वाणी में वैसा कर्म में वर्त्तना, अर्थात् जो पदार्थ जैसा हो उसको वैसा ही समझना, वैसा ही बोलना और वैसा ही करना भी। तथा दशवां—(अक्रोध) क्रोधादि दोषों को छोड़के शान्त्यादि गुणों को ग्रहण करना **धर्म का लक्षण** है। इस दश लक्षणयुक्त पक्षपातरहित न्यायाचरण

---

१. यहां से आगे सं० २ में पाठ आगे पीछे छपा हुआ मिलता है। सं० ३४ में भी वैसा ही छापा है। लेखक वा मुद्रण दोष से आगे पीछे हुए पाठ को हमने यथास्थान रख दिया है।

धर्म का सेवन चारों आश्रम वाले करें। और इसी वेदोक्त धर्म ही में आप चलना, और [दूसरों को] समझाकर[1] चलाना संन्यासियों का विशेष धर्म है ॥१५॥

इसी प्रकार से धीरे-धीरे सब संगदोषों को छोड़, हर्ष-शोकादि सब द्वन्द्वों से विमुक्त होकर संन्यासी ब्रह्म ही में अवस्थित होता है। संन्यासियों का मुख्य कर्म यही है कि सब गृहस्थादि आश्रमों को सब प्रकार के व्यवहारों का सत्य निश्चय करा, अधर्म-व्यवहारों से छुड़ा, सब संशयों का छेदन कर सत्य-धर्मयुक्त व्यवहारों में प्रवृत्त कराया करें ॥१६॥

प्रश्न संन्यास ग्रहण करना ब्राह्मण ही का धर्म है, वा क्षत्रियादि का भी ?

उत्तर—ब्राह्मण ही को अधिकार है। क्योंकि जो सब वर्णों में पूर्ण विद्वान् धार्मिक परोपकारप्रिय मनुष्य है, उसी का **ब्राह्मण** नाम है। विना पूर्ण विद्या के, धर्म परमेश्वर की निष्ठा और वैराग्य के संन्यास ग्रहण करने में संसार का विशेष उपकार नहीं हो सकता। इसीलिये लोकश्रुति है कि ब्राह्मण को [ही] संन्यास का अधिकार है, अन्य को नहीं।

यह मनु का प्रमाण भी है—

एष वोऽभिहितो धर्मो ब्राह्मणस्य चतुर्विधः।
पुण्योऽक्षयफलः प्रेत्य राजधर्मं निबोधत॥ मनु०[2]

यह मनुजी महाराज कहते हैं कि—हे ऋषियो! यह चार प्रकार अर्थात् ब्रह्मचर्य, [गृहस्थ,] वानप्रस्थ और संन्यासाश्रम करना ब्राह्मण का धर्म है। यहां वर्त्तमान में पुण्यस्वरूप, और शरीर छोड़े पश्चात् मुक्तिरूप अक्षय आनन्द का देनेवाला संन्यास धर्म है। इसके आगे राजाओं का धर्म मुझसे सुनो।

इससे यह सिद्ध हुआ कि संन्यास ग्रहण का अधिकार मुख्य करके ब्राह्मण का है, और क्षत्रियादि का ब्रह्मचर्य्याश्रम है।

---

१. संस्करण २ में समझा 'करना' अपपाठ है।   २. मनु० ६।९७॥

प्रश्न—संन्यास-ग्रहण की आवश्यकता क्या है[1] ?

उत्तर—जैसे शरीर में शिर की आवश्यकता है, वैसे ही आश्रमों में संन्यासाश्रम की आवश्यकता है। क्योंकि इसके विना विद्या-धर्म कभी नहीं बढ़ सकता। और दूसरे आश्रमों को विद्याग्रहण गृहकृत्य और तपश्चर्यादि का सम्बन्ध होने से अवकाश बहुत कम मिलता है। पक्षपात छोड़कर वर्त्तना दूसरे आश्रमों को दुष्कर है।

जैसा संन्यासी सर्वतोमुक्त होकर जगत् का उपकार करता है, वैसा अन्य आश्रमी[2] नहीं कर सकता। क्योंकि संन्यासी को सत्यविद्या से पदार्थों के विज्ञान की उन्नति का जितना अवकाश मिलता है, उतना अन्य आश्रमी[2] को नहीं मिल सकता। परन्तु जो ब्रह्मचर्य्य से संन्यासी होकर जगत् को सत्य-शिक्षा करके जितनी उन्नति कर सकता है, उतनी गृहस्थ वा वानप्रस्थ आश्रम करके संन्यासाश्रमी नहीं कर सकता।

प्रश्न—संन्यास-ग्रहण करना ईश्वर के अभिप्राय से विरुद्ध है। क्योंकि ईश्वर का अभिप्राय मनुष्यों की बढ़ती करने में है। जब गृहाश्रम नहीं करेगा, तो उससे सन्तान ही न होंगे। जब संन्यासाश्रम ही मुख्य है, और सब मनुष्य करें, तो मनुष्यों का मूलच्छेदन हो जायगा।

उत्तर—अच्छा, विवाह करके भी बहुतों के सन्तान नहीं होते, अथवा होकर शीघ्र नष्ट हो जाते हैं। फिर वह भी ईश्वर के अभिप्राय से विरुद्ध करने वाला हुआ। जो तुम कहो कि **'यत्ने कृते यदि न सिध्यति कोऽत्र दोषः'**[3] यह किसी कवि का वचन है। अर्थ—जो यत्न करने से भी कार्य्य सिद्ध न हो, तो इसमें क्या दोष, अर्थात् कोई भी नहीं। तो हम तुमसे पूछते हैं कि गृहाश्रम से बहुत सन्तान होकर आपस में विरुद्धाचरण कर लड़ मरें, तो हानि कितनी बड़ी होती है? समझ के विरोध [से] लड़ाई बहुत होती है।

---

१. इस प्रश्न पर सविस्तर विचार न्याय के ४।१।५८-६१ के वात्स्यायनभाष्य में भी किया है। भ. द.। २. मं० २ में 'आश्रम' अपपाठ है।

३. द्र० पञ्चतन्त्र, मित्रभेद कथा ४, श्लोक २१७।

जब संन्यासी एक वेदोक्तधर्म के उपदेश से परस्पर प्रीति उत्पन्न करावेगा, तो लाखों मनुष्यों को बचा देगा। सहस्रों गृहस्थ के समान मनुष्यों की बढ़ती करेगा। और सब मनुष्य संन्यास-ग्रहण कर ही नहीं सकते। क्योंकि सबकी विषयासक्ति कभी नहीं छूट सकेगी। जो-जो संन्यासियों के उपदेश से धार्मिक मनुष्य होंगे, वे सब जानो संन्यासियों[1] के पुत्र-तुल्य हैं।

प्रश्न—संन्यासी लोग कहते हैं कि हमको कुछ कर्त्तव्य नहीं। अन्न-वस्त्र लेकर आनन्द में रहना। अविद्यारूप संसार से माथापच्ची क्यों करना? अपने को ब्रह्म मानकर सन्तुष्ट रहना। कोई आकर पूछे तो उसको भी वैसा ही उपदेश करना कि—'तू भी ब्रह्म है, तुझको पाप-पुण्य नहीं लगता। क्योंकि शीतोष्ण शरीर, क्षुधा-तृषा, प्राण और सुख-दुःख मन का धर्म है। जगत् मिथ्या और जगत् के व्यवहार भी सब कल्पित अर्थात् झूठे हैं। इसलिये इसमें फसना बुद्धिमानों का काम नहीं। जो कुछ पाप-पुण्य होता है, वह देह और इन्द्रियों का धर्म है, आत्मा का नहीं', इत्यादि उपदेश करते हैं। और आपने कुछ विलक्षण संन्यास का धर्म कहा है। अब हम किसकी बात सच्ची और किसकी झूठी मानें?

उत्तर—क्या उनको अच्छे कर्म भी कर्त्तव्य नहीं? देखो—'**वैदिकैश्चैव कर्मभिः**[2]', मनुजी ने वैदिक कर्म, जो धर्मयुक्त सत्य कर्म हैं, संन्यासियों को भी अवश्य करना लिखा है। क्या भोजन-छादनादि कर्म वे छोड़ सकेंगे? जो ये कर्म नहीं छूट सकते, तो उत्तम कर्म छोड़ने से वे पतित और पापभागी नहीं होंगे? जब गृहस्थों से अन्न-वस्त्रादि लेते हैं, और उनका प्रत्युपकार नहीं करते, तो क्या वे महापापी नहीं होंगे?

जैसे आंख से देखना, कान से सुनना न हो, तो आंख और कान का होना व्यर्थ है, वैसे ही जो संन्यासी सत्योपदेश और वेदादि-सत्यशास्त्रों का विचार-प्रचार नहीं करते, तो वे भी[3]

१. सं० २ में 'संन्यासी' पाठ है। २. मनु० ६। ७५।
३ सं० २ में 'ही' पाठ है।

जगत् में व्यर्थ भाररूप हैं। और जो अविद्यारूप संसार से माथा-पच्ची क्यों करना आदि लिखते और कहते हैं, वैसे उपदेश करने-वाले ही मिथ्यारूप और पाप के बढ़ानेहारे पापी हैं। जो कुछ शरीरादि से कर्म किया जाता है, वह सब आत्मा ही का, और उसके फल को भोगनेवाला भी आत्मा है।

जो जीव को ब्रह्म बतलाते हैं,वे अविद्या-निद्रा में सोते हैं। क्योंकि जीव अल्प[1], अल्पज्ञ, और ब्रह्म सर्वव्यापक सर्वज्ञ है। ब्रह्म नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्तस्वभावयुक्त है, और जीव कभी बद्ध कभी मुक्त रहता है। ब्रह्म को सर्वव्यापक सर्वज्ञ होने से भ्रम वा अविद्या कभी नहीं हो सकती, और जीव को कभी विद्या और कभी अविद्या होती है। ब्रह्म जन्म-मरण-दुःख को कभी नहीं प्राप्त होता, और जीव प्राप्त होता है। इसलिये वह उनका उपदेश मिथ्या है।

प्रश्न—संन्यासी सर्वकर्म-विनाशी, और अग्नि तथा धातु को स्पर्श नहीं करते, यह बात सच्ची है वा नहीं?

उत्तर—नहीं,**'सम्यङ् नित्यमास्ते यस्मिन्,यद्वा सम्यङ् न्यस्यन्ति दुःखानि कर्माणि येन स संन्यासः, स प्रशस्तो विद्यते यस्य स संन्यासी'** जो ब्रह्म और [उसकी आज्ञा में उपविष्ट अर्थात् स्थित वह संन्यास, और[2]] जिससे दुष्ट कर्मों का त्याग किया जाय, वह उत्तम स्वभाव जिसमें हो वह **'संन्यासी'** कहाता है। इसमें सुकर्म का कर्त्ता और दुष्ट कर्मों का नाश करनेवाला 'संन्यासी' कहाता है।

प्रश्न—अध्यापन और उपदेश गृहस्थ किया करते हैं। पुनः संन्यासी का क्या प्रयोजन है?

उत्तर—सत्योपदेश सब आश्रमी करें और सुनें। परन्तु जितना अवकाश और निष्पक्षपातता संन्यासी को होती है, उतनी गृहस्थों

---

१. अर्थात् एकदेशी।

२. यह कोष्ठान्तर्गत पाठ सं० ३४ में कुछ आगे पीछे है। सम्भवतः आद्यन्त में 'और' शब्द के पाठ से लेखक-प्रमाद से प्रेस कापी में अथवा संशोधक के दृष्टिदोष से मुद्रण में छूट गया होगा।

को नहीं। हां जो ब्राह्मण हैं, उनका यही काम है कि पुरुष पुरुषों को और स्त्री स्त्रियों को सत्योपदेश [किया] और पढ़ाया करें। जितना भ्रमण का अवकाश संन्यासी को मिलता है, उतना गृहस्थ ब्राह्मणादिकों को कभी नहीं मिल सकता। जब ब्राह्मण वेदविरुद्ध आचरण करें, तब उन का नियन्ता संन्यासी होता है। इसलिये संन्यास का होना उचित है।

प्रश्न—'एकरात्रिं वसेद् ग्रामे'[1] इत्यादि वचनों से संन्यासी को एकत्र[2] एक रात्रिमात्र रहना, अधिक निवास न करना चाहिये।

उत्तर—यह बात थोड़े-से अंश में तो अच्छी है कि एकत्र वास करने से जगत् का उपकार अधिक नहीं हो सकता। और स्थानान्तर का भी अभिमान होता है, राग-द्वेष भी अधिक होता है। परन्तु जो विशेष उपकार एकत्र रहने से होता हो तो रहे। जैसे जनक राजा के यहां चार-चार महीने तक पञ्चशिखादि और अन्य संन्यासी कितने ही वर्षों तक निवास करते थे। और 'एकत्र न रहना' यह बात आजकल के पाखण्डी सम्प्रदायियों ने बनाई है। क्योंकि जो संन्यासी एकत्र अधिक रहेगा, तो हमारा पाखण्ड खण्डित होकर अधिक न बढ़ सकेगा।

प्रश्न—यतीनां काञ्चनं दद्यात्ताम्बूलं ब्रह्मचारिणाम्।
चौराणामभयं दद्यात् स नरो नरकं व्रजेत्॥[3]

इत्यादि वचनों का अभिप्राय यह है कि संन्यासियों को जो सुवर्ण दान दे, तो दाता नरक को प्राप्त होवे।

उत्तर—यह बात भी वर्णाश्रमविरोधी सम्प्रदायी और स्वार्थसिन्धुवाले पौराणिकों की कल्पी हुई है। क्योंकि संन्यासियों को धन

---

१. द्र. नारद-परिव्राजकोपनिषद्—**'एकरात्रं वसेद् ग्रामे'** उपदेश ४।१४॥ यही अभिप्राय गौतम धर्मसूत्र ३।११; संन्यासोपनिषद् अ. १; परमहंसपरिव्राजकोपनिषद् में वर्णित है।
२. अर्थात् एक स्थान में।
३. तुलना करो—लघु पराशर स्मृति १।५१—
यतये काञ्चनं दत्त्वा ताम्बूलं ब्रह्मचारिणे।
चौरेभ्योऽप्यभयं दत्त्वा दाताऽपि नरकं व्रजेत्॥

मिलेगा, तो वे हमारा खण्डन बहुत कर सकेंगे । और हमारी हानि होगी, तथा वे हमारे आधीन भी न रहेंगे। और जब भिक्षादि व्यवहार हमारे आधीन रहेगा, तो डरते रहेंगे। जब मूर्ख और स्वार्थियों को दान देने में अच्छा समझते हैं, तो विद्वान् और परोपकारी संन्यासियों को देने में कुछ भी दोष नहीं हो सकता । देखो—

विविधानि च रत्नानि विविक्तेषूपपादयेत् । मनु०[1]

नाना प्रकार के रत्न सुवर्णादि धन 'विविक्त' अर्थात् संन्यासियों को देवें । और वह[2] श्लोक भी अनर्थक है । क्योंकि संन्यासियों[3] को सुवर्ण देने से यजमान नरक को जावे, तो चांदी, मोती, हीरा आदि देने से स्वर्ग को जायेगा ।

प्रश्न—यह पण्डितजी इसका पाठ बोलते भूल गये । यह ऐसा है कि—'**यतिहस्ते धनं दद्यात्**' अर्थात् जो संन्यासियों के हाथ में धन देता है, वह नरक में जाता है ।

उत्तर—यह भी वचन [किसी] अविद्वान् ने कपोलकल्पना से रचा है । क्योंकि जो हाथ में धन देने से दाता नरक को जाय, तो पग पर धरने वा गठरी बांधकर देने से स्वर्ग को जायगा । इसलिये ऐसी कल्पना मानने योग्य नहीं । हां, यह बात तो है कि जो संन्यासी योग-क्षेम से अधिक रक्खेगा, तो चोरादि से पीड़ित और मोहित भी हो जायगा । परन्तु जो विद्वान् है, वह अयुक्त व्यवहार कभी न करेगा, न मोह में फसेगा । क्योंकि वह प्रथम गृहाश्रम में अथवा ब्रह्मचर्य में सब भोग कर वा सब देख चुका है। और जो ब्रह्मचर्य से [संन्यासी] होता है, वह पूर्ण वैराग्ययुक्त होने से कभी नहीं फसता ।

प्रश्न—लोग कहते हैं कि श्राद्ध में संन्यासी आवे वा जिमावे, तो उसके पितर भाग जायें और नरक में गिरें ।

उत्तर—प्रथम तो मरे हुए पितरों का आना, और किया हुआ श्राद्ध मरे हुए पितरों को पहुंचना ही असम्भव, वेद और युक्तिविरुद्ध होने

---

१. तुलना करो, मनु० ११ । ६—**धनानि तु यथाशक्ति विप्रेषु प्रतिपादयेत् । वेदवित्सु विविक्तेषु प्रेत्य स्वर्गं समश्नुते ॥**

२. अर्थात् '**यतीनां......**' । ३. सं० २ में 'संन्यासी' पाठ है ।

से मिथ्या है। और जब आते ही नहीं, तो भाग कौन जायेंगे? जब अपने पाप-पुण्य के अनुसार ईश्वर की व्यवस्था से मरण के पश्चात् जीव जन्म लेते हैं, तो उनका आना कैसे हो सकता है? इसलिये यह भी बात पेटार्थी पुराणी और वैरागियों की मिथ्या कल्पी हुई है। हां यह तो ठीक है कि जहां संन्यासी जायेंगे, वहां यह मृतकश्राद्ध करना वेदादिशास्त्रों से विरुद्ध होने से पाखण्ड दूर भाग जायेगा।

प्रश्न—जो ब्रह्मचर्य से संन्यास लेवेगा, उसका निर्वाह कठिनता से होगा, और काम का रोकना भी अति कठिन है। इसलिये गृहाश्रम, वानप्रस्थ होकर जब वृद्ध हो जाय, तभी संन्यास लेना अच्छा है।

उत्तर—जो निर्वाह न कर सके, इन्द्रियों को न रोक सके, वह ब्रह्मचर्य से संन्यास न लेवे। परन्तु जो रोक सके वह क्यों न लेवे? जिस पुरुष ने विषय के दोष और वीर्य-संरक्षण के गुण जाने हैं, वह विषयासक्त कभी नहीं होता। और उनका वीर्य विचाराग्नि का इन्धनवत् है, अर्थात् उसी में व्यय हो जाता है।

जैसे वैद्य और औषधों की आवश्यकता रोगी के लिए होती है, वैसी नीरोगी के लिए नहीं। इसी प्रकार जिस पुरुष वा स्त्री का विद्या-धर्मवृद्धि और सब संसार का उपकार करना ही प्रयोजन हो, वह विवाह न करे। जैसे पञ्चशिखादि पुरुष और गार्गी आदि स्त्रियां हुई थीं। इसलिये संन्यासी का होना अधिकारियों को उचित है। और जो अनधिकारी संन्यास ग्रहण करेगा, तो आप डूबेगा औरों को भी डुबावेगा।

जैसे 'सम्राट्' चक्रवर्ती राजा होता है, वैसे 'परिव्राट्' संन्यासी होता है। प्रत्युत राजा अपने देश में वा स्वसम्बन्धियों में सत्कार पाता है, और संन्यासी सर्वत्र पूजित होता है—

विद्वत्त्वं च नृपत्व च नैव तुल्यं कदाचन।
स्वदेशे पूज्यते राजा विद्वान् सर्वत्र पूज्यते ॥१॥

[यह] चाणक्य नीतिशास्त्र का श्लोक है।[1]

---

१. चाणक्य-शतक ३, जीवानन्द विद्यासागर (कलकत्ता) मुद्रित संस्करण

विद्वान् और राजा की कभी तुल्यता नहीं हो सकती। क्योंकि राजा अपने राज्य ही में मान और सत्कार पाता है, और विद्वान् सर्वत्र मान और प्रतिष्ठा को प्राप्त होता है।

इसलिये विद्या पढ़ने, सुशिक्षा लेने, और बलवान् होने आदि के लिए **ब्रह्मचर्य**; सब प्रकार के उत्तम व्यवहार सिद्ध करने के अर्थ **गृहस्थ**; विचार ध्यान और विज्ञान बढ़ाने, तपश्चर्या करने के लिए वानप्रस्थ; और वेदादि सत्यशास्त्रों का प्रचार, धर्म-व्यवहार का ग्रहण और दुष्ट व्यवहार के त्याग, सत्योपदेश और सबको निःसन्देह करने आदि के लिए संन्यासाश्रम है। परन्तु जो इस संन्यास के मुख्य धर्म सत्योपदेशादि नहीं करते वे पतित और नरकगामी हैं।

इससे संन्यासियों को उचित है कि सत्योपदेश, शङ्कासमाधान, वेदादि-सत्यशास्त्रों का अध्यापन, और वेदोक्त धर्म की वृद्धि प्रयत्न से करके सब संसार की उन्नति किया करें।

प्रश्न—जो संन्यासी से अन्य साधु, वैरागी, गुसाईं, खाखी आदि हैं, वे भी संन्यासाश्रम में गिने जायेंगे वा नहीं ?

उत्तर—नहीं। क्योंकि उनमें संन्यास का एक भी लक्षण नहीं। वे वेदविरुद्ध मार्ग में प्रवृत्त होकर वेद से [अधिक] अपने सम्प्रदाय के आचार्यों के वचन मानते, और अपने ही मत की प्रशंसा करते, मिथ्या-प्रपञ्च में फसकर अपने स्वार्थ के लिये दूसरों को अपने-अपने मत में फसाते हैं। सुधार करना तो दूर रहा, उसके बदले में संसार को बहका कर अधोगति को प्राप्त कराते, और अपना प्रयोजन सिद्ध करते हैं। इसलिये इनको संन्यासाश्रम में नहीं गिन सकते, किन्तु ये स्वार्थाश्रमी तो पक्के हैं, इसमें कुछ संदेह नहीं।

जो स्वयं धर्म में चलकर सब संसार को चलाते हैं, जो[1]

चाणक्य-नीति के लघु और वृद्ध दो प्रकार के पाठ तथा विविध संस्करणों में भिन्नता उपलब्ध होती है।

१. सं० २ में 'जो में' पाठ है। यदि यहां 'जो मैं' पाठ हो तो प्रकृत में संबद्ध हो सकता है।

आप और सब संसार को इस लोक अर्थात् वर्त्तमान जन्म में, परलोक अर्थात् दूसरे जन्म में स्वर्ग अर्थात् सुख का भोग करते-कराते हैं, वे ही धर्मात्मा जन संन्यासी और महात्मा हैं।

यह संक्षेप से संन्यासाश्रम की शिक्षा लिखी। अब इसके आगे राजप्रजाधर्म विषय लिखा जायेगा।

इति श्रीमद्दयानन्दसरस्वतीस्वामिकृते सत्यार्थप्रकाशे सुभाषा-
विभूषिते वानप्रस्थ-संन्यासाश्रम-विषये पञ्चमः
समुल्लासः सम्पूर्णः ॥५॥

अथ षष्ठसमुल्लासारम्भः

अथ राजधर्मान् व्याख्यास्यामः

राजधर्मान् प्रवक्ष्यामि यथावृत्तो भवेन्नृपः।
संभवश्च यथा तस्य सिद्धिश्च परमा यथा ॥१॥
ब्राह्मं प्राप्तेन संस्कारं क्षत्रियेण यथाविधि।
सर्वस्यास्य यथान्यायं कर्त्तव्यं परिरक्षणम् ॥२॥ मनु०[1]

अब मनुजी महाराज ऋषियों से कहते हैं कि—चारों वर्ण और चारों आश्रमों के व्यवहार-कथन के पश्चात् राजधर्मों को कहेंगे कि जिस प्रकार राजा होना चाहिये। और जैसे इसके होने का संभव, तथा जैसे इसको परमसिद्धि प्राप्त होवे, उसको सब प्रकार कहते हैं ॥१॥

कि जैसा परम विद्वान् ब्राह्मण होता है, वैसा विद्वान् सुशिक्षित होकर क्षत्रिय को योग्य है कि इस सब राज्य की रक्षा न्याय से यथावत् करे ॥२॥

उसका प्रकार यह है—

त्रीणि राजाना विदथे पुरूणि परि विश्वानि भूषथः सदांसि ॥
ऋ० मं० ३। सू० ३८। मं० ६।

ईश्वर उपदेश करता है कि (राजाना) राजा और प्रजा के पुरुष मिलके (विदथे) सुखप्राप्ति और विज्ञानवृद्धिकारक राजा-प्रजा के सम्बन्ध-रूप व्यवहार में (त्रीणि सदांसि) तीन सभा, अर्थात् विद्यार्यसभा, धर्मार्यसभा, राजार्यसभा नियत करके (पुरूणि) बहुत प्रकार के (विश्वानि) समग्र प्रजा-सम्बन्धी मनुष्यादि प्राणियों को (परिभूषथः) सब ओर से विद्या स्वातन्त्र्य धर्म सुशिक्षा और धनादि से अलंकृत करें।

तं सभा च समितिश्च सेना च ॥१॥
अथर्व कां० १५। अनु० २। व० ९। मं० २।[2]

---

१. मनु० ७।१,२॥ २. सरल पता—अथर्व० १५।९।२॥

सभ्य॑ स॒भां मे॑ पाहि॒ ये च॒ सभ्याः॑ सभा॒सदः॑ ॥२॥

अथर्व कां० १९। अनु० ७। व० ५५। मं० ६॥[1]

(तम्) उस राजधर्म को (सभा च) तीनों सभा (समितिश्च) संग्रामादि की व्यवस्था और (सेना च) सेना मिलकर पालन करें ॥१॥

सभासद् और राजा को योग्य है कि राजा सब सभासदों को आज्ञा देवे कि—हे (सभ्य) सभा के योग्य मुख्य सभासद् ! तू (मे) मेरी (सभाम्) सभा की धर्मयुक्त व्यवस्था का (पाहि) पालन कर। और (ये च) जो (सभ्याः) सभा के योग्य (सभासदः) सभासद् हैं, वे भी सभा को व्यवस्था का पालन किया करें ॥२॥

इसका अभिप्राय यह है कि एक को स्वतन्त्र राज्य का अधिकार न देना चाहिए। किन्तु राजा जो सभापति तदाधीन सभा, सभाधीन राजा, राजा और सभा प्रजा के आधीन, और प्रजा राजसभा के आधीन रहै। यदि ऐसा न करोगे तो—

राष्ट्रमेव विश्याहन्ति तस्माद्राष्ट्री विशं घातुकः। विशमेव राष्ट्रायाद्यां करोति तस्माद्राष्ट्री विशमत्ति न पुष्टं पशुं मन्यत इति ॥१॥

शत० कां० १३। अनु० २। ब्रा० ३॥

जो प्रजा से स्वतन्त्र स्वाधीन राजवर्ग रहै, तो (राष्ट्रमेव विश्याहन्ति) राज्य में प्रवेश करके प्रजा का नाश किया करे। जिसलिये अकेला राजा स्वाधीन वा उन्मत्त होके (राष्ट्री विशं घातुकः) प्रजा का नाशक होता है, अर्थात् (विशमेव राष्ट्रायाद्यां करोति) वह राजा प्रजा को खाये जाता (अत्यन्त पीड़ित करता) है। इसलिये किसी एक को राज्य में स्वाधीन न करना चाहिये। [(न पुष्टं पशुं मन्यते)] जैसे सिंह वा मांसाहारी हृष्ट-पुष्ट पशु को मारकर खा लेते हैं, वैसे (राष्ट्री विशमत्ति) स्वतन्त्र राजा प्रजा का नाश

१. सरल पता—अथर्व० १९।५५।६॥ ग्रन्थकार द्वारा उद्धृत पाठ तथा म० सं० ६ राथह्विटनी के संस्करण के अनुसार है। सं० वि० पृष्ठ २२८ (सं ३) तथा ऋग्भाष्यभूमिका पृष्ठ २५९ (दोनों रालाकट्र० सं०)

करता है, अर्थात् किसी को अपने से अधिक न होने देता। श्रीमान् को लूट-खूंट अन्याय से दण्ड लेके अपना प्रयोजन पूरा करेगा [॥१॥]

इसलिये—

इन्द्रो॑ जयाति॒ न परा॑ जयाता अधिरा॒जो राज॑सु राजयातै ।
च॒र्कृत्य॒ ईड्यो॒ वन्द्य॑श्चोप॒सद्यो॑ नम॒स्यो᳖ भवेह ॥१॥

अथर्व० कां० ६ । अनु० १० । व० ९८ । मं० १॥[1]

हे मनुष्यो ! जो (इह) इस मनुष्य के समुदाय में (इन्द्रः) परम ऐश्वर्य का कर्त्ता, शत्रुओं को (जयाति) जीत सके, (न पराजयातै) जो शत्रुओं से पराजित न हो, (राजसु) राजाओं में (अधिराजः) सर्वोपरि विराजमान (राजयातै) प्रकाशमान हो, (चर्कृत्यः) सभापति होने को अत्यन्त योग्य, (ईड्यः) प्रशंसनीय गुण-कर्म-स्वभावयुक्त, (वन्द्यः) सत्करणीय, (चोपसद्यः) समीप जाने और शरण लेने योग्य, (नमस्यः) सबका माननीय (भव) होवे, उसी को सभापति राजा करे ॥१॥

इ॒मं दे॑वाऽ असप॒त्नꣳ सु॑वध्वं मह॒ते क्ष॒त्राय॑ मह॒ते ज्यैष्ठ्या॑य मह॒ते जान॑राज्या॒येन्द्र॑स्येन्द्रि॒याय॑ ॥१॥

यजु० अ० ९। मं० ४० ॥

हे (देवाः) विद्वानो राजप्रजाजनो ! तुम (इमम्) इस प्रकार के पुरुष को (महते क्षत्राय) बड़े[2] चक्रवर्ति राज्य, (महते ज्यैष्ठ्याय) सबसे बड़े होने, (महते जानराज्याय) बड़े-बड़े विद्वानों से युक्त राज्य पालने, और (इन्द्रस्येन्द्रियाय) परम ऐश्वर्ययुक्त राज्य और धन के पालने के लिये (असपत्नꣳ सुवध्वम्) सम्मति करके सर्वत्र पक्षपातरहित, पूर्णविद्याविनययुक्त, सबके मित्र सभापति राजा को सर्वाधीश मानके सब भूगोल [को] शत्रुरहित करो [॥१॥]

और—

---

१. सरल पता—अथर्व ६।९८।१॥ २. सं० २ में 'बढ़े' पाठ है।

स्थिरा वः सन्त्वायुधा पराणुदे वीळू उत प्रतिष्कभे ।

युष्माकमस्तु तविषी पनीयसी मा मर्त्यस्य मायिनः ॥१॥

ऋ० मं० १। सू० ३९। मं० २॥

ईश्वर उपदेश करता है कि—हे राजपुरुषो ! (वः) तुम्हारे (आयुधा) आग्नेयादि अस्त्र और शतघ्नी (=तोप), भुशुण्डी (=बन्दूक), धनुष-बाण, करवाल (=तलवार[1]) आदि शस्त्र शत्रुओं के (पराणुदे) पराजय करने, (उत प्रतिष्कभे) और रोकने के लिये (वीळू) प्रशंसित और (स्थिरा) दृढ़ (सन्तु) हों। (युष्माकम्) और तुम्हारी (तविषी) सेना (पनीयसी) प्रशंसनीय (अस्तु) होवे, कि जिससे तुम सदा विजयी होओ। परन्तु (मा मर्त्यस्य मायिनः) जो निन्दित अन्यायरूप काम करता है, उसके लिये पूर्व चीजें मत हों। अर्थात् जब तक मनुष्य धार्मिक रहते हैं, तभी तक राज्य बढ़ता रहता है। और जब दुष्टाचारी होते हैं, तब नष्ट-भ्रष्ट हो जाता है [॥१॥]

महाविद्वानों को विद्यासभाधिकारी, धार्मिक विद्वानों को धर्म-सभाधिकारी, प्रशंसनीय धार्मिक पुरुषों को राजसभा के सभासद्, और जो उन सब में सर्वोत्तम गुणकर्म-स्वभावयुक्त महान् पुरुष हो, उस को राजसभा का पतिरूप मानके सब प्रकार से उन्नति करें। तीनों सभाओं की सन्मति से राजनीति के उत्तम नियम, और नियमों के आधीन सब लोग वर्तें। सबके हितकारक कामों में सम्मति करें। सर्वहित करने के लिए परतन्त्र, और धर्मयुक्त कामों में अर्थात् जो-जो निज के काम हैं उन-उन में स्वतन्त्र रहें।

पुनः उस सभापति के गुण कैसे होने चाहियें—

इन्द्राऽनिलयमार्काणामग्नेश्च वरुणस्य च ।
चन्द्रवित्तेशयोश्चैव मात्रा निर्हृत्य[2] शाश्वतीः ॥१॥
तपत्यादित्यवच्चैष चक्षूंषि च मनांसि च ।
न चैनं भुवि शक्नोति कश्चिदप्यभिवीक्षितुम् ॥२॥

---

१. सं० २ में 'तरवाल' अपपाठ है। २. सं० २ मे 'निर्हत्य' अपपाठ है।

सोऽग्निर्भवति वायुश्च सोऽर्कः सोमः स धर्मराट्।
स कुबेरः स वरुणः स महेन्द्रः प्रभावतः ।३।। [मनु०][1]

वह सभेश राजा इन्द्र अर्थात् विद्युत् के समान शीघ्र ऐश्वर्य-कर्त्ता, वायु के समान सबके प्राणवत् प्रिय, और हृदय की बात जाननेहारा, यम =पक्षपातरहित न्यायाधीश के समान वर्त्तनेवाला, सूर्य के समान न्याय धर्म विद्या का प्रकाशक, अन्धकार अर्थात् अविद्या अन्याय का निरोधक, अग्नि के समान दुष्टों को भस्म करनेहारा, वरुण अर्थात् बांधनेवाले के सदृश दुष्टों को अनेक प्रकार से बांधनेवाला, चन्द्र के तुल्य श्रेष्ठ पुरुषों को आनन्ददाता, धनाध्यक्ष के समान कोशों का पूर्ण करनेवाला सभापति होवे ।।१।।

जो सूयवत् प्रतापी, सबके बाहर और भीतर मनों को प्रपने तेज से तपानेहारा, जिसको पृथिवी में करड़ी दृष्टि से देखने को काई भी समर्थ न हो ।।२।।

और जो अपने [प्रभाव]से अग्नि, वायु, सूर्य, सोम, धर्मप्रकाशक, धनवर्द्धक, दुष्टों का बन्धनकर्त्ता,बड़े ऐश्वर्यवाला होवे, वही सभाध्यक्ष सभेश होने के योग्य होवे ।।३।।

सच्चा राजा कौन है ?—

स राजा पुरुषो दण्डः स नेता शासिता च सः।
चतुर्णामाश्रमाणां च धर्मस्य प्रतिभूः स्मृतः ।।१।।
दण्डः शास्ति प्रजाः सर्वा दण्ड एवाभिरक्षति।
दण्डः सुप्तेषु जागर्त्ति दण्डं धर्मं विदुर्बुधाः ।।२।।
समीक्ष्य स धृतः सम्यक् सर्वा रञ्जयति प्रजाः।
असमीक्ष्य प्रणीतस्तु विनाशयति सर्वतः ।।३।।
दुष्येयुः[2] सर्ववर्णाश्च भिद्येरन् सर्वसेतवः।
सर्वलोकप्रकोपश्च भवेद्दण्डस्य विभ्रमात् ।।४।।
यत्र श्यामो लोहिताक्षो दण्डश्चरति पापहा।
प्रजास्तत्र न मुह्यन्ति नेता चेत् साधु पश्यति ।।५।।

---

१. मनु० ७।४,६,७।। २. संस्करण २ में 'दुष्येयुः' अपपाठ है।

तस्याहुः संप्रणेतारं राजानं सत्यवादिनम् ।
समीक्ष्यकारिणं प्राज्ञं धर्मकामार्थकोविदम् ॥६॥
तं राजा प्रणयन् सम्यक् त्रिवर्गेणाभिवर्द्धते ।
कामात्मा विषमः क्षुद्रो दण्डेनैव निहन्यते ॥७॥
दण्डो हि सुमहत्तेजो दुर्धरश्चाकृतात्मभिः ।
धर्माद्विचलितं हन्ति नृपमेव सबान्धवम् ॥८॥
सोऽसहायेन मूढेन लुब्धेनाकृतबुद्धिना ।
न शक्यो न्यायतो नेतुं सक्तेन विषयेषु च ॥९॥
शुचिना सत्यसन्धेन यथाशास्त्रानुसारिणा ।
प्रणेतुं शक्यते दण्डः सुसहायेन धीमता ॥१०॥ मनु०[1]

जो दण्ड है वही पुरुष, राजा, वही न्याय का प्रचारकर्त्ता, और सबका शासनकर्त्ता, वही चार वर्ण और चार आश्रमों के धर्म का प्रतिभू अर्थात् जामिन है ॥१॥

वही प्रजा का शासनकर्ता, सब प्रजा का रक्षक, सोते हुए प्रजास्थ मनुष्यों में जागता है । इसीलिये बुद्धिमान् लोग दण्ड ही को धर्म कहते हैं ॥२॥

जो दण्ड अच्छे प्रकार विचार से धारण किया जाय, तो वह सब प्रजा को आनन्दित कर देता है । और जो विना विचारे चलाया जाय, तो सब ओर से राजा का विनाश कर देता है ॥३॥

विना दण्ड के सब वर्ण दूषित, और सब मर्यादा छिन्न-भिन्न हो जायें । दण्ड के यथावत् न होने से सब लोगों का प्रकोप हो जावे ॥४॥

जहां कृष्णवर्ण रक्तनेत्र भयंकर पुरुष के समान पापों का नाश करनेहारा दण्ड विचरता है, वहां प्रजा मोह को प्राप्त न होके आनन्दित होती है । परन्तु जो दण्ड का चलानेवाला पक्षपातरहित विद्वान् हो तो ॥५॥

जो उस दण्ड का चलाने वाला सत्यवादी, विचारके करनेहारा, बुद्धिमान्, धर्म अर्थ और काम की सिद्धि करन में पण्डित राजा

---

१. मनु० ७।१७,१९,२४–२८,३०.३१॥

है, उसी को उस दण्ड का चलानेहारा विद्वान् लोग कहते हैं ॥६॥

जो दण्ड को अच्छे प्रकार राजा चलाता है, वह धर्म अर्थ और काम की सिद्धि को बढ़ाता है। और जो विषय में लंपट, टेढ़ा, ईर्ष्या करनेहारा, क्षुद्र, नीचबुद्धि, न्यायाधीश राजा होता है, वह दण्ड से ही मारा जाता है ॥७॥

जब दण्ड बड़ा तेजोमय है, उसको अविद्वान् अधर्मात्मा धारण नहीं कर सकता, तब वह दण्ड धर्म से रहित [कुटुम्बसहित] राजा ही का नाश कर देता है ॥८॥

क्योंकि जो आप्त पुरुषों के सहाय विद्या-सुशिक्षा से रहित, विषयों में आसक्त मूढ़ है, वह न्याय से दण्ड को चलाने में समर्थ कभी नहीं हो सकता ॥९॥

और जो पवित्र-आत्मा, सत्याचार और सत्पुरुषों का सङ्गी, यथावत् नीतिशास्त्र के अनुकूल चलनेहारा, श्रेष्ठ पुरुषों के सहाय से युक्त बुद्धिमान् है, वही न्यायरूपी दण्ड के चलाने में समर्थ होता है ॥१०॥

इसलिये—

सैनापत्यं[1] च राज्यं च दण्डनेतृत्वमेव च ।
सर्वलोकाधिपत्यं च वेदशास्त्रविदर्हति ॥१॥
दशावरा वा परिषद् यं धर्मं परिकल्पयेत् ।
त्र्यवरा वापि वृत्तस्था तं धर्मं न विचालयेत् ॥२॥
त्रैविद्यो हैतुकस्तर्की नैरुक्तो धर्मपाठकः ।
त्रयश्चाश्रमिणः पूर्वे परिषत् स्याद्दशावरा ॥३॥
ऋग्वेदविद्यजुर्विच्च सामवेदविदेव च ।
त्र्यवरा परिषज्ज्ञेया धर्मसंशयनिर्णये ॥४॥

---

१. यही पाठ सं० विधि संस्करण १,२,३ में भी है। ग्रन्थकार ने ऋग्भाष्य १।१००।६, यजुर्भाष्य ६।२ के भावार्थ तथा ऋग्भाष्य १।३२।२ के अन्वय में भी 'सैनापत्य' शब्द का प्रयोग किया है। मनु० में 'सेनापत्यं' पाठ है। स० प्र० संस्करण १ में भी यही पाठ उद्धृत किया है। विशेष द्र० सं० वि० पृ० २४४, टि० १ (संस्करण ३, रालाकट्र०)।

एकोऽपि वेदविद्धर्मं यं व्यवस्येद् द्विजोत्तमः।
स विज्ञेयः परो धर्मो नाज्ञानामुदितोऽयुतैः ॥५॥
अव्रतानाममन्त्राणां जातिमात्रोपजीविनाम्।
सहस्रशः समेतानां परिषत्त्वं न विद्यते ॥६॥
यं वदन्ति तमोभूता मूर्खा धर्ममतद्विदः।
तत्पापं शतधा भूत्वा तद्वक्तॄननुगच्छति ॥७॥ मनु०[1]

सब सेना और सेनापतियों के ऊपर राज्याधिकार, दण्ड देने की व्यवस्था के सब कार्यों का आधिपत्य, और सबके ऊपर वर्तमान सर्वाधीश राज्याधिकार, इन चारों अधिकारों में सम्पूर्ण वेद-शास्त्रों में प्रवीण[2], पूर्ण विद्यावाले धर्मात्मा जितेन्द्रिय सुशील जनों को स्थापित करना चाहिये। अर्थात् मुख्य सेनापति, मुख्य राज्याधिकारी, मुख्य न्यायाधीश और प्रधान[3] राजा ये चार सब विद्याओं में पूर्ण विद्वान् होने चाहियें ॥१॥

न्यून-से-न्यून दश विद्वानों, अथवा बहुत न्यून हों तो तीन विद्वानों की सभा जैसी व्यवस्था करे, उस धर्म अर्थात् व्यवस्था का उल्लंघन कोई भी न करे ॥२॥

इस सभा में चारों वेद, न्यायशास्त्र, निरुक्त, धर्मशास्त्र आदि के वेत्ता विद्वान् सभासद् हों। परन्तु वे ब्रह्मचारी गृहस्थ और वानप्रस्थ हों। तब वह सभा [हो] कि जिसमें दश विद्वानों से न्यून न होने चाहियें ॥३॥

और जिस सभा में ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद को जाननेवाले तीन सभासद् होके व्यवस्था करें, उस सभा की कीहुई व्यवस्था को भी कोई उल्लंघन न करे ॥४॥

यदि एक अकेला सब वेदों का जाननेहारा द्विजों में उत्तम संन्यासी

---

१. मनु० १२।१००,११०—११५॥

२. ऋषियों के उपदेशानुसार कोई राजा, प्रधान-मन्त्री वा राष्ट्रपति वेदविद्या-विहीन न होना चाहिये। भ० द०

३. संस्करण २ में 'न्यायाधीश प्रधान और राजा' पाठ है।

जिस धर्म की व्यवस्था करे, वही श्रेष्ठ धर्म है। क्योंकि[1] अज्ञानियों के सहस्रों लाखों करोड़ों मिलके जो कुछ व्यवस्था करें, उसको कभी न मानना चाहिये ॥५॥

जो ब्रह्मचर्य-सत्यभाषणादि व्रत, वेदविद्या वा विचार से रहित, जन्ममात्र से शूद्रवत् वर्त्तमान हैं, उन सहस्रों मनुष्यों के मिलने से भी सभा नहीं कहाती ॥६॥

जो अविद्यायुक्त मूर्ख, वेदों के न जाननेवाले मनुष्य जिस धर्म को कहें, उसको कभी न मानना चाहिये। क्योंकि जो मूर्खों के कहे हुए धर्म के अनुसार चलते हैं, उनके पीछे सैंकड़ों प्रकार के पाप लग जाते हैं॥७॥

इसलिये तीनों अर्थात् विद्यासभा, धर्मसभा और राजसभाओं में मूर्खों को कभी भरती न करे[2]। किन्तु सदा विद्वान् और धार्मिक पुरुषों का स्थापन करे। और सब लोग ऐसे—

त्रैविद्येभ्यस्त्रयीं विद्यां दण्डनीतिं च शाश्वतीम्।
आन्वीक्षिकीं चात्मविद्यां वार्त्तारम्भांश्च लोकतः ॥१॥
इन्द्रियाणां जये योगं समातिष्ठेद्दिवानिशम्।
जितेन्द्रियो हि शक्नोति वशे स्थापयितुं प्रजाः ॥२॥
दश कामसमुत्थानि तथाष्टौ क्रोधजानि च।
व्यसनानि दुरन्तानि प्रयत्नेन विवर्जयेत् ॥३॥
कामजेषु प्रसक्तो हि व्यसनेषु महीपतिः।
वियुज्यतेऽर्थधर्माभ्यां क्रोधजेष्वात्मनैव तु ॥४॥
मृगयाक्षो दिवास्वप्नः परीवादः स्त्रियो मदः।
तौर्य्यत्रिकं वृथाट्या च कामजो दशको गणः ॥५॥

---

१. यहां संस्करण २ में '॥५॥' संख्या भूल से दी है। इसी कारण आगे संख्या में भेद हो गया है।

२. मनु० के श्लोक से तथा ग्रन्थकार के निर्देश से स्पष्ट है कि राज्य-सभाओं आदि के लिए साम्प्रतिक लोकतान्त्रिक मानी जाने वाली चुनाव पद्धति अयुक्त है। इससे अयोग्य व्यक्ति भी राज्यसभाओं में पहुंच जाते हैं।

पैशुन्यं साहसं द्रोह ईर्ष्यासूयार्थदूषणम् ।
वाग्दण्डजं च पारुष्यं क्रोधजोऽपि गणोऽष्टकः ॥६॥
द्वयोरप्येतयोर्मूलं यं सर्वे कवयो विदुः ।
तं यत्नेन जयेल्लोभं तज्जावेतावुभौ गणौ ॥७॥
पानमक्षाः स्त्रियश्चैव मृगया च यथाक्रमम् ।
एतत् कष्टतमं विद्याच्चतुष्कं कामजे गणे ॥८॥
दण्डस्य पातनं चैव वाक्पारुष्यार्थदूषणे ।
क्रोधजेऽपि गणे विद्यात् कष्टमेतत् त्रिकं सदा ॥९॥
सप्तकस्यास्य वर्गस्य सर्वत्रैवानुषङ्गिणः ।
पूर्वं पूर्वं गुरुतरं विद्याद्व्यसनमात्मवान् ॥१०॥
व्यसनस्य च मृत्योश्च व्यसनं कष्टमुच्यते ।
व्यसन्यधोऽधो व्रजति स्वर्यात्यव्यसनी मृतः ॥११॥ मनु०[१]

राजा और राजसभा के सभासद् तब हो सकते हैं, कि जब वे चारों वेदों की कर्मोपासना-ज्ञान विद्याओं के जाननेवालों से तीनों विद्या, सनातन दण्डनीति, न्यायविद्या, आत्मविद्या अर्थात् परमात्मा के गुण-कर्म-स्वभावरूप को यथावत् जानने रूप ब्रह्मविद्या, और लोक से वार्ताओं का आरम्भ (कहना और पूछना) सीखकर सभासद् वा सभापति हो सकें ॥१॥

सब सभासद् और सभापति इन्द्रियों को जीतके[२] अर्थात् अपने वश में रखके सदा धर्म में वर्तें, और अधर्म से हटे-हटाए रहैं। इसलिये रातदिन नियत समय में योगाभ्यास भी करते रहैं। क्योंकि जो [अ]जितेन्द्रिय कि अपनी इन्द्रियों (जो मन प्राण और शरीर प्रजा[३] है, इस)को जीते विना बाहर की प्रजा को अपने वश में स्थापन करने को समर्थ कभी नहीं हो सकता ॥२॥

दृढ़ोत्साही होकर जो काम से दश और क्रोध से आठ दुष्ट व्यसन

---

१. मनु० ७।४३–५३॥ २. सं० २ में 'जीतने' पाठ है।
३. 'प्रजा' शब्द व्यर्थ प्रतीत होता है।

कि जिनमें फसा हुआ मनुष्य कठिनता से निकल सके, उनको प्रयत्न से छोड़ और छुड़ा देवे ॥३।

क्योंकि जो राजा काम से उत्पन्न हुए दश दुष्ट व्यसनों में फसता है, वह अर्थ अर्थात् राज्य धनादि और धर्म से रहित हो जाता है। और जो क्रोध से उत्पन्न हुए आठ बुरे व्यसनों में फसता है, वह शरीर से भी रहित हो जाता है ॥४॥

काम से उत्पन्न हुए व्यसन गिनाते हैं। देखो मृगया खेलना, अक्ष अर्थात् चोपड़ खेलना जुवा खेलनादि, दिन में सोना, कामकथा वा दूसरे की निन्दा किया करना, स्त्रियों का अति संग, मादक द्रव्य अर्थात् मद्य अफीम भांग गांजा चरस आदि का सेवन, गाना-बजाना नाचना वा नाच कराना सुनना और देखना, वृथा इधर-उधर घूमते रहना, ये दश कामोत्पन्न व्यसन हैं ॥५॥

क्रोध से उत्पन्न व्यसनों को गिनाते हैं—'पैशुन्य' अर्थात् चुगली करना, ['साहस'] विना विचारे बलात्कार से किसी की स्त्री से बुरा काम करना, ['द्रोह'] द्रोह रखना, 'ईर्ष्या' अर्थात् दूसरे की बड़ाई वा उन्नति देखकर जला करना, 'असूया' दोषों में गुण गुणों में दोषारोपण करना, 'अर्थदूषण' अर्थात् अधर्मयुक्त बुरे कामों में धनादि का व्यय करना, ['वाग्दण्ड']कठोर वचन बोलना, और ['पारुष्य'] विना अपराध कड़ा वचन वा विशेष दण्ड देना, ये आठ दुर्गुण क्रोध से उत्पन्न होते हैं ॥६॥

जिसको[1] सब विद्वान् लोग कामज और क्रोधजों का मूल जानते हैं, कि जिससे ये सब दुर्गुण मनुष्य को प्राप्त होते हैं, उस लोभ को प्रयत्न से छोड़े ॥७॥

काम के व्यसनों में बड़े दुर्गुण—एक मद्यादि अर्थात् मदकारक द्रव्यों का सेवन, दूसरा—पासों आदि से जुवा खेलना, तीसरा—स्त्रियों का विशेष संग, चौथा—मृगया खेलना, ये चार महादुष्ट व्यसन हैं ॥८॥

और क्रोधजों[2] में—विना अपराध दण्ड देना, कठोर वचन बोलना,

---

१. संस्करण २ में 'जो' पाठ है। २. सं० २ में 'कामजों' अपपाठ है।

और धनादि का अन्याय में खर्च करना, ये तीन क्रोध से उत्पन्न हुए बड़े दुःखदायक दोष हैं ॥९॥

जो ये सात दुर्गुण दोनों कामज और क्रोधज दोषों में गिने हैं, इन में से पूर्व-पूर्व अर्थात् व्यर्थ व्यय से कठोर वचन, कठोर वचन से अन्याय से दण्ड देना, इससे मृगया खेलना, इससे स्त्रियों का अत्यन्त संग, इस से जुवा अर्थात् द्यूत करना, और इससे भी मद्यादि सेवन करना बड़ा दुष्ट व्यसन है ॥१०॥

इसमें यह निश्चय है कि दुष्ट व्यसन में फसने से मर जाना अच्छा है। क्योंकि जो दुष्टाचारी पुरुष है वह अधिक जियेगा, तो अधिक-अधिक पाप करके नीच-नीच गति अर्थात् अधिक-अधिक दुःख को प्राप्त होता जायेगा। और जो किसी व्यसन में नहीं फसा, वह मर भी जायेगा तो भी सुख को प्राप्त होता जायेगा। इसलिये विशेष राजा और सब मनुष्यों को उचित है कि—कभी मृगया और मद्यपानादि दुष्ट कामों में न फसें। और दुष्ट व्यसनों से पृथक् होकर धर्मयुक्त गुण-कर्म-स्वभावों में सदा वर्त्तके अच्छे-अच्छे काम किया करें ॥११॥

राजसभासद् और मन्त्री कैसे होने चाहियें—

मौलान् शास्त्रविदः शूराँल्लब्धलक्षान् कुलोद्गतान्।[1]
सचिवान् सप्त चाष्टौ वा प्रकुर्वीत परीक्षितान् ॥१॥
अपि यत्सुकरं कर्म तदप्येकेन दुष्करम्।
विशेषतोऽसहायेन किन्तु राज्यं महोदयम् ॥२॥
तैः सार्द्धं चिन्तयेन्नित्यं सामान्यं सन्धिविग्रहम्।
स्थानं समुदयं गुप्तिं लब्धप्रशमनानि च ॥३॥
तेषां स्वं स्वमभिप्रायमुपलभ्य पृथक् पृथक्।
समस्तानाञ्च कार्येषु विदध्याद्धितमात्मनः ॥४॥

---

१. सं० वि० पृष्ठ २४४ (सं० ३, रालाकट्र०) में यही पाठ उद्धृत है। यही पाठ मेधातिथि के भाष्य में व्याख्यात है। अन्यत्र 'कुलोद्भवान्' पाठ मिलता है।

अन्यानपि प्रकुर्वीत शुचीन् प्राज्ञानवस्थितान् ।
सम्यगर्थसमाहर्तृनमात्यान् सुपरीक्षितान् ॥५॥
निवर्त्ततास्य यावद्भिरितिकर्तव्यता नृभिः ।
तावतोऽतन्द्रितान् दक्षान् प्रकुर्वीत विचक्षणान् ॥६॥
तेषामर्थे नियुञ्जीत शूरान् दक्षान् कुलोद्गतान् ।
शुचीनाकरकर्मान्ते भीरूनन्तर्निवेशने ॥७॥
दूतं चैव प्रकुर्वीत सर्वशास्त्रविशारदम् ।
इङ्गिताकारचेष्टज्ञं शुचिं दक्षं कुलोद्गतम् ॥८॥
अनुरक्तः शुचिर्दक्षः स्मृतिमान् देशकालवित् ।
वपुष्मान् वीतभीर्वाग्मी दूतो राज्ञः प्रशस्यते ॥९॥ मनु०[1]

स्वराज्य स्वदेश में उत्पन्न हुए, वेदादिशास्त्रों के जाननेवाले, शूरवीर, जिन्होंका लक्ष्य अर्थात् विचार निष्फल न हो, और कुलीन, अच्छे प्रकार सुपरीक्षित सात वा आठ उत्तम धार्मिक चतुर (सचिवान्) अर्थात् मन्त्री करे ॥१॥

क्योंकि विशेष सहाय के विना जो सुगम कर्म है, वह भी एक के करने में कठिन हो जाता है। जब ऐसा है तो महान् राज्य-कर्म्म एक से कैसे हो सकता है? इसलिये एक को राजा, और एक की बुद्धि पर राज्य के कार्य्य का निर्भर रखना वहुत ही बुरा काम है ॥२॥

इससे सभापति को उचित है कि नित्यप्रति उन राज्यकर्मों में कुशल विद्वान् मन्त्रियों के साथ सामान्य करके किसी से (सन्धि) मित्रता, किसी से (विग्रह) विरोध, (स्थान) स्थिति[2] समय को देखके चुपचाप रहना, अपने राज्य की रक्षा करके बैठे रहना, (समुदयम्) जब अपना उदय अर्थात् वृद्धि हो, तब दुष्ट शत्रु पर चढ़ाई करना, (गुप्तिम्) मूल राजसेना कोश आदि की रक्षा, (लब्धप्रशमनानि) जो-जो देश प्राप्त हो उस-उसमें शान्ति-स्थापन उपद्रवरहित करना, इन छः गुणों का विचार नित्यप्रति किया करे ॥३॥

विचार [इस प्रकार] से करना कि उन सभासदों का पृथक्-

---

१. मनु० ७।५४—५७, ६०—६४ ॥ २. सं० २ में 'स्थित' पाठ है ।

पृथक् अपना-अपना विचार और अभिप्राय को सुनकर बहुपक्षानुसार कार्यों में जो कार्य अपना और अन्य का हितकारक हो, वह करने लगना ॥४॥

अन्य भी पवित्रात्मा, बुद्धिमान्, निश्चितबुद्धि, पदार्थों के संग्रह करने में अतिचतुर, सुपरीक्षित मन्त्री करे ॥५॥

जितने मनुष्यों से [राज]कार्य्य सिद्ध हो सके, उतने आलस्य-रहित, बलवान्, और बड़े-बड़े चतुर प्रधान पुरुषों को अधिकारी अर्थात् नौकर करे ॥६॥

इनके आधीन शूरवीर, बलवान् कुलोत्पन्न, पवित्र भृत्यों को बड़े-बड़े कर्मों में, और भीरु=डरने वालों को भीतर के कर्मों में नियुक्त करे ॥७॥

जो प्रशंसित कुल में उत्पन्न, चतुर, पवित्र, हावभाव और चेष्टा से भीतर हृदय, और भविष्यत् में होने वाली बात को जाननेहारा, सब शास्त्रों में विशारद=चतुर है, उस दूत को भी रक्खे ॥८॥

वह ऐसा हो कि राजकाम में अत्यन्त उत्साह-प्रीतियुक्त, निष्कपटी, पवित्रात्मा, चतुर, बहुत समय की बात को भी न भूलनेवाला, देश और कालानुकूल वर्त्तमान का कर्त्ता, सुन्दर रूपयुक्त, निर्भय और बड़ा वक्ता हो। वही राजा का दूत होने में प्रशस्त है ॥९॥

किस-किस को क्या-क्या अधिकार देना योग्य है—

अमात्ये दण्ड आयत्तो दण्डे वैनयिकी क्रिया।
नृपतौ कोशराष्ट्रे च दूते सन्धिविपर्ययौ ॥१॥
दूत एव हि संधत्तो भिनत्त्येव च संहतान्।
दूतस्तत् कुरुते कर्म भिद्यन्ते येन वा न वा[1] ॥२॥
बुद्ध्वा च सर्वं तत्त्वेन परराजचिकीर्षितम्।
तथा प्रयत्नमातिष्ठेद् यथात्मानं न पीडयेत् ॥३॥

---

१. मनु० में 'येन मानवाः' पाठ है। पूर्व श्लोक के चतुर्थ चरण एवं इस श्लोक के पूर्वार्ध में भेद और सन्धान दोनों दूत के कार्य कहने से यहां ग्रन्थकार-सम्मत पाठ अधिक युक्त है।

धनुर्दुर्गं[1] महीदुर्गमब्दुर्गं वार्क्षमेव वा ।
नृदुर्गं गिरिदुर्गं वा समाश्रित्य वसेत् पुरम् ॥४॥
एकः शतं योधयति प्राकारस्थो धनुर्धरः ।
शतं दशसहस्राणि तस्माद् दुर्गं विधीयते ॥५॥
तत् स्यादायुधसम्पन्नं धनधान्येन वाहनैः ।
ब्राह्मणैः शिल्पिभिर्यन्त्रैर्यवसेनोदकेन च ॥६॥
तस्य मध्ये सुपर्याप्तं कारयेद् गृहमात्मनः ।
गुप्तं सर्वर्त्तुकं शुभ्रं जलवृक्षसमन्वितम् ॥७॥
तदध्यास्योद्वहेद् भार्यां सवर्णां लक्षणान्विताम् ।
कुले महति सम्भूतां हृद्यां रूपगुणान्विताम् ॥८॥
पुरोहितं प्रकुर्वीत[2] वृणुयादेव चर्त्विजम् ।
तेऽस्य गृह्याणि कर्माणि कुर्युर्वैतानिकानि च ॥९॥ मनु०[3]

अमात्य को दण्डाधिकार, दण्ड में विनय-क्रिया, अर्थात् जिससे अन्यायरूप दण्ड न होने पावे। राजा के आधीन कोश और राजकार्य, तथा सभा के आधीन सब कार्य्य, और दूत के आधीन किसी से मेल वा विरोध करने[4] [का] अधिकार देवे ॥१॥

दूत उसको कहते हैं—जो फूट में मेल और मिले हुए दुष्टों को फोड़-तोड़ देवे। दूत वह कर्म करे, जिससे शत्रुओं में फूट पड़े ॥२॥

वह सभापति और सब सभासद् वा दूत आदि यथार्थ से दूसरे विरोधी राजा के राज्य का अभिप्राय जानके वैसा यत्न करें कि जिससे अपने को पीड़ा न हो ॥३॥

इसलिये सुन्दर जंगल धनधान्ययुक्त देश में (धनुर्दुर्गम्) धनु-

---

१. यही पाठ मेधातिथि के मनुभाष्य में है। अन्यत्र 'धन्वदुर्गं' मिलता है। कुल्लूक भट्ट ने 'धन्वदुर्गं' का अर्थ **'मरुवेष्टितम्'** किया है। वेद में (द्र० ऋ० ६।७५।२) में धन्वन् धनुष के लिये प्रयुक्त हुआ है। अतः 'धन्वदुर्गं' का अर्थ भी 'धनुर्दुर्गं' करना युक्त है।

२. मनु० में 'पुरोहितं च कुर्वीत' पाठ है।

३. मनु० ७। ६५, ६६, ६८, ७०, ७४-७८ ॥

४. सं. २ में 'करना अधिकार' पाठ है।

धारी पुरुषों से गहन, (महीदुर्गम्) मट्टी से किया हुआ, (अब्दुर्गम्) जल से घेरा हुआ (वार्क्षम्) अर्थात् चारों ओर वन, (नृदुर्गम्) चारों ओर सेना रहे, (गिरिदुर्गम्) अर्थात् चारों ओर पहाड़ों के बीच में कोट बनाके इसके मध्य में नगर बनावे ॥४॥

और नगर के चारों ओर प्राकार=प्रकोट बनावे। क्योंकि उसमें स्थित हुआ एक वीर धनुर्धारी शस्त्र-युक्त पुरुष सौ के साथ, और सौ दश हजार के साथ युद्ध कर सकते हैं। इसलिये अवश्य दुर्ग का बनाना उचित है ॥५॥

वह दुर्ग शस्त्रास्त्र, धन-धान्य, वाहन, ब्राह्मण जो पढ़ाने उपदेश करनेहारे हों, शिल्पि=कारीगर, यन्त्र=नाना प्रकार की कला, (यवसेन) चारा-घास और जल आदि से सम्पन्न अर्थात् परिपूर्ण हो ॥६॥

उसके मध्य में जल वृक्ष पुष्पादिक, सब प्रकार से रक्षित, सब ऋतुओं में सुखकारक, श्वेतवर्ण अपने लिये घर, जिसमें सब राजकार्य्य का निर्वाह हो, वैसा बनवावे ॥७॥

इतना अर्थात् ब्रह्मचर्य से विद्या पढ़के, यहां तक राजकाम करके, पश्चात् सौन्दर्य-रूप-गुणयुक्त, हृदय को अतिप्रिय, बड़े उत्तम कुल में उत्पन्न, सुन्दर लक्षणयुक्त अपने क्षत्रिय कुल की कन्या, जो कि अपने सदृश विद्यादि-गुण-कर्म-स्वभाव में हो, उस एक ही स्त्री के साथ विवाह करे। दूसरी सब स्त्रियों को अगम्य समझकर दृष्टि से भी न देखे ॥८॥

पुरोहित और ऋत्विज् का स्वीकार इसलिये करे कि वे अग्निहोत्र और पक्षेष्टि आदि सब राजघर के कर्म किया करें। और आप सर्वदा राजकार्य में तत्पर रहै। अर्थात् यही राजा का सन्ध्योपासनादि कर्म है, जो रातदिन राजकार्य में प्रवृत्त रहना, और कोई राजकाम बिगड़ने न देना ॥९॥

सांवत्सरिकमाप्तैश्च राष्ट्रादाहारयेद् बलिम्।
स्याच्चाम्नायपरो लोके वर्त्तेत पितृवन्नृषु ॥१॥
अध्यक्षान् विविधान् कुर्यात् तत्रतत्र विपश्चितः।
तेऽस्य सर्वाण्यवेक्षेरन् नृणां कार्याणि कुर्वताम् ॥२॥

आवृत्तानां गुरुकुलाद्विप्राणां पूजको भवेत्।
नृपाणामक्षयो ह्येष निधिर्ब्राह्मो विधीयते[1] ॥३॥
समोत्तमाधमैराजा त्वाहूतः पालयन् प्रजाः।
न निवर्त्तेत संग्रामात् क्षात्रं धर्ममनुस्मरन् ॥४॥
आहवेषु मिथोऽन्योऽन्यं जिघांसन्तो महीक्षितः।
युध्यमानाः परं शक्त्या स्वर्गं यान्त्यपराङ्मुखाः ॥५॥
न च हन्यात् स्थलारूढं न क्लीबं न कृताञ्जलिम्।
न मुक्तकेशं नासीनं न तवास्मीति वादिनम् ॥६॥
न सुप्तं न विसन्नाहं न नग्नं न निरायुधम्।
नायुध्यमानं पश्यन्तं न परेण समागतम् ॥७॥
नायुधव्यसनं प्राप्तं नार्त्तं नातिपरिक्षतम्।
न भीतं न परावृत्तं सतां धर्ममनुस्मरन् ॥८॥
यस्तु भीतः परावृत्तः सङ्ग्रामे हन्यते परैः
भर्त्तुर्यद् दुष्कृतं किञ्चित् तत्सर्वं प्रतिपद्यते ॥९॥
यच्चास्य सुकृतं किञ्चिदमुत्रार्थमुपार्जितम्।
भर्त्ता तत्सर्वमादत्ते परावृत्तहतस्य तु ॥१०॥
रथाश्वं हस्तिनं छत्रं धनं धान्यं पशून् स्त्रियः।
सर्वद्रव्याणि कुप्यं च यो यज्जयति तस्य तत् ॥११॥
राज्ञश्च दद्युरुद्धारमित्येषा वैदिकी श्रुतिः[2]।
राज्ञा च सर्वयोधेभ्यो दातव्यमपृथग्जितम् ॥१२॥ मनु०[3]

वार्षिक कर आप्त पुरुषों के द्वारा ग्रहण करे। और जो सभापति-रूप राजा आदि प्रधान पुरुष हैं, वे सब सभा वेदानुकूल होकर प्रजा के साथ पिता के समान वर्तें ॥१॥

उस राज्यकार्य में विविध प्रकार के अध्यक्षों को सभा नियत करे।

---

१. मनु० में 'ब्राह्मोऽभिधीयते' पाठ है।

२. मेधातिथि ने 'इन्द्रो वै वृत्रं हत्वा ....स (इन्द्रो) महान् भूत्वा देवता अब्रवीदुद्धारं म उद्धरत' (ऐ० ब्रा० ३।२१) वैदिक वचन उद्धृत किया है।

३. मनु० ७। ८०-८२, ८७, ८९, ९१-९७॥

इनका यही काम है [कि देखें कि] जितने-जितने जिस-जिस काम में राजपुरुष हों, वे नियमानुसार वर्त्तकर यथावत् काम करते हैं वा नहीं। जो यथावत् करें तो उनका सत्कार, और जो विरुद्ध करें तो उनको यथावत् दण्ड किया करें ॥२॥

सदा जो राजाओं का वेदप्रचाररूप अक्षय कोष है, इसके प्रचार के लिये [जो] कोई यथावत् ब्रह्मचर्य से वेदादिशास्त्रों को पढ़कर गुरुकुल से आवे, उसका सत्कार राजा और सभा यथावत् करें। तथा उनका भी जिनके पढ़ाये हुए विद्वान् होवें ॥३॥

इस बात के करने से राज्य में विद्या की उन्नति होकर अत्यन्त उन्नति होती है। जब कभी प्रजा का पालन करनेवाले राजा को कोई अपने से छोटा तुल्य और उत्तम संग्राम में आह्वान करे, तो क्षत्रियों के धर्म का स्मरण करके संग्राम में जाने से कभी निवृत्त न हो, अर्थात् बड़ी चतुराई के साथ उनसे युद्ध करे, जिससे अपना ही विजय हो ॥४॥

जो संग्रामों में एक-दूसरे को हनन करने की इच्छा करते हुए राजा लोग, जितना अपना सामर्थ्य हो विना डर पीठ न दिखा युद्ध करते हैं, वे सुख को प्राप्त होते हैं। इससे विमुख कभी न हो, किन्तु कभी-कभी शत्रु को जीतने के लिये उनके सामने से छिप जाना उचित है। क्योंकि जिस प्रकार से शत्रु को जीत सकें, वैसे काम करें। जैसा सिंह क्रोध से सामने आकर शस्त्राग्नि में शीघ्र भस्म हो जाता है, वैसे मूर्खता से नष्ट-भ्रष्ट न हो जावें ॥५॥

युद्ध-समय में न इधर-उधर खड़े, न नपुंसक, न हाथ जोड़े हुए, न जिसके शिर के बाल खुल गये हों, न बैठे हुये, न 'मैं तेरे शरण हूं' ऐसे [बोलने वाले] को ॥६॥

न सोते हुए, न मूर्छा को प्राप्त हुए, न नग्न हुए, न आयुध से रहित, न युद्ध करते हुओं को देखने वालों, न शत्रु के साथी ॥७॥

न आयुध के प्रहार से पीड़ा को प्राप्त हुए, न दुःखी, न अत्यन्त घायल, न डरे हुए, और न पलायन करते हुए पुरुष को सत्पुरुषों के धर्म का स्मरण करते हुए योद्धा लोग कभी मारें।

किन्तु उनको पकड़के जो अच्छे हों बन्दीगृह में रख दे, और भोजन-आच्छादन यथावत् देवे। और जो घायल हुए हों, उनको औषधादि विधिपूर्वक करे। न उनको चिड़ावे न दुःख देवे। जो उनके योग्य काम हो करावे। विशेष इस पर ध्यान रखे कि स्त्री बालक वृद्ध और आतुर तथा शोकयुक्त पुरुषों पर शस्त्र कभी न चलावे। उनके लड़के-बालों को अपने सन्तानवत् पाले, और स्त्रियों का भी पाले, उनको अपनी बहिन और कन्या के समान समझे, कभी विषयासक्ति[1] की दृष्टि से भी न देखे। जब राज्य अच्छे प्रकार जम जाय औरजिनमें पुनःपुनः युद्ध करने की शंका न हो, उनको सत्कारपूर्वक छोड़कर अपने-अपने घर वा देश को भेज देवे। और जिनसे भविष्यत् काल में विघ्न होना सम्भव हो, उनको सदा कारागार में रक्खे ॥८॥

और जो पलायन अर्थात् भागा[2] और डरा हुआ भृत्य शत्रुओं से मारा जाय, वह उस स्वामी के अपराध को प्राप्त होकर दण्डनीय होवे ॥९॥

और जो उसकी प्रतिष्ठा है, जिससे इस लोक और परलोक में सुख होने वाला था, उसको उसका स्वामी ले लेता है। जो भागा हुआ मारा जाय, उसको कुछ भी सुख नहीं होता। उसका पुण्यफल सब नष्ट हो जाता। और उस प्रतिष्ठा को वह प्राप्त हो, जिसने धर्म से यथावत् युद्ध किया हो ॥१०॥

इस व्यवस्था को कभी न तोड़े कि जो-जो लड़ाई में जिस-जिस भृत्य वा अध्यक्ष ने रथ, घोड़े, हाथी, छत्र, धन-धान्य, गाय आदि पशु और स्त्रियां[3], तथा अन्य प्रकार के सब द्रव्य और घी, तेल आदि के कुप्ये[4] जीते हों, वही उस-उसका ग्रहण करे ॥११॥

---

१. सं० २ मे 'विषयाशक्ति' पाठ है। २. सं० २ में 'भागे' पाठ है।

३. जीती हुई स्त्रियों पर विजयी का अधिकार देना ग्रन्थकार के मन्तव्य एवं वैदिक संस्कृति के विपरीत है। इसी कारण वैदिक संस्कृति के पालक महाराणा प्रताप एवं छत्रपति शिवाजी प्रभृति नरेशों ने सेना के द्वारा बन्दीकृत स्त्रियों को ससम्मान लौटा दिया था। अतः यहां केवल श्लोक पद की व्याख्या में ग्रन्थकार का तात्पर्य जानना चाहियें।

४. कुप्य का साधारण अर्थ 'सोना-चांदी व्यतिरिक्त अन्य धातु आदि पदार्थ

परन्तु सेनास्थ जन भी उन जीते हुए पदार्थों में से सोलहवां भाग राजा को देवें। और राजा भी सेनास्थ योद्धाओं को उस धन में से, जो सबने मिलके जीता हो, सोलहवां भाग देवे। और जो कोई युद्ध में मर गया हो, उसकी स्त्री और संतान को उसका भाग देवे। और उसकी स्त्री तथा असमर्थ लड़कों का यथावत् पालन करे। जब उसके लड़के समर्थ हो जायें, तब उनको यथायोग्य अधिकार देवे। जो कोई अपने राज्य की वृद्धि, प्रतिष्ठा, विजय और आनन्द-वृद्धि की इच्छा रखता हो, वह इस मर्यादा का उल्लंघन कभी न करे ॥१२॥

अलब्धं चैव लिप्सेत लब्धं रक्षेत् प्रयत्नतः।
रक्षितं वर्द्धयेच्चैव वृद्धं पात्रेषु निःक्षिपेत् ॥१॥
[एतच्चतुर्विधं विद्यात् पुरुषार्थप्रयोजनम् ।
अस्य नित्यमनुष्ठानं सम्यक् कुर्यादतन्द्रितः ॥][1]
अलब्धमिच्छेद्दण्डेन लब्धं रक्षेदवेक्षया ।
रक्षितं वर्द्धयेद् वृद्धया वृद्धं दानेन[2] निःक्षिपेत् ॥२॥
अमाययैव वर्त्तेत न कथंचन मायया ।
बुध्येतारिप्रयुक्तां च मायान्नित्यं स्वसंवृतः ॥३॥
नास्य छिद्रं परो विद्याच्छिद्रं विद्यात्[3] परस्य तु ।
गूहेत् कूर्म इवाङ्गानि रक्षेद्विवरमात्मनः ॥४॥
वकवच्चिन्तयेदर्थान् सिंहवच्च पराक्रमेत् ।
वृकवच्चावलुम्पेत शशवच्च विनिष्पतेत् ॥५॥
एवं विजयमानस्य येऽस्य स्युः परिपन्थिनः ।
तानानयेद् वशं सर्वान् सामादिभिरुपक्रमैः ॥६॥

हैं'। कौटिल्य अर्थशास्त्र (२।१७) में कुप्यवर्ग में अनेक पदार्थ गिनाए हैं। ग्रन्थकार ने लोक में प्रसिद्ध 'कुप्पा' शब्द को 'कुप्य' शब्द का अपभ्रंश मानकर उनमें रखे गये घी तेल आदि अर्थ किया है।

१. इस श्लोक का अर्थ ग्रन्थकार ने प्रथम श्लोक के अनन्तर किया है। प्रतीत होता है कि लिपिकर की भूल से यह श्लोक छूट गया है।

२. मनु० में 'पात्रेषु' पाठ है। ३. मनु० में 'विद्याच्छिद्रं' पाठ है।

[यदि ते तु न तिष्ठेयुरुपायैः प्रथमैस्त्रिभिः ।
दण्डेनैव प्रसह्यैतांश्छनकैर्वशमानयेत्][1]
यथोद्धरति निर्दाता कक्षं धान्यं च रक्षति ।
तथा रक्षेन्नृपो राष्ट्रं हन्याच्च परिपन्थिनः ॥७॥
मोहाद्राजा स्वराष्ट्रं यः कर्षयत्यनवेक्षया ।
सोऽचिराद् भ्रश्यते राज्याज्जीविताच्च सबान्धवः ॥८॥
शरीरकर्षणात् प्राणाः क्षीयन्ते प्राणिनां यथा ।
तथा राज्ञामपि प्राणाः क्षीयन्ते राष्ट्रकर्षणात् ॥९॥
राष्ट्रस्य संग्रहे नित्यं विधानमिदमाचरेत् ।
सुसंगृहीतराष्ट्रो हि पार्थिवः सुखमेधते ॥१०॥
द्वयोस्त्रयाणां पंचानां मध्ये गुल्ममधिष्ठितम् ।
तथा ग्रामशतानां च कुर्य्याद्राष्ट्रस्य संग्रहम् । ११ ।
ग्रामस्याधिपतिं कुर्य्याद्दशग्रामपतिं तथा ।
विंशतीशं शतेशं च सहस्रपतिमेव च ॥१२॥
ग्रामदोषान्[2] समुत्पन्नान् ग्रामिकः शनकैः स्वयम् ।
शंसेद् ग्रामदशेशाय दशेशो विंशतीशिनम्[3] ॥१३॥
विंशतीशस्तु तत्सर्वं शतेशाय निवेदयेत् ।
शंसेद् ग्रामशतेशस्तु सहस्रपतये स्वयम् ॥१४॥
तेषां ग्राम्याणि कार्याणि पृथक् कार्याणि चैव हि ।
राज्ञोऽन्यः सचिवः स्निग्धस्तानि पश्येदतन्द्रितः ॥१५॥
नगरे नगरे चैकं कुर्यात् सर्वार्थचिन्तकम् ।
उच्चैःस्थानं घोररूपं नक्षत्राणामिव ग्रहम् ॥१६॥
स ताननुपरिक्रामेत् सर्वानेव सदा स्वयम् ।
तेषां वृत्तं परिणयेत् सम्यग्राष्ट्रेषु तच्चरैः ॥१७॥

---

१. इस श्लोक का अर्थ छठे श्लोक के अर्थ के अन्त में विद्यमान है । यह भी पूर्ववत् लिपिकर के प्रसाद से छूटा है ।

२. यही पाठ मेधातिथि के भाष्य में है । अन्यत्र 'ग्रामे दोषान्' पाठ है ।

३. मनु० में 'विंशतीशिने' पाठ है ।

राज्ञो हि रक्षाधिकृताः परस्वादायिनः शठाः।
भृत्या भवन्ति प्रायेण तेभ्यो रक्षेदिमाः प्रजाः ॥१८॥
ये कार्यिकेभ्योऽर्थमेव गृह्णीयुः पापचेतसः।
तेषां सर्वस्वमादाय राजा कुर्यात् प्रवासनम् ॥१९॥ मनु०[1]

राजा और राजसभा अलब्ध की प्राप्ति की इच्छा, प्राप्त की प्रयत्न से रक्षा करे। रक्षित को बढ़ावे, और बढ़े हुए धन को वेदविद्या, धर्म का प्रचार, विद्यार्थी, वेदमार्गोपदेशक तथा असमर्थ अनाथों के पालन में लगावे ॥१॥

इस चार प्रकार के पुरुषार्थ के प्रयोजन को जाने। आलस्य छोड़कर इसका भली-भांति नित्य अनुष्ठान करे।[2]

दण्ड से अप्राप्त की प्राप्ति की इच्छा, नित्य देखने से प्राप्त की रक्षा, रक्षित की वृद्धि अर्थात् व्याजादि से बढ़ावे, और बढ़े हुए धन को पूर्वोक्त मार्ग में नित्य व्यय करे ॥२॥

कदापि किसी के साथ छल से न वर्ते, किन्तु निष्कपट होकर सबसे वर्ताव रक्खे। और नित्य-प्रति अपनी रक्षा करके शत्रु के किये हुए छल को जानके निवृत्त करे ॥३॥

कोई शत्रु अपने छिद्र अर्थात् निर्बलता को न जान[3] सके, और स्वयं शत्रु के छिद्रों को जानता रहै। जैसे कछुआ अपने अङ्गों को गुप्त रखता है, वैसे शत्रु के प्रवेश करने के छिद्र को गुप्त रक्खे ॥४॥

जैसे बगुला ध्यानावस्थित होकर मच्छी के पकड़ने को ताकता है, वैसे अर्थ-संग्रह का विचार किया करे। द्रव्यादि पदार्थ और बल की वृद्धि कर शत्रु को जीतने के लिये सिंह के समान पराक्रम करे। चीता के समान छिपकर शत्रुओं को पकड़े। और समीप में आये बलवान् शत्रुओं से सस्सा[4] के समान दूर भाग जाय, और पश्चात् उनको छल से पकड़े ॥५॥

---

१. मनु० ७। ९९, [१००,] १०१, १०४-१०७, [१०८,] ११०-११७, १२०-१२४॥ २. 'इस ···अनुष्ठान करे' अर्थ का मूल श्लोक हमने ऊपर कोष्ठक में दे दिया है।

३. सं० २ में 'जना' पाठ है। ४. अर्थात् खरगोश।

इस प्रकार विजय करनेवाले सभापति के राज्य में जो परिपन्थी अर्थात् डाकू लुटेरे हों, उनको (साम) मिला लेना, (दाम[1]) कुछ देकर, (भेद) फोड़-तोड़ करके वश के करे।

और जो इनसे वश में न हों, तो अति कठिन दण्ड से वश में करे[2]॥६॥

जैसे धान्य का निकालनेवाला छिलकों को अलग कर धान्य की रक्षा करता अर्थात् टूटने नहीं देता है, वैसे राजा डाकू-चोरों को मारे, और राज्य की रक्षा करे ॥७॥

जो राजा मोह से अविचार से अपने राज्य को दुर्बल करता है, वह राज्य और अपने बन्धु-सहित जीवने[3] से पूर्व ही शीघ्र नष्ट-भ्रष्ट हो जाता है ॥८॥

जैसे प्राणियों के प्राण शरीरों को कृशित करने से क्षीण हो जाते हैं, वैसे ही प्रजाओं को दुर्बल करने से राजाओं के प्राण अर्थात् बलादि बन्धुसहित नष्ट हो जाते हैं ॥९॥

इसलिये राजा और राजसभा राजकार्य की सिद्धि के लिये ऐसा प्रयत्न करें कि जिससे राजकार्य यथावत् सिद्ध हों। जो राजा राज्य-पालन में सब प्रकार तत्पर रहता है, उसको सुख सदा बढ़ता है ॥१०॥

इसलिये दो तीन पांच और सौ ग्रामों के बीच में एक राज-स्थान रक्खे[4], जिसमें यथायोग्य भृत्य अर्थात् कामदार आदि राजपुरुषों को रखकर सब राज्य के कार्यों को पूर्ण करे ॥११॥

एक-एक ग्राम में एक-एक प्रधान पुरुष को रक्खे। उन्हीं दश ग्रामों के ऊपर दूसरा, उन्हीं बीस ग्रामों के ऊपर तीसरा, उन्हीं सौ ग्रामों के ऊपर चौथा, और उन्हीं सहस्र ग्रामों के

---

१. यह 'दान' शब्द का अपभ्रंश है। 'साम' शब्द का साहचर्य इस अपभ्रंश का कारण है। राजनीति के ग्रन्थों में **साम दान भेद दण्ड** ये चार उपाय दर्शाये हैं।

२. 'और जो······वश में करे', यह जिस श्लोक का भाषार्थ है, वह हमने ऊपर कोष्ठक में दे दिया है।

३. सं. २ में यही पाठ है, यह गुजराती एवं मारवाड़ी भाषा का प्रयोग है। भाव है–'जीवन की अवधि'।

४. सं० २ में 'रख के' पाठ है।

ऊपर पांचवां पुरुष रक्खे। अर्थात् जैसे आजकाल[1] एक ग्राम में एक पटवारी, उन्हीं दश ग्रामों में एक थाना, और दो थानों पर एक बड़ा थाना, और उन पांच थानों पर एक तहसील, और दश तहसीलों पर एक जिला नियत किया है, यह वही अपने मनु आदि धर्मशास्त्र से राजनीति का प्रकार लिया है।।१२।।

इसी प्रकार प्रबन्ध करे, और आज्ञा देवे कि वह एक-एक ग्रामों का पति ग्रामों में नित्यप्रति जो-जो दोष उत्पन्न हों, उन-उनको गुप्तता से दश ग्राम के पति को विदित कर दे। और वह दशग्रामाधिपति उसी प्रकार बीस ग्राम के स्वामी को दश ग्रामों का वर्तमान नित्यप्रति जना देवे।।१३।।

और बीस ग्रामों का अधिपति बीस ग्रामों के वर्तमान को शत-ग्रामाधिपति को नित्यप्रति निवेदन करे। वैसे सौ-सौ ग्रामों के पति आप सहस्राधिपति अर्थात् हजार ग्रामों के स्वामी को सौ-सौ ग्रामों के वर्तमान को प्रतिदिन जनाया करें।[2] और बीस-बीस ग्राम के पांच अधिपति सौ-सौ ग्राम के अध्यक्ष को[3], और वे सहस्र-सहस्र के दश अधिपति दश सहस्र के अधिपति को, और [दश सहस्र के अधिपति] लक्षग्रामों की राजसभा को प्रतिदिन का वर्तमान जनाया करें। और वे सब राजसभा महाराजसभा अर्थात् सार्वभौमचक्रवर्ति महाराजसभा में सब भूगोल का वर्तमान जनाया करें।।१४।।

और एक-एक दश-दश सहस्र ग्रामों पर दो सभापति वैसे करें, जिनमें एक राजसभा में और दूसरा अध्यक्ष आलस्य छोड़कर सब न्यायाधीशादि राजपुरुषों के कामों को सदा घूमकर देखते रहैं।।१५।।

---

१. सं. ३४ में अन्यत्र 'आजकाल' पाठ स्वीकार करने पर भी यहां 'आजकल' ही छपा है।

२. यहां से आगे 'और बीस-बीस…… अध्यक्ष को' यह पाठ लिपिकरों द्वारा असावधानी से दुबारा लिखा गया है।

३. यहां से आगे का पाठ मनु के किसी श्लोक का अर्थ नहीं है। परन्तु व्याख्यायमान श्लोक के अनुसार दशसहस्राधिपति से आगे की व्यवस्था दर्शानेवाला है।

बड़े-बड़े नगरों में एक-एक विचार करनेवाली सभा का सुन्दर उच्च और विशाल जैसा कि चन्द्रमा है, वैसा एक-एक घर बनावे। उसमें बड़े-बड़े विद्यावृद्ध कि जिन्होंने विद्या से सब प्रकार की परीक्षा की हो, वे बैठकर विचार किया करें। जिन नियमों से राजा और प्रजा की उन्नति हो, वैसे-वैसे नियम और विद्या प्रकाशित किया करें॥१६॥

जो नित्य घूमनेवाला सभापति हो, उसके आधीन सब गुप्तचर अर्थात् दूतों को रक्खे, जो राजपुरुष और भिन्न-भिन्न जाति के रहैं। उनसे सब राज और प्रजा-पुरुषों के सब दोष और गुण गुप्तरीति से जाना करे। जिनका अपराध हो उनको दण्ड, और जिनका गुण हो उनकी प्रतिष्ठा सदा किया करे॥१७॥

राजा जिनको प्रजा की रक्षा का अधिकार देवे, वे धार्मिक, सुपरीक्षित विद्वान् कुलीन हों। उनके आधीन प्रायः शठ और पर-पदार्थ हरनेवाले चोर-डाकुओं को भी नौकर रखके उनको दुष्टकर्म से बचाने के लिये राजा के नौकर करके उन्हीं रक्षा करनेवाले विद्वानों के स्वाधीन करके उनसे इस प्रजा की रक्षा यथावत् करे[1] ॥१८॥

जो राजपुरुष अन्याय से, वादी-प्रतिवादी से गुप्त धन लेके पक्षपात से अन्याय करे, उसका सर्वस्व हरण करके यथायोग्य दण्ड देकर ऐसे देश में रक्खे कि जहां से पुनः लौट कर न आ सके। क्योंकि यदि उसको दण्ड न दिया जाय, तो उसको देखके अन्य राजपुरुष भी ऐसे दुष्ट काम करें, और दण्ड दिया जाय तो बचे रहैं। परन्तु जितने से उन राजपुरुषों का योगक्षेम भली-भांति हो, और वे भली-भांति धनाढ्य भी हों, उतना धन वा भूमि राज की ओर से मासिक वा वार्षिक अथवा एक वार मिला करे। और जो वृद्ध हों उनको भी आधा मिला करे। परन्तु यह ध्यान में रक्खे कि जब तक वे जियें तब तक वह

---

१. यह भाषार्थ अपराध करनेवाले लोगों के सुधार की भावना से किया गया है। श्लोक क. शब्दार्थ—'राजा के द्वारा प्रजा की रक्षा के लिये रखे गये अधिकारी प्रायः करके पर-धन को ग्रहण करनेवाले वञ्चक होते हैं। उन से प्रजा की रक्षा करनी चाहिये।' रक्षा का उपाय अगले श्लोक में दर्शाया है।

जीविका बनी रहै, पश्चात् नहीं। परन्तु इनके सन्तानों का सत्कार वा नौकरी उनके गुण के अनुसार अवश्य देवे। और जिसके बालक जब तक समर्थ हों और उसकी[1] स्त्री जीती हो, तो उन सबके निर्वाहार्थ राज की ओर से यथायोग्य धन मिला करे। परन्तु जो उसकी स्त्री वा लड़के कुकर्मी हो जायें, तो कुछ भी न मिले। ऐसी नीति राजा बराकर रक्खे ॥१६॥

यथा फलेन युज्येत राजा कर्त्ता च कर्मणाम् ।
तथाऽवेक्ष्य नृपो राष्ट्रे कल्पयेत् सततं करान् ॥१॥
यथाल्पाऽल्पमदन्त्याऽऽद्यं वार्योकोवत्सषट्पदाः ।
तथाऽल्पाऽल्पो ग्रहीतव्यो[2] राष्ट्राद्राज्ञाब्दिकः करः ॥२॥
नोच्छिन्द्यादात्मनो मूलं परेषां चातितृष्णया ।
उच्छिन्दन् ह्यात्मनो मूलमात्मानं तांश्च पीडयेत् ॥३॥
तीक्ष्णश्चैव मृदुश्च स्यात् कार्यं वीक्ष्य महीपतिः ।
तीक्ष्णश्चैव मृदुश्चैव राजा भवति सम्मतः ॥४॥
एवं सर्वं विधायेदमितिकर्त्तव्यमात्मनः ।
युक्तश्चैवाप्रमत्तश्च परिरक्षेदिमाः प्रजाः ॥५॥
विक्रोशन्त्यो यस्य राष्ट्राद् ह्रियन्ते दस्युभिः प्रजाः ।
सम्पश्यतः सभृत्यस्य मृतः स न तु जीवति ॥६॥
क्षत्रियस्य परो धर्मः प्रजानामेव पालनम् ।
निर्दिष्टफलभोक्ता हि राजा धर्मेण युज्यते ॥७॥ मनु०[3]

जैसे राजा और कर्मों का कर्त्ता राजपुरुष वा प्रजाजन सुखरूप फल से युक्त होवें, वैसे विचार करके राजा तथा राजसभा राज्य में कर स्थापन करे ॥१॥

जैसे जोंक, बछड़ा और भमरा[4] थोड़े-थोड़े भोग्य पदार्थ को ग्रहण करते हैं, वैसे राजा प्रजा से थोड़ा-थोड़ा वार्षिक कर लेवे ॥२॥

---

१. सं० २ में 'उनकी' पाठ है। २. सं. २ में 'गृहीतव्यो' पाठ है।
३. मनु० ७। १२८, १२९, १३९, १४०, १४२-१४४ ॥
४. अर्थात् भ्रमर=भंवरा ।

अतिलोभ से अपने [वा] दूसरों के सुख के मूल को उच्छिन्न अर्थात् नष्ट कदापि न करे। क्योंकि जो व्यवहार और सुख के मूल का छेदन करता है, वह अपने [को] और उनको पीड़ा ही देता है ॥३॥

जो महीपति कार्य को देखके तीक्ष्ण और कोमल भी होवे, वह दुष्टों पर तीक्ष्ण और श्रेष्ठों पर कोमल रहने से राजा अतिमाननीय होता है ॥४॥

इस प्रकार सब राज्य का प्रबन्ध करके सदा इसमें युक्त और प्रमाद-रहित होकर अपनी प्रजा का पालन निरन्तर करे ॥५॥

जिस भृत्यसहित देखते हुए राजा के राज्य में से[1] डाकू लोग रोती विलाप करती प्रजा के पदार्थ और प्राणों को हरते रहते हैं, वह [राजा] जानो भृत्य अमात्यसहित मृतक है जीता नहीं, और महा-दुःख का पानेवाला है ॥६॥

इसलिये राजाओं का प्रजापालन ही करना परम धर्म है और जो मनुस्मृति के सप्तमाध्याय में कर लेना लिखा है, और जैसा सभा[2] नियत करे, उसका भोक्ता राजा धर्म से युक्त होकर सुख पाता है। इससे विपरीत दुःख को प्राप्त होता है ॥७॥

उत्थाय पश्चिमे यामे कृतशौचः समाहितः।
हुताग्निर्ब्राह्मणांश्चार्च्य प्रविशेत् स शुभां सभाम् ॥१॥
तत्र स्थितः[3] प्रजाः सर्वाः प्रतिनन्द्य विसर्जयेत्।
विसृज्य च प्रजाः सर्वा मन्त्रयेत् सह मन्त्रिभिः ॥२॥
गिरिपृष्ठं समारुह्य प्रासादं वा रहोगतः।
अरण्ये[4] निःशलाके वा मन्त्रयेदविभावितः ॥३॥

---

१. सीमान्त में स्थित डाकू लोग, अथवा राजा से रक्षित राज्य स्थान नगरादि से गहन अरण्य स्थित डाकू लोग।

२. इससे देश काल के अनुरूप अधिक कर लगाने का भी सभा को अधिकार है, यह सूचित किया है।

३. सं. २ में 'स्थिताः' पाठ है। भाषार्थ 'स्थितः' का ही है।

४. सं. २ में 'आरण्ये' पाठ है।

यत्र मन्त्रं न जानन्ति समागम्य पृथग्जनाः।
स कृत्स्नां पृथिवीं भुङ्क्ते कोशहीनोऽपि पार्थिवः ॥४॥ मनु०[1]

जब पिछली प्रहर रात्रि रहै, तब उठ शौच और सावधान होकर परमेश्वर का ध्यान, अग्निहोत्र धार्मिक विद्वानों का सत्कार और भोजन करके, भीतर सभा में प्रवेश करे ॥१॥

वहां खड़ा रहकर जो प्रजाजन उपस्थित हों उनको मान्य दे, और उनको छोड़कर मुख्यमन्त्री के साथ राजव्यवस्था का विचार करे ॥२॥

पश्चात् उसके साथ घूमने को चला जाय। पर्वत के[2] शिखर अथवा एकान्त घर वा जंगल जिसमें एक शलाका भी न हो, वैसे एकान्त स्थान में बैठकर विरुद्ध भावना को छोड़ मन्त्री के साथ विचार करे ॥३॥

जिस राजा के गूढ़ विचार को अन्य जन मिलकर नहीं जान सकते, अर्थात् जिसका विचार गम्भीर शुद्ध परोपकारार्थ सदा गुप्त रहै, वह धनहीन भी राजा सब पृथिवी के राज्य करने में समर्थ होता है। इसलिये अपने मन से एक भी काम न करे कि जब तक सभासदों की अनुमति न हो[3] ॥४॥

आसनं चैव यानं च सन्धिं विग्रहमेव च।
कार्यं वीक्ष्य प्रयुञ्जीत द्वैधं संश्रयमेव च ॥१॥
सन्धिं तु द्विविधं विद्याद्राजा विग्रहमेव च।
उभे यानासने चैव द्विविधः संश्रयः स्मृतः ॥२॥
समानयानकर्मा च विपरीतस्तथैव च।
तथा त्वायतिसंयुक्तः संधिर्ज्ञेयो द्विलक्षणः ॥३॥
स्वयंकृतश्च कार्यार्थमकाले काल एव वा।
मित्रस्य चैवापकृते द्विविधो विग्रहः स्मृतः ॥४॥

---

१. मनु० ७।१४५-१४८॥. २. सं. २ में 'की' पाठ है।
३. वर्तमान अधिनायकों (=डिक्टेटरों) का यही सब से बड़ा दोष है।

एकाकिनश्चात्ययिके कार्ये प्राप्ते यदृच्छया ।
संहतस्य च मित्रेण द्विविधं यानमुच्यते ॥५॥
क्षीणस्य चैव क्रमशो दैवात् पूर्वकृतेन वा ।
मित्रस्य चानुरोधेन द्विविधं स्मृतमासनम् ॥६॥
बलस्य स्वामिनश्चैव स्थितिः कार्यार्थसिद्धये ।
द्विविधं कीर्त्यते द्वैधं षाड्गुण्यगुणवेदिभिः ॥७॥
अर्थसंपादनार्थं च पीड्यमानः स[1] शत्रुभिः ।
साधुषु व्यपदेशार्थं द्विविधः संश्रयः स्मृतः ॥८॥
यदावगच्छेदायत्यामाधिक्यं ध्रुवमात्मनः ।
तदात्वे चाल्पिकां पीडां तदा सन्धिं समाश्रयेत् ॥९॥
यदा प्रहृष्टा[2] मन्येत सर्वास्तु प्रकृतीर्भृशम् ।
अत्युच्छ्रितं तथात्मानं तदा कुर्वीत विग्रहम् ॥१०॥
यदा मन्येत भावेन हृष्टं पुष्टं बलं स्वकम् ।
परस्य विपरीतं च तदा यायाद्रिपुं प्रति ॥११॥
यदा तु स्यात् परिक्षीणो वाहनेन बलेन च ।
तदासीत प्रयत्नेन शनकैः सांत्वयन्नरीन् ॥१२॥
मन्येतारिं यदा राजा सर्वथा बलवत्तरम् ।
तदा द्विधा बलं कृत्वा साधयेत् कार्य्यमात्मनः ॥१३॥
यदा परबलानां तु गमनीयतमो भवेत् ।
तदा तु संश्रयेत् क्षिप्रं धार्मिकं बलिनं नृपम् ॥१४॥
निग्रहं प्रकृतीनां च कुर्याद् योऽरिबलस्य च ।
उपसेवेत तं नित्यं सर्वयत्नैर्गुरुं यथा ॥१५॥
यदि तत्रापि संपश्येद् दोषं संश्रयकारितम् ।
सुयुद्धमेव तत्राऽपि निर्विशङ्कः समाचरेत् ॥१६॥ [मनु०][3]

सब राजादि राजपुरुषों को यह बात लक्ष्य में रखने योग्य है—जो (आसन) स्थिरता, (यान) शत्रु से लड़ने के लिये जाना, (सन्धि)

---

१. मनु० में 'पीड्यमानस्य शत्रुभिः' पाठ है ।
२. सं० २ में 'प्रकृष्टा' पाठ है । ३. मनु० ७।१६१-१७६ ॥

उनसे मेल कर लेना, (विग्रह) दुष्ट शत्रुओं से लड़ाई करना, (द्वैध) दो प्रकार की सेना करके स्वविजय कर लेना, (संश्रय) और निर्बलता में दूसरे प्रबल राजा का आश्रय लेना, ये छः प्रकार के कर्म यथायोग्य कार्य को विचारकर उसमें युक्त करना चाहिये ॥१॥

राजा जो सन्धि, विग्रह, यान, आसन, द्वैधीभाव और संश्रय दो-दो प्रकार के होते हैं, उनको यथावत् जाने ॥२॥

(सन्धि) शत्रु से मेल अथवा उससे विपरीतता करे। परन्तु वर्तमान और भविष्यत् में करने के काम बराबर करता जाय, यह दो प्रकार का 'मेल' कहाता है ॥३॥

(विग्रह) कार्यसिद्धि के लिये उचित समय वा अनुचित समय में स्वयं किया, वा मित्र के अपराध करनेवाले शत्रु के साथ 'विरोध' दो प्रकार से करना चाहिये ॥४॥

(यान) अकस्मात् कोई कार्य प्राप्त होने में एकाकी वा मित्र के साथ मिलके शत्रु की ओर जाना, यह दो प्रकार का 'गमन' कहाता है ॥५॥

[(आसन)] स्वयं किसी प्रकार क्रम से क्षीण हो जाय अर्थात् निर्बल हो जाय, अथवा मित्र के रोकने से अपने स्थान में बैठे रहना, यह दो प्रकार का 'आसन' कहाता है ॥६॥

[(द्वैध)] कार्यसिद्धि के लिये सेनापति और सेना के दो विभाग करके विजय करना, दो प्रकार का 'द्वैध' कहाता है ॥७॥

[(संश्रय)] एक किसी अर्थ की सिद्धि के लिये किसी बलवान् राजा वा किसी महात्मा का शरण लेना, जिससे शत्रु से पीड़ित न हो, दो प्रकार का 'आश्रय' लेना कहाता है ॥८॥

जब यह जान ले कि इस समय युद्ध करने से थोड़ी पीड़ा प्राप्त होगी, और पश्चात् करने से अपनी वृद्धि और विजय अवश्य होगा, तब शत्रु से मेल करके उचित समय तक धीरज करे ॥९॥

जब अपनी सब प्रजा वा सेना अत्यन्त प्रसन्न उन्नतिशील और

श्रेष्ठ जाने, वैसे अपने को भी समझे, तभी शत्रु से विग्रह=युद्ध कर लेवे ॥१०॥

जब अपने बल अर्थात् सेना को हर्ष और पुष्टियुक्त प्रसन्नभाव से जाने, और शत्रु का बल अपने से विपरीत निर्बल हो जावे, तब शत्रु की ओर युद्ध करने के लिये जावे ॥११॥

जब सेना बल वाहन से क्षीण हो जाय, तब शत्रुओं को धीरे-धीरे प्रयत्न से शान्त करता हुआ अपने स्थान में बैठा रहै ॥१२॥

जब राजा शत्रु को अत्यन्त बलवान् जाने, तब द्विगुणा वा दो प्रकार की सेना करके अपना कार्य सिद्ध करे ॥१३॥

जब आप समझ लेवे कि अब शीघ्र [बलवान्] शत्रुओं की चढ़ाई मुझ पर होगी, तभी किसी धार्मिक बलवान् राजा का आश्रय शीघ्र ले लेवे ॥१४॥

जो प्रजा और अपनी सेना शत्रु के बल का निग्रह करे अर्थात् रोके, उसकी सेवा सब यत्नों से गुरु के सदृश नित्य किया करे ॥१५॥

जिसका आश्रय लेवे उस पुरुष के कर्मों में दोष देखे, तो वहां भी अच्छे प्रकार युद्ध ही को निःशङ्क होकर करे ॥१६॥

जो धार्मिक राजा हो उससे विरोध कभी न करे, किन्तु उससे सदा मेल रक्खे। और जो दुष्ट प्रबल हो, उसी के जीतने के लिये ये पूर्वोक्त प्रयोग करना उचित है।

सर्वोपायैस्तथा कुर्यान्नीतिज्ञः पृथिवीपतिः ।
यथास्याभ्यधिका न स्युर्मित्रोदासीनशत्रवः ॥१॥
आयतिं सर्वकार्याणां तदात्वं च विचारयेत् ।
अतीतानां च सर्वेषां गुणदोषौ च तत्वतः ॥२॥
आयत्यां गुणदोषज्ञस्तदात्वे क्षिप्रनिश्चयः ।
अतीते कार्यशेषज्ञः शत्रुभिर्नाभिभूयते ॥३॥
यथैनं नाभिसंदध्युर्मित्रोदासीनशत्रवः ।
तथा सर्वं संविदध्यादेष सामासिको नयः ॥४॥ [मनु०][1]

---

१. मनु० ७।१७७–१८० ॥

नीति का जाननेवाला पृथिवीपति राजा जिस प्रकार इसके मित्र, उदासीन (=मध्यस्थ) और शत्रु अधिक न हों, ऐसे सब उपायों से वर्त्ते ॥१॥

सब कार्यों का वर्त्तमान में कर्त्तव्य और भविष्यत् में, जो-जो करना चाहिये, और जो-जो काम कर चुके, उन सबके यथार्थता से गुण-दोषों को विचारे[1] ॥२॥

पश्चात् दोषों के निवारण और गुणों की स्थिरता में यत्न करे। जो राजा भविष्यत् अर्थात् आगे करनेवाले कर्मों में गुण-दोषों का ज्ञाता, वर्त्तमान में तुरन्त निश्चय का कर्त्ता, और किये हुए कार्य्यों में शेष कर्तव्य को जानता है, वह शत्रुओं से पराजित कभी नहीं होता ॥३॥

सब प्रकार से राजपुरुष विशेष सभापति राजा ऐसा प्रयत्न करे, कि जिस प्रकार [उन] राजादि जनों के मित्र उदासीन और शत्रु [उन] को वश में करके अन्यथा न करावें। ऐसे मोह[2] में कभी न फसे। यही संक्षेप से नय[3] अर्थात् राजनीति कहाती है ॥४॥

कृत्वा विधानं मूले तु यात्रिकं च यथाविधि।
उपगृह्यास्पदं चैव चारान् सम्यग्विधाय च ॥१॥
संशोध्य त्रिविधं मार्गं षड्विधं च बलं स्वकम्।
सांपरायिककल्पेन यायादरिपुरं शनैः ॥२॥
शत्रुसेविनि मित्रे च गूढे युक्ततरो भवेत्।
गतप्रत्यागते चैव स हि कष्टतरो रिपुः ॥३॥
दण्डव्यूहेन तन्मार्गं यायात्तु शकटेन वा।
वराहमकराभ्यां वा सूच्या वा गरुडेन वा ॥४॥
यतश्च भयमाशंकेत्ततो विस्तारयेत् बलम्।
पद्मेन चैव व्यूहेन निविशेत सदा स्वयम् ॥५॥

---

१. मूलकोश का पाठ ऐसा है। भ. द.। सं. २ में 'को विचार करे' पाठ है।

२. अर्थात् मित्र आदि के मोह में इस प्रकार न फसें, जिससे मित्रादि उन को अपनी इच्छानुसार चला सकें। ३. सं २ में 'विनय' पाठ है।

सेनापतिबलाध्यक्षौ सर्वदिक्षु निवेशयेत् ।
यतश्च भयमाशङ्केत् प्राचीं तां कल्पयेद्दिशम् ॥६॥
गुल्मांश्च स्थापयेदाप्तान् कृतसंज्ञान् समन्ततः ।
स्थाने युद्धे च कुशलानभीरूनविकारिणः ॥७॥
संहतान् योधयेदल्पान् कामं विस्तारयेद् बहून् ।
सूच्या वज्रेण चैवैतान् व्यूहेन व्यूह्य योधयेत् ॥८॥
स्यन्दनाश्वैः समे युध्येदनूपे नौद्विपैस्तथा ।
वृक्षगुल्मावृते चापैरसिचर्मायुधैः स्थले ॥९॥
प्रहर्षयेद् बलं व्यूह्य तांश्च सम्यक् परीक्षयेत् ।
चेष्टाश्चैव विजानीयादरीन् योधयतामपि ॥१०॥
उपरुध्यारिमासीत राष्ट्रं चास्योपपीडयेत् ।
दूषयेच्चास्य सततं यवसान्नोदकेन्धनम् ॥११॥
भिन्द्याच्चैव तडागानि प्राकारपरिखास्तथा ।
समवस्कन्दयेच्चैनं रात्रौ वित्रासयेत्तथा ॥१२॥
प्रमाणानि च कुर्वीत तेषां धर्म्यान् यथोदितान् ।
रत्नैश्च पूजयेदेनं प्रधानपुरुषैः सह ॥१३॥
आदानमप्रियकरं दानञ्च प्रियकारकम् ।
अभीप्सितानामर्थानां काले युक्तं प्रशस्यते ॥१४॥ [मनु०][1]

जब राजा शत्रुओं के साथ युद्ध करने को जावे, तब अपने राज्य की रक्षा का प्रबन्ध, और यात्रा की सब सामग्री यथाविधि करके, सब सेना, यान, वाहन, शस्त्रास्त्रादि पूर्ण लेकर, सर्वत्र दूतों अर्थात् चारों ओर के समाचारों को देनेवाले पुरुषों को गुप्त स्थापन करके शत्रुओं की ओर युद्ध करने को जावे ॥१॥

तीन प्रकार के मार्ग, अर्थात् एक—स्थल(=भूमि)में, दूसरा—जल(=समुद्र वा नदियों)में, तीसरा—आकाश-मार्गों को शुद्ध बनाकर, भूमि-मार्ग में रथ अश्व हाथी, जल में नौका, और आकाश में विमानादि यानों से जावे। और पैदल, रथ, हाथी, घोड़े, शस्त्र और अस्त्र, खान-

१. मनु० ७।१८४-१९२, १९४-१९६, २०३, २०४।

पानादि सामग्री को यथावत् साथ ले बलयुक्त पूर्ण करके किसी निमित्त को प्रसिद्ध करके शत्रु के नगर के समीप धीरे-धीरे जावे ॥२॥

जो भीतर से शत्रु से मिला हो, और अपने साथ भी ऊपर से मित्रता रक्खे, गुप्तता से शत्रु को भेद देवे, उसके आने-जाने में, उससे बात करने में अत्यन्त सावधानी रक्खे। क्योंकि भीतर शत्रु ऊपर मित्र पुरुष को बड़ा शत्रु समझना चाहिये ॥३॥

सब राजपुरुषों को युद्ध करने की विद्या सिखावे, और आप सीखे, तथा अन्य प्रजाजनों को सिखावे। जो पूर्व-शिक्षित योद्धा होते हैं, वे ही अच्छे प्रकार लड़-लड़ा जानते हैं। जब शिक्षा करे, तब (दण्डव्यूह) दण्ड[1] के समान सेना को चलादे, (शकट) जैसा शकट अर्थात् गाड़ी के समान, (वराह) जैसे सुअर एक-दूसरे के पीछे दौड़ते जाते हैं, और कभी-कभी सब मिलकर झुण्ड हो जाते हैं वैसे, (मकर) जैसे मगर पानी में चलते हैं, वैसे सेना को बनावे। (सूचीव्यूह) जैसे सुई का अग्रभाग सूक्ष्म पश्चात् स्थूल और उससे सूत्र स्थूल होता है, वैसी शिक्षा से सेना को बनावे। [(गरुड़) जैसे] नीलकण्ठ ऊपर-नीचे झपट मारता है, इस प्रकार सेना को बनाकर लड़ावे ॥४॥

जिधर से[2] भय विदित हो, उसी ओर सेना को फैलावे। सब सेना के पतियों को चारों ओर रखके पद्मव्यूह अर्थात् पद्माकार चारों ओर से सेनाओं को रखके मध्य में आप रहै ॥५॥

सेनापति और बलाध्यक्ष अर्थात् आज्ञा का देने और सेना के साथ लड़ने-लड़ाने वाले वीरों को आठों दिशाओं में रक्खे। जिस ओर से लड़ाई होती हो, उसी ओर सब सेना का मुख रक्खे। परन्तु दूसरी ओर भी पक्का प्रबन्ध रक्खे, नहीं तो पीछे वा पार्श्व से शत्रु की घात होने का सम्भव होता है ॥६॥

जो गुल्म अर्थात् दृढ़ स्तम्भों के तुल्य, युद्धविद्या से सुशिक्षित, धार्मिक, स्थित होने और युद्ध करने में चतुर, भयरहित, और जिनके मन में किसी प्रकार का विकार न हो, उनको चारों ओर सेना के रक्खे ॥७॥

---

१. सं० २ में दंडा पाठ है। २. 'से' केवल मूल में। भ द

जो थोड़े पुरुषों से बहुतों के साथ युद्ध करना हो, तो मिलकर लड़ावे। और काम पड़े तो उन्हीं को झट फैला देवे। जब नगर दुर्ग वा शत्रु की सेना में प्रविष्ट होकर युद्ध करना हो, तब 'सूचीव्यूह'[1] अथवा 'वज्रव्यूह' जैसा दुधारा खड्ग दोनों ओर [काट करता है, वैसे] युद्ध करते जायें, और प्रविष्ट भी होते चलें। वैसे अनेक प्रकार के व्यूह अर्थात् सेना को बनाकर लड़ावे[2]।

जो सामने शतघ्नी (=तोप) वा भुशुण्डी (=बन्दूक) छूट रही हो, तो 'सर्पव्यूह' अर्थात् सर्प के समान सोते-सोते चले जायें। जब तोपों के पास पहुचें, तब उनको मार वा पकड़ तोपों का मुख शत्रु की ओर फेर उन्ही तोपों से वा बन्दूक आदि से उन शत्रुओं को मारें। अथवा वृद्ध पुरुषों को तोपों के मुख के सामने घोड़ों पर सवार करा दौड़ावें और मारें[3]। बीच में अच्छे-अच्छे सवार रहें। एक बार धावा कर शत्रु की सेना को छिन्न-भिन्न कर पकड़ लें अथवा भगा दें ॥८॥

जो समभूमि में युद्ध करना हो तो रथ घोड़े और पदातियों से, और जो समुद्र में युद्ध करना हो तो नौका, और थोड़े जल में हाथियों पर, वृक्ष और झाड़ी में बाण, तथा स्थल बालू में तलवार और ढाल से युद्ध करें-करावें ॥९॥

जिस समय युद्ध होता हो, उस समय लड़नेवालों को उत्साहित और हर्षित करें। जब युद्ध बन्द हो जाय, तब जिससे शौर्य और युद्ध में उत्साह हो, वैसे वक्तृत्वों से सबके चित्त को खान-पान, अस्त्र-शस्त्र, सहाय और औषधादि से प्रसन्न रक्खे। व्यूह के विना लड़ाई न करे न करावे। लड़ती हुई अपनी सेना की चेष्टा को देखा करे कि ठीक-ठीक लड़ती है वा कपट रखती है ॥१०॥

किसी समय उचित समझे, तो शत्रु को चारों ओर से घेरकर

---

१. सूचीव्यूह का स्वरूप श्लोक ४ की भाषा में दर्शाया है।

२. यहां से आगे का लेख मनु के अभिप्राय को विस्तार से दर्शाने के लिये है।

३. स्वदेश की रक्षा के लिये अति बलिदान की आवश्यकता हो, तो उस अवस्था में यह भी कर्तव्य है।

रोक रक्खे । और इसके राज्य को पीड़ित कर शत्रु के चारा अन्न जल और इन्धन को नष्ट [वा] दूषित कर दे[1] ॥११॥

शत्रु के तालाब, नगर के प्रकोट और खाई को तोड़-फोड़ दे । रात्रि में उसको त्रास(=भय)देवे, और जीतने का उपाय करे ॥१२॥

जीतकर उनके साथ प्रमाण अर्थात् प्रतिज्ञादि लिखा लेवे । और जो उचित समय समझे, तो उसी के वंशस्थ किसी धार्मिक पुरुष को राजा कर दे । और उससे लिखा लेवे कि तुमको हमारी आज्ञा के अनुकूल अर्थात् जैसी धर्मयुक्त राजनीति है, उसके अनुसार चलके न्याय से प्रजा का पालन करना होगा । ऐसे उपदेश करे, और ऐसे पुरुष उसके पास रक्खे कि जिससे पुनः उपद्रव न हो । और जो हार जाय, उसका सत्कार प्रधान पुरुषों के साथ मिलकर रत्नादि उत्तम पदार्थों के दान से करे । और ऐसा न करे कि जिससे उसका योगक्षेम भी न हो । जो उसको बन्दीगृह करे, तो भी उसका सत्कार यथायोग्य रक्खे । जिससे वह हारने के शोक से रहित होकर आनन्द में रहे ॥१३॥

क्योंकि संसार में दूसरे का पदार्थ ग्रहण करना अप्रीति, और देना प्रीति का कारण है । और विशेष करके समय पर उचित क्रिया करना, और उस पराजित के मनोवाञ्छित पदार्थों का देना बहुत उत्तम है । और कभी उसको चिढ़ावे नहीं, न हंसी और ठट्ठा करे । न उसके सामने 'हमने तुझको पराजित किया है' ऐसा भी कहै । किन्तु 'आप हमारे भाई हैं' इत्यादि मान्य-प्रतिष्ठा सदा करे ॥१४॥

हिरण्यभूमिसंप्राप्त्या पार्थिवो न तथैधते ।
यथा मित्रं ध्रुवं लब्ध्वा कृशमप्यायतिक्षमम् ॥१॥
धर्मज्ञं च कृतज्ञं च तुष्टप्रकृतिमेव च ।
अनुरक्तं स्थिरारम्भं लघुमित्रं प्रशस्यते ॥२॥
प्राज्ञं कुलीनं शूरं च दक्षं दातारमेव च ।
कृतज्ञं धृतिमन्तञ्च कष्टमाहुररिं बुधाः ॥३॥

---

१. इस और अगले श्लोक में विहित कार्य अधार्मिकों के साथ युद्ध में अपेक्षित है । **'शठे शाठ्यं समाचरेत्'** धर्म-युद्ध में कर्तव्य नहीं है ।

आर्यता पुरुषज्ञानं शौर्यं करुणवेदिता ।
स्थौललक्ष्यं च सततमुदासीनगुणोदयः ॥४॥ मनु०[1]

मित्र का लक्षण यह है[2]—राजा सुवर्ण और भूमि की प्राप्ति से वैसा नहीं बढ़ता कि जैसे निश्चल-प्रेमयुक्त, भविष्यत् की बातों को सोचने, और कार्य सिद्ध करनेवाले समर्थ मित्र अथवा दुर्बल मित्र को भी प्राप्त होके बढ़ता है ॥१॥

धर्म को जानने, और कृतज्ञ अर्थात् किये हुए उपकार को सदा मानने वाले, प्रसन्न-स्वभाव, अनुरागी, स्थिरारम्भी लघु=छोटे भी मित्र को प्राप्त होकर प्रशंसित होता है ॥२॥

सदा इस बात को दृढ़ रक्खे कि—कभी बुद्धिमान्, कुलीन, शूरवीर, चतुर, दाता, किये हुए को जाननेहारे, और धैर्यवान् पुरुष को शत्रु न बनावे। क्योंकि जो ऐसे को शत्रु बनावेगा, वह दुःख पावेगा ॥३॥

उदासीन का लक्षण—जिसमें प्रशंसित गुणयुक्त[ता], अच्छे-बुरे मनुष्यों का ज्ञान, शूरवीरता और करुणा भी [हो], स्थूललक्ष्य अर्थात् ऊपर-ऊपर की बातों को निरन्तर सुनाया करे, वह 'उदासीन' कहाता है ॥४॥

एवं सर्वमिदं राजा सह संमन्त्र्य मन्त्रिभिः ।
व्यायाम्याप्लुत्य मध्याह्ने भोक्तुमन्तः पुरं विशेत् ॥१॥ [मनु०][3]

पूर्वोक्त प्रातःकाल[4] [के] समय उठ, शौचादि सन्ध्योपासन अग्निहोत्र कर वा करा, सब मन्त्रियों से विचार कर, सभा में जा, सब भृत्य और सेनाध्यक्षों के साथ मिल, उनको हर्षित कर, नाना प्रकार की व्यूहशिक्षा अर्थात् कवायद कर-करा, सब घोड़े-हाथी-गाय आदि [के] स्थान, शस्त्र और अस्त्र का कोश, तथा वैद्यालय, धन के कोशों

१. मनु० ७।२०८-२११ ॥

२. मित्र का लक्षण प्रथम श्लोक में विशेषरूप से द्वितीय श्लोक में दर्शाया है।

३. मनु० ७।२१६ ॥ ४. अर्थात् ब्राह्ममुहूर्त ।

को देख, सब पर दृष्टि नित्यप्रति देकर, जो कुछ उनमें खोट[1] हों उनको निकाल, व्यायामशाला में जा व्यायाम करके, [मध्याह्न समय] भोजन के लिये 'अन्तःपुर' अर्थात् पत्नी आदि के निवासस्थान में प्रवेश करे। और भोजन सुपरीक्षित, बुद्धिबलपराक्रमवर्द्धक, रोग-विनाशक, अनेक प्रकार के अन्न व्यंजन पान आदि, सुगन्धित मिष्टादि अनेक रसयुक्त उत्तम करे, कि जिससे सदा सुखी रहै। इस प्रकार सब राज्य के कार्य्यों की उन्नति किया करे ॥१॥

प्रजा से कर लेने का प्रकार—

पञ्चाशद् भाग आदेयो राज्ञा पशुहिरण्ययोः ।
धान्यानामष्टमो भागः षष्ठो द्वादश एव वा ॥१॥ [मनु०][2]

जो व्यापार करनेवाले वा शिल्पी को सुवर्ण और चांदी का जितना लाभ हो, उसमें से पचासवा भाग, चावल आदि अन्नों में छठा आठवां वा बारहवां भाग लिया करे। और जो धन[3] लेवे तो भी उस प्रकार से लेवे कि जिससे किसान आदि खाने-पीने और धन से रहित होकर दुःख न पावें ॥१॥

क्योंकि प्रजा के धनाढ्य, आरोग्य, खान-पान आदि से सम्पन्न रहने पर राजा की बड़ी उन्नति होती है। प्रजा को अपने सन्तान के सदृश सुख देवे। और प्रजा अपने पिता [के] सदृश राजा और राजपुरुषों को जाने।

यह बात ठीक है कि **राजाओं के राजा किसान आदि परिश्रम करनेवाले हैं, और राजा उनका रक्षक है।** जो प्रजा न हो तो राजा किसका? और राजा न हो तो प्रजा किसकी कहावे? दोनों अपने-अपने काम में स्वतन्त्र, और मिले हुए प्रीतियुक्त काम में परतन्त्र रहैं। प्रजा की साधारण[4] सम्मति के विरुद्ध राजा वा राज-पुरुष न हों। राजा की आज्ञा के विरुद्ध राजपुरुष वा प्रजा न चले। यह राज का राजकीय निज काम, अर्थात् जिसको 'पोलिटिकल'

---

१. अर्थात् कमियां। २. मनु० ७।१३०॥
३. अर्थात् अन्न न लेकर कर-रूप में रुपया लेवे।
४. अर्थात सर्वसम्मत।

कहते हैं, संक्षेप से कह दिया। अब जो विशेष देखना चाहे, वह **चारों वेद, मनुस्मृति, शुक्रनीति, महाभारतादि** में देखकर निश्चय करे।

और जो प्रजा का न्याय करना है, वह व्यवहार मनुस्मृति के अष्टम और नवमाध्याय आदि की रीति से करना चाहिये। परन्तु यहां भी संक्षेप में लिखते हैं—

प्रत्यहं देशदृष्टैश्च शास्त्रदृष्टैश्च हेतुभिः।
अष्टादशसु मार्गेषु निबद्धानि पृथक् पृथक् ॥१॥
तेषामाद्यमृणादानं निक्षेपोऽस्वामिविक्रयः।
संभूय च समुत्थानं दत्तस्यानपकर्म च ॥२॥
वेतनस्यैव चादानं संविदश्च व्यतिक्रमः।
क्रयविक्रयानुशयो विवादः स्वामिपालयोः ॥३॥
सीमाविवादधर्मश्च पारुष्ये दण्डवाचिके।
स्तेयं च साहसं चैव स्त्रीसङ्ग्रहणमेव च ॥४॥
स्त्रीपुंधर्मो विभागश्च द्यूतमाह्वय एव च।
पदान्यष्टादशैतानि व्यवहारस्थिताविह ॥५॥
एषु[1] स्थानेषु भूयिष्ठं विवादं चरतां नृणाम्।
धर्मं शाश्वतमाश्रित्य कुर्यात् कार्यविनिर्णयम् ॥६॥
धर्मो विद्धस्त्वधर्मेण सभां यत्रोपतिष्ठते।
शल्यं चास्य न कृन्तन्ति विद्धास्तत्र सभासदः ॥७॥
सभा वा न प्रवेष्टव्या[2] वक्तव्यं वा समंजसम्।
अब्रुवन् विब्रुवन् वापि नरो भवति किल्बिषी ॥८॥

---

१. संस्करण २ में 'तेषु' पाठ है।

२. यही पाठ मेधातिथि के भाष्य में है। अन्यत्र **'सभां वा न प्रवेष्टव्यम्'** पाठ है। यही पाठ सं० विधि पृष्ठ २५२ (सं. ३, रालाकट्र०) में उद्धृत है। मेधातिथि ने उक्त पाठ की जो व्याख्या की है, उसका भाव इस प्रकार है—राजसभा के व्यवहार देखने का अधिकार किसी को नहीं देना चाहिये। यदि किसी को अधिकार मिल गया हो, तो यथार्थ कहना चाहिये। अर्थात् भाषण में अनधिकृत को भी अयुक्तविचार प्रकट करने वाले सभ्यों के मध्य मौन नहीं रहना चाहिये। यह आदेश नारदीय मनुस्मृति (३।२) में दिया है—**'नियुक्तोऽनियुक्तो वा धर्मज्ञो वक्तुमर्हति।'**

यत्र धर्मो ह्यधर्मेण सत्यं यत्रानृतेन च।
हन्यते प्रेक्षमाणानां हतास्तत्र सभासदः ॥९॥
धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः।
तस्माद्धर्मो न हन्तव्यो मा नो धर्मो हतोऽवधीत् ॥१०॥
वृषो हि भगवान् धर्मस्तस्य यः कुरुते ह्यलम्।
वृषलं तं विदुर्देवास्तस्माद्धर्मं न लोपयेत् ॥११॥
एक एव सुहृद्धर्मो निधनेऽप्यनुयाति यः।
शरीरेण समं नाशं सर्वमन्यद्धि गच्छति ॥१२॥
पादोऽधर्मस्य[1] कर्त्तारं पादः साक्षिणमृच्छति।
पादः सभासदः सर्वान् पादो राजानमृच्छति ॥१३॥
राजा भवत्यनेनास्तु मुच्यन्ते च सभासदः।
एनो गच्छति कर्त्तारं निन्दार्हो यत्र निन्द्यते ॥१४॥ मनु०[2]

सभा राजा और राजपुरुष सब लोग देशाचार और शास्त्र-व्यवहार हेतुओं से निम्नलिखित अठारह विवादास्पद मार्गों में विवाद-युक्त कर्मों का निर्णय प्रतिदिन किया करें। और जो-जो नियम शास्त्रोक्त न पावें, और उनके होने की आवश्यकता जानें, तो उत्तमोत्तम नियम बांधें कि जिससे राजा और प्रजा की उन्नति हो ॥१॥

अठारह मार्ग ये हैं—उनमें से १. (ऋणादान) किसी से ऋण लेने-देने का विवाद। २. (निक्षेप) धरावट, अर्थात् किसी ने किसी के पास पदार्थ धरा हो और मांगे पर न देना। ३ (अस्वामिविक्रय) दूसरे के पदार्थ को दूसरा बेच लेवे। ४. (संभूय च समुत्थानम्) मिल-मिलाके किसी पर अत्याचार करना। ५. (दत्तस्यानपकर्म्म च) दिये हुए पदार्थ का न देना ॥२॥

६. (वेतनस्यैव चादानम्) वेतन अर्थात् किसी की नौकरी में से ले लेना वा कम देना [अथवा न देना][3]। ७. (संविदश्च व्यति-

१. मनु में मुद्रित पाठ **'पादो धर्मस्य'** है। व्याख्याकार सभी 'अधर्मस्य' पाठ की व्याख्या करते हैं।

२. मनु० ८।३-८, १२-१९॥

३. यह पाठ सं. २ में नहीं है। सं. ३४ में है।

क्रमः[१]) प्रतिज्ञा से विरुद्ध वर्तना। ८. (क्रयविक्रयानुशयः) अर्थात् लेन-देन में झगड़ा होना। ९. [(विवादः स्वामि०)] पशु के स्वामी और पालनेवाले का झगड़ा ॥३॥

१०. सीमा का विवाद। ११. किसी को कठोर दण्ड देना। १२. कठोर वाणी का बोलना। १३. चोरी-डाका मारना। १४. किसी काम को बलात्कार से करना। १५. किसी की स्त्री वा पुरुष का व्यभिचार होना ॥४॥

१६. स्त्री और पुरुष के धर्म में व्यतिक्रम होना। १७. विभाग अर्थात् दायभाग में वाद उठना[२]। १८. द्यूत अर्थात् जड़ पदार्थ और समाह्वय अर्थात् चेतन को दाव में धरके जुआ खेलना। ये अठारह प्रकार के परस्पर विरुद्ध व्यवहार के स्थान हैं ॥५॥

इन व्यवहारों में बहुत-से विवाद करनेवाले पुरुषों के न्याय को सनातन धर्म के आश्रय करके किया करे, अर्थात् किसी का पक्षपात कभी न करे ॥६॥

जिस सभा में अधर्म से घायल होकर धर्म उपस्थित होता है, जो उसका शल्य अर्थात् तीरवत् धर्म के कलङ्क को निकालना, और अधर्म का छेदन नहीं करते, अर्थात् धर्मी को[३] मान [और] अधर्मी को दण्ड नहीं मिलता, उस सभा में जितने सभासद् हैं, वे सब घायल के समान समझे जाते हैं ॥७॥

धार्मिक मनुष्य को योग्य है कि सभा में कभी प्रवेश न करे। और जो प्रवेश किया हो, तो सत्य ही बोले। जो कोई सभा में अन्याय होते हुए को देखकर मौन रहै, अथवा सत्य न्याय के विरुद्ध बोले, वह महापापी होता है ॥८॥

जिस सभा में अधर्म से धर्म, असत्य से सत्य सब सभासदों के देखते हुए मारा जाता है, उस सभा में सब मृतक के समान हैं। जानो उनमें कोई भी नहीं जीता ॥९॥

---

१. यहां सभी संस्करणों में '(प्रतिज्ञा)' पाठ है। मनु के श्लोक में **'संविदश्च व्यतिक्रमः'** पाठ होने से हमने मनु का पाठ रखा है।
२. सं० २ में 'उठाना' पाठ है। ३. स २ में 'का' पाठ है।

मरा हुआ धर्म मारनेवाले का नाश, और रक्षित किया हुआ धर्म रक्षक की रक्षा करता है। इसलिये धर्म का हनन कभी न करना, इस डर से कि मारा हुआ धर्म कभी हमको न मार डाले[1] ॥१०॥

जो सब ऐश्वर्यों के देने और सुखों की वर्षा करनेवाला धर्म है उसका लोप करता है, उसीको विद्वान् लोग वृषल अर्थात् शूद्र और नीच जानते हैं। इसलिये किसी मनुष्य को धर्म का लोप करना उचित नहीं ॥११॥

इस संसार में एक धर्म ही सुहृद् है, जो मृत्यु के पश्चात् भी साथ चलता है। और सब पदार्थ वा संगी शरीर के नाश के साथ ही नाश को प्राप्त होते हैं। अर्थात् सब [का] संग छूट जाता है, परन्तु धर्म का संग कभी नहीं छूटता ॥१२॥

जब राजसभा में पक्षपात से अन्याय किया जाता है, वहां अधर्म के चार विभाग हो जाते हैं। उनमें से एक अधर्म के कर्त्ता, दूसरा साक्षी, तीसरा सभासदों, और चौथा पाद अधर्मी सभा के सभापति राजा को प्राप्त होता है ॥१३॥

जिस सभा में निन्दा के योग्य की निन्दा, स्तुति के योग्य की स्तुति, दण्ड के योग्य को दण्ड और मान्य के योग्य का मान्य होता है, वहां राजा और सब सभासद् पाप से रहित और पवित्र हो जाते हैं। पाप के कर्त्ता ही को पाप प्राप्त होता है ॥१४॥

अब साक्षी[2] कैसे करने चाहियें—

आप्ताः सर्वेषु वर्णेषु कार्य्याः कार्येषु साक्षिणः ।
सर्वधर्मविदोऽलुब्धा विपरीतांस्तु वर्जयेत् ॥१॥
स्त्रीणां साक्ष्यं स्त्रियः कुर्युर्द्विजानां सदृशा द्विजाः ।
शूद्राश्च सन्तः शूद्राणामन्त्यानामन्त्ययोनयः ॥२॥
साहसेषु च सर्वेषु स्तेयसंग्रहणेषु च ।
वाग्दण्डयोश्च पारुष्ये न परीक्षेत साक्षिणः ॥३॥

---

१. सं. २ में 'डालो' पाठ है। २. सं. २ में 'साक्ष' पाठ है। हिन्दी में 'साक्ष्य' अर्थ में 'साक्षी' शब्द का प्रयोग अशुद्ध है।

बहुत्वं परिगृह्णीयात् साक्षिद्वैधे नराऽधिपः ।
समेषु तु गुणोत्कृष्टान् गुणिद्वैधे[1] द्विजोत्तमान् ॥४॥
समक्षदर्शनात् साक्ष्यं श्रवणाच्चैव सिध्यति ।
तत्र सत्यं ब्रुवन् साक्षी धर्मार्थाभ्यां न हीयते ॥५॥
साक्षी दृष्टश्रुतादन्यद् विब्रुवन्नार्य्यसंसदि ।
अवाङ्नरकमभ्येति प्रेत्य स्वर्गाच्च हीयते ॥६॥
स्वभावेनैव यद् ब्रुयुस्तद् ग्राह्यं व्यावहारिकम् ।
अतो यदन्यद्विब्रूयुर्धर्मार्थं तदपार्थकम् ॥७॥
सभान्तः साक्षिणः प्राप्तानर्थिप्रत्यर्थिसन्निधौ ।
प्राड्विवाकोऽनुयुञ्जीत विधिनाऽनेन[2] सान्त्वयन् ॥८॥
यद् द्वयोरनयोर्वेत्थ कार्येऽस्मिन् चेष्टितं मिथः ।
तद् ब्रूत सर्वं सत्येन युष्माकं ह्यत्र साक्षिता ॥९॥
सत्यं साक्ष्ये ब्रुवन्साक्षी लोकानाप्नोति पुष्कलान् ।
इह चानुत्तमां कीर्तिं वागेषा ब्रह्मपूजिता ॥१०॥
सत्येन पूयते साक्षी धर्मः सत्येन वर्द्धते ।
तस्मात् सत्यं हि वक्तव्यं सर्ववर्णेषु साक्षिभिः ॥११॥
आत्मैव ह्यात्मनः साक्षी गतिरात्मा तथात्मनः ।
मावमंस्थाः स्वमात्मानं नृणां साक्षिणमुत्तमम् ॥१२॥
यस्य विद्वान् हि वदतः क्षेत्रज्ञो नाभिशङ्कते ।
तस्मान्न देवाः श्रेयांसं लोकेऽन्यं पुरुषं विदुः ॥१३॥
एकोऽहमस्मीत्यात्मानं यत्त्वं कल्याण मन्यसे ।
नित्यं स्थितस्ते हृद्येषः पुण्यपापेक्षिता मुनिः ॥१४॥ मनु०[3]

सब वर्णों में धार्मिक, विद्वान्, निष्कपटी, सब प्रकार धर्म को जाननेवाले, लोभरहित, सत्यवादी को न्यायव्यवस्था में साक्षी करे। इससे विपरीतों को कभी न करे ॥१॥

---

१. सं. २-३२ तक 'गुणद्वैधे' अपपाठ है। भावार्थ 'गुणिद्वैधे' का स्पष्ट है।
२. यही पाठ मेधातिथि का है। अन्यत्र 'तेन' अपपाठ है।
३. मनु० ८।६३, ६८, ७२-७५, ७८-८१, ८३, ८४, ८६, ९१ ॥

स्त्रियों की साक्षी स्त्री, द्विजों के द्विज, शूद्रों के शूद्र, और अन्त्यजों के अन्त्यज साक्षी हों ॥२॥

जितने बलात्कार काम, चोरी, व्यभिचार, कठोर वचन, दण्ड-निपातनरूप अपराध हैं, उनमें साक्षी की परीक्षा न करे। और अत्यावश्यक भी [न] समझे, क्योंकि ये काम सब गुप्त होते हैं ॥३॥

दोनों ओर के साक्षियों में से बहुपक्षानुसार, तुल्य साक्षियों में उत्तमगुणी पुरुष की साक्षी के अनुकूल, और दोनों के साक्षी उत्तम-गुणी और तुल्य हों तो द्विजोत्तम, अर्थात् ऋषि-महर्षि और यतियों की साक्षी के अनुसार न्याय करे ॥४॥

दो प्रकार से साक्षी होना सिद्ध होता है—एक साक्षात् देखने, और दूसरा सुनने से। जब सभा में पूछें तब जो साक्षी सत्य बोलें, वे धर्महीन और दण्ड के योग्य न होवें। और जो साक्षी मिथ्या बोलें, वे यथायोग्य दण्डनीय हों ॥५॥

जो राजसभा वा किसी उत्तम पुरुषों की सभा में साक्षी देखने और सुनने से विरुद्ध बोले, तो वह अवाङ्नरक अर्थात् जिह्वा के छेदन से दुःख-रूप नरक को वर्त्तमान समय में प्राप्त होवे, और मरे पश्चात् सुख से हीन हो जाय ॥६॥

साक्षी के उस वचन को मानना कि जो स्वभाव ही से व्यवहार-सम्बन्धी बोले। और [1]इससे भिन्न सिखाये हुए जो-जो वचन बोले, उस-उसको न्यायाधीश व्यर्थ समझे ॥७॥

जब अर्थी (वादी) और प्रत्यर्थी (प्रतिवादी) के सामने सभा के समीप प्राप्त हुए साक्षियों को शान्तिपूर्वक न्यायाधीश और प्राड्-विवाक अर्थात् वकील वा बैरिस्टर इस प्रकार से पूछें—॥८॥

हे साक्षिलोगो ! इस कार्य में इन दोनों के परस्पर कर्मों में जो तुम जानते हो, उसको सत्य के साथ बोलो। क्योंकि तुम्हारी इस कार्य में साक्षी है ॥९॥

जो साक्षी सत्य बोलता है, वह जन्मान्तर में उत्तम जन्म और

---

१. सं. २ में 'सिखाये हुए इससे भिन्न जो २' पाठ व्यतिक्रम से है।

उत्तम लोकान्तरों में जन्म को प्राप्त होके सुख भोगता है। इस जन्म वा परजन्म में उत्तम कीर्ति को प्राप्त होता है। क्योंकि जो यह वाणी है, वही वेदों में सत्कार और तिरस्कार का कारण लिखी है। जो सत्य बोलता है वह प्रतिष्ठित, और मिथ्यावादी निन्दित होता है ॥१०॥

सत्य बोलने से साक्षी पवित्र होता, और सत्य ही बोलने से धर्म बढ़ता है। इससे सब वर्णों में साक्षियों को सत्य ही बोलना योग्य है ॥११॥

आत्मा का साक्षी आत्मा, और आत्मा की गति आत्मा है। इसको जानके हे पुरुष! तू सब मनुष्यों का उत्तम साक्षी अपने आत्मा का अपमान मत कर। अर्थात् सत्यभाषण जो कि तेरे आत्मा-मन-वाणी में है वह सत्य, और जो इससे विपरीत है वह मिथ्याभाषण है ॥१२॥

जिस बोलते हुए पुरुष का विद्वान् क्षेत्रज्ञ, अर्थात् शरीर का जाननेहारा आत्मा भीतर शंका को प्राप्त नहीं होता, उससे भिन्न विद्वान् लोग किसी को उत्तम पुरुष नहीं जानते ॥१३॥

हे कल्याण की इच्छा करनेहारे पुरुष! जो तू 'मैं अकेला हूं' ऐसा अपने आत्मा में जानकर मिथ्या बोलता है, सो ठीक नहीं है। किन्तु जो दूसरा तेरे हृदय में अन्तर्यामीरूप से परमेश्वर पुण्य-पाप का देखनेवाला मुनि स्थित है, उस परमात्मा से डरकर सदा सत्य बोला कर ॥१४॥

लोभान्मोहाद् भयान्मैत्रात् कामात् क्रोधात्तथैव च।
अज्ञानाद् बालभावाच्च साक्ष्यं वितथमुच्यते ॥१॥
एषामन्यतमे स्थाने यः साक्ष्यमनृतं वदेत्।
तस्य दण्डविशेषांस्तु प्रवक्ष्याम्यनुपूर्वशः ॥२॥
लोभात् सहस्रं दण्ड्यस्तु मोहात् पूर्वं तु साहसम्।
भयाद् द्वौ मध्यमौ दण्ड्यौ मैत्रात् पूर्वं चतुर्गुणम् ॥३॥
कामाद् दशगुणं पूर्वं क्रोधात्तु त्रिगुणं परम्।
अज्ञानाद् द्वे शते पूर्णे बालिश्याच्छतमेव तु ॥४॥

उपस्थमुदरं जिह्वा हस्तौ पादौ च पञ्चमम् ।
चक्षुर्नासा च कर्णौ च धनं देहस्तथैव च ॥५॥
अनुबन्धं परिज्ञाय देशकालौ च तत्त्वतः ।
साराऽपराधौ चालोक्य दण्डं दण्ड्येषु पातयेत् ॥६॥
अधर्मदण्डनं लोके यशोघ्नं कीर्त्तिनाशनम् ।
अस्वर्ग्यञ्च परत्रापि तस्मात्तत् परिवर्जयेत् ॥७॥
अदण्ड्यान् दण्डयन् राजा दण्ड्यांश्चैवाप्यदण्डयन् ।
अयशो महदाप्नोति नरकं चैव गच्छति ॥८॥
वाग्दण्डं प्रथमं कुर्याद्धिग्दण्डं तदनन्तरम् ।
तृतीयं धनदण्डं तु वधदण्डमतः परम् ॥९॥ मनु०[1]

जो लोभ, मोह, भय, मित्रता, काम, क्रोध, अज्ञान और बालकपन से साक्षी देवे, वह सब मिथ्या समझी जावे ॥१॥

इनमें से किसी स्थान[2] में साक्षी झूठ बोले, उसको वक्ष्यमाण अनेकविध दण्ड किया करे—॥२॥

जो लोभ से झूठी साक्षी देवे, तो उससे १५॥=) (पन्द्रह रुपये दश आने)[3] दण्ड लेवे। जो मोह से झूठी साक्षी देवे, उससे ३=) (तीन रुपये दो आने)[4] दण्ड लेवे। जो भय से मिथ्या साक्षी देवे, उससे ६।) (सवा छः रुपये)[5] दण्ड लेवे। और जो पुरुष मित्रता से झूठी साक्षी

---

१. मनु० ८।११८-१२१, १२५-१२९ ॥

२. सं. २ में 'भिन्न स्थान' अपपाठ है।

३. यह धन का निर्देश श्लोक में पठित 'सहस्र' पद का अर्थ १००० पैसे, और एक रुपये में ६४ पैसे (पुराने व्यवहार के अनुसार) की गणना से दिया है। आगे भी इसी प्रकार जानना चाहिये।

४. मनु के '**पणानां द्वे शते सार्धे प्रथमः साहसः स्मृतः** (८।१३८) श्लोक के अनुसार २५० पैसे अर्थात् ३॥।=)॥ तीन रुपये साढे चौदह आने दण्ड देना चाहिये। प्रतीत होता है यहां उक्त श्लोक में पठित '**सार्धे**' का अभिप्राय गणना में छूट गया है, केवल २०० पैसे=३=) लिखा गया।

५. यहां भी पूर्व भूल के कारण अशुद्धि हुई है। मनु० के '**मध्यमः पञ्च विज्ञेयः**' (८।१३८) के अनुसार ५०० पैसे मध्यम ७॥।-) सात रुपये तेरह आने

देवे, उससे १२॥) (साढ़े बारह रुपये)[1] दण्ड लेवे ॥३॥

जो पुरुष कामना से मिथ्या साक्षी देवे, उससे २५) (पच्चीस रुपये)[2] दण्ड लेवे। जो पुरुष क्रोध से झूठी साक्षी देवे, उससे ४६॥=) (छयालीस रुपये चौदह आने)[3] दण्ड लेवे। जो पुरुष अज्ञानता से झूठी साक्षी देवे, उससे ६) (छ: रुपये)[4] दण्ड लेवे। और जो बालकपन से मिथ्या साक्षी देवे, तो उससे १॥-) (एक रुपया नौ आने) दण्ड लेवे ॥४॥

गड के उपस्थेन्द्रिय, उदर, जिह्वा, हाथ, पग, आंख, नाक, कान, धन और देह ये दश स्थान हैं, कि जिन पर दण्ड दिया जाता है ॥५॥

परन्तु जो-जो दण्ड लिखा है और लिखेंगे, जैसे लोभ से साक्षी

दण्ड होता है। **द्वौ मध्यमौ** का अर्थ होगा १००० पैसे अर्थात् १५॥=) पन्द्रह रुपये दस आने। यही संख्या यहां होनी चाहिये।

१. यहां भी पूर्व भूल के कारण ३=) का चतुर्गुण १२॥) साढ़े बारह रुपया लिखा गया है, जब कि २५० की चतुर्गुण १००० पैसा=१५॥=) पन्द्रह रुपये दस आने होना चाहिए।

२. य पूर्व दण्ड को दुगना कर देने से भूल हुई है। मनु० के श्लोकानुसार प्रथम साहस दण्ड २५० पैसे का दस गुना २५०० पैसे अर्थात् ३९-) उनतालीस रुपया एक आना दण्ड होना चाहिये।

विशेष—लोभ मोह भय मैत्री और काम से झूठ साक्ष्य देने पर जो दण्ड मूल पाठ में छपा है, वह ३२ सं. तक वैसा ही छपता रहा (३३ वां हमारे पास नहीं है)। ३४ वें सं. में इन सब को शुद्ध करके वही दण्ड छापा है, जो हमने यहां दर्शाया है। यह संशोधन सम्भवत: ३४ वें सं. में पं० धर्मचन्द कोठारी ने किया है।

३. 'परं' का अर्थ उत्तम साहस दण्ड १००० पैसे के अनुसार यह ठीक है। मेधातिथि ने पक्षान्तर में 'परं' का अर्थ प्रकृत प्रथम साहस दण्ड से उत्तर अर्थात् मध्यम साहस दण्ड दर्शाया है। तदनुसार ५००×३=१५०० पैसा=२३।≡) तैईस रुपये सात आने होता है।

४. यहां भी **द्वे शते पूर्णे** के अनुसार २०० पैसे=३=) तीन रुपये दो आने दण्ड होना चाहिये। यहां भी सं. ३४ में 'छ रुपये' के स्थान में '३=) (तीन रुपये दो आने)' पाठ संशोधक ने बनाया है।

देने में पन्द्रह रुपये दश आने दण्ड लिखा है, परन्तु जो अत्यन्त निर्धन हो तो उससे कम, और धनाढ्य हो तो उससे दूना तिगुना और चौगुना तक भी ले लेवे। अर्थात् जैसा देश जैसा काल और जैसा पुरुष हो, उसका जैसा अपराध हो वैसा ही दण्ड करे ॥६॥

क्योंकि इस संसार में जो अधर्म से दण्ड करना है, वह पूर्व प्रतिष्ठा वर्तमान और भविष्यत् में और परजन्म[1] में होनेवाली कीर्ति का नाश करनेहारा है। और पर-जन्म में भी दुःखदायक होताहै, इसलिये अधर्मयुक्त दण्ड किसी पर न करे ॥७॥

जो राजा दण्डनीयों को न दण्ड और अदण्डनीयों को दण्ड देता है[2], अर्थात् दण्ड देने योग्य को छोड़ देता, और जिसको दण्ड देना न चाहिये उसको दण्ड देता है, वह जीता हुआ बड़ी निन्दा को, और मरे पीछे बड़े दुःख को प्राप्त होता है। इसलिये जो अपराध करे उसको सदा दण्ड देवे, और अनपराधी को दण्ड कभी न देवे ॥८॥

प्रथम वाणी का दण्ड अर्थात् उसकी 'निन्दा', दूसरा 'धिक्' दण्ड अर्थात् तुझको धिक्कार है तूने ऐसा बुरा काम क्यों किया? तीसरा उससे 'धन लेना', और [चौथा] 'वध' दण्ड अर्थात् उसको कोड़ा वा बेंत से मारना वा शिर काट देना ॥९॥

येन येन यथाङ्गेन स्तेनो नृषु विचेष्टते।
तत्तदेव हरेदस्य[3] प्रत्यादेशाय पार्थिवः ॥१॥
पिताचार्यः सुहृन्माता भार्या पुत्रः पुरोहितः।
नादण्ड्यो नाम राज्ञोऽस्ति यः स्वधर्मे न तिष्ठति ॥२॥
कार्षापणं भवेद् दण्ड्यो यत्रान्यः प्राकृतो जनः।
तत्र राजा भवेद् दण्ड्यः सहस्रमिति धारणा ॥३॥
अष्टापाद्यन्तु शूद्रस्य स्तेये भवति किल्बिषम्।
षोडशैव तु वैश्यस्य द्वात्रिंशत् क्षत्रियस्य च ॥४॥

---

१. यहां 'मृत्यु के पश्चात्' पाठ उचित है, क्यों कि 'परजन्म में दुःख-दायक' होने का निर्देश आगे किया है। पूर्वपठित 'भविष्यत्' से इसी जन्म के 'भविष्यत्' का तात्पर्य जानना चाहिये।

२. यहां भाषार्थ में श्लोक के द्वितीय चरण का अर्थ पहले और प्रथम का आगे किया गया है।

३. मनु० में 'हरेत्तस्य' पाठ है।

ब्राह्मणस्य चतुःषष्टिः पूर्णं वापि शतं भवेत् ।
द्विगुणा वा चतुःषष्टिस्तद्दोषगुणविद्धि सः ॥५॥
ऐन्द्रं स्थानमभिप्रेप्सुर्यशश्चाक्षयमव्ययम् ।
नोपेक्षेत क्षणमपि राजा साहसिकं नरम् ॥६॥
वाग्दुष्टात्तस्कराच्चैव दण्डेनैव च हिंसतः ।
साहसस्य नरः कर्त्ता विज्ञेयः पापकृत्तमः ॥७॥
साहसे वर्त्तमानन्तु यो मर्षयति पार्थिवः ।
स विनाशं व्रजत्याशु विद्वेषं चाधिगच्छति ॥८॥
न मित्रकारणाद्राजा विपुलाद्वा धनागमात् ।
समुत्सृजेत्[1] साहसिकान् सर्वभूतभयावहान् ॥९॥
गुरुं वा बालवृद्धौ वा ब्राह्मणं वा बहुश्रुतम् ।
आततायिनमायान्तं हन्यादेवाविचारयन् ॥१०॥
नाततायिवधे दोषो हन्तुर्भवति कश्चन ।
प्रकाशं वाऽप्रकाशं वा मन्युस्तन्मन्युमृच्छति ॥११॥
यस्य स्तेनः पुरे नास्ति नान्यस्त्रीगो न दुष्टवाक् ।
न साहसिकदण्डघ्नौ स राजा शक्रलोकभाक् ॥१२॥ मनु०[2]

चोर जिस प्रकार जिस-जिस अङ्ग से मनुष्यों में विरुद्ध चेष्टा करता है, उस-उस अङ्ग को सब मनुष्यों की शिक्षा के लिए राजा हरण अर्थात् छेदन करदे ॥१॥

चाहे पिता, आचार्य, मित्र, स्त्री, पुत्र और पुरोहित क्यों न हो, जो स्वधर्म में स्थित नहीं रहता, वह राजा का अदण्ड्य नहीं होता। अर्थात् जब राजा न्यायासन पर बैठ न्याय करे, तब किसी का पक्षपात न करे, किन्तु यथोचित दण्ड देवे ॥२॥

जिस अपराध में साधारण मनुष्य पर एक पैसा दण्ड हो, उसी

---

१. सं० २ में 'समुत्सृजेत्' अपपाठ है। औत्सर्गिक शप् विकरण में भी 'समुत्सर्जेत्' शुद्ध होगा। शबन्त पाठ श्लोक में अनन्वित है। अथवा 'छन्दो वत्कवयः कुर्वन्ति' न्यायानुसार लेट् का प्रयोग कथंचित् सम्भव हो सकता है।

२. मनु० ८।३३४-३३८, ३४४-३४७, ३५०, ३५१, ३८६ ॥

अपराध में राजा को सहस्र पैसा दण्ड होवे। अर्थात् साधारण मनुष्य से राजा को सहस्र गुणा दण्ड होना चाहिये[1]।

मन्त्री अर्थात् राजा के दीवान को आठ सौ गुणा, उससे न्यून को सात सौ गुणा, और उससे भी न्यून को छः सौ गुणा। इसी प्रकार उत्तर-उत्तर, अर्थात् जो एक छोटे-से-छोटा भृत्य अर्थात् चपरासी है, उसको आठ गुणे दण्ड से कम न होना चाहिये। क्योंकि यदि प्रजापुरुषों से राजपुरुषों को अधिक दण्ड न होवे, तो राजपुरुष प्रजापुरुषों का नाश कर देवें। जैसे सिंह अधिक और बकरी थोड़े दण्ड से ही वश में आ जाती है, इसलिये राजा से लेकर छोटे-से-छोटे भृत्य-पर्यन्त राजपुरुषों को अपराध में प्रजापुरुषों से अधिक दण्ड होना चाहिये ॥३॥

वैसे ही जो कुछ विवेकी होकर चोरी करे, उस शूद्र को चोरी से आठ गुणा, वैश्य को सोलह गुणा, क्षत्रिय को बत्तीस[2] गुणा ॥४॥

ब्राह्मण को चौंसठ गुणा वा सौ गुणा, अथवा एक सौ अट्ठाईस गुणा दण्ड होना चाहिये। अर्थात् जिसका जितना ज्ञान और जितनी प्रतिष्ठा अधिक हो, उसको अपराध में उतना ही अधिक दण्ड होना चाहिये ॥५॥

राज्य के अधिकारी, धर्म और ऐश्वर्य की इच्छा करनेवाला राजा बलात्कार काम करनेवाले डाकुओं को दण्ड देने में एक क्षण भी देर न करे ॥६॥

साहसिक पुरुष का लक्षण—जो दुष्ट वचन बोलने, चोरी करने, विना अपराध के[3] दण्ड देनेवाले से भी साहस बलात्कार काम करनेवाला है, वह अतीव पापी दुष्ट है ॥७॥

जो राजा साहस में वर्तमान पुरुष को न दण्ड देकर सहन करता है, वह राजा शीघ्र ही नाश को प्राप्त होता है, और राज्य में द्वेष उठता है ॥८॥

---

१. यहां से आगे का लेख ग्रन्थकार ने मनु० के भाव को स्पष्ट करने के लिये लिखा है। २. सं० २ में 'बीस' अपपाठ है। ३. सं० २ में 'से' पाठ है।

न मित्रता [और] न पुष्कल धन की प्राप्ति से भी राजा सब प्राणियों को दुःख देनेवाले साहसिक मनुष्य को बन्धन-छेदन किये विना कभी छोड़े ॥९॥

चाहे गुरु हो चाहे पुत्रादि बालक हों, चाहे पिता आदि वृद्ध, चाहे ब्राह्मण, और चाहे बहुत शास्त्रों का श्रोता क्यों न हो, जो धर्म को छोड़ अधर्म में वर्तमान, दूसरे को विना अपराध मारनेवाले हैं, उनको विना विचारे मार डालना। अर्थात् मारके पश्चात् विचार करना चाहिये ॥१०॥

दुष्ट पुरुषों के मारने में हन्ता को पाप नहीं होता, चाहे प्रसिद्ध मारे चाहे अप्रसिद्ध। क्योंकि क्रोधी को क्रोध से मारना जानो क्रोध से क्रोध की लड़ाई है ॥११॥

जिस राजा के राज्य में न चोर, न परस्त्रीगामी, न दुष्ट वचन का बोलनेहारा, न साहसिक डाकू, और न दण्डघ्न अर्थात् राजा की आज्ञा का भंग करनेवाला है, वह राजा अतीव श्रेष्ठ है ॥१२॥

भर्त्तारं लंघयेद् या स्त्री स्वज्ञातिगुणदर्पिता[1]।
तां श्वभिः खादयेद् राजा संस्थाने बहुसंस्थिते ॥१॥
पुमांसं दाहयेत् पापं शयने तप्त आयसे।
अभ्यादध्युश्च काष्ठानि तत्र दह्येत पापकृत् ॥२॥
दीर्घाध्वनि यथादेशं[2] यथाकालं तरो[3] भवेत्।
नदीतीरेषु तद्विद्यात् समुद्रे नास्ति लक्षणम् ॥३॥
अहन्यहन्यवेक्षेत कर्मान्तान्वाहनानि च।
आयव्ययौ च नियतावाकरान् कोषमेव[4] च ॥४॥
एवं सर्वानिमान् राजा व्यवहारान् समापयन्।
व्यपोह्य किल्बिषं सर्वं प्राप्नोति परमां गतिम् ॥५॥ [मनु०][5]

---

१. मनु० में 'भर्त्तारं लङ्घयेद् या तु स्त्री ज्ञातिगुणदर्पिता' पाठ है।
२. सं० २ में 'यथादेश' पाठ है। सं० ३ से उपलब्ध पाठ भी 'तृतीयासप्तम्योर्बहुलम्' (अष्टा० २।४।८४) के नियम से शुद्ध है।
३. तरः=तरकरः (=नौका-सम्बन्धी कर)। ४. मनु० में 'कोशमेव' पाठ है।
५ मनु० ८।३७१, ३७२, ४०६, ४१९, ४२० ॥

जो स्त्री अपनी जाति, गुण के घमण्ड से पति को छोड़ व्यभिचार करे, उसको बहुत स्त्री और पुरुषों के सामने जीती हुई [को] कुत्तों से राजा कटवाकर मरवा डाले ॥१॥

उसी प्रकार [जो] अपनी स्त्री को छोड़के परस्त्री वा वेश्यागमन करे, उस पापी को लोहे के पलङ्ग को अग्नि से तपाके लाल कर उस पर सुलाके जीते को बहुत पुरुषों के सम्मुख भस्म कर देवे ॥२॥

प्रश्न—जो राजा वा राणी अथवा न्यायाधीश वा उसकी स्त्री व्यभिचारादि कुकर्म करे, तो उसको कौन दण्ड देवे ?

उत्तर—सभा, अर्थात् उनको तो प्रजापुरुषों से भी अधिक दण्ड होना चाहिये ।

प्रश्न—राजादि उनसे दण्ड क्यों ग्रहण करेंगे ?

उत्तर—राजा भी एक पुण्यात्मा भाग्यशाली मनुष्य है। जब उसीको दण्ड न दिया जाय, और वह दण्ड ग्रहण न करे, तो दूसरे मनुष्य दण्ड को क्यों मानेंगे ? और जब सब प्रजा और प्रधान राज्याधिकारी और सभा धार्मिकता से दण्ड देना चाहैं, तो अकेला राजा क्या कर सकता है ? जो ऐसी व्यवस्था न हो, तो राजा प्रधान और सब समर्थ पुरुष अन्याय में डूबकर न्याय-धर्म को डुबाके सब प्रजा का नाश कर आप भी नष्ट हो जायें। अर्थात् उस श्लोक के अर्थ का स्मरण करो कि—'न्याययुक्त दण्ड ही का नाम राजा और धर्म है। जो उसका लोप करता है, उससे नीच पुरुष दूसरा कौन होगा ?'

प्रश्न[1]—यह कड़ा दण्ड होना उचित नहीं। क्योंकि मनुष्य किसी अङ्ग का बनानेहारा वा जिलानेवाला नहीं है। इसलिये ऐसा दण्ड न देना चाहिये।

उत्तर—जो इसको कड़ा दण्ड जानते हैं, वे राजनीति को नहीं सम-

---

१. यह प्रश्न और अगले उत्तर से सम्बद्ध सन्दर्भ सं० २ में पञ्चम श्लोक की व्याख्या के आगे अस्थान में छपा है। प्रकरण के अनुरोध से प्रश्न-उत्तर सम्बन्धी सन्दर्भ यहां होने चाहियें।

झते। क्योंकि एक पुरुष को इस प्रकार दण्ड होने से सब लोग बुरे काम करने से अलग रहेंगे, और बुरे काम को छोड़कर धर्म-मार्ग में स्थित रहेंगे। सच पूछो तो [सुगम दण्ड] यही है कि एक राई-भर भी यह दण्ड सबके भाग में न आवेगा। और जो सुगम दण्ड दिया जाय, तो दुष्ट काम बहुत बढ़कर होने लगें। वह जिसको तुम सुगम दण्ड कहते हो, वह क्रोड़ों गुणा अधिक होने से क्रोड़ों गुणा कठिन होता है। क्योंकि जब बहुत मनुष्य दुष्ट कर्म करेंगे, तब थोड़ा-थोड़ा दण्ड भी [दिया तो बहुत] देना पड़ेगा। अर्थात् जैसे एक को मनभर दण्ड हुआ और दूसरे को पावभर, तो पावभर अधिक एक मन दण्ड होता है। तो प्रत्येक मनष्य के भाग में आध पाव बीस सेर दण्ड पड़ा। तो ऐसे सुगम दण्ड को दुष्ट लोग क्या समझते हैं? जैसे एक को मन, [और] सहस्र मनुष्यों को पाव-पाव दण्ड हुआ तो ६। (सवा छः) मन मनुष्य-जाति पर दण्ड होने से अधिक और यही कड़ा, तथा वह एक मन दण्ड न्यून और सुगम होता है।

जो लम्बे मार्ग में, समुद्र की खाड़ियों वा नदी तथा बड़े नदों में, जितना लम्बा देश [और जैसा काल =ग्रीष्म वर्षा आदि] हो उतना कर स्थापन करे। और महासमुद्र में निश्चित कर स्थापन नहीं हो सकता। किन्तु जैसा अनुकूल देखे कि जिससे राजा और बड़े-बड़े नौकाओं के समुद्र में चलानेवाले दोनों लाभयुक्त हों, वैसी व्यवस्था करे। परन्तु यह ध्यान में रखना चाहिये कि जो कहते हैं कि प्रथम जहाज नहीं चलते थे, वे झूठे हैं। और देश-देशान्तर द्वीप-द्वीपान्तर में नौका से जानेवाले अपने प्रजास्थ पुरुषों की सर्वत्र रक्षा कर उनको किसी प्रकार का दुःख न होने देवे ॥३॥

[राजा प्रतिदिन कर्मों की समाप्तियों को, हाथी घोड़े आदि वाहनों को, नियत लाभ और खर्च, 'आकर' रत्नादिकों की खानें और 'कोष' खजाने को देखा करे'] ॥४॥

---

१. कोष्ठान्तर्गत चतुर्थ श्लोक का भाषार्थ रूप पाठ सं० २ में नहीं है। तृतीय संस्करण में बढ़ाया है।

राजा इस प्रकार सब व्यवहारों को यथावत् समाप्त करता-कराता हुआ सब पापों को छुड़ाके परमगति=मोक्षसुख को प्राप्त होता है ॥५॥

प्रश्न—संस्कृत विद्या में पूरी-पूरी राजनीति है, वा अधूरी ?

उत्तर—पूरी है। क्योंकि जो-जो भूगोल में राजनीति चली और चलेगी, वह सब संस्कृत विद्या से ली है। और जिनका प्रत्यक्ष लेख नहीं है, उनके लिये—

प्रत्यहं लोकदृष्टैश्च शास्त्रदृष्टैश्च[1] हेतुभिः॥ मनु०[2]

जो [-जो] नियम राजा और प्रजा के सुखकारक और धर्मयुक्त समझें, उन-उन नियमों को पूर्ण विद्वानों की राजसभा बांधा करे। परन्तु इस पर नित्य ध्यान रक्खे कि जहां तक बन सके, वहां तक बाल्यावस्था में विवाह न करने देवें। युवावस्था में भी विना प्रसन्नता के विवाह न करना-कराना और न करने देना। ब्रह्मचर्य का यथावत् सेवन करना[-कराना]। व्यभिचार और बहु-विवाह को बन्द करें, कि जिससे शरीर और आत्मा में पूर्ण बल सदा रहै। क्योंकि जो केवल आत्मा का बल, अर्थात् विद्या-ज्ञान बढ़ाये जायं और शरीर का बल न बढ़ावें, तो एक ही बलवान् पुरुष[3] सैकड़ों ज्ञानी और विद्वानों को जीत सकता है। और जो केवल शरीर ही का बल बढ़ाया जाय, आत्मा का नहीं, तो भी राज्यपालन की उत्तम व्यवस्था विना विद्या के कभी नहीं हो सकती। विना व्यवस्था के सब आपस में ही फूट-टूट, विरोध, लड़ाई-झगड़ा करके नष्ट-भ्रष्ट हो जायें। इसलिये सर्वदा शरीर और आत्मा के बल को बढ़ाते रहना चाहिये।

जैसा बल और बुद्धि का नाशक व्यवहार व्यभिचार और अति-विषयासक्ति है, वैसा और कोई नहीं है। विशेपतः क्षत्रियों को दृढ़ांग और बलयुक्त होना चाहिये। क्योंकि जब वे ही विषयासक्त होंगे,

---

१. मनु० में 'देशदृष्टैश्च' पाठ है। २. मनु० ८।३॥

३. सं० २ में 'पुरुष ज्ञानी और सैंकड़ों विद्वानों' इस प्रकार आगे पीछे पाठ है।

तो राज्यधर्म ही नष्ट हो जायेगा। और इस पर भी ध्यान रखना चाहिये कि **'यथा राजा तथा प्रजा**[1]' जैसा राजा होता है, वैसी ही उस की प्रजा होती है। इसलिये राजा और राजपुरुषों को अति उचित है कि कभी दुष्टाचार न करें, किन्तु सब दिन धर्म-न्याय से वर्त्त कर सब के सुधार का दृष्टांत बनें।

यह संक्षेप से राजधर्म का वर्णन यहां किया है। विशेष वेद, **मनुस्मृति** के सप्तम अष्टम नवम अध्याय में, और शुक्रनीति तथा **विदुरप्रजागर** और **महाभारत शान्तिपर्व** के राजधर्म और आपद्धर्म आदि पुस्तकों में देखकर पूर्ण राजनीति को धारण करके माण्डलिक अथवा सार्वभौम चक्रवर्ती राज्य करें। और यही समझें कि '**वयं प्रजापतेः प्रजा अभूम**' यह यजुर्वेद[2] का वचन है। हम प्रजापति अर्थात् परमेश्वर की प्रजा और परमात्मा हमारा राजा, हम उसके किंकर भृत्यवत् हैं। वह कृपा करके अपनी सृष्टि में हमको राज्याधिकारी करे, और हमारे हाथ से अपने सत्य न्याय की प्रवृत्ति करावे।

अब आगे ईश्वर और वेद-विषय में लिखा जायेगा।

इति श्रीमद्दयानन्दसरस्वतीस्वामिकृते सत्यार्थप्रकाशे सुभाषाविभूषिते राजधर्मविषये षष्ठः समुल्लासः सम्पूर्णः ॥६॥

---

१. चाणक्य नीतिदर्पण १३।८ (भार्गव पुस्तकालय, काशी)
२. यजु० १८।२६ ॥ 'वयं' पद अध्याहृत है।

अथ सप्तमसमुल्लासारम्भः

[अथेश्वरवेदविषयं व्याख्यास्यामः]

ऋचो अक्षरे परमे व्योमन् यस्मिन्देवा अधि विश्वे निषेदुः ।
यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति य इत्तद्विदुस्त इमे समासते ॥१॥

ऋ० मं० १ । सूक्त १६४ । मं० ३९ ॥

ईशा वास्यमिदꣳ सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत् ।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्य स्विद्धनम् ॥२॥

यजु० अ० ४० । मं० [१] ॥

अहं भुवं वसुनः पूर्व्यस्पतिरहं धनानि सं जयामि शश्वतः ।
मां हवन्ते पितरं न जन्तवोऽहं दाशुषे वि भजामि भोजनम् ॥३॥

ऋ० मं० १० । सू० ४८ । मं० १ ॥

अहमिन्द्रो न परा जिग्य इद्धनं न मृत्यवेऽव तस्थे कदा चन ।
सोममिन्मा सुन्वन्तो याचता वसु न मे पूरवः सख्ये रिषाथन ॥४॥

ऋ० मं० १० । सू० ४८ । मं० ५ ॥

[1][अहं दां गृणते पूर्व्यं वस्वहं ब्रह्म कृणवं मह्यं वर्धनम् ।
अहं भुवं यजमानस्य चोदितायज्वनः साक्षि विश्वस्मिन् भरे ॥५॥

ऋ० मं० १० । सू० ४९ । मं० १ ॥]

(ऋचो अक्षरे०) इस मन्त्र का अर्थ ब्रह्मचर्याश्रम की शिक्षा में लिख चुके हैं[2] । अर्थात् जो सब दिव्य गुण-कर्म-स्वभाव-विद्यायुक्त,

---

१. इस मन्त्र के तीन चरणों की व्याख्या चौथे मन्त्र की व्याख्या के पश्चात् उपलब्ध होती है। (चतुर्थ की व्याख्या प्रकृत में उपयोगी न होने से ग्रन्थकार ने नहीं दी, ऐसा प्रतीत होता है।) इसलिये हमने यह मन्त्र कोष्ठक में दे दिया है। सं० ३४ में यह मन्त्र छपा हुआ मिलता है। २. द्र० पृ० १०२।

और जिसमें पृथिवी सूर्यादि लोक स्थित हैं, और जो आकाश के समान व्यापक, सब देवों का देव परमेश्वर है, उसको जो मनुष्य न जानते न मानते, और उसका ध्यान नहीं करते, वे नास्तिक मन्दमति सदा दुःखसागर में डूबे ही रहते हैं। इसलिये सर्वदा उसी को जानकर सब मनुष्य सुखी होते हैं।

प्रश्न—वेद में ईश्वर अनेक हैं[1], इस बात को तुम मानते हो वा नहीं ?

उत्तर—नहीं मानते। क्योंकि चारों वेदों में ऐसा कहीं नहीं लिखा, जिससे अनेक ईश्वर सिद्ध हों। किन्तु यह तो लिखा है कि ईश्वर एक है।[2]

प्रश्न—वेदों में जो अनेक देवता लिखे हैं, उसका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—**'देवता'** दिव्यगुणों से युक्त होने के कारण कहाते हैं, जैसी कि पृथिवी। परन्तु इसको कहीं ईश्वर [वा] उपासनीय नहीं माना है। देखो इसी मन्त्र में कि 'जिसमें सब देवता स्थित हैं, वह जानने और उपासना करने योग्य ईश्वर है।' यह उनकी भूल है जो देवता शब्द से ईश्वर का ग्रहण करते हैं। परमेश्वर देवों का देव होने से 'महादेव' इसीलिये कहाता है कि वही सब जगत् की उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय-कर्त्ता, न्यायाधीश, अधिष्ठाता है।

जो **'त्रयस्त्रिंशत्त्रिशता'**[3] इत्यादि वेदों में प्रमाण हैं, इसकी व्याख्या शतपथ में की है[4] कि—**'तेंतीस देव'** अर्थात् पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, चन्द्रमा, सूर्य्य और नक्षत्र सब सृष्टि के निवासस्थान होने से [ये] **आठ वसु**। प्राण, अपान, व्यान, [उदान,] समान,

१. यह योरोपीय लोगों का मत है। भ० द०

२. द्र० अथर्व कां० १३, सू० ४, मं० १४-२१। इनमें **न द्वितीयो न तृतीयः०** आदि के द्वारा २ से ९ संख्या तक निषेध करके उपसंहार में 'एक ब्रह्म' की स्थापना की है।

३. त्रयस्त्रिंशतास्तुवत०। यजु० १४।३१॥

४. द्र० शत० १४।६।९।३-७॥

नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त, धनञ्जय और जीवात्मा, ये **'ग्यारह रुद्र'** इसलिये कहाते हैं कि जब शरीर को छोड़ते हैं, तब रोदन करानेवाले होते हैं। संवत्सर के बारह महीने **बारह 'आदित्य'** इसलिये हैं कि ये सबकी आयु को लेते जाते हैं।

बिजली का नाम 'इन्द्र' इस हेतु से है कि परम ऐश्वर्य का हेतु है। यज्ञ को **'प्रजापति'** कहने का कारण यह है कि जिससे वायु वृष्टि जल ओषधी[1] की शुद्धि, विद्वानों का सत्कार, और नाना प्रकार की शिल्पविद्या से प्रजा का पालन होता है। ये तेंतीस पूर्वोक्त गुणों के योग से **'देव'** कहाते हैं। इनका स्वामी और सबसे बड़ा होने से परमात्मा चौंतीसवां उपास्य देव शतपथ के चौदहवें काण्ड में स्पष्ट लिखा है[2]। इसी प्रकार अन्यत्र भी लिखा है। जो ये[3] इन शास्त्रों को देखते, तो वेदों में अनेक ईश्वर मानने रूप भ्रमजाल में गिरकर क्यों बहकते ? ॥१॥

हे मनुष्य ! "[4]जो कुछ इस संसार में जगत् है, उस सब में व्याप्त होकर [जो] नियन्ता है, वह ईश्वर कहाता है। उससे डरकर तू अन्याय से किसी के धन की आकांक्षा मत कर। उस अन्याय के[5] त्याग और न्यायाचरणरूप धर्म से अपने आत्मा से आनन्द को भोग ॥२॥

ईश्वर सबको उपदेश करता है कि—हे मनुष्यो! मैं ईश्वर सबके पूर्व विद्यमान सब जगत् का पति हूं। मैं सनातन जगत्कारण और सब धनों का विजय करनेवाला और दाता हूं। मुझ ही को सब जीव जैसे पिता को सन्तान पुकारते हैं, वैसे पुकारें। मैं सबको सुख देनेहारे जगत् के लिये नाना प्रकार के भोजनों का विभाग पालन के लिये करता हूं ॥३॥

---

१. 'कृदिकारादक्तिनः' इस गणसूत्र (द्र० ४। १। ४५) से ङीष् प्रत्यय भी होता है। २ द्र० शत० १४। ६। ६। १०॥

३. अर्थात् यूरोपीय लेखक।

४. सं० २ में 'तू जो' पाठ है। वह उत्तर वाक्य में 'डरकर तू' में पुनः निर्दिष्ट होने से अपपाठ है। सं० ३ में हटाया गया।

५. सं० २ में 'से' अपपाठ है।

मैं परमेश्वर्य्यवान् सूर्य के सदृश सब जगत् का प्रकाशक हूं। कभी पराजय को प्राप्त नहीं होता, और न कभी मृत्यु को प्राप्त होता हूं। मैं ही जगद्-रूप धन का निर्माता हूं। सब जगत् की उत्पत्ति करनेवाले मुझ ही को जानो। हे जीवो ! ऐश्वर्यप्राप्ति के यत्न करते हुए तुम लोग विज्ञानादि धन को मुझ से मांगो। और तुम लोग मेरी मित्रता से अलग मत होओ ॥४॥[1]

हे मनुष्यो ! मैं सत्यभाषणरूप स्तुति करनेवाले मनुष्य को सनातन ज्ञानादि धन को देता हूं। मैं ब्रह्म अर्थात् वेद का प्रकाश करनेहारा, और मुझको वह वेद यथावत् कहता, उससे सबके ज्ञान को मैं बढ़ाता। मैं सत् पुरुष का प्रेरक, यज्ञ करनेहारे को फलप्रदाता, और इस विश्व में जो कुछ है, उस सब कार्य का बनाने और धारण करने वाला हूं। इसलिये तुम लोग मुझको छोड़ किसी दूसरे को मेरे स्थान में मत पूजो, मत मानो और मत जानो ॥५॥[2]

हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेकऽआसीत्।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥१॥

यह यजुर्वेद का मन्त्र है[3]।

हे मनुष्यो ! जो सृष्टि के पूर्व सब सूर्य्यादि तेजवाले लोकों का उत्पत्ति-स्थान आधार, और जो कुछ उत्पन्न हुआ था, है[4] और होगा उसका स्वामी था, है और होगा, वह पृथिवी से लेके सूर्यलोक-पर्य्यन्त सृष्टि को बनाके धारण कर रहा है। उस सुखस्वरूप परमात्मा ही की भक्ति जैसे हम करें, वैसे तुम लोग भी करो ॥१॥

---

१. यह ४ संख्या सं० २ में आगे दी है। परन्तु चौथे मन्त्र का अर्थ यहां समाप्त होने से यहीं चाहिये।

२. यहां सं० २ में ४ संख्या है। परन्तु यह जिस मन्त्र का अर्थ है, वह सं० २-३३ तक छूटा हुआ है। यहां ५ वें मन्त्र की व्याख्या होने से संख्या ५ ही चाहिये।

३. यजुः १३।४।

४. सं० २ में 'उत्पन्न है, हुआ था और' ऐसा पूर्वापर पाठ है।

प्रश्न—आप ईश्वर-ईश्वर कहते हो, परन्तु उसकी सिद्धि किस प्रकार करते हो?

उत्तर—सब प्रत्यक्षादि प्रमाणों से।

प्रश्न—ईश्वर में प्रत्यक्षादि प्रमाण कभी नहीं घट सकते।

उत्तर—**इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानमव्यपदेश्यमव्यभिचारि-व्यवसायात्मकं प्रत्यक्षम्** ॥

यह गौतममहर्षिकृत न्यायदर्शन का सूत्र है।[1]

जो श्रोत्र, त्वचा, चक्षु, जिह्वा, घ्राण और मन का शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, सुख-दुःख, सत्यासत्य विषयों के साथ सम्बन्ध होने से ज्ञान उत्पन्न होता है, उसको '**प्रत्यक्ष**' कहते हैं, परन्तु वह निर्भ्रम हो।

अब विचारना चाहिये कि इन्द्रियों और मन से गुणों का प्रत्यक्ष होता है, गुणी का नहीं[2]। जैसे चारों त्वचा आदि इन्द्रियों से स्पर्श, रूप, रस और गन्ध का ज्ञान होने से गुणी जो पृथिवी उसका आत्मा-युक्त मन से प्रत्यक्ष किया जाता है, वैसे इस प्रत्यक्ष सृष्टि में रचना-विशेष आदि ज्ञानादि गुणों के प्रत्यक्ष होने से परमेश्वर का भी प्रत्यक्ष है।

और जब आत्मा मन और मन इन्द्रियों को किसी विषय में लगाता, वा चोरी आदि बुरी वा परोपकार आदि अच्छी बात के करने का जिस क्षण में आरम्भ करता है, उस समय जीव की इच्छा ज्ञानादि उसी इच्छित विषय पर झुक जाता है। उसी क्षण में आत्मा के भीतर से बुरे काम करने में भय शङ्का और लज्जा, तथा अच्छे कामों के करने में अभय निःशङ्कता और आनन्दोत्साह उठता है। वह जीवात्मा की ओर से नहीं, किन्तु परमात्मा की ओर से है।

और जब जीवात्मा शुद्ध होके परमात्मा का विचार करने में तत्पर रहता है, उसको उसी समय दोनों प्रत्यक्ष होते हैं। जब

---

१. न्याय दर्शन १।१।४ ॥

२. नैयायिकों में दो मत हैं। एक केवल **गुण** का प्रत्यक्ष मानते हैं, और दूसरे गुणगुणी दोनों का। ग्रन्थकार ने प्रथम पक्ष का आश्रयण किया है।

परमेश्वर का प्रत्यक्ष होता है, तो अनुमानादि से परमेश्वर के ज्ञान होने में क्या सन्देह है ? क्योंकि कार्य्य को देखके कारण का अनुमान होता है।

प्रश्न—ईश्वर व्यापक है, वा किसी देश-विशेष में रहता है ?

उत्तर—व्यापक है। क्योंकि जो एक देश में रहता तो सर्वान्तर्यामी, सर्वज्ञ, सर्वनियन्ता, सबका स्रष्टा, सबका धर्ता और प्रलयकर्ता नहीं हो सकता। अप्राप्त देश में कर्त्ता की क्रिया का [होना] असम्भव है।

प्रश्न—परमेश्वर दयालु और न्यायकारी है, वा नहीं ?

उत्तर—है।

प्रश्न—ये दोनों गुण परस्पर विरुद्ध हैं। जो न्याय करे तो दया, और दया करे तो न्याय छूट जाय। क्योंकि 'न्याय' उसको कहते हैं कि जो कर्मों के अनुसार न अधिक न न्यून सुख-दुख पहुंचाना। और 'दया' उसको कहते हैं [कि] जो अपराधी को विना दण्ड दिये छोड़ देना।

उत्तर—न्याय और दया का नाममात्र ही भेद है। क्योंकि जो न्याय से प्रयोजन सिद्ध होता है, वही दया से। दण्ड देने का प्रयोजन है कि मनुष्य अपराध करने से बन्ध[1] होकर दुःखों को प्राप्त न हो। वही **'दया'** कहाती है, जो पराये दुःखों का छुड़ाना। और जैसा अर्थ दया और न्याय का तुमने किया, वह ठीक नहीं। क्योंकि जिसने जैसा जितना बुरा कर्म किया हो, उसको उतना वैसा ही दण्ड देना चाहिये, उसी का नाम **'न्याय'** है।

और जो अपराधी को दण्ड न दिया जाय, तो दया का नाश हो जाय। क्योंकि एक अपराधी डाकू को छोड़ देने से सहस्रों धर्मात्मा पुरुषों को दुःख देना है। जब एक के छोड़ने में सहस्रों मनुष्यों को दुःख प्राप्त होता है, [तो] वह दया किस प्रकार हो सकती है ? दया वही है कि उस डाकू को कारागार में रखकर पाप करने से बचाना डाकू पर। और उस डाकू को मार देने से अन्य सहस्रों मनुष्यों पर दया प्रकाशित होती है।

---

१. अर्थात् 'बन्द'।

प्रश्न—फिर दया और न्याय दो शब्द क्यों हुए ? क्योंकि उन दोनों का अर्थ एक ही होता है, तो दो शब्दों का होना व्यर्थ है। इसलिये एक शब्द का रहना तो अच्छा था। इससे क्या विदित होता है कि दया और न्याय का एक प्रयोजन नहीं है।

उत्तर—क्या एक अर्थ के अनेक नाम, और एक नाम के अनेक अर्थ नहीं होते ?

प्रश्न—होते हैं।

उत्तर—तो पुनः तुमको शङ्का क्यों हुई ?

प्रश्न—संसार में सुनते हैं, इसलिये।

उत्तर—संसार में तो सच्चा-झूठा दोनों सुनने में आता है, परन्तु उसका विचार से निश्चय करना अपना काम है। देखो, ईश्वर की पूर्ण दया तो यह है कि जिसने सब जीवों के प्रयोजन सिद्ध होने के अर्थ जगत् में सकल पदार्थ उत्पन्न करके दान दे रक्खे हैं। इससे भिन्न दूसरी बड़ी दया कौन-सी है ? अब न्याय का फल प्रत्यक्ष दीखता है कि सुख-दुःख की व्यवस्था अधिक और न्यूनता से फल को प्रकाशित कर रही है।

इन दोनों का इतना ही भेद है कि जो मन में सबको सुख होने और दुःख[1] छूटने की इच्छा और क्रिया करना है [वह 'दया'], और बाह्य चेष्टा अर्थात् बन्धन-छेदनादि यथावत् दण्ड देना 'न्याय' कहाता है। दोनों का एक प्रयोजन यह है कि सबको पाप और दुःखों से पृथक कर देना।

प्रश्न—ईश्वर साकार है, वा निराकार ?

उत्तर—निराकार। क्योंकि जो साकार होता, तो व्यापक नहीं हो सकता। जब व्यापक न होता, तो सर्वज्ञादि गुण भी ईश्वर में न घट सकते। क्योंकि परिमित वस्तु में गुण-कर्म-स्वभाव भी परिमित रहते हैं। तथा शीतोष्ण, क्षुधा-तृषा, और रोग-दोष, छेदन-भेदन आदि से रहित नहीं हो सकता। इससे यही निश्चित है कि

---

१. सं० २ में 'सुख और होने दुःख' इस प्रकार पूर्वापर पाठ है।

ईश्वर निराकार है। जो साकार हो, तो उसके नाक कान आंख आदि अवयवों का बनानेहारा दूसरा होना चाहिये। क्योंकि जो संयोग से उत्पन्न होता है, इसको[1] संयुक्त करनेवाला निराकार चेतन अवश्य होना चाहिये।

जो कोई यहां ऐसा कहै कि ईश्वर ने स्वेच्छा से आप-ही-आप अपना शरीर बना लिया, तो भी वही सिद्ध हुआ कि शरीर बनने के पूर्व निराकार था। इसलिये परमात्मा कभी शरीर धारण नहीं करता। किन्तु निराकार होने से सब जगत् को सूक्ष्म कारणों से स्थूलाकार बना देता है।

प्रश्न—ईश्वर सर्वशक्तिमान् है, वा नहीं ?

उत्तर—है, परन्तु जैसा तुम सर्वशक्तिमान् शब्द का अर्थ जानते हो, वैसा नहीं। किन्तु **'सर्वशक्तिमान्'** शब्द का यही अर्थ है कि ईश्वर अपने काम अर्थात् उत्पत्ति, पालन, प्रलय आदि और सब जीवों के पुण्य-पाप की यथायोग्य व्यवस्था करने में किंचित् भी किसी की सहायता नहीं लेता। अर्थात् अपने अनन्त सामर्थ्य से ही सब अपना काम पूर्ण कर लेता है।

प्रश्न—हम तो ऐसा मानते हैं कि ईश्वर चाहै सो करे। क्योंकि उसके ऊपर दूसरा कोई नहीं है।

उत्तर—वह क्या चाहता है ? जो तुम कहो कि सब-कुछ चाहता और कर सकता है, तो हम तुमसे पूछते हैं कि परमेश्वर अपने को मार, अनेक ईश्वर बना, स्वयं अविद्वान् [होकर] चोरी व्यभिचारादि पापकर्म कर और दुःखी भी हो सकता है ? जैसे ये काम ईश्वर के गुण कर्म स्वभाव से विरुद्ध हैं, तो जो तुम्हारा कहना है कि 'वह सब कुछ कर सकता है' यह कभी नहीं घट सकता। इसलिये 'सर्वशक्तिमान्' शब्द का अर्थ जो हमने कहा, वही ठीक है।

प्रश्न—परमेश्वर सादि है, वा अनादि ?

उत्तर—अनादि। अर्थात् जिसका आदि कोई कारण वा समय न

१. कुछ संस्करणों में 'उसको' पाठ है।

हो, उसको 'अनादि' कहते हैं। इत्यादि सब अर्थ प्रथम समुल्लास में कर दिया है, देख लीजिये।

प्रश्न—परमेश्वर क्या चाहता है ?

उत्तर—सबकी भलाई, और सबके लिये सुख चाहता है। परन्तु स्वतन्त्रता के साथ किसी को विना पाप किये पराधीन नहीं करता।

प्रश्न—परमेश्वर की स्तुति-प्रार्थना और उपासना करनी चाहिये, वा नहीं ?

उत्तर—करनी चाहिये।

प्रश्न—क्या स्तुति आदि करने से ईश्वर अपना नियम छोड़ स्तुति-प्रार्थना करनेवाले का पाप छुड़ा देगा ?

उत्तर—नहीं।

प्रश्न—तो फिर स्तुति-प्रार्थना क्यों करना ?

उत्तर—उनके करने का फल अन्य ही है।

प्रश्न—क्या है ?

उत्तर—**स्तुति** से—ईश्वर में प्रीति, उसके गुण-कर्म-स्वभाव से अपने गुण-कर्म-स्वभाव का सुधारना। **प्रार्थना** से—निरभिमानता, उत्साह और सहाय का मिलना। **उपासना** से—परब्रह्म से मेल और उसका साक्षात्कार होना।

प्रश्न—इनको स्पष्ट करके समझाओ।

उत्तर—जैसे **ईश्वर की स्तुति**[1]—

स पर्य्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरꣳ शुद्धमपापविद्धम्। कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः ॥१॥ यजु० अ० ४०। मं० ८॥

वह परमात्मा सब में व्यापक, शीघ्रकारी और अनन्त बलवान्, जो शुद्ध, सर्वज्ञ, सबका अन्तर्यामी, सर्वोपरिविराजमान, सनातन,

---

१. सं० २ में यह पाठ मन्त्र के पश्चात् है। हमने यथास्थान रख दिया है। देखो प्रार्थना और उपासना शब्द।

स्वयंसिद्ध, परमेश्वर अपनी जीवरूप सनातन अनादि प्रजा को अपनी सनातन विद्या से यथावत् अर्थों का बोध वेदद्वारा कराता है। यह **सगुण-स्तुति** अर्थात् जिस-जिस गुण से सहित परमेश्वर की स्तुति करना, वह सगुण।

'अकाय' अर्थात् वह कभी शरीर धारण वा जन्म नहीं लेता, जिसमें छिद्र नहीं होता, नाड़ी आदि के बन्धन में नहीं आता, और कभी पापाचरण नहीं करता, जिसमें क्लेश दुःख अज्ञान कभी नहीं होता, इत्यादि जिस-जिस राग-द्वेषादि गुण[1] से पृथक् मानकर परमेश्वर की स्तुति करना है, वह **निर्गुण स्तुति** है। इससे[2] अपने गुण-कर्म-स्वभाव भी [तद्वत्] करना। जैसे वह न्यायकारी है, तो आप भी न्यायकारी होवे। और जो केवल भांड के समान परमेश्वर के गुणकीर्तन करता जाता और अपने चरित्र नहीं सुधारता, उसका स्तुति करना व्यर्थ है।

प्रार्थना—

यां मेधां देवगणाः पितरश्चोपासते।
तया मामद्य मेधयाऽग्ने मेधाविनं कुरु स्वाहा ॥१॥ यजु० ३२।१४॥

तेजोऽसि तेजो मयि धेहि वीर्यमसि वीर्यं मयि धेहि बलमसि बलं मयि धेह्योजोऽस्योजो मयि धेहि मन्युरसि मन्युं मयि धेहि सहोऽसि सहो मयि धेहि ॥२॥ यजु० अ० १६। मं० ६॥

यज्जाग्रतो दूरमुदैति दैवं तदु सुप्तस्य तथैवैति।
दूरङ्गमं ज्योतिषां ज्योतिरेकं तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु ॥३॥

---

१. जाति में एकवचन। 'गुणों' परिवर्तित पाठ है।

२. सं० ५ में पाठ इस प्रकार बनाया है—'इस का फल यह है कि जैसे परमेश्वर के गुण हैं, वैसे गुण-कर्म-स्वभाव अपने भी करना'। हमारा पाठ सं० २ के अनुसार है। केवल हमने एक पद पं० भगवद्दत्तजी के समान कोष्ठ में बढ़ा कर वाक्यार्थ को स्पष्ट कर दिया है।

येन कर्माण्यपसो मनीषिणो यज्ञे कृण्वन्ति विदथेषु धीराः ।
यदपूर्वं यक्षमन्तः प्रजानां तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु ॥४॥
यत्प्रज्ञानमुत चेतो धृतिश्च यज्ज्योतिरन्तरमृतं प्रजासु ।
यस्मान्नऽऋते किं चन कर्म क्रियते तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु॥५॥
येनेदं भूतं भुवनं भविष्यत्परिगृहीतममृतेन सर्वम् ।
येन यज्ञस्तायते सप्तहोता तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु ॥६॥
यस्मिन्नृचः साम यजूंषि यस्मिन् प्रतिष्ठिता रथनाभाविवाराः
यस्मिँश्चित्तꣳ सर्वमोतं प्रजानां तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु ।७॥
सुषारथिरश्वानिव यन्मनुष्यान्नेनीयतेऽभीशुभिर्वाजिनऽइव ।
हृत्प्रतिष्ठं यदजिरं जविष्ठं तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु ॥८॥

यजु० अ० ३४ । मं० १, २, ३, ४, ५, ६ ॥[1]

हे अग्ने, अर्थात् प्रकाशस्वरूप परमेश्वर ! आप [की] कृपा से जिस बुद्धि की उपासना विद्वान् ज्ञानी और योगी लोग करते हैं, उसी बुद्धि से युक्त हमको इसी वर्तमान समय में बुद्धिमान् आप कीजिये ॥१॥

आप प्रकाशस्वरूप हैं, कृपा कर मुझमें भी प्रकाश-स्थापन कीजिये । आप अनन्त-पराक्रमयुक्त हैं, इसलिये मुझमें भी कृपा-कटाक्ष से पूर्ण पराक्रम धरिये । आप अनन्तबलयुक्त हैं, इसलिये मुझमें भी बलधारण कीजिये । आप अनन्तसामर्थ्ययुक्त हैं, [इसलिये] मुझको भी पूर्ण सामर्थ्य दीजिये । आप दुष्ट काम और दुष्टों पर क्रोधकारी हैं, मुझको भी वैसा ही कीजिये । आप निन्दा-स्तुति और स्व अपराधियों का सहन करनेवाले हैं, कृपा से मुझको भी वैसा ही कीजिये ॥२॥

हे दयानिधे ! आपकी कृपा से [जो] मेरा मन [जागते हुए] जगत्

---

१. सं० २ में यहां ७ व ८ संख्या और दी हुई है, जो कि व्यर्थ है ।

में दूर-दर जाता, दिव्यगुणयुक्त रहता है, और वही सोते हुए मेरा मन सुषुप्ति को प्राप्त होता, वा स्वप्न में दूर-दूर जाने के समान व्यवहार करता, सब प्रकाशकों का प्रकाशक एक वह मेरा मन शिव-सङ्कल्प, अर्थात् अपने और दूसरे प्राणियों के अर्थ कल्याण का सङ्कल्प करनेहारा होवे। किसी की हानि करने की इच्छायुक्त कभी न होवे ॥३॥

हे सर्वान्तर्यामी! जिससे कर्म करनेहारे धैर्ययुक्त विद्वान् लोग यज्ञ और युद्धादि में कर्म करते हैं, जो अपूर्व-सामर्थ्ययुक्त पूजनीय और प्रजा के भीतर रहनेवाला है, वह मेरा मन धर्म करने की इच्छा-युक्त होकर अधर्म को सर्वथा छोड़ देवे ॥४॥

जो उत्कृष्ट-ज्ञान और दूसरे को चितानेहारा निश्चयात्मकवृत्ति है, और जो प्रजाओं में भीतर प्रकाशयुक्त, और नाशरहित है, जिसके विना कोई कुछ भी कर्म नहीं कर सकता, वह मेरा मन शुद्ध गुणों की इच्छा करके दुष्ट गुणों से पृथक् रहै ॥५॥

हे जगदीश्वर! जिससे सब योगी लोग इन सब भूत भविष्यत् वर्तमान व्यवहारों को जानते, जो नाशरहित जीवात्मा को परमात्मा के साथ मिलाके[1] सब प्रकार त्रिकालज्ञ करता है, जिसमें ज्ञान [और] क्रिया है। पांच ज्ञानेन्द्रिय बुद्धि और आत्मायुक्त रहता है। उस योगरूप यज्ञ को जिससे बढ़ाते हैं, वह मेरा मन योग-विज्ञानयुक्त होकर अविद्यादि क्लेशों से पृथक् रहै ॥६॥

हे परमविद्वन् परमेश्वर! आपकी कृपा से [जिस] मेरे मन में जैसे रथ के मध्य धुरा में आरा लगे रहते हैं, वैसे ऋग्वेद यजुर्वेद सामवेद और जिसमें अथर्ववेद भी प्रतिष्ठित होता है। और जिसमें सर्वज्ञ सर्वव्यापक प्रजा का साक्षी चित्त चेतन विदित होता है, वह मेरा मन अविद्या का अभाव कर विद्याप्रिय सदा रहै ॥७॥

हे सर्वनियन्ता ईश्वर! जो मेरा मन रस्सी से घोड़ों के समान अथवा घोड़ों के नियन्ता सारथी के तुल्य मनुष्यों को अत्यन्त इधर-

१. सं० २ में 'मिल क' पाठ है।

उधर डुलाता है, जो हृदय में प्रतिष्ठित गतिमान् और अत्यन्त वेग-वाला है, वह [मेरा मन] सब इन्द्रियों को अधर्माचरण से रोकके धर्मपथ में सदा चलाया करे। ऐसी कृपा मुझ पर कीजिये ॥८॥

अग्ने नयं सुपथा रायेऽ अस्मान् विश्वानि देव वयुनानि विद्वान्।

युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठान्ते नमऽउक्तिं विधेम ॥१॥[1]

यजु० अ० ४० । मं० १६ ॥

हे सुख के दाता, स्वप्रकाशस्वरूप, सबको जाननेहारे परमात्मन्! आप हमको श्रेष्ठमार्ग से सम्पूर्ण प्रज्ञानों को प्राप्त कराइये। और जो हममें कुटिल पापाचरण-रूप मार्ग है, उससे पृथक् कीजिये। इसीलिये हम लोग नम्रतापूर्वक आपकी बहुत-सी स्तुति करते हैं कि आप हमको पवित्र करें ॥१॥

मा नो महान्तमुत मा नोऽअर्भकं मा नऽउक्षन्तमुत नऽउक्षितम्।

मा नो वधीः पितरं मोत मातरं नः प्रियास्तन्वो रुद्र रीरिषः ॥

यजु० अ० १६ । मं० १५ ॥

हे रुद्र=दुष्टों को पाप के दुःखस्वरूप फल को देके रुलानेवाले परमेश्वर! आप हमारे छोटे-बड़े जन[2], गर्भ, माता-पिता और प्रिय बन्धुवर्ग तथा शरीरों का हनन करने के लिए प्रेरित मत कीजिये। ऐसे मार्ग से हमको चलाइये जिससे हम आपके दण्डनीय न हों ॥१॥

असतो मा सद् गमय तमसो मा ज्योतिर्गमय मृत्योर्माऽमृतं गमयेति ॥

शतपथ ब्रा०[3]।

हे परमगुरो परमात्मन्! आप हमको असत् मार्ग से पृथक् कर सन्मार्ग में प्राप्त कीजिये। अविद्यान्धकार को छुड़ाके विद्यारूप सूर्य को प्राप्त कीजिये। और मृत्यु-रोग से पृथक् करके मोक्ष के आनन्द-रूप अमृत को प्राप्त कीजिये। अर्थात् जिस-जिस दोष वा दुर्गुण

---

१. सं० २ में मन्त्रगत 'विश्वानि' पद छपने से रह गया है।

२. सं० २ में 'जिन' अपपाठ है। ३. शत० १४।३।१।३०॥

से परमेश्वर और अपने को भी पृथक् मानके परमेश्वर की प्रार्थना की जाती है, वह विधि निषेधमुख होने से 'सगुण'[1]-निर्गुण-प्रार्थना'।

जो मनुष्य जिस बात की प्रार्थना करता है, उसको वैसा ही वर्तमान करना चाहिये। अर्थात् जैसे सर्वोत्तम बुद्धि की प्राप्ति के लिये परमेश्वर की प्रार्थना करे, उसके लिये जितना अपने से प्रयत्न हो सके उतना किया करे। अर्थात् अपने पुरुषार्थ के उपरान्त प्रार्थना करनी योग्य है।

ऐसी प्रार्थना कभी न करनी चाहिये, और न परमेश्वर उसको स्वीकार करता है कि जैसे––'हे परमेश्वर! आप मेरे शत्रुओं का नाश, मुझको सबसे बड़ा, मेरी ही प्रतिष्ठा, और मेरे आधीन सब हो जायं' इत्यादि। क्योंकि जब दोनों शत्रु एक-दूसरे के नाश के लिये प्रार्थना करें, तो क्या परमेश्वर दोनों का नाश करदे? जो कोई कहै कि जिसका प्रेम अधिक, उसकी प्रार्थना सफल हो जावे। तब हम कह सकते हैं कि जिसका प्रेम न्यून हो, उसके शत्रु का भी न्यून नाश होना चाहिये। ऐसी मूर्खता की प्रार्थना करते-करते कोई ऐसी भी प्रार्थना करेगा––'हे परमेश्वर! आप हमको रोटी बनाकर खिलाइये। [मेरे] मकान में झाड़ लगाइये, वस्त्र धो दीजिये, और खेती-बाड़ी भी कीजिये।'

इस प्रकार जो परमेश्वर के भरोसे आलसी होकर बैठे रहते [हैं] वे महामूर्ख हैं। क्योंकि जो परमेश्वर की पुरुषार्थ करने की आज्ञा है, उसको जो कोई तोड़ेगा वह सुख कभी न पावेगा।

जैसे—

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजिविषेच्छतꣳ समाः॥

यजु० अ० ४०। मं० २॥

---

१. हमारा विचार है कि यहां 'सगुण' पद अप्रासङ्गिक है। श्री पं० भगवद्दत्त जी ने इसकी प्रासङ्गिता के लिये स० प्र० में वाक्य के आरम्भ में पठित 'अर्थात्' पर टिप्पणी दी है—'जिस-जिस गुण से युक्त परमेश्वर को मान तथा उन गुणों को अपने में धारण कराने के लिये और' इतना पाठ किसी कारणवश मुद्रित होने से रह गया प्रतीत होता है।

परमेश्वर आज्ञा देता है कि—मनुष्य सौ वर्ष पर्यन्त अर्थात् जब तक जीवे तब तक कर्म करता हुआ [ही] जीने की इच्छा करे, आलसी कभी न हो।

देखो सृष्टि के बीच में जितने प्राणी हैं अथवा अप्राणी, वे सब अपने-अपने कर्म और यत्न करते ही रहते हैं। जैसे पिपीलिका आदि सदा प्रयत्न करते, पृथिवी आदि सदा घूमते, और वृक्ष आदि सदा बढ़ते-घटते रहते हैं,वैसे यह दृष्टांत मनुष्यों को भी ग्रहण करना योग्य है। जैसे पुरुषार्थ करते हुए पुरुष का सहाय दूसरा भी करता है, वैसे धर्म से पुरुषार्थी पुरुष का सहाय ईश्वर भी करता है।

जैसे काम करनेवाले पुरुष को भृत्य करते हैं[1] और अन्य आलसी को नहीं। देखने की इच्छा करने और नेत्रवाले को दिखलाते हैं, अन्धे को नहीं। इसी प्रकार परमेश्वर भी सबके उपकार करने की प्रार्थना में सहायक होता है, हानिकारक कर्म में नहीं। जो कोई 'गुड़ मीठा है' ऐसा कहता [ही] है, उसको गुड़ प्राप्त वा उसको स्वाद प्राप्त कभी नहीं होता। और जो यत्न करता है, उसको शीघ्र वा विलम्ब से गुड़ मिल ही जाता है।

अब तीसरी उपासना—

समाधिनिर्धूतमलस्य चेतसो निवेशितस्यात्मनि यत्सुखं भवेत्।
न शक्यते वर्णयितुं गिरा तदा स्वयन्तदन्तःकरणेन गृह्यते ॥१॥

यह उपनिषद् का वचन है[2]।

जिस पुरुष के समाधियोग से अविद्यादि मल नष्ट हो गये हैं, आत्मस्थ होकर परमात्मा में चित्त जिसने लगाया है, उसको जो परमात्मा के योग का सुख होता है, वह वाणी से कहा नहीं जा सकता। क्योंकि उस आनन्द को जीवात्मा अपने अन्तःकरण से ग्रहण करता है।

---

१. अर्थात् 'रखते हैं।'। किसी-किसी सं० में 'कहते हैं' पाठ है।

२. मैत्रायण्यु० प्र० ४। खं० ४। वचन ९ ॥ तथा मैत्रायणीय आरण्य ६। ३४॥ यहां प्रथम पाद में 'समाधिनिर्धौतमलस्य' पाठ है।

'उपासना' शब्द का अर्थ समीपस्थ होना है । अष्टाङ्गयोग से **परमात्मा के** समीपस्थ होने, और उसको सर्वव्यापी सर्वान्तर्यामीरूप से प्रत्यक्ष करने के लिये जो-जो काम करना होता है, वह-वह सब करना चाहिये । अर्थात्—

तत्राऽहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः ।।

इत्यादि[1] सूत्र 'पातञ्जल योगशास्त्र' के हैं ।

जो उपासना का आरम्भ करना चाहै, उसके लिये यही आरम्भ है कि वह किसी से वैर न रक्खे, सर्वदा सबसे प्रीति करे । सत्य बोले, मिथ्या कभी न बोले । चोरी न करे, सत्य-व्यवहार करे । जितेन्द्रिय हो, लम्पट न हो । और निरभिमानी हो, अभिमान कभी न करे । ये पांच प्रकार के **'यम'** मिलके 'उपासनायोग का प्रथम अङ्ग' है ।

शौचसन्तोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः ।। योग सू०[2]

राग-द्वेष छोड़ भीतर, और जलादि से बाहर पवित्र रहे । धर्म से पुरुषार्थ करने से लाभ में न प्रसन्नता, और हानि में न अप्रसन्नता करे, प्रसन्न होकर आलस्य छोड़ सदा पुरुषार्थ किया करे । सदा दुःख-सुखों का सहन, और धर्म ही का अनुष्ठान करे, अधर्म का नहीं । सर्वदा सत्यशास्त्रों को पढ़े-पढ़ावे, सत्पुरुषों का संग करे, और **'ओ३म्'** इस एक परमात्मा के नाम का अर्थ-विचार करे; नित्यप्रति जप किया करे; अपने आत्मा को परमेश्वर की आज्ञानुकूल समर्पित कर देवे । इन पांच प्रकार के **'नियमों'** को मिलाके 'उपासनायोग का दूसरा अङ्ग' कहाता है । इसके आगे छः अङ्ग **योगशास्त्र** वा **ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका**‡ में देख लेवें ।

जब उपासना करना चाहै तब एकान्त शुद्ध देश में जाकर, आसन लगा, प्राणायाम कर बाह्य विषयों से इन्द्रियों को रोक, मन को

---

१. अर्थात् यह तथा अगला । दोनों सूत्र साधनपाद ३०, ३२ के हैं । सूत्र ३० में पठित 'तत्र' पद को कई व्यासभाष्य का पाठ मानते हैं ।

२. द्र० इसी पृष्ठ की टि० १।

‡ 'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका' के उपासना-विषय में इसका वर्णन है ।

नाभिप्रदेश में, वा हृदय कण्ठ नेत्र शिखा अथवा पीठ के मध्य हाड़ में किसी स्थान पर स्थिर कर अपने आत्मा और परमात्मा का विवेचन[1] करके परमात्मा में मग्न होकर संयमी होवे।

जब इन साधनों को करता है, तब उसका आत्मा और अन्तःकरण पवित्र होकर सत्य से पूर्ण हो जाता है। नित्यप्रति ज्ञान-विज्ञान बढ़ाकर मुक्ति तक पहुंच जाता है। जो आठ प्रहर में एक घड़ीभर भी इस प्रकार ध्यान करता है, वह सदा उन्नति को प्राप्त हो जाता है।

वहां सर्वज्ञादि गुणों के साथ परमेश्वर की उपासना करनी **'सगुण'** और द्वेष रूप रस गन्ध स्पर्शादि गुणों से पृथक् मान अतिसूक्ष्म आत्मा के भीतर-बाहर व्यापक परमेश्वर में दृढ़ स्थित हो जाना **'निर्गुणोपासना'** कहाती है।

इसका[2] फल——जैसे शीत से आतुर पुरुष का अग्नि के पास जाने से शीत निवृत्त हो जाता है, वैसे परमेश्वर के समीप प्राप्त होने से सब दोष, दुःख छूटकर परमेश्वर के गुण-कर्म-स्वभाव के सदृश जीवात्मा के गुण-कर्म-स्वभाव पवित्र हो जाते हैं। इसलिये परमेश्वर की स्तुति प्रार्थना और उपासना अवश्य करनी चाहिये। इससे इसका फल पृथक् होगा, परन्तु आत्मा का बल इतना बढ़ेगा [कि] वह पर्वत के समान दुःख प्राप्त होने पर भी न घबरावेगा, और सबको सहन कर सकेगा। क्या यह छोटी बात है? और जो परमेश्वर की स्तुति प्रार्थना और उपासना नहीं करता, वह कृतघ्न और महामूर्ख भी होता है। क्योंकि जिस परमात्मा ने इस जगत् के सब पदार्थ जीवों को सुख के लिये दे रक्खे हैं, उसका गुण भूल जाना, ईश्वर ही को न मानना कृतघ्नता और मूर्खता है।

---

१. नाभ्यां कण्ठे च शीर्षे च हृदि वक्षसि पार्श्वयोः।
दर्शने श्रवणे चाऽपि घ्राणे चाऽमितविक्रम॥
स्थानेष्वेतेषु यो योगी महाव्रतसमाहितः।
आत्मना सूक्ष्ममात्मानं युङ्क्ते सम्यग् विशांपते॥
महा० शान्ति ३००।३९, ४०॥
इसी प्रकार योग व्यासभाष्य २।१ भी द्रष्टव्य है।

२. अर्थात् उपासना का।

प्रश्न--जब परमेश्वर के श्रोत्र-नेत्रादि इन्द्रियां नहीं हैं: फिर वह इन्द्रियों का काम कैसे कर सकता है ?

उत्तर--

अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः ।
स वेत्ति विश्वं न च तस्यास्ति वेत्ता तमाहुरग्र्यं पुरुषं पुराणम् ।१।

यह उपनिषद् का वचन है ।[1]

परमेश्वर के हाथ नहीं, परन्तु अपनी शक्तिरूप हाथ से सबका रचन ग्रहण करता । पग नहीं, परन्तु व्यापक होने से सबसे अधिक वेगवान्, चक्षु का गोलक नहीं, परन्तु सबको यथावत् देखता । श्रोत्र नहीं, तथापि सबकी बातें सुनता । अन्तःकरण नहीं, परन्तु सब जगत् को जानता है । और उसको अवधिसहित जाननेवाला कोई भी नहीं । उसी को सनातन, सबसे श्रेष्ठ, सबमें पूर्ण होने से 'पुरुष' कहते हैं । वह इन्द्रियों और अन्तःकरण से [होनेवाले] काम[2] अपने सामर्थ्य से करता है ।।१।।[3]

प्रश्न--उसको बहुत-से मनुष्य निष्क्रिय और निर्गुण कहते हैं ?

उत्तर--

न तस्य कार्य्यं करणं च विद्यते न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते ।
परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च ।।१।।

यह उपनिषद् का वचन है ।[4]

परमात्मा से कोई तद्रूप कार्य, और उसको करण अर्थात् साधकतम[5] दूसरा अपेक्षित नहीं । न कोई उसके तुल्य और न अधिक है । सर्वोत्तम शक्ति अर्थात् जिसमें अनन्तज्ञान, अनन्तबल और अनन्तक्रिया है । वह स्वाभाविक अर्थात् सहज उसमें सुनी जाती है । जो परमेश्वर निष्क्रिय होता, तो जगत् की उत्पत्ति स्थिति

---

१. श्वेताश्वतर० अ० ३। मं १९।। वहां अन्तिम पद 'महान्तम्' है ।
२. सं० ३४ में 'अन्तःकरण के विना अपने सब काम' पाठ है ।
३. सं० २ में यह संख्या 'पुरुष कहते हैं' के अन्त में दी हुई है ।
४. श्वेताश्वतर० अ० ६। मं० ८।।
५. द्र०-साधकतमं करणम् । अष्टा० १।४।४२।।

प्रलय न कर सकता। इसलिये वह विभु तथापि चेतन होने से उसमें क्रिया भी है [॥१॥]

प्रश्न--जब वह क्रिया करता होगा, तब अन्तवाली क्रिया होती होगी, वा अनन्त ?

उत्तर--जितने देश-काल में क्रिया करनी उचित समझता है, उतने ही देश-काल में क्रिया करता है, न अधिक न न्यून। क्योंकि वह विद्वान् है।

प्रश्न--परमेश्वर अपना अन्त जानता है, वा नहीं ?

उत्तर--परमात्मा पूर्ण ज्ञानी है। क्योंकि '**ज्ञान**' उसको कहते हैं कि जिससे ज्यों-का-त्यों जाना जाय। अर्थात् जो पदार्थ जिस प्रकार का हो, उसको उसी प्रकार का जानने का नाम '**ज्ञान**' है। [जब] परमेश्वर अनन्त है, तो उसको अनन्त ही जानना ज्ञान, उससे विरुद्ध अज्ञान। अर्थात् अनन्त को सान्त और सान्त को अनन्त जानना '**भ्रम**' कहाता है। '**यथार्थदर्शनं ज्ञानमिति**'[1] जिसका जैसा गुण-कर्म-स्वभाव हो, उस पदार्थ को वैसा ही जानकर मानना ही 'ज्ञान और विज्ञान' कहाता है, [2]उलटा अज्ञान।

इसलिये--

क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः॥ योगसू०[3]

जो अविद्यादि क्लेश, कुशल-अकुशल, इष्ट-अनिष्ट और मिश्र फलदायक कर्मों की वासना से रहित है, वह सब जीवों से विशेष 'ईश्वर' कहाता है।

प्रश्न--**ईश्वरासिद्धेः॥१॥**

प्रमाणाभावान्न तत्सिद्धिः॥२॥

सम्बन्धाभावान्नानुमानम्॥३॥ सांख्यसू०[4]

---

१. तुलना करो—'तत्वज्ञानार्थदर्शनम्। एतज्ज्ञानमिति'। भगवद्गीता–१३।११॥

२. सं० ३४ में 'और उससे उल्टा' पाठ है। अन्य संस्करणों में 'इससे उल्टा' पाठ है। विराम दे देने से पाठ-परिवर्धन की आवश्यकता नहीं रहती।

३. योग० समाधिपाद २४॥ ४. क्रमशः १।९२; ५।१०; ५।११॥

[1]प्रत्यक्ष से [न] घट सकते ईश्वर की सिद्धि नहीं होती ॥१॥

क्योंकि जब उसकी सिद्धि में प्रत्यक्ष ही नहीं, तो अनुमानादि प्रमाण नहीं हो सकता[1] ॥२॥

और व्याप्ति-सम्बन्ध न होने से अनुमान भी नहीं हो, सकता। पुनः प्रत्यक्षानुमान के न होने से शब्दप्रमाण आदि भी नहीं घट सकते। इस कारण ईश्वर की सिद्धि नहीं हो सकती ॥३॥

उत्तर—यहां ईश्वर की सिद्धि में प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं है, और न ईश्वर जगत् का उपादान कारण है[2]। और पुरुष से विलक्षण अर्थात् सर्वत्र पूर्ण होने से परमात्मा का नाम 'पुरुष' और शरीर में शयन करने से जीव का भी नाम 'पुरुष' है। क्योंकि इसी प्रकरण में कहा है—

प्रधानशक्तियोगाच्चेत् सङ्गापत्तिः ॥१॥

सत्तामात्राच्चेत् सर्वैश्वर्यम् ॥२॥

श्रुतिरपि प्रधानकार्य्यत्वस्य ॥ सांख्यसू०[3]

यदि पुरुष को प्रधानशक्ति का योग हो, तो पुरुष में सङ्गापत्ति हो जाय। अर्थात् जैसे प्रकृति सूक्ष्म से मिलकर कार्यरूप में सङ्गत हुई है, वैसे परमेश्वर भी स्थूल हो जाय। इसलिये परमेश्वर जगत् का उपादानकारण नहीं, किन्तु निमित्तकारण है ॥१॥

जो चेतन से जगत् की उत्पत्ति हो, तो जैसा परमेश्वर समग्रैश्वर्य-युक्त है, वैसा संसार में भी सर्वैश्वर्य का योग होना चाहिये, सो नहीं है। इसलिये परमेश्वर जगत् का उपादान कारण नहीं, किन्तु निमित्त-कारण है ॥२॥

क्योंकि उपनिषद् भी प्रधान ही को जगत् का उपादानकारण कहती है ॥३॥

---

१. सं ३४ में—'प्रत्यक्ष से ईश्वर की सिद्धि नहीं होती ॥१॥ क्योंकि··· प्रमाण नहीं घट सकते ॥२॥' पाठ है। सं० २-३३ तक ऊपर मुद्रित पाठ ही है। 'न घट सकते ईश्वर' का भाव है—'सिद्ध न हो सकनेवाले ईश्वर'।

२. 'इतना ही इन सूत्रों का भाव है' इति शेषः।

३. क्रमशः—५।८,९,१२॥

जैसे—

अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां स्वरूपाः ।।

यह श्वेताश्वतर उपनिषद् का वचन है।[1]

जो जन्मरहित सत्त्व-रज-तमोगुणरूप प्रकृति है, वही स्वरूपाकार से बहुत प्रजारूप हो जाती ही है। अर्थात् प्रकृति परिणामिनी होने से अवस्थान्तर हो जाती है। और पुरुष अपरिणामी होने से वह अवस्थान्तर होकर दूसरे रूप में कभी नहीं प्राप्त होता, सदा कूटस्थ निर्विकार रहता है। इसलिये जो कोई कपिलाचार्य को अनीश्वरवादी कहता है, जानो वही अनीश्वरवादी है, कपिलाचार्य नहीं।

तथा मीमांसा का 'धर्म-धर्मी' से ईश्वर से, वैशेषिक और न्याय भी 'आत्मा' शब्द से अनीश्वरवादी नहीं। क्योंकि सर्वज्ञत्वादि-धर्मयुक्त, और '**अतति सर्वत्र व्याप्नोतीत्यात्मा**' जो सर्वत्र व्यापक और सर्वज्ञादिधर्मयुक्त सब जीवों का आत्मा है, उसको मीमांसा वैशेषिक और न्याय ईश्वर मानते हैं।

प्रश्न—ईश्वर अवतार लेता है, वा नहीं ?

उत्तर—नहीं। क्योंकि '**अज एकपात्**'[2]; '**स पर्यगाच्छुक्रमकायम्**'[3] ये यजुर्वेद के वचन हैं। इत्यादि वचनों से [सिद्ध है कि] परमेश्वर जन्म नहीं लेता।

प्रश्न—यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।

अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ।।१।। भ० गी०[4]

श्रीकृष्णजी कहते हैं कि—'जब-जब धर्म का लोप होता है, तब-तब मैं शरीर धारण करता हूं' [।।१।।]

उत्तर यह बात वेदविरुद्ध होने से प्रमाण नहीं। और ऐसा हो सकता है कि श्रीकृष्ण धर्मात्मा और धर्म की रक्षा करना चाहते थे कि मैं युग-युग में जन्म लेके श्रेष्ठों की रक्षा और दुष्टों का नाश

---

१. श्वे० ४।५।। उपनिषद् में 'सरूपाः' पाठ मिलता है।

२. यजुः ३४।५३।। ३. यजुः ४०।८।। ४. भ० गी० ४।७।।

करूं, तो कुछ दोष नहीं। क्योंकि 'परोपकाराय सतां विभूतयः'[1] परोपकार के लिये सत्पुरुषों का तन-मन-धन होता है। तथापि इससे श्रीकृष्ण ईश्वर नहीं हो सकते।

प्रश्न – जो ऐसा है, तो संसार में चौबीस ईश्वर के अवतार होते हैं, और इनको अवतार क्यों मान[ते] हैं?

उत्तर – वेदार्थ के न जानने, सम्प्रदायी लोगों के बहकाने, और अपने-आप अविद्वान् होने से भ्रमजाल में फसके ऐसी-ऐसी अप्रामाणिक बातें करते और मानते हैं।

प्रश्न – जो ईश्वर अवतार न लेवे, तो कंस-रावणादि दुष्टों का नाश कैसे हो सके?

उत्तर –प्रथम जो जन्मा है, वह अवश्य मृत्यु को प्राप्त होता है। जो ईश्वर अवतार शरीर धारण किये विना जगत् की उत्पत्ति-स्थिति-प्रलय करता है, उसके सामने कंस और रावणादि एक कीड़ी के समान भी नहीं। वह सर्वव्यापक होने से कंस-रावणादि के शरीरों में भी परिपूर्ण हो रहा है। जब चाहै, उसी समय मर्मच्छेदन कर नाश कर सकता है। भला इस अनन्त-गुण-कर्म-स्वभावयुक्त परमात्मा को एक क्षुद्र जीव के मारने के लिये जन्ममरणयुक्त कहनेवाले को मूर्खपन से अन्य कुछ विशेष उपमा मिल सकती है?

और जो कोई कहे कि भक्तजनों के उद्धार करने के लिये जन्म लेता है, तो भी सत्य नहीं। क्योंकि जो भक्तजन ईश्वर की आज्ञानुकूल चलते हैं, उनके उद्धार करने का पूरा सामर्थ्य ईश्वर में है। क्या ईश्वर के पृथिवी सूर्य चन्द्रादि जगत् को[2] बनाने, धारण और प्रलय करने रूप कर्मों से कंस-रावणादि का वध और गोवर्धनादि पर्वतों का उठाना बड़े कर्म हैं? जो कोई इस सृष्टि में परमेश्वर के

---

१. पूरा श्लोक इस प्रकार है—'मूले भुजङ्गैः शिखरे विहङ्गैः, शाखाः प्लवङ्गैः कुसुमानि भृङ्गैः। आश्चर्यमेतत् खलु चन्दनस्य, परोपकाराय सतां विभूतयः'॥ कस्यचित् कवेः

२. सं० २ में 'का' पाठ है।

कर्मों का विचार करे, तो **'न भूतो न भविष्यति'**[1] ईश्वर के सदृश कोई न है, न होगा।

और युक्ति से भी ईश्वर का जन्म सिद्ध नहीं होता। जैसे कोई अनन्त आकाश को कहै कि 'गर्भ में आया' वा 'मूठी में धर लिया' ऐसा कहना कभी सच नहीं हो सकता। क्योंकि आकाश अनन्त और सबमें व्यापक है, इससे न आकाश बाहर आता और न भीतर जाता। वैसे ही अनन्त सर्वव्यापक परमात्मा के होने से उसका आना-जाना कभी सिद्ध नहीं हो सकता।

जाना वा आना वहां हो सकता है, जहां न हो। क्या परमेश्वर गर्भ में व्यापक नहीं था जो कहीं से आया ? और बाहर नहीं था जो भीतर से निकला ? ऐसा ईश्वर के विषय में कहना और मानना विद्याहीनों के सिवाय कौन कह और मान सकेगा ? इसलिये परमेश्वर का जाना-आना जन्म-मरण कभी सिद्ध नहीं हो सकता।

इसलिये 'ईसा' आदि भी ईश्वर के अवतार नहीं, ऐसा समझ लेना। क्योंकि राग-द्वेष, क्षुधा-तृषा, भय-शोक, दुःख-सुख, जन्म-मरण आदि गुणयुक्त होने से मनुष्य थे।

प्रश्न—ईश्वर अपने भक्तों के पाप क्षमा करता है, वा नहीं ?

उत्तर—नहीं। क्योंकि जो पाप क्षमा करे, तो उसका न्याय नष्ट हो जाय, और सब मनुष्य महापापी हो जायें। क्योंकि क्षमा की बात सुन ही के उनको पाप करने में निर्भयता और उत्साह हो जाये। जैसे राजा अपराध को क्षमा कर दे, तो वे उत्साहपूर्वक अधिक अधिक बड़े-बड़े पाप करें। क्योंकि राजा अपना अपराध क्षमा कर देगा। और उनको भी भरोसा हो जाय कि राजा से हम हाथ जोड़ने आदि चेष्टा कर अपने अपराध छुड़ा लेंगे। और जो अपराध नहीं करते, वे भी अपराध करने से न डरकर पाप करने में प्रवृत्त हो

---

१. इस चरण को समस्या के रूप में रखकर भिन्न-भिन्न कवियों ने इस की भिन्न-भिन्न प्रकार से पूर्ति की है। द्र०—'समयोचित-पद्यमालिका' निर्णयसागर प्रेस, सन् १९२४, पृष्ठ ३४।

जायेंगे। इसलिये सब कर्मों का फल यथावत् देना ही ईश्वर का काम है, क्षमा करना नहीं।

प्रश्न—जीव स्वतन्त्र है, वा परतन्त्र ?

उत्तर—अपने कर्त्तव्य कर्मों में स्वतन्त्र, और ईश्वर की व्यवस्था में परतन्त्र है। '**स्वतन्त्रः कर्ता**' यह पाणिनीय व्याकरण का सूत्र[1] है। जो स्वतन्त्र अर्थात् स्वाधीन है, वही कर्त्ता है।

प्रश्न—स्वतन्त्र किसको कहते हैं ?

उत्तर—जिसके आधीन शरीर प्राण इन्द्रिय और अन्तःकरणादि हों। जो स्वतन्त्र न हो, तो उसको पाप-पुण्य का फल प्राप्त कभी नहीं हो सकता। क्योंकि जैसे भृत्य स्वामी और सेना सेनाध्यक्ष की आज्ञा अथवा प्रेरणा से युद्ध में अनेक पुरुषों को मारके अपराधी नहीं होते, वैसे परमेश्वर की प्रेरणा और आधीनता से काम सिद्ध हों, तो जीव को पाप वा पुण्य न लगे। उस फल का भागी[2] प्रेरक परमेश्वर होवे। नरक-स्वर्ग अर्थात् दुःख-सुख[3] की प्राप्ति भी परमेश्वर को होवे।

जैसे किसी मनुष्य ने शस्त्र विशेष से किसी को मार डाला, तो वही मारनेवाला पकड़ा जाता है, और वही दण्ड पाता है, शस्त्र नहीं। वैसे ही पराधीन जीव पाप-पुण्य का भागी नहीं हो सकता। इसलिये अपने सामर्थ्यानुकूल कर्म करने में जीव स्वतन्त्र। परन्तु जब वह पाप कर चुकता है, तब ईश्वर की व्यवस्था में पराधीन होकर पाप के फल भोगता है। इसलिये कर्म करने में जीव स्वतन्त्र, और पाप [के] दुःख-रूप फल भोगने में परतन्त्र होता है।

प्रश्न—जो परमेश्वर जीव को न बनाता और सामर्थ्य न देता, तो जीव कुछ भी न कर सकता। इसलिये परमेश्वर की प्रेरणा ही से जीव कर्म करता है।

उत्तर—जीव उत्पन्न कभी न हुआ, अनादि है। जैसा ईश्वर

---

१. अष्टा० १।४।५४॥ २. सं० २ में 'भी' अपपाठ है।

३. सं० २ में 'सुख-दुःख' इस प्रकार पूर्वापर पाठ है।

और जगत् का उपादान कारण नित्य[1] है। और जीव का शरीर तथा इन्द्रियों के गोलक परमेश्वर के बनाये हुए हैं, परन्तु वे सब जीव के आधीन हैं। जो कोई मन-कर्म-वचन से पाप-पुण्य करता है, वही भोगता है, ईश्वर नहीं।

जैसे किसी ने पहाड़ से लोहा निकाला, उस लोहे को किसी व्यापारी ने लिया। उसकी दुकान से लोहार ने ले तलवार बनाई। उससे किसी सिपाही ने तलवार ले ली, फिर उससे किसी को मार डाला। अब यहां जैसे वह लोहे को उत्पन्न करने, उससे लेने, तलवार बनानेवाले और तलवार को पकड़कर राजा दण्ड नहीं देता, किन्तु जिसने तलवार से मारा वही दण्ड पाता है, इसी प्रकार शरीरादि की उत्पत्ति करनेवाला परमेश्वर उसके कर्मों का भोक्ता नहीं होता, किन्तु जीव को भुगानेवाला होता है।

जो परमेश्वर कर्म कराता[2], तो कोई जीव पाप नहीं करता। क्योंकि परमेश्वर पवित्र और धार्मिक होने से किसी जीव को पाप करने में प्रेरणा नहीं करता। इसलिये जीव अपने काम करने में स्वतन्त्र है। जैसे जीव अपने कामों के करने में स्वतन्त्र हैं, वैसे ही परमेश्वर भी अपने कामों के करने में स्वतन्त्र है।

प्रश्न—जीव और ईश्वर का स्वरूप गुण कर्म और स्वभाव कैसा है?

उत्तर—दोनों चेतनस्वरूप हैं। स्वभाव दोनों का पवित्र, अविनाशी और धार्मिकता आदि है। परन्तु परमेश्वर के सृष्टि की उत्पत्ति-स्थिति-प्रलय, सबको नियम में रखना, जीवों को पाप-पुण्यों के फल देना आदि धर्मयुक्त कर्म हैं। और जीव के सन्तानोत्पत्ति, उनका पालन, शिल्पविद्या आदि अच्छे-बुरे कर्म हैं। ईश्वर के नित्य-ज्ञान, आनन्द, अनन्तबल आदि गुण हैं। और जीव के—

इच्छाद्वेषप्रयत्नसुखदुःखज्ञानान्यात्मनो लिङ्गमिति ॥ न्यायसू०[3]

---

१. सं० २ में 'निमित्त' अपपाठ है।
२. सं० २ में 'करता' अपपाठ है।
३. न्यायदर्शन १।१।१०॥

प्राणापाननिमेषोन्मेषमनोगतीन्द्रियान्तर्विकाराः सुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नाश्चात्मनो लिङ्गानि[1] ॥ वैशेषिक सूत्र[2]

(इच्छा) पदार्थों की प्राप्ति की अभिलाषा, (द्वेष) दुःखादि की अनिच्छा वैर, (प्रयत्न) पुरुषार्थ बल, (सुख) आनन्द, (दुःख) विलाप अप्रसन्नता, (ज्ञान) विवेक पहिचानना ये तुल्य हैं। परन्तु वैशेषिक में (प्राण) प्राणवायु को बाहर निकालना[3], (अपान) प्राण को बाहर से भीतर को लेना[3], (निमेष) आंख को मींचना, (उन्मेष) आंख को खोलना, (मन) निश्चय स्मरण और अहंकार करना, (गति) चलना, (इन्द्रिय) सब इन्द्रियों को चलाना, (अन्त-र्विकार) भिन्न-भिन्न क्षुधा-तृषा, हर्ष-शोकादियुक्त होना, ये जीवात्मा के गुण परमात्मा से भिन्न हैं। इन्हीं से आत्मा की प्रतीति करनी, क्योंकि वह स्थूल नहीं है।

जब तक आत्मा देह में होता है, तभी तक ये गुण प्रकाशित रहते हैं। और जब शरीर छोड़ [कर] चला जाता है, तब ये गुण शरीर में नहीं रहते। जिसके होने से जो हों और न होने से न हों, वे गुण उसी के होते हैं। जैसे दीप और सूर्यादि के न होने से प्रकाशादि का न होना और होने से होना है, वैसे ही जीव और परमात्मा का विज्ञान गुणद्वारा होता है।

प्रश्न—परमेश्वर त्रिकालदर्शी है, इससे भविष्यत् की बातें जानता है। वह जैसा निश्चय करेगा, जीव वैसा ही करेगा। इससे जीव स्वतन्त्र नहीं। और जीव को ईश्वर दण्ड भी नहीं दे सकता।

---

१. सं० २ में 'सुख-दुःखे इच्छाद्वेषौ प्रयत्नाश्चात्मनो लिङ्गानि' अप-पाठ है। पूर्व पृष्ठ ८७ पर शुद्ध पाठ छपा है।

२. वैशेषिक दर्शन ३।२।४॥

३. प्राण और अपान का जो अर्थ ग्रन्थकार ने लिखा है, वही प्राचीन है। इस विषय में द्र० पूर्व पृष्ठ ८८। इसी विषय में नया प्रमाण—'योऽयमूर्ध्वमाक्रमत्येष वाव स प्राणः, अथ योऽयमवाङ् संक्रामत्येष वाव सोऽपानः'। मैत्रायणीय आरण्यक २।६॥ यहां भी तृतीय समुल्लासस्थ पाठ के समान सं० ५-१४ तक उलटा पाठ मिलता है।

क्योंकि जैसा ईश्वर ने अपने ज्ञान में निश्चित किया है, वैसा ही जीव करता है।

उत्तर—ईश्वर को त्रिकालदर्शी कहना मूर्खता का काम है। क्योंकि जो होकर न रहै वह 'भूतकाल', और न होके होवे वह 'भविष्यत्काल' कहाता है। क्या ईश्वर को कोई ज्ञान होके नहीं रहता तथा न होके होता है? इसलिये परमेश्वर का ज्ञान सदा एकरस अखण्डित वर्त्तमान रहता है। भूत भविष्यत् जीवों के लिये है। हां, जीवों के कर्म की अपेक्षा से त्रिकालज्ञता ईश्वर में है, स्वतः नहीं।

जैसा स्वतन्त्रता से [कर्म] जीव करता है, वैसा ही सर्वज्ञता से ईश्वर जानता है। और जैसा ईश्वर जानता है, वैसा जीव करता है। अर्थात् भूत भविष्यत् वर्त्तमान के ज्ञान और फल देने में ईश्वर स्वतन्त्र, और जीव किञ्चित् वर्त्तमान और कर्म करने में स्वतन्त्र है। ईश्वर का अनादि ज्ञान होने से जैसा कर्म का ज्ञान है, वैसा ही दण्ड देने का भी ज्ञान अनादि है। दोनों ज्ञान उसके सत्य हैं। क्या कर्म-ज्ञान सच्चा और दण्डज्ञान मिथ्या कभी हो सकता है? इसलिये इसमें कोई भी दोष नहीं आता।

प्रश्न—जीव शरीर में भिन्न विभु है, वा परिच्छिन्न?

उत्तर—परिच्छिन्न। जो विभु होता तो जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति, मरण-जन्म, संयोग-वियोग, जाना-आना कभी नहीं हो सकता। इसलिये जीव का स्वरूप अल्पज्ञ अल्प अर्थात् सूक्ष्म है। और परमेश्वर अतीव सूक्ष्मात्सूक्ष्मतर, अनन्त, सर्वज्ञ और सर्वव्यापकस्वरूप है। इसीलिये जीव और परमेश्वर का व्याप्य-व्यापक सम्बन्ध है।

प्रश्न—जिस जगह में एक वस्तु होती है, उस जगह में दूसरी वस्तु नहीं रह सकती। इसलिये जीव और ईश्वर का संयोग-सम्बन्ध हो सकता है, व्यापक-व्यापक नहीं।

उत्तर—यह नियम समान आकारवाले पदार्थों में घट सकता है, असमानाकृति में नहीं। जैसे लोहा स्थूल, अग्नि सूक्ष्म होता है, इस कारण से लोहे में विद्युत् अग्नि व्यापक होकर एक ही अवकाश

में दोनों रहते हैं। वैसे जीव परमेश्वर से स्थूल और परमेश्वर जीव से सूक्ष्म होने से परमेश्वर व्यापक और जीव व्याप्य है। जैसे यह व्याप्य-व्यापक सम्बन्ध जीव ईश्वर का है, वैसे ही सेव्य-सेवक, आधाराधेय, स्वामी-भृत्य, राजा-प्रजा और पिता-पुत्र आदि भी सम्बन्ध हैं।

प्रश्न—जो पृथक्-पृथक् हैं, तो—

प्रज्ञानं ब्रह्म[1] ॥१॥ **अहं ब्रह्मास्मि**[2] ॥२॥

तत्त्वमसि[3] ॥३॥ **अयमात्मा ब्रह्म**[4] ॥४॥

वेदों के इन 'महावाक्यों'[5] का अर्थ क्या है?

उत्तर—ये वेदवाक्य ही नहीं हैं, किन्तु ब्राह्मणग्रन्थों के वचन हैं। और इनका नाम 'महावाक्य' कहीं सत्यशास्त्रों में नहीं लिखा। अर्थात्—(अहम्) मैं (ब्रह्म) अर्थात् ब्रह्मस्थ (अस्मि) हूं। यहां तात्स्थ्योपाधि है। जैसे—'मञ्चाः क्रोशन्ति' मचान पुकारते हैं। मचान जड़ हैं, उनमें पुकारने का सामर्थ्य नहीं, इसलिये मञ्चस्थ मनुष्य पुकारते हैं[6]। इसी प्रकार यहां भी जानना।

कोई कहै कि ब्रह्मस्थ सब पदार्थ हैं, पुनः जीव को ब्रह्मस्थ कहने में क्या विशेष है? इसका उत्तर यह है कि सब पदार्थ ब्रह्मस्थ हैं। परन्तु जैसा [सा]धर्म्य-युक्त निकटस्थ जीव है, वैसा अन्य नहीं। और जीव को ब्रह्म का ज्ञान और मुक्ति में वह ब्रह्म के साक्षात्सम्बन्ध में रहता है। इसलिये जीव का ब्रह्म के साथ तात्स्थ्य वा तत्सहचरितोपाधि अर्थात् ब्रह्म का सहचारी जीव है। इससे जीव और ब्रह्म एक नहीं।

जैसे कोई किसी से कहै कि मैं और यह एक हैं, अर्थात् अविरोधी हैं, वैसे जो जीव समाधिस्थ [हो] परमेश्वर में प्रेमबद्ध होकर

---

१. ऐतरेय ५।३॥ २. बृहदारण्यक १।४।१०॥

३. छान्दोग्य ६।८।७॥ ४. माण्डू० २॥

५. द्र०—प्रज्ञानं ब्रह्म तत्त्वमसि अयमात्मान्तर्याम्यमृतः अहं ब्रह्मास्मीति महावाक्यैः प्रतिपादितमर्थम्...। हयग्रीवोपनिषद् १॥

६. द्र०—न्यायभाष्य २।२।६१॥

निमग्न होता है, वह कह सकता है कि मैं और ब्रह्म एक अर्थात् अविरोधी एक अवकाशस्थ हैं। जो जीव परमेश्वर के गुण-कर्म-स्वभाव के अनुकूल अपने गुण-कर्म-स्वभाव करता है, वही साधर्म्य से ब्रह्म के साथ एकता कह सकता है।

प्रश्न—अच्छा तो इसका अर्थ कैसा करोगे—(तत्) ब्रह्म (त्वं) तू जीव (असि) है। हे जीव! (त्वम्) तू (तत्) वह ब्रह्म (असि) है।

उत्तर—तुम 'तत्' शब्द से क्या लेते हो?

[प्रश्न—] 'ब्रह्म'

[उत्तर—] ब्रह्मपद की अनुवृत्ति कहां से लाये?

[प्रश्न—] '**सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयं ब्रह्म**' इस पूर्व वाक्य से।

[उत्तर—]तुमने इस छान्दोग्य उपनिषद् का दर्शन भी नहीं किया। जो वह देखी होती, तो वहां 'ब्रह्म' शब्द का पाठ ही नहीं है। ऐसा झूठ क्यों कहते? किन्तु 'छान्दोग्य' में तो–'**सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्**'[1] ऐसा पाठ है। वहां 'ब्रह्म' शब्द नहीं।

प्रश्न—तो आप तच्छब्द से क्या लेते हैं?

उत्तर—'स य एषोऽणिमैतदात्म्यमिदꣳसर्वं तत्सत्यꣳस आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो इति'। छान्दो०[2]

वह परमात्मा जानने योग्य है, जो यह अत्यन्त सूक्ष्म और इस सब जगत् और जीव का आत्मा है। वही सत्यस्वरूप और अपना आत्मा आप ही है। हे श्वेतकेतो प्रियपुत्र! '**तदात्मकस्तदन्तर्यामी त्वमसि**' उस परमात्मा अन्तर्यामी से तू युक्त है।

यही अर्थ उपनिषदों से अविरुद्ध है। क्योंकि—

---

१. छां० उप० ६।२।१॥

२. छा० उप० ६।८।७॥ छान्दोग्योप० के किसी-किसी संस्करण में 'स य एषोऽणिमा' पूर्वकण्डिका ६ के अन्त में मिलता है। उत्तरभाग ७ वीं कण्डिका में।

य आत्मनि तिष्ठन्नात्मनोऽन्तरो यमात्मा न वेद यस्यात्मा शरीरम्। आत्मनोऽन्तरो यमयति स त आत्मान्तर्याम्यमृतः ॥

यह बृहदारण्यक का वचन है[1]।

महर्षि याज्ञवल्क्य अपनी स्त्री मैत्रेयी[2] से कहते हैं कि—'हे मैत्रेयि ! जो परमेश्वर आत्मा अर्थात् जीव में स्थित और जीवात्मा से भिन्न है। जिसको मूढ़ जीवात्मा नहीं जानता कि वह परमात्मा मेरे में व्यापक है। जिस परमेश्वर का जीवात्मा शरीर, अर्थात् जैसे शरीर में जीव रहता है, वैसे ही जीव में परमेश्वर व्यापक है। जीवात्मा से भिन्न रहकर, जीव के पाप-पुण्यों का साक्षी होकर, उनके फल जीवों को देकर नियम में रखता है। वही अविनाशीस्वरूप तेरा भी अन्तर्यामी आत्मा अर्थात् तेरे भीतर व्यापक है, उसको तू जान। [3]इत्यादि वचनों का क्या कोई अन्यथा अर्थ कर सकता है ?

'**अयमात्मा ब्रह्म**' अर्थात् समाधि-दशा में जब योगी को परमेश्वर प्रत्यक्ष होता है, तब वह कहता है कि—'यह जो मेरे में व्यापक है, वही ब्रह्म सर्वत्र व्यापक है'। इसलिये जो आजकल के वेदान्ती जीव ब्रह्म की एकता करते हैं, वे वेदान्तशास्त्र को नहीं जानते।

प्रश्न—

अनेनात्मना जीवेनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि ॥१॥छा०[4]

तत् सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत् [॥२॥] तैत्तिरीय०[5]

परमेश्वर कहता है कि मैं जगत् और शरीर को रचकर जगत् में व्यापक और जीवरूप होके शरीर में प्रविष्ट होता हुआ नाम और रूप की व्याख्या करूं ॥१॥

---

१. बृह० उप० के दो पाठ हैं—काण्व और माध्यन्दिन। यह पाठ माध्यन्दिन बृह० उ० का है। द्र० माध्यन्दिन शत० १४।६।७।३२॥

२. शत० १४।६।७।३२ जो बृह० उप० का भाग है, में याज्ञवल्क्य और उद्दालक के संवाद में है, अतः यहां 'मैत्रेयी' के स्थान में 'उद्दालक' होना चाहिये। ३. सं० २ मे 'क्या कोई इत्यादि वचनों का' पूर्वापर पाठ है।

४. छां० उप० ६।३।२॥ वहां 'अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य' पाठ है। केवल शब्द का पौर्वापर्य है। ५. तै० उप० ब्रह्मानन्द वल्ली ६॥

परमेश्वर ने उस जगत् और शरीर को बनाकर उसमें वही प्रविष्ट हुआ ।।२।।

इत्यादि श्रुतियों का अर्थ दूसरा कैसे कर सकोगे ?

उत्तर—जो तुम पद पदार्थ और वाक्यार्थ जानते, तो ऐसा अनर्थ कभी न करते । क्योंकि यहां ऐसा समझो – एक प्रवेश और दूसरा अनुप्रवेश अर्थात् पश्चात् प्रवेश कहाता है। परमेश्वर शरीर में प्रविष्ट हुये जीवों के साथ अनुप्रविष्ट के समान होकर वेद द्वारा सब नाम-रूपादि की विद्या को प्रकट करता है । और शरीर में जीव को प्रवेश करा आप जीव के भीतर अनुप्रविष्ट हो रहा है । जो तुम 'अनु' शब्द का अर्थ जानते, तो वैसा विपरीत अर्थ कभी न करते ।

प्रश्न[1]—'**सोऽयं देवदत्तो य उष्णकाले काश्यां दृष्टः, स इदानीं प्रावृट्समये मथुरायां दृश्यते**' अर्थात् जो देवदत्त मैंने उष्णकाल में काशी में देखा था, उसी को वर्षा-समय में मथुरा में देखता हूं। यहां काशी देश उष्णकाल को छोड़कर शरीरमात्र में लक्ष्य करके देवदत्त लक्षित होता है । वैसे इस 'भागत्यागलक्षणा' से ईश्वर का परोक्ष देश काल माया उपाधि और जीव का यह देश काल अविद्या और अल्पज्ञता उपाधि छोड़ चेतनमात्र में लक्ष्य देने से एक ही ब्रह्म वस्तु दोनों में लक्षित होता है । इस 'भागत्यागलक्षणा' अर्थात् कुछ ग्रहण करना और कुछ छोड़ देना, जैसा सर्वज्ञत्वादि वाच्यार्थ ईश्वर का और अल्पज्ञत्वादि वाच्यार्थ जीव का छोड़कर चेतनमात्र लक्ष्यार्थ का ग्रहण करने से अद्वैत सिद्ध होता है । यहां क्या कह सकोगे ?

उत्तर—प्रथम तुम जीव और ईश्वर को नित्य मानते हो, वा अनित्य ?

प्रश्न[1]—इन दोनों को उपाधिजन्य कल्पित होने से अनित्य मानते हैं ।

उत्तर—उस उपाधि को नित्य मानते हो, वा अनित्य ?

प्रश्न—हमारे मत में—

---

१. प्रश्न अर्थात् पूर्वपक्षी वेदान्ती का वचन ।

जीवेशौ च विशुद्धाचिद्विभेदस्तु तयोर्द्वयोः ।
अविद्या तच्चितोर्योगः षडस्माकमनादयः ॥१॥
कार्योपाधिरयं जीवः कारणोपाधिरीश्वरः ।
कार्यकारणतां हित्वा पूर्णबोधोऽवशिष्यते ॥२॥

ये **'संक्षेपशारीरक[1]'** और **'शारीरकभाष्य[1]'** में कारिका हैं । हम वेदान्ती छः पदार्थों अर्थात् एक जीव, दूसरा ईश्वर, तीसरा ब्रह्म, चौथा जीव और ईश्वर का विशेष भेद, पांचवां अविद्या=अज्ञान, और छःठा अविद्या और चेतन का योग इनको अनादि मानते हैं [॥१॥]

परन्तु एक ब्रह्म अनादि अनन्त, और अन्य पांच अनादि सान्त हैं, जैसा कि प्रागभाव होता है । जबतक अज्ञान रहता है, तबतक ये पांच रहते हैं । और इन पांच की आदि विदित नहीं होती, इसलिये अनादि । और ज्ञान होने के पश्चात् नष्ट हो जाते हैं, इसलिये सान्त अर्थात् नाशवाले कहाते हैं [॥२॥]

उत्तर—यह तुम्हारे दोनों श्लोक अशुद्ध हैं । क्योंकि अविद्या के योग के विना जीव, और माया के योग के विना ईश्वर तुम्हारे मत में सिद्ध नहीं हो सकता । इससे **'तच्चितोर्योगः'** जो छःठा पदार्थ तुमने गिना है, वह नहीं रहा । क्योंकि वह अविद्या माया जीव ईश्वर में चरितार्थ हो गया । और ब्रह्म तथा माया और अविद्या[2]

---

१. प्रथम श्लोक 'सिद्धान्तलेशसंग्रह' (अच्युत ग्रन्थमाला काशी) के पृष्ठ ६३ पर टिप्पणी में दिया है(स्वामी वेदा०) । वेदान्त सिद्धान्तादर्श में पाठ इस प्रकार है— **'जीव ईशो विशुद्धा चित् तथा जीवेशयोर्भिदा । अविद्या तच्चितोर्योगो वेदान्ते षडनादयः ॥'** अद्वैतसिद्धि के दृष्टिसृष्ट्युपपत्ति प्रकरण में यही पाठ अभियुक्तवचन के नाम से उद्धृत है । यहां शब्दभेद मात्र है, अर्थ समान है । द्वितीय श्लोक 'अनुभूतिप्रकाश' अ० १ श्लोक ६१ में द्र० । सिद्धान्तलेशसंग्रह (परिच्छेद १, जीवेशस्वरूपविचार) में लिखा है—**संक्षेपशारीरके तु 'कार्योपाधिरयं जीवः कारणोपाधिरीश्वरः'** ।

२. सं० २ में 'विद्या अपपाठ है । इसी प्रकार इस वाक्य में 'ब्रह्म' पद से उत्तर 'तथा' पद व्यर्थ है ।

के योग के विना ईश्वर नहीं बनता। फिर ईश्वर को अविद्या और ब्रह्म से पृथक् गिनना व्यर्थ है। इसलिये दो ही पदार्थ अर्थात् ब्रह्म और अविद्या तुम्हारे मत में सिद्ध हो सकते हैं, छः नहीं।

तथा आपका प्रथम कार्योपाधि कारणोपाधि से जीव और ईश्वर का सिद्ध करना तब हो सकता [है] कि जब अनन्त, नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्तस्वभाव, सर्वव्यापक ब्रह्म में अज्ञान सिद्ध करें। जो उसके एक देश में स्वाश्रय और स्वविषयक अज्ञान अनादि सर्वत्र मानोगे, तो सब ब्रह्म शुद्ध नहीं हो सकता। और जब एक देश में अज्ञान मानोगे, तो वह परिच्छिन्न होने से इधर-उधर आता-जाता रहेगा। जहां-जहां जायगा, वहां-वहां का ब्रह्म अज्ञानी, और जिस-जिस देश को छोड़ता जायगा, उस-उस देश का ब्रह्म ज्ञानी होता रहेगा। तो किसी देश के ब्रह्म को अनादि शुद्ध ज्ञानयुक्त न कह सकोगे।

और जो अज्ञान की सीमा में ब्रह्म है, वह अज्ञान को जानेगा। बाहर और भीतर के ब्रह्म के टुकड़े हो जायेंगे। जो कहो कि टुकड़ा हो जाओ, ब्रह्म की क्या हानि? तो अखण्ड नहीं, और जो अखण्ड है तो अज्ञानी नहीं। तथा ज्ञान के अभाव वा विपरीत ज्ञान भी गुण होने से किसी द्रव्य के साथ नित्य सम्बन्ध से रहेगा। यदि ऐसा है, तो समवाय सम्बन्ध होने से अनित्य कभी नहीं हो सकता।

और जैसे शरीर के एक देश में फोड़ा होने से सर्वत्र दुःख फैल जाता है, वैसे ही एक देश में अज्ञान-सुख-दुःख-क्लेशों की उपलब्धि होने से सब ब्रह्म दुःखादि के अनुभव से [1]युक्त होगा, और सब ब्रह्म को शुद्ध न कह सकोगे। वैसे[1] ही कार्योपाधि अर्थात् अन्तःकरण की उपाधि के योग से ब्रह्म को जीव मानोगे, तो हम पूछते हैं कि ब्रह्म व्यापक है वा परिच्छिन्न? जो कहो व्यापक, और उपाधि परिच्छिन्न है, अर्थात्

---

१. युक्त·····वैसे' यह पाठ सं० ३४ में है। सं० २ से यह पाठ छूटा हुआ है। इस छूट का कारण 'से' और 'वैसे' में समानाक्षर 'से' सम्बधी दृष्टि-दोष ही है। स० ३४ में 'अनुभव' के आगे 'से' पद छूटा है।

एकदेशी और पृथक्-पृथक् है, तो अन्तःकरण चलता-फिरता है वा नहीं ?

[1]**उत्तर**—चलता-फिरता है ।

[2]**प्रश्न**—अन्तःकरण के साथ ब्रह्म भी चलता फिरता है, वा स्थिर रहता है ?

[3]**उत्तर**—स्थिर रहता है ।

[4]**प्रश्न**—जब अन्तःकरण जिस-जिस देश को छोड़ता है, उस-उस देश का ब्रह्म अज्ञानरहित, और जिस-जिस देश को प्राप्त होता है, उस-उस देश का शुद्ध ब्रह्म अज्ञानी होता होगा । वैसे क्षण में ज्ञानी और अज्ञानी ब्रह्म होता रहेगा । इससे मोक्ष और बन्ध भी क्षणभङ्ग होगा । और जैसे अन्य के देखे का अन्य स्मरण नहीं कर सकता, वैसे कल की देखी-सुनी हुई वस्तु वा बात का ज्ञान नहीं रह सकता । क्योंकि जिस समय देखा-सुना था वह दूसरा देश और दूसरा काल, जिस समय स्मरण करता वह दूसरा देश और काल है ।

जो कहो कि ब्रह्म एक है । तो सर्वज्ञ क्यों नहीं ? जो कहो कि अन्तःकरण भिन्न-भिन्न हैं, इससे वह भी भिन्न-भिन्न हो जाता होगा । तो वह जड़ है, उसमें ज्ञान नहीं हो सकता । जो कहो कि न केवल ब्रह्म और न केवल अन्तःकरण को ज्ञान होता है, किन्तु अन्तःकरणस्थ चिदाभास को ज्ञान होता है । तो भी चेतन ही को अन्तःकरण द्वारा ज्ञान हुआ, तो वह नेत्र[5] द्वारा अल्प अल्पज्ञ क्यों है ? इसलिये कारणोपाधि और कार्योपाधि के योग से ब्रह्म जीव और ईश्वर नहीं बना सकोगे ।

किन्तु ईश्वर नाम ब्रह्म का है, और ब्रह्म से भिन्न अनादि अनुत्पन्न और अमृतस्वरूप जीव का नाम जीव है । जो तुम कहो कि

---

१. पूर्व सिद्धान्ती के उत्तर के अन्त में प्रश्न का निर्देश है । अतः यह उत्तर वेदान्ती का है ।

२. यह प्रश्न सिद्धान्ती का है ।

३. यह उत्तर वेदान्ती का है । ४. यह प्रश्न सिद्धान्ती का है ।

५. उपलक्षक इन्द्रियमात्र का जानना चाहिये ।

जीव चिदाभास का नाम है। तो वह क्षणभङ्ग होने से नष्ट हो जायगा, तो मोक्ष का सुख कौन भोगेगा ? इसलिये ब्रह्म जीव और जीव ब्रह्म कभी न हुआ, न है और न होगा ।

[1]प्रश्न—तो **'सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्'** (छान्दोग्य०)[2] अद्वैतसिद्धि कैसी होगी ? हमारे मत में तो ब्रह्म से पृथक् कोई सजातीय विजातीय और स्वगत अवयवों के भेद न होने से एक ब्रह्म ही सिद्ध होता है। जब जीव दूसरा है, तो अद्वैतसिद्धि कैसे हो सकती है ?

उत्तर—इस भ्रम में पड़ क्यों डरते हो ? 'विशेष्य-विशेषण' विद्या का ज्ञान करो कि उसका क्या फल है ? जो कहो कि—**'व्यावर्त्तकं विशेषणं भवतीति'** विशेषण भेदकारक होता है, तो इतना और भी मानो कि—**'प्रवर्त्तकं प्रकाशकमपि विशेषणं भवतीति'** विशेषण प्रवर्त्तक और प्रकाशक भी होता है। तो समझो कि अद्वैत विशेषण ब्रह्म का है । इसमें व्यावर्त्तक धर्म यह है कि अद्वैत, वस्तु अर्थात् जो अनेक जीव और तत्व हैं उनसे ब्रह्म को पृथक् करता है। और विशेषण का प्रकाशक धर्म यह है कि—ब्रह्म के एक होने की प्रवृत्ति करता है।

जैसे—**'अस्मिन्नगरेऽद्वितीयो धनाढ्यो देवदत्तः; अस्यां सेनायामद्वितीयः शूरवीरो विक्रमसिंहः'** किसी ने किसी से कहा कि इस नगर में अद्वितीय धनाढ्य देवदत्त, और इस सेना में अद्वितीय शूरवीर विक्रमसिंह है। इससे क्या सिद्ध हुआ कि देवदत्त के सदृश इस नगर में दूसरा धनाढ्य, और इस सेना में विक्रमसिंह के समान दूसरा शूरवीर नहीं है, न्यून तो हैं। और पृथिवी आदि जड़ पदार्थ पश्वादि प्राणी और वृक्षादि भी हैं, उनका निषेध नहीं हो सकता । वैसे ही ब्रह्म के सदृश जीव वा प्रकृति नहीं हैं, किन्तु न्यून तो हैं।

---

१. यह प्रश्न वेदान्ती का है ।

२. छां० उप० ६।२।१।। 'छान्दोग्य' पद पर ( ) कोष्ठक हमने वाक्य के अविच्छेद के लिये दिया है ।

इससे यह सिद्ध हुआ कि ब्रह्म सदा एक है, और जीव तथा प्रकृतिस्थ तत्त्व अनेक हैं। उनसे भिन्न कर ब्रह्म के एकत्व को सिद्ध करनेहारा 'अद्वैत'[1] वा अद्वितीय विशेषण है। इससे जीव वा प्रकृति का और कार्य्यरूप जगत् का अभाव, और निषेध नहीं हो सकता। किन्तु ये सब हैं, परन्तु ब्रह्म के तुल्य नहीं। इससे न अद्वैतसिद्धि और [न] द्वैतसिद्धि की हानि होती है। घबराहट में मत पड़ो, सोचो और समझो।

प्रश्न—ब्रह्म के सत् चित् आनन्द, और जीव के अस्ति भाति प्रियरूप से एकता होती है। फिर क्यों खण्डन करते हो ?

उत्तर—किञ्चित् साधर्म्य मिलने से एकता नहीं हो सकती। जैसे पृथिवी जड़ दृश्य है, वैसे जल और अग्नि आदि भी जड़ और दृश्य हैं, इतने से एकता नहीं होती। इनमें वैधर्म्य=भेदकारक अर्थात् विरुद्ध धर्म, जैसे—गन्ध रूक्षता काठिन्य आदि गुण पृथिवी, और रस द्रवत्व कोमलत्वादि धर्म जल, और रूप दाहकत्वादि धर्म अग्नि के होने से एकता नहीं।

जैसे मनुष्य और कीड़ी आंख से देखते मुख से खाते [और] पग

---

१. अद्वैत शब्द का अर्थ है—'**द्वयोर्भावो द्विता, द्वितैव द्वैतम्, न विद्यते द्वैतं यस्मिंस्तद् अद्वैतम्**'। 'द्वि' शब्द की प्रवृत्ति के कारण भाव का नाम है 'द्विता'। अर्थात् द्वि शब्द की प्रवृत्ति का कारण है—भेद। क्योंकि विना भेद के 'द्वि' शब्द प्रवृत्ति ही नहीं हो सकती। अत: द्विता का अर्थ हुआ—भेद। द्विता से स्वार्थ में 'अण्' होकर 'द्वैत' बनता है। इस कारण इसका अर्थ भी भेद ही है। द्विता=द्वैत=भेद जिसमें नहीं है वह अद्वैत, अर्थात् सजातीय विजातीय भेदशून्य एक ब्रह्म। अब यहां विचारणीय हैं कि यदि नवीन वेदान्तियों के मत में ब्रह्म से अतिरिक्त कोई पदार्थ नहीं, तब द्विता या द्वैत की सिद्धि कैसे होगी ? और उसके अभाव में अद्वैत ब्रह्म का विशेषण कैसे बनेगा ? यदि कहो कि मिथ्या-प्रपञ्चरूप जगत्स्थ पदार्थों की दृष्टि से द्विता-द्वैत की सिद्धि हो जायगी, तो यह द्वैत भी मिथ्या है। फिर उसके अभाव को द्योतन करनेवाला अद्वैत भी मिथ्या ही होगा। तब वह मिथ्या विशेषण सद् ब्रह्म का कैसे हो सकता है ? अत: अद्वैत शब्द ही बता रहा है कि कहीं द्वैत=भेद सत्यरूप से विद्यमान है। और उस सत्य द्वैत=भेद के अभाव का निर्देश ही अद्वैत शब्द का वास्तविक अर्थ है।

से चलते हैं, तथापि मनुष्य की आकृति दो पग और कीड़ी की आकृति अनेक पग आदि भिन्न होने से एकता नहीं होती। वैसे परमेश्वर के अनन्तज्ञान आनन्द बल क्रिया, निर्भ्रान्तित्व और व्यापकता जीव से, और जीव के अल्पज्ञान अल्पबल अल्पस्वरूप सब भ्रान्तित्व और परिच्छिन्नतादि गुण ब्रह्म से भिन्न होने से जीव और परमेश्वर एक नहीं। क्योंकि इनका स्वरूप भी (परमेश्वर अतिसूक्ष्म और जीव उससे कुछ स्थूल होने से) भिन्न है।

प्रश्न—अथोदरमन्तरं कुरुते, अथ तस्य भयं भवति।[1]

द्वितीयाद् वै भयं भवति। यह बृहदारण्यक का वचन है[2]।

जो ब्रह्म और जीव में थोड़ा भी भेद करता है, उसको भय प्राप्त होता है। क्योंकि दूसरे ही से भय होता है।

उत्तर—इसका अर्थ यह नहीं है। किन्तु जो जीव परमेश्वर का निषेध, वा किसी एक देश-काल में परिच्छिन्न परमात्मा को माने, वा उसकी आज्ञा और गुण-कर्म-स्वभाव से विरुद्ध होवे, अथवा किसी दूसरे मनुष्य से वैर करे, उसको भय प्राप्त होता है। क्योंकि द्वितीय बुद्धि, अर्थात् ईश्वर से मुझसे कुछ सम्बन्ध नहीं, तथा किसी मनुष्य से कहे कि तुझको मैं कुछ नहीं समझता, तू मेरा कुछ भी नहीं कर सकता, वा किसी की हानि करता[3] और दुःख देता जाय, तो उसको उनसे भय होता है। और सब प्रकार का अविरोध हो, तो वे एक कहाते हैं। जैसा संसार में कहते हैं कि देवदत्त यज्ञदत्त और विष्णुमित्र एक हैं, अर्थात् अविरुद्ध हैं। विरोध न रहने से सुख, और विरोध से दुःख प्राप्त होता है।

प्रश्न—ब्रह्म और जीव की सदा एकता अनेकता रहती है, वा कभी दोनों मिलके एक भी होते हैं, वा नहीं?

उत्तर—अभी इसके पूर्व कुछ उत्तर दे दिया है। परन्तु साधर्म्य अन्वयभाव से एकता होती है। जैसे आकाश से मूर्त्त द्रव्य जड़त्व

---

१. तै० उप० ब्रह्मा०, अनु० ७॥ २. अर्थात् द्वितीय वचन। बृह० उप० १।४।२॥ ३. सं० २ में 'कर्त्ता' अपपाठ है।

होने से और कभी पृथक् न रहने से एकता। और आकाश के विभु सूक्ष्म अरूप अनन्त आदि गुण, और मूर्त्त के परिच्छिन्न दृश्यत्व आदि वैधर्म्य से भेद होता है। अर्थात् जैसे पृथिव्यादि द्रव्य आकाश से भिन्न कभी नहीं रहते। क्योंकि अन्वय अर्थात् अवकाश के विना मूर्त्त द्रव्य कभी नहीं रह सकता। और व्यतिरेक अर्थात् स्वरूप से भिन्न होने से पृथक्ता है। वैसे ब्रह्म के व्यापक होने से जीव और पृथिवी आदि द्रव्य उससे अलग नहीं रहते, और स्वरूप से एक भी नहीं होते।

जैसे घर के बनाने के पूर्व भिन्न-भिन्न देश में मट्टी लकड़ी और लोहा आदि पदार्थ आकाश ही में रहते हैं। जब घर बन गया, तब भी आकाश में हैं। और जब वह नष्ट हो गया, अर्थात् उस घर के सब अवयव भिन्न-भिन्न देश में प्राप्त हो गये, तब भी आकाश में हैं। अर्थात् तीन काल में आकाश से भिन्न नहीं हो सकते। और स्वरूप से भिन्न होने से न कभी एक थे, [न] हैं, और [न कभी] होंगे। इसी प्रकार जीव तथा सब संसार के पदार्थ परमेश्वर में व्याप्य होने से परमात्मा से तीनों कालों में अभिन्न[1] और स्वरूप [से] भिन्न होने से एक कभी नहीं होते।

आजकल के वेदान्तियों की दृष्टि काणे पुरुष के समान अन्वय की ओर पड़के व्यतिरेकभाव से छूट विरुद्ध हो गई है। कोई भी ऐसा द्रव्य नहीं है कि जिसमें सगुणनिर्गुणता, अन्वयव्यतिरेक, साधर्म्य-वैधर्म्य और विशेष्य[2]-विशेषण भाव न हो।

[**प्रश्न**—परमेश्वर सगुण है, वा निर्गुण ?

उत्तर—दोनों प्रकार है।][3]

प्रश्न—भला एक मियान[4] में दो तलवार कभी रह सकती हैं ?

---

१. सं० २ में 'भिन्न' अपपाठ है।

२. सं० २ में विशेषण से पूर्व यह 'विशेष्य' पद छूट गया।

३. यह कोष्ठान्तर्गत पाठ सं० २ ३,४ में नहीं है। सं० १ से मिलता है।

४. मूल में 'मियान' शब्द है। संभवतः समर्थदान ने फारसी शब्द के

एक पदार्थ में सगुण[ता] और निर्गुणता कैसे रह सकती है ?

उत्तर—जैसे जड़ के रूपादि गुण हैं, और चेतन के ज्ञानादि गुण जड़ में नहीं हैं, वैसे चेतन में इच्छादि गुण हैं, और रूपादि जड़ के गुण नहीं हैं। इसलिये **'यद् गुणैस्सह वर्त्तमानं तत् सगुणम्, गुणेभ्यो यन्निर्गतं पृथग्भूतं तन्निर्गुणम्'** जो गुणों से सहित वह 'सगुण', और जो गुणों से रहित वह 'निर्गुण' कहाता है। अपने-अपने स्वाभाविक गुणों से सहित, और दूसरे विरोधी के गुणों से रहित होने से 'सब पदार्थ सगुण और निर्गुण हैं। कोई भी ऐसा पदार्थ नहीं है कि जिसमें केवल निर्गुणता वा केवल सगुणता हो'[1]। किन्तु एक ही में सगुणता और निर्गुणता सदा रहती है। वैसे ही परमेश्वर अपने अनन्त ज्ञान बलादि गुणों से सहित होने से 'सगुण', और रूपादि जड़ के तथा द्वेषादि जीव के गुणों से पृथक् होने से 'निर्गुण' कहाता है।

प्रश्न—संसार मे निराकार को निर्गुण, और साकार को सगुण कहते हैं। अर्थात् जब परमेश्वर जन्म नहीं लेता तब 'निर्गुण,' और जब अवतार लेता है तब 'सगुण' कहाता है।

उत्तर—यह कल्पना केवल अज्ञानी और अविद्वानों की है। जिनको विद्या नहीं होती, वे पशु के समान यथा-तथा बर्ड़ाया करते हैं। जैसे सन्निपात ज्वरयुक्त मनुष्य अण्डबण्ड बकता है, वैसे ही अविद्वानों के कहे वा लेख को व्यर्थ समझना चाहिये।

प्रश्न—परमेश्वर रागी है, वा विरक्त ?

उत्तर—दोनों में नहीं। क्योंकि 'राग' अपने से भिन्न उत्तम पदार्थों में होता है। सो परमेश्वर से कोई पदार्थ पृथक् वा उत्तम

स्थान में 'घर' पाठ कर दिया। किन्तु 'घर' के अनेकार्थ होने से अनभिप्रेत 'गृह' अर्थ की भी प्रतीति होती है। अतः यह परिवर्तन चिन्त्य है।

१. 'सब पदार्थ···सगुणता हो' यह पाठ पञ्चम संस्करण से मिलता है, यही उचित पाठ है। सं० २ में 'सब पदार्थों में सगुणता और निर्गुणता वा केवल सगुणता हो' अपपाठ है।

नहीं है। इसलिये उसमें राग का सम्भव नहीं। और जो प्राप्त को छोड़ देवे, उसको 'विरक्त' कहते हैं। ईश्वर व्यापक होने से किसी पदार्थ को छोड़ ही नहीं सकता, इसलिये 'विरक्त' भी नहीं।

प्रश्न—ईश्वर में इच्छा है, वा नहीं ?

उत्तर—वैसी इच्छा नहीं। क्योंकि इच्छा भी अप्राप्त उत्तम और जिसकी प्राप्ति से सुख-विशेष होवे [उसकी होती है], तो ईश्वर में इच्छा [कैसे] हो सके ? न उसे[1] कोई अप्राप्त पदार्थ, न कोई उससे उत्तम। और पूर्णसुखयुक्त होने से सुख की अभिलाषा भी नहीं है। इसलिये ईश्वर में इच्छा का तो सम्भव नहीं, किन्तु 'ईक्षण' अर्थात् सब प्रकार की विद्या का दर्शन, और सब सृष्टि का करना कहाता है, वह 'ईक्षण' है। इत्यादि संक्षिप्त विषयों से ही सज्जन लोग बहुत विस्तरण कर लेगें।

अब संक्षेप से ईश्वर का विषय लिखकर वेद का विषय लिखते हैं—

यस्मादृचो अपातक्षन् यजुर्यस्मादपाकषन्। सामानि यस्य लोमान्यथर्वाङ्गिरसो मुखं स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः॥

अथर्व० कां० १०। प्रपा० २३। अनु० ४। मं० २०[2]॥

जिस परमात्मा से ऋग्वेद यजुर्वेद सामवेद और अथर्ववेद प्रकाशित हुए है, वह कौन-सा देव है[3] ? इसका उत्तर—जो सबको उत्पन्न करके धारण कर रहा है, वह परमात्मा है।

---

१. सं० २ में 'उससे' अपपाठ है।

२. सरल पता—अथर्व १०।७।२०॥

३. इस मन्त्र का भाग 'कतमः स्विदेव सः' इस सूक्त के कई मन्त्रों में आता है। इसका पदपाठ है—'कतमः, स्वित्, एव, सः'। ऊपर जो व्याख्यान किया है, वह 'कतमः स्विद् देव सः' पाठ का है। ग्रन्थकार ने यह मन्त्र ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के वेदोत्पत्तिविषय (पृष्ठ ११ रामलाल कपूर ट्रस्ट सं०) में भी उद्धृत किया है। वहां भी 'कतमः स्विद्देवोऽस्ति' व्याख्यान मिलता है। इसी सूक्त का 'यत्र लोकांश्च०' मन्त्र ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के 'ग्रन्थप्रामाण्या-

स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः ॥

यजु० अ० ४० । मं० ८ ॥

जो स्वयम्भू, सर्वव्यापक, शुद्ध, सनातन, निराकार परमेश्वर है, वह सनातन जीवरूप प्रजा के कल्याणार्थ यथावत् रीतिपूर्वक वेद द्वारा सब विद्याओं का उपदेश करता है।

प्रश्न—परमेश्वर को आप निराकार मानते हो, वा साकार ?

उत्तर—निराकार मानते हैं।

प्रश्न—जब निराकार है, तो वेद-विद्या का उपदेश बिना मुख के वर्णोच्चारण कैसे हो सका होगा ? क्योंकि वर्णों के उच्चारण में ताल्वादिस्थान जिह्वा का प्रयत्न अवश्य होना चाहिये।

उत्तर—परमेश्वर के सर्वशक्तिमान् और सर्वव्यापक होने से जीवों को अपनी व्याप्ति से वेद-विद्या के उपदेश करने में कुछ भी मुखादि की अपेक्षा नहीं है। क्योंकि मुख-जिह्वा से वर्णोच्चारण अपने से भिन्न को बोध होने के लिये किया जाता है, कुछ अपने लिये नहीं क्योंकि मुख-जिह्वा के व्यापार करे बिना ही मन में अनेक व्यवहारों का विचार और शब्दोच्चारण होता रहता है। कानों को अंगुलियों से मूंद[के] देखो सुनो, कि बिना मुख-जिह्वा ताल्वादिस्थानों के कैसे-कैसे शब्द हो रहे हैं। वैसे जीवों को अन्तर्यामीरूप से उपदेश किया है।

किन्तु केवल दूसरे को समझाने के लिये उच्चारण करने की आवश्यकता है। जब परमेश्वर निराकार सर्वव्यापक है, तो अपनी अखिल वेद-विद्या का उपदेश जीवस्थ स्वरूप से जीवात्मा में प्रका-शित कर देता है। फिर वह मनुष्य अपने मुख से उच्चारण करके दूसरे को सुनाता है। इसलिये ईश्वर में यह दोष नहीं आ सकता।

प्रश्न—किनके आत्मा में कब वेदों का प्रकाश किया ?

प्रामाण्य' प्रकरण (पृष्ठ ३५०,३५१, रालाकट्र०सं०) में तथा 'पञ्चमहायज्ञविधि' के 'शं नो देवी०' मन्त्र के व्याख्यान में उद्धृत किया है। दोनों स्थानों पर यही व्याख्यान मिलता है।

उत्तर—**अग्नेर्ऋग्वेदो[1] वायोर्यजुर्वेदः सूर्यात् सामवेदः ॥ शत०[2]**

प्रथम सृष्टि की आदि में परमात्मा ने अग्नि वायु आदित्य तथा अङ्गिरा इन ऋषियों[3] के आत्मा में एक-एक वेद का प्रकाश किया ।

प्रश्न—'**यो वै ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै**' ॥ यह उपनिषद् का वचन है[4] ।

इस वचन से ब्रह्माजी के हृदय में वेदों का उपदेश किया है । फिर अग्न्यादि ऋषियों के आत्मा में क्यों कहा ?

उत्तर—ब्रह्मा के आत्मा में अग्नि आदि के द्वारा स्थापित कराया । देखो मनु[स्मृति] में क्या लिखा है—

अग्निवायुरविभ्यस्तु त्रयं ब्रह्म[5] सनातनम् ।
दुदोह यज्ञसिद्ध्यर्थमृग्यजुःसामलक्षणम् ॥ मनु०[6]

जिस परमात्मा ने आदि सृष्टि में मनुष्यों को उत्पन्न करके अग्नि आदि चारों महर्षियों के द्वारा चारों वेद ब्रह्मा को प्राप्त कराये । और उस ब्रह्मा ने अग्नि वायु आदित्य और अङ्गिरा से ऋग् यजु साम और अथर्ववेद का ग्रहण किया ।

प्रश्न—उन चारों ही में वेदों का प्रकाश किया अन्य में नहीं, इससे ईश्वर पक्षपाती होता है ।

उत्तर—वे ही चार सब जीवों से अधिक पवित्रात्मा थे । अन्य उनके सदृश नहीं थे । इसलिये पवित्र विद्या का प्रकाश उन्हींमें किया ।

---

१. सं० २ में 'अग्नेर्वा ऋग्वेदो जायते' अपपाठ है । ऋ० भा० भू० में शुद्ध पाठ ही है ।

२. शत० ११।५।८।३॥ तुलना करो—गोपथ पू० १।६॥

३. सायणाचार्य ने भी ऋग्भाष्योपक्रमणिका में उक्त वचन को उद्धृत करके अग्नि वायु सूर्य=आदित्य को जीवविशेष कहा है—'जीवविशेषैरग्निवाय्वादित्यैर्वेदानामुत्पादितत्वात्' ।

४. श्वेताश्व० उप० ६।१८॥ उस में 'वै' पद नहीं है ।

५. मनु० में 'ब्रह्मा' पाठान्तर भी है । ग्रन्थकार ने यहां तथा ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में इस श्लोक का जो अर्थ किया है, वह 'ब्रह्मा' पाठानुसारी है । दोनों ग्रन्थों में उद्धृत पाठ में 'ब्रह्म' ही शब्द है । ६. मनु० १।२३॥

प्रश्न—किसी देशभाषा में वेदों का प्रकाश न करके संस्कृत में क्यों किया ?

उत्तर—जो किसी देश-भाषा में प्रकाश करता, तो ईश्वर पक्ष-पाती हो जाता। क्योंकि जिस देश की भाषा में प्रकाश करता उनको सुगमता, और विदेशियों को कठिनता वेदों के पढ़ने-पढ़ाने की होती। इसलिये संस्कृत ही में प्रकाश किया, जो किसी देश की भाषा नहीं। और वेदभाषा अन्य सब भाषाओं का कारण है[1], उसी में वेदों का प्रकाश किया। जैसे ईश्वर की पृथिवी आदि सृष्टि सब देश और देशवालों के लिये एक-सी, और सब शिल्पविद्या का कारण है, वैसे परमेश्वर की विद्या का भाष भी एक-सी होनी चाहिये। कि सब देश-वालों को पढ़ने-पढ़ाने में तुल्य परिश्रम होने से ईश्वर पक्षपाती नहीं होता, और सब भाषाओं का कारण भी है।

प्रश्न—वेद ईश्वरकृत हैं, अन्यकृत नहीं, इसमें क्या प्रमाण ?

उत्तर—जैसा ईश्वर पवित्र, सर्वविद्यावित्, शुद्धगुणकर्मस्वभाव, न्यायकारी, दयालु आदि गुणवाला है, वैसे जिस पुस्तक में ईश्वर के गुण-कर्म-स्वभाव के अनुकूल कथन हो वह ईश्वरकृत, अन्य नहीं। और जिसमें सृष्टिक्रम, प्रत्यक्षादि प्रमाण, आप्तों के और पवित्रात्मा के व्यवहार से विरुद्ध कथन न हो, वह ईश्वरोक्त। जैसा ईश्वर का निर्भ्रम ज्ञान, वैसा जिस पुस्तक में भ्रान्तिरहित ज्ञान का प्रतिपादन हो, वह ईश्वरोक्त। जैसा परमेश्वर है और जैसा सृष्टिक्रम रक्खा है, वैसा ही ईश्वर सृष्टि कार्य-कारण और जीव का प्रतिपादन जिसमें होवे, वह परमेश्वरोक्त पुस्तक होता है। और जो प्रत्यक्षादि प्रमाण-विषयों से अविरुद्ध, शुद्धात्मा के स्वभाव से विरुद्ध न हो। इस प्रकार के वेद हैं, अन्य बाइबल कुरान आदि पुस्तकें नहीं। इसकी

---

१. इस विषय का विस्तार से प्रतिपादन ग्रन्थकार ने स० प्र० प्रथम संस्करण के इसी समुल्लास में, तथा पूना के पांचवें व्याख्यान (पूना-प्रवचन पृ० ३९ रालाकट्र०सं०) में किया है। इस विषय में वेदवाणी 'वेदाङ्क' सं० २०१७ में हमारा 'भाषा विज्ञान और स्वामी दयानन्द' लेख भी देखें।

स्पष्ट व्याख्या बाइबल और कुरान के प्रकरण में तेरहवें और चौदहवें समुल्लास में की जायेगी।

प्रश्न—वेद की ईश्वर से होने की आवश्यकता कुछ भी नहीं। क्योंकि मनुष्य लोग क्रमशः ज्ञान बढ़ाते जाकर पश्चात् पुस्तक भी बना लेंगे।

उत्तर—कभी नहीं बना सकते। क्योंकि विना कारण के कार्योत्पत्ति का होना असम्भव है। जैसे जङ्गली मनुष्य सृष्टि को देखकर भी विद्वान् नहीं होते, और जब उनको कोई शिक्षक मिल जाय तो विद्वान् हो जाते हैं। और अब भी किसी से पढ़े विना कोई भी विद्वान् नहीं होता। इस प्रकार जो परमात्मा उन आदि सृष्टि के ऋषियों को वेदविद्या न पढ़ाता, और वे अन्य को न पढ़ाते, तो सब लोग अविद्वान् ही रह जाते। जैसे किसी के बालक को जन्म से एकान्त देश, अविद्वानों वा पशुओं के संग में रख देवें, तो वह जैसा संग है वैसा ही हो जायेगा। इसका दृष्टान्त जङ्गली भील आदि हैं।

जबतक आर्यावर्त्त देश से शिक्षा नहीं गई थी, तबतक मिश्र यूनान और यूरोप देश आदिस्थ मनुष्यों में कुछ भी विद्या नहीं हुई थी। और इंगलैंड के कुलूम्बस[1] आदि पुरुष अमेरिका में जब तक नहीं गये थे, तब तक वे भी सहस्रों, लाखों, करोड़ों[2] वर्षों से मूर्ख अर्थात् विद्याहीन थे। पुनः सुशिक्षा के पाने से विद्वान् हो गये हैं। वैसे ही परमात्मा से सृष्टि की आदि में विद्या-शिक्षा की प्राप्ति से उत्तरोत्तर काल में विद्वान् होते आये।

स [एष] पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्॥ योगसू०[3]

---

१. कोलम्बस इंगलैंड का नहीं, पुर्तगाल का था।

२. यह अतिशयोक्ति है, इसका तात्पर्य 'चिरकाल' से है। क्योंकि ग्रन्थकार ने स्वयं ११वें समुल्लास के आरम्भ में महाराज युधिष्ठिर के राजसूययज्ञ में अमेरिका के राजा अर्जुनपुत्र बभ्रुवाहन का सम्मिलित होना' लिखा है। उस समय 'अमेरिका देशवासी ज्ञान-विज्ञान से युक्त थे, अन्यथा सहस्रों कोशों का सागर पार करके भारत कैसे पहुंचते?

३. योग द० समाधि० २६॥ पाठविषयक टिप्पणी पूर्व पृष्ठ ३२ में टि० ३ देखें।

जैसे वर्त्तमान समय में हम लोग अध्यापकों से पढ़ ही के विद्वान् होते हैं, वैसे परमेश्वर सृष्टि के आरम्भ में उत्पन्न हुए अग्नि आदि ऋषियों का गुरु अर्थात् पढ़ानेहारा है। क्योंकि जैसे जीव सुषुप्ति और प्रलय में ज्ञानरहित हो जाते हैं, वैसा परमेश्वर नहीं होता। उसका ज्ञान नित्य है। इसलिये यह निश्चित जानना चाहिये कि विना निमित्त से नैमित्तिक अर्थ सिद्ध कभी नहीं होता।

प्रश्न—वेद संस्कृतभाषा में प्रकाशित हुए, और वे अग्नि आदि ऋषि लोग उस संस्कृत भाषा को नहीं जानते थे, फिर वेदों का अर्थ उन्होंने कैसे जाना?

उत्तर—परमेश्वर ने जनाया। और धर्मात्मा योगी महर्षि लोग जब-जब जिस-जिसके अर्थ को जानने की इच्छा करके ध्यानावस्थित हो परमेश्वर के स्वरूप में समाधिस्थ हुए, तब-तब परमात्मा ने अभीष्ट मन्त्रों के अर्थ जनाये। जब बहुतों के आत्माओं में वेदार्थ-प्रकाश हुआ, तब ऋषि-मुनियों ने वह अर्थ और ऋषि-मुनियों के इतिहासपूर्वक ग्रन्थ बनाये। उनका नाम 'ब्राह्मण' अर्थात् ब्रह्म जो वेद उसका व्याख्यान[1] ग्रन्थ होने से 'ब्राह्मण' नाम हुआ। और—

ऋषयो मन्त्रदृष्टयः, मन्त्रान् सम्प्रादुः॥ निरु०[2]

जिस-जिस मन्त्रार्थ का दर्शन जिस-जिस ऋषि को हुआ, और प्रथम ही, जिसके पहिले उस मन्त्र का अर्थ किसी ने प्रकाशित नहीं किया था, किया, और दूसरों को पढ़ाया भी, इसलिये अद्यावधि उस-उस मन्त्र के साथ ऋषि का नाम स्मरणार्थ लिखा आता है[3]। जो कोई ऋषियों

---

१. ब्रह्मणो वेदस्य व्याख्यानानि ब्राह्मणानि। 'तस्य व्याख्यान इति च व्याख्यातव्यनाम्नः' (अष्टा० ४।३।६६) से अण्।

२. यह पाठ दो उद्धरणों का एकीकरणरूप है। 'ऋषयो मन्त्र-दृष्टयः' की तुलना करें—'ऋषीणां मन्त्रदृष्टयः' निरुक्त ७।२ के साथ, तथा 'ऋषयो मन्त्रद्रष्टारो मुनिः संल्लीनमानसः' लक्षण के साथ। 'मन्त्रान् सम्प्रादुः' निरुक्त १।२०॥

३. वेदों की अनुक्रमणी ग्रन्थों में किस मन्त्र का क्या ऋषि है, इसका निर्देश किया है।

को मन्त्रकर्त्ता बतलावें[1], उनको मिथ्यावादी समझें। वे तो मन्त्रों के अर्थ-प्रकाशक हैं।

प्रश्न—वेद किन ग्रन्थों का नाम है?

उत्तर—ऋक् यजु साम और अथर्व मन्त्रसंहिताओं का। अन्य का नहीं।

प्रश्न—मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्[2] इत्यादि कात्यायनादि कृत 'प्रतिज्ञासूत्रादि' का अर्थ क्या करोगे?

उत्तर—देखो, संहिता-पुस्तक के आरम्भ, अध्याय की समाप्ति में वेद यह शब्द[3] सनातन से लिखा आता है। और ब्राह्मण-पुस्तक के आरम्भ वा अध्याय की समाप्ति में कहीं नहीं लिखा।

और निरुक्त में—

इत्यपि निगमो भवति। इति [च] ब्राह्मणम्॥[4]

छन्दोब्राह्मणानि च तद्विषयाणि॥ यह पाणिनीय सूत्र है[5]

इससे भी स्पष्ट विदित होता है कि वेद मन्त्रभाग[6] और ब्राह्मण व्याख्याभाग[6] [है][7]। इसमें जो विशेष देखना चाहैं, तो

---

१. यह मत पाश्चात्य विद्वानों का है।

२. प्रतिज्ञा-परिशिष्ट ।१।१॥ यह परिशिष्ट शुक्लयजुःप्रातिशाख्य से संबद्ध है। एक प्रतिज्ञापरिशिष्ट कात्यायन श्रौतसूत्र से सम्बद्ध भी उपलब्ध होता है। उस में यह सूत्र नहीं है। इस सूत्र पर विशेष विचार हमारी 'वेद-संज्ञा-मीमांसा' पुस्तिका में देखें।

३. सं० २ में 'वेद यह सनातन से शब्द लिखा' ऐसा पूर्वापर भ्रष्टपाठ।

४. द्र०—निरुक्त ५।३,४॥ ५. अ० ४।२।६६॥

६. यहां 'भाग' शब्द का प्रयोग पूर्वपक्षी के मतानुसार किया है, स्व मत से नहीं।

७. बहुत से व्याख्याता पाणिनीय सूत्र में छन्द और ब्राह्मण दो पदों का प्रयोग 'गोबलीवर्द' न्याय से मानते हैं। परन्तु नागेश भट्ट, कैयट द्वारा उद्धृत उक्त न्याय का खण्डन करते हुए लिखता है—'**वस्तुतोगा यत्र्यादिछन्दोबद्धेषु मन्त्रेष्वेव छन्दस्त्वमिति बोधयितुं तत्र ब्राह्मणग्रहणम्**'। (अर्थात्—वस्तुतः गायत्र्यादि छन्दोबद्ध मन्त्रों में ही छन्दः पद की प्रवृत्ति को बतलाने के लिये ही इस सूत्र में 'ब्राह्मण' पद का ग्रहण किया है।) महाभाष्य प्रदीपोद्योत १।३।१०॥ निर्णयसागर सं०, पृष्ठ १४३, कालम २।

मेरी बनाई 'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका'[1] में देख लीजिये। वहां अनेकशः प्रमाणों से विरुद्ध होने से यह 'कात्यायन' का वचन नहीं हो सकता, ऐसा ही सिद्ध किया गया है। क्योंकि जो मानें, तो वेद सनातन कभी नहीं हो सकें। क्योंकि ब्राह्मण पुस्तकों में बहुत-से ऋषि-महर्षि और राजादि के इतिहास लिखे हैं। और इतिहास जिसका हो, उसके जन्म के पश्चात् लिखा जाता है। वह ग्रन्थ भी उसके जन्मे पश्चात् होता है। वेदों में किसी का इतिहास नहीं, किन्तु जिस-जिस शब्द से विद्या का बोध होवे, उस-उस शब्द का प्रयोग किया है। किसी विशेष[2] मनुष्य की संज्ञा वा विशेष कथा का प्रसंग वेदों में नहीं।

प्रश्न—वेदों की कितनी शाखा हैं ?

उत्तर—[एक सहस्र] एक सौ सत्ताईस।

प्रश्न—शाखा क्या कहाती हैं ?

उत्तर—व्याख्यान को शाखा कहते हैं।

प्रश्न—संसार में विद्वान् वेद के अवयवभूत विभागों को शाखा मानते हैं।

उत्तर—तनिक-सा विचार करो, तो ठीक। क्योंकि जितनी शाखा हैं, वे **आश्वलायन** आदि ऋषियों के नाम से प्रसिद्ध हैं, और मन्त्र-संहिता परमेश्वर के नाम से प्रसिद्ध है। जैसे चारों वेदों को परमेश्वरकृत मानते हैं, वैसे 'आश्वलायनी' आदि शाखाओं को उस-उस ऋषिकृत मानते हैं। और सब शाखाओं में मन्त्रों की प्रतीक धरके व्याख्या करते हैं। जैसे **तैत्तिरीय शाखा** में **'इषे त्वोर्जे त्वेति'**[3] इत्यादि प्रतीकें धरके व्याख्यान किया है। और वेदसंहिताओं में किसी की प्रतीक नहीं धरी[4]। इसलिये परमेश्वरकृत चारों वेद मूल वृक्ष, और

---

१. ऋग्वे०भा०भू० के 'वेदसंज्ञाप्रकरण में'। द्र०—रामलाल क०ट्र०सं० पृष्ठ ९१-१०१॥ २. सं० २ में यह शब्द अयुक्त स्थान पर छपा है।

३. तै० शाखा में उपलब्ध नहीं है।

४. यजुर्वेद के कुछ प्रकरणों में 'इति' से निर्देश करके—'हिरण्यगर्भ इत्येषः' (३२।३) और बिना 'इति' निर्देश के प्रतीकें पठित हैं। ग्रन्थकार ने

आश्वालायनादि सब शाखा ऋषि-मुनिकृत हैं, परमेश्वरकृत नहीं।

जो इस विषय की विशेष व्याख्या देखना चाहैं, वे '**ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका**' में देख लेवें[1]। जैसे माता-पिता अपने सन्तानों पर कृपादृष्टि कर उन्नति चाहते हैं, वैसे ही परमात्मा ने सब मनुष्यों पर कृपा करके वेदों को प्रकाशित किया है। जिससे मनुष्य अविद्यान्धकार भ्रमजाल से छूटकर, विद्याविज्ञानरूप सूर्य को प्राप्त होकर अत्यानन्द में रहैं, और विद्या तथा सुखों की वृद्धि करते जायें।

प्रश्न—वेद नित्य हैं, वा अनित्य ?

उत्तर—नित्य हैं। क्योंकि परमेश्वर के नित्य होने से उसके ज्ञानादि गुण भी नित्य हैं। जो नित्य पदार्थ हैं उनके गुण-कर्म-स्वभाव नित्य, और अनित्य द्रव्य के अनित्य होते हैं।

प्रश्न—क्या यह पुस्तक भी नित्य है ?

इन्हें मूलवेद का भाग नहीं माना है (द्र०-तत्तत्प्रकरणों का भाष्य)। इन्हें कर्मकाण्ड की सुविधा के लिये तत्तत्स्थानों में जोड़ा गया है।

१. ग्रन्थकार ने यह वेद और शाखा का प्रकरण सत्यार्थप्रकाश प्रथम सं० (सन् १८५७) पृष्ठ ३३२ पर इस प्रकार लिखा है—

'इससे जो वेद पुस्तक हैं, वे सब शाखाओं के मूल हैं। और शाखा व्याख्यानों की नांई ब्रह्मादिक ऋषि मुनि के किये हैं। जैसे—**मनो जूतिर्जुषतामाज्यस्य** ऐसा पाठ शुक्ल यजुर्वेद (२।१३) में है, और तैत्तिरीय शाखा (१।५।३।२) में—**मनो ज्योतिर्जुषतामाज्यम्** ऐसा पाठ है। **जूति** जो मन का विशेषण था सो ज्योति. शब्द से स्पष्टार्थ हो गया।' इसी प्रकार '**आज्यस्य**' में कर्म में षष्ठी है यह '**आज्यम्**' पाठ से स्पष्ट हो गया। जिस प्रकार शाखाकारों ने मन्त्रगत पाठ में परिवर्तन करके मन्त्रपद का व्याख्यान किया है, उसके अन्य कुछ उदाहरण पं० भगवद्दत्तजी ने 'वैदिक वाङ्मय का इतिहास ग्रन्थ' भाग १, द्वि० सं०, पृष्ठ १७८-१७९ पर दिये हैं। उन्हें भी देखना चाहिये।

शाखाओं के सम्बन्ध में यह भी जानना चाहिये कि शाखायें दो प्रकार की हैं—एक मन्त्रात्मक, दूसरी मन्त्रब्राह्मण-संमिश्रित। दोनों प्रकार की शाखाओं के मन्त्रों में शब्दभेद से प्रवचन द्वारा व्याख्यान किया गया है, परन्तु दूसरे प्रकार की शाखाओं में ब्राह्मणपाठ भी सम्मिलित है। यथा कृष्णयजुर्वेद की शाखाएं।

उत्तर—नहीं। क्योंकि पुस्तक तो पत्रे और स्याही का बना है। वह नित्य कैसे हो सकता है ? किन्तु जो शब्द अर्थ और सम्बन्ध हैं, वे नित्य हैं।

प्रश्न—ईश्वर ने उन ऋषियों को ज्ञान दिया होगा, और उस ज्ञान से उन लोगों ने वेद बना लिये होंगे ?

उत्तर—ज्ञान ज्ञेय के बिना नहीं होता। गायत्र्यादि छन्द, षड्जादि और उदात्ताऽनुदात्तादि स्वर के ज्ञानपूर्वक गायत्र्यादि छन्दों के निर्माण करने में सर्वज्ञ के विना किसी का सामर्थ्य नहीं है कि इस प्रकार का सर्वज्ञानयुक्त शास्त्र बना सकें। हां, वेद को पढ़ने के पश्चात् व्याकरण निरुक्त और छन्द आदि ग्रन्थ ऋषि-मुनियों ने विद्याओं के प्रकाश के लिये किये हैं। जो परमात्मा वेदों का प्रकाश न करे तो कोई कुछ भी न बना सके। इसलिये वेद परमेश्वरोक्त हैं। इन्हीं[1] के अनुसार सब लोगों को चलना चाहिये।

और जो कोई किसी से पूछे कि तुम्हारा क्या मत है ? तो यही उत्तर देना है कि हमारा मत वेद अर्थात् जो कुछ वेदों में कहा है, हम उसको मानते हैं[2]।

अब इसके आगे सृष्टि के विषय में लिखेंगे। यह संक्षेप से ईश्वर और वेद विषय में व्याख्यान किया है।

इति श्रीमद्दयानन्दसरस्वतीस्वामिकृते सत्यार्थप्रकाशे
सुभाषाविभूषित ईश्वरवेदविषये सप्तमः
समुल्लासः सम्पूर्णः ॥७॥

---

१. सं० २ में 'इसी' अपपाठ है।

२. यह प्रश्न तथा उत्तर ग्रन्थकार ने तृतीय समुल्लास में भी उपस्थापित किया है (द्र० पूर्व पृष्ठ १०६), वहां उत्तर कुछ विस्तृत है। इस पर हमारी टिप्पणी ४ (पृ० १०६) भी द्रष्टव्य है।

अथाष्टमसमुल्लासारम्भः

अथ सृष्ट्युत्पत्तिस्थितिप्रलयविषयान् व्याख्यास्यामः

इयं विसृष्टिर्यत आबभूव यदि वा दधे यदि वा न ।
यो अस्याध्यक्षः परमे व्योमन्त्सो अङ्ग वेद यदि वा न वेद ॥१॥

ऋ० मं० १०। सूक्त १२९[1] । मं० ७॥

तम आसीत्तमसा गूळ्हमग्रेऽप्रकेतं सलिलं सर्वमा इदम् ।
तुच्छ्येनाभ्वपिहितं यदासीत्तपसस्तन्महिनाजायतैकम् ॥२॥

ऋ० मं० [१०।] सूक्त [१२९।] मं० [३]॥

हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत् ।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥३॥

ऋ० मं० १० । सूक्त १२१ । मं० १॥

पुरुषऽ एवेदꣳ सर्वं यद् भूतं यच्च भाव्यम् ।
उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति ॥४॥

यजुः० अ० ३१ । मं० २॥

यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति ।
यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति तद्विजिज्ञासस्व तद् ब्रह्म ॥५॥

तैत्तिरीयोपनि०[2]

हे (अङ्ग) मनुष्य ! जिससे यह विविध सृष्टि प्रकाशित हुई है, जो धारण और प्रलय करता[3] है । जो इस जगत् का स्वामी, जिस

---

१. सं० २ में '१३०' अपपाठ है । २. तै० उप० भृगुवल्ली १ ।
३. सं० २ में 'कर्त्ता' अपपाठ है ।

व्यापक में यह सब जगत् उत्पत्ति-स्थिति-प्रलय को प्राप्त होता है, सो परमात्मा है। उसको तू जान, और दूसरे को सृष्टिकर्त्ता मत मान ॥१॥

यह सब जगत् सृष्टि के पहिले अन्धकार से आवृत, रात्रिरूप में जानने के अयोग्य, आकाशरूप सब जगत् तथा तुच्छ अर्थात् अनन्त परमेश्वर के सन्मुख एकदेशी आच्छादित था। पश्चात् परमेश्वर ने अपने सामर्थ्य से कारणरूप से कार्यरूप कर दिया ॥२॥

हे मनुष्यो ! जो सब सूर्यादि तेजस्वी पदार्थों का आधार, और जो यह जगत् हुआ है और होगा उसका एक अद्वितीय पति परमात्मा इस जगत् की उत्पत्ति के पूर्व विद्यमान था, और जिसने पृथिवी से लेके सूर्य-पर्यन्त जगत् को उत्पन्न किया है, उस परमात्मा देव को प्रेम से भक्ति किया करें ॥३॥

हे मनुष्यो ! जो सब में पूर्ण पुरुष, और जो नाशरहित कारण और जीव का स्वामी, जो पृथिव्यादि जड़ और जीव से अतिरिक्त है, वही पुरुष इस भूत भविष्यत् और वर्त्तमानस्थ जगत् को बनाने वाला है ॥४॥

जिस परमात्मा की रचना से ये सब पृथिव्यादि भूत उत्पन्न होते हैं, जिससे जीव[ते,]और जिसमें प्रलय को प्राप्त होते हैं, वह ब्रह्म है। उसके जानने की इच्छा करो ॥५॥

जन्माद्यस्य यत: ॥ शारीरक सू० अ० १ ।[पा० १।]सू० २॥

जिससे इस जगत् का जन्म स्थिति और प्रलय होता है, वही ब्रह्म जानने योग्य है।

प्रश्न—यह जगत् परमेश्वर से उत्पन्न हुआ है, वा अन्य से ?

उत्तर—निमित्त कारण परमात्मा से उत्पन्न हुआ है। परन्तु इसका उपादान कारण प्रकृति है।

प्रश्न—क्या प्रकृति परमेश्वर ने उत्पन्न नहीं की ?

उत्तर—नहीं। वह अनादि है।

प्रश्न—अनादि किसको कहते, और कितने पदार्थ अनादि हैं ?

उत्तर—ईश्वर जीव और जगत् का कारण, ये तीन अनादि हैं।

प्रश्न—इसमें क्या प्रमाण है ?

उत्तर—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परि षस्वजाते ।

तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभि चाकशीति ॥१॥

ऋ० मं० १। सू० १६४ मं० २०॥

शाश्वतीभ्यः समाभ्यः ॥१॥ यजु० अ० ४०। मं० ८॥

(द्वा) जो ब्रह्म और जीव दोनों (सुपर्णा) चेतनता और पालनादि गुणों से सदृश, (सयुजा) व्याप्य-व्यापकभाव से संयुक्त, (सखाया) परस्पर मित्रतायुक्त सनातन अनादि हैं। और (समानम्) वैसा ही (वृक्षम्) अनादि मूलरूप कारण, और शाखारूप कार्ययुक्त वृक्ष अर्थात् जो स्थूल होकर प्रलय में छिन्न-भिन्न हो जाता है, वह तीसरा अनादि पदार्थ। इन तीनों के गुण-कर्म और स्वभाव भी अनादि हैं। इन जीव और ब्रह्म में से एक जो जीव है, वह इस वृक्षरूप संसार में पापपुण्यरूप फलों को (स्वाद्वत्ति) अच्छे प्रकार भोगता है। और दूसरा परमात्मा कर्मों के फलों को (अनश्नन्) न भोगता[1] हुआ चारों ओर अर्थात् भीतर बाहर सर्वत्र प्रकाशमान हो रहा है। जीव से ईश्वर, ईश्वर से जीव और दोनों से प्रकृति भिन्न-स्वरूप तीनों अनादि हैं ॥१॥

(शाश्वती०) अर्थात् अनादि सनातन जीवरूप प्रजा के लिये वेद द्वारा परमात्मा ने सब विद्याओं का बोध किया है ॥२॥

अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां स्वरूपाः ।

अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः ॥

यह उपनिषद् का वचन है[2]।

प्रकृति जीव और परमात्मा तीनों अज, अर्थात् जिनका जन्म

---

१. सं० २ में 'भोक्ता' अपपाठ।

२. श्वेताश्व० उप० ४।५॥ वहां 'सरूपाः' पाठ है।

कभी नहीं होता, और न कभी ये जन्म लेते, अर्थात् ये तीन सब जगत् के कारण हैं, इनका कारण कोई नहीं । इस अनादि प्रकृति का भोग अनादि जीव करता हुआ फंसता है । और उसमें परमात्मा न फंसता और न उसका भोग करता है ।

ईश्वर और जीव का लक्षण ईश्वर विषय में कह आये[1] । अब प्रकृति का लक्षण लिखते हैं—

सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः प्रकृतेर्महान् महतोऽहङ्कारोऽहंकारात् पञ्चतन्मात्राण्युभयमिन्द्रियं पञ्चतन्मात्रेभ्यः स्थूलभूतानि पुरुष इति पञ्चविंशतिर्गणः ।। सांख्यसू०[2] ।

सत्त्व=शुद्ध, रजः=मध्य, तमः=जाड्य अर्थात् जड़ता तीन वस्तु मिल कर जो एक संघात है, उसका नाम 'प्रकृति' है । उससे महत्तत्त्व बुद्धि, उससे अहङ्कार, उससे पांच तन्मात्रा सूक्ष्मभूत, और दश इन्द्रियां तथा ग्यारहवां मन, पांच तन्मात्राओं से पृथिव्यादि पांच भूत, ये चौबीस और पच्चीसवां पुरुष अर्थात् जीव और परमेश्वर हैं ।

इनमें से प्रकृति अविकारिणी, और महत्तत्त्व अहङ्कार तथा पांच सूक्ष्म भूत प्रकृति का कार्य्य, और इन्द्रियां मन तथा स्थूलभूतों का कारण हैं । पुरुष न किसी की प्रकृति उपादान कारण, और न किसी का कार्य्य है ।

प्रश्न—

सदेव सोम्येदमग्र आसीत् ।।१।।[3] **असद्वा इदमग्र आसीत् ।।२।।**
आत्मा वाइदमग्र आसीत् ।।३।।[5] **ब्रह्म वा इदमग्र आसीत् ।।४।।**[6]

ये उपनिषदों के वचन हैं ।

हे श्वेतकेतो[7] ! यह जगत् सृष्टि के पूर्व, सत् ।।१।। असत् ।।२।।

---

१. पूर्व पृष्ठ २७३, २७९ । २. सांख्य अ० १, सू० ६१।
३. छां० उप० ६।२।१।। ४. तै० उप० ब्रह्म० बल्ली ७ ।।
५. द्र० बृह० उ० १।४।१—**आत्मैवेदमग्र आसीत्** ।
६. शत० ब्रा० ११।१।११।१।।
७. 'हे श्वेतकेतो!' सम्बोधन का सम्बन्ध प्रथम उद्धरण के साथ ही जानना चाहिये । यहां चारों उद्धरणों का इकट्ठा संक्षिप्त अर्थ कर दिया है ।

आत्मा ।।३।। और ब्रह्मरूप था ।।४।। पश्चात्—

तदैक्षत बहुः स्यां प्रजायेयेति ।।१।।[1]

सोऽकामयत बहुः स्यां प्रजायेयेति ।।२।।

यह तैत्तिरीयोपनिषद् का वचन है[2]।

वही परमात्मा अपनी इच्छा से बहुरूप हो गया है ।।१-२।।

सर्वं खल्विदं ब्रह्म नेह नानास्ति किञ्चन ।।

यह भी उपनिषद् का वचन है[3]।

जो यह जगत् है, वह सब निश्चय करके ब्रह्म है। उसमें दूसरे नाना प्रकार के पदार्थ कुछ भी नहीं, किन्तु सब ब्रह्मरूप हैं।

उत्तर—क्यों इन वचनों का अनर्थ करते हो ? क्योंकि उन्हीं उपनिषदों में—

[एवमेव खलु] सोम्यान्नेन शुङ्गेनापो मूलमन्विच्छ, अद्भिस्सोम्य शुङ्गेन तेजोमूलमन्विच्छ, तेजसा सोम्य शुङ्गेन सन्मूलमन्विच्छ, सन्मूलाः सोम्येमाः [सर्वाः] प्रजाः सदायतनाः सत्प्रतिष्ठाः ।।

छान्दोग्य उपनि०[4]।

हे श्वेतकेतो ! अन्नरूप पृथिवी कार्य से जलरूप मूलकारण को तू जान। कार्यरूप जल से तेजोरूप मूल, और तेजोरूप कार्य से सद्रूप कारण, जो नित्य प्रकृति है, उसको जान। यही सत्यस्वरूप प्रकृति सब जगत् का मूल घर और स्थिति का स्थान है। यह सब जगत् सृष्टि के पूर्व असत् के सदृश, और जीवात्मा ब्रह्म और प्रकृति में लीन होकर वर्त्तमान था, अभाव न था।

---

१. छां० उप० ६।२।३।। उपनिषदि 'बहु' विसर्गरहितः पाठः।

२. तै० उ० ब्रह्मा० वल्ली ६।। इहापि उपनिषदि 'बहु' इत्येव पाठः

३. यह किसी प्रामाणिक उपनिषद् का वचन नहीं है। इसीलिये जैन आचार्यों ने भी लिखा है—**कृत्रिमेणाप्यागमेन तस्यैव प्रतिपादनात्। उक्तं च—सर्वं वै खल्विदं ब्रह्म नेह नानास्ति किञ्चन।** स्याद्वादमञ्जरी टीका श्लोक १३, पृष्ठ १०२, पूना सं०। अर्थात् 'सर्वं वै०' यह बनावटी वचन है।

४. छां० उप० ६।८।४।। सं० २ में 'अन्नेन सोम्य' पाठ है।

और जो 'सर्वं खलु०' यह वचन ऐसा है, जैसा कि '**कहीं की ईंट कहीं का रोड़ा, भानमती ने कुड़बा जोड़ा**' ऐसी लीला का है[1]।

क्योंकि—

सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत। छान्दोग्य०[2]

और—**नेह नानास्ति किंचन।** यह कठवल्ली का वचन है[3]।

जैसे शरीर के अङ्ग जब तक शरीर के साथ रहते हैं, तब तक काम के, और अलग होने से निकम्मे हो जाते हैं। वैसे ही प्रकरणस्थ वाक्य सार्थक, और प्रकरण से अलग करने वा किसी अन्य के साथ जोड़ने से अनर्थक हो जाते हैं। सुनो, इसका अर्थ यह है—

'हे जीव! तू ब्रह्म की उपासना कर। जिस ब्रह्म से जगत् की उत्पत्ति स्थिति और जीवन[4] होता है। जिसके बनाने और धारण से यह सब जगत् विद्यमान हुआ है, वा ब्रह्म से सहचरित है। उसको छोड़ दूसरे की उपासना न करनी। इस चेतनमात्र अखण्डैकरस ब्रह्मरूप में नाना वस्तुओं का मेल नहीं है। किन्तु ये सब पृथक्-पृथक् स्वरूप में परमेश्वर के आधार में स्थित हैं'।

प्रश्न—जगत् के कारण कितने होते हैं?

उत्तर—तीन। एक निमित्त, दूसरा उपादान, तीसरा साधारण। '**निमित्त कारण**' उसको कहते हैं कि—जिसके बनाने से कुछ बने, न बनाने से न बने। आप स्वयं बने नहीं, दूसरे को प्रकारान्तर बना देवे। दूसरा '**उपादान कारण**' उसको कहते हैं—जिसके बिना कुछ न बने, वही अवस्थान्तररूप होके बने, और बिगड़े भी। तीसरा '**साधारण कारण**' उसको कहते हैं कि जो बनाने में साधन और साधारण निमित्त हो।

निमित्त कारण दो प्रकार के हैं। एक—सब सृष्टि को कारण से बनाने धारने और प्रलय करने, तथा सब की व्यवस्था रखने वाला **मुख्य निमित्त कारण परमात्मा। दूसरा—परमेश्वर** की सृष्टि

---

१. पृष्ठ ३०८, टि० ३॥ २. छां० उप० ३।१४।१॥ ३. कठोप० २।४।११॥
४. यहां प्रकरणानुसार 'जीवन' के स्थान में 'प्रलय' पाठ होना चाहिये।

में से पदार्थों को लेकर अनेकविध कार्यान्तर बनानेवाला साधारण निमित्त कारण 'जीव'।

उपादान कारण—प्रकृति परमाणु, जिसको सब संसार के बनाने की सामग्री कहते है। वह जड़ होने से आप-से-आप न बन और न बिगड़ सकती है। किन्तु दूसरे के बनाने से बनती, और बिगाड़ने से बिगड़ती है। कहीं-कहीं जड़ के निमित्त से जड़ भी बन और बिगड़ भी जाता है। जैसे परमेश्वर के रचित बीज पृथिवी में गिरने और जल पाने से वृक्षाकार हो जाते हैं, और अग्नि आदि जड़ के संयोग से बिगड़ भी जाते हैं। परन्तु इनका नियमपूर्वक बनना वा बिगड़ना परमेश्वर और जीव के आधीन है।

जब कोई वस्तु बनाई जाती है, तब जिन-जिन साधनों से अर्थात् ज्ञान, दर्शन, बल, हाथ और 'नाना प्रकार के साधन, और दिशा काल और आकाश'[1] **साधारण कारण**। जैसे घड़े का बनानेवाला कुम्हार निमित्त, मट्टी उपादान और दण्ड-चक्र आदि सामान्य निमित्त दिशा, काल, आकाश, प्रकाश, आंख, हाथ, ज्ञान, क्रिया आदि निमित्त साधारण और निमित्त कारण भी होते हैं। इन तीन कारणों के बिना कोई भी वस्तु नहीं बन सकती, और न बिगड़ सकती है।

प्रश्न—नवीन वेदान्ती लोग केवल परमेश्वर ही को जगत् का अभिन्न निमित्तोपादान कारण मानते हैं—

यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च॥ यह उपनिषद् का वचन है[2]।

जैसे मकरी बाहर से कोई पदार्थ नहीं लेती, अपने ही में से तन्तु निकाल जाला बनाकर आप ही उसमें खेलती है, वैसे ब्रह्म अपने में से जगत् को बना आप जगदाकार बन आप ही क्रीड़ा कर रहा है। सो ब्रह्म इच्छा और कामना करता हुआ कि 'मैं बहुरूप अर्थात् जगदाकार हो जाऊं' संकल्पमात्र से सब जगद्रूप बन गया। क्योंकि—

---

१. यह पाठ सं० ५ से मिलता है। सं० २, ३, ४ में—'नाना प्रकार के साधन आदि साकार और आकाश' पाठ है।

२. मुण्डकोप० १।१।७॥

आदावन्ते च यन्नास्ति वर्तमानेऽपि तत्तथा ॥

यह माण्डूक्योपनिषद् पर कारिका है[1]।

जो प्रथम न हो अन्त में न रहे, वह वर्तमान में भी नहीं है। किन्तु सृष्टि की आदि में जगत् न था, ब्रह्म था। प्रलय के अन्त में संसार न रहेगा और केवल ब्रह्म रहेगा। तो वर्तमान में सब जगत् ब्रह्म क्यों नहीं ?

उत्तर—जो तुम्हारे कहने के अनुसार जगत् का उपादान कारण ब्रह्म होवे तो वह परिणामी, अवस्थान्तरयुक्त विकारी हो जावे। और उपादानकारण के गुण-कर्म-स्वभाव कार्य में आते हैं—

कारणगुणपूर्वकः कार्यगुणो दृष्टः ॥ वैशेषिक सू०[2]

उपादान कारण के सदृश कार्य में गुण होते हैं, तो ब्रह्म सच्चिदानन्दस्वरूप, जगत् कार्यरूप से असत् जड़ और आनन्दरहित, ब्रह्म अज और जगत् उत्पन्न हुआ है। ब्रह्म अदृश्य और जगत् दृश्य है। ब्रह्म अखण्ड और जगत् खण्डरूप है। जो ब्रह्म से पृथिव्यादि कार्य उत्पन्न होवे, तो पृथिव्यादि में कार्य्य के जड़ादि गुण ब्रह्म में भी होवें। अर्थात् जैसे पृथिव्यादि जड़ हैं, वैसा ब्रह्म भी जड़ हो जाय। और जैसा परमेश्वर चेतन है, वैसा पृथिव्यादि कार्य भी चेतन होना चाहिये।

और जो मकरी का दृष्टान्त दिया, वह तुम्हारे मत का साधक नहीं, किन्तु बाधक है। क्योंकि वह जड़रूप शरीर तन्तु का उत्पादन और जीवात्मा निमित्त कारण है। और यह भी परमात्मा की अद्भुत रचना का प्रभाव है। क्योंकि अन्य जन्तु के शरीर से जीव तन्तु नहीं निकाल सकता। वैसे ही व्यापक ब्रह्म ने अपने भीतर व्याप्य प्रकृति और परमाणु कारण से स्थूल जगत् को बनाकर, बाहर स्थूलरूप कर आप उसी में व्यापक होके साक्षीभूत आनन्दमय हो रहा है।

और जो परमात्मा ने ईक्षण अर्थात् दर्शन विचार और कामना की कि मैं सब जगत् को बनाकर प्रसिद्ध होऊं, अर्थात् जब जगत्

---

१. गौड़पदीय कारिका ३१।   २. वै० दर्शन २।१।२४॥

उत्पन्न होता है तभी जीवों के विचार, ज्ञान, ध्यान, उपदेश, श्रवण में परमेश्वर प्रसिद्ध, और बहुत स्थूल पदार्थों से सह वर्त्तमान होता है। जब प्रलय होता है, तब परमेश्वर और मुक्त जीवों को छोड़के उसको कोई नहीं जानता।

और जो वह कारिका है, वह भ्रममूलक है। क्योंकि प्रलय[1] में जगत् प्रसिद्ध नहीं था। और सृष्टि के अन्त अर्थात् प्रलय के आरम्भ से जब तक दूसरी वार सृष्टि न होगी, तब तक भी जगत् का कारण सूक्ष्म होकर अप्रसिद्ध रहता है। क्योंकि—

तम आसीत्तमसा गूळ्हमग्रे ॥१॥ यह ऋग्वेद का वचन है[2]।

आसीदिदं तमोभूतमप्रज्ञातमलक्षणम्।
अप्रतर्क्यमविज्ञेयं प्रसुप्तमिव सर्वतः ॥२॥[3]

यह सब जगत् सृष्टि के पहिले प्रलय में अन्धकार से आवृत्त आच्छादित था। और प्रलयारम्भ के पश्चात् भी वैसा ही होता है। उस समय न किसी के[4] जानने, न तर्क में लाने, और न प्रसिद्ध चिह्नों से युक्त इन्द्रियों से जानने योग्य था और न होगा। किन्तु वर्तमान में जाना जाता है, और प्रसिद्ध चिह्नों से युक्त जानने के योग्य होता, और यथावत् उपलब्ध है। पुनः उस कारिकाकार ने वर्तमान में भी जगत् का अभाव लिखा, सो सर्वथा अप्रमाण है। क्योंकि जिसको प्रमाता प्रमाणों से जानता और प्राप्त होता है, वह अन्यथा कभी नहीं हो सकता।

प्रश्न—जगत् के बनाने में परमेश्वर का क्या प्रयोजन है?

उत्तर—नहीं बनाने में क्या प्रयोजन है?

---

१. यहां सृष्टि से पूर्व का प्रलय इष्ट है। इस से पूर्व सं० १५ या १६ में 'सृष्टि की आदि अर्थात्' यह पाठ बढ़ाया गया। जो अनावश्यक है।

२. ऋ० १०।१२९।३॥ सं० ३ में मन्त्र के आगे ऋग्वेद का पता छापा गया। सं० ४ में 'यह ... वचन है' वाक्य हटा दिया। इस कारण उत्तरवर्ती संस्करणों में नहीं मिलता।

३. मनु० १।५॥

४. सं० २ में 'किसी ने' अपपाठ है।

प्रश्न—जो न बनाता तो आनन्द में बना रहता। और जीवों को भी सुख-दुःख प्राप्त न होता।

उत्तर—यह आलसी और दरिद्र लोगों की बातें हैं, पुरुषार्थी की नहीं। और जीवों को प्रलय में क्या सुख वा दुःख है? जो सृष्टि के सुख-दुःख की तुलना की जाय, तो सुख कई गुना अधिक होता। और बहुत से पवित्रात्मा जीव मुक्ति के साधन कर मोक्ष के आनन्द को भी प्राप्त होते हैं। प्रलय में निकम्मे जैसे सुषुप्ति में पड़े रहते हैं, वैसे रहते हैं। और प्रलय के पूर्व सृष्टि में जीवों के किये पाप-पुण्य कर्मों का फल ईश्वर कैसे दे सकता? और जीव क्योंकर भोग सकते?

जो तुमसे कोई पूछे कि आंख के होने में क्या प्रयोजन है? तुम यही कहोगे [कि] देखना। तो जो ईश्वर में जगत् की रचना करने का विज्ञान, बल और क्रिया है, उसका क्या प्रयोजन? विना जगत् की उत्पत्ति करने के दूसरा कुछ भी न कह सकोगे। और परमात्मा के न्याय, धारण, दया आदि गुण भी तभी सार्थक हो सकते हैं, जब जगत् को बनावे। उसका अनन्त सामर्थ्य जगत् की उत्पत्ति-स्थिति-प्रलय और व्यवस्था करने ही से सफल है। जैसे नेत्र का स्वाभाविक गुण देखना है, वैसे परमेश्वर का स्वाभाविक गुण जगत् की उत्पत्ति करके सब जीवों को असंख्य पदार्थ देकर परोपकार करना है।

प्रश्न—बीज पहले है, वा वृक्ष?

उत्तर—बीज। क्योंकि बीज हेतु निदान निमित्त और कारण इत्यादि शब्द एकार्थवाचक हैं। कारण का नाम बीज होने से कार्य के प्रथम ही होता है।

प्रश्न—जब परमेश्वर सर्वशक्तिमान् है, तो वह कारण और जीव को भी उत्पन्न कर सकता है। जो नहीं कर सकता, तो सर्वशक्तिमान् भी नहीं रह सकता।

उत्तर—'सर्वशक्तिमान्' शब्द [का] अर्थ[1] पूर्व[2] लिख आये हैं।

---

१. सं० २ में 'शब्दार्थ' पाठ है। २. पृष्ठ २६२।

परन्तु क्या सर्वशक्तिमान् वह कहाता है कि जो असम्भव बात को भी कर सके ? जो कोई असम्भव बात अर्थात् जैसा कारण के विना कार्य को कर सकता है, तो विना कारण दूसरे ईश्वर की उत्पत्ति कर, और स्वयं मृत्यु को प्राप्त, जड़ दुःखी अन्यायकारी अपवित्र और कुकर्मी आदि हो सकता है वा नहीं ?

जो स्वाभाविक नियम अर्थात् जैसा अग्नि उष्ण जल शीतल और पृथिव्यादि सब जड़ों को विपरीत गुणवाले ईश्वर भी नहीं कर सकता। और ईश्वर के नियम सत्य और पूरे हैं, इसलिये परिवर्तन नहीं कर सकता। इसलिये **'सर्वशक्तिमान्'** का अर्थ इतना ही है कि परमात्मा विना किसी के सहाय के अपने सब कार्य पूर्ण कर सकता है।

प्रश्न——ईश्वर साकार है, वा निराकार ? जो निराकार है, तो विना हाथ आदि साधनों के जगत् को न बना सकेगा। और साकार है, तो कोई दोष नहीं आता।

उत्तर——ईश्वर निराकार है। जो साकार अर्थात् शरीरयुक्त है, वह ईश्वर नहीं। क्योंकि वह परिमित शक्तियुक्त, देश काल वस्तुओं में परिच्छिन्न, क्षुधा-तृषा, छेदन-भेदन, शीतोष्ण, ज्वर-पीड़ादि सहित होवे। उसमें जीव के विना ईश्वर के गुण कभी नहीं घट सकते। जैसे तुम और हम साकार अर्थात् शरीरधारी हैं, इससे त्रसरेणु-अणु-परमाणु और प्रकृति को अपने वश में नहीं ला सकते हैं, वैसे ही स्थूल देहधारी परमेश्वर भी उन सूक्ष्म पदार्थों से स्थूल जगत् नहीं बना सकता।

जो परमेश्वर भौतिक इन्द्रियगोलक हस्तपादादि अवयवों से रहित है, परन्तु उसकी अनन्त शक्ति बल पराक्रम हैं। उनसे सब काम करता है, जो जीव और प्रकृति से कभी न हो सकते। जब वह प्रकृति से भी सूक्ष्म और उनमें व्यापक है, तभी उनको पकड़ कर जगदाकार कर देता है।

प्रश्न——जैसे मनुष्यादि के मां बाप साकार है, उनका सन्तान भी साकार होता है। जो ये निराकार होते, तो इनके लड़के भी

निराकार होते। वैसे परमेश्वर निराकार हो, तो उसका बनाया जगत् भी निराकार होना चाहिये ?

उत्तर—यह तुम्हारा प्रश्न लड़के के समान है। क्योंकि हम अभी कह चुके हैं कि परमेश्वर जगत् का उपादानकारण नहीं, किन्तु निमित्तकारण है। और जो स्थूल[1] होता है, वह प्रकृति और परमाणु जगत् का उपादानकारण है। और वे सर्वथा निराकार नहीं, किन्तु परमेश्वर से स्थूल और अन्य कार्य से सूक्ष्म आकार रखते हैं।

प्रश्न—क्या कारण के बिना परमेश्वर कार्य को नहीं कर सकता ?

उत्तर—नहीं। क्योंकि जिसका अभाव अर्थात् जो वर्त्तमान नहीं है, उसका भाव=वर्तमान होना सर्वथा असम्भव है। जैसे कोई गपोड़ा हांक दे कि मैंने वन्ध्या के पुत्र और पुत्री का विवाह देखा। वह[2] नरशृंग का धनुष [धारण किये] और दोनों खपुष्प की माला पहिरे हुए थे। मृगतृष्णिका के जल में स्नान करते और गन्धर्वनगर में रहते थे। वहां बद्दल के विना वर्षा, पृथिवी के विना सब अन्नों की उत्पत्ति आदि होती थी। वैसे ही कारण के विना कार्य का होना असम्भव है।

जैसे कोई कहे कि 'मम मातापितरौ न स्तोऽहमेवमेव जातः। मम मुखे जिह्वा नास्ति वदामि च' अर्थात् मेरे माता पिता न थे, ऐसे ही मैं उत्पन्न हुआ हूं। मेरे मुख में जीभ नहीं है, परन्तु बोलता हूं। बिल में सर्प न था निकल आया। मैं कहीं नहीं था, ये भी कहीं न थे, और हम सब जने आये हैं। ऐसी असम्भव बात प्रमत्तगीत अर्थात् पागल लोगों की है।

प्रश्न—जो कारण के विना कार्य नहीं होता, तो कारण का कारण कौन है ?

उत्तर—जो केवल कारणरूप ही हैं, वे कार्य किसी के नहीं

---

१. यहां प्रकृति को परमात्मा की दृष्टि से स्थूल कहा है, इन्द्रियगोचर होना अभिप्रेत नहीं है। देखो—अगला वाक्य। २. अर्थात् पुत्र।

होते। और जो किसी का कारण और किसी का कार्य होता है, वह दूसरा[1] कहाता है। जैसे पृथिवी घर आदि का कारण, और जल आदि का कार्य होता है, परन्तु जो आदि कारण प्रकृति है वह अनादि है।

मूले मूलाभावादमूलं मूलम्। सांख्यसू०[2]

मूल का मूल अर्थात् कारण का कारण नहीं होता। इससे अकारण सब कार्यों का कारण होता है। क्योंकि किसी कार्य के[3] आरम्भ समय के पूर्व तीनों कारण अवश्य होते हैं। जैसे कपड़े बनाने के पूर्व तन्तुवाय, रुई का सूत और नलिका आदि पूर्व वर्त्तमान होने से वस्त्र बनता है, वैसे जगत् की उत्पत्ति के पूर्व परमेश्वर प्रकृति काल और आकाश तथा जीवों के अनादि होने से इस जगत् की उत्पत्ति होती है। यदि इनमें से एक भी न हो, तो जगत् भी न हो।

अत्र नास्तिका आहुः—

शून्यं तत्त्वं भावोऽपि विनश्यति वस्तुधर्मत्वाद्विनाशस्य ॥१॥

सांख्यसू०[4]

अभावात् भावोत्पत्तिर्नानुपमृद्य प्रादुर्भावात् ॥२॥
ईश्वरः कारणं पुरुषकर्माफल्यदर्शनात् ॥३॥
अनिमित्ततो भावोत्पत्तिः कण्टकतैक्ष्ण्यादिदर्शनात् ॥४॥
सर्वमनित्यमुत्पत्तिविनाशधर्मकत्वात् ॥५॥
सर्वं नित्यं पञ्चभूतनित्यत्वात् ॥६॥
सर्वं पृथग् भावलक्षणपृथक्त्वात् ॥७॥
सर्वमभावो भावेष्वितरेतराभावसिद्धेः ॥८॥
[न स्वभावसिद्धिरापेक्षिकत्वात् ॥९॥][5]

न्यायसू० अ० ४। आह्निक १॥[6]

यहां नास्तिक लोग ऐसा कहते हैं कि—

---

१. अर्थात् प्रकृति-विकृति। २. सांख्य १।६७॥ ३. सं० २ में 'का' पाठ।
४. सांख्य १।४४॥ सूत्र में 'अपि' पद नहीं है।
५. यह नवम नास्तिक का सूत्र यहां छूट गया है। आगे व्याख्या वर्णित है। ६. सूत्र १४, १९, २२, २५, २९, ३४, ३७, ३९॥

[पहिला नास्तिक-] शून्य ही एक पदार्थ है। सृष्टि के पूर्व शून्य था, अन्त में शून्य होगा। क्योंकि जो भाव है अर्थात् वर्त्तमान पदार्थ है, उसका अभाव होकर शून्य हो जायेगा।

उत्तर—शून्य आकाश अदृश्य अवकाश और बिन्दु को भी कहते हैं। शून्य जड़ पदार्थ, [है] इस शून्य में सब पदार्थ अदृश्य रहते हैं। जैसे एक बिन्दु से रेखा, रेखाओं से वर्तुलाकार होने से भूमि पर्वतादि ईश्वर की रचना से बनते हैं[1]। और शून्य का जानने वाला शून्य नहीं होता ॥१॥

दूसरा नास्तिक—अभाव से भाव की उत्पत्ति है। जैसे बीज का मर्दन किये विना अंकुर उत्पन्न नहीं होता। और बीज को तोड़ कर देखें, तो अंकुर का अभाव है। जब प्रथम अंकुर नहीं दीखता था, तो अभाव से उत्पत्ति हुई।

उत्तर—जो बीज का उपमर्दन करता है, वह प्रथम ही बीज में था। जो न होता, तो उत्पन्न कभी नहीं होता ॥२॥

तीसरा नास्तिक—कहता है कि कर्मों का फल पुरुष के कर्म करने से नहीं प्राप्त होता। कितने ही कर्म निष्फल दीखने में आते हैं। इसलिये अनुमान किया जाता है कि कर्मों का फल प्राप्त होना ईश्वर के आधीन है। जिस कर्म का फल ईश्वर देना चाहे, देता है। जिस कर्म का फल देना नहीं चाहता, नहीं देता। इस बात से कर्मफल ईश्वराधीन है।

उत्तर—जो कर्म का फल ईश्वराधीन हो, तो विना कर्म किये ईश्वर फल क्यों नहीं देता ? इसलिये जैसा कर्म मनुष्य करता है, वैसा ही फल ईश्वर देता है। इससे ईश्वर स्वतन्त्र[2] [होकर] पुरुष को कर्म का फल नहीं दे सकता। किन्तु जैसा कर्म जीव करता है, वैसा ही फल ईश्वर देता है ॥३॥

चौथा नास्तिक—कहता है कि विना निमित्त के पदार्थों की

---

१. वाक्य अस्पष्ट है।   २. अर्थात् स्वेच्छापूर्वक।

उत्पत्ति होती है । जैसा बबूल आदि वृक्षों के कांटे तीक्ष्ण अणिवाले देखने में आते हैं । इससे विदित होता है कि जब-जब सृष्टि का आरम्भ होता है, तब-तब शरीरादि पदार्थ विना निमित्त के होते हैं।

उत्तर—जिससे पदार्थ उत्पन्न होता है, वही उसका निमित्त है। विना कंटकी वृक्ष के कांटे उत्पन्न क्यों नहीं होते ? ।४।।

पांचवां नास्तिक—कहता है कि सब पदार्थ उत्पत्ति और विनाश वाले हैं, इसलिये सब अनित्य हैं।

श्लोकार्धेन प्रवक्ष्यामि यदुक्तं ग्रन्थकोटिभिः ।
ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरः ॥

यह किसी ग्रन्थ[1] का श्लोक है नवीन वेदान्ती लोग पांचवें नास्तिक की कोटि में हैं। क्योंकि वे ऐसा कहते हैं कि क्रोड़ों ग्रन्थों का यह सिद्धान्त है—ब्रह्म सत्य, जगत् मिथ्या और जीव ब्रह्म से भिन्न नहीं ।

उत्तर—जो सबकी अनित्यता[2] नित्य है, तो सब अनित्य नहीं हो सकता ।

प्रश्न—सब की अनित्यता[3] भी अनित्य है। जैसे अग्नि काष्ठों को नष्ट कर आप भी नष्ट हो जाता है।

उत्तर—जो यथावत् उपलब्ध होता है उसका वर्तमान में अनित्यत्व, और परमसूक्ष्म कारण को अनित्य कहना कभी नहीं हो सकता । जो वेदान्ती लोग ब्रह्म से जगत् की उत्पत्ति मानते हैं, तो ब्रह्म के सत्य होने से उसका कार्य असत्य कभी नहीं हो सकता। जो स्वप्न रज्जू सर्प्पादिवत् कल्पित कहें, तो भी नहीं बन सकता।

---

१. अष्टावक्रगीता, श्लोक ५ । भ० द० ।। शंकराचार्य के नाम से प्रसिद्ध ब्रह्मनामावली स्तोत्र (श्लोक २०) में इस प्रकार पाठ है—

ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या ब्रह्मैव जीवो नापरः ।
अनेन वेद्यं सच्छास्त्रमिति वेदान्तडिण्डिमः ।।

२. सं० २ में 'नित्यता' अपपाठ है। द्र० पांचवें नास्तिक का वचन ।।

३. सं० २ में 'नित्यता' अपपाठ है। द्र०टिप्पणी १ । प्रकरण 'अनित्यता' पाठ में ही संगत होता है। द्र० 'नानित्यता नित्यत्वात्' । न्या० द० ४।१।२६

क्योंकि कल्पना गुण है। गुण से द्रव्य [उत्पन्न] नहीं [होता][1] और गुण द्रव्य से पृथक् नहीं रह सकता। जब कल्पना का कर्त्ता नित्य है, तो उसकी कल्पना भी नित्य होनी चाहिये। नहीं तो उसको भी अनित्य मानो।

जैसे स्वप्न विना देखे सुने कभी नहीं आता। जो जागृत अर्थात् वर्तमान समय में सत्य पदार्थ हैं, उनके साक्षात् सम्बन्ध से प्रत्यक्षादि ज्ञान होने पर संस्कार अर्थात् उनका वासनारूप ज्ञान आत्मा में स्थिर होता है, स्वप्न में उन्हीं को प्रत्यक्ष देखता है। जैसे सुषुप्ति होने से बाह्य पदार्थों के ज्ञान के अभाव में भी बाह्य पदार्थ विद्यमान रहते हैं, वैसे प्रलय में भी कारण द्रव्य वर्तमान रहता है। जो संस्कार के विना स्वप्न होवे, तो जन्मान्ध को भी रूप का स्वप्न होवे। इसलिए वहां उनका ज्ञानमात्र है, और बाहर सब पदार्थ वर्तमान हैं।

प्रश्न—जैसे जागृत के पदार्थ स्वप्न [में] और दोनों के सुषुप्ति में अनित्य हो जाते है, वैसे जागृत के पदार्थों को भी स्वप्न के तुल्य मानना चाहिये।

उत्तर—ऐसा कभी नहीं मान सकते। क्योंकि स्वप्न और सुषुप्ति में बाह्य पदार्थों का अज्ञानमात्र होता है, अभाव नहीं। जैसे किसी के पीछे की ओर बहुत से पदार्थ अदृष्ट रहते हैं, उनका अभाव नहीं होता, वैसे ही स्वप्न और सुषुप्ति की बात है। इसलिये जो पूर्व कह आये कि ब्रह्म, जीव और जगत् का कारण अनादि नित्य हैं, वही सत्य है ॥५॥

छःठा नास्तिक—कहता है कि पांच भूतों के नित्य होने से सब जगत् नित्य है।

उत्तर—यह बात सत्य नहीं। क्योंकि जिन पदार्थों का उत्पत्ति और विनाश का कारण देखने में आता है वे सब नित्य हों, तो सब स्थूल जगत् तथा शरीर घटपटादि पदार्थों को उत्पन्न और विनष्ट होते देखते ही हैं, इससे कार्य को नित्य नहीं मान सकते ॥६॥

---

१. कोष्ठकान्तवर्ती पाठों के विना वाक्यार्थ अस्पष्ट रहता है।

सातवां नास्तिक—कहता है कि सब पृथक्-पृथक् हैं, कोई एक पदार्थ नहीं है। जिस-जिस पदार्थ को हम देखते हैं कि उनमें दूसरा एक पदार्थ कोई भी नहीं दीखता।

उत्तर—अवयवों में अवयवी, वर्तमान काल, आकाश, परमात्मा और जाति पृथक्-पृथक् पदार्थ समूहों में एक-एक हैं। उनसे पृथक् कोई पदार्थ नहीं हो सकता। इसलिये सब पृथक् पदार्थ नहीं, किन्तु स्वरूप से पृथक्-पृथक् हैं और पृथक्-पृथक् पदार्थों में एक पदार्थ भी है ॥७॥

आठवां नास्तिक—कहता है कि सब पदार्थों में इतरेतर अभाव की सिद्धि होने से सब अभावरूप हैं। जैसे 'अनश्वो गौः, अगौरश्वः' गाय घोड़ा नहीं और घोड़ा गाय नहीं। इसलिये सब को अभावरूप मानना चाहिये।

उत्तर—सब पदार्थों में इतरेतराभाव का योग हो, परन्तु 'गवि गौरश्वेऽश्वो भावरूपो वर्तत एव' गाय में गाय और घोड़े में घोड़े का भाव ही है, अभाव कभी नहीं हो सकता। जो पदार्थों का भाव न हो, तो इतरेतराभाव भी किस में कहा जावे? ॥८॥

नवां नास्तिक—कहता है[1] कि स्वभाव से जगत् की उत्पत्ति होती है। जैसे पानी अन्न एकत्र हो सड़ने से कृमि उत्पन्न होते हैं, और बीज पृथिवी जल के मिलने [से] घास वृक्षादि और पाषाणादि उत्पन्न होते हैं। जैसे समुद्र वायु के योग से तरङ्ग और तरङ्गों से समुद्रफेन, हल्दी-चूना और नीबू के रस मिलाने से रोरी बन जाती है, वैसे सब जगत् तत्त्वों के स्वभाव गुणों से उत्पन्न हुआ। इसका बनाने वाला कोई भी नहीं।

उत्तर—जो स्वभाव से जगत् की उत्पत्ति होवे, तो विनाश न होवे। और जो विनाश भी स्वभाव से मानो, तो उत्पत्ति न होगी। और जो दोनों स्वभाव युगपत् द्रव्यों में मानोगे, तो उत्पत्ति

---

१. इस मत का सूत्र पूर्व छुटा हुआ था, यहां व्याख्यान होने से हमने पूर्व बढ़ाया है।

और विनाश की व्यवस्था कभी न हो सकेगी। और जो निमित्त के होने से उत्पत्ति और नाश मानोगे, तो निमित्त से उत्पत्ति और विनाश होनेवाले द्रव्यों से पृथक् मानना पड़ेगा। जो स्वभाव ही से उत्पत्ति और विनाश होता,तो एक समय ही में उत्पत्ति और विनाश का होना सम्भव नहीं। जो स्वभाव से उत्पन्न होता हो,तो इस भूगोल के निकट में दूसरा भूगोल चन्द्र-सूर्य आदि उत्पन्न क्यों नहीं होते ?

और जिस-जिस के योग से जो-जो उत्पन्न होता है,वह-वह ईश्वर के उत्पन्न किये हुए बीज अन्न-जलादि के संयोग से घास, वृक्ष और कृमि आदि उत्पन्न होते हैं, विना उनके नहीं। जैसे हल्दी चूना और नीबू का रस दूर-दूर देश से आकर आप नहीं मिलते, किसी के मिलाने से मिलते हैं। उसमें भी यथायोग्य मिलाने से रोरी होती है, अधिक न्यून वा अन्यथा करने से रोरी नहीं होती। वैसे ही प्रकृति परमाणुओं को ज्ञान और युक्ति से परमेश्वर के मिलाये विना जड़ पदार्थ स्वयं कुछ भी कार्यसिद्धि के लिये विशेष पदार्थ नहीं बन सकते। इसलिये स्वभावादि से सृष्टि नहीं होती, किन्तु परमेश्वर की रचना से होती है ॥९॥

प्रश्न—इस जगत् का कर्त्ता न था, न है और न होगा, किन्तु अनादि काल से यह जैसा का वैसा बना है। न कभी इसकी उत्पत्ति हुई [और] न कभी विनाश होगा[२]।

उत्तर—विना कर्त्ता के कोई भी क्रिया वा क्रियाजन्य पदार्थ नहीं बन सकता। जिन पृथिवी आदि पदार्थों में संयोग-विशेष से रचना दीखती है, वे अनादि कभी नहीं हो सकते। और जो संयोग से बनता है, वह संयोग के पूर्व नहीं होता, और वियोग के अन्त में नहीं रहता। जो तुम इसको न मानो, तो कठिन-से-कठिन पाषाण हीरा और फोलाद आदि तोड़ टुकड़े कर गला वा भस्म कर देखो कि इनमें परमाणु पृथक्-पृथक् मिले हैं,वा नहीं ? जो मिले हैं तो वे समय पाकर अलग-अलग भी अवश्य होते हैं।

---

१. केवल मूल में। भ० द०

२. यह मत जैनियों तथा नवीन मीमांसकों का है।

प्रश्न—अनादि ईश्वर कोई नहीं, किन्तु जो योगाभ्यास से अणिमादि ऐश्वर्य को प्राप्त होकर सर्वज्ञादि-गुणयुक्त केवल ज्ञानी होता है, वही जीव परमेश्वर कहाता है।[1]

उत्तर—जो अनादि ईश्वर जगत् का स्रष्टा न हो, तो साधनों से सिद्ध होनेवाले जीवों का आधार जीवनरूप जगत् शरीर और इन्द्रियों के गोलक कैसे बनते? इनके विना जीव साधन नहीं कर सकता। जब साधन न होते, तो सिद्ध कहां से होता? जीव चाहे जैसा साधन कर सिद्ध होवे, तो भी ईश्वर की जो स्वयं सनातन अनादि सिद्धि है, जिसमें अनन्त सिद्धि हैं, उसके तुल्य कोई भी जीव नहीं हो सकता। क्योंकि जीव का परम अवधि तक ज्ञान बढ़े, तो भी परिमित ज्ञान और सामर्थ्यवाला होता है। अनन्त ज्ञान और सामर्थ्य-वाला कभी नहीं हो सकता।

देखो, कोई भी [योगी][2] आज तक ईश्वरकृत सृष्टिक्रम को बदलनेहारा नहीं हुआ है, और न होगा। जैसा अनादिसिद्ध परमेश्वर ने नेत्र से देखने और कानों से सुनने का निबन्ध किया है, इसको कोई भी योगी बदल नहीं सकता। [अतः] जीव ईश्वर कभी नहीं हो सकता।

प्रश्न—कल्प-कल्पान्तर में ईश्वर सृष्टि विलक्षण-विलक्षण बनाता है, अथवा एकसी?

उत्तर—[3]जैसी कि अब है, वैसी पहले थी और आगे होगी, भेद नहीं करता।

---

१. यह मत भी जैनियों का है।

२. यह पद प्रकरणानुरोध से आवश्यक है। व्यासभाष्य में अणिमादि-सिद्धि-संपन्न योगी के ऐसे कार्य करने का उल्लेख है। वह केवल उनकी ज्ञवत्यतिशयता का प्रशंसापरक अर्थवाद मात्र है।

३. सं० २ में यह वाक्य पूर्व प्रश्न वाले वाक्य के साथ पढ़ा है, और 'उत्तर' शब्द इस वाक्य के अन्त में। सं० ३ में इसे यथोचित रूप दिया गया है।

सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत् ।
दिवं च पृथिवीं चान्तरिक्षमथो स्वः ॥१॥

ऋ० मं० १० । सू० १९० । मं० ३॥[1]

धाता=परमेश्वर [ने] ही जैसे पूर्व कल्प में सूर्य चन्द्र विद्युत् पृथिवी अन्तरिक्ष आदि बनाये थे,[2] वैसे ही अब बनाये हैं। और आगे भी वैसे ही बनावेगा ॥१॥

इसलिये परमेश्वर के काम विना भूल-चूक के होने से सदा एक से ही हुआ करते हैं। जो अल्पज्ञ और जिसका ज्ञान वृद्धि-क्षय को प्राप्त होता है, उसी के काम में भूल-चूक होती है, ईश्वर के काम में नहीं।

प्रश्न—सृष्टि-विषय में वेदादिशास्त्रों का अविरोध है, वा विरोध ?

उत्तर—अविरोध है।

प्रश्न—जो अविरोध है, तो—

तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः, आकाशाद्वायुः, वायोरग्निः, अग्नेरापः, अद्भ्यः पृथिवी, पृथिव्या ओषधयः। ओषधिभ्योऽन्नम्, अन्नाद्रेतः। रेतसः पुरुषः। स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः॥

यह तैत्तिरीय उपनिषद् का वचन है।[3]

उस परमेश्वर और प्रकृति से आकाश=अवकाश, अर्थात् जो कारणरूप द्रव्य सर्वत्र फैल रहा था, उसको इकट्ठा करने से अवकाश उत्पन्न-सा होता है। वास्तव में आकाश की उत्पत्ति नहीं होती। क्योंकि विना आकाश के प्रकृति और परमाणु कहां ठहर सकें ? आकाश के पश्चात् वायु, वायु के पश्चात् अग्नि, अग्नि के पश्चात् जल, जल के पश्चात् पृथिवी, पृथिवी से ओषधि, ओषधियों से अन्न, अन्न से वीर्य, वीर्य से पुरुष अर्थात् शरीर उत्पन्न होता है।

---

१. सं० २ में 'मं० १। सू० १९। मं० ३' अपपाठ है।
२. सं० २ में 'बनता हुआ' अपपाठ है।
३. तै० उप० ब्रह्मानन्द वल्ली १॥ यहां सम० १ पृष्ठ १७ टि० ५ देखें।

यहां आकाशादि क्रम से, और छान्दोग्य में अग्न्यादि, ऐतरेय में जलादि क्रम से सृष्टि हुई [ऐसा कहा है]। वेदों में कहीं पुरुष, कहीं हिरण्यगर्भ आदि से, मीमांसा में कर्म, वैशेषिक में काल[1], न्याय में परमाणु, योग में पुरुषार्थ, सांख्य में प्रकृति और वेदान्त में ब्रह्म से सृष्टि की उत्पत्ति मानी है। अब किसको सच्चा और किसको झूठा मानें ?

उत्तर—इसमें सब सच्चे, कोई झूठा नहीं। झूठा वह है, जो विपरीत समझता है। क्योंकि परमेश्वर निमित्त और प्रकृति जगत् का उपादान कारण है। जब महाप्रलय होता है, उसके पश्चात् आकाशादि क्रम, अर्थात्[2] जब आकाश और वायु का प्रलय नहीं होता और अग्न्यादि का होता है, [तब] अग्न्यादि क्रम से। और जब विद्युत् अग्नि का भी नाश नहीं होता, तब जलक्रम से सृष्टि होती है। अर्थात् जिस-जिस प्रलय[3] में जहां-जहां तक प्रलय होता है, वहां-वहां से सृष्टि की उत्पत्ति होती है।[4] पुरुष और हिरण्यगर्भादि प्रथम समुल्लास में लिख भी आये हैं, वे सब नाम परमेश्वर के हैं। परन्तु 'विरोध' उसको कहते हैं कि एक कार्य में एक ही विषय पर विरुद्ध वाद होवे।

छः शास्त्रों में अविरोध देखो इस प्रकार है। मीमांसा में—

---

१. कबीर की परम्परा के सुन्दरदास के 'सुन्दरविलास' में यही बात लिखी है। भ० द०

२. यहां 'अर्थात्' के स्थान में 'और' पद युक्त प्रतीत होता है।

३. यह अवान्तर प्रलय प्रति मन्वन्तर होती है। इसी कारण दो मन्वन्तरों के मध्य सन्धिकाल का निर्देश शास्त्रों में किया है। ईश्वर के द्वारा वेद का ज्ञान सृष्टि के आदि में दिया जाता है। अवान्तर प्रलय के पश्चात् सुप्तप्रबुद्ध न्याय से ऋषियों को वेद का स्मरण स्वयं हो जाता है।

४. इन अवान्तर प्रलयों से पूर्व सृष्टि का मानव इतिहास भी लुप्त हो जाता है। अतः वर्तमान सृष्टि का मानव-इतिहास गत अवान्तर प्रलय से उत्तरकाल का है (भ० द०)। यह भारतीय ग्रन्थों में 'मनु का जलप्लावन' नाम से तथा उत्तर देशों के ग्रन्थों में 'नोह (नूह) का जलप्लावन' नाम से प्रसिद्ध है॥

'ऐसा कोई भी कार्य जगत् में नहीं होता कि जिसके बनाने में कर्म-चेष्टा न की जाय'। वैशेषिक में—'समय न लगे विना बने ही नहीं'। न्याय में—'उपादान कारण न होने से कुछ भी नहीं बन सकता'। योग में—'विद्या ज्ञान विचार न किया जाय तो नहीं बन सकता'। सांख्य में—'तत्त्वों का मेल न होने से नहीं बन सकता'। और वेदान्त में—'बनानेवाला न बनावे तो कोई भी पदार्थ उत्पन्न न हो सके'।

इसलिये सृष्टि छः कारणों से बनती है। उन छः कारणों की व्याख्या एक-एक की एक-एक शास्त्र में है। इसलिये उनमें विरोध कुछ भी नहीं। जैसे छः पुरुष मिलके एक छप्पर उठाकर भित्तियों पर धरें, वैसा ही सृष्टिरूप कार्य की व्याख्या छः शास्त्रकारों ने मिलकर पूरी की है।

जैसे पांच अन्धे और एक मन्ददृष्टि को किसी ने हाथी का एक-एक देश बतलाया। उनसे पूछा कि हाथी कैसा है? उनमें से एक ने कहा—खम्भे, दूसरे ने कहा—सूप, तीसरे ने कहा—मूसल, चौथे ने कहा—झाड़ू, पांचवें ने कहा—चौतरा, और छठे ने कहा—काला-काला चार खंभों के ऊपर कुछ भैंसा-सा आकारवाला है। इसी प्रकार आजकल के अनार्ष नवीन ग्रन्थों के पढ़ने और प्राकृतभाषा[1] वालों ने ऋषि-प्रणीत ग्रन्थ न पढ़कर, नवीन क्षुद्रबुद्धिकल्पित संस्कृत और भाषाओं के ग्रन्थ पढ़कर, एक दूसरे की निन्दा में तत्पर होके झूठा झगड़ा मचाया है। इन का कथन बुद्धिमानों के वा अन्य के मानने योग्य नहीं। क्योंकि जो अन्धों के पीछे अन्धे चलें, तो दुःख क्यों न पावें? वैसे ही आजकल के अल्पविद्यायुक्त, स्वार्थी, इन्द्रियाराम पुरुषों की लीला संसार का नाश करनेवाली है।

प्रश्न—जब कारण के बिना कार्य नहीं होता, तो कारण का कारण क्यों नहीं?

उत्तर—अरे भोले भाइयो! कुछ अपनी बुद्धि को काम में क्यों नहीं लाते? देखो, संसार में दो ही पदार्थ होते हैं—एक कारण, दूसरा

१. सं० २ में 'प्राकृतभाव' अपपाठ है।

कार्य। जो कारण है वह कार्य नहीं, और जिस समय कार्य है वह कारण नहीं। जबतक मनुष्य सृष्टि को यथावत् नहीं समझता, तब-तक उसको यथावत् ज्ञान प्राप्त नहीं होता[१]।

नित्यायाः सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्थायाः प्रकृतेरुत्पन्नानां परमसूक्ष्माणां पृथक् पृथग्वर्त्तमानानां तत्त्वपरमाणूनां प्रथमः संयोगारम्भः, संयोगविशेषादवस्थान्तरस्य स्थूलाकारप्राप्तिः सृष्टिरुच्यते।

अनादि नित्यस्वरूप सत्व-रजस् और तमोगुणों की एकावस्थारूप प्रकृति से उत्पन्न जो परमसूक्ष्म पृथक्-पृथक् तत्त्वावयव विद्यमान हैं, उन्हीं का प्रथम ही जो संयोग का आरम्भ है, संयोगविशेषों से अवस्थान्तर=दूसरी-दूसरी अवस्था को सूक्ष्म [से] स्थूल-स्थूल बनते-बनाते विचित्ररूप बनी है। इसी से यह संसर्ग होने से **'सृष्टि'** कहाती है।

भला जो प्रथम संयोग में मिलने और मिलानेवाला पदार्थ है, जो संयोग का आदि और वियोग का अन्त अर्थात् जिसका विभाग नहीं हो सकता उसको **'कारण'**, और जो संयोग के पीछे बनता और वियोग के पश्चात् वैसा नहीं रहता वह **'कार्य'** कहाता है। जो उस कारण का कारण, कार्य का कार्य, कर्त्ता का कर्त्ता, साधन का साधन और साध्य का साध्य कहता है, वह देखता अन्धा सुनता बहिरा और जानता हुआ मूढ है। क्या आंख की आंख, दीपक का दीपक और सूर्य का सूर्य कभी हो सकता है? जो जिससे उत्पन्न होता है वह **'कारण'** और जो उत्पन्न होता है वह **'कार्य'**, और जो कारण को कार्यरूप बनानेहारा है वह **'कर्त्ता'** कहाता है।

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः॥ भगवद्गी०[२]

---

१. तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय (यजुः ३१।१८) में आधिदैविक पक्षानुसार विराट् पुरुष प्रजापति हिरण्गर्भ आदि अनेक नाम वाला प्रकृति का विकाररूप जो महद् अण्ड है, उसके और उससे उत्पन्न कार्यजगत् के ज्ञान से ही मृत्यु से अतिक्रमण=अमृतत्व-प्राप्ति का निर्देश किया है। २. गीता २।१६॥

कभी असत् का भाव=वर्त्तमान, और सत् का अभाव=अवर्त्तमान नहीं होता। इन दोनों का निर्णय तत्त्वदर्शी[1] लोगों ने जाना है। अन्य पक्षपाती आग्रही मलीनात्मा अविद्वान् लोग इस बात को सहज में कैसे जान सकते हैं? क्योंकि जो मनुष्य विद्वान् सत्संगी होकर पूरा विचार नहीं करता, वह सदा भ्रमजाल में पड़ा रहता है।

धन्य वे पुरुष हैं कि [जो] सब विद्याओं के सिद्धान्तों को जानते हैं, और जानने के लिये परिश्रम करते हैं। जानकर औरों को निष्कपटता से जनाते हैं। इससे जो कोई कारण के विना सृष्टि मानता है, वह कुछ भी नहीं जानता।

जब सृष्टि का समय आता है, तब परमात्मा उन परम सूक्ष्म पदार्थों को इकट्ठा करता है। उसकी प्रथम अवस्था में जो परम सूक्ष्म प्रकृतिरूप कारण से कुछ स्थूल होता है उसका नाम महत्तत्त्व, और जो उससे कुछ स्थूल होता है उसका नाम अहङ्कार, और अहङ्कार से भिन्न-भिन्न पांच सूक्ष्मभूत, श्रोत्र त्वचा नेत्र जिह्वा घ्राण पांच ज्ञान इन्द्रियां, वाक् हस्त पाद उपस्थ और गुदा ये पांच कर्म इन्द्रियां हैं, और ग्यारहवां मन कुछ स्थूल उत्पन्न होता है। और उन पञ्च-तन्मात्राओं से अनेक स्थूलावस्थाओं को प्राप्त होते हुए क्रम से पांच स्थूलभूत – जिनको हम लोग प्रत्यक्ष देखते हैं—उत्पन्न होते हैं।

उनसे नाना प्रकार की ओषधियां वृक्ष आदि, उनसे अन्न, अन्न से वीर्य, और वीर्य से शरीर होता है। परन्तु आदि सृष्टि मैथुनी नहीं होती। क्योंकि जब स्त्री-पुरुषों के शरीर परमात्मा बनाकर उनमें जीवों का संयोग कर देता है, तदनन्तर मैथुनी सृष्टि चलती है।

देखो शरीर में किस प्रकार की ज्ञानपूर्वक सृष्टि रची है कि जिसको विद्वान् लोग देखकर आश्चर्य मानते हैं। भीतर हाड़ों का जोड़, नाड़ियों का बन्धन, मांस का लेपन, चमड़ी का ढक्कन, प्लीहा यकृत फेफड़ा पंखा कला का स्थापन, जीव का संयोजन, शिरोरूप

---

१. तत्त्वदर्शी—जो तत्त्वों का अर्थात् परमाणुओं अथवा प्रकृति का साक्षात्कार करते हैं। भ० द०

मूलरचन, लोम-नखादि का स्थापन, आंख की अतीव सूक्ष्म शिरा का तारवत् ग्रन्थन, इन्द्रियों के मार्गों का प्रकाशन, जीव के जागृत-स्वप्न-सुषुप्ति अवस्था के भोगने के लिये स्थान-विशेषों का निर्माण, सब धातु का विभागकरण, कला-कौशल-स्थापनादि अद्भुत सृष्टि को विना परमेश्वर के कौन कर सकता है ?

इसके विना नाना प्रकार के रत्न धातु से जड़ित भूमि, विविध प्रकार[के]वट वृक्ष आदि के बीजों[1] में अति सूक्ष्म रचना, असंख्य हरित श्वेत पीत कृष्ण चित्र मध्यरूपों से युक्त पत्र पुष्प फल मूल निर्माण, मिष्ट क्षार कटुक कषाय तिक्त अम्लादि विविध रस, सुगन्धादि-युक्त पत्र पुष्प फल अन्न कन्द-मूलादि रचन, अनेकानेक क्रोड़ों भूगोल सूर्यचन्द्रादि लोकनिर्माण, धारण भ्रामण नियमों में रखना आदि परमेश्वर के विना कोई भी नहीं कर सकता।

जब कोई किसी पदार्थ को देखता है, तो दो प्रकार का ज्ञान उत्पन्न होता है—एक जैसा वह पदार्थ है, और दूसरा उसमें रचना देखकर बनानेवाले का ज्ञान [होता] है। जैसा किसी पुरुष ने सुन्दर आभूषण जङ्गल में पाया। देखा तो विदित हुआ कि यह सुवर्ण का है, और किसी बुद्धिमान् कारीगर ने बनाया है। इसी प्रकार यह नाना प्रकार [की]सृष्टि में विविध रचना बनानेवाले परमेश्वर को सिद्ध करती है।

प्रश्न—मनुष्य की सृष्टि प्रथम हुई, वा पृथिवी आदि की ?

उत्तर—पृथिवी आदि की। क्योंकि पृथिव्यादि के विना मनुष्य की स्थिति और पालन नहीं हो सकता।

प्रश्न—सृष्टि की आदि में एक वा अनेक मनुष्य उत्पन्न किये थे, वा क्या ?

उत्तर—अनेक। क्योंकि जिन जीवों के कर्म ऐश्वरी सृष्टि में उत्पन्न होने के थे, उनका जन्म सृष्टि की आदि में ईश्वर देता [है]।

---

१. सं० २ में 'जीवों' अपपाठ है।

क्योंकि '**मनुष्या ऋषयश्च ये**'[1]; '**ततो मनुष्या अजायन्त**'[2] यह यजुर्वेद [और उसके ब्राह्मण][3] में लिखा है। इस प्रमाण से यही निश्चय है कि आदि में अनेक अर्थात् सैकड़ों सहस्रों मनुष्य उत्पन्न हुए। और सृष्टि में देखने से भी निश्चित होता है कि मनुष्य अनेक मां-बाप के सन्तान हैं।

प्रश्न—आदिसृष्टि[4] में मनुष्य आदि की बाल्य युवा वा वृद्धावस्था में सृष्टि हुई थी, अथवा तीनों में?

उत्तर—युवावस्था में। क्योंकि जो बालक उत्पन्न करता, तो उनके पालन के लिये दूसरे मनुष्य आवश्यक होते। और जो वृद्धावस्था में बनाता तो मैथुनी सृष्टि न होती। इसलिये युवावस्था में सृष्टि की है।

प्रश्न—कभी सृष्टि का प्रारम्भ है, वा नहीं?

उत्तर—नहीं। जैसे दिन के पूर्व रात और रात के पूर्व दिन, तथा दिन के पीछे रात और रात के पीछे दिन बराबर चला आता है, इसी प्रकार सृष्टि के पूर्व प्रलय और प्रलय के पूर्व सृष्टि, तथा सृष्टि के पीछे प्रलय और प्रलय के आगे सृष्टि अनादिकाल से चक्र चला आता है। इसकी[5] आदि वा अन्त नहीं। किन्तु जैसे दिन वा रात

---

१. यजुः ३१।६ में '**साध्या ऋषयश्च**' ये पाठ है। अगले उद्धरण में 'मनुष्य' का निर्देश होने से इस उद्धरण के पाठ में लेखक-प्रमाद से अशुद्धि हुई, ऐसा प्रतीत होता है। २. शत० १४।४।२।५॥

३. कोष्ठगत पाठ मैंने जोड़ा है। इस सारे पाठ पर स्वामी वेदानन्द जी का टिप्पण बहुत उचित है है। भ० द०

४. सृष्टेरादिः आदिसृष्टिः सृष्ट्यादि र्वा। धर्मादिषूभयम् (अ०२।२।३१ वा०) से दोनों का पूर्वनिपात होता है। अर्थ होगा—सृष्टि की आदि। पाणिनि ने भी **आदिकर्मणि क्तः कर्तरि च** (३।४।७१) में '**कर्मण आदौ**' अर्थ में '**आदिकर्मणि**' पद का निर्देश किया है। ग्रन्थकार ने ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में इसी अर्थ में 'आदिसृष्टि' शब्द का बहुधा तथा क्वचित् 'सृष्ट्यादि' का प्रयोग किया है। दोनों प्रयोग व्याकरण के उक्त नियम से साधु हैं।

५. सं० २ में यही पाठ है। पूर्व प्रश्न में भी 'सृष्टि की आदि' ऐसा ही प्रयोग मिलता है।

का आरम्भ और अन्त देखने में आता है, उसी प्रकार सृष्टि और प्रलय का आदि [और] अन्त होता रहता है।

क्योंकि जैसे परमात्मा जीव जगत् का कारण तीन स्वरूप से अनादि हैं, वैसे जगत् की उत्पत्ति स्थिति और वर्त्तमान[1] प्रवाह से अनादि हैं। जैसे नदी का प्रवाह वैसा ही दीखता है, कभी सूख जाता कभी नहीं दीखता, फिर बरसात में दीखता और उष्ण काल में नहीं दीखता, ऐसे व्यवहारों को 'प्रवाहरूप' जानना चाहिये। जैसे परमेश्वर के गुण-कर्म-स्वभाव अनादि हैं, वैसे ही उसके जगत् की उत्पत्ति-स्थिति-प्रलय करना भी अनादि हैं। जैसे कभी ईश्वर के गुण-कर्म-स्वभाव का आरम्भ और अन्त नहीं, इसी प्रकार उसके कर्त्तव्य-कर्मों का भी आरम्भ और अन्त नहीं।

प्रश्न—ईश्वर ने किन्हीं जीवों को मनुष्य जन्म, किन्हीं को सिंहादि क्रूर जन्म, किन्हीं को हरिण-गाय आदि पशु, किन्हीं को वृक्षादि कृमि कीट पतङ्गादि जन्म दिये हैं। इससे परमात्मा में पक्षपात आता है।

उत्तर—पक्षपात नहीं आता। क्योंकि उन जीवों के पूर्व सृष्टि में किये हुए कर्मानुसार व्यवस्था करने से। जो कर्म के विना जन्म देता, तो पक्षपात आता।

प्रश्न—मनुष्यों की आदि सृष्टि किस स्थल में हुई?

उत्तर—त्रिविष्टप अर्थात् जिसको 'तिब्बत' कहते हैं।[2]

प्रश्न—आदिसृष्टि[3] में एक जाति थी, वा अनेक?

उत्तर—एक मनुष्य जाति थी। पश्चात् '**विजानीह्यार्य्यान् ये च दस्यवः**' यह ऋग्वेद का वचन है[4]। श्रेष्ठों का नाम '**आर्य**' विद्वान्

---

१. 'वर्तमान' के स्थान पर 'प्रलय' शब्द होना चाहिये। वर्तमान अर्थ 'स्थिति' शब्द से गतार्थ भी है।

२. द्र०—**हिमवच्छिखरप्रदेश एव स्वर्गभूमिरिति प्रसिद्धिः।** सायण अथर्व-भाष्य १९।३९।८॥ कोशों में स्वर्ग और त्रिविष्टप पर्यायवाची पढ़े हैं।

३. द्र० पूर्व पृष्ठ ३२९, टि० ४।

४. ऋ० १।५१।८॥

देव और दुष्टों के 'दस्यु' अर्थात् डाकू मूर्ख नाम होने से **आर्य** और दस्यु दो नाम हुए। 'उत शूद्र उतार्ये' ऋग्वेद [का] वचन[1]। आर्यों में पूर्वोक्त प्रकार से ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य और शूद्र चार भेद हुए। द्विज विद्वानों का नाम 'आर्य' और मूर्खों का नाम शूद्र और 'अनार्य' अर्थात् अनाड़ी नाम हुआ।

प्रश्न—फिर वे यहां कैसे आये?

उत्तर—जब आर्य और दस्युओं में, अर्थात् विद्वान् जो देव अविद्वान् जो असुर, उनमें सदा लड़ाई-बखेड़ा हुआ किया, जब बहुत उपद्रव होने लगा तब आर्य लोग सब भूगोल में उत्तम इस भूमि के खण्ड को जानकर यहीं आकर बसे। इसी से इस देश का नाम 'आर्य्यावर्त्त' हुआ।

प्रश्न—आर्य्यावर्त्त की अवधि कहां तक है?

उत्तर—आसमुद्रात्तु वै पूर्वादासमुद्रात्तु पश्चिमात्।
तयोरेवान्तरं गिर्योरार्य्यावर्त्तं विदुर्बुधाः ॥१॥
सरस्वतीदृषद्वत्योर्देवनद्योर्यदन्तरम्।
तं देवनिर्मितं देशमार्यावर्त्तं प्रचक्षते ॥२॥ मनु०[2]

उत्तर में हिमालय, दक्षिण में विन्ध्याचल, पूर्व और पश्चिम में समुद्र ॥१॥ तथा सरस्वती पश्चिम में अटक नदी, पूर्व में दृषद्वती जो नेपाल के पूर्व भाग पहाड़ से निकलके बङ्गाल के आसाम के पूर्व और ब्रह्मा के पश्चिम ओर होकर दक्षिण के समुद्र में मिली है, जिसको 'ब्रह्मपुत्रा' कहते हैं, और जो उत्तर के पहाड़ों से निकलके दक्षिण के समुद्र की खाड़ी में आकर[3] मिली है। हिमालय की मध्य रेखा से दक्षिण और पहाड़ों के भीतर और रामेश्वर-पर्यन्त विन्ध्याचल के भीतर जितने देश हैं, उन सबको 'आर्यावर्त्त' इसलिये कहते हैं कि यह आर्यावर्त्त देव अर्थात् विद्वानों ने बसाया। और आर्यजनों के

---

१. यह अथर्ववेद १९।६२।१ का वचन है।

२. मनु २।२२।१७॥ द्वितीय श्लोक के चतुर्थ चरण का पाठ मनु में 'ब्रह्मावर्तं प्रचक्षते' है।

३. सभी संस्करणों में 'अटक' अपपाठ है।

निवास करने से '**आर्यावर्त्त**' कहाया है [॥२॥]

प्रश्न—प्रथम इस देश का नाम क्या था ? और इसमें कौन बसते थे ?

उत्तर—इसके पूर्व इस देश का नाम कोई भी नहीं था, और न कोई आर्यों के पूर्व इस देश में बसते थे। क्योंकि आर्य लोग सृष्टि की आदि में कुछ काल के पश्चात् तिब्बत से सूधे इसी देश में आकर बसे थे।

प्रश्न—कोई कहते हैं कि ये लोग ईरान से आये। इसी से इन लोगों का नाम 'आर्य' हुआ है। इनके पूर्व यहां जङ्गली लोग बसते थे, कि जिनको असुर और राक्षस कहते थे। आर्य लोग अपने को देवता बतलाते थे। और उनका जब संग्राम हुआ, उसका नाम 'देवासुर-संग्राम' कथाओं में ठहराया।

उत्तर—यह बात सर्वथा झूठ है। क्योंकि—

विजानीह्यार्यान्ये च दस्यवो बर्हिष्मते रन्धया शासदव्रतान् ॥

ऋ० मं० १। सू० ५१। मं० ८॥

उत शूद्रे उतार्ये ॥ यह भी ऋग्वेद का प्रमाण है[1]।

यह लिख चुके हैं कि '**आर्य**' नाम धार्मिक विद्वान् आप्त पुरुषों का, और इनसे विपरीत जनों का नाम '**दस्यु**' अर्थात् डाकू दुष्ट अधार्मिक और अविद्वान् है। तथा ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य द्विजों का नाम '**आर्य**' और शूद्र का नाम '**अनार्य**' अर्थात् अनाड़ी है।

जब वेद ऐसे कहता है, तो दूसरे विदेशियों के कपोलकल्पित को बुद्धिमान् लोग कभी नहीं मान सकते। और देवासुर संग्राम में आर्यावर्त्तीय अर्जुन[2] तथा महाराजा दशरथ[3] आदि, हिमालय पहाड़ में आर्य और दस्यु म्लेच्छ[4] असुरों का जो युद्ध हुआ था, उसमें देव

---

१. 'अथर्ववेद' चाहिए। अथर्व १९।६२।१॥

२. अर्जुन ने इन्द्र की आज्ञा से उसके शत्रु निवातकवच नामक दानवों से युद्ध किया था। द्र०—महा० वनपर्व अ० १६८।७१ से अ० १७५ तक। ३. द्र०—वाल्मीकीय रामायण, अयोध्याकाण्ड सर्ग ११। श्लोक १८॥

४. म्लेच्छ असुरों की बस्तियां 'मोहन जो दड़ो' आदि में भी थीं। भ. द.

अर्थात् आर्यों की रक्षा और असुरों के पराजय करने को सहायक हुए थे ।

इससे यही सिद्ध होता है कि आर्यावर्त्त [के] बाहर चारों ओर जो हिमालय के पूर्व, आग्नेय, दक्षिण, नैर्ऋत्य, पश्चिम, वायव्य, उत्तर, ईशान देश में मनुष्य रहते हैं, उन्हीं का नाम **'असुर'** सिद्ध होता है । क्योंकि जब-जब हिमालय प्रदेशस्थ आर्यों पर लड़ने को चढ़ाई करते थे, तब-तब यहां के राजा-महाराजा लोग उन्हीं उत्तर आदि देशों में आर्यों के सहायक होते [थे] । और जो श्री रामचन्द्र जी से दक्षिण में युद्ध हुआ है, उसका नाम 'देवासुर-संग्राम' नहीं है । किन्तु उसको **राम-रावण** अथवा आर्य और राक्षसों का **संग्राम** कहते हैं ।

किसी संस्कृत ग्रन्थ में वा इतिहास में नहीं लिखा कि आर्य लोग ईरान से आये, और यहां के जङ्गलियों को लड़कर जय पाके, निकालके इस देश के राजा हुए[1] । पुनः विदेशियों का लेख माननीय कैसे हो सकता है ? और—

आर्यवाचो म्लेच्छवाचः सर्वे ते दस्यवः स्मृताः ॥१॥[2]

म्लेच्छदेशस्त्वतः परः ॥२॥[3]

जो आर्यावर्त्त देश से भिन्न देश हैं, वे **'दस्युदेश'** और **'म्लेच्छ-**

---

१. यह युक्ति अत्यन्त प्रबल है । पाश्चात्य मतानुसार जिन आर्यों ने ऋग्वेद जैसा महाग्रन्थ लिखा, उन्होंने इतनी भारी विजय का कहीं उल्लेख ही नहीं किया । संसार में कौन ऐसी सभ्य जाति है, जिसने अपनी विजयों का उल्लेख न किया हो । यदि लङ्का-विजय का उल्लेख रामायण में, और पाण्डवों की विजय का उल्लेख महाभारत में यहां के कवि कर सकते थे, तो आर्यों ने तथाकथित द्रविड़ों पर जो महान् विजय प्राप्त की उसका वर्णन क्यों नहीं किसी ग्रन्थ में मिलता है ? इससे स्पष्ट है कि न आर्य बाहर से आए, और न यहां के तथाकथित पूर्वनिवासियों (द्रविड़ों) को यहां से खदेड़ा । यह पाश्चात्यों की एक कूटनीतिक चाल थी । दुःख है कि स्वतन्त्र भारत में यही झूठा इतिहास देशवासियों को पढ़ाया जाता है ।

२. मनु १०।४५ में **'म्लेच्छवाचश्चार्यवाचः'** पाठ है ।

३. मनु २।२३॥

देश' कहाते हैं[1]। इससे भी यह सिद्ध होता है कि आर्यावर्त्त से भिन्न पूर्व देश से लेकर ईशान, उत्तर, वायव्य और पश्चिम देशों में रहनेवालों का नाम 'दस्यु' और 'म्लेच्छ' तथा 'असुर' है।[2] और नैर्ऋत्य, दक्षिण तथा आग्नेय दिशाओं में आर्यावर्त्त देश से भिन्न [में] रहनेवाले मनुष्यों का नाम **'राक्षस'** है। अब भी देख लो, हबशी लोगों का स्वरूप भयंकर जैसा राक्षसों का वर्णन किया है, वैसा ही दीख पड़ता है।

और आर्यावर्त्त की सूध पर नीचे रहनेवालों का नाम **'नाग'**, और उस देश का नाम 'पाताल' इसलिये कहते हैं कि वह देश आर्यावर्त्तीय मनुष्यों के पाद अर्थात् पग के तले है। और उनके[3] नागवंशी अर्थात् नाग नामवाले पुरुष के वंश के राजा होते थे। उसी की उलोपी राजकन्या से अर्जुन का विवाह हुआ था। अर्थात् इक्ष्वाकु से लेकर कौरव पांडव तक[4] सर्व भूगोल में आर्यों का राज्य और वेदों का थोड़ा-थोड़ा प्रचार आर्यावर्त्त से भिन्न देशों में भी रहा।

तथा इसमें यह प्रमाण है कि ब्रह्मा का पुत्र विराट्, विराट् का मनु, मनु के मरीच्यादि दश, इनके स्वायंभवादि सात राजा, और उनके सन्तान इक्ष्वाकु आदि राजा, जो आर्यावर्त्त के प्रथम राजा हुए, जिन्होंने यह आर्यावर्त्त वसाया है[5]।

अब अभाग्योदय से और आर्यों के आलस्य-प्रमाद परस्पर के विरोध से अन्य देशों के राज्य करने की तो कथा ही क्या कहनी, किन्तु आर्यावर्त्त में भी आर्यों का अखण्ड स्वतन्त्र स्वाधीन निर्भय

---

१. ये म्लेच्छ देश ही उत्तरकालीन इतिहास में दैत्य और दानव देश कहाए। इन पर दिति और दनु माताओं के सन्तानों का राज्य रहा। इन्हें ही 'असुर देश' कहते हैं। भ० द०

२. 'असीरिया' इन्हीं असुरों का देश था।

३. संस्करण २ में 'उनको' पाठ है।

४. भारत के प्राचीन इतिहास पर ग्रन्थकार ने पूना में ६ व्याख्यान दिये थे। द्र०—पूना-प्रवचन, प्रवचन संख्या ८-१३।

५. द०—पूनाप्रवचन, प्रवचन ८, पृष्ठ ६५ (रा०ला०क०ट्र०संस्करण)।

राज्य इस समय नहीं है। जो कुछ है सो भी विदेशियों के पादाक्रान्त हो रहा है, कुछ थोड़े राजा स्वतन्त्र हैं। दुर्दिन जब आता है, तब देशवासियों को अनेक प्रकार का दुःख भोगना पड़ता है।

'कोई कितना ही करे परन्तु जो स्वदेशीय राज्य होता है, वह सर्वोपरि उत्तम होता है। अथवा मतमतान्तर के आग्रह रहित, अपने और पराये का पक्षपातशून्य, प्रजा पर पिता-माता के समान कृपा न्याय और दया के साथ विदेशियों का राज्य भी पूर्ण सुखदायक नहीं है। परन्तु भिन्न-भिन्न भाषा, पृथक्-पृथक् शिक्षा, अलग व्यवहार का विरोध छूटना अति दुष्कर है। बिना इसके छूटे परस्पर का पूरा उपकार और अभिप्राय सिद्ध होना कठिन है। इसलिये जो कुछ वेदादि शास्त्रों में व्यवस्था वा इतिहास लिखे हैं, उसी का मान्य करना भद्रपुरुषों का काम है'।

प्रश्न—जगत् की उत्पत्ति में कितना समय व्यतीत हुआ?

उत्तर—एक अर्ब छानवें क्रोड़[1] कई लाख और कई सहस्र वर्ष जगत् की उत्पत्ति और वेदों के प्रकाश होने में हुए हैं। इसका स्पष्ट व्याख्यान मेरी बनाई भूमिका[2] में लिखा है, देख लीजिये। इत्यादि प्रकार सृष्टि के बनाने और बनने में हैं।

और यह भी है कि सब से सूक्ष्म टुकड़ा अर्थात् जो काटा नहीं जाता उसका नाम परमाणु, साठ परमाणुओं के मिले हुए का नाम अणु, दो अणु का एक द्व्यणुक जो स्थूल वायु है, तीन द्व्यणुक का अग्नि, चार द्व्यणुक का जल, पांच द्व्यणुक की पृथिवी अर्थात् तीन द्व्यणुक का त्रसरेणु और उसका दूना होने से पृथिवी आदि दृश्य पदार्थ होते हैं। इसी प्रकार क्रम से मिलकर भूगोलादि परमात्मा ने बनाये हैं।

प्रश्न—इसका धारण कौन करता है? कोई कहता है—शेष, अर्थात् सहस्र फणवाले सर्प के शिर पर पृथिवी है। दूसरा कहता है

१. इस संख्या में मन्वन्तर-सन्धियों का काल जोड़ने में छूट गया है। ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में भी यही भूल है। उस पर हमारी टिप्पणी देखें पृष्ठ २८, टि० १। २. ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के वेदोत्पत्ति-विषय को देखो।

कि—बैल के सींग पर। तीसरा कहता है—किसी पर नही । चौथा कहता है कि—वायु के आधार [पर]। पांचवां कहता है—सूर्य के आकर्षण से खैंची हुई अपने ठिकाने पर स्थित। छ:ठा कहता है कि—पृथिवी भारी होने से नीचे-नीचे आकाश में चली जाती है, इत्यादि में किस बात को सत्य मानें?

उत्तर—जो शेष सर्प और बैल के सींग पर धरी हुई पृथिवी स्थित बतलाता है, उसको पूछना चाहिये कि सर्प और बैल के मां-बाप के जन्म-समय किस पर थी? तथा सर्प और बैल आदि किस पर हैं? बैलवाले **मुसलमान** तो चुप ही कर जायेंगे। परन्तु सर्प वाले कहेंगे कि सर्प कूर्म पर, कूर्म जल पर, जल अग्नि पर, अग्नि वायु पर, और व यु आकाश में ठहरा है। उनसे पूछना चाहिये कि सब किस पर हैं? तो अवश्य कहेंगे परमेश्वर पर।

जब उनसे कोई पूछेगा कि शेष और बैल किस का बच्चा है? कहेंगे [शेष] कश्यप कद्रू और बैल गाय का। कश्यप मरीची [का], मरीची मनु [का], मनु विराट् [का,] और विराट् ब्रह्मा का पुत्र, ब्रह्मा आदि सृष्टि का था। जब शेष का जन्म न हुआ था, उसके पहिले पांच पीढ़ी हो चुकी हैं, तब किसने धारण की[1] थी? अर्थात् कश्यप के जन्म-समय में पृथिवी किस पर थी? तो 'तेरी चुप मेरी भी चुप' और लड़ने लग जायेंगे।

इसका सच्चा अभिप्राय यह है कि जो 'बाकी' रहता है, उसको **'शेष'** कहते हैं। सो किसी कवि ने **'शेषाधारा पृथिवीत्युक्तम्'** ऐसा कहा कि 'शेष' के आधार पृथिवी है। दूसरे ने उसके अभिप्राय को न समझकर सर्प की मिथ्या कल्पना कर ली। परन्तु जिसलिये परमेश्वर उत्पत्ति और प्रलय से 'बाकी' अर्थात् पृथक् रहता है, इसीसे उसको **'शेष'** कहते हैं, और उसी के आधार पृथिवी है।

सत्येनोत्तभिता भूमिः। यह ऋग्वेद का वचन है।[2]

---

१. सं० में 'कीई' पाठ है। २. ऋ० १०।८५।१॥

'सत्य' अर्थात् जो त्रैकाल्याबाध्य, जिसका[1] कभी नाश नहीं होता, उस परमेश्वर ने भूमि आदित्य और सब लोकों का धारण किया है।

उक्षा दाधार पृथिवीमुत द्याम् ॥ यह भी ऋग्वेद का वचन है।[2]

इसी 'उक्षा' शब्द को देखकर किसी ने बैल का ग्रहण किया होगा। क्योंकि उक्षा बैल का भी नाम है। परन्तु उस मूढ़ को यह विदित न हुआ कि इतने बड़े भूगोल के धारण करने का सामर्थ्य बैल में कहां से आवेगा? इसलिये 'उक्षा' वर्षा द्वारा भूगोल के सेचन करने से सूर्य का नाम है। उसने अपने आकर्षण से पृथिवी को धारण किया है। परन्तु सूर्यादि का धारण करनेवाला बिना परमेश्वर के दूसरा कोई भी नहीं है।

प्रश्न—इतने-इतने बड़े भूगोलों को परमेश्वर कैसे धारण कर सकता होगा?

उत्तर—जैसे अनन्त आकाश के सामने बड़े-बड़े भूगोल कुछ भी अर्थात् समुद्र के आगे जल के छोटे कण के तुल्य भी नहीं हैं, वैसे अनन्त परमेश्वर के सामने असंख्यात लोक एक परमाणु के तुल्य भी नहीं कह सकते। वह बाहर भीतर सर्वत्र व्यापक, अर्थात् 'विभूः प्रजासु' यह यजुर्वेद का वचन है[3]। वह परमात्मा सब प्रजाओं में व्यापक होकर सबका धारण कर रहा है। जो वह ईसाई मुसलमान पुराणियों के कथनानुसार विभू[4] न होता, तो इस सब सृष्टि का धारण कभी न कर सकता। क्योंकि बिना प्राप्ति के किसी को कोई धारण नहीं कर सकता।

कोई कहै कि ये सब लोक परस्पर आकर्षण से धारित होंगे, पुनः परमेश्वर के धारण करने की क्या अपेक्षा है? उनको यह उत्तर

---

१. सं॰ २ में 'जिसको' पाठ है।

२. ऋग्वेद में 'उक्षा स द्यावापृथिवी बिभर्ति' (१०।३१।८) पाठ है। अथर्ववेद में 'अनड्वान् दाधार पृथिवीमुत द्याम्' (४।११।१) पाठ है।

३. यजुः ३२।८॥ सं॰ २ में शुद्ध पाठ है। आगे भ्रष्ट हुआ है।

४. 'विभु' समानार्थक 'विभू' स्वतन्त्र शब्द है।

देना चाहिये कि यह सृष्टि अनन्त है वा सान्त ? जो अनन्त कहैं, तो आकारवाली वस्तु अनन्त कभी नहीं हो सकती। और जो सान्त कहैं, तो उनके पर-भाग सीमा अर्थात् जिसके परे कोई भी दूसरा लोक नहीं है, वहां किसके आकर्षण से धारण होगा ? जैसे समष्टि और व्यष्टि अर्थात् जब सब समुदाय का नाम वन रखते हैं, तो **समष्टि** कहाता है। और एक-एक वृक्षादि को भिन्न-भिन्न गणना करें, तो **व्यष्टि** कहाता है। वैसे सब भूगोलों को समष्टि गिनकर जगत् कहैं, तो सब जगत् का धारण और आकर्षण का कर्त्ता विना परमेश्वर के दूसरा कोई भी नहीं।

इसलिये जो सब जगत् को रचता है, वही—'**स दाधार पृथिवीमुत द्याम्**'॥ यह यजुर्वेद का वचन है[१]। जो पृथिव्यादि प्रकाशरहित लोकलोकान्तर पदार्थ तथा सूर्यादि प्रकाशसहित लोक और पदार्थों का रचन-धारण परमात्मा करता[२] है, जो सबमें व्यापक हो रहा है, वही सब जगत् का कर्त्ता और धारण करनेवाला है।

प्रश्न—पृथिव्यादि लोक घूमते हैं, वा स्थिर ?

उत्तर—घूमते हैं।

प्रश्न—कितने ही लोग कहते हैं कि—सूर्य घूमता है, और पृथिवी नहीं घूमती। दूसरे कहते हैं कि—पृथिवी घूमती है, सूर्य नहीं घूमता। इसमें सत्य क्या माना जाय ?

उत्तर—ये दोनों आधे झूठे हैं। क्योंकि वेद में लिखा है कि—

आयं गौः पृश्निरक्रमीदसदन् मातरं पुरः।
पितरं च प्रयन्त्स्वः॥ यजु० अ० ३। मं० ६॥[३]

अर्थात् यह भूगोल जल के सहित सूर्य के चारों ओर घूमता जाता है। इसलिये भूमि घूमा करती है।

---

१. यजुः १३।४ में '**स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमाम्**' पाठ है।
२. सं० २ में 'कराता' अपपाठ है।
३. सं० २ में 'मं० ८' अपपाठ है।

आ कृष्णेन रजसा वर्त्तमानो निवेशयन्नमृतं मर्त्यं च ।
हिरण्ययेन सविता रथेना देवो याति भुवनानि पश्यन् ॥
यजु० अ० ३३ । मं० ४३ ॥

जो सविता अर्थात् सूर्य वर्षादि का कर्त्ता, प्रकाश-स्वरूप, तेजोमय, रमणीयस्वरूप के साथ वर्त्तमान, सब प्राणि-अप्राणियों में अमृतरूप वृष्टि वा किरणद्वारा अमृत का प्रवेश करा, और सब मूर्तिमान् द्रव्यों को दिखलाता हुआ, सब लोकों के साथ आकर्षण गुण से सह वर्त्तमान, अपनी परिधि में घूमता रहता है, किन्तु किसी लोक के चारों ओर नहीं घूमता ।

वैसे ही एक-एक ब्रह्माण्ड में एक सूर्य प्रकाशक, और दूसरे सब लोक-लोकान्तर प्रकाश्य हैं । जैसे--

दिवि सोमो अधि श्रितः ॥ अथर्व० कां १४ । अनु० १ । मं० १ ॥

जैसे यह चन्द्रलोक सूर्य से प्रकाशित होता है, वैसे ही पृथिव्यादि लोक भी सूर्य के प्रकाश ही से प्रकाशित होते हैं । परन्तु रात और दिन सर्वदा वर्त्तमान रहते हैं । क्योंकि पृथिव्यादि लोक[का]घूमकर जितना भाग सूर्य के सामने आता है उतने में दिन, और जितना पृष्ठ में अर्थात् आड़ में होता जाता[है]तो उतने में रात । अर्थात् उदय-अस्त-संध्या-मध्याह्न-मध्यरात्रि आदि जितने कालावयव हैं, वे देशदेशान्तरों में सदा वर्त्तमान रहते हैं । अर्थात् जब आर्यावर्त्त में सूर्योदय होता है, उस समय पाताल अर्थात् 'अमेरिका' में अस्त होता है । और जब आर्यावर्त्त में अस्त होता है, तब पाताल देश में उदय होता है । जब आर्यावर्त्त में मध्य दिन वा मध्य रात है, उसी समय पाताल देश में मध्य रात और मध्य दिन रहता है ।

जो लोग कहते हैं कि सूर्य घूमता और पृथिवी नहीं घूमती, वे सब अज्ञ हैं । क्योंकि जो ऐसा होता तो कई सहस्र वर्ष के दिन और रात होते । अर्थात् सूर्य का नाम 'ब्रध्न'[1] [है । वह] पृथिवी से

---

१. 'असौ वा आदित्यो ब्रध्नः । शत० १३।२।६।१॥

लाखों[1] गुना बड़ा और क्रोड़ों कोश दूर है। जैसे राई के सामने पहाड़ घूमे तो बहुत देर लगती, और राई के घूमने में बहुत समय नहीं लगता, वैसे ही पृथिवी के घूमने से यथायोग्य दिन-रात होता है, सूर्य के घूमने से नहीं। और जो सूर्य को स्थिर कहते हैं, वे भी ज्योतिर्विद्यावित् नहीं। क्योंकि यदि सूर्य न घूमता होता, तो एक राशि=स्थान से दूसरी राशि अर्थात् स्थान को प्राप्त न होता। और गुरु पदार्थ विना घूमे आकाश में नियत स्थान पर कभी नहीं रह सकता।

और जो जैनी कहते हैं कि पृथिवी घूमती नहीं, किन्तु नीचे-नीचे चली जाती है, और दो सूर्य और दो चन्द्र केवल जम्बूद्वीप में बतलाते हैं, वे तो गहरी भांग के नशे में निमग्न हैं। क्यों[कि] जो नीचे-नीचे चली जाती, तो चारों ओर वायु के चक्र न बनने से पृथिवी छिन्न-भिन्न होती। और निम्नस्थलों[2] में रहनेवालों को वायु का स्पर्श न होता। नीचेवालों को अधिक होता, और एकसी वायु की गति होती। दो सूर्य चन्द्र होते तो रात और कृष्णपक्ष का होना ही नष्ट-भ्रष्ट होता। इसलिये एक भूमि के पास एक चन्द्र[3], और अनेक चन्द्र[4] [तथा] अनेक भूमियों के मध्य में एक सूर्य रहता है।

प्रश्न—सूर्य, चन्द्र और तारे क्या वस्तु हैं? और उनमें मनुष्यादि सृष्टि है, वा नहीं?

उत्तर—ये सब भूगोल लोक, और इनमें मनुष्यादि प्रजा भी रहती है। क्योंकि—

एतेषु हीदꣳ सर्वं वसुहितमेते हीदꣳ सर्वं वासयन्ते, तद्यदिदꣳ सर्वं वासयन्ते तस्माद्वसव इति॥ शत० कां० १४॥[5]

---

१. हस्तलेख में 'लाखह्' पाठ है। अतः यहां 'लाखों' पाठ ठीक है। सं० २ तथा आगे 'लाख' एकवचनान्त अपपाठ है। २. अर्थात् ऊपर के निम्नस्थलों।

३. यहां 'भूमि' शब्द ग्रह का वाचक है, और 'चन्द्र' उपग्रह का। किसी-किसी ग्रह के एक से अधिक भी उपग्रह हैं।

४. 'अनेक चन्द्र' यह पाठ सं० ३ में हटाया गया या छूट गया, आगे नहीं मिलता। ५. शत० १४।६।६।४॥

पृथिवी जल अग्नि वायु आकाश चन्द्र नक्षत्र और सूर्य इनका 'वसु' नाम इसलिये है कि इन्हीं में सब पदार्थ और प्रजा वसती हैं, और ये ही सबको वसाते हैं। जिसलिये वास के=निवास करने के घर हैं, इसलिये इनका नाम 'वसु' है। जब पृथिवी के समान सूर्य चन्द्र और नक्षत्र वसु हैं, पश्चात् उनमें इसी प्रकार प्रजा के होने में क्या सन्देह ? और जैसे परमेश्वर का यह छोटासा लोक मनुष्यादि सृष्टि से भरा हुआ है, तो क्या ये सब लोक शून्य होंगे ? परमेश्वर का कोई भी काम निष्प्रयोजन नहीं होता। तो क्या इतने असंख्य लोकों में मनुष्यादि सृष्टि न हो, तो सफल कभी हो सकता है ? इसलिये सवत्र मनुष्यादि सृष्टि है।

प्रश्न—जैसे इस देश में मनुष्यादि सृष्टि की आकृति अवयव हैं, वैसे ही अन्य लोकों में [भी] होंगी, वा विपरीत ?

उत्तर—कुछ-कुछ आकृति में भेद होने का सम्भव है। जैसे इस देश में चीन हब्शी और आर्यावर्त्त यूरोप में अवयव और रङ्ग-रूप और आकृति का भी थोड़ा-थोड़ा भेद होता है, इसी प्रकार लोक-लोकान्तरों में भी भेद होते हैं। परन्तु जिस जाति की जैसी सृष्टि इस देश में है, वैसी जाति ही की सृष्टि[1] अन्य लोकों में भी है। जिस-जिस शरीर के प्रदेश में नेत्रादि अङ्ग हैं, उसी-उसी प्रदेश में लोकान्तर में भी उसी जाति के अवयव भी वैसे ही होते हैं। क्योंकि—

सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्।
दिवं च पृथिवीं चान्तरिक्षमथो स्वः ॥

ऋ० मं० १०। सू० १९० [। मं० ३] ॥

'धाता' परमात्मा ने जिस प्रकार के सूर्य चन्द्र द्यौ भूमि अन्तरिक्ष और तत्रस्थ सुखविशेष पदार्थ पूर्व कल्प में रचे थे, वैसे ही इस कल्प अर्थात् इस सृष्टि में रचे हैं। तथा सब लोक-लोकान्तरों में भी बनाये हैं। भेद किंचिन्मात्र नहीं होता।

---

१. प्रकरण के अनुरोध से 'वैसी ही उस जाति की सृष्टि' पाठ होना युक्त है।

प्रश्न--जिन वेदों का इस लोक मे प्रकाश है, उन्हीं का उन लोकों में भी प्रकाश है, वा नहीं ?

उत्तर--उन्हीं का है। जैसे एक राजा की राज्यव्यवस्था नीति सब देशों में समान होती है, उसी प्रकार परमात्मा राजराजेश्वर की वेदोक्त नीति अपने-अपने सृष्टिरूप सब राज्य में एकसी है।

प्रश्न--जब ये जीव और प्रकृतिस्थ तत्त्व अनादि और ईश्वर के बनाये नहीं हैं, तो ईश्वर का अधिकार भी इन पर न होना चाहिये। क्योंकि सब स्वतन्त्र हुए।

उत्तर--जैसे राजा और प्रजा समकाल में होते हैं, और राजा के आधीन प्रजा होती है, वैसे ही परमेश्वर के आधीन जीव और जड़ पदार्थ हैं। जब परमेश्वर सब सृष्टि का बनाने, जीवों के कर्मफलों के देने, सबका यथावत् रक्षक और अनन्त सामर्थ्यवाला है, तो अल्प-सामर्थ्य जीव[1] और जड़ पदार्थ उसके आधीन क्यों न हों ? इसलिये जीव कर्म करने में स्वतन्त्र, परन्तु कर्मों के फल भोगने में ईश्वर की व्यवस्था से परतन्त्र हैं। वैसे ही सर्वशक्तिमान् सृष्टि संहार और पालन सब विश्व का करता है[2]।

इसके आगे विद्या-अविद्या, बन्ध और मोक्ष [के] विषय में लिखा जायेगा। यह आठवां समुल्लास पूरा हुआ।

इति श्रीमद्दयानन्दसरस्वतीस्वामिकृते सत्यार्थप्रकाशे सुभाषाविभूषिते सृष्ट्युत्पत्तिस्थितिप्रलयविषये-ऽष्टमः समुल्लासः सम्पूर्णः ॥८॥

१. सं० २ में 'भी' अपपाठ है।

२. सं० २ में 'कर्ता' अपपाठ है।

अथ नवमसमुल्लासारम्भः

अथ विद्याऽविद्याबन्धमोक्षविषयान् व्याख्यास्यामः

विद्यां चाऽविद्यां च यस्तद्वेदोभयꣳ सह ।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते ॥

यजु॰ अ॰ ४० । मं॰ १४ ॥

जो मनुष्य विद्या और अविद्या के स्वरूप को साथ ही साथ जानता है, वह अविद्या[1] अर्थात् कर्मोपासना से मृत्यु को तरके विद्या अर्थात् यथार्थ ज्ञान से मोक्ष को प्राप्त होता है ।

अविद्या का लक्षण[2]—

अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या ॥

यह योगसूत्र का वचन है[3] ।

जो अनित्य संसार और देहादि में नित्य, अर्थात् जो कार्य-जगत् देखा-सुना जाता है, सदा रहेगा, सदा से है, और योगबल से यही देवों का शरीर सदा रहता है, वैसी विपरीत-बुद्धि होना अविद्या का प्रथम भाग है । अशुचि अर्थात् मलमय स्त्र्यादि के [शरीर], और मिथ्याभाषण चोरी आदि अपवित्र में पवित्र-बुद्धि दूसरा । अत्यन्त

---

१. न विद्या='अविद्या' । नञ्पद से युक्त समास उत्तरपद का निषेध करता हुआ तत्सदृश अर्थ का बोधक होता है । 'नञिवयुक्तमन्यसदृशाधिकरणे तथा ह्यर्थगतिः यह महाभाष्य (३।१।१२) का वचन इस में प्रमाण है । 'अश्व-मानय' ऐसा भृत्य को आदेश देने पर भृत्य अश्वसदृश चतुष्पाद प्राणी को लाता है । विद्या और कर्म का शास्त्रों में सहभाव कहा है । इस कारण यहां अविद्या शब्द से विद्या से भिन्न तत्सदृश कर्म का ग्रहण होता है । इस का निर्देश ग्रन्थ-कार स्वयं आगे करेंगे ।

२. यह प्रसंगप्राप्त अविद्या—'नास्ति विद्या यथार्थज्ञानं यस्यां सा' जिस में यथार्थ ज्ञान नहीं है, उस उलटे ज्ञान का लक्षण दिया है । यह उलटा ज्ञान बन्ध का कारण होता है ।

३. योग॰ साधनपाद । सू॰ ५ ॥

विषयसेवनरूप दुःख में सुख-बुद्धि आदि तीसरा। अनात्मा में आत्म-बुद्धि करना अविद्या का चौथा भाग है। इस चार प्रकार का विपरीत ज्ञान 'अविद्या' कहाती है।

इससे विपरीत अर्थात् अनित्य में अनित्य और नित्य में नित्य, अपवित्र में अपवित्र और पवित्र में पवित्र, दुःख में दुःख [और] सुख में सुख, अनात्मा में अनात्मा और आत्मा में आत्मा का ज्ञान होना विद्या' है। अर्थात् 'वेत्ति यथावत् तत्त्वपदार्थस्वरूपं यया सा विद्या'। 'यया तत्त्व-स्वरूपं न जानाति भ्रमादन्यस्मिन्नन्यन्निश्चिनोति यया साऽविद्या' जिससे पदार्थों का यथार्थस्वरूप बोध होवे वह 'विद्या', और जिससे तत्त्वस्वरूप न जान पड़े, अन्य में अन्य बुद्धि होवे वह 'अविद्या' कहाती है।

अर्थात् कर्म [और] उपासना 'अविद्या' इसलिये है कि यह बाह्य और अन्तर क्रियाविशेष [का] नाम[1] है, ज्ञानविशेष नहीं। इसी से मन्त्र में कहा है कि विना शुद्ध कर्म और परमेश्वर की उपासना के मृत्यु-दुःख से पार कोई नहीं होता। अर्थात् पवित्र कर्म पवित्रोपासना और पवित्र ज्ञान ही से मुक्ति, और अपवित्र मिथ्याभाषणादि कर्म पाषाणमूर्त्यादि की उपासना और मिथ्याज्ञान से बन्ध होता है। कोई भी मनुष्य क्षणमात्र भी कर्म उपासना और ज्ञान से रहित नहीं होता। इसलिये धर्मयुक्त सत्यभाषणादि कर्म करना और मिथ्या-भाषणादि अधर्म को छोड़ देना ही मुक्ति का साधन है।

प्रश्न—मुक्ति किसको प्राप्त नहीं होती ?

उत्तर—जो बद्ध है।

प्रश्न—बद्ध कौन है ?

उत्तर—जो अधर्म अज्ञान में फसा हुआ जीव है।

प्रश्न—बन्ध और मोक्ष स्वभाव से होता है, वा निमित्त से ?

उत्तर—निमित्त से। क्योंकि जो स्वभाव से होता, तो बन्ध और मुक्ति की निवृत्ति कभी नहीं होती।

---

१. 'नाम' पद मूल और द्वि० सं० में है।

प्रश्न---न निरोधो न चोत्पत्तिर्न बद्धो न च साधकः।
न मुमुक्षुर्न वै मुक्तिरित्येषा परमार्थता॥
यह श्लोक माण्डूक्योपनिषद् पर है।[1]

जीव ब्रह्म होने से वस्तुतः जीव का निरोध अर्थात् न कभी आवरण[2] में आया, न जन्म लेता, न बद्ध[3] है, और न साधक अर्थात् न कुछ साधना करनेहारा है, न छूटने की इच्छा करता, और न इसको कभी मुक्ति है। क्योंकि जब परमार्थ से बन्ध ही नहीं हुआ, तो मुक्ति क्या?

उत्तर---यह नवीन वेदान्तियों का कहना सत्य नहीं। क्योंकि जीव का स्वरूप अल्प[4] होने से आवरण[2] में आता, शरीर के साथ प्रकट होने रूप जन्म लेता, पापरूप कर्मों के फल भोगरूप बन्धन में फसता, उसके छुड़ाने का साधन करता,[5] दुःख से छूटने की इच्छा करता, और दुःखों से छूटकर परमानन्द परमेश्वर का प्राप्त होकर मुक्ति को भी भोगता है।

प्रश्न--ये सब धर्म देह और अन्तःकरण के हैं, जीव के नहीं। क्योंकि जीव तो पाप पुण्य से रहित साक्षी-मात्र है। शीतोष्णादि शरीरादि के धर्म हैं, आत्मा निर्लेप है।

उत्तर—देह और अन्तःकरण जड़ हैं। उनको शीतोष्ण-प्राप्ति और भोग नहीं है जो चेतन मनुष्यादि प्राणी उसका स्पर्श करता है[6], उसी को शीत-उष्ण का भान और भोग होता है। वैसे प्राण भी जड़ हैं, न उनको भूख न पिपासा, किन्तु प्राणवाले जीव को क्षुधा-तृषा लगती है। वैसे ही मन भी जड़ है, न उसको हर्ष न शोक हो सकता हैं। किन्तु मन से हर्ष-शोक, दुःख-सुख का भोग जीव करता[5] है। जैसे बहिष्करण श्रोत्रादि इन्द्रियों से अच्छे बुरे शब्दादि-विषयों का

---

१. गौड़पादकारिका २।३२॥ वहां 'मुक्त इत्येषा' पाठ है।
२. सं० २ में 'आवर्ण' अपपाठ है। ३. सं० २ में 'बन्ध' पाठ है।
४. जीव ज्ञान सामर्थ्य तथा परिमाण आदि की दृष्टि से परमात्मा की अपेक्षा अल्प है। ५ सं० २ में 'कर्ता' अपपाठ है। ६. उस शरीर का स्पर्श करता=उससे युक्त होता है, तभी उस शरीर को ।

ग्रहण करके जीव सुखी-दुःखी होता है, वैसे ही अन्तःकरण अर्थात् मन-बुद्धि-चित्त-अहंकार से संकल्प-विकल्प निश्चय स्मरण और अभिमान का करनेवाला दण्ड और मान्य का भागी होता है।

जैसे तलवार से मारनेवाला दण्डनीय होता है तलवार नहीं होती, वैसे ही देहेन्द्रिय अन्तःकरण और प्राणरूप साधनों से अच्छे-बुरे कर्मों का कर्त्ता जीव सुख-दुःख का भोक्ता है। जीव कर्मों का साक्षी नहीं, किन्तु कर्त्ता-भोक्ता है। कर्मों का साक्षी तो एक अद्वितीय परमात्मा है। जो कर्म करनेवाला जीव है, वही कर्मों में लिप्त होता है; वह ईश्वर साक्षी नहीं।

प्रश्न—जीव ब्रह्म का प्रतिबिम्ब है। जैसे दर्पण के टूटने-फूटने से बिम्ब की कुछ हानि नहीं होती, इसी प्रकार अन्तःकरण में ब्रह्म का प्रतिबिम्ब जीव तब तक है कि जबतक वह अन्तःकरणोपाधि है। जब अन्तःकरण नष्ट हो गया, तब जीव मुक्त है।

उत्तर—यह बालकपन की बात है। क्योंकि प्रतिबिम्ब साकार का साकार में होता है। जैसे मुख और दर्पण आकारवाले[1] हैं, और पृथक् भी हैं। जो पृथक् न हों, तो भी प्रतिबिम्ब नहीं हो सकता। ब्रह्म निराकार सर्वव्यापक होने से उसका प्रतिबिम्ब ही नहीं हो सकता।

प्रश्न—देखो, गम्भीर स्वच्छ जल में निराकार और व्यापक आकाश का आभास पड़ता है। इसी प्रकार स्वच्छ अन्तःकरण में परमात्मा का आभास है। इसलिये इसको चिदाभास कहते हैं।

उत्तर—यह बालबुद्धि का मिथ्या प्रलाप है। क्योंकि आकाश दृश्य नहीं, तो उसको आंख से कोई भी क्योंकर देख सकता है?

प्रश्न—यह जो ऊपर को नीला[2] और धूंधलापन दीखता है, वह आकाश नीला दीखता है, वा नहीं?

उत्तर—नहीं।

प्रश्न—तो वह क्या है?

---

१. सं० २ में 'साकारवाले' अपपाठ है। २. सं० २ में 'मिला' पाठ है।

उत्तर–अलग-अलग पृथिवी जल और अग्नि के त्रसरेणु दीखते हैं। उसमें जो नीलता दीखती है वह अधिक जल, जो कि वर्षता है, सो वही नील। जो धूंधलापन दीखता है, वह पृथिवी से धूली उड़कर वायु में घूमती है, वह दीखती। और उसी [का] प्रतिबिम्ब जल वा दर्पण में दीखता है, आकाश का कभी नहीं।

प्रश्न—जैसे घटाकाश, मठाकाश, मेघाकाश और महदाकाश के भेद व्यवहार में होते हैं, वैसे ही ब्रह्म के ब्रह्माण्ड और अन्तःकरण उपाधि के भेद से ईश्वर और जीव नाम होता है। जब घटादि नष्ट हो जाते हैं, तब महाकाश ही कहाता है।

उत्तर—यह भी बात अविद्वानों की है। क्योंकि आकाश कभी छिन्न-भिन्न नहीं होता। व्यवहार में भी 'घड़ा लाओ' इत्यादि व्यवहार होते हैं। कोई नहीं कहता कि घड़े का आकाश लाओ। इसलिये यह बात ठीक नहीं।

प्रश्न—जैसे समुद्र के बीच में मच्छी कीड़े, और आकाश के बीच में पक्षी आदि घूमते हैं, वैसे ही चिदाकाश ब्रह्म में सब अन्तःकरण घूमते हैं। वे स्वयं तो जड़ हैं, परन्तु सर्वव्यापक परमात्मा की सत्ता से जैसा कि अग्नि से लोहा [उष्ण होता है,] वैसे चेतन हो रहे हैं। जैसे वे चलते-फिरते और आकाश तथा ब्रह्म निश्चल है, वैसे जीव को ब्रह्म मानने में कोई दोष नहीं आता।

उत्तर–यह भी तुम्हारा दृष्टान्त सत्य नहीं। क्योंकि जो सर्वव्यापी ब्रह्म अन्तःकरणों में प्रकाशमान होकर जीव होता है, तो सर्वज्ञादि गुण उसमें होते हैं वा नहीं? जो कहो कि आवरण[1] होने से सर्वज्ञता नहीं होती, तो कहो कि ब्रह्म आवृत्त[2] और खण्डित है वा अखण्डित? जो कहो कि अखण्डित है, तो बीच में कोई भी पड़दा नहीं डाल सकता। जब पड़दा नहीं, तो सर्वज्ञता क्यों नहीं?

जो कहो कि अपने स्वरूप को भूलकर अन्तःकरण के साथ

---

१. सं० २ में 'आवर्ण' अपपाठ है। २. सं० २ में 'आवृत' अपपाठ है।

चलता-सा है, स्वरूप से नहीं। जब स्वयं नहीं चलता, तो अन्तःकरण जितना-जितना पूर्व प्राप्त देश छोड़ता और आगे-आगे जहां-जहां सरकता जायगा, वहां-वहां का ब्रह्म भ्रांत अज्ञानी हो जायेगा। और जितना-जितना छूटता जायगा, वहां-वहां का ज्ञानी पवित्र और मुक्त होता जायेगा। इसी प्रकार सर्वत्र सृष्टि के ब्रह्म को अन्तःकरण बिगाड़ा करेंगे, और बन्ध-मुक्ति भी क्षण-क्षण में हुआ करेगी। तुम्हारे कहे प्रमाणे जो वैसा होता, तो किसी जीव को पूर्व देखे सुने का स्मरण न होता। क्योंकि जिस ब्रह्म ने देखा वह नहीं रहा। इसलिये ब्रह्म जीव, जीव ब्रह्म एक कभी नहीं होता, सदा पृथक्-पृथक् हैं।

प्रश्न—यह सब अध्यारोपमात्र है। अर्थात् अन्य वस्तु में अन्य वस्तु का स्थापन करना **'अध्यारोप'** कहाता है। वैसे ही ब्रह्म वस्तु में सब जगत् और इसके व्यवहार का अध्यारोप करने से जिज्ञासु को बोध कराना होता है, वास्तव में सब ब्रह्म ही है।

प्रश्न[1]—अध्यारोप का करनेवाला कौन है?

उत्तर—जीव।

प्रश्न—जीव किसको कहते हो?

उत्तर—अन्तःकरणावच्छिन्न चेतन को।

प्रश्न—अन्तःकरणावच्छिन्न चेतन दूसरा है, वा वही ब्रह्म?

उत्तर—वही ब्रह्म है।

प्रश्न—तो क्या ब्रह्म ही ने अपने में जगत् की झूठी कल्पना करली?

उत्तर—हो, ब्रह्म की इससे क्या हानि?

प्रश्न—जो मिथ्या कल्पना करता है, क्या वह झूठा नहीं होता?

उत्तर—नहीं। क्योंकि जो मन वाणी से कल्पित वा कथित है, वह सब झूठा है।

प्रश्न—फिर मन वाणी से झूठी कल्पना करने और मिथ्या

---

१. यहां से आगे ६ प्रश्न उत्तरपक्ष के, और उत्तर नवीन वेदान्ती के हैं

बोलनेवाला ब्रह्म कल्पित और मिथ्यावादी हुआ वा नहीं ?

उत्तर--हो, हमको इष्टापत्ति है।

वाह रे झूठे वेदान्तियो ! तुमने सत्यस्वरूप, सत्यकाम, सत्यसङ्कल्प परमात्मा को मिथ्याचारी कर दिया। क्या यह तुम्हारी दुर्गति का कारण नहीं है ? किस उपनिषद् सूत्र वा वेद में लिखा है कि परमेश्वर मिथ्यासङ्कल्प और मिथ्यावादी है ? क्योंकि जैसे किसी चोर ने कोतवाल को दण्ड दिया अर्थात् 'उलटि चोर कोतवाल को दण्डे' इस कहानी के सदृश तुम्हारी बात हुई। यह तो बात उचित है कि कोतवाल चोर को दण्डे, परन्तु यह बात विपरीत है कि चोर कोतवाल को दण्ड देवे। वैसे ही तुम मिथ्यासङ्कल्प और मिथ्यावादी होकर वही अपना दोष ब्रह्म में व्यर्थ लगाते हो।

जो ब्रह्म मिथ्याज्ञानी मिथ्यावादी मिथ्याकारी होवे, तो सब अनन्त ब्रह्म वैसा ही हो जाय। क्योंकि वह एकरस है। सत्यस्वरूप सत्यमानी सत्यवादी और सत्यकारी है। ये सब दोष तुम्हारे हैं, ब्रह्म के नहीं। जिसको तुम विद्या कहते हो वह अविद्या है। और तुम्हारा अध्यारोप भी मिथ्या है। क्योंकि आप ब्रह्म न होकर अपने को ब्रह्म और ब्रह्म को जीव मानना यह मिथ्याज्ञान नहीं तो क्या है ? जो सर्वव्यापक है, वह परिच्छिन्न अज्ञान और बन्ध में कभी नहीं गिरता। क्योंकि अज्ञान परिच्छिन्न एकदेशी अल्प अल्पज्ञ जीव [में] होता है, सर्वज्ञ सर्वव्यापी ब्रह्म [में] नहीं।

अब मुक्ति-बन्ध का वर्णन करते हैं—

प्रश्न—मुक्ति किसको कहते हैं ?

उत्तर—'मुञ्चन्ति पृथग्भवन्ति जना यस्यां सा मुक्तिः' जिसमें छूट जाना हो, उसका नाम 'मुक्ति' है।

प्रश्न—किससे छूट जाना ?

उत्तर—जिससे छूटने की इच्छा सब जीव करते हैं।

प्रश्न—किससे छूटने की इच्छा करते हैं ?

उत्तर—जिससे छूटना चाहते हैं ?

प्रश्न—किससे छूटना चाहते हैं ?

उत्तर—दुःख से ।

प्रश्न—छूटकर किसको प्राप्त होते[1], और कहां रहते हैं ?

उत्तर—सुख को प्राप्त होते, और ब्रह्म में रहते हैं ।

प्रश्न—मुक्ति और बन्ध किन-किन बातों से होता है ?

उत्तर—परमेश्वर की आज्ञा पालने, अधर्म-अविद्या-कुसङ्ग-कुसंस्कार बुरे व्यसनों से अलग रहने, और सत्यभाषण परोपकार विद्या पक्षपातरहित न्याय-धर्म की वृद्धि करने, पूर्वोक्त प्रकार से परमेश्वर की स्तुति-प्रार्थना और उपासना अर्थात् योगाभ्यास करने, विद्या पढ़ने-पढ़ाने, और धर्म से पुरुषार्थ कर ज्ञान की उन्नति करने, सबसे उत्तम साधनों को करने, और जो कुछ करे वह सब पक्षपात-रहित न्यायधर्मानुसार ही करे, इत्यादि साधनों से मुक्ति, और इनसे विपरीत ईश्वराज्ञा भङ्ग करने आदि काम से बन्ध होता है ।

प्रश्न—मुक्ति में जीव का लय होता है, वा विद्यमान रहता है ?

उत्तर—विद्यमान रहता है ।

प्रश्न—कहां रहता है ?

उत्तर—ब्रह्म में ।

प्रश्न—ब्रह्म कहां है ? और वह मुक्त जीव एक ठिकाने रहता है, वा स्वेच्छाचारी होकर सर्वत्र विचरता है ?

उत्तर—जो ब्रह्म सर्वत्र पूर्ण है, उसी में मुक्त जीव अव्याहत-गति अर्थात् उसको कहीं रुकावट नहीं, विज्ञान आनन्दपूर्वक स्वतन्त्र विचरता है ।

प्रश्न—मुक्त जीव का स्थूल शरीर होता है, वा नहीं ?

उत्तर—नहीं रहता ।

प्रश्न—फिर वह सुख और आनन्द-भोग कैसे करता[2] है ?

---

१. सं० २ में 'हों' अपपाठ है । २. सं० २ में 'कर्त्ता' अपपाठ है ।

उत्तर—उसके सत्यसङ्कल्पादि स्वाभाविक गुण सामर्थ्य सब रहते हैं, भौतिक सङ्ग नहीं रहता। जैसे—

शृण्वन् श्रोत्रं भवति, स्पर्शयन् त्वग्भवति, पश्यन् चक्षुर्भवति, रसयन् रसना भवति, जिघ्रन् घ्राणं भवति, मन्वानो मनो भवति, बोधयन् बुद्धिर्भवति, चेतयंश्चित्तम्भवत्यहङ्कुर्वाणोऽहङ्कारो भवति ॥

शतपथ कां. १४॥[1]

मोक्ष में भौतिक शरीर वा इन्द्रियों के गोलक जीवात्मा के साथ नहीं रहते, किन्तु अपने स्वाभाविक शुद्ध गुण रहते हैं। जब सुनना चाहता है तब श्रोत्र, स्पर्श करना चाहता है तब त्वचा, देखने के संकल्प से चक्षु, स्वाद के अर्थ रसना, गन्ध के लिये घ्राण, संकल्प-विकल्प करते[2] समय मन, निश्चय करने के लिये बुद्धि, स्मरण करने के लिये चित्त, और अहंकार के अर्थ अहंकाररूप अपनी स्वशक्ति से जीवात्मा मुक्ति में हो जाता है। और संकल्पमात्र शरीर होता है। जैसे शरीर के आधार रहकर इन्द्रियों के गोलक के द्वारा जीव स्वकार्य करता है, वैसे अपनी शक्ति से मुक्ति में सब आनन्द भोग लेता है।

प्रश्न—उसकी शक्ति कै प्रकार की, और कितनी है?

उत्तर—मुख्य एक प्रकार की शक्ति है। परन्तु बल, पराक्रम, आकर्षण, प्रेरणा, गति, भीषण[3], विवेचन, क्रिया, उत्साह, स्मरण, निश्चय, इच्छा, प्रेम, द्वेष, संयोग, विभाग, संयोजक, विभाजक, श्रवण, स्पर्शन, दर्शन, स्वादन, और गन्धग्रहण तथा ज्ञान इन २४ चौबीस प्रकार के सामर्थ्ययुक्त जीव है। इससे मुक्ति में भी आनन्द की प्राप्ति भोग करता है।

जो मुक्ति में जीव का लय होता, तो मुक्ति का सुख कौन भोगता? और जो जीव के[4] नाश ही को मुक्ति समझते हैं, वे तो

---

१. अनुपलब्ध मूल। भ० द० संस्करण में यहां 'कां० १४' के आगे कोष्ठक में [२।२।१७] पाठ बढ़ाया है। न यह पता प्रपाठक के अनुसार ठीक है, और न अध्याय के अनुसार। टिप्पणी में 'शतपथ के पाठ से तुलना करो' का भी अभिप्राय ज्ञात नहीं होता।

२. सं० २ में 'करने' अपपाठ है।

३. यहां 'भय' शब्द अधिक उपयुक्त है।

४. सं० २ में 'का' अपपाठ है।

महामूढ़ हैं। क्योंकि मुक्ति जीव की यह है कि दुःखों से छूटकर आनन्दस्वरूप सर्वव्यापक अनन्त परमेश्वर में जीव का आनन्द में रहना।

देखो वेदान्त शारीरक सूत्रों में—

अभावं बादरिराह ह्येवम् ॥[1]

जो बादरि व्यासजी का पिता है, वह मुक्ति में जीव का और उसके साथ मन का भाव मानता है। अर्थात् जीव और मन का लय पराशर जी नहीं मानते[2]। [और इस से भिन्न इन्द्रिय आदि पदार्थों का अभाव हो जाता है।] वैसे ही—

भावं जैमिनिर्विकल्पामननात् ॥[3]

और जैमिनि आचार्य मुक्त पुरुष का मन के समान सूक्ष्म शरीर, इन्द्रियों[4] [और] प्राण आदि को भी विद्यमान मानते हैं[5], अभाव नहीं।

द्वादशाहवदुभयविधं बादरायणोऽतः ॥[6]

व्यास मुनि मुक्ति में भाव और अभाव इन दोनों को मानते हैं। अर्थात् शुद्धसामर्थ्ययुक्त जीव मुक्ति में बना रहता है। अपवित्रता, पापाचरण, दुःख-अज्ञानादि का अभाव मानते हैं।[7]

यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह ।
बुद्धिश्च न विचेष्टते तामाहुः परमां गतिम् ॥

यह उपनिषद् का वचन है।[8]

---

१. वेदान्त द० ४।४।१०॥ २. यह कोष्ठान्तर्गत पाठ ग्रन्थकार की ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका मुक्ति-विषय (पृष्ठ २१४ रालाकट्र सं०) में इस सूत्र की व्याख्या से लेकर जोड़ा है। इसके विना सूत्रस्थ 'अभाव' का अर्थ स्पष्ट नहीं होता। ३. वेदान्त द० ४।४।११॥ ४. सं० २ में 'इन्द्रियां' अपपाठ है।

५. द्र०—ऋभाभू० 'वैसे ही शुद्धसंकल्पमय शरीर तथा प्राण और इन्द्रियों की शुद्ध शक्ति भी बराबर बनी रहती है (पृष्ठ २१४, वही सं०)।

६. वेदान्त द० ४।४।१२॥ ७ ऋभाभू० में सूत्रस्थ 'द्वादशाहवत्' पद की व्याख्या इस प्रकार की है—'जैसे वानप्रस्थ आश्रम में बारह दिन का प्राजापत्यादि व्रत करना होता है, उस में थोड़ा भोजन करने से क्षुधा का थोड़ा अभाव और पूर्ण भोजन न करने से कुछ भाव भी बना रहता है···(पृष्ठ २१४, वही सं०)। ८. कठोप० अ० २, वल्ली ३, मं० १०॥ उपनिषद् में 'न विचेष्टति' पाठ है।

जब शुद्ध-मनयुक्त पांच ज्ञानेन्द्रिय जीव के साथ रहती हैं, और बुद्धि का निश्चय स्थिर होता है, उसको परमगति अर्थात् 'मोक्ष' कहते हैं।[1]

य आत्मा अपहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोकोऽविजिघत्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसंकल्पः सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यः सर्वांश्च लोकानाप्नोति सर्वांश्च कामान् यस्तमात्मानमनुविद्य विजानातीति ॥[2]

स वा एष एतेन दैवेन चक्षुषा मनसैतान् कामान् पश्यन् रमते। य एते ब्रह्मलोके तं वा एतं देवा आत्मानमुपासते तस्मात्तेषाᳬ सर्वे च लोका आत्ताः सर्वे च कामाः स सर्वांश्च लोकानाप्नोति सर्वांश्च कामान् यस्तमात्मानमनुविद्य विजानातीति ॥[3]

मघवन् मर्त्यं वा इदᳬ शरीरमात्तं मृत्युना तदस्याऽमृतस्याशरीरस्यात्मनोऽधिष्ठानमात्तो वै सशरीरः प्रियाप्रियाभ्यां न वै सशरीरस्य सतः प्रियाप्रिययोरपहतिरस्त्यशरीरं वाव सन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशतः ॥ छान्दो०[4]

जो परमात्मा अपहतपाप्मा, सर्व पाप-जरा-मृत्यु-शोक-क्षुधा-पिपासा से रहित,सत्यकाम सत्यसंकल्प है, उसकी खोज और उसी को[5] जानने की इच्छा करनी चाहिये। जिस परमात्मा के सम्बन्ध

---

१ यह जीवनमुक्त की अवस्था है, विदेह-मुक्ति इस से उत्तर अवस्था है। विदेह-मुक्ति में उक्त अवस्था साधनरूप है। साध्य-साधन में अभेदोपचार से यहां इसे ही मोक्ष कहा है।

२. छां० उप० ८।७।१॥ उपनिषद् में 'य आत्मापहतपाप्मा··· विशोको विजिघत्सो···' पाठ है। उपनिषद् में 'विजरो विमृत्युर्विशोकः' के समान 'विजिघत्सः' पद वि निपात से गतार्थ में समस्त है। ग्रन्थकार ने 'अपिपासः' पद के समान 'विजिघत्स' से नञ्समास माना है। वि उपसर्गपूर्वक 'घस्' से विजिघत्स पद समझा है।

३. छां० उप० ८।१२।५, ६॥ उपनिषद् में 'एतं देव आत्मानमुपासते' पाठ सम्भवतः मुद्रणदोषजन्य है। 'उपासते' बहुवचन का कर्ता 'देवाः' बहुवचन ही होना चाहिये।

४. छां० उप० ८।१२।१॥ ५. सं० २ में 'की' पाठ है।

से मुक्त जीव सब लोकों और सब कामों को प्राप्त होता है। जो परमात्मा को जानके मोक्ष के साधन और अपने को शुद्ध करना जानता है।

सो यह मुक्ति को प्राप्त जीव शुद्ध दिव्यनेत्र और शुद्ध मन से कामों को देखता प्राप्त होता हुआ रमण करता[1] है। जो ये ब्रह्मलोक अर्थात् दर्शनीय परमात्मा में स्थित होके मोक्षसुख को भोगते हैं, और इसी परमात्मा का जो कि सबका अन्तर्यामी आत्मा है, उसकी उपासना मुक्ति की प्राप्ति करनेवाले विद्वान् लोग करते हैं, उससे उनको सब लोक और सब काम प्राप्त होते हैं। अर्थात् जो-जो संकल्प करते हैं वह-वह लोक और वह-वह काम प्राप्त होता है। और वे मुक्त जीव स्थूल शरीर छोड़कर संकल्पमय शरीर से आकाश में परमेश्वर में विचरते हैं। क्योंकि जो शरीरवाले होते हैं, वे सांसारिक दुःख से रहित नहीं हो सकते।

जैसे इन्द्र से प्रजापति ने कहा है कि—हे परमपूजित धनयुक्त पुरुष! यह स्थूल शरीर मरणधर्मा है। और जैसे सिंह के मुख में बकरी होवे, वैसे यह शरीर मृत्यु के मुख के बीच है। सो शरीर इस मरण और शरीररहित जीवात्मा का निवासस्थान है। इसीलिये यह जीव सुख और दुःख से सदा ग्रस्त रहता है। क्योंकि शरीरसहित जीव की[2] सांसारिक प्रसन्नता की निवृत्ति होती ही है[3]। और जो शरीररहित मुक्त[4] जीवात्मा ब्रह्म में रहता है, उसको सांसारिक सुख-दुःख का स्पर्श भी नहीं होता, किन्तु सदा आनन्द में रहता है।

प्रश्न—जीव मुक्ति को प्राप्त होकर पुनः जन्म-मरणरूप दुःख में कभी आते हैं, वा नहीं? क्योंकि—

न च पुनरावर्त्तते न च पुनरावर्त्तत इति ।। उपनिषद्-वचनम् ।[5]

अनावृत्तिः शब्दादनावृत्तिः शब्दात् ।। शारीरक सूत्र ।[6]

---

१. सं० २ में 'कर्त्ता' अपपाठ है। २. सं० २ में 'के' पाठ है।

३. अर्थात् सदा प्रसन्न नहीं रहता। ४. सं० २ में 'मुक्ति' अपपाठ है।

५. छां० उप० ८।१५।१।। ६. वेदान्त द० ४।४।२२।।

यद् गत्वा न निवर्त्तन्ते तद्धाम परमं मम ॥ भगवद्गीता ।[1]

इत्यादि वचनों से विदित होता है कि मुक्ति वही है कि जिससे निवृत्त होकर पुनः संसार में कभी नहीं आता ।

उत्तर—यह बात ठीक नहीं । क्योंकि वेद में इस बात का निषेध किया है—

कस्य॑ नू॒नं क॑त॒मस्या॒मृता॑नां॒ मना॑महे॒ चारु॑ दे॒वस्य॒ नाम॑ ।
को नो॑ म॒ह्या अदि॑तये॒ पुन॑र्दात् पि॒तरं॑ च दृ॒शेयं॑ मा॒तरं॑ च ॥१॥
अ॒ग्नेर्व॒यं[2] प्र॑थ॒मस्या॒मृता॑नां॒ मना॑महे॒ चारु॑ दे॒वस्य॒ नाम॑ ।
स नो॑ म॒ह्या अदि॑तये॒ पुन॑र्दात् पि॒तरं॑ च दृ॒शेयं॑ मा॒तरं॑ च ॥२॥

ऋ० मं० १ । सू० २४ । मं० १-२ ॥

इदानीमिव सर्वत्र नात्यन्तोच्छेदः ॥ ३॥ सांख्य सू० ।[3]

प्रश्न—हम लोग किसका नाम पवित्र जानें ? कौन नाशरहित पदार्थों के मध्य में वर्त्तमान देव सदा प्रकाशस्वरूप है । हमको मुक्ति का सुख भुगाकर[4] पुनः इस संसार में जन्म देता और माता तथा पिता का दर्शन कराता है ? ॥१॥

उत्तर—हम इस स्वप्रकाशस्वरूप अनादि सदामुक्त परमात्मा का नाम पवित्र जानें, जो हमको मुक्ति में आनन्द भुगाकर पृथिवी में पुनः माता-पिता के सम्बन्ध में जन्म देकर माता-पिता का दर्शन कराता है । वही परमात्मा मुक्ति की व्यवस्था करता सबका स्वामी है ॥२॥

जैसे इस समय बन्धमुक्त जीव हैं, वैसे ही सर्वदा रहते हैं । अत्यन्त विच्छेद बन्ध-मुक्ति का कभी नहीं होता । किन्तु बन्ध और मुक्ति सदा नहीं रहती ॥३॥

प्रश्न—तदत्यन्तविमोक्षोऽपवर्गः ॥

---

१. गीता १५।६॥ २. सं० २ में 'अग्नेनूं नं' अपपाठ है ।
३. सांख्य द० १।१६०॥ ४. सं० २ में 'भुगा करे' अपपाठ है ।

दु:खजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तरापायादपवर्गः ।। न्यायसू० ।[1]

जो दु:ख का अत्यन्त विच्छेद होता है, वही 'मुक्ति' कहाती है। क्योंकि जब मिथ्याज्ञान अविद्या, लोभादि दोष, विषय दुष्ट व्यसनों में प्रवृत्ति, जन्म और दु:ख का उत्तर-उत्तर के छूटने से पूर्व पूर्व के निवृत्त होने ही से मोक्ष होता है, जो कि सदा बना रहता है।

उत्तर—यह आवश्यक नहीं है कि अत्यन्त शब्द अत्यन्ताभाव ही का नाम होवे। जैसे 'अत्यन्तं दुःखमत्यन्तं सुखं चास्य वर्त्तते' बहुत दु:ख और बहुत सुख इस मनुष्य को है। इससे यही विदित होता है कि इसको बहुत सुख वा दु:ख है। इसी प्रकार यहां भी अत्यन्त शब्द का अर्थ जानना चाहिये।

प्रश्न—जो मुक्ति से भी जीव फिर आता है, तो वह कितने समय तक मुक्ति में रहता है ?

उत्तर—ते ब्रह्मलोके ह परान्तकाले परामृतात्[1] परिमुच्यन्ति सर्वे ।। यह मुण्डक उपनिषद् का वचन है[2]।

वे मुक्त जीव मुक्ति में प्राप्त होके ब्रह्म में आनन्द को तब तक भोगके पुनः महाकल्प के पश्चात् मुक्ति-सुख को छोड़के संसार में आते हैं। इसकी संख्या यह है कि तेंतालीस लाख बीस सहस्र वर्षों की एक चतुर्युगी, दो सहस्र चतुर्युगियों का एक अहोरात्र, ऐसे तीस अहोरात्रों का एक महीना, ऐसे बारह महीनों का एक वर्ष, ऐसे शत वर्षों का परान्तकाल होता है। इसको गणित की रीति से यथावत् समझ लीजिये[3]। इतना समय मुक्ति में सुख भोगने का है।

प्रश्न—सब संसार और ग्रन्थकारों का यही मत है कि जिससे

---

१. प्रथम सूत्र न्याय द० १।१।२२।। दूसरा सूत्र न्याय द० १।१।२।।

२. 'परामृतात्' पाठ पर पूर्व पृष्ठ १८४ टि० ४ द्रष्टव्य है। कैवल्योप० ११ में भी यही पाठ है। सं० ४ से १४ तक 'परामृताः' अपपाठ छपा है।

३. मुण्डकोप० ३।२।६।। ४. यह काल ३१ नील १० खरब ४० अरब वर्ष होता है।

पुनः जन्म-मरण में कभी न आयें।

उत्तर—यह बात कभी नहीं हो सकती। क्योंकि प्रथम तो जीव का सामर्थ्य शरीरादि पदार्थ और साधन परिमित हैं, पुनः उसका फल अनन्त कैसे हो सकता है ? अनन्त आनन्द को भोगने का असीम सामर्थ्य कर्म और साधन जीवों में नहीं। इसलिये अनन्त सुख नहीं भोग सकते। जिनके साधन अनित्य हैं, उनका फल नित्य कभी नहीं हो सकता। और जो मुक्ति में से कोई भी लौटकर जीव इस संसार में न आवे, तो संसार का उच्छेद अर्थात् जीव निश्शेष हो जाने चाहियें।

प्रश्न—जितने जीव मुक्त होते हैं, उतने ईश्वर नये उत्पन्न करके संसार में रख देता है। इसलिये निश्शेष नहीं होते[1]।

उत्तर—जो ऐसा होवे, तो जीव अनित्य हो जायें। क्योंकि जिसकी उत्पत्ति होती है, उसका नाश अवश्य होता है। फिर तुम्हारे मतानुसार मुक्ति पाकर भी विनष्ट[2] हो जायें[तो]मुक्ति अनित्य हो गई, और मुक्ति के स्थान में बहुत-सा भीड़-भड़क्का हो जायगा। क्योंकि वहां आगम अधिक और व्यय कुछ भी नहीं होने से बढ़ती का पारावार न रहैगा।

और दुःख के अनुभव के विना सुख कुछ भी नहीं हो सकता। जैसे कटु न हो तो मधुर क्या, जो मधुर न हो तो कटु क्या कहावे ? क्योंकि एक स्वाद के एक रस के विरुद्ध होने से दोनों की परीक्षा होती है। जैसे कोई मनुष्य मीठा-मधुर ही खाता-पीता जाय, उसको वैसा सुख नहीं होता, जैसा सब प्रकार के रसों के भोगनेवाले को होता है।

और जो ईश्वर अन्तवाले कर्मों का अनन्त फल देवे, तो उसका न्याय नष्ट हो जाय। जो जितना भार उठा सके, उतना उस पर धरना बुद्धिमानों का काम है। जैसे एक मन भर उठानेवाले के शिर

---

१. संस्करण २ में 'होती' अपपाठ है।
२. संस्करण २ में 'विनोट' अपपाठ है।

पर दश मन धरने से भार धरनेवाले की निन्दा होती है, वैसे अल्पज्ञ अल्प सामर्थ्यवाले जीव पर अनन्त सुख का भार धरना ईश्वर के लिये ठीक नहीं।

और जो परमेश्वर नये जीव उत्पन्न करता है तो जिस कारण से उत्पन्न होते हैं,वह चुक जायगा। क्योंकि चाहे कितना ही बड़ा धन-कोश हो, परन्तु जिसमें व्यय है और आय नहीं, उसका कभी-न-कभी दिवाला निकल ही जाता है। इसलिये यही व्यवस्था ठीक है कि मुक्ति में जाना,वहां से पुनः आना ही अच्छा है। क्या थोड़े से कारा-गार से जन्म-कारागार दण्डवाले प्राणी अथवा फांसी को कोई अच्छा मानता है? जब वहां से आना ही न हो, तो जन्म-कारागार से इतना ही अन्तर है कि वहां मजूरी नहीं करनी पड़ती। और ब्रह्म में लय होना समुद्र में डूब मरना है।

प्रश्न—जैसे परमेश्वर नित्यमुक्त पूर्ण सुखी है, वैसे ही जीव भी नित्यमुक्त और सुखी रहेगा, तो कोई भी दोष न आवेगा।

उत्तर—परमेश्वर अनन्त स्वरूप सामर्थ्य गुण कर्म स्वभाववाला है, इसलिये वह कभी अविद्या और दुःख बन्धन में नहीं गिर सकता। जीव मुक्त होकर भी शुद्धस्वरूप अल्पज्ञ और परिमित गुण कर्म स्वभाववाला रहता है, वह परमेश्वर के सदृश कभी नहीं होता।

प्रश्न—जब ऐसी [है,] तो मुक्ति भी जन्म-मरण के सदृश है। इसलिये श्रम करना व्यर्थ है।

उत्तर—मुक्ति जन्म-मरण के सदृश नहीं। क्योंकि जब तक ३६,००० (छत्तीस सहस्र[1]) बार उत्पत्ति और प्रलय का जितना समय होता है, उतने समय पर्य्यन्त जीवों को मुक्ति के आनन्द में रहना, दुःख का न होना क्या छोटी बात है? जब आज खाते-पीते हो, कल भूख लगनेवाली है, पुनः इसका उपाय क्यों करते हो? जब क्षुधा तृषा, क्षुद्र धन, राज्य-प्रतिष्ठा, स्त्री, सन्तान आदि के लिये उपाय करना आवश्यक है तो मुक्ति के लिये क्यों न करना? जैसे

---

१. संस्करण २ में '३६०००० (तीन लाख साठ सहस्र)' अपपाठ है।

मरना अवश्य है, तो भी जीवन का उपाय किया जाता है, वैसे ही मुक्ति से लौटकर जन्म में आना है, तथापि उसका उपाय करना अत्यावश्यक है।

प्रश्न—मुक्ति के क्या साधन हैं?

उत्तर—कुछ साधन तो प्रथम लिख आये हैं। परन्तु विशेष उपाय ये हैं—जो मुक्ति चाहै वह जीवनमुक्त अर्थात् जिन मिथ्याभाषणादि पापकर्मों का फल दुःख है, उनको छोड़ सुखरूप फल को देनेवाले सत्यभाषणादि धर्माचरण अवश्य करे। जो कोई दुःख को छुड़ाना और सुख को प्राप्त होना चाहै, वह अधर्म को छोड़ धर्म अवश्य करे। क्योंकि दुःख का पापाचरण और सुख का धर्माचरण मूल कारण है।

सत्पुरुषों के संग से विवेक अर्थात् सत्याऽसत्य धर्माधर्म कर्त्तव्याऽकर्त्तव्य का निश्चय अवश्य करे, पृथक्-पृथक् जाने। और शरीर अर्थात् जीव **पञ्च कोशों** का विवेचन करे—

[पञ्च-कोष] एक—'**अन्नमय**' जो त्वचा से लेकर अस्थिपर्यन्त का समुदाय पृथिवीमय है। दूसरा—'**प्राणमय**' जिसमें 'प्राण' अर्थात् जो भीतर से बाहर जाता[1], 'अपान' जो बाहर से भीतर आता[1], 'समान' जो नाभिस्थ होकर सर्वत्र शरीर में रस पहुंचाता, 'उदान' जिससे कण्ठस्थ अन्न-पान्न खैंचा जाता, और बल पराक्रम होता है, 'व्यान' जिससे सब शरीर में चेष्टा आदि कर्म जीव करता है। तीसरा—'**मनोमय**' जिसमें मन के साथ अहङ्कार, वाक्, पाद, पाणि, पायु और उपस्थ पांच कर्म इन्द्रियां हैं। चौथा—'**विज्ञानमय**' जिसमें बुद्धि, चित्त, श्रोत्र, त्वचा, नेत्र, जिह्वा और नासिका ये पांच ज्ञान इन्द्रियां जिनसे जीव ज्ञानादि व्यवहार करता है। पांचवां—'**आनन्दमयकोश**' जिसमें प्रीति प्रसन्नता, न्यून आनन्द, अधिकानन्द आनन्द[2] और आधार कारणरूप प्रकृति है। ये '**पांच कोश**' कहाते हैं।

---

१. प्राण अपान के इन लक्षणों के लिये देखो पूर्व पृष्ठ ८८, टि० १।

२. संस्करण ५ में 'आनन्द' पद हटाया, संस्करण ३३ तक नहीं मिलता। यहां 'आनन्द का आधार' पाठ उचित प्रतीत है।

इन्हीं से जीव सब प्रकार के कर्म उपासना और ज्ञानादि व्यवहारों को करता है।

[अवस्था-त्रय—]

तीन अवस्था। एक—'जागृत', दूसरी—'स्वप्न', और तीसरी—'सुषुप्ति' अवस्था कहाती है।

[शरीर-त्रय—]

तीन शरीर हैं। एक—'स्थूल' जो यह दीखता है। दूसरा—पांच प्राण, पांच ज्ञानेन्द्रिय, पांच सूक्ष्मभूत और मन तथा बुद्धि इन सत्तरह तत्त्वों का समुदाय 'सूक्ष्मशरीर' कहाता है। यह सूक्ष्मशरीर जन्म-मरणादि में भी जीव के साथ रहता है। इसके दो भेद हैं—एक भौतिक, अर्थात् जो सूक्ष्म भूतों के अंशों से बना है। दूसरा स्वाभाविक, जो जीव के स्वाभाविक गुणरूप हैं। यह दूसरा अभौतिक[1] शरीर मुक्ति में भी रहता है। इसी से जीव मुक्ति में सुख को भोगता है। तीसरा—'कारण' जिसमें सुषुप्ति अर्थात् गाढ़निद्रा होती है। वह प्रकृतिरूप होने से सर्वत्र विभु और सब जीवों के लिये एक है।

चौथा—'तुरीय' शरीर वह कहाता है, जिसमें समाधि से परमात्मा के आनन्दस्वरूप में मग्न जीव होते है। इसी समाधि-संस्कारजन्य शुद्ध शरीर का पराक्रम मुक्ति में भी यथावत् सहायक रहता है।

इन सब कोश [और] अवस्थाओं से जीव पृथक् है। क्योंकि यह सबको विदित [है कि] अवस्थाओं से जीव पृथक् है। क्योंकि जब मृत्यु होता [है,] तब सब कोई कहते हैं कि जीव निकल गया। यही जीव सबका प्रेरक, सबका धर्त्ता, साक्षी, कर्त्ता-भोक्ता कहाता है। जोई ऐसा कहे कि जीव कर्त्ता-भोक्ता नहीं, तो उसको जानो कि वह अज्ञानी अविवेकी है। क्योंकि बिना जीव के जो ये सब जड़ पदार्थ हैं, इनको सुख-दु:ख का भोग वा पाप-पुण्य-कर्तृत्व कभी नहीं

१. द्वि० सं० में 'और भौतिक' यह पूर्व पंक्ति के विरुद्ध है। मूल में 'औ' था। समर्थदान ने भूल से औ को और कर दिया। उसे शुद्ध कर 'अ' नहीं किया। भ. द. 'अ' को 'औ' लिखने वाला लिपिकर मैथिल रहा होगा।

हो सकता। हां इनके सम्बन्ध से जीव पाप-पुण्यों का कर्त्ता और सुख-दुःखों का भोक्ता है।

जब इन्द्रियां अर्थों में, मन इन्द्रियों, और आत्मा मन के साथ संयुक्त होकर प्राणों को प्रेरणा करके अच्छे वा बुरे कर्मों में लगाता है,तभी वह बहिर्मुख हो जाता है। उसी समय भीतर से आनन्द उत्साह निर्भयता और बुरे कर्मों में भय शङ्का लज्जा उत्पन्न होती है, वह अन्तर्यामी परमात्मा की शिक्षा है। जो कोई इस शिक्षा के अनुकूल वर्त्तता है, वही मुक्तिजन्य सुखों को प्राप्त होता है। और जो विपरीत वर्त्तता है, वह बन्धजन्य दुःख भोगता है।

[साधन-चतुष्टय—]

[प्रथम साधन—'विवेक']जो पृथिवी से लेकर परमेश्वर-पर्यन्त पदार्थों के गुण-कर्म स्वभाव से जानकर उसकी आज्ञा-पालन और और उपासना में तत्पर होना, उससे विरुद्ध न चलना, सृष्टि से उपकार लेना 'विवेक' कहाता है।[1]

दूसरा साधन—'वैराग्य'अर्थात् जो विवेक से सत्यासत्य को जाना हो, उसमें से सत्याचरण का ग्रहण और असत्याचरण का त्याग करना 'वैराग्य'[2] है।

तत्पश्चात् तीसरा साधन—'षट्क-सम्पत्ति' अर्थात् छः प्रकार के कर्म करना। एक—'शम' जिससे अपने आत्मा और अन्तःकरण को अधर्माचरण से हटाकर धर्माचरण में सदा प्रवृत्त रखना। दूसरा—'दम' जिससे श्रोत्रादि इन्द्रियों और शरीर को व्यभिचारादि बुरे कर्मों से हटाकर जितेन्द्रियत्वादि शुभ कर्मों में प्रवृत्त रखना। तीसरा—

---

१. ये पङ्क्तियां स॰ प्र॰ के सभी संस्करणों में अस्थान में 'दूसरे साधन' की व्याख्या के पीछे मिलती हैं। यहां पर द्वितीय तृतीय चतुर्थ साधनों का तो निर्देश है, पर प्रथम का नहीं है। प्रथम साधन 'विवेक' है, उसकी व्याख्यावाला उक्त अंश यहां होना चाहिये। अतः हम आगे छपे पाठ को यहां ले आये हैं। आज तक किसी सम्पादक का ध्यान इस पाठ की ओर नहीं गया।

२. सं. २ में 'विवेक' पाठ है।

'**उपरति**' जिससे दुष्ट कर्म करनेवाले पुरुषों से सदा दूर रहना। चौथा—'**तितिक्षा**' चाहे निन्दा-स्तुति, हानि-लाभ कितना ही क्यों न हो, परन्तु हर्ष-शोक को छोड़ मुक्तिसाधनों में सदा लगे रहना। पांचवां—'**श्रद्धा**' जो वेदादिसत्यशास्त्र और इनके बोध से पूर्ण आप्त विद्वान् सत्योपदेष्टा महाशयों के वचनों पर विश्वास करना। छठा—'**समाधान**' चित्त की एकाग्रता। ये छः मिलकर 'साधन तीसरा' कहाता है।

चौथा—'**मुमुक्षुत्व**' अर्थात् जैसे क्षुधा तृषातुर को सिवाय अन्न-जल के दूसरा कुछ भी अच्छा नहीं लगता, वैसे विना मुक्ति के साधन और मुक्ति के दूसरे में प्रीति न होना। ये 'चार साधन', और चार अनुबन्ध अर्थात् साधनों के पश्चात् ये कर्म करने होते हैं—

[**अनुबन्ध-चतुष्टय**—]

[प्रथम—'**अधिकारी**'] इनमें से जो इन चार साधनों से युक्त पुरुष होता है, वही मोक्ष का 'अधिकारी' होता है।

दूसरा—'**सम्बन्ध**' ब्रह्म की प्राप्तिरूप मुक्ति प्रतिपाद्य और वेदादिशास्त्र प्रतिपादक को यथावत् समझकर अन्वित करना।

तीसरा—'**विषयी**' सब शास्त्रों का प्रतिपादन विषय ब्रह्म, उसकी प्राप्तिरूप विषयवाले पुरुष का नाम 'विषयी' है।

चौथा—'**प्रयोजन**' सब दुःखों की निवृत्ति और परमानन्द को प्राप्त होकर मुक्तिसुख का होना, ये 'चार अनुबन्ध' कहाते हैं।

[**श्रवण-चतुष्टय**—]

तदनन्तर 'श्रवणचतुष्टय'। एक—'**श्रवण**' जब कोई विद्वान् उपदेश करे, तब शान्त ध्यान देकर सुनना। विशेष ब्रह्मविद्या के सुनने में अत्यन्त ध्यान देना चाहिये कि यह सब विद्याओं में सूक्ष्म विद्या है। सुनकर—

दूसरा—'**मनन**' एकान्त देश में बैठके सुने हुए का विचार करना। जिस बात में शङ्का हो पुनः पूछना। और सुनते समय भी वक्ता और श्रोता उचित समझें तो पूछना और समाधान करना।

तीसरा—'**निदिध्यासन**' जब सुनने और मनन करने से निःसन्देह

हो जाय, तब समाधिस्थ होकर उस बात को देखना समझना कि वह जैसा सुना था विचारा था, वैसा ही है वा नहीं, ध्यान-योग से देखना।

चौथा—'साक्षात्कार' अर्थात् जैसा पदार्थ का स्वरूप गुण और स्वभाव हो, वैसा याथातथ्य[1] [से] जान लेना 'श्रवणचतुष्टय' कहाता है।

सदा तमोगुण अर्थात् क्रोध मलीनता आलस्य प्रमाद आदि, रजोगुण अर्थात् ईर्ष्या-द्वेष काम अभिमान विक्षेप आदि दोषों से अलग होके, सत्त्व[2] अर्थात् शान्त-प्रकृति पवित्रता विद्या विचार आदि गुणों को धारण करे। [3](मैत्री) सुखी जनों में मित्रता, (करुणा) दुःखी जनों पर दया, (मुदिता) पुण्यात्माओं से हर्षित होना, (उपेक्षा) दुष्टात्माओं में न प्रीति और न वैर करना।

नित्यप्रति न्यून-से-न्यून दो घण्टा पर्यन्त मुमुक्षु ध्यान अवश्य करे, जिससे भीतर के मन आदि पदार्थ साक्षात् हों। देखो, अपने चेतनस्वरूप हैं. इसी से ज्ञानस्वरूप और मन के साक्षी हैं। क्योंकि जब मन शान्त चञ्चल आनन्दित वा विषादयुक्त होता है, उसको यथावत् देखते हैं, वैसे ही इन्द्रियां प्राण आदि का ज्ञाता पूर्वदृष्ट का स्मरणकर्त्ता[4] और एक काल में अनेक पदार्थों के वेत्ता धारणाकर्षण-कर्त्ता और सबसे पृथक् हैं जो पृथक् न होते तो स्वतन्त्रकर्त्ता इनके[5] प्रेरक अधिष्ठाता कभी नहीं हो सकते।

अविद्याऽस्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः पञ्च क्लेशाः[6] ॥

योगशास्त्रे पादे २। सू० ३॥

इनमें से 'अविद्या' का स्वरूप कह आये। पृथक् वर्त्तमान बुद्धि को आत्मा से भिन्न न समझना 'अस्मिता'[7], सुख में प्रीति 'राग', दुःख

---

१. सं. २ में 'यथातथ्य' अपपाठ है। २. सं० २ में 'सत्य' अपपाठ है।
३. द्र०—मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणाम्। योग दर्शन १।३३॥
४. सं० २ में 'करना' अपपाठ है। ५. सं. २ में 'इन का' पाठ है।
६. कहीं-कहीं सूत्र में 'पञ्च' शब्द नहीं मिलता है।
७. सं. २ में 'अभिनिवेश' अपपाठ।

में अप्रीति 'द्वेष', और सब प्राणिमात्र को यह इच्छा सदा रहती है कि मैं सदा शरीरस्थ रहूं मरूं नहीं, मृत्यु-दुःख से त्रास **'अभिनिवेश'** कहाता है। इन **'पांच क्लेशों'** को योगाभ्यास विज्ञान से छुड़ाके ब्रह्म को प्राप्त होके मुक्ति के परमानन्द को भोगना चाहिये।

प्रश्न—जैसी मुक्ति आप मानते हैं, वैसी अन्य कोई नहीं मानता। देखो, जैनी लोग मोक्षशिला, शिवपुर में जाके चुपचाप बैठे रहना। ईसाई चौथा आसमान, जिसमें विवाह लड़ाई बाजे-गाजे वस्त्रादि धारण से आनन्द भागना। वैसे ही मुसलमान सातवें आसमान, वाममार्गी श्रीपुर, शैव कैलाश, वैष्णव वैकुण्ठ, और गोकुलिये गोसाईं गोलोक आदि में जाके उत्तम स्त्री अन्न-पान वस्त्र स्थान आदि को प्राप्त होकर आनन्द में रहने को मुक्ति मानते हैं।

पौराणिक लोग **'सालोक्य'** ईश्वर के लोक में निवास, **'सानुज्य'** छोटे भाई के सदृश ईश्वर के साथ रहना, 'सारूप्य' जैसी उपासनीय देव की आकृति है वैसा बन जाना, **'सामीप्य'** सेवक के समान ईश्वर के समीप रहना, **सायुज्य** ईश्वर से संयुक्त हो जाना, ये चार प्रकार की मुक्ति मानते हैं। वेदान्ती लोग ब्रह्म में लय होने को मोक्ष समझते हैं।

उत्तर—जैनी (१२) बारहवें, ईसाई (१३) तेरहवें, और (१४) चौदहवें समुल्लास में मुसलमानों की मुक्ति आदि विषय विशेष कर लिखेंगे। जो वाममार्गी श्रीपुर में जाकर लक्ष्मी के सदृश स्त्रियां, मद्य-मांसादि खाना-पीना, रङ्गराग भोग करना मानते हैं, वह यहां से कुछ विशेष नहीं। वैसे ही महादेव और विष्णु के सदृश आकृतिवाले पार्वती और लक्ष्मी के सदृश स्त्रीयुक्त होकर आनन्द भोगना, यहां के धनाढ्य राजाओं से अधिक इतना ही लिखते हैं कि वहां रोग न होंगे, और युवावस्था सदा रहेगी। यह उनकी बात

---

१. यहां 'सालोक्य' आदि पांच का निर्देश है। आगे 'उत्तर' में सारूप्य का निर्देश नहीं है। इस से स्पष्ट है कि यहां पाठ में कुछ गड़बड़ी है। पौराणिक 'सारूप्य' का निर्देश करते है, 'सानुज्य' का नहीं करते। चार प्रकार की मुक्तियों का वर्णन ग्रन्थकार ने 'वेदविरुद्धमतखण्डन' में भी किया है। वहां सारूप्य से भिन्न चार का निर्देश है। द्र० शताब्दी सं० भाग २ पृष्ठ ७६४।

मिथ्या है। क्योंकि जहां भोग वहां रोग,[1] और जहां रोग वहां वृद्धा-
वस्था अवश्य होती है।

और पौराणिकों से पूछना चाहिये कि जैसी तुम्हारी चार प्रकार
की मुक्ति है, वैसी तो कृमि-कीट-पतङ्ग-पश्वादिकों की भी स्वत:सिद्ध
प्राप्त है। क्योंकि ये जितने लोक हैं,वे सब ईश्वर के हैं। इन्हीं में सब
जीव रहते हैं। इसलिये 'सालोक्य' मुक्ति अनायास प्राप्त है।
'सामीप्य' ईश्वर सर्वत्र व्याप्त होने से सब उसके समीप हैं, इसलिये
'सामीप्य' मुक्ति स्वत:सिद्ध है। 'सानुज्य' जीव ईश्वर से सब
प्रकार छोटा और चेतन होने से स्वत: बन्धुवत् है। इससे 'सानुज्य'
मुक्ति भी बिना प्रयत्न के सिद्ध है। और सब जीव सर्वव्यापक
परमात्मा में व्याप्य होने से संयुक्त हैं। इससे 'सायुज्य' मुक्ति भी
स्वत:सिद्ध है।

और जो अन्य साधारण नास्तिक लोग मरने से तत्त्वों में तत्त्व
मिलकर परममुक्ति मानते हैं,वह तो कुत्ते गदहे आदि को भी प्राप्त है।
ये मुक्तियां नहीं हैं, किन्तु एक प्रकार का बन्धन है। क्योंकि ये लोग
शिवपुर, मोक्षशिला, चौथे आसमान, सातवें आसमान, श्रीपुर,
कैलाश, वैकुण्ठ, गोलोक को एकदेश में स्थानविशेष मानते हैं। जो
वे उन स्थानों से पृथक् हों, तो मुक्ति छूट जाय। इसीलिये जैसे १२
(बारह) पत्थर के भीतर[2] दृष्टिबन्ध[3] होते हैं, उसके समान बन्धन
में होंगे।

मुक्ति तो यही है कि जहां इच्छा हो वहां विचरे, कहीं अटके
नहीं। न भय न शङ्का, न दु:ख होता है। जो जन्म है वह उत्पत्ति,
और मरना प्रलय कहा है। समय पर जन्म लेते हैं।

प्रश्न—जन्म एक है, वा अनेक?

उत्तर—अनेक।

---

१. 'भोगे रोगभयम्' भर्तृहरिकृत नीतिशतक।

२. नगर की बाहरी सीमा निदर्शक पत्थर। यह एक प्रकार का मुहा-
वरा है। राजस्थान में प्राय: प्रयुक्त होता रहा है। ३. अर्थात् नजरबन्द।

प्रश्न—जो अनेक हों, तो पूर्व जन्म और मृत्यु की बातों का स्मरण क्यों नहीं ?

उत्तर—जीव अल्पज्ञ है त्रिकालदर्शी नहीं, इसलिये स्मरण नहीं रहता। और जिस मन से ज्ञान करता है, वह भी एक समय में दो ज्ञान नहीं कर सकता। भला पूर्व जन्म की बात तो दूर रहने दीजिये, इसी देह में जब गर्भ में जीव था, शरीर बना, पश्चात् जन्मा, पांचवें वर्ष से पूर्व तक जो-जो बातें हुई हैं, उनका स्मरण क्यों नहीं कर सकता ? और जागृत वा स्वप्न में बहुत-सा व्यवहार प्रत्यक्ष में करके जब सुषुप्ति अर्थात् गाढ़निद्रा होती है, तब जागृत आदि व्यवहार का स्मरण क्यों नहीं कर सकता ?

और तुमसे कोई पूछे कि बारह वर्ष के पूर्व तेरहवें वर्ष के पांचवें महीने के नवमें दिन दश बजे पर पहिली मिनट में तुमने क्या किया था ? तुम्हारा मुख हाथ कान नेत्र शरीर किस ओर किस प्रकार का था ? और मन में क्या विचार था ? जब इसी शरीर में ऐसा है, तो पूर्व जन्म की बातों के स्मरण में शंका करनी केवल लड़केपन की बात है।

और जो स्मरण नहीं होता है, इसी से जीव सुखी है। नहीं तो सब जन्मों के दुःखों को देख-देख दुःखित होकर मर जाता। जो कोई पूर्व और पीछे जन्म के वर्त्तमान को जानना चाहे, तो भी नहीं जान सकता। क्योंकि जीव का ज्ञान और स्वरूप अल्प है। यह बात ईश्वर के जानने योग्य है, जीव के नहीं।

प्रश्न—जब[1] जीव को पूर्व का ज्ञान नहीं, और ईश्वर इसको दण्ड देता है,तो जीव का सुधार नहीं हो सकता। क्योंकि जब उनको[2] ज्ञान हो कि हमने अमुक काम किया था, उसी का यह फल है, तभी वे पाप-कर्मो से बच सकें।

उत्तर[3]—तुम ज्ञान कै प्रकार का मानते हो ?

---

१. सं० २ में 'जीव' अपपाठ है। २. सं० २ में 'उसको' अपपाठ है।
३. यह सिद्धान्ती का वचन है।

प्रश्न[1]—प्रत्यक्षादि प्रमाणों से आठ प्रकार का।

उत्तर—तो जब तुम जन्म से लेकर समय-समय में राज धन बुद्धि विद्या दारिद्रय निर्बुद्धि मूर्खता आदि सुख-दुःख संसार में देखकर पूर्व जन्म का ज्ञान क्यों नहीं करते? जैसे एक अवैद्य और एक वैद्य को कोई रोग हो; उसका निदान अर्थात् कारण वैद्य जान लेता और अविद्वान्[2] नहीं जान सकता। उसने वैद्यकविद्या पढ़ी है, और दूसरे ने नहीं। परन्तु ज्वरादि रोग के होने से अवैद्य भी इतना जान सकता है कि मुझ से कोई कुपथ्य हो गया है, जिससे मुझे यह रोग हुआ है। वैसे ही जगत् में विचित्र सुख दुःख आदि की घटती-बढ़ती देखके पूर्व जन्म का अनुमान क्यों नहीं जान लेते?

और जो पूर्व जन्म को न मानोगे, तो परमेश्वर पक्षपाती हो जाता है। क्योंकि विना पाप के दारिद्रयादि दुःख, और विना पूर्व-सञ्चित पुण्य के राज्य धनाढ्यता और निर्बुद्धिता उसको क्यों दी? और पूर्व जन्म के पापपुण्य के अनुसार दुःख-सुख के देने से परमेश्वर न्यायकारी यथावत् रहता है।

प्रश्न—एक जन्म होने से भी परमेश्वर न्यायकारी हो सकता है। जैसे सर्वोपरि राजा जो करे सो न्याय। जैसे माली अपने उपवन में छोटे और बड़े वृक्ष लगाता, किसी को काटता उखाड़ता और किसी की रक्षा करता बढ़ाता है। जिसकी जो वस्तु है, उसको वह चाहे जैसे रक्खे। उसके ऊपर कोई भी दूसरा न्याय करनेवाला नहीं, जो उसको दण्ड दे सके, वा ईश्वर किसी से डरे।

उत्तर—परमात्मा जिसलिये न्याय चाहता करता[3], अन्याय कभी नहीं करता[3], इसीलिये वह पूजनीय और बड़ा है। जो न्याय-विरुद्ध करे, वह ईश्वर ही नहीं। जैसे माली युक्ति के विना मार्ग वा अस्थान में वृक्ष लगाने, न काटने योग्य को काटने, अयोग्य को बढ़ाने, योग्य को न बढ़ाने से दूषित होता है, इसी प्रकार विना कारण के करने से ईश्वर को दोष लगे।

---

१. यह पूर्वपक्षी का वचन है। २. अविद्वान्=अवैद्य।
३. सं० २ में 'कर्ता' अपपाठ है।

परमेश्वर के ऊपर न्याययुक्त काम करना अवश्य है। क्योंकि वह स्वभाव से पवित्र और न्यायकारी है। जो उन्मत्त के समान काम करे,तो जगत् के श्रेष्ठ न्यायाधीश से भी न्यून और अप्रतिष्ठित होवे। क्या इस जगत् में विना योग्यता के उत्तम काम किये प्रतिष्ठा, और दुष्ट काम किये विना दण्ड देनेवाला निन्दनीय अप्रतिष्ठित नहीं होता ? इसलिये ईश्वर अन्याय नहीं करता, इसीसे किसी से नहीं डरता।

प्रश्न—परमात्मा ने प्रथम ही से जिसके लिये जितना देना विचारा है उतना देता,और जितना काम करना है उतना करता है।

उत्तर—उसका विचार जीवों के कर्मानुसार होता है, अन्यथा नहीं। जो अन्यथा हो, तो वही अपराधी अन्यायकारी होवे।

प्रश्न—बड़े छोटों को एकसा ही सुख-दुःख है। बड़ों को बड़ी चिंता और छोटों को छोटी। जैसे किसी साहूकार का विवाद राज-घर में लाख रुपये का हो, तो वह अपने घर से पालकी में बैठकर कचहरी में उष्णकाल में जाता हो। बाजार में होके उसको जाता देखकर अज्ञानी लोग कहते हैं कि—'देखो पुण्य-पाप का फल। एक पालकी में आनन्दपूर्वक बैठा है, और दूसरे विना जूते पहिरे ऊपर नीचे से तप्यमान होते हुए पालकी को उठाकर ले जाते हैं'।

परन्तु बुद्धिमान् लोग इसमें यह जानते हैं कि जैसे-जैसे कचहरी निकट आती-जाती है, वैसे-वैसे साहूकार को बड़ा शोक और सन्देह बढ़ता जाता, और कहारों को आनन्द होता जाता है। जब कचहरी में पहुंचते हैं, तब सेठ जी इधर-उधर जाने का विचार करते हैं कि प्राड्विवाक् (वकील) के पास जाऊं वा सरिश्तेदार के पास ? आज हारूंगा वा जीतूंगा, न जाने क्या होगा। और कहार लोग तमाखू पीते, परस्पर बातें-चीतें करते हुए प्रसन्न होकर आनन्द में सो जाते हैं। जो वह जीत जाय तो कुछ सुख, और हार जाय तो सेठ जी दुःख-सागर में डूब जाय। और वे कहार जैसे-के-वैसे रहते हैं।

इसी प्रकार जब राजा सुन्दर कोमल बिछौने में

सोता[1] तो है, तो भी शीघ्र निद्रा नहीं आती। और मजूर कंकर पत्थर और मट्टी ऊंचे नीचे स्थल पर सोता है, उसको झट ही निद्रा आती है। ऐसे ही सर्वत्र समझो।

उत्तर—यह समझ अज्ञानियों की है। क्या किसी साहूकार से कहें कि तू कहार बन जा, और कहार से कहें कि तू साहूकार बन जा, तो साहूकार कभी कहार बनना नहीं, और कहार साहूकार बनना चाहते हैं। जो सुख-दुःख बराबर होता, तो अपनी-अपनी अवस्था छोड़ नीच और ऊंच बनना दोनों न चाहते।

देखो, एक जीव विद्वान् पुण्यात्मा श्रीमान् राजा की राणी के गर्भ में आता, और दूसरा महादरिद्र घसियारी के गर्भ में आता है। एक को गर्भ से लेकर सर्वथा सुख, और दूसरे को सब प्रकार दुःख मिलता है। एक जब जन्मता है, तब सुन्दर सुगन्धियुक्त जलादि से स्नान, युक्ति से नाड़ीछेदन, दुग्धपानादि यथायोग्य प्राप्त होते हैं। जब वह दूध पीना चाहता है, तो उसके साथ मिश्री आदि मिलाकर यथेष्ट मिलता है। उसको प्रसन्न रखने के लिये नौकर-चाकर खिलौना सवारी उत्तम स्थानों में लाड़ से आनन्द होता है।

दूसरे का जन्म जङ्गल में होता, स्नान के लिये जल भी नहीं मिलता। जब दूध पीना चाहता, तब दूध के बदले में घूंसा थपेड़ा आदि से पीटा जाता है। अत्यन्त आर्तस्वर से रोता है, कोई नहीं पूछता। इत्यादि जीवों को विना पुण्य-पाप के सुख-दुःख होने से परमेश्वर पर दोष आता है।

दूसरा—जैसे विना किये कर्मों के सुख-दुःख मिलते हैं, तो आगे नरक-स्वर्ग भी न होना चाहिये। क्योंकि जैसे परमेश्वर ने इस समय विना कर्मों के सुख-दुःख दिया है, वैसे मरे पीछे भी जिसको चाहेगा उसको स्वर्ग में, और जिसको चाहे नरक में भेज देगा। पुनः सब जीव अधर्मयुक्त हो जायेंगे, धर्म क्यों करें ? क्योंकि धर्म का फल मिलने में सन्देह है। परमेश्वर के हाथ है, जैसी उस की प्रसन्नता होगी वैसा

---

१. सं० २ में 'होता' अपपाठ है।

करेगा, तो पापकर्मों में भय न होकर संसार में पाप की वृद्धि और धर्म का क्षय हो जायगा। इसलिये पूर्व जन्म के पुण्य-पाप के अनुसार वर्त्तमान जन्म, और वर्त्तमान तथा पूर्व जन्म के कर्मानुसार भविष्यत् जन्म होते हैं।

प्रश्न—मनुष्य और अन्य पश्वादि के शरीर में जीव एकसा है, वा भिन्न-भिन्न जाति के ?

उत्तर—जीव एकसे हैं। परन्तु पाप-पुण्य के योग से मलिन और पवित्र होते हैं।

प्रश्न—मनुष्य का जीव पश्वादि में और पश्वादि का मनुष्य के शरीर में, और स्त्री का पुरुष के और पुरुष का स्त्री के शरीर में जाता-आता है, वा नहीं ?

उत्तर—हां, जाता आता है। क्योंकि जब पाप बढ़ जाता पुण्य न्यून होता है, तब मनुष्य का जीव पश्वादि नीच शरीर। और जब धर्म अधिक तथा अधर्म न्यून होता है, तब देव अर्थात् विद्वानों का शरीर मिलता। और जब पुण्य-पाप बराबर होता है, तब साधारण मनुष्य-जन्म होता है। इसमें भी पुण्य-पाप के उत्तम मध्यम और निकृष्ट होने से मनुष्यादि में भी उत्तम मध्यम निकृष्ट शरीरादि सामग्रीवाले होते हैं। और जब अधिक पाप का फल पश्वादि शरीर में भोग लिया है, पुनः पाप-पुण्य के तुल्य रहने से मनुष्य शरीर में आता, और पुण्य के फल भोगकर फिर भी मध्यस्थ मनुष्य के शरीर में आता है।

जब शरीर से निकलता है उसी का नाम 'मृत्यु', और शरीर के साथ संयोग होने का नाम 'जन्म' है। जब शरीर छोड़ता, तब यमालय अर्थात् आकाशस्थ वायु में रहना है। क्योंकि 'यमेन वायुना' वेद में लिखा है[1] कि 'यम' नाम वायु का है, गरुडपुराण का कल्पित यम

१. ग्रन्थकार ने ११ वें समुल्लास मे 'यमेन वायुना सत्यराजन् इत्यादि वेदवाक्यों से' ऐसा लिखा है। संस्कारविधि (पृष्ठ ३६३, रा. ला क. ट्र. सं ३) में अनेक वेदमन्त्रों को उद्धृत करके यम शब्द के कई अर्थ दर्शाये हैं। शतपथ

नहीं। इस का विशेष खण्डन-मण्डन ग्यारहवें समुल्लास में लिखेंगे। पश्चात् धर्मराज अर्थात् परमेश्वर उस जीव के पाप-पुण्यानुसार जन्म देता है।

वह वायु अन्न जल अथवा शरीर के छिद्र द्वारा दूसरे के शरीर में ईश्वर की प्रेरणा से प्रविष्ट होता है। जो प्रविष्ट होकर क्रमशः वीर्य में जा, गर्भ में स्थित हो शरीर धारण कर बाहर आता है। जो स्त्री के शरीर धारण करने योग्य कर्म हों तो स्त्री, और पुरुष के शरीर धारण करने योग्य कर्म हों तो पुरुष के शरीर में प्रवेश करता है। और नपुंसक गर्भ की स्थिति समय स्त्री-पुरुष के शरीर में सम्बन्ध करके रजवीर्य के बराबर होने से होता है।

इसी प्रकार नाना प्रकार के जन्म-मरण में तब तक जीव पड़ा रहता है कि जब तक उत्तम कर्मोपासना-ज्ञान को करके मुक्ति को नहीं पाता। क्योंकि उत्तम कर्मादि करने से मनुष्यों में उत्तम जन्म और मुक्ति में महाकल्पपर्यन्त जन्म मरण दुःखों से रहित होकर आनन्द में रहता है।

प्रश्न—मुक्ति एक जन्म में होती है, वा अनेक जन्मों में ?

उत्तर—अनेक जन्मों में। क्योंकि—

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे पराऽवरे ॥१॥ मुण्डक[1]

जब इस जीव के हृदय की अविद्या-अज्ञानरूपी गांठ कट जाती, सब संशय छिन्न होते, और दुष्ट कर्म क्षय को प्राप्त होते हैं, तभी उस परमात्मा, जो कि अपने आत्मा के भीतर और बाहर व्याप रहा है, उसमें निवास करता है।

प्रश्न—मुक्ति में परमेश्वर में जीव मिल जाता है, वा पृथक् रहता है ?

१४।२।२।११ में यमाय त्वा (यजुः ३८।६) मन्त्र की व्याख्या की है—अयं वै यमो योऽयं (वायुः) पवते।

१. मुण्डकोप० २।२।१८॥ स. प्र. के अनेक संस्करणों में 'भिद्यन्ते' अपपाठ मिलता है।

उत्तर—पृथक् रहता है। क्योंकि जो मिल जाय, तो मुक्ति का सुख कौन भोगे? और मुक्ति के जितने साधन हैं, वे सब निष्फल हो जावें। वह मुक्ति तो नहीं, किन्तु जीव का प्रलय जानना चाहिये। जब[1] जीव परमेश्वर की आज्ञापालन उत्तम कर्म सत्संग योगाभ्यास पूर्वोक्त सब साधन करता है, वही मुक्ति को पाता है।

सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन्।
सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चितेति॥ तैत्तिरी[2]०

जो जीवात्मा अपनी बुद्धि और आत्मा में स्थित सत्य-ज्ञान और अनन्त आनन्दस्वरूप परमात्मा को जानता है, वह उस व्यापक-रूप ब्रह्म में स्थित होके उस 'विपश्चित्' अनन्तविद्यायुक्त ब्रह्म के साथ सब कामों को प्राप्त होता है। अर्थात् जिस-जिस आनन्द की कामना करता है, उस-उस आनन्द को प्राप्त होता है। यही 'मुक्ति' कहाती है।

प्रश्न—जैसे शरीर के विना सांसारिक सुख नहीं भोग सकता, वैसे मुक्ति में विना शरीर आनन्द कैसे भोग सकेगा?

उत्तर—इसका समाधान पूर्व कह आये हैं। और इतना अधिक सुनो—जैसे सांसारिक सुख शरीर के आधार से भोगता है, वैसे परमेश्वर के आधार मुक्ति के आनन्द को जीवात्मा भोगता है। वह मुक्त जीव अनन्त व्यापक ब्रह्म में स्वच्छन्द घूमता, शुद्ध ज्ञान से सब सृष्टि को देखता, अन्य मुक्तों के साथ मिलता, सृष्टि-विद्या को क्रम से देखता हुआ सब लोक-लोकान्तरों में, अर्थात् जितने ये लोक दीखते हैं और नहीं दीखते, उन सब में घूमता है। वह सब पदार्थों को, जो कि उसके ज्ञान के आगे हैं, सब[3] को[3] देखता है। जितना ज्ञान अधिक होता है, उसको उतना ही आनन्द अधिक होता है।

---

१. यहां 'जो' पाठ होना चाहिये, उपसंहार में 'वही' पाठ होने से। अथवा यहां 'जब' पाठ होने पर 'वही' के स्थान में 'तब' पाठ होना चाहिये।

२. तै० उप० आनन्द वल्ली, अनु० १, खं० १॥

३. मूल और द्वि० सं० में ये दोनों पद हैं। उत्तर संस्करणों में इन्हें हटा दिया है। वाक्य के आदि में 'सब पदार्थों' का निर्देश होने से ये पद पुनरुक्त हैं।

मुक्ति में जीवात्मा निर्मल होने से पूर्ण ज्ञानी[1] होकर उसको सब सन्निहित पदार्थों का भान यथावत् होता है। यही सुखविशेष 'स्वर्ग', और विषयतृष्णा में फसकर दुःखविशेष भोग करना 'नरक' कहाता है। 'स्वः' सुख का नाम है, **'स्वः सुखं गच्छति यस्मिन् स स्वर्गः'**, **'अतो विपरीतो दुःखभोगो नरक इति'** जो सांसारिक सुख है वह सामान्य स्वर्ग, और जो परमेश्वर की प्राप्ति से आनन्द है, वही विशेष स्वर्ग कहाता है।

सब जीव स्वभाव से सुख-प्राप्ति[2] की इच्छा, और दुःख का वियोग होना चाहते हैं। परन्तु जब तक धर्म नहीं करते और पाप नहीं छोड़ते, तब तक उनको[3] सुख का मिलना और दुःख का छूटना न होगा। क्योंकि जिसका कारण अर्थात् मूल होता है, वह नष्ट कभी नहीं होता। जैसे—**'छिन्ने मूले वृक्षो नश्यति, तथा पापे क्षीणे दुःखं नश्यति।'** जैसे मूल कट जाने से वृक्ष नष्ट होता है, वैसे पाप को छोड़ने से दुःख नष्ट होता है।

देखो मनुस्मृति में पाप और पुण्य की बहुत प्रकार की गति—

मानसं मनसैवायमुपभुङ्क्ते शुभाऽशुभम्।
वाचा वाचा कृतं कर्म कायेनैव च कायिकम्॥१॥
शरीरजैः कर्मदोषैर्याति स्थावरतां नरः।
वाचिकैः पक्षिमृगतां मानसैरन्त्यजातिताम्॥२॥
यो यदैषां गुणो देहे साकल्येनातिरिच्यते।
स तदा तद्गुणप्रायं तं करोति शरीरिणम्॥३॥
सत्त्वं ज्ञानं तमोऽज्ञानं रागद्वेषौ रजः स्मृतम्।
एतद् व्याप्तिमदेतेषां सर्वभूताश्रितं वपुः॥४॥
तत्र यत्प्रीतिसंयुक्तं किञ्चिदात्मनि लक्षयेत्।
प्रशान्तमिव शुद्धाभं सत्त्वं तदुपधारयेत्॥५॥

---

१. अर्थात् जितना जीव का ज्ञान बढ़ सकता है उतना, न कि सर्वज्ञ।
२. सं० २ में 'सुख प्राप्त' अपपाठ है।
३. सं० २ में 'उनका' पाठ है।

यत्तु दुःखसमायुक्तमप्रीतिकरमात्मनः ।
तद्रजोऽप्रतिपं[1] विद्यात् सततं हारि देहिनाम् ॥६॥
यत्तु स्यान्मोहसंयुक्तमव्यक्तं विषयात्मकम् ।
अप्रतर्क्यमविज्ञेयं तमस्तदुपधारयेत् ॥७॥
त्रयाणामपि चैतेषां गुणानां यः फलोदयः ।
अग्र्यो मध्यो जघन्यश्च तं प्रवक्ष्याम्यशेषतः ॥८॥
वेदाभ्यासस्तपो ज्ञानं शौचमिन्द्रियनिग्रहः ।
धर्मक्रियात्मचिन्ता च सात्त्विकं गुणलक्षणम् ॥९॥
आरम्भरुचिताऽधैर्यमसत्कार्यपरिग्रहः ।
विषयोपसेवा चाजस्रं राजसं गुणलक्षणम् ॥१०॥
लोभः स्वप्नो धृतिः क्रौर्यं नास्तिक्यं भिन्नवृत्तिता ।
याचिष्णुता प्रमादश्च तामसं गुणलक्षणम् ॥११॥
यत्कर्म कृत्वा कुर्वंश्च करिष्यंश्चैव लज्जति ।
तज्ज्ञेयं विदुषा सर्वं तामसं गुणलक्षणम् ॥१२॥
येनास्मिन्कर्मणा लोके ख्यातिमिच्छति पुष्कलाम् ।
न च शोचत्यसम्पत्तौ तद्विज्ञेयं तु राजसम् ॥१३॥
यत्सर्वेणेच्छति ज्ञातुं यन्न लज्जति चाचरन् ।
येन तुष्यति चात्मास्य तत्सत्त्वगुणलक्षणम् ॥१४॥
तमसो लक्षणं कामो रजसस्त्वर्थ उच्यते ।
सत्त्वस्य लक्षणं धर्मः श्रैष्ठ्यमेषां यथोत्तरम् ॥१५॥
मनु॰ अ॰ १२॥[2]

अर्थात् मनुष्य इस प्रकार अपने श्रेष्ठ मध्य और निकृष्ट स्वभाव को जानकर उत्तम स्वभाव का ग्रहण, मध्य और निकृष्ट का त्याग करे। और यह भी निश्चय जाने कि यह जीव मन से जिस शुभ वा अशुभ कर्म को करता[3] है उसको मन, वाणी से किये को वाणी, और शरीर से किये को शरीर से अर्थात् सुख-दुःख को भोगता है ॥१॥

१. सं॰ २ में 'तद्रजोऽप्रतिघं' अपपाठ है। २. मनु॰ १२।८, ९, २५-३३, ३५-३८॥ ३. संस्करण २ में 'कर्त्ता' अपपाठ है।

जो नर शरीर से चोरी, परस्त्रीगमन, श्रेष्ठों को मारने आदि दुष्ट कर्म करता है, उसको वृक्षादि स्थावर का जन्म, वाणी से किये पापकर्मों से पक्षी और मृगादि, तथा मन से किये दुष्ट कर्मों से चांडाल आदि का शरीर मिलता है ॥२॥

जो गुण इन जीवों के देह में अधिकता से वर्त्तता है, वह गुण उस जीव को अपने सदृश कर देता है ॥३॥

जब आत्मा में ज्ञान हो तब सत्त्व, जब अज्ञान रहे तब तम, और जब राग-द्वेष में आत्मा लगे तब रजोगुण जानना चाहिये। ये तीन प्रकृति के गुण सब संसारस्थ पदार्थों में व्याप्त होकर रहते हैं ॥ ४ ॥

उसका विवेक इस प्रकार करना चाहिये कि जब आत्मा में प्रसन्नता, मन प्रसन्न[1], प्रशान्त के सदृश शुद्धभानयुक्त वर्त्ते, तब समझना कि सत्त्वगुण प्रधान, और रजोगुण तथा तमोगुण अप्रधान हैं ॥ ५ ॥

जब आत्मा और मन दुःखसंयुक्त, प्रसन्नता-रहित, विषय में इधर-उधर गमन-आगमन में लगे, तब समझना कि रजोगुण प्रधान, सत्त्व-गुण और तमोगुण अप्रधान हैं ॥६॥

जब मोह अर्थात् सांसारिक पदार्थों में फसा हुआ आत्मा और मन हो, जब आत्मा और मन में कुछ विवेक न रहै, विषयों में आसक्त, तर्क-वितर्क-रहित जानने के योग्य न हो, तब निश्चय समझना चाहिये कि इस समय मुझमें तमोगुण प्रधान और सत्त्वगुण तथा रजोगुण अप्रधान हैं ॥७॥

अब जो इन तीन गुणों का उत्तम मध्यम और निकृष्ट फलोदय होता है, उसको पूर्णभाव से कहते हैं ॥८॥

जो वेदों का अभ्यास, धर्मानुष्ठान, ज्ञान की वृद्धि[2], पवित्रता की इच्छा, इन्द्रियों का निग्रह, धर्मक्रिया और आत्मा का चिन्तन होता है, यही सत्त्वगुण का लक्षण है ॥९॥

---

१. 'प्रसन्न' पद कुछ सस्करणो में नहीं है।
२. सं० २ में 'वद्ध' अपपाठ है।

जब रजोगुण का उदय, सत्त्व और तमोगुण का अन्तर्भाव होता है, तब आरम्भ में रुचिता, धैर्यत्याग, असत् कर्मों का ग्रहण, निरन्तर विषयों की सेवा में प्रीति होती है, तभी समझना कि रजोगुण प्रधानता से मुझमें वर्त्त रहा है ॥१०॥

जब तमोगुण का उदय और दोनों का अन्तर्भाव होता है, तब अत्यन्त **लोभ** अर्थात् सब पापों का मूल बढ़ता, अत्यन्त आलस्य और निद्रा, धैर्य का नाश, क्रूरता का होना, **नास्तिक्य** अर्थात् वेद और ईश्वर में श्रद्धा का न रहना, भिन्न-भिन्न अन्तःकरण की वृत्ति और एकाग्रता का अभाव, और किन्हीं व्यसनों में फसना होवे, तब तमोगुण का लक्षण विद्वान् को जानने योग्य है ॥११॥[1]

तथा जब अपना आत्मा जिस कर्म को करके करता[2] हुआ और करने की इच्छा से लज्जा शंका और भय को प्राप्त होवे, तब जानो कि मुझमें प्रवृद्ध तमोगुण है ॥१२॥

जिस कर्म से इस लोक में जीवात्मा पुष्कल प्रसिद्धि चाहता, दरिद्रता होने में भी चारण भाट आदि को दान देना नहीं छोड़ता, तब समझना कि मुझमें रजोगुण प्रबल है ॥१३॥

और जब मनुष्य का आत्मा सबसे जानने को चाहे, गुण ग्रहण करता जाय, अच्छे कर्मों में लज्जा न करे, और जिस कर्म से आत्मा प्रसन्न होवे अर्थात् धर्माचरण ही में रुचि रहे, तब समझना कि मुझमें सत्त्वगुण प्रबल है ॥१४॥

तमोगुण का लक्षण काम, रजोगुण का अर्थसंग्रह की इच्छा, और सत्त्वगुण का लक्षण धर्म-सेवा करना है। परन्तु तमोगुण से रजोगुण और रजोगुण से सत्त्वगुण श्रेष्ठ है ॥१५॥

[3]अब जिस-जिस गुण से जिस-जिस गति को जीव प्राप्त होता है, उस-उस को आगे लिखते हैं[3]—

---

१. संस्करण २ में '॥११॥' नहीं है।

२. संस्करण २ में 'कर्त्ता' अपपाठ है।

३. द्र० **येन यस्तु गुणेनैषां संसारान् प्रतिपद्यते।**
तान्समासेन वक्ष्यामि सर्वस्यास्य यथाक्रमम् ॥ मनु० १२।३९॥

देवत्वं सात्विका यान्ति मनुष्यत्वञ्च राजसाः ।
तिर्यक्त्वं तामसा नित्यमित्येषा त्रिविधा गतिः ॥१॥
स्थावराः कृमिकीटाश्च मत्स्याः सर्पाश्च[1] कच्छपाः ।
पशवश्च मृगाश्चैव जघन्या तामसी गतिः ॥२॥
हस्तिनश्च तुरङ्गाश्च शूद्रा म्लेच्छाश्च गर्हिताः ।
सिंहा[2] व्याघ्रा वराहाश्च मध्यमा तामसी गतिः ॥३॥
चारणाश्च सुपर्णाश्च पुरुषाश्चैव दाम्भिकाः ।
रक्षांसि च पिशाचाश्च तामसीषूत्तमा गतिः ॥४॥
झल्ला मल्ला नटाश्चैव पुरुषाः शस्त्रवृत्तयः ।
द्यूतपानप्रसक्ताश्च जघन्या राजसी गतिः ॥५॥
राजानः क्षत्रियाश्चैव राज्ञां चैव पुरोहिताः ।
वादयुद्धप्रधानाश्च मध्यमा राजसी गतिः ॥६॥
गन्धर्वा गुह्यका यक्षा विबुधानुचराश्च ये ।
तथैवाप्सरसः सर्वा राजसीषूत्तमा गतिः ॥७॥
तापसा यतयो विप्रा ये च वैमानिका गणाः ।
नक्षत्राणि च दैत्याश्च प्रथमा सात्त्विकी गतिः ॥८॥
यज्वान[3] ऋषयो देवा वेदा ज्योतींषि वत्सराः ।
पितरश्चैव साध्याश्च द्वितीया सात्त्विकी गतिः ॥९॥
ब्रह्मा विश्वसृजो धर्मो महानव्यक्तमेव च ।
उत्तमां सात्त्विकीमेतां गतिमाहुर्मनीषिणः ॥१०॥
इन्द्रियाणां प्रसङ्गेन धर्मस्यासेवनेन च ।
पापान् संयान्ति संसारानविद्वांसो नराधमाः ॥११॥

जो मनुष्य सात्त्विक हैं वे देव अर्थात् विद्वान्, जो रजोगुणी

---

१. मनुस्मृति में 'सर्पाः सकच्छपाः' पाठ है ।

२. द्वि० सं० में 'हिंस्रा' पाठ है । पर आर्यभाषार्थ में 'सिंह' है, अतः ऋषि को भी सिंह पाठ अभिप्रेत था । लिपिकर की अनवधानता से 'हिंस्रा' लिखा गया प्रतीत होता है । भ० द०

३. संस्करण २ में 'यजमान' अपपाठ है ।

होते हैं वे मध्यम मनुष्य, और जो तमोगुणयुक्त होते हैं वे नीच गति को प्राप्त होते हैं ॥१॥

जो अत्यन्त तमोगुणी हैं, वे स्थावर वृक्षादि, कृमि-कीट, मत्स्य, सर्प, कच्छप, पशु और मृग के जन्म को[1] प्राप्त होते हैं ॥२॥

जो मध्यम तमोगुणी हैं, वे हाथी, घोड़ा, शूद्र, म्लेच्छ, निन्दित कर्म करनेहारे सिंह, व्याघ्र, वराह अर्थात् सूकर के जन्म को प्राप्त होते हैं ॥३॥

जो उत्तम तमोगुणी हैं, वे चारण (जो कि कवित्त दोहा आदि बनाकर मनुष्यों की प्रशंसा करते हैं), सुन्दर पक्षी, दांभिक पुरुष अर्थात् अपने सुख के लिये अपनी प्रशंसा करनेहारे, राक्षस जो हिंसक, पिशाच, अनाचारी अर्थात् मद्यादि के आहारकर्त्ता और मलिन रहते हैं, वह उत्तम तमोगुण के कर्म का फल है ॥४॥

जो [2]अधम रजोगुणी हैं, वे झल्ला अर्थात् तलवार आदि से मारने वा कुदार[3] आदि से खोदनेहारे, मल्ला[4] अर्थात् नौका आदि के चलाने वाले, नट जो बांस आदि पर कला-कूदना चढ़ना-उतरना आदि करते हैं, शस्त्रधारी भृत्य और मद्य पीने में आसक्त हों, ऐसे जन्म नीच रजोगुण का फल हैं ॥५॥

जो मध्यम रजोगुणी होते हैं, वे राजा, क्षत्रियवर्णस्थ राजाओं के पुरोहित, वादविवाद करने वाले, दूत, प्राड्विवाक (वकील बारिष्टर), युद्ध विभाग के अध्यक्ष के जन्म पाते हैं ॥६॥[5]

जो उत्तम रजोगुणी हैं वे गन्धर्व (गानेवाले), गुह्यक (वादित्र-बजानेहारे), यक्ष (धनाढ्य), विद्वानों के सेवक, और अप्सरा अर्थात्

---

१. संस्करण २ में 'मृग को जन्म के' अपपाठ है।

२. संस्करण २ में 'उत्तम' अपपाठ है। उत्तम रजोगुणी का ७वें श्लोक में निर्देश है। ३. हस्तलेख में 'कुद्दाले' पाठ है। भ० द०

४. इस अर्थ का मूल अन्वेष्टव्य है। हिन्दी में नौका चलाने वाले को 'मल्लाह' कहते हैं। मीमांसा १।३ के पिक नेमादि अधिकरणानुसार यह अर्थ भी किया जा सकता है। ग्रन्थकार ने स० प्र० के प्रथम सं० में 'मल्ला:' का अर्थ 'मल्ला: नाम मल्लाह और कुश्ती करने वाले' दोनों किया है।

५. सं० २ में '॥६॥' नहीं है

उत्तम रूपवाली स्त्री का जन्म पाते हैं ॥७॥

जो तपस्वी, यति, संन्यासी, वेदपाठी, विमान के चलानेवाले, ज्योतिषी और दैत्य अर्थात् देहपोषक मनुष्य होते हैं, उनको प्रथम सत्त्वगुण के कर्म का फल जानो ॥८॥

जो मध्यम सत्त्वगुणयुक्त होकर कर्म करते हैं, वे जीव यज्ञकर्त्ता, वेदार्थवित् विद्वान्, वेद विद्युत् आदि और कालविद्या के ज्ञाता, रक्षक, ज्ञानी और साध्य=कार्यसिद्धि के लिये सेवन करने योग्य अध्यापक का जन्म पाते हैं ॥९॥

जो उत्तम सत्त्वगुणयुक्त होके उत्तमकर्म करते हैं, वे ब्रह्मा=सब वेदों का वेत्ता, विश्वसृज=सब सृष्टिक्रम विद्या को जानकर विविध विमानादि यानों को बनानेहारे, धार्मिक सर्वोत्तम बुद्धियुक्त, और अव्यक्त के जन्म और प्रकृतिवशित्व सिद्धि को प्राप्त होते हैं ॥१०॥

जो इन्द्रिय के वश होकर विषयी, धर्म को छोड़कर अधर्म करनेहारे अविद्वान् हैं, वे मनुष्यों में नीच जन्म=बुरे बुरे दुःखरूप जन्म को पाते हैं ॥११॥

इस प्रकार सत्त्व रज और तमोगुणयुक्त वेग से जिस-जिस प्रकार का कर्म जीव करता[1] है, उस-उस को उसी-उसी प्रकार फल प्राप्त होता है। जो मुक्त होते[2] हैं वे गुणातीत अर्थात् सब गुणों के स्वभावों में न फसकर महायोगी होके मुक्ति का साधन करें। क्योंकि—

योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः ॥१॥

तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम् ॥२॥

ये योगशास्त्र पातञ्जल[3] के सूत्र हैं[4]।

मनुष्य रजोगुण-तमोगुणयुक्त कर्मों से मन को रोक, शुद्ध सत्त्व-गुणयुक्त कर्मों से भी मन को रोक, शुद्ध सत्त्वगुणयुक्त हो पश्चात् उसका निरोध कर एकाग्र अर्थात् एक परमात्मा और धर्मयुक्त कर्म

---

१. सं० २ में 'कर्त्ता' अपपाठ है। २ यहां 'जो मुक्ति चाहते हैं' पाठ होना चाहिए। क्योंकि उत्तर वाक्य में 'वे गुणातीत ⋯मुक्ति का साधन करें' पाठ है। ३. अर्थात् 'पतञ्जलि कृत'। ४. योग द० १।२, ३॥

इनके[1] अग्रभाग में चित्त को ठहरा रखना निरुद्ध अर्थात् सब ओर[2] से मन की वृत्ति को रोकना ॥१॥

जब चित्त एकाग्र और निरुद्ध होता है, तब सबके द्रष्टा ईश्वर के स्वरूप में जीवात्मा की स्थिति होती है [॥२॥]

इत्यादि साधन मुक्ति के लिये करे। और—

अथ त्रिविधदुःखात्यन्तनिवृत्तिरत्यन्तपुरुषार्थः ॥

यह सांख्य का सूत्र है[3]।

जो **आध्यात्मिक** अर्थात् शरीर-सम्बन्धी पीड़ा, **आधिभौतिक** जो दूसरे प्राणियों से दुःखित होना, **आधिदैविक** जो अतिवृष्टि अतिताप अतिशीत मन इन्द्रियों की चञ्चलता से होता है, इस त्रिविध दुःख को छुड़ाकर मुक्ति पाना अत्यन्त पुरुषार्थ है।

इसके आगे आचार अनाचार और भक्ष्याऽभक्ष्य का विषय लिखेंगे ॥

इति श्रीमद्दयानन्दसरस्वतीस्वामिनिर्मिते सत्यार्थप्रकाशे सुभाषाविभूषिते[4] विद्याऽविद्याबन्धमोक्षविषये[5] नवमः समुल्लासः सम्पूर्णः ॥९॥

---

१. यहां पाठ भ्रष्ट हुआ है। परमात्मा और धर्म युक्त कर्म का अग्रभाग क्या होगा? अतः यहां 'नाभि, हृदय, कण्ठ, नेत्र और नासिका के अग्रभाग' में ऐसा पाठ होना चाहिये। द्र०—स० प्र० समु० ७, पृष्ठ २७०-२७१, ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका उपासना विषय, तथा ऋ० द० के पत्र और विज्ञापन पृष्ठ १६ द्वि० सं०।

२. सं० २ में 'और' अपपाठ है।

३. सांख्य द० १।१॥

४. संस्करण २ में 'सुभाषाविरचिते' अपपाठ है।

५. संस्करण २ में 'मोक्षणविषये' अपपाठ है।

अथ दशमसमुल्लासारम्भः

अथाऽऽचाराऽनाचारभक्ष्याऽभक्ष्यविषयान् व्याख्यास्यामः

अब जो धर्मयुक्त कामों का आचरण, सुशीलता, सत्पुरुषों का संग, और सद्विद्या के ग्रहण में रुचि आदि 'आचार' और इनसे विपरीत 'अनाचार' कहाता है, उसको लिखते हैं—

विद्वद्भिः सेवितः सद्भिर्नित्यमद्वेषरागिभिः ।
हृदयेनाभ्यनुज्ञातो यो धर्मस्तन्निबोधत ॥१॥
कामात्मता न प्रशस्ता न चैवेहास्त्यकामता ।
काम्यो हि वेदाधिगमः कर्मयोगश्च वैदिकः ॥२॥
सङ्कल्पमूलः कामो वै यज्ञाः सङ्कल्पसंभवाः ।
व्रतानि यमधर्माश्च सर्वे सङ्कल्पजाः स्मृताः ॥३॥
अकामस्य क्रिया काचिद् दृश्यते नेह कर्हिचित् ।
यद्यद्धि कुरुते किञ्चित् तत्तत्कामस्य चेष्टितम् ॥४॥
वेदोऽखिलो धर्ममूलं स्मृतिशीले च तद्विदाम् ।
आचारश्चैव साधूनामात्मनस्तुष्टिरेव च ॥५॥
सर्वन्तु समवेक्ष्येदं निखिलं ज्ञानचक्षुषा ।
श्रुतिप्रामाण्यतो विद्वान् स्वधर्मे निविशेत वै ॥६॥
श्रुतिस्मृत्युदितं धर्ममनुतिष्ठन् हि मानवः ।
इह कीर्त्तिमवाप्नोति प्रेत्य चानुत्तमं सुखम् ॥७॥
[श्रुतिस्तु वेदो विज्ञेयो धर्मशास्त्रं तु वै स्मृतिः ।
ते सर्वार्थेष्वमीमांस्ये ताभ्यां धर्मो हि निर्बभौ ॥][1]
योऽवमन्येत ते मूले हेतुशास्त्राश्रयाद् द्विजः ।
स साधुभिर्बहिष्कार्यो नास्तिको वेदनिन्दकः ॥८॥

---

१. यह श्लोक किसी प्रकार लिखने या छपने में रह गया प्रतीत होता है । इसका भाषानुवाद विद्यमान है ।

वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः ।
एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद्धर्मस्य लक्षणम् ॥९॥
अर्थकामेष्वसक्तानां धर्मज्ञानं विधीयते ।
धर्मं जिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः ॥१०॥
वैदकैः कर्मभिः पुण्यैर्निषेकादिर्द्विजन्मनाम् ।
कार्यः शरीरसंस्कारः पावनः प्रेत्य चेह च ॥११॥
केशान्तः षोडशे वर्षे ब्राह्मणस्य विधीयते ।
राजन्यबन्धोर्द्वाविंशे वैश्यस्य द्व्यधिके ततः ॥१२॥ मनु० अ० २॥[1]

मनुष्यों को सदा इस बात पर ध्यान रखना चाहिये कि जिसका सेवन राग-द्वेषरहित विद्वान् लोग नित्य करें, जिसको हृदय अर्थात् आत्मा से सत्यकर्त्तव्य जानें, वही धर्म माननीय और करणीय है ॥ १ ॥

क्योंकि इस संसार में अत्यन्त कामात्मता और निष्कामता श्रेष्ठ नहीं है । वेदार्थज्ञान और वेदोक्त कर्म, ये सब कामना ही से सिद्ध होते हैं ॥ २ ॥

जो कोई कहे कि मैं निरिच्छ और निष्काम हूं वा हो जाऊं, तो वह कभी नहीं हो सकता । क्योंकि सब काम अर्थात् यज्ञ, सत्यभाषणादि व्रत, यम-नियमरूपी धर्म आदि सङ्कल्प ही से बनते हैं ॥३॥

क्योंकि जो-जो हस्त पाद नेत्र मन आदि चलाये जाते हैं, वे सब कामना ही से चलते हैं । जो इच्छा न हो, तो आंख का खोलना और मीचना भी नहीं हो सकता ॥४॥

इसलिये सम्पूर्ण वेद, मनुस्मृति तथा ऋषिप्रणीत शास्त्र, सत्पुरुषों का आचार, और जिस-जिस कर्म में अपना आत्मा प्रसन्न रहे, अर्थात् भय शंका लज्जा जिसमें न हो, उन कर्मों का सेवन करना उचित है । देखो, जब कोई मिथ्याभाषण चोरी आदि की इच्छा करता है, तभी उसके आत्मा में भय शका लज्जा अवश्य उत्पन्न होती है । इसलिये वह कर्म करने योग्य नहीं ॥५॥

---

१. मनु० २।१-४,६,८,९,[१०,] ११-१३,२६,६५॥

मनुष्य सम्पूर्ण शास्त्र, वेद, सत्पुरुषों का आचार, अपने आत्मा के अविरुद्ध अच्छे प्रकार विचार कर ज्ञाननेत्र करके श्रुति-प्रमाण से स्वात्मानुकूल धर्म में प्रवेश करे ॥६॥

क्योंकि जो मनुष्य वेदोक्त धर्म और जो वेद से अविरुद्ध स्मृत्युक्त धर्म का अनुष्ठान करता[1] है, वह इस लोक में कीर्ति और मरके सर्वोत्तम सुख को प्राप्त होता है ॥७॥

"श्रुति' वेद और 'स्मृति' धर्मशास्त्र को कहते हैं। इनसे सब कर्त्तव्याऽकर्त्तव्य का निश्चय करना चाहिये ॥[2]

जो कोई मनुष्य वेद और वेदानुकूल आप्तग्रन्थों का अपमान करे, उसको श्रेष्ठ लोग जातिबाह्य करदें। क्योंकि जो वेद की निन्दा करता है, वही 'नास्तिक' कहाता है ॥८॥

इसलिये वेद, स्मृति, सत्पुरुषों का आचार, और अपने आत्मा के ज्ञान से अविरुद्ध प्रियाचरण, ये चार धर्म के लक्षण अर्थात् इन्हीं से धर्म लक्षित होता है ॥९॥

परन्तु जो द्रव्यों के लोभ और काम अर्थात् विषयसेवा में फसा हुआ नहीं होता, उसी को धर्म का ज्ञान होता है। जो धर्म को जानने की इच्छा करें, उनके लिये वेद ही परम प्रमाण है ॥१०॥

इसी से सब मनुष्यों को उचित है कि वेदोक्त पुण्यरूप कर्मों से ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य अपने सन्तानों का निषेकादि संस्कार करें, जो इस जन्म वा परजन्म में पवित्र करनेवाला है ॥११॥

ब्राह्मण के सोहलवें, क्षत्रिय के बाईसवें, और वैश्य के चौबीसवें वर्ष में केशान्तकर्म=क्षौर-मुण्डन हो जाना चाहिये। अर्थात् इस विधि के पश्चात् केवल शिखा को रखके अन्य डाढ़ी मूंछ और शिर के बाल सदा मुंडवाते रहना चाहिये, अर्थात् पुनः कभी न रखना। और जो शीतप्रधान देश हो तो कामचार है, चाहे पञ्च[3] केश

---

१. संस्करण २ में 'कर्त्ता' अपपाठ है।

२. इस भाषार्थ का मूल श्लोक संस्करण २ में नहीं है, हमने उसे [ ] कोष्ठ में बढ़ा दिया है।

३ मूल में यही है। द्वि० सं० में समर्थदान ने इसके स्थान में 'जितने'

रक्खे। और जो अति उष्ण देश हो, तो सब शिखासहित छेदन करा देना चाहिये। क्योंकि शिर में बाल रहने से उष्णता अधिक होती है, और उससे बुद्धि कम हो जाती है। डाढ़ी मूंछ रखने से[1] भोजन-पान अच्छे प्रकार नहीं होता, और उच्छिष्ट भी बालों में रह जाता है ॥ १२ ॥

इन्द्रियाणां विचरतां विषयेष्वपहारिषु ।
संयमे यत्नमातिष्ठेद्विद्वान् यन्तेव वाजिनाम् ॥१॥
इन्द्रियाणां प्रसङ्गेन दोषमृच्छत्यसंशयम् ।
सन्नियम्य तु तान्येव ततः सिद्धिं नियच्छति ॥२॥
न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति ।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्द्धते ॥३॥
वेदास्त्यागश्च यज्ञाश्च नियमाश्च तपांसि च ।
न विप्रदुष्टभावस्य सिद्धिं गच्छन्ति कर्हिचित् ॥४॥
वशे कृत्वेन्द्रियग्रामं संयम्य च मनस्तथा ।
सर्वान् संसाधयेदर्थानक्षिण्वन् योगतस्तनुम् ॥५॥
श्रुत्वा स्पृष्ट्वा च दृष्ट्वा च भुक्त्वा घ्रात्वा च यो नरः ।
न हृष्यति ग्लायति वा स विज्ञेयो जितेन्द्रियः ॥६॥
नापृष्टः कस्यचिद् ब्रूयान्न चान्यायेन पृच्छतः ।
जानन्नपि हि मेधावी जडवल्लोक आचरेत् ॥७॥
वित्तं बन्धुर्वयः कर्म विद्या भवति पञ्चमी ।
तानि मान्यस्थानानि गरीयो यद्यदुत्तरम् ॥८॥
अज्ञो भवति वै बालः पिता भवति मन्त्रदः ।
अज्ञं हि बालमित्याहुः पितेत्येव तु मन्त्रदम् ॥९॥

कर दिया। 'पांच ओर केश रखने' का निर्देश ग्रन्थकार ने संस्कारविधि 'चूडाकर्मसंस्कार' (पृष्ठ १०३, रा० ला० क० ट्र० संस्करण ३) में किया है। यहां 'एक ओर' केश रखने का भी उल्लेख है।

१. चरक सं० सूत्र० ८।१९ के अनुसार कम-से-कम एक पक्ष में तीन बार दाढ़ी मूंछ तथा सिर के बाल कटवाने चाहियें।

न हायनैर्न पलितैर्न वित्तेन न बन्धुभिः ।
ऋषयश्चक्रिरे धर्मं योऽनूचानः स नो महान् ॥१०॥
विप्राणां ज्ञानतो ज्यैष्ठ्यं क्षत्रियाणां तु वीर्यतः ।
वैश्यानां धान्यधनतः शूद्राणामेव जन्मतः ॥११॥
न तेन वृद्धो भवति येनास्य पलितं शिरः ।
यो वै युवाप्यधीयानस्तं देवाः स्थविरं विदुः ॥१२॥
यथा काष्ठमयो हस्ती यथा चर्ममयो मृगः ।
यश्च विप्रोऽनधीयानस्त्रयस्ते नाम बिभ्रति ॥१३॥
अहिंसयैव भूतानां कार्यं श्रेयोऽनुशासनम् ।
वाक्चैव मधुरा श्लक्ष्णा प्रयोज्या धर्ममिच्छता ॥१४॥
मनु० अ० २ ॥[1]

मनुष्य का यही मुख्य आचार है कि जो इन्द्रियां चित्त को हरण करनेवाले विषयों में प्रवृत्त कराती हैं, उनको रोकने में प्रयत्न करे। जैसे घोड़े को सारथी रोक कर शुद्ध मार्ग में चलाता है, इस प्रकार इनको अपने वश में करके अधर्ममार्ग से हठाके धर्ममार्ग में सदा चलाया करे ॥१॥

क्योंकि इन्द्रियों को विषयासक्ति और अधर्म में चलाने से मनुष्य निश्चित दोष को प्राप्त होता है। और जब इनको जीतकर धर्म में चलाता है, तभी अभीष्ट सिद्धि को प्राप्त होता है ॥२॥

यह निश्चय है कि जैसे अग्नि में इन्धन और घी डालने से बढ़ता जाता है, वैसे ही कामों के उपभोग से काम शान्त कभी नहीं होता, किन्तु बढ़ता ही जाता है। इसलिये मनुष्य को विषयासक्त कभी न होना चाहिये ॥३॥

जो अजितेन्द्रिय पुरुष है उसको 'विप्रदुष्ट' कहते हैं। उसके करने से न वेदज्ञान न त्याग न यज्ञ न नियम और न धर्माचरण सिद्धि को प्राप्त होते हैं, किन्तु ये सब जितेन्द्रिय धार्मिक जन को सिद्ध होते हैं ॥ ४ ॥

---

१. मनु० २।८८,९३,९४,९७,९८,१००,११०,१३६,१५३-१५७,१५९॥

इसलिये पांच कर्मेन्द्रिय[1], पांच ज्ञानेन्द्रिय और ग्यारहवें मन को अपने वश में करके, युक्ताहारविहार[2] योग से शरीर की रक्षा करता हुआ सब अर्थों को सिद्ध करे ॥५॥

'जितेन्द्रिय' उसको कहते हैं कि जो स्तुति सुनके हर्ष, और निन्दा सुनके शोक, अच्छा स्पर्श करके सुख, और दुष्ट स्पर्श से दुःख, सुन्दर रूप देखके प्रसन्न, और दुष्ट रूप देख अप्रसन्न, उत्तम भोजन करके आनन्दित, और निकृष्ट भोजन करके दुःखित, सुगन्ध में रुचि और दुर्गन्ध में अरुचि नहीं करता ॥६॥

कभी विना पूछे वा अन्याय से पूछनेवाले को, कि जो कपट से पूछता हो, उसको उत्तर न देवे। उनके सामने बुद्धिमान् जड़ के समान रहे। हां, जो निष्कपट और जिज्ञासु हों, उनको विना पूछे भी उपदेश करे ॥७॥

एक धन, दूसरे बन्धु कुटुम्ब कुल, तीसरी अवस्था, चौथा उत्तम कर्म, और पांचवीं श्रेष्ठ विद्या, ये पांच मान्य के स्थान हैं। परन्तु धन से उत्तम बन्धु, बन्धु से अधिक अवस्था, अवस्था से श्रेष्ठ कर्म, और कर्म से पवित्र विद्यावाले उत्तरोत्तर अधिक माननीय हैं ॥८॥

क्योंकि चाहे सौ वर्ष का भी हो, परन्तु जो विद्या-विज्ञान-रहित है वह बालक, और जो विद्या-विज्ञान का दाता है उस बालक को भी वृद्ध मानना चाहिये। क्योंकि सब शास्त्र आप्त विद्वान् अज्ञानी को बालक और ज्ञानी को पिता कहते हैं ॥९॥

अधिक वर्षों के बीतने, श्वेत बाल के होने, अधिक धन से, और बड़े कुटुम्ब के होने से वृद्ध नहीं होता। किन्तु ऋषि-महात्माओं का यही निश्चय है कि जो हमारे बीच में विद्या विज्ञान में अधिक है, वही 'वृद्ध' पुरुष कहाता है ॥१०॥

ब्राह्मण ज्ञान से, क्षत्रिय बल से, वैश्य धन-धान्य से, और शूद्र

---

१. सं० २ में 'कर्म' पाठ है।

२. देखो भगवद्गीता का श्लोक—'युक्ताहारविहारस्य .... योगो भवति दुःखहा।' ६।१७॥ भ० द०

जन्म अर्थात् अधिक आयु से वृद्ध होता है ॥११॥

शिर[1] के बाल श्वेत होने से बुड्ढा नहीं होता, किन्तु जो युवा विद्या पढ़ा हुआ है, उसी को विद्वान् लोग बड़ा जानते हैं ॥१२॥

और जो विद्या नहीं पढ़ा है, वह जैसा काष्ठ का हाथी, चमड़े का मृग होता है, वैसा अविद्वान् मनुष्य जगत् में नाममात्र मनुष्य कहाता है ॥१३॥

इसलिये विद्या पढ़ विद्वान् धर्मात्मा होकर निर्वैरता से सब प्राणियों के कल्याण का उपदेश करे, और उपदेश में वाणी मधुर और कोमल बोले। जो सत्योपदेश से धर्म की वृद्धि और अधर्म का नाश करते हैं, वे पुरुष धन्य हैं ॥१४॥

नित्य स्नान, वस्त्र, अन्न-पान, स्थान सब शुद्ध रक्खे। क्योंकि इनके शुद्ध होने में चित्त की शुद्धि और आरोग्यता प्राप्त होकर पुरुषार्थ बढ़ता है। शौच उतना करना योग्य है कि जितने से मल दुर्गन्ध दूर हो जाय।

आचारः प्रथमो धर्मः श्रुत्युक्तः स्मार्त्त एव च ॥ मनु॰[2]

जो सत्यभाषणादि कर्मों का आचरण करना है, वही वेद और स्मृति में कहा हुआ 'आचार' है।

मा [नो] वधीः पितरं मोत मातरम् ॥[3]

आचार्य उपनयमानो ब्रह्मचारिणमिच्छते ॥[4]

मातृदेवो भव। पितृदेवो भव। आचार्यदेवो भव। अतिथिदेवो भव ॥

तैत्तिरी॰[5] ॥

---

१. सं॰ २ में 'शरीर' अपपाठ है।

२. मनु॰ १।१०८॥ मनुस्मृति में 'प्रथमो' के स्थान पर 'परमो' पाठ है। पूर्वत्र तृतीय समुल्लास (पृष्ठ ७८) में 'परमो' पाठ ही है।

३. यजुः १६।१५॥

४. अथर्व॰ ११।५।३ में 'इच्छते' के स्थान पर 'कृणुते' पाठ है। अथवा यहां 'आचार्य उपनयमानो ब्रह्मचारिणं कृणुते तथा 'आचार्यो ब्रह्मचर्येण ब्रह्मचारिणमिच्छते' (अ॰ ११।५।३,१७) इन दो उद्धरणों में मध्य का 'ब्रह्मचारिणं कृणुते। आचार्यो ब्रह्मचर्येण' भाग लेखक-प्रमाद से छूट गया।

५. तै॰ आरण्यक ७।११॥

माता पिता आचार्य और अतिथि की सेवा करना 'देवपूजा' कहाती है। और जिस-जिस कर्म से जगत् का उपकार हो, वह-वह कर्म करना और हानिकारक छोड़ देना ही मनुष्य का मुख्य कर्त्तव्य कर्म है। कभी नास्तिक लम्पट विश्वासघाती मिथ्यावादी स्वार्थी कपटी छली आदि दुष्ट मनुष्यों का संग न करे। आप्त जो सत्यवादी धर्मात्मा परोपकारप्रिय जन हैं, उनका सदा संग करने ही का नाम 'श्रेष्टाचार' है।

प्रश्न—आर्यावर्त्त देशवासियों का आर्यावर्त्त देश से भिन्न-भिन्न देशों में जाने से आचार नष्ट हो जाता है, वा नहीं ?

उत्तर—यह बात मिथ्या है। क्योंकि जो बाहर-भीतर की पवित्रता करनी, सत्यभाषणादि आचरण करना है, वह जहां-कहीं करेगा आचार और धर्मभ्रष्ट कभी न होगा। और जो आर्यावर्त्त में रहकर भी दुष्टाचार करेगा, वही धर्म और आचारभ्रष्ट कहावेगा। जो ऐसा ही होता, तो—

मेरोर्हरेश्च द्वे वर्षे वर्षं हैमवतं ततः।
क्रमेणैव समागम्य भारतं वर्षमासदत् ॥१॥
स दृष्ट्वा विविधान् देशान् चीनहूणनिषेवितान् ॥२॥

ये श्लोक भारत शान्तिपर्व मोक्षधर्म में व्यासशुक-संवाद में हैं[1]।

अर्थात् एक समय व्यासजी अपने पुत्र शुक और शिष्य सहित पाताल, अर्थात् जिसको इस समय 'अमेरिका' कहते हैं, उसमें निवास करते थे। शुकाचार्य ने पिता से एक प्रश्न पूछा कि आत्मविद्या इतनी ही है वा अधिक ? व्यासजी ने जानकर उस बात का प्रत्युत्तर न दिया। क्योंकि उस बात का उपदेश कर चुके थे। दूसरे की साक्षी के लिये अपने पुत्र शुक से कहा कि हे पुत्र ! तू मिथिलापुरी में जाकर यही प्रश्न जनक राजा से कर। वह इसका यथायोग्य उत्तर देगा।

---

१. महा० शान्ति० ३२५।१४,१५॥ वहां 'स देशान् विविधान् पश्य-श्चीन०' पाठान्तर है। संस्करण ५ में महाभारत का ही पाठ बना दिया है। चित्रशाला प्रेस पूना सं०।

पिता का वचन सुनकर शुकाचार्य पाताल से मिथिलापुरी की ओर चले। प्रथम मेरु अर्थात् हिमालय से ईशान उत्तर और वायव्य दिशा[1] में जो देश बसते हैं, उनका नाम हरिवर्ष था, अर्थात् हरि कहते हैं बन्दर को. उस देश के मनुष्य अब भी रक्तमुख अर्थात् बानर के समान भूरे नेत्रवाले होते हैं। जिन देशों का नाम इस समय 'यूरोप' है, उन्हीं को संस्कृत में 'हरिवर्ष' कहते थे। उन देशों को देखते हुए और जिनको हूण 'यहूदी' भी कहते हैं उन देशों को देखकर चीन में आये। चीन से हिमालय और हिमालय से मिथिलापुरी को आये।

और श्रीकृष्ण तथा अर्जुन पाताल में अश्वतरी अर्थात् जिसको अग्नियान नौका कहते हैं, [उस पर] बैठके पाताल में जाके महाराजा युधिष्ठिर के यज्ञ में उद्दालक ऋषि को ले आये थे। धृतराष्ट्र का विवाह गांधार जिसको 'कधार' कहते हैं, वहां की राजपुत्री से हुआ। माद्री पाण्डु की स्त्री 'ईरान' के राजा की कन्या थी। और अर्जुन का विवाह पाताल में, जिसको 'अमेरिका' कहते हैं, वहां के राजा की लड़की उलोपी के साथ हुआ था। जो देश-देशान्तर द्वीप-द्वीपान्तर में न जाते होते, तो ये सब बातें क्योंकर हो सकतीं ?

मनुस्मृति में जो समुद्र में जानेवाली नौका पर कर लेना लिखा है[2], वह भी आर्यावर्त से द्वीपान्तर में जाने के कारण है। और जब महाराजा युधिष्ठिर ने राजसूय यज्ञ किया था, उसमें सब भूगोल के राजाओं को बुलाने को निमंत्रण देने के लिये भीम अर्जुन नकुल और सहदेव चारों दिशाओं में गये थे। जो दोष मानते होते, तो कभी न जाते।

सो प्रथम आर्यावर्त्तदेशीय लोग व्यापार राजकार्य और भ्रमण के लिये सब भूगोल में घूमते थे। और जो आजकल छूतछात और धर्म नष्ट होने की शंका है, वह केवल मूर्खों के बहकाने और अज्ञान

---

१. संस्करण २ में 'देश' अपपाठ है।

२. द्र०—मनु० ८।४०६॥ ग्रन्थकार ने इस श्लोक को समु० ६ (पृष्ठ २५०) पर उद्धृत करके (पृ० २५२ पर) इसकी व्याख्या की है।

बढ़ने से है। जो मनुष्य देश-देशान्तर और द्वीप-द्वीपान्तर में जाने-आने में शंका नहीं करते, वे देश-देशान्तर के अनेकविध मनुष्यों के समागम, रीति-भांति[1] देखने, अपना राज्य और व्यवहार बढ़ाने से निर्भय शूरवीर होने लगते, और अच्छे व्यवहार का ग्रहण, बुरी बातों के छोड़ने में तत्पर होके बड़े ऐश्वर्य को प्राप्त होते हैं।

भला जो महाभ्रष्ट म्लेच्छकुलोत्पन्न वेश्या आदि के समागम से आचारभ्रष्ट धर्महीन नहीं होते, किन्तु देश-देशान्तर के उत्तम पुरुषों के साथ समागम में छूत और दोष मानते हैं!!! यह केवल मूर्खता की बात नहीं तो क्या है?

हां, इतना कारण तो है कि जो लोग मांसभक्षण और मद्यपान करते हैं, उनके शरीर और वीर्यादि धातु भी दुर्गन्धादि से दूषित होते हैं। इसलिये उनके संग करने से आर्यों को भी यह कुलक्षण न लग जायें, यह तो ठीक है। परन्तु[2] इनसे व्यवहार और गुणग्रहण करने में कोई भी दोष वा पाप नहीं है, किन्तु जब[2] इनके मद्यपानादि दोषों को छोड़ गुणों को ग्रहण करें, तो कुछ भी हानि नहीं। जब इनके स्पर्श और देखने से भी मूर्ख जन पाप गिनते हैं, इसी से उनसे युद्ध कभी नहीं कर सकते। क्योंकि युद्ध में उनको देखना और स्पर्श होना अवश्य है।

सज्जन लोगों को राग-द्वेष अन्याय मिथ्याभाषणादि दोषों को छोड़ निर्वैर प्रीति परोपकार सज्जनतादि का धारण करना उत्तम 'आचार' है। और यह भी समझलें कि धर्म हमारे आत्मा और कर्त्तव्य के साथ है। जब हम अच्छे काम करते हैं, तो हमको देश-देशान्तर और द्वीप-द्वीपान्तर जाने में कुछ भी दोष नहीं लग सकता। दोष तो पाप के काम करने में लगते हैं। हां, इतना अवश्य चाहिये कि वेदोक्त धर्म का निश्चय और पाखण्डमत का खण्डन करना अवश्य

---

१. अर्थात् 'रीति-रिवाज'

२. सं० २ में 'परन्तु जब इनसे···किन्तु इनके···' पाठ है। प्रतीत होता है परिवर्धित 'जब' पद दोनों वाक्यों के प्रथम शब्द में 'न्तु' भाग के सादृश्य से अस्थान में जुड़ गया है।

सीख लें, जिससे कोई हमको झूठा निश्चय न करा सके।

क्या विना देश-देशान्तर और द्वीप-द्वीपान्तर में राज्य वा व्यापार किये स्वदेश की उन्नति कभी हो सकती है? जब स्वदेश ही में स्वदेशी लोग व्यवहार करते, और परदेशी स्वदेश में व्यवहार वा राज्य करें, तो सिवाय[1] दारिद्र्य और दुःख के दूसरा कुछ भी नहीं हो सकता।

पाखण्डी लोग यह समझते हैं कि जो हम इनको विद्या पढ़ावेंगे, और देश-देशान्तर में जाने की आज्ञा देवेंगे, तो ये बुद्धिमान् होकर हमारे पाखण्ड-जाल में न फसने से हमारी प्रतिष्ठा और जीविका नष्ट हो जावेगी। इसीलिये भोजन-छादन में बखेड़ा डालते हैं कि वे दूसरे देश में न जा सकें। हां, इतना अवश्य चाहिये कि मद्यमांस का ग्रहण कदापि भूलकर भी न करें।

क्या सब बुद्धिमानों ने यह निश्चय नहीं किया है कि जो राजपुरुषों में युद्धसमय में भी चौका लगाकर रसोई बनाके खाना अवश्य पराजय का हेतु है? किन्तु क्षत्रिय लोगों का युद्ध में एक हाथ से रोटी खाते जल पीते जाना, और दूसरे हाथ से शत्रुओं को घोड़े हाथी रथ पर चढ़ वा पैदल होके मारते जाना, अपना विजय करना ही 'आचार' और पराजित होना 'अनाचार' है।

इसी मूढ़ता से इन लोगों ने चौका लगाते-लगाते, विरोध करते-कराते सब स्वातन्त्र्य आनन्द धन राज्य विद्या और पुरुषार्थ पर चौका लगाकर हाथ पर हाथ धरे बैठे हैं, और इच्छा करते हैं कि कुछ पदार्थ मिले तो पकाकर खावें। परन्तु वैसा न होने पर जानो सब आर्यावर्त्त देशभर में चौका लगाके सर्वथा नष्ट कर दिया है।

हां, जहां भोजन करें उस स्थान को धोने, लेपन करने, झाड़ लगाने, कूड़ा कर्कट दूर करने में प्रयत्न अवश्य करना चाहिये। न कि मुसलमान वा ईसाइयों के समान भ्रष्ट पाकशाला करना।

---

१. हस्तलेख में 'सिवाय' पाठ है। समर्थदान ने संस्करण २ में 'सिवाय' के स्थान पर 'विना' बनाया है। यदि शब्द बदलना हो तो 'दारिद्र्य और दुःख के अतिरिक्त' पाठ युक्त होगा। 'विना' से ठीक भाव व्यक्त नहीं होता।

प्रश्न—सखरी निखरी क्या है ?

उत्तर—'**सखरी**' जो जल आदि में अन्न पकाये जाते, और जो घी दूध में पकाते हैं वह '**निखरी**' अर्थात् चोखी। यह भी इन धूर्तों का चलाया हुआ पाखण्ड है। क्योंकि जिसमें घी दूध अधिक लगे उसको खाने में स्वाद, और उदर में चिकना पदार्थ अधिक जावे, इसीलिये यह प्रपञ्च रचा है। नहीं तो जो अग्नि वा काल से पका हुआ पदार्थ [वह] '**पक्का**', और न पका हुआ '**कच्चा**' है। जो पक्का खाना और कच्चा न खाना है, यह भी सर्वत्र ठीक नहीं। क्योंकि चणे आदि कच्चे[1] भी खाये जाते हैं।

प्रश्न—द्विज अपने हाथ से रसोई बनाके खावें, वा शूद्र के हाथ की बनाई खावें ?

उत्तर—शूद्र के हाथ की बनाई खावें। क्योंकि ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्य वर्णस्थ स्त्री-पुरुष विद्या पढ़ाने राज्य पालने और पशुपालन खेती और व्यापार के काम में तत्पर रहैं। और शूद्र के पात्र तथा उसके घर का पका हुआ अन्न आपत्काल के विना न खावें। सुनो प्रमाण—

आर्याधिष्ठिता वा शूद्राः संस्कर्त्तारः स्युः ॥

यह आपस्तम्ब का सूत्र है।[2]

आर्यों के घर में शूद्र अर्थात् मूर्ख स्त्री-पुरुष पाकादि-सेवा करें, परन्तु वे शरीर वस्त्र आदि से पवित्र रहैं। आर्यों के घर में जब रसोई बनावें, तब मुख बांधके बनावें। क्योंकि उनके मुख से उच्छिष्ट और निकला हुआ श्वास भी अन्न में न पड़े। आठवें दिन क्षौर नखच्छेदन करावें,[3] [प्रतिदिन] स्नान करके पाक बनाया करें, आर्यों को खिलाके आप खावें।

---

१. कच्चे चने भिगोकर अथवा हरे चने कच्चे।

२. आपस्तम्ब धर्मसूत्र प्रपा० २, पटल २, खण्ड ४, सूत्र ४॥

३. शूद्राणामार्याधिष्ठितानामर्धमासि मासि वा वपनम्, आर्यवद् आचमनकल्पः ॥ बौधायन धर्मशास्त्र प्रश्न १, अ० ५, सूत्र ८९॥ चरक मं० सूत्र ८।१९ में पक्ष में तीन बार अर्थात् पांचवें दिन क्षौर आदि का विधान किया है।

प्रश्न—शूद्र के छुए हुए पके अन्न के खाने में जब दोष लगाते हैं, तो उसके हाथ का बनाया कैसे खा सकते हैं ?

उत्तर—यह बात कपोलकल्पित झूंठी है। क्योंकि जिन्होंने गुड़ चीनी घृत दूध पिशान शाक फल-मूल खाया, उन्होंने जानो सब जगत्-भर के हाथ का बनाया और उच्छिष्ट खा लिया। क्योंकि जब शूद्र चमार भङ्गी मुसलमान ईसाई आदि लोग खेतों में से ईख को काटते छीलते पीलकर रस निकालते हैं, तब मलमूत्रोत्सर्ग करके उन्हीं विना धोये हाथों से छूने, उठाते-धरते, आधा सांठा चूस रस पीके आधा उसी में डाल देते[1], और रस पकाते समय उस रस में रोटी भी पकाकर खाते हैं।

जब चीनी बनाते हैं, तब पुराने जूते कि जिसके तले में विष्टा मूत्र गोबर धूली लगी रहती है, उन्हीं जूतों से उसको रगड़ते हैं। दूध में अपने घर के उच्छिष्ट पात्रों का जल डालते, उसी में घृतादि रखते, और आटा पीसने [के][2] समय भी वैसे ही उच्छिष्ट हाथों से उठाते, और पसीना भी आटा में टपकता जाता है, इत्यादि। और फल मूल कन्द में भी ऐसी ही लीला होती है। जब इन पदार्थों को खाया तो जानो सबके हाथ का खा लिया।

प्रश्न—फल-मूल-कन्द और रस इत्यादि अदृष्ट में दोष नहीं[3]।

उत्तर—[वाह जी वाह ! सत्य है कि जो ऐसा उत्तर न देते तो क्या धूल राख खाते ? गुड़ शक्कर मीठी लगती, दूध घी पुष्टि करता है, इसीलिये यह मतलबसिन्धु क्या नहीं रचा है ?][4] अच्छा [जो अदृष्ट में दोष नहीं'[6]] तो भङ्गी वा मुसलमान अपने हाथों से

ग्रन्थकार ने मध्यम पक्ष स्वीकार करके ८वें दिन क्षौरादि का विधान लिखा है।

१. वै०य०मुद्रित कुछ संस्करणों में 'देते हैं' पाठ है। 'हैं' के विना भी वाक्य गतार्थ है। २. संस्करण २ में 'पीसने' पाठ है। अगले संस्करणों में 'पीसते' पाठ मिलता है।

३. वै० य० मुद्रित कुछ संस्करणों में 'नहीं मानते ?' पाठ मिलता है। 'मानते' के विना भी वाक्य गतार्थ है। प्रश्न-चिह्न तो सर्वथा व्यर्थ है।

४. यह कोष्ठगत पाठ पञ्चम संकरण से मिलता है।

दूसरे स्थान में बनाकर तुमको आके देवें, तो खा लोगे वा नहीं ? जो कहो कि नहीं, तो अदृष्ट में भी दोष है। हां, मुसलमान ईसाई आदि मद्य-मांसाहारियों के हाथ के खाने में आर्यों को भी मद्यमांसादि खाना-पीना अपराध पीछे लग पड़ता है। परन्तु आपस में आर्यों का एक भोजन होने में कोई भी दोष नहीं दीखता।

जबतक एक मत, एक हानि-लाभ, एक सुख-दुःख परस्पर न मानें, तबतक उन्नति होना बहुत कठिन है। परन्तु केवल खाना-पीना ही एक होने से सुधार नहीं हो सकता, किन्तु जब तक बुरी बातें नहीं छोड़ते, और अच्छी बातें नहीं करते, तब तक बढ़ती के बदले हानि होती है।

विदेशियों के आर्यावर्त्त में राज्य होने के कारण आपस की फूट, मतभेद, ब्रह्मचर्य का सेवन न करना, विद्या न पढ़ना-पढ़ाना, वा बाल्यावस्था में अस्वयंवर विवाह, विषयासक्ति, मिथ्याभाषणादि कुलक्षण, वेदविद्या का अप्रचार आदि कुकर्म हैं। जब आपस में भाई-भाई लड़ते हैं, तभी तीसरा विदेशी आकर पञ्च बन बैठता है।

क्या तुम लोग महाभारत की बातें, जो पांच सहस्र वर्ष के पहिले हुई थी[1], उनको भी भूल गये ? देखो, महाभारत युद्ध में सब लोग लड़ाई में सवारियों पर खाते पीते थे। आपस की फूट से कौरव पांडव और यादवों का सत्यानाश हो गया सो तो हो गया, **परन्तु अब तक भी वही रोग पीछे लगा है। न जाने यह भयंकर राक्षस कभी छूटेगा वा आर्यों को सब सुखों से छुड़ाकर दुःखसागर में डुबा मारेगा ? उसी दुष्ट दुर्योधन गोत्रहत्यारे[2], स्वदेशविनाशक नीच के दुष्टमार्ग में आर्य लोग अब तक भी चल कर दुःख बढ़ा रहे हैं।** परमेश्वर कृपा करे कि यह राजरोग हम आर्यों में से नष्ट हो जाय।

---

१. महाभारत युद्ध का समय लगभग इतना ही है। इसके प्रमाण के लिये चिन्तामणि वैद्य कृत 'महाभारत मीमांसा' तथा पं० भगवद्दत्तकृत 'भारतवर्ष का बृहद् इतिहास', द्वि० संस्करण पृ० २१२—२१६ देखें। पाश्चात्य विद्वानों ने यह समय १४०० वर्ष ईसा पूर्व लिखा है, वह असत्य है।

२. अर्थात् कुलनाशक।

भक्ष्याभक्ष्य दो प्रकार का होता है—एक धर्मशास्त्रोक्त, दूसरा वैद्यकशास्त्रोक्त[1]। जैसे धर्मशास्त्र में—

अभक्ष्याणि द्विजातीनाममेध्यप्रभवाणि च ॥ मनु०[2]

द्विज अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रों को मलीन विष्ठा मूत्रादि के संसर्ग से उत्पन्न हुए शाक फल-मूलादि न खाना [चाहिये]।

वर्जयेन्मधुमांसं च ॥ मनु[3]०

जैसे अनेक प्रकार के मद्य, गांजा, भांग, अफीम आदि जो-जो—

बुद्धिं लुम्पति यद् द्रव्यं मदकारि तदुच्यते ॥[4]

बुद्धि का नाश करनेवाले पदार्थ हैं, उनका सेवन कभी न करें। और जितने अन्न सड़े-बिगड़े, दुर्गन्धादि से दूषित, अच्छे प्रकार न बने हुए, और मद्यमांसाहारी म्लेच्छ कि जिनका शरीर मद्यमांस के परमाणुओं ही से पूरित है, उनके हाथ का न खावें।

जिसमें उपकारक प्राणियों की हिंसा[5] अर्थात् जैसे एक गाय के शरीर से दूध-घी बैल-गाय उत्पन्न होने से एक पीढ़ी में चार लाख पचहत्तर सहस्र छः सौ मनुष्यों को सुख पहुंचता है, वैसे पशुओं को न मारें न मारने दें। जैसे किसी गाय से बीस सेर और किसी से दो सेर दूध प्रतिदिन होवे, उसका मध्य भाग ग्यारह सेर प्रत्येक गाय से दूध होता है। कोई गाय अठारह और कोई छः महीने तक दूध देती है। उसका भी मध्य भाग बारह महीने हुए। अब प्रत्येक गाय के जन्मभर के दूध से २४, ९६० (चौबीस सहस्र नौ सौ साठ) मनुष्य एक वार में तृप्त हो सकते हैं।

उसके छः बछियां छः बछड़े होते हैं। उनमें से दो मर जायें तो

---

१. वैद्यकशास्त्रोक्त भक्ष्याभक्ष्य का निर्देश इस प्रकरण के अन्त में किया है। २. मनु० ५।५॥ ३. मनु० २।१७७॥ द्र०—पूर्व पृष्ठ ७५, ७६। ४. शार्ङ्गधर अ० ४, श्लोक २१॥

५. 'होती है इसलिये मांस का भक्षण न करें।' इतना पाठ और होना चाहिये। भ० द०

भी दश रहे। उनमें से पांच बछिड़ियों[1] के जन्मभर के दूध को मिलाकर १, २४, ८०० (एक लाख चौबीस सहस्र आठ सौ) मनुष्य तृप्त हो सकते हैं। अब रहे पांच बैल, वे जन्मभर में ५००० (पांच सहस्र) मन अन्न न्यून से न्यून उत्पन्न कर सकते हैं। उस अन्न में से प्रत्येक मनुष्य तीन पाव खावे, तो अढ़ाई लाख मनुष्यों की तृप्ति होती है। दूध और अन्न मिलाकर ३, ७४, ८०० (तीन लाख चौहत्तर सहस्र आठ सौ) मनुष्य तृप्त होते हैं। दोनों संख्या मिलाके एक गाय की एक पीढ़ी में ४, ७५, ६०० (चार लाख पचहत्तर सहस्र छः सौ)[2] मनुष्य एक बार पालित होते हैं। और पीढ़ी पर पीढ़ी बढ़ाकर लेखा करें, तो असंख्यात मनुष्यों का पालन होता है।

इससे भिन्न बैल[3] गाड़ी सवारी भार उठाने आदि कर्मों से मनुष्यों के बड़े उपकारक होते हैं। तथा वैसे गाय[4] दूध में अधिक उपकारक होती है। परन्तु जैसे बैल उपकारक होते हैं वैसे भैंसे[5] भी हैं। परन्तु गाय के दूध घी से जितने बुद्धिवृद्धि से लाभ होते हैं, उतने भैंस के दूध से नहीं। इससे मुख्योपकारक आर्यों ने गाय को गिना है। और जो कोई अन्य विद्वान् होगा, वह भी इसी प्रकार समझेगा।

---

१. मारवाड़ी और गुजराती भाषा में बछिया के लिये बछड़ी शब्द का भी प्रयोग होता है। इस लये पं० भगवद्दत्त जी ने अपने संस्करण में जो टिप्पणी दी है, वह चिन्त्य है।

२. यहां संख्या में भूल है। शुद्ध संख्या ३९९७६० (तीन लाख निन्यानवें सहस्र सातसौ साठ) होनी चाहिये। यथा—गाय की पाँच बछियों के दूध से १२४८०० मनुष्य एक बार में तृप्त होते है, ५ बैलों से उपजाये अन्न से २५०००० (ढाई लाख) मनुष्य पालित होते हैं। दोनों (५ बछिया + ५ बैल) को मिलाकर दूध अन्न से ३७४८०० मनुष्य तृप्त होते हैं। इस में प्रथम गाय के दूध से पालित २४९६० (चौबीस सहस्र नौ सौ साठ) संख्या मिलाई जाये, तो योग (३७४८०० + २४९६० =) ३९९७६० बनता है। इस प्रकार यहां योग में ७५८४० संख्या का भेद प्रत्यक्ष है।

३. 'बैल' शब्द सं० ३ में परिवर्धित है।

४. 'गाय' ,, ,, ,, ,, ,,

५. सं० २ में 'भैंस' पाठ है, सं० ३ में शुद्ध किया है।

बकरी के दूध से २५, ६२० (पच्चीस सहस्र नौ सौ बीस) आदमियों का पालन होता है। वैसे हाथी घोड़े ऊंट भेड़ गदहे आदि से भी बड़े उपकार होते हैं।[1] इन पशुओं को मारनेवालों को सब मनुष्यों की हत्या करनेवाले जानियेगा।

देखो, जब आर्यों का राज्य था, तब ये महोपकारक गाय आदि पशु नहीं मारे जाते थे। तभी आर्य्यावर्त्त वा अन्य भूगोल [के] देशों में बड़े आनन्द में मनुष्यादि प्राणी वर्त्तते थे। क्योंकि दूध घी बैल आदि पशुओं की बहुताई होने से अन्न रस पुष्कल प्राप्त होते थे। जब से विदेशी मांसाहारी इस देश में आके गौ आदि पशुओं के मारनेवाले मद्यपानी राज्याधिकारी हुए हैं, तब से क्रमशः आर्यों के दुःख की बढ़ती होती जाती है। क्योंकि 'नष्टे मूले नैव फलं न पुष्पम्'।[2] जब वृक्ष का मूल ही काट दिया जाय, तो फल-फूल कहां से हों?

प्रश्न—जो सभी अहिंसक हो जायें, तो व्याघ्रादि पशु इतने बढ़ जायें कि सब गाय आदि पशुओं को मार खायं। तुम्हारा पुरुषार्थ ही व्यर्थ हो जाय।

उत्तर—यह राजपुरुषों का काम है कि जो हानिकारक पशु वा मनुष्य हों, उनको दण्ड देवें, और प्राण [से] भी वियुक्त करदें।

प्रश्न—फिर क्या उनका मांस फेंक दें?

उत्तर—चाहे फेंक दें, चाहे कुत्ते आदि मांसाहारियों को खिला देवें, वा जला देवें। अथवा कोई मांसाहारी खावे, तो भी संसार की कुछ हानि नहीं होती। किन्तु उस मनुष्य का स्वभाव मांसाहारी होकर हिंसक हो सकता है।

जितना हिंसा और चोरी विश्वासघात छल-कपट आदि से पदार्थों को प्राप्त होकर भोग करना है, वह 'अभक्ष्य' और अहिंसा धर्मादि कर्मों से प्राप्त होकर भोजनादि करना 'भक्ष्य' है।

---

१. 'विशेष व्याख्या 'गोकरुणानिधि' में देखिये।' यह टिप्पणी सं० ५ में बढ़ाई गई है। २. वृद्ध चाणक्य १०।१३॥

[वैद्यकशास्त्रोक्त भक्ष्याभक्ष्य—] जिन पदार्थों से स्वास्थ्य, रोगनाश, बुद्धि बलपराक्रम-वृद्धि और आयुवृद्धि होवे, उन तण्डुलादि गोधूम फल मूल कन्द दूध-घी मिष्टादि पदार्थों का सेवन यथायोग्य पाक मेल करके यथोचित समय पर मिताहार भोजन करना सब '**भक्ष्य**' कहाता है। जितने पदार्थ अपनी प्रकृति से विरुद्ध, विकार करनेवाले हैं, उन-उनका सर्वथा त्याग करना, और जो-जो जिस-जिसके लिये विहित हैं, उन-उन पदार्थों का ग्रहण करना यह भी '**भक्ष्य**' है।[1]

प्रश्न—एक साथ खाने में कुछ दोष है, वा नहीं ?

उत्तर—दोष है। क्योंकि एक के साथ दूसरे का स्वभाव और प्रकृति नहीं मिलती। जैसे कुष्ठी आदि के साथ खाने से अच्छे मनुष्य का भी रुधिर बिगड़ जाता है, वैसे दूसरे के साथ खाने में भी कुछ बिगाड़ ही होता है, सुधार नहीं। इसीलिये—

नोच्छिष्टं कस्यचिद्दद्यान्नाद्याच्चैव तथान्तरा।
न चैवात्यशनं कुर्यान्न चोच्छिष्टः क्वचिद् व्रजेत्॥ मनु०[2]

न किसी को अपना जूठा पदार्थ दे न किसी के भोजन के बीच आप खावे। न अधिक भोजन करे और न [उच्छिष्ट अर्थात्][3] भोजन किये पश्चात् हाथ मुख धोये विना कहीं इधर-उधर जाय।

प्रश्न—'**गुरोरुच्छिष्टभोजनम्**'[4] इस वाक्य का क्या अर्थ होगा ?

उत्तर—इसका यह अर्थ है कि गुरु के भोजन किये पश्चात् जो पृथक् अन्न शुद्ध स्थित है, उसका भोजन करना। अर्थात् गुरु को प्रथम भोजन कराके पश्चात् शिष्य को भोजन करना चाहिये।

---

१. यहां ऐसा पाठ होना युक्ततर है—"और जो-जो जिस-जिस रोगी के लिये पथ्य विहित हैं,उन-उन पदार्थों का ग्रहण करना यह भी 'भक्ष्य' है। और जो-जो जिस-जिस रोगी के लिये अपथ्य कहे हैं, उन-उन का ग्रहण करना यह भी 'अभक्ष्य' है।"   २. मनु० २।५६॥

३. यह कोष्ठान्तर्गत पाठ हस्तलेख में है। भ. द.

४. द्र०—'गुरोरुच्छिष्टमन्नं यो भक्षयेद्भक्तिभावतः'॥ प्राणतोषिणी पृ० १८६, जीवानन्द संस्करण।

प्रश्न—जो उच्छिष्टमात्र का निषेध है, तो मक्खियों का उच्छिष्ट सहत [शहद], बछड़े का उच्छिष्ट दूध, और एक ग्रास खाने के पश्चात् अपना भी उच्छिष्ट होता है, पुनः उसको भी न खाना चाहिये ?

उत्तर—सहत कथनमात्र ही उच्छिष्ट होता है। परन्तु वह बहुत-सी ओषधियों[1] का सार ग्राह्य। बछड़ा अपनी मा के बाहिर का दूध पीता है, भीतर के दूध को नहीं पी सकता, इसलिये उच्छिष्ट नहीं। परन्तु बछड़े के पिये पश्चात् जल से उसकी मा[2] के स्तन धोकर शुद्ध पात्र में दोहना चाहिये। और अपना उच्छिष्ट अपने को विकार-कारक नहीं होता।

देखो, स्वभाव से यह बात सिद्ध है कि किसी का[3] उच्छिष्ट कोई भी न खावे। जैसे[4] अपने मुख नाक कान आंख उपस्थ और गुह्येन्द्रियों के मलमूत्रादि के स्पर्श में घृणा नहीं होती, वैसे किसी दूसरे के मलमूत्र के स्पर्श में होती है। इससे यह सिद्ध होता है कि यह व्यवहार सृष्टिक्रम से विपरीत ही[5] है। इसलिये मनुष्यमात्र को उचित है कि किसी का उच्छिष्ट अर्थात् जूंठा न खाय।

प्रश्न—भला स्त्री-पुरुष भी परस्पर उच्छिष्ट न खावें ?

उत्तर—नहीं। क्योंकि उनके भी शरीरों का स्वभाव भिन्न-भिन्न है।

---

१. वै० य० मुद्रित कुछ संस्करणों में 'औषधियों' अपपाठ है।

२. अर्थात् गाय के। वै० य० मुद्रित कुछ संस्करणों मे 'मां' पाठ है।

३. सं० २ में 'को' अपपाठ है।

४. सं० २ में 'जैसी'। सं० ३ से 'जैसे' पाठ है। यही युक्त है। उत्तरत्र 'वैसे' शब्द का पाठ होने से। 'जैसी' पाठ का 'घृणा' के साथ संबन्ध हो सकता है, उस अवस्था में उत्तरत्र भी 'वैसी' पाठ होना चाहिये।

५. इस वाक्य में 'यह व्यवहार' पदों से प्रकरण-प्राप्त 'दूसरे का उच्छिष्ट खाना' रूप व्यवहार की ओर संकेत है। तदनुसार यहां 'विपरीत ही है' पाठ युक्त है। सं० २ में 'विपरी नहीं है' पाठ है, सं० ३ में 'विपरीत नहीं है' शोधन किया है। यह पाठ प्रकृत में संबद्ध नहीं होता। अतः सम्भव है

प्रश्न—कहो जी ! मनुष्यमात्र के हाथ की की-हुई रसोई, उस अन्न के खाने में क्या दोष है ? क्योंकि ब्राह्मण से लेके चांडाल-पर्यन्त के शरीर हाड़-मांस-चमड़े के हैं। और जैसा रुधिर ब्राह्मण के शरीर में है, वैसा ही चांडाल आदि के। पुनः मनुष्यमात्र के हाथ की पकी हुई रसोई के खाने में क्या दोष है ?

उत्तर—दोष है। क्योंकि जिन उत्तम पदार्थों के खाने-पीने से ब्राह्मण और ब्राह्मणी के शरीर में दुर्गन्धादि दोषरहित रज-वीर्य उत्पन्न होता है, वैसा चांडाल और चांडाली के शरीर में नहीं। क्योंकि चांडाल का शरीर दुर्गन्ध के परमाणुओं से भरा हुआ होता है, वैसा ब्राह्मणादि वर्णों का नहीं। इसलिये ब्राह्मणादि उत्तम वर्णों के हाथ का खाना, और चांडालादि नीच भङ्गी चमार आदि का न खाना।

भला जब कोई तुमसे पूछेगा कि जैसा चमड़े का शरीर [माता] सास बहिन कन्या पुत्रबधू का है, वैसा ही अपनी स्त्री का भी है, तो क्या माता आदि स्त्रियों के साथ भी स्वस्त्री के समान वर्तोगे ? तब तुमको संकुचित होकर चुप ही रहना पड़ेगा। जैसे उत्तम अन्न हाथ और मुख से खाया जाता है, वैसे दुर्गन्ध भी खाया जा सकता है। तो क्या मलादि भी खाओगे ? क्या ऐसा भी कोई हो सकता है ?

प्रश्न—जो गाय के गोबर से चौका लगाते हो, तो अपने गोबर से क्यों नहीं लगाते ? और गोबर के चौके में जाने से चौका अशुद्ध क्यों नहीं होता ?

उत्तर—गाय के गोबर से वैसा दुर्गन्ध नहीं होता, जैसा कि मनुष्य के मल से। [गोबर[1]] चिक्कना होने से शीघ्र नहीं उखड़ता, न कपड़ा बिगड़ता, न मलीन होता है। जैसा मिट्टी[2] से मैल चढ़ता

सं० २ में 'विपरीत ही है' पाठ प्रमाद से 'विपरी नहीं है' छप गया, और उसके शोधन के रूप में अधिक भ्रष्ट हो गया।

१. सं० ५ में 'गोमय' शब्द बढ़ाया है। ग्रन्थकार ने यहां 'गोबर' शब्द का प्रयोग किया है। इसलिये 'गोबर' शब्द बढ़ाना युक्त है।

२. सं० २ में 'मिट्टी' 'मट्टी' दोनों प्रयोग मिलते हैं।

है, वैसा सूखे गोबर से नहीं होता । मट्टी और गोबर से जिस स्थान का लेपन करते हैं, वह देखने में अति सुन्दर होता है ।

और जहां रसोई बनती है, वहां भोजनादि करने से घी मिष्ट और उच्छिष्ट भी गिरता है । उससे मक्खी कीड़ी आदि बहुत से जीव मलिन स्थान के रहने से आते हैं । जो उसमें झाड़ू लेपनादि से शुद्धि प्रतिदिन न की जावे, तो जानो पाखाने के समान वह स्थान हो जाता है । इसलिये प्रतिदिन गोबर मिट्टी[1], झाड़ू से सर्वथा शुद्ध रखना ।

और जो पक्का मकान हो तो जल से धोकर शुद्ध रखना चाहिये । इससे पूर्वोक्त दोषों की निवृत्ति हो जाती है । जैसे मियांजी के रसोई के स्थान में कहीं कोइला, कहीं राख, कहीं लकड़ी, कहीं फूटी हांडी, कहीं जूंठी रकेबी, कहीं हाड़गोड़ पड़े रहते हैं, और मक्खियों का तो क्या कहना ? वह स्थान ऐसा बुरा लगता है कि जो कोई श्रेष्ठ मनुष्य जाकर बैठे, तो उसे वांत[2] होने का भी सम्भव है । और उस दुर्गन्ध स्थान के समान ही वहो स्थान दीखता है । भला जो कोई इनसे पूछे कि यदि गोबर से चौका लगाने[3] में तो तुम दोष गिनते हो, परन्तु चूल्हे में कण्डे जलाने, उसकी आग से तमाखू पीने, घर की भीति पर लेपन करने आदि से भी[4] मियांजी का चौका भ्रष्ट हो जाता होगा, इसमें क्या सन्देह ?

प्रश्न—चौके में बैठके भोजन करना अच्छा, वा बाहर बैठके ?

उत्तर—जहां पर अच्छा रमणीय सुन्दर स्थान दीखे, वहां भोजन करना चाहिये । परन्तु आवश्यक युद्धादिकों में तो घोड़े आदि यानों पर बैठके वा खड़े-खड़े भी खाना-पीना अत्यन्त उचित है ।

प्रश्न—क्या अपने ही हाथ का खाना, और दूसरे के हाथ का नहीं ?

उत्तर—जो आर्यों में शुद्ध रीति से बनावे, तो बराबर सब आर्यों

---

१. सं० २ में 'मिट्टी' 'मट्टी' दोनों प्रयोग मिलते हैं । २. वान्त=वमन ।
२. सं० २ में 'लगने' पाठ । सं० ३ में 'लगाने' पाठ बनाया है ।
३. वैयमुद्रित में 'आदि से मियांजी का भी चौका' पाठ है ।

के हाथ का[1] खाने में कुछ भी हानि नहीं। क्योंकि जो ब्राह्मणादि वर्णस्थ स्त्री-पुरुष रसोई बनाने चौका देने बर्त्तन-भांडे मांजने आदि बखेड़ों में पड़े रहैं, तो विद्यादि शुभ गुणों की वृद्धि कभी नहीं हो सके।

देखो, महाराज युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ में भूगोल के राजा ऋषि महर्षि आये थे। एक ही पाकशाला से भोजन किया करते थे। जब से ईसाई मुसलमान आदि के मतमतान्तर चले, आपस में वैर-विरोध हुआ, उन्होंने मद्यपान, गोमांसादि का खाना-पीना स्वीकार किया, उसी समय से भोजनादि में बखेड़ा हो गया।

देखो, काबुल कंधार ईरान अमेरिका यूरोप आदि देशों के राजाओं की कन्या गान्धारी माद्री उलोपी आदि के साथ आर्य्यावर्त्त-देशीय राजा लोग विवाह आदि व्यवहार करते थे। शकुनि आदि कौरव पांडवों के साथ खाते-पीते थे, कुछ विरोध नहीं करते थे। क्योंकि उस समय सर्व भूगोल में वेदोक्त एक मत था। उसीमें सब की निष्ठा थी, और एक-दूसरे का सुख-दुःख हानि-लाभ आपस में अपने समान समझते थे। तभी भूगोल में सुख था।

अब तो बहुत से मतवाले होने से बहुतसा दुःख और विरोध बढ़ गया है। इसका निवारण करना बुद्धिमानों का काम है। परमात्मा सबके मन में सत्य मत का ऐसा अंकुर डाले कि जिससे मिथ्या मत शीघ्र ही प्रलय को प्राप्त हों। इसमें सब विद्वान् लोग विचार कर विरोधभाव छोड़के आनन्द को बढ़ावें।

यह थोड़ा सा आचार-अनाचार, भक्ष्याभक्ष्य विषय में लिखा।

इस ग्रन्थ का पूर्वार्द्ध इसी दशवें समुल्लास के साथ पूरा हो गया। इन समुल्लासों में विशेष खण्डन-मण्डन इसलिये नहीं लिखा कि जबतक मनुष्य सत्यासत्य के विचार में कुछ भी सामर्थ्य न बढ़ाते, तबतक स्थूल और सूक्ष्म खण्डनों के अभिप्राय को नहीं समझ

---

१. सं० २ से सं० ३५ तक 'के साथ खाने में' पाठ है, परन्तु उपक्रम उपसंहार के अनुसार 'के हाथ का खाने में' पाठ ही उचित है।

सकते। इसलिये प्रथम सबको सत्य शिक्षा का उपदेश करके, अब उत्तरार्द्ध अर्थात् जिसमें चार समुल्लास हैं, उसमें विशेष खण्डन-मण्डन लिखेंगे।

इन चारों में से प्रथम समुल्लास में आर्य्यावर्त्तीय मतमतान्तर, दूसरे में जैनियों के, तीसरे में ईसाइयों और चौथे में मुसलमानों के मतमतान्तरों के खण्डन-मण्डन के विषय में लिखेंगे। और पश्चात् चौदहवें समुल्लास के अन्त में स्वमत भी दिखलाया जायगा। जो कोई विशेष खण्डन-मण्डन देखना चाहैं, वे इन चारों समुल्लासों में देखें।

परन्तु सामान्य करके कहीं-कहीं दश समुल्लासों में भी कुछ थोड़ासा खण्डन-मण्डन किया है। इन चौदह समुल्लासों को पक्षपात छोड़, न्यायदृष्टि से [जो][1] देखेगा उसके आत्मा में सत्य अर्थ का प्रकाश होकर आनन्द होगा। और जो हठ-दुराग्रह और ईर्ष्या से देखे-सुनेगा, उसको इस ग्रन्थ का अभिप्राय यथार्थ विदित होना बहुत कठिन है। इसलिये जो कोई इसको यथावत् न विचारेगा वह इसका अभिप्राय न पाकर गोता खाया करेगा। और[2] विद्वानों का यही काम है कि सत्यासत्य का निर्णय करके सत्य [का] ग्रहण, असत्य का त्याग करके परम आनन्दित होते हैं। वे ही गुणग्राहक पुरुष विद्वान् होकर धर्म अर्थ काम और मोक्षरूप फलों को प्राप्त होकर प्रसन्न रहते हैं।

इति श्रीमद्दयानन्दसरस्वतीस्वामिकृते सत्यार्थप्रकाशे
सुभाषाविभूषित आचाराऽनाचारभक्ष्याऽभक्ष्यविषये
दशमः समुल्लासः सम्पूर्णः ॥१०॥

समाप्तोऽयं पूर्वार्द्धः

---

१. सं० ५ में बढ़ाया गया।

२. सं० २ में 'खाया और करेगा विद्वानों' पूर्वापर अपपाठ है।
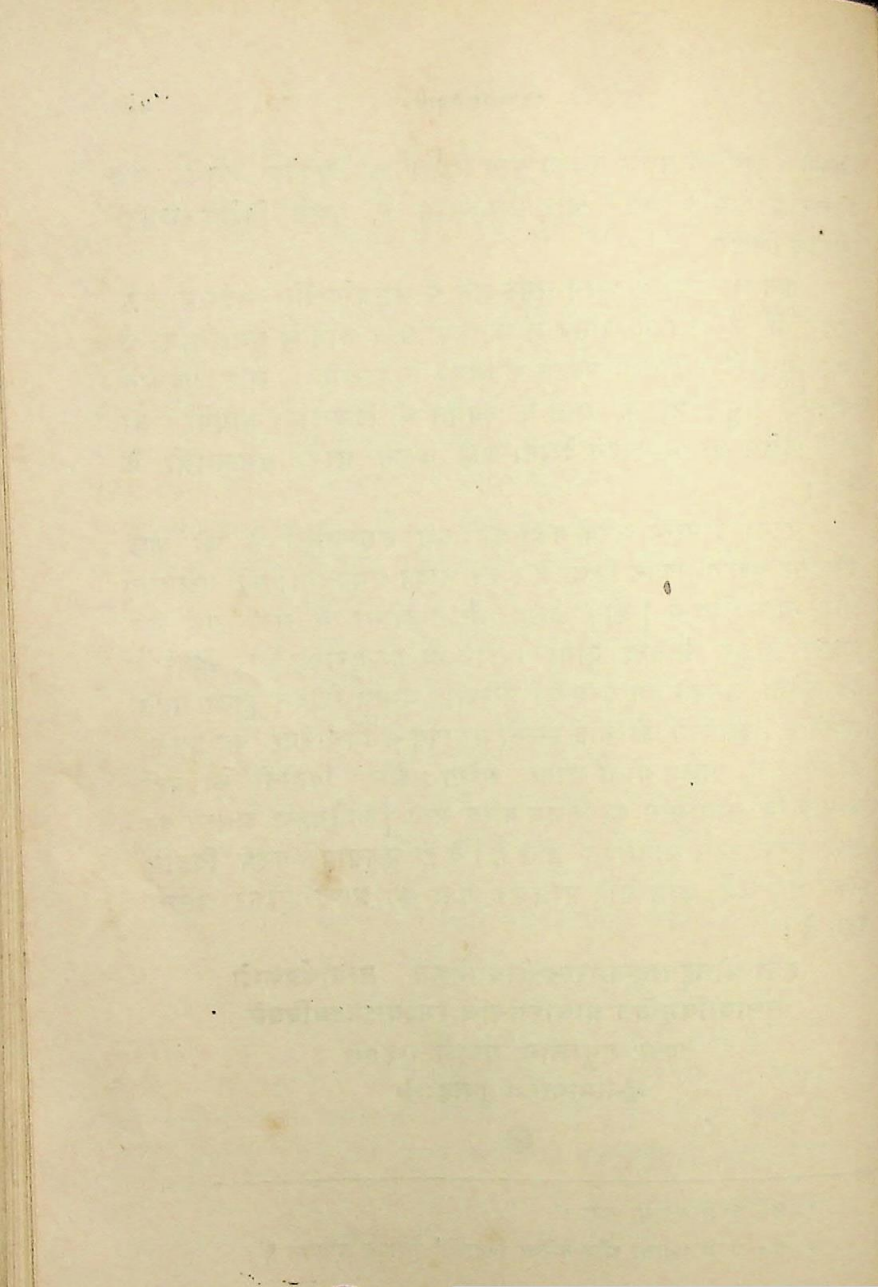
[उत्तरार्द्धस्य]

अनुभूमिका

यह सिद्ध बात है कि पांच सहस्र वर्षों के पूर्व वेदमत से भिन्न दूसरा कोई भी मत न था, क्योंकि वेदोक्त सब बातें विद्या से अविरुद्ध हैं। वेदों की अप्रवृत्ति होने का कारण महाभारत[1] युद्ध हुआ। इनकी अप्रवृत्ति से. अविद्याऽन्धकार के भूगोल में विस्तृत होने से मनुष्यों की बुद्धि भ्रमयुक्त होकर जिसके मन में जैसा आया वैसा मत चलाया। उन सब मतों में (४) चार मत, अर्थात् जो वेदविरुद्ध पुराणी जैनी किरानी और कुरानी सब मतों के मूल हैं। वे क्रम से एक के पीछे दूसरा तीसरा चौथा चला है। अब इन चारों की शाखा एक सहस्र से कम नहीं हैं। इन सब मतवादियों, इनके चेलों और अन्य सबको परस्पर सत्यासत्य के विचार करने में अधिक परिश्रम न हो, इसलिये यह ग्रन्थ बनाया है।

जो-जो इसमें सत्य मत का मण्डन और असत्य का खण्डन लिखा है, वह सबको जनाना[2] ही प्रयोजन समझा गया है। इसमें जैसी मेरी बुद्धि, जितनी विद्या, और जितना इन चारों मतों के मूल ग्रन्थ देखने से बोध हुआ है उसको सब के आगे निवेदित कर देना मैंने उत्तम समझा है। क्योंकि विज्ञान गुप्त[3] हुए का पुनर्मिलना सहज नहीं है। पक्षपात छोड़कर इसको देखने से सत्यासत्य मत सबको विदित हो जायगा। पश्चात् सबको अपनी-अपनी समझ के अनुसार सत्य मत का ग्रहण करना और असत्य मत का छोड़ना सहज होगा।

---

१. कौरव-पाण्डवों के युद्ध का मूल नाम 'भारत' है। भरता योद्धारोऽस्य संग्रामस्य-भारतः संग्रामः। द्र० अष्टा० ४।२।५६।। इस युद्ध की महत्ता के के कारण यह महाभारत नाम से लोक में प्रसिद्ध है।

२. वैयमु० के कुछ संस्करणों तथा स्वा० वेदा० संस्करण में 'जानना' अपपाठ है।

३. सम्भवतः इसका अर्थ है—'लुप्त हुए विज्ञान का'।

इनमें से जो पुराणादि ग्रन्थों से शाखा-शाखान्तररूप मत आर्यावर्त्त देश में चले हैं, उनका संक्षेप से गुण-दोष इस ११ वें समुल्लास में दिखाया जाता है। इस मेरे कर्म से यदि उपकार न मानें तो विरोध भी न करें। क्योंकि मेरा तात्पर्य किसी की हानि वा विरोध करने में नहीं, किन्तु सत्यासत्य का निर्णय करने कराने का [ही] है। इसी प्रकार सब मनुष्यों को न्यायदृष्टि से वर्त्तना अति उचित है। मनुष्य-जन्म का होना सत्यासत्य का निर्णय करने-कराने के लिये है, न कि वादविवाद विरोध करने-कराने के लिये। इसी मतमतान्तर के विवाद से जगत् में जो-जो अनिष्ट फल हुए, होते हैं और होंगे, उनको पक्षपातरहित विद्वज्जन जान सकते हैं।

जब तक इस मनुष्य जाति में परस्पर मिथ्या मतमतान्तर का विरुद्धवाद न छूटेगा, तब तक अन्योऽन्य को आनन्द न होगा। यदि हम सब मनुष्य और विशेष विद्वज्जन ईर्ष्या-द्वेष छोड़ सत्यासत्य का निर्णय करके सत्य का ग्रहण और असत्य का त्याग करना-कराना चाहें, तो हमारे लिये यह बात असाध्य नहीं है। यह निश्चय है कि इन विद्वानों के विरोध ही ने सबको विरोध जाल में फंसा रक्खा है। यदि ये लोग अपने प्रयोजन में न फंसकर सबके प्रयोजन को सिद्ध करना चाहें, तो अभी ऐक्यमत हो जायें। इसके होने की युक्ति इस ग्रन्थ की पूर्ति[1] में लिखेंगे। सर्वशक्तिमान् परमात्मा एक मत में प्रवृत्त होने का उत्साह सब मनुष्यों के आत्माओं में प्रकाशित करे।

अलमतिविस्तरेण विपश्चिद्वरशिरोमणिषु।

१. अर्थात् 'स्वमन्तव्यामन्तव्य-प्रकाश' नामक अन्तिम प्रकरण में।

उत्तरार्द्धः

अथैकादशसमुल्लासारम्भः

अथाऽऽर्य्यावर्त्तीयमतखण्डनमण्डने विधास्यामः ।

अब आर्य लोगों के, कि जो आर्य्यावर्त्त देश में बसनेवाले हैं, उनके मत का खण्डन तथा मण्डन का विधान करेंगे। यह आर्यावर्त्त देश ऐसा है, जिसके सदृश भूगोल में दूसरा कोई देश नहीं है। इसलिये इस भूमि का नाम सुवर्णभूमि है। क्योंकि यही सुवर्णादि रत्नों को उत्पन्न करती है। इसीलिये सृष्टि की आदि में आर्य लोग इसी देश में आकर बसे। इसलिये हम सृष्टि-विषय[1] में कह आये हैं कि **'आर्य'** नाम उत्तम पुरुषों का है, और आर्यों से भिन्न मनुष्यों का नाम 'दस्यु' है।

जितने भूगोल में देश हैं, वे सब इसी देश की प्रशंसा करते, और आशा रखते हैं कि 'पारसमणि' पत्थर सुना जाता है, वह बात तो झूठी है, परन्तु आर्यावर्त्त देश ही सच्चा पारसमणि है कि जिसको लोहेरूप दरिद्र विदेशी छूते के साथ ही सुवर्ण अर्थात् धनाढ्य हो जाते हैं।

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः ।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः ॥ मनु०[2]

सृष्टि से लेके पांच सहस्र वर्षों से पूर्व समय पर्यन्त आर्यों का सार्वभौम चक्रवर्त्ती अर्थात् भूगोल में सर्वोपरि एकमात्र राज्य था। अन्य देश में माण्डलिक अर्थात् छोटे-छोटे राजा रहते थे। क्योंकि कौरव पाण्डव पर्यन्त यहां के राज्य और राजशासन में सब भूगोल के

---

१. समु० ८ पूर्व पृष्ठ ३३२। २. मनु० २।२०॥ इस श्लोक का अर्थ आगे किया है। वस्तुतः इस श्लोक का निर्देश भी आगे ही होना उचित है।

राजा और प्रजा चले थे। क्योंकि यह मनुस्मृति जो सृष्टि की आदि में हुई है[1] उसका प्रमाण है—

[2]"इसी आर्यावर्त्त देश में उत्पन्न हुए ब्राह्मण अर्थात् विद्वानों से भूगोल के मनुष्य ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य शूद्र दस्यु म्लेच्छ आदि सब अपने-अपने योग्य विद्या चरित्रों की शिक्षा और विद्याभ्यास करें।'

और महाराज युधिष्ठिरजी के राजसूय यज्ञ और महाभारत युद्ध-पर्यन्त यहां के राज्याधीन सब राज्य थे। सुनो! चीन का भगदत्त, अमेरिका का बभ्रुवाहन, यूरोप देश का विडालाक्ष अर्थात् मार्जार के सदृश आंखवाले, यवन जिसको यूनान कह आये और ईरान का शल्य आदि सब राजा राजसूय यज्ञ और महाभारत युद्ध में सब आज्ञानुसार आये थे। जब रघुगण राजा थे, तब रावण भी यहां के आधीन था। जब रामचन्द्र के समय में विरुद्ध हो गया, तो उसको रामचन्द्र ने दण्ड देकर राज्य से नष्ट कर उसके भाई विभीषण को राज्य दिया था।[3]

स्वायंभुव[4] राजा से लेकर पाण्डव पर्यन्त आर्यों का चक्रवर्ती राज्य रहा। तत्पश्चात् आपस के विरोध से लड़कर नष्ट हो गये।

---

१. यह भारतीय इतिहास से सिद्ध तत्त्व है। मनु के पश्चात् इस मनुस्मृति का भृगु तथा नारद आदि ने पुनः प्रवचन किया। इसी लिये मनुस्मृति के अन्त में '**इति मानवे धर्मशास्त्रे भृगुप्रोक्तायां संहितायाम्** पाठ मिलता है। भृगु-प्रोक्त पाठ का भी उत्तर काल में पुनः प्रवचन हुआ। यह इस ग्रन्थ के अन्तःसाक्ष्य से विदित होता है। इन प्रवक्ताओं के नाम अज्ञात हैं। इस स्मृति में उत्तरकाल में कुछ प्रक्षेप भी हुए। नारद ने मनुस्मृति के केवल राजधर्म का ही प्रवचन किया। यह नारदीय मनुस्मृति भी इस समय उपलब्ध है। पाश्चात्य तथा तदनुयायी आधुनिक कतिपय भारतीय मनुस्मृति को विक्रम की ३-४ शती का बना हुआ मानते हैं। यह भारतीय वाङ्मय वा इतिहास से विरुद्ध है।

२. यहां से आगे ' ' संकेतित पाठ पूर्वोद्धृत मनुवचन का व्याख्यान है।

३. इक्ष्वाकु वंश में रघु, अज, दशरथ और राम अनुक्रम से हुए। रावण बहुत दीर्घजीवी था। अतः वह रघु से लेकर राम के काल तक जीवित रहा।

४. म० २ में 'स्वायम्भव' अपपाठ।

क्योंकि इस परमात्मा की सृष्टि में अभिमानी अन्यायकारी अविद्वान् लोगों का राज्य बहुत दिन नहीं चलता। और यह संसार की स्वाभाविक प्रवृत्ति है कि जब बहुत सा धन असंख्य प्रयोजन से अधिक होता है, तब आलस्य पुरुषार्थरहितता ईर्ष्या द्वेष विषयासक्ति और प्रमाद बढ़ता है।[1] इससे देश में विद्या सुशिक्षा नष्ट होकर दुर्गुण और दुष्ट व्यसन बढ़ जाते हैं। जैसे कि मद्यमांस सेवन, बाल्यावस्था में विवाह, और स्वेच्छाचारादि दोष बढ़ जाते हैं।

और जब युद्ध-विभाग में युद्धविद्याकौशल और सेना इतनी बढ़ें कि जिसका सामना करनेवाला भूगोल में दूसरा न हो, तब उन लोगों में पक्षपात, अभिमान बढ़कर अन्याय बढ़ जाता है। जब ये दोष हो जाते हैं, तब आपस में विरोध होकर अथवा उनसे अधिक दूसरे छोटे कुलों[2] में से ऐसा कोई समर्थ पुरुष खड़ा होता है कि उनका पराजय करने में समर्थ होवे। जैसे मुसलमानों की बादशाही के सामने शिवाजी गोविन्दसिंहजी ने खड़े होकर मुसलमानों के राज्य को छिन्न-भिन्न कर दिया।

अथ किमेतैर्वा परेऽन्ये महाधनुर्धराश्चक्रवर्तिनः केचित् सुद्युम्नभूरिद्युम्नेन्द्रद्युम्नकुवलयाश्वयौवनाश्ववद्ध्र्यश्वाश्वपतिशशबिन्दुहरिश्चन्द्राऽम्बरीषननक्तुशर्यातियत्यनरण्याक्षसेनादयः। अथ मरुत्तभरतप्रभृत्यो राजानः। मैत्र्युपनि०[3]

इत्यादि प्रमाणों से सिद्ध है कि सृष्टि से लेकर महाभारतपर्यन्त चक्रवर्त्ती सार्वभौम राजा आर्य्यकुल में ही हुए थे। अब इनके सन्तानों का अभाग्योदय होने से राजभ्रष्ट होकर विदेशियों के पादाक्रान्त हो

---

१. 'लोभात् परिग्रहम्, परिग्रहाद् गौरवम्, गौरवाद् आलस्यम्, आलस्यात् तेजोऽन्तर्दधे'। पाराशरीय ज्योतिष संहिता, भट्ट उत्पल कृत बृहत्संहिता-टीका में उद्धृत वचन। तुलना करो—चरक विमान० अ० ३।

२. 'छोटे कुलों' का अभिप्राय 'अल्पसामर्थ्यवान् कुलों से है', नीच कुलों से नहीं, यह इस वाक्य को ध्यान से पढ़ने पर स्पष्ट हो जाता है।

३. मैत्रायण्युप० १।४।। स० प्र० संस्करण २ में 'सर्याति' अपपाठ।

रहे हैं। जैसे यहां सुद्युम्न, भूरिद्युम्न, इन्द्रद्युम्न, कुवलयाश्व, यौवनाश्व, [वद्ध्र्यश्व,] अश्वपति, शशबिन्दु, हरिश्चन्द्र, अम्बरीष, ननक्तु[1] शर्याति[2], ययाति, अनरण्य, अक्षसेन, मरुत्त और भरत सार्वभौम सब भूमि में प्रसिद्ध चक्रवर्त्ती राजाओं के नाम लिखे हैं वैसे स्वायम्भुवादि[3] चक्रवर्त्ती राजाओं के नाम स्पष्ट मनुस्मृति महाभारतादि ग्रन्थों में लिखे हैं। इसको मिथ्या कहना[4] अज्ञानी और पक्षपातियों का काम है।

प्रश्न—जो अग्नेयास्त्र आदि विद्या लिखी हैं, वे सत्य हैं वा नहीं? और तोप तथा बन्दूक तो उस समय में थीं वा नहीं ?

उत्तर—यह बात सच्ची है, ये शस्त्र भी थे। क्योंकि पदार्थ-विद्या से इन सब बातों का सम्भव है।

प्रश्न—क्या ये देवताओं के मन्त्रों से सिद्ध होते थे ?

उत्तर—नहीं। ये सब बातें जिससे अस्त्र-शस्त्रों को सिद्ध करते थे, वे 'मन्त्र' अर्थात् विचार से सिद्ध करते और चलाते थे। और जो मन्त्र अर्थात् शब्दमय होता है, उससे कोई द्रव्य उत्पन्न नहीं होता। और जो कोई कहै कि मन्त्र से अग्नि उत्पन्न होता है, तो वह मन्त्र के जप करनेवाले के हृदय और जिह्वा को भस्म कर देवे। मारने जाय शत्रु को और मर रहै आप। इसलिए 'मन्त्र' नाम है विचार का। जैसा 'राजमन्त्री' अर्थात् राजकर्मों का विचार करनेवाला कहाता है, वैसा मन्त्र अर्थात् विचार से सब सृष्टि के पदार्थों का प्रथम ज्ञान और पश्चात् क्रिया करने से अनेक प्रकार के पदार्थ और क्रियाकौशल उत्पन्न होते हैं।

जैसे कोई एक लोहे के बाण वा गोला बनाकर उसमें ऐसे पदार्थ रक्खे कि जो अग्नि के लगाने से वायु में धुआं फैलने और सूर्य की

---

१. स० २ में 'ननक्त' अपपाठ।

२. सं २ में 'सर्याति' अपपाठ। ३. सं० २ में 'स्वायम्भवादि' अपपाठ।

४. वैयमुद्रित संस्करणों में 'करना' पाठ है। इस पाठ में 'सिद्ध' पद बढ़ाना अर्थात् '[सिद्ध] करना' पाठ उचित होगा।

किरण वा वायु के स्पर्श होने से अग्नि जल उठे, इसी का नाम '**आग्नेयास्त्र**' है। जब दूसरा इसका निवारण करना चाहे तो उसी पर 'वारुणास्त्र' छोड़ दे, अर्थात् जैसे शत्रु ने शत्रु की सेना पर आग्नेयास्त्र छोड़ कर नष्ट करना चाहा, वैसे ही अपनी सेना की रक्षार्थ सेनापति वारुणास्त्र से आग्नेयास्त्र का निवारण करे। वह ऐसे द्रव्यों के योग से होता है, जिसका धुआं वायु के स्पर्श होते ही बद्दल होके झट वर्षने लग जावे, अग्नि को बुझा देवे।

ऐसे ही 'नागफास' अर्थात् जो शत्रु पर छोड़ने से उसके अङ्गों को जकड़के बांध लेता है। वैसे ही एक 'मोहनास्त्र' अर्थात् जिसमें नशे की को चीज डालने से जिसके धुएं के लगने से सब शत्रु की सेना निद्रास्थ अर्थात् मूच्छित हो जाय। इसी प्रकार सब शस्त्रास्त्र होते थे। और एक तार से वा शीसे से अथवा किसी और पदार्थ से विद्युत् उत्पन्न करके शत्रुओं का नाश करते थे, उसको भी 'आग्नेयास्त्र' तथा पाशुपतास्त्र' कहते हैं।

'तोप और बन्दूक' ये नाम अन्य देश भाषा के हैं, संस्कृत और आर्य्यावर्त्तीय भाषा के नहीं। किन्तु जिसको विदेशी जन तोप कहते हैं, संस्कृत और भाषा में उसका नाम 'शतघ्नी', और जिसको बन्दूक कहते हैं उसको संस्कृत और आर्यभाषा में 'भुशुण्डी' कहते हैं[1]। जो संस्कृत विद्या को नहीं पढ़े, वे भ्रम में पड़कर कुछ का कुछ लिखते और कुछ का कुछ बकते हैं। उसका बुद्धिमान् लोग प्रमाण नहीं कर सकते। **और जितनी विद्या भूगोल में फैली है, वह सब आर्य्यावर्त्त देश से मिश्र वालों[2], उनसे यूनानी, उनसे रूम और उनसे यूरोपदेश में, उनसे अमेरिका आदि देशों में फैली है।**

---

१. रामायण महाभारत आदि में ये नाम बहुधा प्रयुक्त हैं। शुक्रनीतिसार अ० ४, श्लोक २००,१९८ में शतघ्नी (तोप) के लिये 'बृहन्नालिक' भुशुण्डी (बन्दूक) के लिये 'लघुनालिक' का प्रयोग मिलता है। इसी प्रकरण में गोले, गोलियां और बारूद (अग्निचूर्ण) बनाने का भी उल्लेख है। द्र० अ० ४ श्लोक २०१—२११॥

२. यहूदियों का मूल उपदेष्टा मिश्र से सारी विद्या अन्यत्र ले गया। भ० द०

अब तक जितना प्रचार संस्कृत विद्या का आर्य्यावर्त्त देश में है, उतना किसी अन्य देश में नहीं। जो लोग कहते हैं कि जर्मनी देश में संस्कृत विद्या का बहुत प्रचार है, और जितना संस्कृत मोक्षमूलर साहब पढ़े हैं उतना कोई नहीं पढ़ा, यह बात कहने मात्र की है। क्योंकि '**यस्मिन् देशे द्रुमो नास्ति तत्रैरण्डोऽपि द्रुमायते**' अर्थात् जिस देश में कोई वृक्ष नहीं होता उस देश में एरण्ड ही को बड़ा वृक्ष मान लेते हैं। वैसे ही यूरोप देश में संस्कृत विद्या का प्रचार न होने से जर्मन लोगों और मोक्षमूलर साहब ने थोड़ा सा पढ़ा, वही उस देश के लिए अधिक है। परन्तु आर्यावर्त्त देश की ओर देखें, तो उनकी बहुत न्यून गणना है। क्योंकि मैंने जर्मनी देश निवासी[1] एक 'प्रिन्सिपल' के पत्र से जाना कि जर्मनी देश में संस्कृत चिट्ठी का अर्थ करनेवाले भी बहुत कम हैं।

और मोक्षमूलर साहब के संस्कृत साहित्य[2] और थोड़ी सी वेद की व्याख्या देखकर मुझको विदित होता है कि मोक्षमूलर साहब ने इधर-उधर आर्यावर्त्तीय लोगों की की हुई टीका देखकर कुछ-कुछ यथा-तथा लिखा है। जैसा कि—

> **'युञ्जन्ति ब्रध्नमरुषं चरन्तं परितस्तुषः।**
> **रोचन्ते रोचना दिवि'** ॥[3]

इस मन्त्र [में ब्रध्न] का अर्थ घोड़ा किया है। इससे तो जो सायणाचार्य्य ने सूर्य अर्थ किया है। सो अच्छा है[4]। परन्तु इसका ठीक अर्थ परमात्मा है। सो मेरी बनाई '**ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका**' में देख लीजिये, उसमें इस मन्त्र का अर्थ यथार्थ किया है[5]। इतने से जान

---

१. सं० २ में 'निवासी के' पाठ है। यहां 'के' अनावश्यक है।

२. यह संकेत सम्भवतः मैक्समूलर के 'हिस्ट्री आफ इनशेण्ट संस्कृत लिटरेचर' (=प्राचीन संस्कृत साहित्य का इतिहास) ग्रन्थ की ओर है।

३. ऋ० १।६।१॥ ४. एकांश में=आधिदैविक प्रक्रिया में (द्र० ऋभाभू०, पृष्ठ १८५, रामलाल कपूर ट्रस्ट सं०)।

५. ऋभाभू० पृष्ठ १८६, रामलाल कपूर ट्रस्ट सं०।

लीजिये कि जर्मनी देश और मोक्षमूलर साहब में संस्कृत विद्या का कितना पाण्डित्य है।

यह निश्चय है कि जितनी विद्या और मत भूगोल में फैले हैं, वे सब आर्यावर्त्त देश ही से प्रचरित हुए हैं। देखो, कि एक 'गोल्डस्टकर'[1] साहब पैरस[2] अर्थात् फ्रांस देश निवासी अपनी 'बायबिल इन इण्डिया'[3] में लिखते हैं, कि सब विद्या और भलाइयों का भण्डार आर्यावर्त्त देश है। और सब विद्या तथा मत इसी देश से फैले हैं'। और परमात्मा से प्रार्थना करते हैं कि—'हे परमेश्वर! जैसी उन्नति आर्यावर्त्त देश की पूर्व काल में थी, वैसी ही हमारे देश की कीजिये!' लिखते हैं, उस ग्रन्थ में देख लो।

तथा 'दाराशिकोह' बादशाह ने भी यही निश्चय किया था कि जैसी पूरी विद्या संस्कृत में है, वैसी किसी भाषा में नहीं। वे ऐसा उपनिषदों के भाषान्तर[4] में लिखते हैं कि—'मैंने अर्बी आदि बहुत सी भाषा पढ़ी, परन्तु मेरे मन का सन्देह छूटकर आनन्द न हुआ। जब संस्कृत देखा और सुना, तब निःसन्देह होकर मुझको बड़ा आनन्द हुआ है।'

देखो, काशी के 'मानमन्दिर' में 'शिशुमारचक्र' को, कि जिसकी पूरी रक्षा भी नहीं रही है, तो भी कितना उत्तम है कि जिसमें अब तक भी खगोल का बहुत-सा वृत्तान्त विदित होता है। जो 'सवाई जयपुराधीश' उसकी संभाल और फूटे-टूटे को बनवाया करेंगे, तो बहुत अच्छा होगा।[5]

---

१. यहां लेखक का नाम 'जैकालिअट' होना चाहिये।

२. सं० २ में 'पारस' अपपाठ है।

३. मूल ग्रन्थ का फ्रेंच भाषा में नाम है—'ला बाईबिल डन्स लाइण्डे', प्रकाशन सन् १८६९। भ० द०

४. दाराशिकोह के भाषान्तर का फारसी नाम है—'सिर्रे अकबर', अर्थात् 'बड़ा रहस्य'। भ० द०

५. जयपुराधीश सवाई मानसिंह ने वाराणसी, उज्जैन, देहली और जयपुर में ज्योतिषशास्त्रोपयोगी मान-मन्दिर बनवाये थे।

परन्तु ऐसे शिरोमणि देश को महाभारत के युद्ध ने ऐसा धक्का दिया कि अब तक भी यह अपनी पूर्व दशा[1] में नहीं आया। क्योंकि जब भाई को भाई मारने लगे, तो नाश होने में क्या सन्देह—

विनाशकाले विपरीतबुद्धिः।।[2] यह किसी कवि का वचन है।

जब नाश होने का समय निकट आता है, तब उलटी बुद्धि होकर उलटे काम करते हैं। कोई उनको सूधा समझावे तो उलटा मानें, और उलटा समझावे उसको सूधी मानें।

जब बड़े-बड़े विद्वान्[3] राजा-महाराजा[4] ऋषि-महर्षि लोग महाभारत युद्ध में बहुत से मारे गये और बहुत से मर गये, तब विद्या और वेदोक्त धर्म का प्रचार नष्ट हो चला। ईर्ष्या, द्वेष, अभिमान आपस में करने लगे। जो बलवान् हुआ वह देश को दाबकर राजा बन बैठा। वैसे ही सर्वत्र आर्यावर्त्त देश में खण्ड-बण्ड[5] राज्य हो गया, पुनः द्वीप-द्वीपान्तर के राज्य की व्यवस्था कौन करे?

जब ब्राह्मण लोग विद्याहीन हुए तब क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रों के अविद्वान् होने में तो कथा ही क्या कहनी? जो परम्परा से वेदादि शास्त्रों का अर्थसहित पढ़ने का प्रचार था, वह भी छूट गया[6]। केवल जीविकार्थ पाठमात्र ब्राह्मण लोग पढ़ते रहे। सो पाठमात्र भी क्षत्रिय[7] आदि को न पढ़ाया। क्योंकि जब अविद्वान् हुए गुरु बन गये, तब

---

१. किन्हीं संस्करणों में 'दिशा' अपपाठ है। २. चाणक्यनीति १६।५।।

३. द्रोण को भारद्वाज कहा है। वह अर्थशास्त्र और कल्पसूत्र का रचयिता था, भीष्म अर्थात् कौणपदन्त भी वेदपारंग विद्वान् था। भ० द०

४. कृपाचार्य अर्थात् गौतम, ऋषि कुल का था। भ०द०

५. अर्थात् 'टुकड़े टुकड़े'। कई संपादकों ने खण्ड-खण्ड पाठ बनाया है, वह ग्रन्थकार के प्रयोग के विपरीत है। द्र० आगे 'रजस्वला पुष्करं तीर्थं' से पूर्व तथा समु० १३, के ६४वें उद्धरण की समीक्षा।

६. सतयुग से लेकर महाभारत काल तक वेदार्थ की परम्परा सजीव थी। यूरोपीय लोगों का यह कहना कि 'यास्क के काल में भारतीय विद्वान् वेदार्थ में सन्देह करने लग पड़े थे', इतिहास-विरुद्ध हैं। भ० द०

७. सं० २ में 'क्षत्री' पाठ है।

छल-कपट अधर्म भी उनमें बढ़ता चला। ब्राह्मणों ने विचारा कि अपनी जीविका का प्रबन्ध बांधना चाहिये। सम्मति करके यही निश्चय कर क्षत्रिय आदि को उपदेश करने लगे कि हम ही तुम्हारे पूज्यदेव हैं। विना हमारी सेवा किये तुमको स्वर्ग वा मुक्ति न मिलेगी। किन्तु जो तुम हमारी सेवा न करोगे, तो घोर नरक में पड़ोगे।

जो-जो पूर्ण विद्यावाले धार्मिकों का नाम 'ब्राह्मण' और पूजनीय वेद और ऋषि मुनियों के शास्त्र में लिखा था, उनको अपने मूर्ख, विषयी, कपटी, लम्पट, अधर्मियों पर घटा बैठे। भला वे आप्त विद्वानों के लक्षण इन मूर्खों में कब घट सकते हैं? परन्तु जब क्षत्रियादि यजमान संस्कृत विद्या से अत्यन्त रहित हुए, तब उनके सामने जो-जो गप्प मारी सो-सो विचारों ने सब मान ली। तब इन नाममात्र ब्राह्मणों की बन पड़ी। सबको अपने जाल में बांधकर वशीभूत कर लिया[1] और कहने लगे कि—'ब्रह्मवाक्यं जनार्दनः'[2] अर्थात् जो कुछ ब्राह्मणों के मुख में से वचन निकलता है वह जानो साक्षात् भगवान् के मुख से निकला।

जब क्षत्रियादि वर्ण आंख के अंधे और गांठ के पूरे, अर्थात् भीतर विद्या की आंख फूटी हुई और जिनके पास धन पुष्कल है, ऐसे-ऐसे चेले मिले, फिर इन व्यर्थ ब्राह्मण नाम वालों को विषयानन्द का उपवन मिल गया। यह भी उन लोगों ने प्रसिद्ध किया कि जो कुछ पृथिवी में उत्तम पदार्थ हैं, वे सब ब्राह्मणों के लिये हैं[3]। अर्थात् जो गुण, कर्म, स्वभाव से ब्राह्मणादि वर्णव्यवस्था थी उसको नष्ट कर जन्म पर रक्खी। और मृतकपर्यन्त का भी दान यजमानों से लेने लगे।

जैसी अपनी इच्छा हुई वैसा करते चले। यहां तक किया कि 'हम भूदेव हैं' हमारी सेवा के विना देवलोक किसी को नहीं मिल सकता। इनसे पूछना चाहिये कि तुम किस लोक में पधारोगे?

---

१. सं० २ में 'लिये' पाठ है २. सं० ४—१४ तक 'पाण्डव गीता' पाठ मिलता है। ३. द्र० मनु० १।१००॥

तुम्हारे काम तो घोर नरक भोगने के हैं, कृमि कीट पतङ्गादि बनोगे। तब तो बड़े क्रोधित होकर कहते हैं—हम 'शाप' देंगे, तो तुम्हारा नाश हो जायेगा। क्योंकि लिखा है—'ब्रह्मद्रोही विनश्यति' कि जो ब्राह्मणों से द्रोह करता है उसका नाश हो जाता है। हां, यह बात तो सच्ची है कि जो कोई[1] पूर्ण वेद और परमात्मा को जाननेवाले धर्मात्मा सब जगत् के उपकारक पुरुषों से द्वेष करेगा, वह अवश्य नष्ट होगा। परन्तु जो ब्राह्मण नहीं हों, उनका न ब्राह्मण नाम और न उनकी सेवा करनी योग्य है।

प्रश्न—तो हम कौन हैं?

उत्तर—तुम पोप हो।

प्रश्न—पोप किसको कहते हैं?

उत्तर—इसकी सूचना रूमन् भाषा में तो बड़ा और पिता का नाम पोप है, परन्तु अब छल कपट से दूसरे को ठगकर अपना प्रयोजन साधनेवाले को 'पोप' कहते हैं।

प्रश्न—हम तो ब्राह्मण और साधु हैं। क्योंकि हमारा पिता ब्राह्मण और माता ब्राह्मणी तथा हम अमुक साधु के चेले हैं।

उत्तर—यह सत्य है। परन्तु सुनो भाई! मां बाप ब्राह्मणी[2] ब्राह्मण होने से और किसी साधु के शिष्य होने पर ब्राह्मण व साधु नहीं हो सकते, किन्तु ब्राह्मण और साधु अपने उत्तम गुण-कर्म-स्वभाव से होते हैं, जो कि परोपकारी हो।

सुना है कि जैसे रूम के 'पोप' अपने चेलों को कहते थे कि तुम अपने पाप हमारे सामने कहोगे तो हम क्षमा कर देंगे। विना हमारी

---

१. सं० २ में 'जो पूर्ण वेद ······पुरुषों से जो कोई द्वेष करेगा' पाठ है। इसमें 'जो' पद पुनरुक्त है। अन्य संस्करणों में अन्य प्रकार के पाठ हैं। हमने वाक्य विन्यास की दृष्टि से पुनरुक्त 'जो' पद हटाकर 'कोई' शब्द को आरम्भ में रख दिया है।

२. वैयमु० अनेक संस्करणों में 'ब्राह्मण ब्राह्मणी' क्रम विपरीत पाठ है। माँ बाप के साथ 'ब्राह्मणी ब्राह्मण' पाठ ही युक्त है। ह० ले० वा सं० २ में भी यही पाठ है।

सेवा और आज्ञा के कोई भी स्वर्ग में नहीं जा सकता। जो तुम स्वर्ग में जाना चाहो तो हमारे पास जितने रुपये जमा करोगे, उतने ही की सामग्री तुमको स्वर्ग में मिलेगी। ऐसा सुनकर जब कोई आंख के अंधे और गांठ के पूरे स्वर्ग में जाने की इच्छा करके 'पोपजी' को यथेष्ट रुपया देता था, तब वह 'पोपजी' ईसा और मरियम की मूर्त्ति के सामने खड़ा होकर इस प्रकार की हुंडी लिखकर देता था—

'हे खुदावन्द ईसामसी! अमुक मनुष्य ने तेरे नाम पर लाख रुपये स्वर्ग में आने के लिये हमारे पास जमा कर दिये हैं। जब वह स्वर्ग में आवे, तब तू अपने पिता के स्वर्ग के राज्य में पच्चीस सहस्र रुपयों में बाग बगीचा और मकानात, पच्चीस सहस्र में सवारी शिकारी और नौकर चाकर, पच्चीस सहस्र रुपयों में खाना पीना कपड़ा-लता और पच्चीस सहस्र रुपये इसके इष्ट मित्र भाई बन्धु आदि के जियाफत के वास्ते दिला देना।'

फिर उस हुंडी के नीचे पोप जी अपनी सही करके हुण्डी उसके हाथ में देकर कह देते थे कि—'जब तू मरे तब हुंडी को कबर में अपने सिराने धर लेने के लिये अपने कुटुम्ब को कह रखना। फिर तुझे ले जाने के लिए फरिश्ते आवेंगे। तब तुझे और तेरी हुण्डी को स्वर्ग में ले जाकर लिखे प्रमाणे सब चीजें तुमको दिला देंगे।'

अब देखिये जानो स्वर्ग का ठेका पोप जी ने ले लिया हो? जब तक यूरोप देश में मूर्खता थी तभी तक वहां पोपजी की लीला चलती थी। परन्तु अब विद्या के होने से पोपजी की झूठी लीला बहुत नहीं चलती, किन्तु निर्मूल भी नहीं हुई।

वैसे ही आर्यावर्त्त देश में भी जानो पोपजी ने लाखों[1] अवतार लेकर लीला फैलाई हो। अर्थात् राजा और प्रजा को विद्या न पढ़ने देना, अच्छे पुरुषों का संग न होने देना, रात दिन बहकाने के सिवाय

---

१. यहां भी पूर्व पृष्ठ ३४० के समान हस्तलेख के 'लाखह' को समर्थदान ने सं० २ में 'लाख' बना दिया। बहुवचन 'लाखह' का भाषापाठ 'लाखों' होना चाहिये।

दूसरा कुछ भी काम नहीं करना है। परन्तु यह बात ध्यान में रखना कि जो-जो छलकपटादि कुत्सित व्यवहार करते हैं, वे ही 'पोप' कहाते हैं। जो कोई उनमें भी धार्मिक विद्वान् परोपकारी हैं वे सच्चे ब्राह्मण और साधु हैं।

अब उन्हीं छली कपटी स्वार्थी लोगों (=मनुष्यों को ठगकर अपना प्रयोजन सिद्ध करने वालों) ही का ग्रहण 'पोप' शब्द से करना। और ब्राह्मण तथा साधु नाम से उत्तम पुरुषों का स्वीकार करना योग्य है। देखो ! जो कोई भी उत्तम ब्राह्मण वा साधु[1] न होता, तो वेदादि सत्यशास्त्रों के पुस्तक स्वरसहित का पठनपाठन, जैन, मुसलमान, ईसाई आदि के जाल से बचकर आर्यों को वेदादि सत्यशास्त्रों में प्रीतियुक्त वर्णाश्रमों में रखना, ऐसा कौन कर सकता सिवाय ब्राह्मण साधुओं के ? **'विषादप्यमृतं ग्राह्यम्'** मनु०[2] विष से भी अमृत के ग्रहण करने के समान पोपलीला से बहकाने में से भी आर्यों का जैन आदि मतों से बच रहना जानो विष में अमृत के समान गुण समझना चाहिये।

जब यजमान विद्याहीन हुए, और आप कुछ पाठ पूजा पढ़कर अभिमान में आके सब लोगों ने परस्पर सम्मति करके राजा आदि से कहा कि—'ब्राह्मण और साधु अदण्डय हैं'। देखो ! **'ब्राह्मणो न हन्तव्यः'**[3] **साधुर्न हन्तव्यः'** ऐसे-ऐसे वचन जो कि सच्चे ब्राह्मण और साधुओं के विषय में थे, सो पोपों ने अपने पर घटा लिये। और भी झूठे-झूठे वचन-युक्त ग्रन्थ रचकर उनमें ऋषि-मुनियों के नाम धरके उन्हीं के नाम से सुनाते रहे। उन प्रतिष्ठित ऋषि-महर्षियों के नाम से अपने पर से दण्ड की व्यवस्था उठवा दी। पुनः यथेष्टाचार करने लगे। अर्थात् ऐसे कड़े[4] नियम चलाये कि उन पोपों की आज्ञा के विना सोना, उठना, बैठना, जाना आना, खाना, पीना आदि भी नहीं कर सकते थे।

---

१. सं० २, ३ में 'साधू' अपपाठ।
२. मनु० २।२३९॥
३. द्र० महाभाष्य १।२।६४॥
४. अर्थात् कड़े 'सख्त'।

राजाओं को ऐसा निश्चय कराया कि पोपसंज्ञक, कहने मात्र के ब्राह्मण साधु चाहे सो करें, उनको कभी दण्ड न देना, अर्थात् उन पर मन में [भी] दण्ड देने की इच्छा न करनी चाहिये। जब ऐसी मूर्खता हुई, तब जैसी पोपों की इच्छा हुई वैसा करने लगे। अर्थात् इस बिगाड़ के मूल महाभारत युद्ध से पूर्व एक सहस्र वर्ष से प्रवृत्त हुए थे। क्योंकि उस समय में ऋषि-मुनि भी थे, तथापि कुछ-कुछ आलस्य प्रमाद ईर्ष्या-द्वेष के अंकुर उगे थे। वे बढ़ते-बढ़ते वृद्ध[1] हो गये।

जब सच्चा उपदेश न रहा, तब आर्यावर्त्त में अविद्या फैलकर आपस में[2] लड़ने-झगड़ने लगे। क्योंकि—

उपदेश्योपदेष्टृत्वात् तत्सिद्धिः ।
इतरथान्धपरम्परा । सांख्य सू०[3]

अर्थात् जब उत्तम-उत्तम उपदेशक होते हैं, तब अच्छे प्रकार धर्म अर्थ काम और मोक्ष सिद्ध होते हैं। और जब उत्तम उपदेशक और श्रोता नहीं रहते, तब अन्धपरम्परा चलती है। फिर भी जब सत्पुरुष उत्पन्न होकर सत्योपदेश करते हैं, तभी अन्धपरम्परा नष्ट होकर प्रकाश की परम्परा चलती है।

पुनः वे पोप लोग अपनी और अपने चरणों की पूजा कराने [लगे] और कहने लगे कि इसी में तुम्हारा कल्याण है। जब ये लोग इनके वश में हो गये, तब प्रमाद और विषयासक्ति में निमग्न होकर गडरिये के समान झूंठे गुरु और चेले फसे। विद्या-बल-बुद्धि-पराक्रम-शूरवीरतादि शुभ गुण सब नष्ट होते चले। पश्चात् जब विषयासक्त हुए तो मांस मद्य का सेवन गुप्त-गुप्त करने लगे।

पश्चात् उन्हीं में से एक ने 'वाममार्ग' खड़ा किया। 'शिव उवाच' 'पार्वत्युवाच' 'भैरव उवाच' इत्यादि नाम लिखकर उनका तन्त्र नाम धरा। उनमें ऐसी-ऐसी विचित्र लीला की बातें लिखी हैं कि—

---

१. वृद्ध हो गये=बढ़ गये। २. सं० ३—३२ तक 'परस्पर'।
३. सांख्य द० ३।७९,८१॥

मद्यं मांसं च मीनं च मुद्रा मैथुनमेव च ।
एते पञ्च मकाराः स्युर्मोक्षदा हि युगे-युगे ॥१॥[1]
प्रवृत्ते भैरवीचक्रे सर्वे वर्णा द्विजातयः ।
निवृत्ते भैरवीचक्रे सर्वे वर्णाः पृथक् पृथक् ॥२॥[2]
पीत्वा पीत्वा पुनः पीत्वा यावत्पतति भूतले ।
पुनरुत्थाय वै पीत्वा पुनर्जन्म न विद्यते ॥३॥[3]
मातृयोनिं परित्यज्य विहरेत् सर्वयोनिषु ॥४॥[4]
वेदशास्त्रपुराणानि सामान्यगणिका इव ।
एकैव शाम्भवी मुद्रा गुप्ता कुलवधूरिव ॥५॥[2]

अर्थात् देखो इन गवर्गण्ड पोपों की लीला जो कि वेद-विरुद्ध महा अधर्म के काम हैं, उन्हीं को श्रेष्ठ वाममार्गियों ने माना। मद्य, मांस, मीन अर्थात् मच्छी, मुद्रा[5] पूरी कचौरी और बड़े, रोटी आदि चर्वण, योनि पात्राधार मुद्रा, और पांचवां मैथुन अर्थात् पुरुष सब शिव और स्त्री सब पार्वती के समान मानकर—

अहं भैरवस्त्वं भैरवी ह्यावयोरस्तु संगमः ॥

चाहे कोई पुरुष वा स्त्री हो इस ऊटपटांग वचन को पढ़के समागम करने में वे वाममार्गी दोष नहीं मानते। अर्थात् जिन नीच स्त्रियों को छूना[6] नहीं उन को अतिपवित्र उन्होंने माना है। जैसे शास्त्रों में रजस्वला आदि स्त्रियों के स्पर्श का निषेध है, उनको वाममार्गियों ने अतिपवित्र माना है। सुनो इनका श्लोक खण्डबण्ड—

रजस्वला पुष्करं तीर्थं चाण्डाली तु स्वयं काशी ।
चर्मकारी प्रयागः स्याद्रजकी मथुरा मता ।
अयोध्या पुक्कसी प्रोक्ता ॥[7] इत्यादि ।

---

१. कालीतन्त्रादि में ।　　२. कुलार्णव तन्त्र ८।९६, वेदा० ।
३. कुलार्णव तन्त्र ७।१००, वेदा० ।　　४. ज्ञानसंकलनी तन्त्र ।
५. यहां 'मुद्रा' पाठ सन्दिग्ध है वाक्यान्त में पुनः पठित होने से ।
६. 'छूना भी उचित नहीं' पाठ युक्त भासित होता है ।
७. रुद्रयामल तन्त्र ।

रजस्वला के साथ समागम करने से जानो पुष्कर का स्नान, चाण्डाली से समागम में काशी की यात्रा, चमारी से समागम करने से मानो प्रयागस्नान, धोबी की स्त्री के साथ समागम करने में मथुरा यात्रा और कंजरी के साथ लीला करने से मानो अयोध्या तीर्थ कर आये।

मद्य का नाम धरा 'तीर्थ', मांस का नाम 'शुद्धि' और 'पुष्प', मच्छी का नाम 'तृतीया' 'जलतुम्बिका' मुद्रा का नाम 'चतुर्थी, और मैथुन का नाम 'पञ्चमी'। इ लिये ऐसे-ऐसे नाम धरे हैं कि जिससे दूसरा न समझ सके। अपने कौल, आर्द्रवीर, शाम्भव और गण आदि नाम रक्खे। और जो वाममार्ग मत में नहीं हैं, उनका 'कण्टक' 'विमुख' 'शुष्कपशु' आदि नाम धरे हैं॥[१॥]

और कहते हैं कि जब भैरवीचक्र हो तब उसमें ब्राह्मण से लेकर चाण्डाल पर्यन्त का नाम द्विज हो जाता है। और जब भैरवीचक्र से अलग हों तब सब अपने-अपने वर्णस्थ हो जायें॥[२॥]

भैरवीचक्र में वाममार्गी लोग भूमि वा पट्टे पर एक बिन्दु त्रिकोण चतुष्कोण वर्त्तुलाकार बनाकर उस पर मद्य का घड़ा रखके उसको पूजा करते हैं। फिर ऐसा मन्त्र पढ़ते हैं—'**ब्रह्मशापं विमोचय**' हे मद्य! तू ब्रह्मा आदि के शाप से रहित हो।

एक गुप्त स्थान में कि जहां सिवाय वाममार्गी के दूसरे को नहीं आने देते, वहां स्त्री और पुरुष इकट्ठे होते हैं। वहां एक स्त्री को नङ्गी कर पूजते और स्त्री लोग किसी पुरुष को नङ्गा कर पूजती हैं। पुनः कोई किसी की स्त्री कोई अपनी वा दूसरे की कन्या, कोई किसी की वा अपनी माता भगिनी पुत्रवधू आदि आती है। पश्चात् एक पात्र में मद्यभर के मांस और बड़े आदि एक थाली में धर रखते हैं। उस मद्य के प्याले को जो कि उनका आचार्य होता है वह हाथ में लेकर बोलता है कि—'भैरवोऽहम् शिवोऽहम्' 'मैं भैरव वा शिव हूं' कहकर पी जाता है। फिर उसी जूंठे पात्र से सब पीते हैं।

और जब किसी की स्त्री वा वेश्या [को] नङ्गी कर अथवा

किसी पुरुष को नङ्गा कर हाथ में तलवार देके उसका नाम देवी और पुरुष का नाम महादेव धरते हैं, उनके उपस्थ इन्द्रिय की पूजा करते हैं। तब उस देवी वा शिव को मद्य का प्याला पिलाकर उसी जूठे पात्र से सब लोग एक-एक प्याला पीते [हैं]। फिर उसी प्रकार क्रम से पी-पी के उन्मत्त होकर चाहे कोई किसी की बहन, कन्या वा माता क्यों न हो जिसकी जिसके साथ इच्छा हो उसके साथ कुकर्म करते हैं। कभी-कभी बहुत नशा चढ़ने से जूते लात मुक्कामुक्की केशाकेशी आपस में लड़ते हैं।

किसी-किसी को वहीं वमन होता है। उनमें जो पहुंचा हुआ अघोरी अर्थात् सबमें सिद्ध गिना जाता है, वह वमन हुई चीज को भी खा लेता है। अर्थात् इनके सबसे बड़े सिद्ध की ये बातें हैं कि—

हालां पिबति दीक्षितस्य मन्दिरे सुप्तो निशायां गणिकागृहेषु।
विराजते कौलवचक्रवर्ती ॥

जो दीक्षित अर्थात् कलार के घर में जाके बोतल पर बोतल चढ़ावे, रंडियों के घर में जाके उनसे कुकर्म करके सोवे जो[1] इत्यादि कर्म निर्लज्ज निःशङ्क होकर करे, वही वाममार्गियों में सर्वोपरि मुख्य चक्रवर्ती राजा के समान माना जाता है। अर्थात् जो बड़ा कुकर्मी वही उनमें बड़ा, और जो अच्छे काम करे और बुरे कामों से डरे वही छोटा। क्योंकि—

पाशबद्धो भवेज्जीवः पाशमुक्तः सदा शिवः ॥[2]

ऐसा तन्त्र में कहते हैं कि जो लोकलज्जा शास्त्रलज्जा कुल-लज्जा देशलज्जा आदि पाशों में बंधा है वह जीव, और जो निर्लज्ज होकर बुरे काम करे वही सदाशिव है।

'उड्डीस तन्त्र' आदि में एक प्रयोग लिखा है कि एक घर में चारों ओर आलय हों। उनमें मद्य के बोतल भरके धर देवे। इस [के] एक आलय से एक बोतल पीके दूसरे आलय पर जावे। उनमें से पी तीसरे

---

१. 'यहां 'जो' अपपाठ है, वाक्य के आरम्भ में वर्तमान होने तथा अ.स्थान मे होने से। ,२. ज्ञानसंकलनी तन्त्र श्लोक ४३।

और तीसरे में से पीके चौथे आलय में[1] जावे। खड़ा-खड़ा तबतक मद्य पीवे कि जबतक लकड़ी के समान पृथिवी में[1] न गिर पड़े। फिर जब नशा उतरे, तब उसी प्रकार पीकर गिर पड़े। पुनः तीसरी बार इसी प्रकार पीके गिर के उठे तो उसका पुनर्जन्म न हो। अर्थात् सच तो यह है कि ऐसे-ऐसे मनुष्यों का पुनः मनुष्य जन्म होना ही कठिन है। किन्तु नीच योनि में पड़कर बहुकालपर्यन्त पड़ा रहेगा॥ [३॥]

वामियों के तन्त्र-ग्रन्थों में यह नियम है कि एक माता को छोड़ के किसी स्त्री को भी न छोड़ना चाहिये। अर्थात् चाहे कन्या हो वा भगिनी आदि क्यों न हों, सबके साथ सङ्गम करना चाहिये। इन वाममार्गियों में 'दश महाविद्या' प्रसिद्ध हैं। उनमें से एक मातङ्गी विद्यावाला कहता है कि 'मातरमपि न त्यजेत्' अर्थात् माता को भी समागम किये विना न छोड़ना चाहिये। और स्त्री-पुरुष के समागम समय में मन्त्र जपते हैं कि हमको सिद्धि प्राप्त हो जाये। ऐसे पागल महामूर्ख मनुष्य भी संसार में बहुत न्यून होंगे! [॥४॥]

जो मनुष्य झूंठ चलाना चाहता है, वह सत्य की निन्दा अवश्य ही करता है। देखो! वाममार्गी क्या कहते हैं—'वेद शास्त्र और पुराण ये सब सामान्य वेश्याओं के समान हैं, और जो यह शांभवी वाममार्ग की मुद्रा है वह गुप्त कुल[2] की स्त्री के तुल्य है॥५॥

इसीलिये इन लोगों ने केवल वेदविरुद्ध मत खड़ा किया है। पश्चात् इन लोगों का मत बहुत चला। तब धूर्तता करके वेदों के नाम से भी वाममार्ग की थोड़ी-थोड़ी लीला चलाई। अर्थात्—

सौत्रामण्यां सुरां पिबेत्॥[3]

प्रोक्षितं भक्षयेन्मांसम्॥[4]

वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति॥[5]

---

१. यहां 'में' के स्थान में 'पर' चाहिये। द्र० 'दूसरे आलय पर जावे'।

२. यहां 'कुल की गुप्त स्त्री' पाठ चाहिये। गुप्त=रक्षित।

३. तुलना करो—'सुरावान् वा एष बर्हिषद् यज्ञो यत्सौत्रामणी।' शत० १२।१।३।७॥ ४. मनु० ५।२७॥ ५. द्र०—या वेदविहिता हिंसा नियताऽस्मिन् चराचरे। अहिंसामेव तां विद्यात्॥ मनु ५।४४॥

न मांसभक्षणे दोषो न मद्ये न च मैथुने ।
प्रवृत्तिरेषा भूतानां निवृत्तिस्तु महाफला ॥ मनु०[1]

सौत्रामणी[2] यज्ञ में मद्य पीवे । इसका अर्थ तो यह है सौत्रामणी यज्ञ में सोमरस अर्थात् सोमवल्ली का रस पिये । प्रोक्षित अर्थात् यज्ञ में मांस खाने में दोष नहीं, ऐसी पामरपन की बातें वाममार्गियों ने चलाई हैं । उनसे पूछना चाहिये कि जो वैदिकी हिंसा-हिंसा न हो तो तुझ और तेरे कुटुम्ब को मारके होम कर डालें सो क्या चिन्ता है ? मांसभक्षण करने, मद्य पीने, परस्त्रीगमन करने आदि में दोष नहीं है, यह कहना छोकड़ापन है । क्योंकि विना प्राणियों के पीड़ा दिये मांस प्राप्त नहीं होता[3] और विना अपराध के पीड़ा देना धर्म का काम नहीं । मद्यपान का तो सर्वथा निषेध ही है क्योंकि अब तक वाममार्गियों के विना किसी ग्रन्थ में नहीं लिखा, किन्तु सर्वत्र निषेध है । और विना विवाह के मैथुन में भी दोष है । इसको निर्दोष कहने वाला सदोष है ।

ऐसे-ऐसे वचन भी ऋषियों के ग्रन्थ में डालके कितने ही ऋषि-मुनियों के नाम से ग्रन्थ बनाकर गोमेध, अश्वमेध नाम के यज्ञ भी कराने लगे थे अर्थात् इन पशुओं को मारके होमकरने से यजमान और पशु को स्वर्ग की प्राप्ति होती है । ऐसी प्रसिद्धि का निश्चय तो यह है कि जो ब्राह्मणग्रन्थों में अश्वमेध, गोमेध, नरमेध आदि शब्द हैं, उनका ठीक-ठीक अर्थ नहीं जाना है । क्योंकि जो जानते तो ऐसा अनर्थ क्यों करते ।

प्रश्न—अश्वमेध, गोमेध, नरमेध आदि शब्दों का अर्थ क्या है?

उत्तर—इसका अर्थ तो यह है कि—

राष्ट्रं वा अश्वमेधः ॥[4]

अन्नं हि गौः ॥[5]

---

१. मनु० ५।५६॥ २. सं० २ में 'सौत्रामणि' अपपाठ ।
३. नाकृत्वा प्राणिनां हिंसां मांसमुत्पद्यते क्वचित् । मनु० ५।४८॥
४. शत० १३।१।६।३॥ ५. शत० ४।३।१।२५॥

अग्निर्वा अश्वः ।।[1]

आज्यं मेधः ।।[2] **शतपथब्राह्मणे**

घोड़े गाय आदि पशु तथा मनुष्य मार के होम करना कहीं नहीं लिखा। केवल वाममार्गियों के ग्रन्थों में ऐसा अनर्थ लिखा है। किन्तु यह भी बात वाममर्गियों ने चलाई। और जहां-जहां लेख है, वहां-वहां भी वाममर्गियों ने प्रक्षेप किया है। देखो, राजा न्याय धर्म से प्रजा का पालन करें, विद्यादि का देनेहारा यजमान और अग्नि में भी घी आदि का होम करना **'अश्वमेध'**। अन्न, इन्द्रियां, किरण, पृथिवी आदि को पवित्र रखना[3] **'गोमेध'**, जब मनुष्य मर जाय तब उसके शरीर का विधिपूर्वक दाह करना **'नरमेध'** कहाता है।

प्रश्न—यज्ञकर्त्ता कहते हैं कि यज्ञ करने से यजमान और पशु स्वर्गगामी, तथा होम करके फिर पशु को जीता करते थे, यह बात सच्ची है वा नहीं ?

उत्तर—नहीं। जो स्वर्ग को जाते हों तो ऐसी बात कहनेवाले को मारके होम कर स्वर्ग में पहुंचना चाहिये वा उसके प्रिय माता पिता स्त्री और पुत्रादि को मार होम कर [स्वर्ग में] क्यों नहीं पहुंचाते वा वेदी में से पुनः क्यों नहीं जिला लेते हैं ?

प्रश्न—जब यज्ञ करते हैं, तब वेदों के मन्त्र पढ़ते हैं। जो वेदों में न होता, तो कहां से पढ़ते ?

उत्तर—मन्त्र किसी को कहीं पढ़ने से नहीं रोकता। क्योंकि वह एक शब्द है। परन्तु उनका अर्थ ऐसा नहीं है कि पशु को मारके होम करना। जैसे **अग्नये स्वाहा**[4] इत्यादि मन्त्रों का अर्थ अग्नि में हवि, पुष्टयादिकारक घृतादि उत्तम पदार्थों के होम करने से वायु वृष्टि जल शुद्ध होकर जगत् को सुखकारक होते हैं। परन्तु इन सत्य अर्थों को वे मूढ़ नहीं समझते थे। क्योंकि जो स्वार्थ बुद्धि होते हैं, वे केवल अपने स्वार्थ करने के दूसरा कुछ भी नहीं जानते-मानते।

---

१. शत० ३।६।२।५।। २. **मेधो वा आज्यम्** । शत० १३।३।६।२।।
३. सं० २ में 'राखना' पाठ है ४. यजु० १०।५; २२।६, २७।

जब इन पोपों का ऐसा अनाचार देखा, और दूसरा मरे का तर्पण श्राद्धादि करने को देखकर एक महाभयंकर वेदादिशास्त्रों का निन्दक बौद्ध वा जैनमत प्रचलित हुआ है। सुनते हैं कि एक इसी देश में गोरखपुर का राजा था। उससे पापों ने यज्ञ कराया। उसकी प्रिय राणी का समागम घोड़े के साथ कराने से उसके मर जाने पर पश्चात् वैराग्यवान् होकर अपने पुत्र को राज्य दे साधु हो, पोपों की पोल निकालने लगा। इसी की शाखारूप चारवाक और आभाणक मत भी हुआ था। उन्होंने इस प्रकार के श्लोक बनाये हैं—

पशुश्चेन्निहतः स्वर्गं ज्योतिष्टोमे गमिष्यति।
स्वपिता यजमानेन तत्र कथं न हिंस्यते ॥१॥
मृतानामिह जन्तूनां श्राद्धं चेत्तृप्तिकारणम्।
गच्छतामिह जन्तूनां व्यर्थं पाथेयकल्पनम् ॥२॥[1]

जो पशु मारकर अग्नि में होम करने से पशु स्वर्ग को जाता है, तो यजमान अपने पिता आदि को मारके स्वर्ग में क्यों नहीं भेजते ॥१॥

जो मरे हुए मनुष्य की तृप्ति के लिये श्राद्ध और तर्पण होता है, तो विदेश में जानेवाले मनुष्य को मार्ग का खर्च खाने-पीने के लिए बांधना व्यर्थ है। क्योंकि जब मृतक को श्राद्ध तर्पण से अन्न जल पहुंचता है, तो जीते हुए परदेश में रहनेवाले वा मार्ग में चलनेहारों को घर में रसोई बनी हुई का पत्तल परोस, लोटा भरके उसके नाम पर रखने से क्यों नहीं पहुंचता? तो जीते हुए दूर देश अथवा दश हाथ पर दूर बैठे हुए को दिया हुआ नहीं पहुंचता, तो मरे हुए के पास किसी प्रकार नहीं पहुंच सकता ॥२॥

उनके ऐसे युक्तिसिद्ध उपदेशों को मानने लगे और उनका मत बढ़ने लगा। जब बहुत से राजा भूमिये[2] उनके मत में हुए, तब पोपजी भी उनकी ओर झुके, क्योंकि इनको जिधर गप्फा अच्छा

---

१. द्र० सर्वदर्शन-संग्रह, चार्वाक मत प्रकरण। २. भूमिये=जागिरदार।

मिले वहां चले जायें। झट जैन बनने चले। जैन में भी और प्रकार की पोपलीला बहुत है, सो १२वें समुल्लास में लिखेंगे।

बहुतों ने इनका मत स्वीकार किया। परन्तु कितनेक ही[1] जो पर्वत काशी कन्नौज पश्चिम दक्षिण देशवाले थे, उन्होंने जैनों का मत स्वीकार नहीं किया था। वे जैनी वेद का अर्थ न जानकर बाहर की पोपलीला को भ्रान्ति से वेद पर[2] मान कर वेदों की भी निन्दा करने लगे। उसके पठनपाठन, यज्ञोपवीतादि और ब्रह्मचर्यादि नियमों को भी नाश किया। जहां जितने पुस्तक वेदादि के पाये नष्ट किये। आर्यों पर बहुत सी राजसत्ता भी चलाई, दुःख दिया।

जब उनको भय शङ्का न रही तब अपने मत वाले गृहस्थ और साधुओं की प्रतिष्ठा और वेदमार्गियों का अपमान और पक्षपात से दण्ड भी देने लगे। और आप सुख आराम और घमण्ड में आ फूल कर फिरने लगे। ऋषभदेव से लेके महावीर पर्यन्त अपने तीर्थकरों की बड़ी-बड़ी मूर्तियां बनाकर पूजा करने लगे। अर्थात् पाषाणादि मूर्त्तिपूजा की जड़ जैनियों से प्रचलित हुई। परमेश्वर का मानना न्यून हुआ, पाषाणादि मूर्त्तिपूजा में लगे। ऐसा तीन सौ वर्ष पर्यन्त आर्यावर्त्त में जैनों का राज रहा। प्रायः वेदार्थ-ज्ञान से शून्य हो गये थे। इस बात को अनुमान[3] से अढाई सहस्र वर्ष व्यतीत हुए होंगे।

बाईस सौ वर्ष हुए[4] कि एक शङ्कराचार्य द्रविड़देशोत्पन्न ब्राह्मण ब्रह्मचर्य से व्याकरणादि सब शास्त्रों को पढ़कर सोचने लगे कि— अहह ! सत्य आस्तिक वेद मत का छूटना, और जैन नास्तिक मत का चलना बड़ी हानि की बात हुई है। इनको किसी प्रकार हटाना चाहिये। शङ्कराचार्य शास्त्र तो पढ़े ही थे, परन्तु जैन मत के भी पुस्तक पढ़े थे, और उनकी युक्ति भी बहुत प्रबल थी। उन्होंने

---

१. सं०२ में 'कितने कहीं' अपपाठ। २. अर्थात् वेदपर आश्रित मानकर।
३. इस अनुमान की पुष्टि में ग्रन्थ लिखे जाने चाहिये। भ० द०
४. इसकी पुष्टि के लिये देखिये स्वा० वेदा० सम्पा०स० प्र० पृष्ठ २४६ तथा श्री पं० उदयवीर शास्त्री कृत वेदान्त दर्शन का इतिहास।

विचारा कि इनको किस प्रकार हटावें[1]? निश्चय हुआ कि उपदेश और शास्त्रार्थ करने से ये लोग हटेंगे[1]। ऐसा विचारकर उज्जैन नगरी में आये। वहां उस समय सुधन्वा राजा था, जो जैनियों के ग्रन्थ और कुछ संस्कृत भी पढ़ा था। वहां जाकर वेद का उपदेश करने लगे। और राजा से मिलकर कहा कि आप संस्कृत और जैनियों के भी ग्रन्थों को पढ़े हो, और जैन मत को मानते हो। इसलिये आपको मैं कहता हूं कि जैनियों के पण्डितों के साथ मेरा शास्त्रार्थ कराइये। इस प्रतिज्ञा पर, 'जो हारे सो जीतनेवाले का मत स्वीकार कर ले, और आप भी जीतनेवाले का मत स्वीकार कीजियेगा।'

यद्यपि सुधन्वा जैनमत में थे, तथापि संस्कृत ग्रन्थ पढ़ने से उन की बुद्धि में कुछ विद्या का प्रकाश था। इससे उनके मन में अत्यन्त पशुता नहीं छाई थी। क्योंकि जो विद्वान् होता है वह सत्यासत्य की परीक्षा करके सत्य का ग्रहण और असत्य को छोड़ देता है। जबतक सुधन्वा राजा को बड़ा विद्वान् उपदेशक नहीं मिला था, तबतक सन्देह में थे कि इनमें कौन-सा सत्य और कौन-सा असत्य है? जब शङ्कराचार्य की यह बात सुनी और बड़ी प्रसन्नता के साथ-साथ बोले कि हम शास्त्रार्थ कराके सत्यासत्य का निर्णय अवश्य करावेंगे।

जैनियों के पण्डितों को दूर-दूर से बुलाकर सभा कराई। उसमें शङ्कराचार्य का वेद मत और जैनियों का वेदविरुद्ध मत था। अर्थात् शङ्कराचार्य का पक्ष वेदमत का स्थापन, और जैनियों का खण्डन और जैनियों का पक्ष अपने मत का स्थापन और वेद का खण्डन था। शास्त्रार्थ कई दिनों तक हुआ। जैनियों का मत यह था कि -'सृष्टि का कर्त्ता अनादि ईश्वर कोई नहीं, यह जगत् और जीव अनादि हैं। इन दोनों की उत्पत्ति और नाश कभी नहीं होता।' इससे विरुद्ध शङ्कराचार्य का मत था कि—'अनादि सिद्ध परमात्मा ही जगत् का कर्त्ता है, यह जगत् और जीव झूंठा है। क्योंकि[2] उस परमेश्वर ने अपनी माया से जगत् बनाया, वही धारण और प्रलय करता है।

१. सं०२में सर्वत्र 'हठ' क्रिया का प्रयोग है। २. सं०२में 'क्योंकि यही उस' अपपाठ।

ग्रौर यह जीव ग्रौर प्रपञ्च स्वप्नवत् [मिथ्या] है । परमेश्वर ग्राप ही सब रूप होकर लीला कर रहा है ।'

बहुत दिन तक शास्त्रार्थ होता रहा । परन्तु ग्रन्त में युक्ति और प्रमाण से जैनियों का मत खण्डित और शङ्कराचार्य का मत ग्रखण्डित रहा । तब उन जैनियों के पण्डित ग्रौर सुधन्वा राजा ने वेदमत को स्वीकार कर लिया, जैनमत को छोड़ दिया । पुनः बड़ा हल्ला-गुल्ला हुआ । और सुन्धवा राजा ने अन्य अपने इष्ट मित्र राजाग्रों को लिखकर शङ्कराचार्य से शास्त्रार्थ कराया । परन्तु जैन का पराजय समय[1] होने से पराजित होते गये । पश्चात् शंकराचार्य के सर्वत्र आर्यावर्त्त देश में घूमने का प्रबन्ध सुधन्वादि राजाग्रों ने कर दिया, ग्रौर उसकी रक्षा के लिये साथ में नौकर चाकर भी रख दिये ।

उसी समय से सब के यज्ञोपवीत होने लगे, और वेदों का पठन-पाठन भी चला । दश वर्ष के भीतर सर्वत्र ग्रार्यावर्त्त देश में घूमकर जैनियों का खण्डन और वेदों का मण्डन किया । परन्तु शङ्कराचार्य के समय में जैन-विध्वंस[2] अर्थात् जितनी मूर्त्तियां जैनियों की निकलती हैं वे शङ्कराचार्य के समय में टूटी थीं । और जो विना टूटी निकलती हैं, वे[3] जनियों ने भूमि में गाढ़ दी थीं कि तोड़ी न जायें । वे अबतक कहीं भूमि में से निकलती हैं । शङ्कराचार्य के पूर्व शैवमत भी थोड़ा सा प्रचरित था, उसका भी खण्डन किया । वाममार्ग का खण्डन किया[4] ।

उस समय इस देश में धन बहुत था, और स्वदेशभक्ति भी थी । जैनियों के मन्दिर शङ्कराचार्य वा सुधन्वा राजा ने नहीं तुड़वाये थे । क्योंकि उनमें वेदादि की पाठशाला करने की इच्छा थी । जब वेदमत

---

१. समय का प्रभाव विचारणीय है । भ० द० २. वाक्य ग्रस्पष्ट है ।

३. 'वे जैनियों द्वारा······ गाढ़ दी गई थीं' ग्रथवा 'उन्हे ·· गाढ़ दिया था' चाहिये ।

४. द्र० शंकर-दिग्विजय सर्ग १५ श्लोक ६५—शाक्तैः पाशुपतैरपि क्षणकैः कापालिकैर्वैष्णवैरप्यन्यैरखिलैः खिलं खलु खलैर्दुर्वादिभिर्वैदिकम् । मार्गं रक्षितुमुग्रवादिविजयं नो मानहतोर्व्यधात्······।

का स्थापन हो चुका, और विद्या-प्रचार करने का विचार करते ही थे, उतने में दो जैन ऊपर से कथनमात्र वेद मत और भीतर से कट्टर जैन अर्थात् कपटमुनि थे, शङ्कराचार्य उन पर अति प्रसन्न थे। उन दोनों ने अवसर पाकर शङ्कराचार्य को ऐसी विषयुक्त[1] वस्तु खिलाई कि उनकी क्षुधा मन्द हो गई। पश्चात् शरीर में फोड़े-फुन्सी होकर छ: महीने के भीतर शरीर छूट गया।

तब सब निरुत्साही हो गये, और जो विद्या का प्रचार होनेवाला था, वह भी न होने पाया। जो-जो उन्होंने शारीरक भाष्यादि बनाये थे उनका प्रचार शङ्कराचार्य के शिष्य करने लगे। अर्थात् जो जैनियों के खण्डन के लिये ब्रह्म सत्य जगत् मिथ्या और जीव ब्रह्म की एकता कथन की थी, उसका उपदेश करने लगे। दक्षिण में शृङ्गेरी पूर्व में भूगोवर्द्धन, उत्तर में जोशी और द्वारिका में शारदा मठ बांधकर शङ्कराचार्य के शिष्य महन्त बन और श्रीमान् होकर आनन्द करने लगे। क्योंकि शंकराचार्य के पश्चात् उनके शिष्यों की बड़ी प्रतिष्ठा होने लगी।

अब इसमें विचारना चाहिये कि जो जीव ब्रह्म की एकता, जगत् मिथ्या शंकराचार्य का निज मत था, तो वह अच्छा मत नहीं। जो जैनियों के खण्डन के लिये उस मत का स्वीकार किया हो तो कुछ अच्छा है।[2]

नवीन वेदान्तियों का मत ऐसा है—

प्रश्न—जगत् स्वप्नवत्, रज्जू में सर्प, सीप में चांदी, मृगतृष्णिका में जल, गन्धर्वनगर, इन्द्रजालवत् यह संसार झूंठा है। एक ब्रह्म ही सच्चा है।

---

१. अभिनिवेषित, अभिनिवेश नामक नास्तिकों ने केदारनाथ में विष दिया। द्र० ऐतिहासिक निरीक्षण, भाग २, शंकराचार्य प्रकरण।

२. अर्थात् जैनियों के 'ईश्वर नहीं है' मत के खण्डन के लिये 'एक ईश्वर ही है अन्य कुछ नहीं' पक्ष को शंकराचार्य ने स्वीकार करके यदि जैनियों के मत का खण्डन किया हो तो कुछ ठीक है। द्र०न्याय दर्शन४।२।५०—'तत्त्वाध्यवसायरक्षणार्थं जल्पवितण्डे बीजप्ररोहसंरक्षणार्थं कण्टकशाखावरणवत्'।

सिद्धान्ती—झूठा तुम किसको कहते हो ?

नवीन—जो वस्तु न हो और प्रतीत होवे ।

सिद्धान्ती—जो वस्तु ही नहीं,उसकी प्रतीति कैसे हो सकती है ?

नवीन—अध्यारोप से ।

सिद्धान्ती—अध्यारोप किसको कहते हो ?

नवीन—'वस्तुन्यवस्त्वारोपणमध्यासः' । 'अध्यारोपापवादाभ्यां निष्प्रपञ्चं प्रपञ्च्यते' पदार्थ कुछ और हो, उनमें अन्य वस्तु का आरोपण करना 'अध्यास', अध्यारोप और उसका निराकरण करना अपवाद कहाता[1] है । इन दोनों से प्रपञ्च रहित ब्रह्म में प्रपञ्चरूप जगत् विस्तार करते हैं ।

सिद्धान्ती—तुम रज्जू को वस्तु और सर्प को अवस्तु मानकर इस भ्रमजाल में पड़े हो । क्या सर्प वस्तु नहीं है ? जो कहो कि रज्जू में नहीं, तो देशान्तर में और उसका संस्कारमात्र हृदय में है ? फिर वह सर्प भी अवस्तु नहीं रहा । वैसे ही स्थाणु में पुरुष[2], सीप में चांदी आदि की व्यवस्था समझ लेना । और स्वप्न में भी जिनका भान होता है वे देशान्तर में हैं, उनके संस्कार आत्मा में भी हैं । इसलिये वह स्वप्न भी वस्तु[3] में अवस्तु के आरोपण के समान नहीं ।

नवीन—जो कभी न देखा न सुना, जैसा कि अपना शिर कटा है और आप रोता है, जल की धारा ऊपर चली जाती है । जो कभी न हुआ था, [स्वप्न]में देखा जाता है, वह सत्य क्योंकर हो सके ?

सिद्धान्ती—यह भी दृष्टान्त तुम्हारे पक्ष को सिद्ध नहीं करता । क्योंकि विना देखे सुने संस्कार नहीं होता । संस्कार के विना स्मृति, और स्मृति के विना साक्षात्[4] अनुभव नहीं होता । जब किसी से

---

१. सं २,३,४ में अपवादक होता' पाठ है ।

२. यह दृष्टान्त नवीन वेदान्ती ने नहीं दिया, लोक प्रसिद्ध होने से ग्रन्थकार ने लिखा है ।

३. सं० २ में 'अवस्तु' अपपाठ । सं० ३ में शोधा है ।

४. यहां 'स्वप्न' में पाठ होना चाहिये ।

सुना वा देखा कि अमुक का शिर कटा और उसका[1] भाई वा बाप आदि को लड़ाई में प्रत्यक्ष रोते देखा, और फोहारे का जल ऊपर चढ़ाते देखा वा सुना, उसका संस्कार उसी के आत्मा में होता है। जब यह जाग्रत्[2] के पदार्थ से अलग होके[3] देखता है, तब अपने आत्मा में उन्हीं पदार्थों को, जिनको देखा वा सुना होता, देखता है। जब अपने ही में देखता है तब जानो अपना शिर कटा, आप रोता और ऊपर जाती जल की धारा को देखता है।

यह भी वस्तु में अवस्तु के आरोपण के सदृश नहीं। किन्तु जैसे नकशा निकालनेवाले पूर्व दृष्ट श्रुत वा किये हुओं को आत्मा में से निकालकर कागज पर लिख देते हैं, अथवा प्रतिबिम्ब का उतारनेवाला बिम्ब को देख आत्मा में आकृति को धर बराबर लिख देता है। हां! इतना है कि कभी-कभी स्वप्न में स्मरणयुक्त प्रतीति जैसा कि अपने अध्यापक का देखता है, और कभी बहुत काल देखने और सुनने में अतीत ज्ञान को साक्षात्कार करता है। तब स्मरण नहीं रहता कि जो मैंने उस समय देखा सुना वा किया था, उसी को देखता सुनता वा करता हूं। जैसा जाग्रत्[2] में स्मरण करता है, वैसा स्वप्न में [4][नियमपूर्वक] नहीं होता। [4][देखो, 'जन्मान्ध को रूप का स्वप्न नहीं आता।] इसलिये तुम्हारा अध्यास और अध्यारोप का लक्षण झूंठा है और जो वेदान्ती लोग विवर्त्तवाद अर्थात् रज्जू में सर्पादि के भान होने का दृष्टान्त, ब्रह्म में जगत् के भान होने में देते हैं, वह भी ठीक नहीं।

(नवीन)—अधिष्ठान के विना अध्यस्त[5] प्रतीत नहीं होता। जैसे रज्जू न हो तो सर्प का भी भान नहीं हो सकता। जैसे रज्जू में

---

१. सं० २,३ में। सं० ४ से 'उसके' पाठ है। यहां इस प्रकार पाठ होना चाहिये—'अमुक का लड़ाई में शिर कटा और उसके भाई वा बाप को प्रत्यक्ष रोते देखा।'

२. संस्करण २ में 'जागृत' अपपाठ है।

३. अर्थात् स्वप्न में।

४. कोष्ठान्तर्गत पाठ सं० ५ से मिलता है।

५. सं० २ में 'अध्यस्थ' अपपाठ।

सर्प तीन काल में नहीं है, परन्तु अन्धकार और कुछ प्रकाश के मेल में अकस्मात् रज्जू को देखने से सर्प का भ्रम होकर भय से कंपता है। जब उसको दीप आदि से देख लेता है, उसी समय भ्रम और भय निवृत्त हो जाता है। वैसे ब्रह्म में जो जगत् की मिथ्या प्रतीति हुई है, वह ब्रह्म के साक्षात्कार होने में[1] उस की निवृत्ति और ब्रह्म की प्रतीति [हो जाती है] जैसी कि सर्प की निवृत्ति और रज्जू की प्रतीति होती है।

सिद्धान्ती—ब्रह्म में जगत् का भान किसको हुआ?

नवीन–जीव को।

सिद्धान्ती—जीव कहां से हुआ?

नवीन—अज्ञान से।

सिद्धान्ती—अज्ञान कहां से हुआ, और कहां रहता है?

नवीन–अज्ञान अनादि और ब्रह्म में रहता है।

सिद्धान्ती—ब्रह्म में ब्रह्म का अज्ञान हुआ वा किसी अन्य का। और वह अज्ञान किसको हुआ?

नवीन—चिदाभास को।

सिद्धान्ती–चिदाभास का स्वरूप क्या है?

नवीन—ब्रह्म, ब्रह्म को ब्रह्म का अज्ञान अर्थात् अपने स्वरूप को आप ही भूल जाता है।

सिद्धान्ती—उसके भूलने में निमित्त क्या है?

नवीन—अविद्या।

सिद्धान्ती—अविद्या सर्वव्यापी सर्वज्ञ का गुण है, वा अल्पज्ञ का?

नवीन—अल्पज्ञ का।

सिद्धान्ती–तो तुम्हारे मत में विना एक अनन्त सर्वज्ञ चेतन के दूसरा कोई चेतन है वा नहीं? और अल्पज्ञ कहां से आया? हां,

---

१. सं० २ में 'होने में जगत् की मिथ्या प्रतीति हुई है उसकी' पाठ है। इसमें 'जगत् की मिथ्या प्रतीति हुई है' इतना वाक्यांश पूर्व वाक्यांश का स्थान में पुनरुक्त पाठ है।

जो अल्पज्ञ चेतन ब्रह्म से भिन्न मानो तो ठीक है। जब एक ठिकाने ब्रह्म को अपने स्वरूप का अज्ञान हो, तो सर्वत्र अज्ञान फैल जाय। जैसे शरीर में फोड़े की पीड़ा सब शरीर के अवयवों को निकम्मा कर देती है, इसी प्रकार ब्रह्म भी एक देश में अज्ञानी और क्लेशयुक्त हो, तो सब ब्रह्म भी अज्ञानी और पीड़ा के अनुभवयुक्त हो जाय।

नवीन—यह सब उपाधि का धर्म है, ब्रह्म का नहीं।

सिद्धान्ती—उपाधि जड़ है वा चेतन, और सत्य है वा असत्य ?

नवीन—अनिर्वचनीय है। अर्थात् जिसको जड़ वा चेतन, सत्य वा असत्य नहीं कह सकते।

सिद्धान्ती—यह तुम्हारा कहना 'वदतो व्याघातः' के तुल्य है। क्योंकि कहते हो अविद्या है जिसको जड़-चेतन सत्-असत् नहीं कह सकते। यह ऐसी बात है कि जैसे सोने में पीतल मिला हो, उसको सर्राफ के पास परीक्षा करावे कि यह सोना है वा पीतल ? तब यही कहोगे कि इसको हम न सोना न पीतल कह सकते हैं, किन्तु इसमें दोनों धातु मिली हैं।

नवीन—देखो, जैसे घटाकाश, मठाकाश, मेघाकाश, और महदाकाशोपाधि अर्थात् घड़ा, घर और मेघ के होने से भिन्न-भिन्न प्रतीत होते हैं, वास्तव में महदाकाश ही है, ऐसे ही माया-अविद्या समष्टि-व्यष्टि और अन्तःकरणों की उपाधियों से ब्रह्म अज्ञानियों को पृथक्-पृथक् प्रतीत हो रहा है, वास्तव में एक ही है। देखो, अग्रिम प्रमाण में क्या कहा है—

अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च॥ मुण्ड०[1]

जैसे अग्नि लम्बे चौड़े गोल छोटे बड़े सब आकृति वाले पदार्थों में व्यापक होकर तदाकार दीखता और उनसे पृथक् है, वैसे सर्वव्यापक परमात्मा अन्तःकरणों में व्यापक होके अन्तःकरणाऽऽकार हो रहा है, परन्तु उनसे अलग है।

---

१. कठोप० वल्ली ५, मं० ९॥

सिद्धान्ती—यह भी तुम्हारा कहना व्यर्थ है। क्योंकि जैसे घट मठ मेघों और आकाश को भिन्न मानते हो, वैसे कारण-कार्यरूप जगत् और जीव को ब्रह्म से और ब्रह्म को इनसे भिन्न मान लो।

नवीन—जैसा अग्नि सब में प्रविष्ट होकर देखने में तदाकार दीखता है, इसी प्रकार परमात्मा जड़ और जीव में व्यापक होकर आकारवाला [अर्थात्] अज्ञानियों को आकारयुक्त दीखता है। वास्तव में ब्रह्म न जड़ और न जीव है। जैसे सहस्र जल के कूंडे धरे हों, उनमें सूर्य के सहस्र प्रतिबिम्ब दीखते हैं, वस्तुतः सूर्य एक है। कूंडों के नष्ट होने से जल के चलने वा फैलने से सूर्य न नष्ट होता, न चलता और न फैलता है, इसी प्रकार अन्तःकरणों में ब्रह्म का आभास, जिसको चिदाभास कहते हैं पड़ा है। जब तक अन्तःकरण है, तभी तक जीव है। जब अन्तःकरण ज्ञान से नष्ट होता है, तब जीव ब्रह्मस्वरूप है। इस चिदाभास को अपने ब्रह्मस्वरूप का अज्ञानकर्त्ता[1] भोक्ता सुखी-दुःखी पापी-पुण्यात्मा जन्म-मरण अपने में आरोपित करता है, तबतक संसार के बन्धनों से नहीं छूटता।

सिद्धान्ती—यह दृष्टान्त तुम्हारा व्यर्थ है। क्योंकि सूर्य आकार वाला, जल कूंडे भी आकार[2] वाले हैं। सूर्य जल कूंडे से भिन्न और सूर्य से जल कूंडे भिन्न हैं, तभी प्रतिबिम्ब पड़ता है। यदि निराकार होते तो उनका प्रतिबिम्ब कभी न होता। और जैसे परमेश्वर निराकार सर्वत्र आकाशवत् व्यापक होने से ब्रह्म से कोई पदार्थ वा पदार्थों से ब्रह्म पृथक् नहीं हो सकता, और व्याप्य-व्यापक सम्बन्ध से एक भी नहीं हो सकता अर्थात् अन्वयव्यतिरेक भाव से देखने से व्याप्य व्यापक मिले हुए और सदा पृथक् रहते हैं। जो एक हो तो अपने में व्याप्यव्यापक भाव सम्बन्ध कभी नहीं घट सकता। सो बृहदारण्यक के **अन्तर्यामी ब्राह्मण**[3] में स्पष्ट लिखा है।

और ब्रह्म का आभास भी नहीं पड़ सकता। क्योंकि बिन

---

१. सं० २ में 'करता' अपपाठ है। २. सं० २ में 'साकारवाले' अपपाठ है। अथवा यहां 'साकार है' चाहिये ३. बृ० उप० अ० ३, ब्रा० ७।

आकार के आभास का होना असम्भव है। जो अन्तःकरणोपाधि से ब्रह्म को जीव मानते हो, सो तुम्हारी बात बालक के समान है। अन्तःकरण चलायमान खण्ड-खण्ड, और [ब्रह्म][1] अचल और अखण्ड है। यदि तुम ब्रह्म और जीव को पृथक्-पृथक् न मानोगे, तो इसका उत्तर दीजिये कि जहां-जहां अन्तःकरण चला जायगा वहां-वहां के ब्रह्म को अज्ञानी, और जिस-जिस देश को छोड़ेगा वहां-वहां के ब्रह्म को ज्ञानी कर देवेगा वा नहीं ? जैसे छाता प्रकाश के बीच में जहां-जहां जाता है वहां-वहां [के][2] प्रकाश को आवरण युक्त, और जहां-जहां से हटता है वहां-वहां के प्रकाश को आवरण रहित कर देता है। वैसे ही अन्तःकरण ब्रह्म को क्षण-क्षण में ज्ञानी अज्ञानी बद्ध और मुक्त करता जायगा।

अखण्ड ब्रह्म के एक देश में आवरण का प्रभाव सर्वदेश में होने से सब ब्रह्म अज्ञानी हो जायगा, क्योंकि वह चेतन है। और मथुरा में जिस अन्तःकरणस्थ ब्रह्म ने जो वस्तु देखी, उसका स्मरण उसी अन्तःकरणस्थ से काशी में नहीं हो सकता। क्योंकि 'अन्यदृष्टमन्यो न स्मरतीति न्यायात्' और के देखे का स्मरण और को नहीं होता। जिस चिदाभास ने मथुरा में देखा वह चिदाभास काशी में नहीं रहता। किन्तु जो मथुरास्थ अन्तःकरण का प्रकाशक है वह काशीस्थ ब्रह्म नहीं होता।

जो ब्रह्म ही जीव है किन्तु पृथक् नहीं, तो जीव को सर्वज्ञ होना चाहिये। यदि ब्रह्म का प्रतिबिम्ब पृथक् है, तो प्रत्यभिज्ञा अर्थात् पूर्व दृष्ट-श्रुत का ज्ञान किसी को नहीं हो सकेगा। जो कहो कि ब्रह्म एक है इसलिये स्मरण होता है, तो एक ठिकाने अज्ञान वा दुःख होने से सब ब्रह्म को अज्ञान वा दुःख हो जाना चाहिये। और ऐसे-ऐसे दृष्टान्तों से नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्तस्वभाव ब्रह्म को तुमने अशुद्ध अज्ञानी और बद्ध आदि दोषयुक्त कर दिया है, और अखण्ड को खण्ड-खण्ड कर दिया।

---

१. सं० २ में 'ब्रह्म' पद प्रमाद से छूटा है।
२. उत्तर वाक्यानुसार आवश्यक है।

नवीन—निराकार का भी आभास होता है। जैसा कि दर्पण वा जलादि में आकाश का आभास पड़ता [है]। वह नीला वा किसी अन्य प्रकार गम्भीर गहरा दीखता है वैसा ब्रह्म का भी सब अन्तःकरणों में आभास पड़ता है।

सिद्धान्ती—जब आकाश में रूप ही नहीं है, तो उसको आंख से कोई भी नहीं देख सकता। जो पदार्थ दीखता ही नहीं वह दर्पण और जलादि में कैसे दीखेगा? गहरा वा छिदरा साकार वस्तु दीखता है, निराकार नहीं।

नवीन—तो फिर जो यह ऊपर नीला सा दीखता है, वही आदर्श वा जल[1] में भान होता है, वह क्या पदार्थ है?

सिद्धान्ती—वह पृथिवी से उडकर [ऊपर गये हुए] जल, पृथिवी और अग्नि के त्रसरेणु हैं। जहां से वर्षा होती है, वहां जल न हो तो वर्षा कहां से होवे? इसलिये जो दूर-दूर तम्बू के सामान दीखता है, वह जल का चक्र है। जैसे कुहिर दूर से घनाकार दीखता है, और निकट से छिदरा और डेरे के समान भी दीखता है, वैसा आकाश में जल दीखता है।

नवीन—क्या हमारे रज्जू सर्प और स्वप्नादि के दृष्टान्त मिथ्या हैं?

सिद्धान्ती—नहीं,तुम्हारी समझ मिथ्या है। सो हमने पूर्व(४३०-३२)लिख दिया। भला यह तो कहो कि प्रथम अज्ञान किसको होता है?

नवीन—ब्रह्म को।

सिद्धान्ती—ब्रह्म अल्पज्ञ है वा सर्वज्ञ?

नवीन—न सर्वज्ञ और न अल्पज्ञ। क्योंकि सर्वज्ञता और अल्पज्ञता उपाधि सहित में होती है।

सिद्धान्ती—उपाधि से सहित कौन है?

नवीन—ब्रह्म।

सिद्धान्ती—तो ब्रह्म ही सर्वज्ञ और अल्पज्ञ हुआ, तो तुमने सर्वज्ञ और अल्पज्ञ का निषेध क्यों किया था? जो कहो कि उपाधि कल्पित

---

१. सं० २ में 'आदर्शवाले में' अपपाठ। द्र० पूर्व पृष्ठ ३४७, पं०४,५।

अर्थात् मिथ्या है, तो कल्पक अर्थात् कल्पना करने वाला कौन है ?

नवीन—जीव ब्रह्म है वा अन्य ?

सिद्धान्ती—अन्य है। क्योंकि जो ब्रह्म स्वरूप है, तो जिसने मिथ्या कल्पना की वह ब्रह्म ही नहीं हो सकता। जिसकी कल्पना मिथ्या है, वह सच्चा कब हो सकता है ?

नवीन—हम सत्य और असत्य को झूंठ मानते हैं, और वाणी से बोलना भी मिथ्या है।

सिद्धान्ती—जब तुम झूंठ कहने और माननेवाले हो, तो झूंठे क्यों नहीं ?

नवीन—रहो। झूंठ और सच हमारे ही में कल्पित हैं, और हम दोनों के साक्षी अधिष्ठान हैं।

सिद्धान्ती—जब तुम सत्य और झूंठ के आधार हुए तो साहूकार और चोर के सदृश तुम्हीं हुए। इससे तुम प्रामाणिक भी नहीं रहे। क्योंकि प्रामाणिक वह होता है, जो सर्वदा सत्य माने सत्य बोले सत्य करे, झूंठ न माने झूंठ न बोले और झूंठ कदाचित् न करे। जब तुम अपनी बात को आप ही झूंठ करते[1] हो तो तुम अपने आप मिथ्यावादी हो।

नवीन—अनादि माया जो कि ब्रह्म के आश्रय और ब्रह्म ही का आवरण करती है, उसको मानते हो वा नहीं ?

सिद्धान्ती—नहीं मानते। क्योंकि तुम माया का अर्थ ऐसा करते हो कि जो वस्तु न हो और भासे है। तो इस बात को वह मानेगा जिसके हृदय की आंख फूट गई हो। क्योंकि जो वस्तु नहीं उसका भासमान होना सर्वथा असंभव है। जैसा वन्ध्या के पुत्र का प्रतिबिम्ब कभी नहीं हो सकता। और यह 'सन्मूलाः सोम्येमाः प्रजाः'[2] इत्यादि छान्दोग्य [आदि] उपनिषदों के वचनों से विरुद्ध कहते हो।

नवीन—क्या तुम वसिष्ठ शङ्कराचार्य आदि और निश्चलदास पर्य्यन्त, जो तुमसे अधिक पण्डित हुए हैं उन्होंने लिखा है, उसको

---

१. 'कहते' चाहिये। २. छां०उप० ६।८।४॥ यहां 'सर्वाः प्रजाः' पाठ है।

खण्डन करते हो ? हमको तो वसिष्ठ शङ्कराचार्य और निश्चलदास आदि अधिक दीखते हैं।

सिद्धान्ती—तुम विद्वान् हो वा अविद्वान् ?

नवीन—हम भी कुछ विद्वान् हैं।

सिद्धान्ती—अच्छा तो वसिष्ठ शङ्कराचार्य और निश्चलदास के पक्ष का हमारे सामने स्थापन करो, हम खण्डन करते हैं। जिसका पक्ष सिद्ध हो वही बड़ा है। जो उनकी और तुम्हारी बात अखण्डनीय होती, तो तुम उनकी युक्तियां लेकर हमारी बात को खण्डन क्यों न कर सकते ? तब तुम्हारी और उनकी बात माननीय होवे। अनुमान है कि शङ्कराचार्य आदि ने तो जैनियों के मत के खण्डन करने ही के लिये यह मत स्वीकार किया हो। क्योंकि देशकाल के अनुकूल अपने पक्ष को सिद्ध करने के लिये बहुत से स्वार्थी विद्वान् अपने आत्मा के ज्ञान से विरुद्ध भी कर लेते हैं। और जो इन बातों को अर्थात् जीव ईश्वर की एकता, जगत् मिथ्या आदि व्यवहार सच्चा नहीं मानते थे, तो उनकी बात सच्ची नहीं हो सकती।

और निश्चलदास का पाण्डित्य देखो, ऐसा है—'जीवो ब्रह्माऽभिन्नश्चेतनत्वात्' उन्होंने वृत्तिप्रभाकर[1] में जीव ब्रह्म की एकता के लिये अनुमान लिखा है कि 'चेतन होने से जीव ब्रह्म से अभिन्न है।' यह बहुत कम-समझ पुरुष की बात के सदृश बात है। क्योंकि साधर्म्यमात्र से एक-दूसरे के साथ एकता नहीं होती, वैधर्म्य भेदक होता है। जैसे कोई कहे कि 'पृथिवी जलाऽभिन्ना जडत्वात्' जड़ के होने से पृथिवी जल से अभिन्न है। जैसा यह वाक्य सङ्गत कभी नहीं हो सकता, वैसे निश्चलदास जी का भी लक्षण[2] व्यर्थ है। क्योंकि जो अल्प अल्पज्ञता और भ्रान्तिमत्त्वादि धर्म जीव में ब्रह्म से, और सर्वगत सर्वज्ञता और निर्भ्रान्तित्वादि वैधर्म्य ब्रह्म में जीव से विरुद्ध हैं, इससे ब्रह्म और जीव भिन्न-भिन्न हैं।

---

१. द्वितीय प्रकाश वृत्ति ६।

२. यहां 'अनुमान' शब्द होना चाहिये।

जैसे गन्धवत्त्व कठिनत्व आदि भूमि के धर्म, रसवत्त्व द्रवत्वादि जल के धर्म से विरुद्ध होने से पृथिवी और जल एक नहीं। वैसे जीव और ब्रह्म के वैधर्म्य [युक्त] होने से जीव और ब्रह्म एक न कभी थे, न है और न कभी होंगे। इतने ही से निश्चलदासादि को समझ लीजिये कि उनमें कितना पाण्डित्य था। और जिसने योगवासिष्ठ बनाया है, वह कोई आधुनिक वेदान्ती था, न वाल्मीकि वसिष्ठ और रामचन्द्र का बनाया वा कहा सुना है। क्योंकि वे सब वेदानुयायी थे, वेद से विरुद्ध न बना सकते और न कह सुन सकते थे।

प्रश्न—क्या व्यासजी ने जो शारीरक सूत्र बनाये हैं, उनमें भी जीव ब्रह्म की एकता [नहीं] दीखती है? देखो—

सम्पद्याऽऽविर्भावः स्वेन शब्दात् ॥१॥
ब्राह्मेण जैमिनिरुपन्यासादिभ्यः ॥२॥
चितितन्मात्रेण तदात्मकत्वादित्यौडुलोमिः ॥३॥
एवमप्युपन्यासात् पूर्वभावादविरोधं बादरायणः ॥४॥
अत एव चानन्याधिपतिः ॥५॥[1]

अर्थात् जीव अपने स्व-स्वरूप को प्राप्त होकर प्रकट होता है जो कि पूर्व ब्रह्मस्वरूप था। क्योंकि 'स्व' शब्द से अपने ब्रह्मस्वरूप का ग्रहण होता[2] है ॥१॥

'अयमात्मा अपहतपाप्मा'[3] इत्यादि उपन्यास ऐश्वर्य-प्राप्ति पर्यन्त हेतुओं से ब्रह्मस्वरूप से जीव स्थित होता है, ऐसा जैमिनि आचार्य का मत है ॥२॥

और औडुलोमि आचार्य्य तदात्मकस्वरूप निरूपणादि बृहदारण्यक के हेतुरूप के वचनों से चैतन्यमात्र स्वरूप से जीव मुक्ति में स्थित रहता है ॥३॥

व्यासजी इन्हीं पूर्वोक्त उपन्यासादि ऐश्वर्यप्राप्तिरूप हेतुओं से जीव का ब्रह्म स्वरूप होने में अविरोध मानते हैं ॥४॥

---

१. वेदान्त ४।४।१, ५, ६, ७, ६। २. सं० २ में 'होती' अपपाठ।
३. छां० उप० ८।७।१॥

योगी ऐश्वर्य सहित अपने ब्रह्मस्वरूप को प्राप्त होकर अन्य अधिपति से रहित अर्थात् स्वयं आप अपना और सबका अधिपति-रूप ब्रह्मस्वरूप से मुक्ति में स्थित रहता है ॥५॥

उत्तर—इन सूत्रों का अर्थ इस प्रकार नहीं। किन्तु इनका यथार्थ [अर्थ] यह है। सुनिये—

जबतक जीव अपने स्वकीय शुद्धस्वरूप को प्राप्त सब मलों से रहित होकर पवित्र नहीं होता तबतक योग से ऐश्वर्य को प्राप्त होकर अपने अन्तर्यामी ब्रह्म को प्राप्त होके आनन्द में स्थित नहीं हो सकता ॥१॥

इसी प्रकार जब पापादि रहित ऐश्वर्ययुक्त योगी होता है तभी ब्रह्म के साथ मुक्ति के आनन्द को भोग सकता है। ऐसा जैमिनि आचार्य का मत है ॥२॥

जब अविद्यादि दोषों से छूट शुद्ध चैतन्यमात्र स्वरूप से जीव स्थिर होता है, तभी 'तदात्मकत्व' अर्थात् ब्रह्मस्वरूप के साथ सम्बन्ध को प्राप्त होता है। [ऐसा औडुलोमि आचार्य का मत है] ॥३॥

जब ब्रह्म के साथ ऐश्वर्य और शुद्ध विज्ञान को [प्राप्त करके] जीते ही जीवन्मुक्त होता है, तब अपने निर्मल[1] पूर्व स्वरूप को प्राप्त होकर आनन्दित होता है, ऐसा व्यासमुनिजी का मत है ॥४॥

जब योगी का सत्य संकल्प होता है, तब स्वयं परमेश्वर को प्राप्त होकर मुक्ति सुख को पाता है। वहां स्वाधीन स्वतन्त्र रहता है। जैसा संसार में एक प्रधान दूसरा अप्रधान होता है, वैसा मुक्ति में नहीं। किन्तु सब मुक्त जीव एक से रहते हैं ॥५॥

जो ऐसा न हो तो—

नेतरोऽनुपपत्तेः ॥१॥[2]

भेदव्यपदेशाच्च ॥२॥[3]

विशेषणभेदव्यपदेशाभ्यां [च] नेतरौ ॥३॥[4]

---

१. सं० २ में 'निर्मल जब कि पूर्व' अपपाठ। २. वेदान्त १।१।१६॥
३. वेदान्त १।१।१७॥ ४. वेदान्त १।२।२२॥

अस्मिन्नस्य च तद्योगं शास्ति ॥४॥[1]

अन्तस्तद्धर्मोपदेशात् । ५॥[2]

भेदव्यपदेशाच्चान्यः ।६॥[3]

गुहां प्रविष्टावात्मानौ हि तद्दर्शनात् ॥७॥[4]

अनुपपत्तेस्तु न शारीरः । ८॥[5]

अन्तर्याम्यधिदैवादिषु तद्धर्मव्यपदेशात् ॥९॥[6]

शारीरश्चोभयेऽपि हि भेदेनैनमधीयते ॥१०॥[7]

(व्यासमुनिकृतवेदान्तसूत्राणि)

अर्थ—ब्रह्म से इतर जीव सृष्टिकर्त्ता नहीं हैं। क्योंकि इस अल्प, अल्पज्ञ [अल्प]सामर्थ्यवाले जीव में सृष्टिकर्तृत्व नहीं घट सकता। इससे जीव ब्रह्म नहीं ॥१॥

'रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति' यह उपनिषद्[8] का वचन है। जीव और ब्रह्म भिन्न हैं क्योंकि इन दोनों का भेद प्रतिपादन किया है। जो ऐसा न होता, तो रस अर्थात् आनन्दस्वरूप ब्रह्म को प्राप्त होकर जीव आनन्दस्वरूप होता है, यह प्राप्तिविषय ब्रह्म और प्राप्त होनेवाले जीव का निरूपण नहीं घट सकता। इसलिये जीव और ब्रह्म एक नहीं ॥२॥

दिव्यो ह्यमूर्त्तः पुरुषः स बाह्याभ्यन्तरो ह्यजः ।
अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रोऽक्षरात्परतः परः ॥ मुण्डकोपनिषदि ।[9]

दिव्य शुद्ध, मूर्तिमत्त्वरहित, सबमें पूर्ण, बाहर-भीतर निरन्तर व्यापक, अज जन्म-मरण-शरीरधारणादि रहित, श्वास-प्रश्वास शरीर और मन के सम्बन्ध से रहित, प्रकाशस्वरूप इत्यादि परमात्मा के विशेषण, और अक्षर नाशरहित प्रकृति से परे अर्थात् सूक्ष्म जीव,

---

१. वेदान्त १।१।१९॥ २. वेदान्त १।१।२०॥
३. वेदान्त १।१।२१॥ ४. वेदान्त १।२।११॥
५. वेदान्त १।२।३॥ ६. वेदान्त १।२।१८॥
७. वेदान्त १।२।२०॥ ८. तै० उप० ब्रह्मा० वल्ली ७।
९. मुण्डकोप० २।१।२॥ वहां 'शुभ्रो ह्यक्षरात्' पाठ है।

उससे भी परमेश्वर परे अर्थात् ब्रह्म सूक्ष्म है। प्रकृति और जीवों से ब्रह्म का भेद प्रतिपादनरूप हेतुओं से प्रकृति और जीवों से ब्रह्म भिन्न है ॥३॥

इसी सर्वव्यापक ब्रह्म में जीव का योग वा जीव में ब्रह्म का योग प्रतिपादन करने से जीव और ब्रह्म भिन्न हैं। क्योंकि योग भिन्न पदार्थों का हुआ करता है ॥४॥

इस ब्रह्म के अन्तर्यामि[1] आदि धर्म कथन किये हैं और जीव के भीतर व्यापक होने से व्याप्य जीव व्यापक ब्रह्म से भिन्न हैं। क्योंकि व्याप्य-व्यापक सम्बन्ध भी भेद मे संघटित होता है ॥५॥

जैसे परमात्मा जीव से भिन्न-स्वरूप है, वैसे इन्द्रिय अन्तःकरण पृथिवी आदि भूत, दिशा, वायु, सूर्यादि तथा दिव्य गुणों के योग[2] से देवतावाच्य विद्वानों से भी परमात्मा भिन्न है ॥६॥

'गुहां प्रविष्टौ सुकृतस्य लोके'[3] इत्यादि उपनिषदों के वचनों से जीव और परमात्मा भिन्न हैं। वैसा ही उपनिषदों में बहुत ठिकाने दिखलाया है ॥७॥

'शरीरे भवः शारीरः' शरीरधारी जीव ब्रह्म नहीं है। क्योंकि ब्रह्म के गुण-कर्म-स्वभाव जीव में नहीं घटते ॥८॥

(अधिदेव[4]) सब दिव्य मन आदि इन्द्रियादि पदार्थों (अधिभूत) पृथिव्यादि भूत (अध्यात्म) सब जीवों में परमात्मा अन्तर्यामीरूप से स्थित है। क्योंकि उसी परमात्मा के व्यापकत्वादि धर्म सर्वत्र उपनिषदों में व्याख्यात हैं ॥९॥

शरीरधारी जीव ब्रह्म नहीं है। क्योंकि ब्रह्म से जीव का भेद स्वरूप से सिद्ध है ॥१०॥

इत्यादि शारीरक सूत्रों से भी स्वरूप से ब्रह्म और जीव का भेद सिद्ध है। वैसे ही वेदान्तियों का 'उपक्रम' और 'उपसंहार' भी नहीं घट सकता, क्योंकि 'उपक्रम' अर्थात् आरम्भ ब्रह्म से और 'उपसंहार'

---

१. द्र०पृ०४४४टि०१। २. कठोप०३।२—'सुकृतस्य लोके गुहां प्रविष्टौ'। ३. सं० २ में (अधिदैव) अपपाठ। ४. सं० २ में 'भोग' अपपाठ।

अर्थात् प्रलय भी ब्रह्म ही में करते हैं। जब दूसरा कोई वस्तु नहीं मानते तो उत्पत्ति और प्रलय भी ब्रह्म के धर्म हो जाते हैं। और उत्पत्ति विनाशरहित ब्रह्म का प्रतिपादन वेदादि सत्यशास्त्रों में किया है, वह नवीन वेदान्तियों पर कोप करेगा। क्योंकि निर्विकार, अपरिणामि,[1] शुद्ध, सनातन, निर्भ्रान्तित्वादि विशेषणयुक्त ब्रह्म में विकार, उत्पत्ति और अज्ञान आदि का सम्भव किसी प्रकार नहीं हो सकता। तथा उपससहार=प्रलय के होने पर भी ब्रह्म कारणात्मक जड [विरुद्ध] और जीव बराबर बने रहते हैं। इसलिये उपक्रम और उपसंहार भी इन वेदान्तियों की कल्पना झूंठी है। ऐसी अन्य बहुत सी अशुद्ध बातें हैं कि जो शास्त्र और प्रत्यक्षादि प्रमाणों से विरुद्ध हैं।

इसके पश्चात् कुछ जैनियों और [कुछ] शंकराचार्य के अनुयायी लोगों के उपदेश के संस्कार आर्यावर्त्त में फैले थे, और आपस में खण्डन-मण्डन भी चलता था[२]। शंकराचार्य के तीन सौ वर्ष के पश्चात् उज्जैन नगरी में विक्रमादित्य राजा कुछ प्रतापी हुआ, जिसने सब राजाओं के मध्य प्रवृत्त हुई लड़ाई को मिटाकर शान्ति स्थापन की। तत्पश्चात् भर्तृहरि राजा काव्यादि शास्त्र और अन्य [विषयों] में कुछ-कुछ विद्वान् हुआ। उसने[3] वैराग्यवान् होकर राज्य को छोड़ दिया।

विक्रमादित्य के पांच सौ वर्ष के पश्चात् राजा भोज हुआ[४]। उसने थोड़ासा व्याकरण और काव्यालंकारादि का इतना प्रचार किया कि जिसके राज्य में कालिदास बकरी चरानेवाला भी रघुवंश काव्य का कर्त्ता हुआ[५]। राजा भोज के पास जो कोई अच्छा श्लोक बनाकर

---

१. सं २ में यही पाठ है। ब्रह्म के नपुंसकलिङ्ग होने से यही युक्त है।

१. बौद्धों में वसुबन्धु, दिङ्नाग, ईश्वरसेन और धर्मकीर्ति आदि हुए। दूसरी ओर उद्योतकर कुमारिल और वाचस्पति मिश्र आदि हुए।

२. सं० २ में 'वह' अपपाठ।

३. 'भोज' नाम के कई राजा हुए हैं। परन्तु यहां जिस भोज राजा की ओर संकेत है वह विक्रम से एक सहस्र वर्ष पश्चात् हुआ था।

४. यह किंवदन्ती है। रघुवंश का रचयिता हरिषेण उपनाम कालीदास समुद्रगुप्त का मन्त्री था। (द्र० कृष्णचरित) भोजकालीन कालिदास अन्य है।

ले जाता था, उसको बहुत सा धन देते थे और प्रतिष्ठा होती थी।[1] उसके पश्चात् राजाओं और श्रीमानों ने पढ़ना ही छोड़ दिया।

यद्यपि शंकराचार्य के पूर्व वाममार्गियों के पश्चात् शैव आदि सम्प्रदायस्थ मतवादी भी हुए थे, परन्तु उनका बहुत बल नहीं हुआ था। महाराजा विक्रमादित्य से लेके शैवों का बल बढ़ता आया। शैवों में पाशुपतादि बहुत-सी शाखा हुई थीं, जैसी वाममार्गियों में दश महाविद्यादि की शाखा हैं।

लोगों ने शंकराचार्य को शिव का अवतार ठहराया। उन के अनुयायी संन्यासी भी शैवमत में प्रवृत्त हो गये और वाममार्गियों को भी मिलाते[2] रहे। वाममार्गी, देवी जो शिव जी की पत्नी है, उसके उपासक, और शैव महादेव के उपासक हुये। ये दोनों रुद्राक्ष और भस्म अद्यावधि धारण करते हैं। परन्तु जितने वाममार्गी वेदविरोधी है, वैसे शैव नहीं हैं।

धिक् धिक् कपालं भस्मरुद्राक्षविहीनम् ॥१॥

रुद्राक्षान् कण्ठदेशे दशनपरिमितान् मस्तके विंशती द्वे,
षट् षट् कर्णप्रदेशे करयुगलगतान् द्वादशान् द्वादशैव।
बाह्वोरिन्दोः कलाभिः पृथगिति गदितमेकमेवं शिखायाम्,
वक्षस्यष्टाऽधिकं यः कलयति शतकं स स्वयं नीलकण्ठः॥२॥

इत्यादि बहुत प्रकार के श्लोक इन लोगों ने बनाये। और कहने लगे कि जिसके कपाल में भस्म और कण्ठ में रुद्राक्ष नहीं है उसको धिक्कार है। 'तं त्यजेदन्त्यजं यथा'[3] उसको चाण्डाल के तुल्य त्याग करना चाहिये ॥१॥ जो कण्ठ में ३२, शिर में ४०, छः-छः कानों में, बारह-बारह करों में, सोलह सोलह-भुजाओं में, १ शिखा में और हृदय में १०८ रुद्राक्ष धारण करता है, वह साक्षात् महादेव के सदृश है ॥२॥

ऐसा ही शाक्त भी मानते हैं।

---

१. द्रष्टव्य भोजप्रबन्ध ग्रन्थ। २. सं० २, ३४, ३५, में 'मिलते' अपपाठ है। ३. तुलना—'तं त्यजेदधमं यथा।' भविष्य पुराण विश्वेश्वर संहिता १, अ० २३, श्लोक १३॥

पश्चात् इन वाममार्गियों और शैवों ने सम्मति करके भग-लिङ्ग का स्थापन किया, जिसको जलाधारी और लिङ्ग कहते हैं। और उसकी पूजा करने लगे। उन निलज्जों को तनिक भी लज्जा न आई कि यह पामरपन का काम हम क्यों करते हैं? किसी कवि ने कहा है कि '**स्वार्थी दोष न पश्यति**'[1] स्वार्थी लोग अपने स्वार्थ सिद्धि करने में दुष्ट कामों को भी श्रेष्ठ मान दोष को नहीं देखते हैं। उसी पाषाणादि मूर्ति और भग-लिङ्ग की पूजा में सारे धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष आदि सिद्धियां मानने लगे।

जब राजा भोज के पश्चात् जैनी लोग अपने मन्दिरों में मूर्त्ति स्थापन करने और दर्शन-पर्शन[2] को आने जाने लगे, तब तो इन पोपों के चेले भी जैन मन्दिर में जाने आने लगे। और उधर पश्चिम में कुछ दूसरों के मत[3] और यवन[4] लोग भी आर्यावर्त्त में आने जाने लगे। तब पोपों ने यह श्लोक बनाया—

न वदेद्यावनीं भाषां प्राणैः कण्ठगतैरपि ।
हस्तिना ताड्यमानोऽपि न गच्छेज्जैनमन्दिरम् ॥[5]

चाहे कितना ही दुःख प्राप्त हो और प्राण कण्ठगत अर्थात् मृत्यु का समय भी क्यों न आया हो, तो भी यावनी अर्थात् म्लेच्छ-भाषा मुख से न बोलनी और उन्मत्त हस्ती मारने को क्यों न दौड़ा आता हो और जैन के मन्दिर में जाने से प्राण बचता हो तो भी जैन मन्दिर में प्रवेश न करे, किन्तु जैन मन्दिर में प्रवेश कर बचने से हाथी के सामने जाकर मर जाना अच्छा है।

ऐसे-ऐसे अपने चेलों को उपदेश करने लगे। जब उनसे कोई प्रमाण पूछता था कि तुम्हारे मत में किसी माननीय ग्रन्थ का भी प्रमाण है? तो कहते थे कि हां है। जब वे पूछते थे कि दिखलाओ,

---

१. तुलना—'अर्थी दोषं न पश्यति।' चाणक्य नीति ६।८॥

२ सम्भवतः अन्य मतों का भारत में प्रवेश अभिप्रेत है। अथवा यहां 'दूसरे मत के' पाठ होना चाहिये। ३. अर्थात् मुसलमान।

४. 'गजैरापीड्यमानोऽपि' पाठान्तर से भविष्य पुराण, प्रतिसर्ग पर्व ३, खं० ३, अ० २८, श्लो० ५३॥ ५. अर्थात् दर्शन-स्पर्शन।

तब मार्कण्डेय पुराणादि के वचन पढ़ते और सुनाते थे, जैसा कि दुर्गापाठ में देवी का वर्णन लिखा है।

राजा भोज के राज्य में व्यासजी के नाम से मार्कण्डेय और शिवपुराण किसी ने बनाकर खड़ा किया था। उसका समाचार राजा भोज को [विदित] होने से उन पण्डितों को हस्तछेदनादि दण्ड दिया, और उनसे कहा कि जो काव्यादि ग्रन्थ बनावे तो अपने नाम से बनावे, ऋषि मुनियों के नाम से नहीं। यह बात राजा भोज के बनाये 'सञ्जीवनी'[1] नामक इतिहास में लिखी है कि जो ग्वालियर राज्य के[2] "भिंड" नामक नगर के तिवाड़ी ब्राह्मणों के घर में है। जिसको लखुना के रावसाहेब और उनके गुमाश्ते रामदयाल चौबे जी ने अपनी आंख से देखा है।

उसमें स्पष्ट लिखा है कि व्यासजी ने चार सहस्र चार सौ, और उनके शिष्यों ने पांच सहस्र छः सौ श्लोकयुक्त अर्थात् सब दश सहस्र श्लोकों के प्रमाण भारत बनाया था। वह महाराजा विक्रमादित्य के समय में बीस सहस्र, महाराजा भोज कहते हैं कि मेरे पिता जी के समय में पच्चीस, और अब मेरी आधी उमर में तीस सहस्र श्लोक-युक्त महाभारत का पुस्तक मिलता है। जो ऐसे ही बढ़ता चला तो महाभारत का पुस्तक एक ऊंट का बोझा हो जायगा। और ऋषि मुनियों के नाम से पुराणादि ग्रन्थ बनावेंगे, तो आर्यावर्त्तीय लोग भ्रमजाल में पड़के वैदिकधर्मविहीन होके भ्रष्ट हो जायेंगे।

इससे विदित होता है कि राजा भोज को कुछ-कुछ वेदों का संस्कार था। इनके[3] भोजप्रबन्ध में लिखा है कि--

घट्यैकया क्रोशदशैकमश्वः, सुकृत्रिमो गच्छति चारुगत्या।
वायुं ददाति व्यजनं सुपुष्कलं, विना मनुष्येण चलत्यजस्रम्॥[4]

---

१. इस ग्रन्थ का निर्देश पूना प्रवचन (व्या० १३) में भी मिलता है।
२. सं० २ में 'ग्वालियर के राज्य' पूर्वापर अपपाठ।
३. अर्थात् इनके सम्बन्ध में लिखे भोज-प्रबन्ध में।
४. यह श्लोक भोज-प्रबन्ध में नहीं मिलता। राजा भोज विरचित

राजा भोज के राज्य में और समीप ऐसे-ऐसे शिल्पी लोग थे कि जिन्होंने घोड़े के आकार [का] एक यान यन्त्रकलायुक्त बनाया था कि जो एक कच्ची घड़ी में ग्यारह कोश और एक घण्टे में साढ़े सत्ताईस कोश जाता था। वह भूमि और अन्तरिक्ष में भी चलता था। और दूसरा पंखा ऐसा बनाया था कि विना मनुष्य के चलाये कलायन्त्र के बल से नित्य चला करता और पुष्कल वायु देता था। जो ये दोनों पदार्थ आज तक बने रहते, तो यूरोपियन इतने अभिमान में न चढ़ जाते।

जब पोपजी अपने चेलों को जैनियों से रोकने लगे तो भी मन्दिरों में जाने से न रुक सके और जैनियों की कथा में भी लोग जाने लगे। जैनियों के पोप इन पुराणियों के पोपों के चेलों को बहकाने लगे। तब पुराणियों ने विचारा कि इसका कोई उपाय करना चाहिये, नहीं तो अपने चेले जैनी हो जायेंगे। पश्चात् पोपों ने यही सम्मति की कि जैनियों के सदृश अपने भी अवतार, मन्दिर मूर्त्ति और कथा के पुस्तक बनावें। इन लोगों ने जैनियों के चौबीस तीर्थङ्करों के सदृश चौबीस अवतार, मन्दिर और मूर्त्तियां बनाईं। और जैसे जैनियों के 'आदि' और 'उत्तर' पुराणादि हैं, वैसे अठारह पुराण बनाने लगे।

राजा भोज के डेढ़ सौ वर्ष के पश्चात् वैष्णव मत का आरम्भ हुआ। एक शठकोप नामक कन्जरवर्ण में उत्पन्न हुआ था।[1] उससे थोड़ा सा चला। उसके पश्चात् मुनिवाहन भङ्गी कुलोत्पन्न[2], और तीसरा यावनाचार्य यवनकुलोत्पन्न आचार्य हुआ। तत्पश्चात् ब्राह्मणकुलज चौथा रामानुज हुआ। उसने अपना मत फैलाया। शैवों ने शिवपुराणादि, शाक्तों ने देवीभागवतादि, वैष्णवों ने विष्णुपुराणादि

'समराङ्गण सूत्रधार' नामक ग्रन्थ के यन्त्राध्याय में ऐसे अनेक यन्त्र बनाने की प्रक्रिया का निर्देश मिलता है। उसमें विमान बनाने की विधि भी लिखी है।

१. द्र० पं० शिवशङ्कर मिश्र कृत 'भारत का धार्मिक इतिहास' द्वि० सं० पृष्ठ ३२२।

२. द्र० कल्याण मासिक (गोरखपुर), अगस्त १९२३ ई०।

बनाये। उनमें अपना नाम इसलिये नहीं धरा कि हमारे नाम से बनेंगे तो कोई प्रमाण न करेगा। इसलिये व्यासादि ऋषि-मुनियों के नाम धरके पुराण बनाये। नाम भी इनका वास्तव में नवीन रखना चाहिये था, परन्तु जैसे कोई दरिद्र अपने बेटे का नाम महा-राजाधिराज, और आधुनिक पदार्थ का नाम सनातन रख दे, तो क्या आश्चर्य है? अब इनके आपस के जैसे झगड़े हैं, वैसे ही पुराणों में भी धरे हैं।

देखो! देवीभागवत में 'श्री' नामा[1] एक देवी स्त्री, जो श्रीपुर की स्वामिनी लिखी है, उसी ने सब जगत् को बनाया। और ब्रह्मा, विष्णु, महादेव को भी उसी ने रचा। जब उस देवी को इच्छा हुई, तब उसने अपना हाथ घिसा। उससे हाथ में एक छाला हुआ। उसमें से ब्रह्मा की उत्पत्ति हुई। उससे देवी ने कहा कि तू मुझसे विवाह कर। ब्रह्मा ने कहा कि तू मेरी माता[2] है। मैं तुझसे विवाह नहीं कर सकता। ऐसा सुनकर माता को क्रोध चढ़ा, और लड़के को भस्म कर दिया। और फिर हाथ घिसके उसी प्रकार दूसरा लड़का उत्पन्न किया। उसका नाम विष्णु रक्खा। उससे भी उसी प्रकार कहा। उसने न माना, तो उसको भी भस्म कर दिया। पुनः उसी प्रकार तीसरे लड़के को उत्पन्न किया। उसका नाम महादेव रक्खा, और उससे कहा कि तू मुझसे विवाह कर। महादेव बोला कि मैं तुझसे विवाह नहीं कर सकता। तू दूसरा स्त्री का शरीर धारण कर। वैसा ही देवी ने किया। तब महादेव बोला कि यह दो ठिकाने राख सी क्या पड़ी है? देवी ने कहा कि ये दोनों तेरे भाई हैं। इन्होंने मेरी आज्ञा न मानी, इसलिये भस्म कर दिये। महादेव ने कहा कि मैं अकेला क्या करूंगा? इनको जिला दे, और दो स्त्री और उत्पन्न कर। तीनों का विवाह तीनों से होगा। ऐसा ही देवी ने किया। फिर तीनों का तीनों के साथ विवाह हुआ।

---

१. सं० २ में 'नाम' पाठ है।

२. वै० य० मुद्रित कुछ संस्करणों में 'माता लगती है' पाठ है।

वाह रे! माता से विवाह न किया, और बहिन से कर लिया! क्या इसको उचित समझना चाहिये? पश्चात् इन्द्रादि को उत्पन्न किया। ब्रह्मा विष्णु रुद्र और इन्द्र इनको पालकी के उठानेवाले कहार बनाया। इत्यादि गपोड़े लम्बे-चौड़े मनमाने लिखे हैं। कोई उनसे पूंछे कि उस देवी का शरीर और उस श्रीपुर का बनानेवाला और देवी के माता-पिता कौन थे? जो कहो कि देवी अनादि है, तो जो संयोगजन्य वस्तु है, वह अनादि कभी नहीं हो सकता। जो माता-पुत्र के विवाह करने में डरे, तो भाई बहिन के विवाह में कौनसी अच्छी बात निकलती है?

जैसी इस देवीभागवत में महादेव विष्णु और ब्रह्मादि की क्षुद्रता और देवी की बड़ाई लिखी है, इसी प्रकार शिव पुराण में देवी आदि की बहुत क्षुद्रता लिखी है, अर्थात् ये सब महादेव के दास और महादेव सबका ईश्वर है। जो रुद्राक्ष अर्थात् एक वृक्ष के फल की गोठली और राख धारण करने से मुक्ति मानते हैं, तो राख में लोटनेहारे गदहा आदि पशु और घुंघुची आदि के धारण करनेवाले भील कंजर आदि मुक्ति को जावें। और सुअर कुत्ते गधा आदि पशु राख में लोटनेवालों की मुक्ति क्यों नहीं होती?

प्रश्न—कालाग्निरुद्रोपनिषद् में भस्म लगाने का विधान लिखा है,[1] वह क्या झूठा है? और 'त्र्यायुषं जमदग्नेः०' यजुर्वेदवचन,[2] इत्यादि वेदमन्त्रों से भी भस्म-धारण का विधान। और पुराणों में रुद्र की आंख के अश्रुपात से जो वृक्ष हुआ, उसी का नाम रुद्राक्ष[3] है। इसीलिये उसके धारण में पुण्य लिखा है। एक भी रुद्राक्ष धारण करे, तो सब पापों से छूट स्वर्ग को जाय[4]। यमराज और नरक का डर न रहै।

---

१. भस्मत्रिपुण्ड्रधारणे विनियोगः। २. अ० ३, मन्त्र ६२।

३. रुद्राक्षजाबालोपनिषद्–त्रिपुरवधार्थमहं निमीलिताक्षोऽभवम्। तेभ्यो जलबिन्दवो भूमौ पतितास्ते रुद्राक्षा जाताः ॥१॥ तथा २० द्र०।

४. द्र०—रुद्राक्षजाबालोप० ४, ८॥

उत्तर—कालाग्निरुद्रोपनिषद् किसी 'रखोड़िय' मनुष्य, अर्थात् राख धारण करनेवाले ने बनाई है। क्योंकि **'यास्य प्रथमा रेखा सा भूर्लोकः'**[1] इत्यादि वचन उसमें[2] अनर्थक हैं। जो प्रतिदिन हाथ से बनाई रेखा है, वह भूलोक वा इसका वाचक कैसे हो सकती है? और जो 'त्र्यायुषं जमदग्नेः' इत्यादि मन्त्र हैं, वे भस्म वा त्रिपुण्ड्र-धारण के वाची नहीं, किन्तु 'चक्षुर्वै जमदग्निः' शतपथ[3]। हे परमेश्वर! मेरे नेत्र की ज्योति (त्र्यायुषम्) तिगुणी अर्थात् तीन सौ वर्ष पर्यन्त रहै, और मैं भी ऐसे धर्म के काम करूं कि जिससे दृष्टि-नाश न हो।

भला यह कितनी बड़ी मूर्खता की बात है कि आंख के अश्रुपात से भी वृक्ष उत्पन्न हो सकता है? क्या परमेश्वर के सृष्टिक्रम को कोई अन्यथा कर सकता है? जैसा जिस वृक्ष का बीज परमात्मा ने रचा है, उसी से वह वृक्ष उत्पन्न हो सकता है, अन्यथा नहीं। इससे जितना रुद्राक्ष भस्म तुलसी कमलाक्ष घास चन्दन आदि को कण्ठ में धारण करना है, वह सब जङ्गली पशुवत् मनुष्य का काम है।

ऐसे वाममार्गी और शैव बहुत मिथ्याचारी विरोधी और कर्त्तव्य कर्म के त्यागी होते हैं। उनमें जो कोई श्रेष्ठ पुरुष है, वह इन बातों का विश्वास न करके अच्छे कर्म करता[4] है। जो रुद्राक्ष भस्म धारण से यमराज के दूत डरते हैं, तो पुलिस के सिपाही भी डरते होंगे? जब रुद्राक्ष भस्म धारण करनेवालों से कुत्ता सिंह सर्प बिच्छू मक्खी और मच्छर आदि भी नहीं डरते, तो न्यायाधीश[5] के गण क्यों डरेंगे?

प्रश्न—वाममार्गी और शैव तो अच्छे नहीं, परन्तु वैष्णव तो अच्छे हैं?

---

१. द्र०—यास्य प्रथमा रेखा सा गार्हपत्यश्चकारो रजो भूर्लोकः, इत्यादि। कालाग्निरुद्रोप०। २. 'उस में' यह पाठ समर्थदान ने बढ़ाया। भ० द०। यह अनर्थक है। इसके विना भी वाक्यार्थ उत्पन्न हो जाता है।

३. शतपथ ८।१।२।३॥ ४. सं० २ में 'कर्त्ता' अपपाठ है।

५. अर्थात् यमराज के।

उत्तर—यह भी वेदविरोधी होने से उनसे भी अधिक बुरे हैं।

प्रश्न—'नमस्ते रुद्र मन्यवे'।[1] शिवाय च 'शिवतराय च'।[2] 'वैष्णवमसि'।[3] 'वामनाय च'।[4] 'गणानां त्वा गणपतिं हवामहे'।[5] 'भगवती [हि] भूयाः'।[6] 'सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च'।[7] इत्यादि वेद-प्रमाणों से शैवादि मत सिद्ध होते हैं, पुनः क्यों खण्डन करते हो?

उत्तर—इन वचनों से शैवादि सम्प्रदाय सिद्ध नहीं होते। क्योंकि 'रुद्र' परमेश्वर, प्राणादि वायु, जीव, अग्नि आदि का नाम है। जो क्रोधकर्त्ता 'रुद्र' अर्थात् दुष्टों को रुलानेवाले परमात्मा को नमस्कार करना, प्राण और जाठराग्नि, को अन्न देना। ('नम इति अन्ननाम' निघं० २। ७)। जो मङ्गलकारी, सब संसार का अत्यन्त कल्याण करनेवाला है, उस [शिव] परमात्मा को नमस्कार करना चाहिए।

'शिवस्य परमेश्वरस्यायं भक्तः शैवः'। विष्णोः परमात्मनोऽयं भक्तो वैष्णवः'। 'गणपतेः सकलजगत्स्वामिनोऽयं सेवको गाणपतः'। 'भगवत्या वाण्या अयं सेवकः भागवतः'। सूर्यस्य चराचरात्मनोऽयं सेवकः सौरः'। ये सब रुद्र शिव विष्णु गणपति सूर्यादि परमेश्वर के, और 'भगवती' सत्यभाषणयुक्त वाणी का नाम है। इसमें विना समझे ऐसा झगड़ा मचाया है। जैसे—

एक किसी वैरागी के दो चेले थे। वे प्रतिदिन गुरु के पग दाबा करते थे। एक ने दाहिने पग और दूसरे ने बायें पग की सेवा करनी बांट ली थी। एक दिन ऐसा हुआ कि एक चेला कहीं बजार हाट को चला गया, और दूसरा अपने सेव्य पग की सेवा कर रहा था।

---

१. यजु० १६। १॥

२. यजु० १६।४१॥ यह मन्त्र वै० य० मुद्रित सं० ३४,३५ में है। आगे 'उत्तर' भाग में इसके अर्थ का निर्देश होने से इसका पाठ आवश्यक है। सम्भव है यह मुद्रण में या प्रेसकापी के लेखन में छूट गया।

३. यजु० ५।२१॥ ४. यजु० १६।३०॥ ५. यजु० २३। १९॥

६. अथर्व० ६।१०।२०॥ ७. यजु० १३। ४६॥

इतने में गुरुजी ने करवट फेरा, तो उसके पग पर दूसरे गुरुभाई का सेव्य पग पड़ा। उसने ले डण्डा पग पर धर मारा। गुरु ने कहा कि अरे दुष्ट! तूने यह क्या किया? चेला बोला कि मेरे सेव्य पग के ऊपर यह पग क्यों आ चढ़ा?

इतने में दूसरा चेला, जो कि बजार हाट को गया था, आ पहुंचा। वह भी अपने सेव्य पग की सेवा करने लगा। देखा तो पग सूजा पड़ा है। बोला कि गुरु जी! यह मेरे सेव्य पग में क्या हुआ? गुरु ने सब वृत्तान्त सुना दिया। वह भी मूर्ख न बोला न चाला, चुपचाप डण्डा उठाके बड़े बल से गुरु के दूसरे पग में मारा, तो गुरु ने उच्चस्वर से पुकार मचाई। तब तो दोनों चेले डण्डा लेके [पिल] पड़े, और गुरु के पगों[1] को पीटने लगे।

तब तो बड़ा कोलाहल मचा, और लोग सुनकर आये। कहने लगे कि साधु[2] जी! क्या हुआ? उनमें से किसी बुद्धिमान् पुरुष ने साधु को छुड़ाके पश्चात् उन मूर्ख चेलों को उपदेश किया कि—देखो, ये दोनों पग तुम्हारे गुरु के हैं। उन दोनों की सेवा करने से उसी को सुख पहुंचता, और दुःख देने से भी उसी एक को दुःख होता है।

जैसे एक गुरु की सेवा में चेलाओं ने लीला की, इसी प्रकार जो एक अखण्ड सच्चिदानन्दानन्तस्वरूप परमात्मा के विष्णु-रुद्रादि अनेक नाम हैं, इन नामों का अर्थ जैसा कि प्रथम समुल्लास में प्रकाश कर आये हैं, उस सत्यार्थ को न जानकर शैव शाक्त वैष्णवादि सम्प्रदायी लोग परस्पर एक दूसरे नाम की निन्दा करते हैं। मन्दमति तनिक भी अपनी बुद्धि को फैलाकर नहीं विचारते हैं कि ये सब विष्णु रुद्र शिव आदि नाम एक अद्वितीय सर्वनियन्ता सर्वान्तर्यामी जगदीश्वर के अनेक गुण-कर्म-स्वभावयुक्त होने से उसी के वाचक हैं। भला क्या ऐसे लोगों पर ईश्वर का कोप न होता होगा?

अब देखिये चक्राङ्कित वैष्णवों की अद्भुत माया—

---

१. सं० २ में 'पग' एकवचन अपपाठ है।
२. सं० २ में 'साधू' अपपाठ है। आगे शुद्ध पाठ ही है।

तापः पुण्ड्रं तथा नाम माला मन्त्रस्तथैव च ।
अमी हि पञ्च संस्काराः परमैकान्तहेतवः ॥१॥
अतप्ततनूर्न तदामो अश्नुते[1] **। इति श्रुतेः ॥**[2]

अर्थात् (तापः) शङ्ख, चक्र, गदा और पद्म के चिह्नों को अग्नि में तपाके भुजा के मूल में दाग देकर पश्चात् दुग्धयुक्त पात्र में बुझाते हैं, और कोई उस दूध को पी भी लेते हैं। अब देखिये प्रत्यक्ष ही मनुष्य के मांस का भी स्वाद उसमें आता होगा ? ऐसे-ऐसे कर्मों से परमेश्वर को प्राप्त होने की आशा करते हैं, और कहते हैं कि विना शङ्ख चक्रादि से शरीर तपाये जीव परमेश्वर को प्राप्त नहीं होता । क्योंकि वह '**आमः**' अर्थात् कच्चा है ।

और जैसे राज्य के चपरास आदि चिह्नों के होने से राजपुरुष जान उससे सब लोग डरते हैं, वैसे ही विष्णु के शंख चक्रादि आयुधों के चिह्न देखकर यमराज और उनके गण डरते हैं ।

और कहते हैं कि—

दोहा—**बाना बड़ा दयाल का, तिलक छाप और माल ।**
यम डरपै कालू कहे, भय माने भूपाल ॥[3]

अर्थात् भगवान् का बाना तिलक छाप और माला धारण करना बड़ा है । जिससे यमराज और राजा भी डरता है ।

(पुण्ड्रम्) त्रिशूल के सदृश ललाट में चित्र निकालना । (नाम) नारायणदास विष्णुदास, अर्थात् दास-शब्दान्त नाम रखना । (माला) कमलगट्टे की [माला] रखना । और पांचवां (मन्त्र), जैसे—

ओं नमो नारायणाय ॥१॥

यह इन्होंने साधारण मनुष्यों के लिये मन्त्र बना रक्खा है । तथा—

---

१. ऋ० ६।८३।१।।

२. द्र०—रामानुजपटलपद्धति, पृष्ठ ७ । यहां कुछ पाठभेद है ।

३. द्र०—भक्तमाल, निष्ठा ६ ।

श्रीमन्नारायणचरणं शरणं प्रपद्ये ।।१।।[²][1]
श्रीमते नारायणाय नमः ।।२।।[³][1]
श्रीमते रामानुजाय नमः ।।३।।[⁴][1]

इत्यादि मन्त्र धनाढ्य और माननीयों के लिये बना रक्खे हैं। देखिये, यह भी एक दुकान ठहरी! जैसा मुख वैसा तिलक! इन पांच संस्कारों को चक्राङ्कित मुक्ति के हेतु मानते हैं[2]।

इन मन्त्रों का अर्थ—मैं नारायण को नमस्कार करता हूं ।।१।।

और मैं लक्ष्मीयुक्त नारायण के चरणारविन्द के शरण को प्राप्त होता हूं ।।२।।[3]

और श्रीयुत नारायण को नमस्कार करता हूं, अर्थात् जो शोभायुक्त नारायण है उसको मेरा नमस्कार होवे ।।३।।

[और श्रीयुत रामानुज को मेरा नमस्कार होवे ।।४।।][4]

जैसे वाममार्गी पांच मकार मानते हैं, वैसे चक्राङ्कित पांच संस्कार मानते हैं। और अपने शङ्ख चक्र से दाग देने के लिये जो वेदमन्त्र का प्रमाण रक्खा है, उसका इस प्रकार का पाठ और अर्थ है—

पवित्रं ते विततं ब्रह्मणस्पते प्रभुर्गात्राणि पर्येषि विश्वतः।
अतप्ततनूर्न तदामो अश्नुते शृतास इद्वहन्तस्तत्समाशत ।।१।।
तपोष्पवित्रं विततं दिवस्पदे ।।२।।

ऋ० मं० ६। सू० ८३। मं० १, २।।

हे ब्रह्माण्ड और वेदों के पालन करनेवाले प्रभु! सर्वसामर्थ्य-युक्त सर्वशक्तिमान् आपने अपनी व्याप्ति से संसार के सब अवयवों

१. यह कोष्ठान्तर्गत २, ३, ४ क्रमिक संख्या हमने दी है। क्योंकि आगे मन्त्रार्थ में पूर्व मन्त्र की संख्या को मिलाकर क्रमिक संख्या का निर्देश किया है।

२ तापसंस्कारमात्रेण परां सिद्धिमवाप्नुयात्। बृहद्हारीत स्मृति २।२२।।

३. सं० २ में यह संख्या अस्थान में है।   ४. यह अर्थ छूट गया है।

को व्याप्त कर रक्खा है। उस आपका जो व्यापक पवित्र स्वरूप है, उसको ब्रह्मचर्य सत्यभाषण शम दम योगाभ्यास जितेन्द्रिय सत्संगादि तपश्चर्या से रहित जो अपरिपक्व आत्मा अन्त:करणयुक्त है, वह उस तेरे स्वरूप को प्राप्त नहीं होता। और जो पूर्वोक्त तप से शुद्ध हैं, वे ही इस तप का आचरण करते हुए, उस तेरे शुद्धस्वरूप को अच्छे प्रकार प्राप्त होते है ॥१॥

जो प्रकाशस्वरूप परमेश्वर की सृष्टि में विस्तृत पवित्राचरण रूप तप करते हैं, वे ही परमात्मा को प्राप्त होने में योग्य होते हैं ॥२॥

अब विचार कीजिये कि रामानुजीयादि लोग इस मन्त्र से 'चक्राङ्कित' होना सिद्ध क्योंकर करते हैं ? भला कहिये, वे विद्वान् थे वा अविद्वान् ? जो कहो कि विद्वान् थे, तो ऐसा असम्भावित अर्थ इस मन्त्र का क्यों करते ? क्योंकि इस मन्त्र में 'अतप्ततनू:' शब्द है, किन्तु **'अतप्तभुजैकदेश:'** [नहीं]। पुन: 'अतप्ततनू:' यह नख[1] शिखाग्रपर्यन्त समुदाय अर्थ [वाला][2] है। इस प्रमाण करके अग्नि ही से तपाना चक्राङ्कित लोग स्वीकार करें, तो अपने-अपने शरीर को भाड़ में झोंकके सब शरीर को जलावें, तो भी इस मन्त्र के अर्थ से विरुद्ध है। क्योंकि इस मन्त्र में सत्यभाषणादि पवित्र कर्म करना 'तप' लिया है---

ऋतं तपः सत्यं[3] तपो दमस्तप: स्वाध्यायस्तप: ॥ तैत्तिरीय०[4]

इत्यादि 'तप' कहाता है। अर्थात् (ऋतं तप:) यथार्थ शुद्धभाव, सत्य मानना, सत्य बोलना, सत्य करना, मन को अधर्म में न जाने देना, बाह्य इन्द्रियों को अन्यायाचरणों में जाने से रोकना, अर्थात् शरीर इन्द्रिय और मन से शुभ कर्मों का आचरण करना, वेदादि सत्यविद्याओं का पढ़ना-पढ़ाना, वेदानुसार आचरण करना आदि

१. यहां 'पैर के नखाग्र से शिखा पर्यन्त' पाठ चाहिये।

२. सं०२ में 'यह "समुदाय अर्थ है' पाठ है। यहां 'अर्थ वाला' या 'समुदायार्थक' पाठ चाहिये, अथवा 'यह' के स्थान में 'इसका' पाठ होना चाहिये।

३. इसके आगे तै०आ० में तप: श्रुतं तप: शान्त' पाठ अधिक है। यहां इसका भाषार्थ भी नहीं है। ४. तै० आ० १०।८॥ यहां 'स्वाध्यायस्तप:' पाठ नहीं है।

उत्तम धर्मयुक्त कर्मों का नाम 'तप' है। धातु को तपाके चमड़ी को जलाना 'तप' नहीं कहता।

देखो, चक्राङ्कित लोग अपने को बड़े वैष्णव[1] मानते हैं। परन्तु अपनी परम्परा और कुकर्म की ओर ध्यान नहीं देते कि प्रथम इनका मूलपुरुष 'शठकोप' हुआ, कि जो चक्राङ्कितों ही के ग्रन्थों और भक्तमाल ग्रन्थ जो नाभा डूम ने बनाया है, उनमें लिखा है—

विक्रीय शूर्पं विचचार योगी।[2]

इत्यादि वचन चक्राङ्कितों के ग्रन्थों में लिखे हैं शठकोप योगी सूप को बना बेचकर विचरता था, अर्थात् कंजर जाति में उत्पन्न हुआ था। जब उसने ब्राह्मणों से पढ़ना वा सुनना चाहा होगा, तब ब्राह्मणों ने तिरस्कार किया होगा। उसने ब्राह्मणों के विरुद्ध सम्प्रदाय तिलक चक्राङ्कित आदि शास्त्रविरुद्ध मनमानी बातें चलाई होंगी।

उसका चेला 'मुनिवाहन' जो कि चाण्डाल वर्ण में उत्पन्न हुआ था। उसका चेला 'यावनाचार्य' जो कि यवनकुलोत्पन्न था, जिसका नाम बदलके कोई-कोई 'यामुनाचार्य' भी कहते हैं। उनके पश्चात् 'रामानुज' ब्राह्मण-कुल में उत्पन्न होकर चक्राङ्कित हुआ। उसके पूर्व कुछ भाषा के ग्रन्थ बनाये थे। रामानुज ने कुछ संस्कृत पढ़के संस्कृत में श्लोकबद्ध ग्रन्थ और शारीरक सूत्र, और उपनिषदों की टीका शंकराचार्य की टीका से विरुद्ध बनाई, और शंकराचार्य की बहुत सी निन्दा की। जैसा शंकराचार्य का मत है कि अद्वैत अर्थात् जीव ब्रह्म एक ही हैं, दूसरी कोई वस्तु वास्तविक नहीं, जगत् प्रपञ्च सब मिथ्या मायारूप अनित्य है। इससे विरुद्ध रामानुज का 'जीव, ब्रह्म और माया तीनों नित्य हैं' [मत] है।

यहां शंकराचार्य का मत ब्रह्म से अतिरिक्त जीव और कारण-वस्तु का न मानना अच्छा नहीं। और रामानुज का इस अंश में,

---

१. अर्थात् पवित्र अथवा निरामिषभोजी।

२. दिव्यसूरिचरित, सर्ग २, श्लोक ५२॥

जो कि विशिष्टाद्वैत जीव और मायासहित परमेश्वर एक है, यह तीन का मानना और अद्वैत का कहना सर्वथा व्यर्थ है। और[1] सर्वथा ईश्वर के आधीन परतन्त्र जीव को मानना, कण्ठी तिलक माला मूर्त्ति-पूजनादि पाखण्ड मत चलाने आदि बुरी बातें चक्राङ्कित आदि में हैं। जैसे चक्राङ्कित आदि वेदविरोधी हैं, वैसे शंकराचार्य के मत के नहीं।

प्रश्न—मूर्त्तिपूजा कहां से चली ?

उत्तर—जैनियों से।

प्रश्न—जैनियों ने कहां से चलाई ?

उत्तर—अपनी मूर्खता से।

प्रश्न—जैनी लोग कहते हैं कि शान्त ध्यानावस्थित बैठी हुई मूर्ति देखके अपने जीव का भी शुभ परिणाम वैसा ही होता है।

उत्तर—जीव चेतन और मूर्त्ति जड़[है]। क्या मूर्त्ति के सदृश जीव भी जड़ हो जायगा? यह मूर्त्तिपूजा केवल पाखण्ड मत है, जैनियों ने चलाई है। इसलिये इनका खण्डन बारहवें समुल्लास में करेंगे।

प्रश्न—शाक्त[2] आदि ने मूर्त्तियों में जैनियों का अनुकरण नहीं किया है। क्योंकि जैनियों की मूर्त्तियों के सदृश वैष्णवादि की मूर्त्तियां नहीं हैं।

उत्तर—हां, यह ठीक है। जो जैनियों के तुल्य बनाते, तो जैनमत में मिल जाते। इसलिये जैनों की मूर्त्तियों से विरुद्ध बनाईं। क्योंकि जैनों से विरोध करना इनका काम, और इनसे विरोध करना मुख्य उनका काम था। जैसे जैनों ने मूर्त्तियां नङ्गी ध्यानावस्थित और विरक्त मनुष्य के समान बनाई हैं, उनसे विरुद्ध वैष्णवादि ने यथेष्ट शृङ्गारित स्त्री के सहित रङ्ग-राग-भोग विषयासक्ति सहिताकार खड़ी और बैठी हुई बनाई हैं। जैनी लोग बहुत से शङ्ख घण्टा घड़ियाल आदि बाजे नहीं बजाते। ये लोग बड़ा कोलाहल करते हैं।

---

१. सं २ में 'ये सर्वथा' अपपाठ है। सं० ३४,३५ में 'और सर्वथा' पाठ है। २. उत्तर-वाक्यानुसार 'वैष्णव' युक्त प्रतीत होता है।

तब तो ऐसी लीला के रचने से वैष्णवादि सम्प्रदायी पोपों के चेले जैनियों के जाल से बचके इनकी लीला में आ फंसे, और बहुत से व्यासादि महर्षियों के नाम से मनमानी असम्भव गाथायुक्त ग्रन्थ बनाये। उनका नाम 'पुराण' रखकर कथा भी सुनाने लगे। और फिर ऐसी-ऐसी विचित्र माया रचने लगे कि पाषाण की मूर्त्तियां बनाकर गुप्त कहीं पहाड़ वा जङ्गलादि में धर आये, वा भूमि में गाड़ दीं। पश्चात् अपने चेलों में प्रसिद्ध किया कि मुझको रात्रि को स्वप्न में महादेव पार्वती राधाकृष्ण सीताराम वा लक्ष्मीनारायण और भैरव हनुमान् आदि ने कहा है कि हम अमुक-अमुक ठिकाने हैं। हमको वहां से ला, मन्दिर में स्थापन कर और तू ही हमारा पुजारी होवे, तो हम [1]मनोवांछित फल देवें।

जब आंख के अन्धे और गांठ के पूरे लोगों ने पोपजी की लीला सुनी, तब तो सच ही मानली। और उनसे पूंछा कि ऐसी वह मूर्ति कहां पर है? तब तो पोपजी बोले कि अमुक पहाड़ वा जङ्गल में है। चलो मेरे साथ दिखला दूं। तब तो वे अन्धे उस धूर्त्त के साथ चलके वहां पहुंचकर देखा। आश्चर्य होकर उस पोप के पग में गिरकर कहा कि आपके ऊपर इस देवता की बड़ी ही कृपा है। अब आप ले चलिये, और हम मन्दिर बनवा देवेंगे। उसमें इस देवता की स्थापना कर आप ही पूजा करना। और हम लोग भी इस प्रतापी देवता के दर्शन पर्सन[2] करके मनोवांछित फल पावेंगे। इसी प्रकार जब एक ने लीला रची, तब तो उसको देख सब पोप लोगों ने[3] अपनी जीविकार्थ छल-कपट से मूर्त्तियां स्थापन कीं।

प्रश्न—परमेश्वर निराकार है, वह ध्यान में नहीं आ सकता, इसलिये अवश्य मूर्त्ति होनी चाहिये। भला जो कुछ भी नहीं करें, तो मूर्त्ति के सम्मुख जा, हाथ जोड़ परमेश्वर का स्मरण करते और नाम लेते हैं, इसमें क्या हानि है?

---

१. सं० २ में 'मनवाञ्छित' अपपाठ है। आगे शुद्ध पाठ है।
२. अर्थात् स्पर्शन—छूना। ३. सं० २ में 'लोग अपनी' अपपाठ है।

उत्तर—जब परमेश्वर निराकार सर्वव्यापक है, तब उसकी मूर्ति ही नहीं बन सकती। और जो मूर्त्ति के दर्शनमात्र से परमेश्वर का स्मरण होवे, तो परमेश्वर के[1] बनाए पृथिवी जल अग्नि वायु और वनस्पति आदि अनेक पदार्थ जिनमें ईश्वर ने अद्भुत रचना की है, क्या ऐसी रचनायुक्त पृथिवी पहाड़ आदि परमेश्वर-रचित महामूर्त्तियां, कि जिन पहाड़ आदि से मनुष्यकृत मूर्त्तियां बनती हैं, उनको देखकर परमेश्वर का स्मरण नहीं हो सकता ?

जो तुम कहते हो कि मूर्त्ति के देखने से परमेश्वर का स्मरण होता है, यह तुम्हारा कथन सर्वथा मिथ्या है। और जब वह मूर्त्ति सामने न होगी, तो परमेश्वर के स्मरण न होने से मनुष्य एकान्त पाकर चोरी-जारी आदि कुकर्म करने में प्रवृत्त भी हो सकता है। क्योंकि वह जानता है कि इस समय यहां मुझे कोई नहीं देखता। इसलिये वह अनर्थ करे विना नहीं चूकता। इत्यादि अनेक दोष पाषाणादि मूर्त्तिपूजा करने से सिद्ध होते हैं।

अब देखिये ! जो पाषाणादि मूर्त्तियों को न मानकर सर्वदा सर्वव्यापक, सर्वान्तर्यामी, न्यायकारी परमात्मा को सर्वत्र जानता और मानता है, वह पुरुष सर्वत्र सर्वदा परमेश्वर को सबके बुरे-भले कर्मों का द्रष्टा जानकर एक क्षणमात्र भी परमात्मा से अपने को पृथक् न जानके, कुकर्म करना तो कहां रहा, किन्तु मन में कुचेष्टा भी नहीं कर सकता। क्योंकि वह जानता है, जो मैं मन वचन और कर्म से भी कुछ[2] बुरा काम करूंगा, तो इस अन्तर्यामी के न्याय से विना दण्ड पाये कदापि न बचूंगा। और नाम-स्मरणमात्र से कुछ भी फल नहीं होता। जैसा कि मिशरी-मिशरी कहने से मुंह मीठा और नीम-नीम कहने से कड़ुवा नहीं होता। किन्तु जीभ से चाखने ही से मीठा वा कड़वापन जाना जाता है।

प्रश्न—क्या नाम लेना सर्वथा मिथ्या है ? जो सर्वत्र पुराणों में नामस्मरण का बड़ा माहात्म्य लिखा है।

---

१. सं० २ में 'को' अपपाठ है। २. 'कर्म से कुछ भी बुरा' चाहिये।

उत्तर नाम लेने की तुम्हारी रीति उत्तम नहीं। जिस प्रकार तुम नामस्मरण करते हो, वह रीति झूठी है।

प्रश्न—हमारी कैसी रीति है ?

उत्तर—वेदविरुद्ध।

प्रश्न—भला अब आप हमको वेदोक्त नामस्मरण की रीति बतलाइये।

उत्तर—नामस्मरण इस प्रकार करना चाहिये—जैसे 'न्यायकारी' ईश्वर का एक नाम है। इस नाम से जो इसका अर्थ है कि जैसे पक्षपातरहित होकर परमात्मा सबका यथावत् न्याय करता है, वैसे उसको ग्रहण कर न्याययुक्त व्यवहार सर्वदा करना, अन्याय कभी न करना। इस प्रकार एक नाम से भी मनुष्य का कल्याण हो सकता है।

प्रश्न—हम भी जानते हैं कि परमेश्वर निराकार है, परन्तु उसने शिव विष्णु गणेश सूर्य और देवी आदि के शरीर धारण कर राम-कृष्णादि अवतार लिये, इससे उसकी मूर्त्ति बनती है। क्या यह भी बात झूंठी है ?

उत्तर—हां हां झूंठी। क्योंकि 'अज एकपात्'[1] 'अकायम्'[2] इत्यादि विशेषणों से परमेश्वर को जन्म-मरण और शरीर-धारण-रहित वेदों में कहा है। तथा युक्ति से भी परमेश्वर का अवतार कभी नहीं हो सकता। क्योंकि जो आकाशवत् सर्वत्र व्यापक अनन्त और सुख-दुःख दृश्यादि गुणरहित है, वह एक छोटे से वीर्य, गर्भाशय और शरीर में क्योंकर आ सकता है ? आता-जाता वह है कि जो एकदेशीय हो। और जो अचल अदृश्य जिसके विना एक परमाणु भी खाली नहीं है, उसका अवतार कहना जानो वन्ध्या के पुत्र का विवाह कर उसके पौत्र के दर्शन करने की बात कहना है।

प्रश्न—जब परमेश्वर व्यापक है, तो मूर्त्ति में भी है। पुनः चाहे किसी पदार्थ में भावना करके पूजा करना अच्छा क्यों नहीं ? देखो—

१. ऋ० ७। ३५। १३॥ २. यजु० ४०। ८॥

न काष्ठे विद्यते देवो न पाषाणे न मृण्मये।
भावे हि विद्यते देवस्तस्माद्भावो हि कारणम् ॥१॥[1]

परमेश्वर देव न काष्ठ, न पाषाण, न मृत्तिका से बनाये पदार्थों में है, किन्तु परमेश्वर तो भाव में विद्यमान है। जहां भाव करें, वहां ही परमेश्वर सिद्ध होता है।

उत्तर—जब परमेश्वर सर्वत्र व्यापक है, तो किसी एक वस्तु में परमेश्वर की भावना करना अन्यत्र न करना, यह ऐसी बात है कि जैसी चक्रवर्ती राजा को सब राज्य की सत्ता से छुड़ाके एक छोटी-सी झोंपड़ी का स्वामी मानना। देखो, यह[2] कितना बड़ा अपमान है ? वैसा तुम परमेश्वर का भी अपमान करते हो।

जब व्यापक मानते हो, तो वाटिका में से पुष्प-पत्र तोड़के क्यों चढ़ाते ? चन्दन घिसके क्यों लगाते ? धूप को जलाके क्यों देते ? घण्टा घरियाल झांज पखाजों को लकड़ी से कूटना-पीटना क्यों करते हो ? तुम्हारे हाथों में है, क्यों जोड़ते ? शिर में है, क्यों शिर नमाते? अन्न-जलादि में है, क्यों नैवेद्य धरते ? जल में है, स्नान क्यों कराते? क्योंकि उन सब पदार्थों में परमात्मा व्यापक है।

और तुम व्यापक की पूजा करते हो वा व्याप्य की ? जो व्यापक की करते हो, तो पाषाण लकड़ी आदि पर चन्दन-पुष्पादि क्यों चढ़ाते हो ? और जो व्याप्य की करते हो, तो हम परमेश्वर की पूजा करते हैं, ऐसा झूंठ क्यों बोलते हो ? हम पाषाणादि के पुजारी हैं, ऐसा सत्य क्यों नहीं बोलते ?

अब कहिये 'भाव' सच्चा है वा झूंठा ? जो कहो सच्चा है, तो तुम्हारे भाव के आधीन होकर परमेश्वर बद्ध हो जायगा। और तुम मृत्तिका में सुवर्ण-रजतादि, पाषाण में हीरा-पन्ना आदि, समुद्रफेन में

---

१ द्र०—गरुड़ पुराण, प्रेत खण्ड, अ० ३० १३॥ यहां द्वितीय चरण का पाठ 'न शिलायां कदाचन' है। चाणक्यनीति ८।११ में—'न देवो विद्यते काष्ठे' पाठ भेद से।

२. 'देखो यह' पद समर्थदान ने जोड़े। भ० द०

मोती, जल में घृत-दुग्ध-दधि आदि, और धूलि में मैदा-शक्कर आदि की भावना करके उनको वैसे क्यों नहीं बनाते हो ? तुम लोग दुःख की भावना कभी नहीं करते, वह क्यों होता ? और सुख की भावना सदैव करते हो, वह क्यों नहीं प्राप्त होता ? अन्धा पुरुष नेत्र की भावना करके क्यों नहीं देखता ? मरने की भावना नहीं करते, क्यों मर जाते हो ?

इसलिये तुम्हारी भावना सच्ची नहीं। क्योंकि जैसे में वैसी करने का नाम 'भावना' कहते हैं, जैसे अग्नि में अग्नि, जल में जल जानना। और जल में अग्नि, अग्नि में जल समझना 'अभावना' है। क्योंकि जैसे को वैसा जानना 'ज्ञान' और अन्यथा जानना 'अज्ञान' है। इसलिये तुम अभावना को भावना और भावना को अभावना कहते हो।

प्रश्न—अजी ! जबतक वेदमन्त्रों से आवाहन नहीं करते, तबतक देवता नहीं आता। और आवाहन करने से झट आता, और विसर्जन करने से चला जाता है।

उत्तर—जो मन्त्र को पढ़कर आवाहन करने से देवता आ जाता है, तो मूर्त्ति चेतन क्यों नही हो जाती ? और विसर्जन करने से चली[1] क्यों नहीं जाती ? और वह कहां से आता, और कहां जाता है ? सुनो भाई[2] ! पूर्ण परमात्मा न आता और न जाता है। जो तुम मन्त्रबल से परमेश्वर को बुला लेते हो, तो उन्हीं मन्त्रों से अपने मरे हुए पुत्र के शरीर में जीव को क्यों नहीं बुला लेते ? और शत्रु के शरीर में जीवात्मा का विसंजन करके क्यों नहीं मार सकते ? सुनो भाई भोले-भाले लोगो ! ये पोपजी तुमको ठगकर अपना प्रयोजन

---

१. सं० ५ से ३३ तक 'चला ... जाता' अपपाठ है। यहां विसर्जन से देवता का चला जाना अभिप्रेत नहीं है क्योंकि ऐसा तो पौराणिक मानते ही हैं। यहां देवता के आगमन से मूर्ति चेतन क्यों नहीं हो जाती ? प्रश्न के साथ 'मूर्ति का चेतन होना मानने पर प्रश्न है कि विसर्जन से वह मन्दिर छोड़कर चली क्यों नहीं जाती ? सं० ३४,३५ में '... चला जाता है तो वह कहां ...।' भ्रष्टतर पाठ है। २. 'अन्धो' ! हस्तलेख।

सिद्ध करते हैं। वेदों में पाषाणादि मूर्त्तिपूजा, और परमेश्वर के आवाहन-विसर्जन करने का एक अक्षर भी नहीं है।

प्रश्न—**प्राणा इहागच्छन्तु सुखं चिरं तिष्ठन्तु स्वाहा।**
आत्मेहागच्छतु[1] सुखं चिरं तिष्ठतु[2] स्वाहा।
इन्द्रियाणीहागच्छन्तु सुखं चिरं तिष्ठन्तु स्वाहा[3]।

इत्यादि वेदमन्त्र है। क्यों कहते हो नहीं हैं?

उत्तर—अरे भाई! बुद्धि को थोड़ीसी तो अपने काम में लाओ। ये सब कपोलकल्पित वाममार्गियों की वेदविरुद्ध तन्त्रग्रन्थों की पोपरचित पंक्तियां हैं, वेदवचन नहीं।

प्रश्न—क्या तन्त्र झूंठा है?

उत्तर हां, सर्वथा झूंठा है। जैसे आवाहन प्राणप्रतिष्ठादि पाषाणादि मूर्त्ति-विषयक वेदों में एक मन्त्र भी नहीं, वैसे '**स्नानं समर्पयामि**' इत्यादि वचन भी नहीं, अर्थात् इतना भी नहीं है कि—'**पाषाणादिमूर्त्तिं रचयित्वा मन्दिरेषु संस्थाप्य गन्धादिभिरर्चयेत्**', अर्थात् पाषाण की मूर्त्ति बना, मन्दिरों में स्थापन कर, चन्दन अक्षतादि से पूजे, ऐसा लेशमात्र भी नहीं।

प्रश्न—जो वेदों में विधि नहीं, तो खण्डन भी नहीं है। और जो खण्डन है, तो '**प्राप्तौ सत्यां निषेधः**' मूर्त्ति के होने ही से खण्डन हो सकता है।

उत्तर—विधि तो नहीं, परन्तु परमेश्वर के स्थान में किसी अन्य पदार्थ को पूजनीय न मानना और सर्वथा[4] निषेध किया है। क्या अपूर्वविधि[5] नहीं होता? सुनो यह है—

---

१. सं० २ में 'गच्छन्तु' अपपाठ है। २. सं० २ में 'तिष्ठन्तु' अपपाठ है। ३. द्र०—प्रतिष्ठामयूख आदि ग्रन्थ।

४. यहां लेखन मुद्रण-प्रमाद से पाठ कुछ भ्रष्ट हुआ प्रतीत होता है। यहां 'अन्य पदार्थ को पूजनीय न मानने का सर्वथा निषेध किया है।' पाठ होना युक्त है।

५. यहां अप्राप्त-निषेधरूपी अपूर्वविधि से तात्पर्य है। अप्राप्त का भी प्रतिषेध होता है, यह इसी प्रकरण में आगे (पृष्ठ ४६६) कहेंगे। अप्राप्त-निषेध

अन्धन्तमः प्रविशन्ति येऽसम्भूतिमुपासते ।

ततो भूयऽइव ते तमो यऽउ सम्भूत्याᳬ रताः ॥१॥

यजु० अ० ४० । मंत्र ९॥

न तस्य प्रतिमाऽअस्ति ॥२॥ यजु० अ० ३२ । मं०३॥[1]

यद्वाचानभ्युदितं येन वागभ्युद्यते ।

तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ॥१॥

यन्मनसा न मनुते येनाहुर्मनो मतम् ।

तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ॥२॥

यच्चक्षुषा न पश्यति येन चक्षूंषि पश्यन्ति ।

तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ॥३॥

यच्छ्रोत्रेण न शृणोति येन श्रोत्रमिदं श्रुतम् ।

तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ॥४॥

यत्प्राणेन न प्राणिति येन प्राणः प्रणीयते ।

तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ॥५॥ केनोपनि०[2]

जो असंभूति अर्थात् अनुत्पन्न अनादि प्रकृति=कारण की ब्रह्म के स्थान में उपासना करते हैं, वे अन्धकार अर्थात् अज्ञान और दुःखसागर में डूबते हैं। और संभूति जो कारण से उत्पन्न हुए कार्यरूप पृथिवी आदि भूत पाषाण और वृक्षादि अवयव और मनुष्यादि के शरीर की उपासना ब्रह्म के स्थान में करते हैं, वे उस अन्धकार से भी अधिक अन्धकार अर्थात् महामूर्ख चिरकाल घोर दुःख-रूप नरक में गिरके महाक्लेश भोगते हैं ॥१॥

का तात्पर्य भी प्राप्त के नियम में होता है । यथा—'न पृथिव्यामग्निश्चेतव्यो नान्तरिक्षे न दिवि' (तै० सं० ५।२।७) यहां अन्तरिक्ष तथा द्यु में अप्राप्त अग्निचयन का निषेध है । 'हिरण्यं निधाय चेतव्यम्' के अनुसार 'हिरण्य रखकर ही अग्निचयन करना चहिये' में इसका तात्पर्य है । इसी प्रकार उत्तर प्रमाणों में जो अप्राप्त का निषेध है—उसका 'ईश्वर ही उपासनीय है' में तात्पर्य है ।

१. सं० २ में 'अ० ३४। मंत्र ४३' अपपाठ है ।

२. केनोप० ख० १, मं० ४-८ ॥

जो सब जगत् में व्यापक है, उस निराकार परमात्मा की प्रतिमा परिमाण सादृश्य वा मूर्त्ति नहीं है ॥२॥

जो वाणी का 'इदन्ता'[1] अर्थात् यह जल है लीजिये, वैसा विषय नहीं, और जिसके धारण और सत्ता से वाणी की प्रवृति होती है, उसी को ब्रह्म जान और उपासना कर। और जो उससे भिन्न है, वह उपासनीय नहीं ॥१॥

जो मन से 'इयत्ता' करके मनन[2] में नहीं आता, जो मन को जानता है, उसी ब्रह्म को तू जान और उसीकी उपसना कर। जो उससे भिन्न जीव और अन्तःकरण है, उसकी उपासना ब्रह्म के स्थान में मत कर ॥२॥

जो आंख से नहीं दीख पड़ता, और जिससे सब आंखें देखती हैं,उसी को तू ब्रह्म जान और उसीकी उपासना कर। और जो उससे भिन्न सूर्य विद्युत् और अग्नि आदि जड़ पदार्थ हैं, उनकी उपासना मत कर ॥३॥

जो श्रोत्र से नहीं सुना जाता, और जिससे श्रोत्र सुनता है, उसी को तू ब्रह्म जान और उसीकी उपासना कर। और उससे भिन्न शब्दादि की उपासना उसके स्थान में मत कर ॥४॥

जो प्राणों से चलायमान नहीं होता, जिससे प्राण गमन को प्राप्त होता है, उसी ब्रह्म को तू जान और उसीकी उपासना कर। जो यह उससे भिन्न वायु है, उसकी उपासना मत कर ॥५॥

इत्यादि बहुत से निषेध हैं। निषेध प्राप्त और अप्राप्त का भी होता है। 'प्राप्त' का—जैसे कोई कहीं बैठा हो, उसको वहां से उठा देना। 'अप्राप्त' का—जैसे हे पुत्र ! तू चोरी कभी मत करना, कुवे में मत गिरना, दुष्टों का संग मत करना, विद्याहीन मत रहना।

---

१. सं० ४ से ३३ तक 'वाणी की इयत्ता' अपपाठ मिलता है। यहां सं० २ का मूल पाठ 'इदन्ता' ही ठीक है। इसका अर्थ है—'यहपना'। इसे ही आगे अर्थात् से स्पष्ट किया है। यहां 'इदन्ता' पद के स्त्रीलिङ्ग होने से 'का' के स्थान में 'की' होना चाहिये। २. सं० २ में 'मन' अपपाठ है।

इत्यादि अप्राप्त का भी निषेध होता है। सो मनुष्यों के ज्ञान में अप्राप्त, परमेश्वर के ज्ञान में प्राप्त का निषेध किया है । इसलिये पाषाणादि मूर्त्तिपूजा अत्यन्त निषिद्ध है।

प्रश्न—मूर्त्तिपूजा[1] में पुण्य नहीं, तो पाप भी नहीं है ?

उत्तर—कर्म दो ही प्रकार के होते हैं। एक[2] विहित—जो कर्त्तव्यता से वेद में सत्यभाषणादि प्रतिपादित हैं। दूसरे निषिद्ध—जो अकर्तव्यता से मिथ्याभाषणादि वेद में निषिद्ध हैं । जैसे विहित का अनुष्ठान करना वह धर्म, उसका न करना अधर्म है, वैसे ही निषिद्ध कर्म का करना अधर्म, और न करना धर्म है । जब वेदों से निषिद्ध मूर्त्तिपूजादि कर्मों को तुम करते हो, तो पापी क्यों नहीं ?

प्रश्न—देखो, वेद अनादि है । उस समय मूर्त्ति का क्या काम था ? क्योंकि पहले तो देवता प्रत्यक्ष थे । यह रीति तो पीछे से तन्त्र और पुराणों से चली है । जब मनुष्यों का ज्ञान और सामर्थ्य न्यून हो गया, तो परमेश्वर को ध्यान में नहीं ला सके । और मूर्त्ति का ध्यान तो कर सकते हैं । इस कारण अज्ञानियों के लिये मूर्तिपूजा है ।

क्योंकि सीढ़ी-सीढ़ी से चढ़े, तो भवन पर पहुंच जाय । पहिली सीढ़ी छोड़कर ऊपर जाना चाहे, तो नहीं जा सकता । इसलिये मूर्त्ति प्रथम सीढ़ी है । इसको पूजते-पूजते जब ज्ञान होगा, और अन्तःकरण पवित्र होगा, तब परमात्मा का ध्यान कर सकेगा । जैसे लक्ष्य के मारनेवाला[3] प्रथम स्थूल लक्ष्य में तीर गोली वा गोला आदि मारता-मारता पश्चात् सूक्ष्म में भी निशाना मार सकता है, वैसे स्थूल मूर्त्ति की पूजा करता-करता पुनः सूक्ष्म ब्रह्म को भी प्राप्त होता है । जैसे लड़कियां गुड़ियों का खेल तबतक करती हैं कि जबतक सच्चे पति को प्राप्त नहीं हातीं । इत्यादि प्रकार से मूर्त्तिपूजा करना दुष्ट काम नहीं ।

उत्तर—जब वेदविहित धर्म और वेदविरुद्धाचरण में अधर्म है,

---

१. द्र०—इसी पृष्ठ की टि० २ ।   २. सं० २ में यहां पङ्क्ति के आदि का 'एक' पद मुद्रण मे अनवधानता से ऊपर की पङ्क्ति के आरम्भ में जुड़ गया ।   ३. सं० २ में 'मारनेबाले' पाठ है ।

तो पुनः तुम्हारे कहने से भी मूर्त्तिपूजा करना अधर्म ठहरा । जो-जो ग्रन्थ वेद से विरुद्ध हैं, उन-उनका प्रमाण करना जानो नास्तिक होना है । सुनो—

नास्तिको वेदनिन्दकः ॥१॥[1]

या वेदबाह्याः स्मृतयो याश्च काश्च कुदृष्टयः ।
सर्वास्ता निष्फलाः प्रेत्य तमोनिष्ठा हि ताः स्मृताः ॥२॥
उत्पद्यन्ते च्यवन्ते च यान्यतोऽन्यानि कानिचित् ।
तान्यर्वाक्कालिकतया निष्फलान्यनृतानि च ॥३॥ म०अ० १२[2]

मनुजी कहते हैं कि जो वेदों की निन्दा अर्थात् अपमान त्याग विरुद्धाचरण करता है, वह 'नास्तिक' कहाता है ॥१॥

जो ग्रन्थ वेदबाह्य कुत्सित पुरुषों के बनाये,संसार को दुःखसागर में डुबानेवाले हैं, वे सब निष्फल असत्य अन्धकाररूप, इस लोक और परलोक में दुःखदायक हैं ॥२॥

जो इन वेदों से विरुद्ध ग्रन्थ उत्पन्न होते है, वे आधुनिक होने से शीघ्र नष्ट हो जाते हैं । उनका मानना निष्फल और झूंठा है ॥३॥

इसी प्रकार ब्रह्मा से लेकर जैमिनि महर्षि पर्यन्त का मत है कि—वेदविरुद्ध को न मानना,किन्तु वेदानुकूल ही का आचरण करना 'धर्म' है ।[3] क्यों [कि] वेद सत्य अर्थ का प्रतिपादक है । इससे विरुद्ध जितने तन्त्र और पुराण हैं, वेदविरुद्ध होने से झूंठे हैं, कि जो वेद से विरुद्ध चलते हैं । उनमें कही हुई मूर्त्तिपूजा भी अधर्मरूप है ।

मनुष्यों का ज्ञान जड़ की पूजा से नहीं बढ़ सकता, किन्तु जो कुछ ज्ञान है वह भी नष्ट हो जाता है । इसलिये ज्ञानियों की सेवा-सङ्ग से ज्ञान बढ़ता है, पाषाणादि से नहीं । क्या पाषाणादि मूर्त्तिपूजा से परमेश्वर को ध्यान में कभी ला सकता है ? नहीं-नहीं ।

---

१. मनु० २।११॥ २. मनु० १२।९५,९६ ।

३. द्र०—जैमिनि का वचन—'विरोधे त्वनपेक्ष्यं स्यादसति ह्यनुमानम्' (मीमांसा १।३।३) अर्थात् वेद से विरोध होने पर प्रामाण्य नहीं होता, अविरोध होने पर प्रामाण्य का अनुमान किया जा सकता है ।

मूर्त्तिपूजा सीढ़ी नहीं, किन्तु एक बड़ी खाई है, जिसमें गिरकर चकनाचूर हो जाता है। पुनः उस खाई से निकल नहीं सकता, किन्तु उसी में मर जाता है। हां, छोटे धार्मिक विद्वानों से लेकर परम विद्वान् योगियों के संग से सद्विद्या और सत्यभाषणादि परमेश्वर की प्राप्ति की सीढ़ियां हैं, जैसी ऊपर घर में जाने की निःश्रेणी[1] होती है।

किन्तु मूर्त्तिपूजा करते-करते ज्ञानी तो कोई न हुआ, प्रत्युत सब मूर्त्तिपूजक अज्ञानी रहकर मनुष्य-जन्म व्यर्थ खोके बहुत से मर गये। और जो अब हैं वा होंगे, वे भी मनुष्य-जन्म के धर्म-अर्थ-काम और मोक्ष की प्राप्तिरूप फलों से विमुख होकर निरर्थ नष्ट हो जायेंगे।

मूर्त्तिपूजा ब्रह्म की प्राप्ति में स्थूल लक्ष्यवत् नहीं, किन्तु धार्मिक विद्वान् और सृष्टि विद्या है। इसको बढ़ाता-बढ़ाता ब्रह्म को भी पाता है। और मूर्त्ति गुड़ियों के खेलवत् नहीं, किन्तु प्रथम अक्षराभ्यास सुशिक्षा का होना गुड़ियों के खेलवत् ब्रह्म की प्राप्ति का साधन है। सुनिये, जब अच्छी शिक्षा और विद्या को प्राप्त होगा, तब सच्चे स्वामी परमात्मा को भी प्राप्त हो जायगा।

प्रश्न – साकार में मन स्थिर होता, और निराकार में स्थिर होना कठिन है। इसलिये मूर्त्तिपूजा रहनी चाहिए।

उत्तर—साकार में मन स्थिर कभी नहीं हो सकता। क्योंकि उसको मन झट ग्रहण करके उसी के एक-एक अवयव में घूमता और दूसरे में दौड़ जाता है। और निराकार परमात्मा के ग्रहण में यावत्सामर्थ्य मन अत्यन्त दौड़ता है, तो भी अन्त नहीं पाता। निरवयव होने से चञ्चल भी नहीं रहता, किन्तु उसी के गुण-कर्म-स्वभाव का विचार करता-करता आनन्द में मग्न होकर स्थिर हो जाता है।

और जो साकार में स्थिर होता, तो सब जगत् का मन स्थिर हो जाता। क्योंकि जगत् में मनुष्य स्त्री पुत्र धन मित्र आदि साकार

१. अर्थात् 'निसैनी'।

में फसा रहता है, परन्तु किसी का मन स्थिर नहीं होता, जब तक निराकार में न लगावे। क्योंकि निरवयव होने से उसमें मन स्थिर हो जाता है। इसलिये मूर्त्तिपूजन करना अधर्म है।

दूसरा[1]—उसमें क्रोड़ों रुपये मन्दिरों में व्यय करके दरिद्र होते हैं। और उसमें प्रमाद होता है।

तीसरा—स्त्री-पुरुषों का मन्दिरों में मेला होने से व्यभिचार 'लड़ाई-बखेड़ा और रोगादि उत्पन्न होते हैं।

चौथा—उसीको धर्म-अर्थ-काम और मुक्ति का साधन मानके पुरुषार्थ-रहित होकर मनुष्य जन्म व्यर्थ गमाता है।

पांचवां—नाना प्रकार की विरुद्धस्वरूपनामचरित्रयुक्त मूर्त्तियों के पुजारियों का ऐक्यमत नष्ट होके विरुद्धमत में चलकर आपस में फूट बढ़ाके देश का नाश करते हैं।

छ:ठा—उसी के भरोसे में शत्रु का पराजय और अपना विजय मान बैठे रहते हैं। उनका पराजय होकर राज्य स्वातन्त्र्य और धन का सुख उनके शत्रुओं के स्वाधीन होता है। और आप पराधीन भठियारे के टट्टू और कुम्हार के गदहे के समान शत्रुओं के वश में होकर अनेकविध[2] दुःख पाते हैं।

सातवां—जब कोई किसी को कहे कि हम तेरे बैठने के आसन वा नाम पर पत्थर धरें, तो जैसे वह उस पर क्रोधित होकर मारता वा गाली प्रदान करता[3] है, वैसे ही जो परमेश्वर के उपासना के स्थान हृदय और नाम पर पाषाणादि मूर्तियां धरते हैं, उन दुष्ट-बुद्धिवालों का सत्यानाश परमेश्वर क्यों न करे?

आंठवां—भ्रान्त होकर मन्दिर-मन्दिर देश-देशान्तर में घूमते-घूमते दुःख पाते, धर्म संसार और परमार्थ का काम नष्ट करते, चोर आदि से पीड़ित होते, ठगों से ठगाते रहते हैं।

---

१. सं० २ में 'दूसरी' अपपाठ है। २. सं० २ में 'अनेकविधि' पाठ है।
३. सं २ में 'प्रदान देता है' अपपाठ है। यहां 'गाली प्रदान करता है' अथवा 'गाली देता है' पाठ युक्त है।

नववां—दुष्ट पूजारियों को धन देते हैं। वे उस धन को वेश्या-परस्त्रीगमन, मद्यमांसाहार, लड़ाई-बखेड़ों में व्यय करते हैं। जिससे दाता का सुख का मूल नष्ट होकर दुःख होता है।

दशवां—माता पिता आदि माननीयों का अपमान कर पाषाणादि मूर्त्तियों का मान करके कृतघ्न हो जाते हैं।

ग्यारहवां—उन मूर्त्तियों को कोई तोड़ डालता, वा चोर ले जाता है, तब हा-हा करके रोते रहते हैं।

बारहवां—पूजारी परस्त्रियों के संग, और पूजारिन परपुरुषों के संग से प्रायः दूषित[1] होकर स्त्री-पुरुष के प्रेम के आनन्द को हाथ से खो बैठते हैं।

तेरहवां—स्वामी-सेवक की आज्ञा का पालन यथावत् न होने से परस्पर विरुद्धभाव होकर नष्ट-भ्रष्ट हो जाते हैं।

चौदहवां—जड़ का ध्यान करनेवाले का आत्मा भी जड़बुद्धि हो जाता है। क्योंकि ध्येय का जड़त्व धर्म अन्तःकरण द्वारा आत्मा में अवश्य आता है।

पन्द्रहवां—परमेश्वर ने सुगन्धियुक्त पुष्पादि पदार्थ वायु जल के दुर्गन्ध निवारण और आरोग्यता के लिये बनाये हैं। उनको पूजारी जी तोड़ताड़ कर, न जाने उन पुष्पों की कितने दिन तक सुगन्धि आकाश में चढ़कर वायुजल की शुद्धि [करती, और] पूर्ण सुगन्धि के समय तक उसका सुगन्ध होता है, उसका नाश मध्य में ही कर देते हैं। पुष्पादि कीच के साथ मिल सड़कर उल्टा दुर्गन्ध उत्पन्न करते हैं। क्या परमात्मा ने पत्थर पर चढ़ाने के लिये पुष्पादि सुगन्धियुक्त पदार्थ रचे हैं?

सोलहवां—पत्थर पर चढ़े हुए पुष्प चन्दन और अक्षत आदि सबका जल और मृत्तिका के संयोग होने से मोरी वा कुण्ड में आकर सड़के इतना उससे दुर्गन्ध आकाश में चढ़ता है कि जितना मनुष्य के मल का। और सहस्रों जीव उसमें पड़ते, उसी में मरते [और] सड़ते हैं।

---

१. सं० २ में 'दुःखित' अपपाठ है।

ऐसे-ऐसे अनेक मूर्त्तिपूजा के करने में दोष आते हैं। इसलिये सर्वथा[1] पाषाणादि मूर्त्तिपूजा सज्जन लोगों को त्यक्तव्य है। और जिन्होंने पाषाणमय मूर्त्ति की पूजा की है, करते हैं और करेंगे, वे पूर्वोक्त दोषों से न बचे, न बचते हैं और न बचेंगे।

[पञ्चायतन-पूजा-विवेचन]

प्रश्न—किसी प्रकार की मूर्त्तिपूजा करनी-करानी नहीं। और जो अपने आर्यावर्त्त में 'पञ्चदेवपूजा' शब्द प्राचीन परम्परा से चला आता है, उसका यही 'पञ्चायतनपूजा' जो कि शिव विष्णु अम्बिका गणेश और सूर्य की मूर्त्ति बनाकर पूजते हैं, यह पञ्चायतनपूजा है, वा नहीं?

उत्तर—किसी प्रकार की मूर्त्तिपूजा न करना। किन्तु मूर्त्तिमान् जो नीचे कहेंगे, उनकी पूजा अर्थात् सत्कार करना चाहिये। वह 'पञ्चदेवपूजा', 'पञ्चायतनपूजा' शब्द बहुत अच्छा अर्थवाला है। परन्तु विद्याहीन मूढ़ों ने उसके उत्तम अर्थ को छोड़कर निकृष्ट अर्थ पकड़ लिया, जो आजकल शिवादि पांचों की मूर्त्तियां बनाकर पूजते हैं। उनका खण्डन तो अभी कर चुके हैं, पर सच्ची 'पञ्चायतन' वेदोक्त और वेदानुकूलोक्त देवपूजा और मूर्त्तिपूजा है। सुनो—

मा[नो] वधीः पितरं मोत मातरम् ॥१॥ यजु०[2]

आचार्य उपनयमानो ब्रह्मचारिणमिच्छते ॥२॥[3]

अतिथिर्गृहानुपगच्छेत् ॥३॥ अथर्व०[4]

अर्चत प्रार्चत प्रियमेधासो अर्चत ॥४॥ ऋग्वेद[5]

---

१. इस क्रिया-विशेषण रूप पद का सम्बन्ध 'त्यक्तव्य' पद के साथ जानना चाहिये। २. यजुः १६।१५॥

३. यह पाठ दो मन्त्रों के दो भाग हैं। 'आचार्य उपनयमानो' भाग अ० ११।५।३ का, तथा 'ब्रह्मचारिणमिच्छते' अ० ११।५।१७ का है।

४. द्र०—'अतिथिर्गृहनागच्छेत्'। अ० १५।१३।११॥

५. ऋ० ८।६९।८॥

त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि त्वामेव प्रत्यक्षं ब्रह्म वदिष्यामि ॥५॥
तैत्तिरीयोपनि०[1]

कतम एको देव इति स ब्रह्म त्यदित्याचक्षते ॥६॥
शतप० प्रपाठ० ६ । ब्राह्म० ७ । कण्डिका १० ॥[2]

मातृदेवो भव पितृदेवो भव आचार्यदेवो भव अतिथिदेवो भव ॥
तैत्तिरीयोपनि०[3]

पितृभिर्भ्रातृभिश्चैताः पतिभिर्देवरैस्तथा ।
पूज्या भूषयितव्याश्च बहुकल्याणमीप्सुभिः ॥८॥[4]
पूज्यो [हि] देववत् पतिः ॥९॥ मनुस्मृतौ[5]

प्रथम—'माता' मूर्त्तिमती पूजनीय देवता, अर्थात् सन्तानों को तन मन धन से सेवा करके माता को प्रसन्न रखना । हिंसा अर्थात् ताड़ना कभी न करना ।

दूसरा—'पिता' सत्कर्त्तव्य देव । उसकी भी माता के समान सेवा करनी ॥१॥

तीसरा—'आचार्य' जो विद्या का देनेवाला है । उसकी तन मन धन से सेवा करनी ॥२॥

चौथा—'अतिथि' जो विद्वान् धार्मिक निष्कपटी सबकी उन्नति चाहनेवाला, जगत् में भ्रमण करता हुआ सत्य उपदेश से सबको सुखी करता है, उसकी सेवा करें ॥३॥

पांचवां—स्त्री के लिये पति, और पुरुष के लिये स्वपत्नी पूजनीय है ॥४-९॥

---

१. तै० उप० वल्ली १, अनु० १ ॥

२. यह पता अधूरा, एवं दो प्रकार के विभागों का मिश्रित रूप है । यहां प्रपाठक क्रम में १४।५।७।१० तथा अध्याय क्रम में १४।६।९।१० निर्देश होना चाहिये ।

३. तै० उप० वल्ली १, अनु० ११ ॥ ४. मनु० ३।५५॥

५. द्र०—मनु० ५।१४४'उपचर्यः स्त्रिया साध्व्या सततं देववत् पतिः' ।

ये पांच मूर्त्तिमान् देव, जिनके संग से मनुष्यदेह की उत्पत्ति, पालन, सत्य शिक्षा, विद्या और सत्योपदेश की प्राप्ति होती है। ये ही परमेश्वर को प्राप्त[1] होने की सीढ़ियां हैं। इनकी सेवा न करके, जो पाषाणादि मूर्ति पूजते हैं, वे अतीव वेदविरोधी[2] हैं।

प्रश्न—माता-पिता आदि की सेवा करें, और मूर्त्तिपूजा भी करें, तब तो कोई दोष नहीं ?

उत्तर—पाषाणादि मूर्त्तिपूजा तो सर्वथा छोड़ने, और मातादि मूर्त्तिमानों की सेवा करने ही में कल्याण है। बड़े अनर्थ की बात है कि साक्षात् माता आदि प्रत्यक्ष सुखदायक देवों को छोड़के, अदेव पाषाणादि में शिर मारना स्वीकार किया।

इसको लोगों[3] ने इसीलिये स्वीकार किया है कि जो माता-पितादि के सामने नैवेद्य वा भेंट पूजा धरेंगे, तो वे स्वयं खा लेंगे। और भेंट-पूजा [ले] लेंगे, तो हमारे मुख वा हाथ में कुछ न पड़ेगा।

इससे पाषाणादि की मूर्त्ति बना, उसके आगे नैवेद्य धर, घण्टानाद टंटं पूंपूं और शङ्ख बजा, कोलाहल कर, अंगूठा दिखला, अर्थात् **'त्वमङ्गुष्ठं गृहाण भोजनं पदार्थं वाऽहं ग्रहीष्यामि'**। जैसे कोई किसी को छले वा चिड़ावे कि तू घण्टा ले, और अंगूठा दिखलावे। उसके आगे से सब पदार्थ ले आप भोगे, वैसे ही लीला इन पूजारियों अर्थात् पूजा नाम सत्कर्म के शत्रुओं की है।

ये लोग[4] चटक-मटक चलक-झलक मूर्त्तियों को बना-ठना, आप ठगों के तुल्य बन-ठनके बिचारे निर्बुद्धि अनाथों का माल मारके मौज करते हैं। जो कोई धार्मिक राजा होता, तो इन पाषाणप्रियों

---

१ सं० २ में 'प्राप्ति' अपपाठ है।

२. सं० २ में 'अतीव पामर नरकगामी' पाठ है। यह हस्तलेख का पाठ है। इसे कठोर जानकर समर्थदान ने बदला।

३. सं० २ से १४ तक यही पाठ है, सं० १५ से ३३ तक 'मूढ़ों ने' पाठ है। यह भी मूल पाठ समर्थदान ने बदला।

४. सं० २ से ३३ तक 'मूढ़ों को' पाठ मिलता है। सं० ३४ में 'ये लोग' पाठ है। यह पाठ सम्बद्ध है।

को पत्थर तोड़ने, बनाने और घर रचने आदि कामों में लगाके खाने-पीने को देता, निर्वाह कराता।

प्रश्न—जैसे स्त्री आदि की पाषाणादि मूर्त्ति देखने से कामोत्पत्ति होती है, वैसे वीतराग शान्त की मूर्त्ति देखने से वैराग्य और शान्ति की प्राप्ति क्यों न होगी?

उत्तर—नहीं हो सकती[1]। क्योंकि वह मूर्त्ति के जड़त्व धर्म आत्मा में आने से विचारशक्ति घट जाती है। विवेक के विना न वैराग्य, और वैराग्य के विना [न] विज्ञान, विज्ञान के विना शान्ति नहीं होती। और जो कुछ होता है, सो उनके संग उपदेश और उनके इतिहासादि के देखने से होता है। क्योंकि जिसका गुण वा दोष न जानके उसकी मूर्त्तिमात्र देखने से प्रीति नहीं होती। प्रीति होने का कारण गुणज्ञान है। ऐसे मूर्त्तिपूजा आदि बुरे कारणों ही से आर्यावर्त्त में निकम्मे पूजारी भिक्षुक आलसी पुरुषार्थरहित क्रोड़ों मनुष्य हुए हैं। [2]सब संसार में मूढ़ता उन्हींने फैलाई है। झूठ-छल भी बहुत-सा फैला है।

[लाट भैरव महादेव-माहात्म्य-खण्डन]

प्रश्न—देखो, काशी में 'औरङ्गजेब' बादशाह को 'लाटभैरव' आदि ने बड़े-बड़े चमत्कार दिखलाये थे। जब मुसलमान उनको तोड़ने गये, और उन्होंने जब उन पर तोप गोला आदि मारे, तब बड़े-बड़े भमरे निकलकर सब फौज को व्याकुल कर भगा दिया।

उत्तर—यह पाषाण का चमत्कार नहीं। किन्तु वहां भमरे के छत्ते लग रहे होंगे। उनका स्वभाव ही क्रूर है। जब कोई उनको छेड़े, तो वे काटने को दौड़ते हैं। और जो दूध की धारा का चमत्कार होता था, वह पूजारीजी का लीला थी।

---

१. सं० २ में 'नहीं नहीं सजती' अपपाठ है। इसे सं० ३ में शुद्ध किया गया।

२. इससे पूर्व सं० १५ से ३३ तक 'वे मूढ़ होने से' इतना अधिक पाठ है। यह असम्बद्ध है।

प्रश्न—देखो, महादेव म्लेच्छ को दर्शन न देने के लिये कूप में, और वेणीमाधव एक ब्राह्मण के घर में जा छिपे। क्या यह भी चमत्कार नहीं है?

उत्तर—भला जिसके कोटपाल कालभैरव लाटभैरव आदि भूत-प्रेत, और गरुड़ आदि गणों ने मुसलमानों को लड़के क्यों न हटाये? जब महादेव और विष्णु की पुराणों में कथा है कि अनेक त्रिपुरासुर आदि बड़े भयंकर दुष्टों को भस्म कर दिया, तो मुसलमानों को भस्म क्यों न किया? इससे यह सिद्ध होता है कि विचारे पाषाण क्या लड़ते लड़ाते? जब मुसलमान मन्दिर और मूर्त्तियों को तोड़ते-फोड़ते हुए काशी के पास आये, तब पूजारियों ने उस पाषाण के लिङ्ग को कूप में डाल, और वेणीमाधव को ब्राह्मण के घर में छिपा दिया। जब काशी में कालभैरव के डर के मारे यमदूत नहीं जाते, और प्रलय-समय में भी काशी का नाश होने नहीं देते, तो म्लेच्छों के दूत क्यों न डराये? और अपने राज के मन्दिर का क्यों नाश होने दिया? यह सब पोपमाया है।

[गया-श्राद्ध-खण्डन]

प्रश्न—गया में श्राद्ध करने से पितरों का पाप छूटकर वहां के श्राद्ध के पुण्य-प्रभाव से पितर स्वर्ग में जाते, और पितर अपना हाथ निकालकर पिण्ड लेते हैं। क्या यह भी बात झूठी है?

उत्तर—सर्वथा झूठ। जो वहां पिण्ड देने का वही[1] प्रभाव है, तो जिन पण्डों[2] को पितरों के सुख के लिये लाखों रुपये देते हैं, उनका व्यय गयावाले[3] वेश्यागमनादि पाप में करते हैं, वह पाप क्यों नहीं छूटता? और हाथ निकलता आज-कल कहीं नहीं दीखता, विना पण्डों के हाथों के। यह कभी किसी धूर्त्त ने पृथिवी में गुफा खोद, उसमें एक मनुष्य बैठाय[4] दिया होगा। पश्चात् उसके मुख पर कुश बिछा, पिण्ड

१. 'यही' पाठ उचित प्रतीत होता है।
२. सं० २ में 'पिण्डों' अपपाठ है।
३. सं० २, ३४, ३५ में 'गयावाल' अपपाठ है। ४. सं० २ का पाठ।

दिया होगा। और उस कपटी ने उठा लिया होगा। किसी 'आंख के अन्धे गांठ के पूरे' को इस प्रकार ठगा हो, तो आश्चर्य नहीं। वैसे ही बैजनाथ को रावण लाया था, यह भी मिथ्या बात है।

[काली-कामाक्षा-चमत्कार-खण्डन]

प्रश्न—देखो, कलकत्ते की काली और कामाक्षा आदि देवी को लाखों मनुष्य मानते हैं। क्या यह चमत्कार नहीं है ?

उत्तर—कुछ भी नहीं। ये अन्धे लोग भेड़ के तुल्य एक के पीछे दूसरे चलते हैं। कूप खाड़े में गिरते हैं, हठ नहीं सकते। वैसे ही एक मूर्ख के पीछे दूसरे चलकर मूर्त्तिपूजारूप गढ़े में फसकर दुःख पाते हैं।

[जगन्नाथ-चमत्कार-खण्डन]

प्रश्न—भला, यह तो जाने दो। परन्तु जगन्नाथजी में प्रत्यक्ष चमत्कार है। एक कलेवर बदलने के समय चन्दन का लकड़ा समुद्र में से स्वयमेव आता है। चूल्हे पर ऊपर-ऊपर सात हण्डे धरने से ऊपर-ऊपर के पहिले-पहिले पकते हैं। और जो कोई वहां जगन्नाथ की परसादी न खावे, तो कुष्ठी हो जाता है। और रथ आप-से-आप चलता, पापी को दर्शन नहीं होता है। इन्द्रदमन के राज्य में देवताओं ने मन्दिर बनाया है। कलेवर बदलने के समय एक राजा, एक पण्डा, एक बढ़ई मर जाने आदि चमत्कारों को तुम झूठ न कर सकोगे ?

उत्तर—जिसने बारह वर्ष पर्यन्त जगन्नाथ की पूजा की थी, वह विरक्त होकर मथुरा में आया था, मुझसे मिला था। मैंने इन बातों का उत्तर पूछा था। उन्होंने ये सब बातें झूठ बताईं। किन्तु विचार से निश्चय यह है [कि] जब कलेवर बदलने का समय आता है, तब नौका में चन्दन की लकड़ी ले समुद्र में डालते हैं। वह समुद्र की लहरियों से किनारे लग जाती है। उसको ले सुतार लोग मूर्त्तियां बनाते हैं।

जब रसोई बनती है, तब कपाट बन्द करके रसोइयों के विना अन्य किसी को न जाने न देखने देते हैं। भूमि पर चारों ओर छः

और बीच में एक चक्राकार चूल्हे बनाते[1] हैं। उन हण्डों के नीचे घी मिट्टी और राख लगा, छः चूल्हों पर चावल पका, उनके तले मांज-कर उस बीच के हण्डे में उसी समय चावल डाल [उसके ऊपर उन छः हण्डों को रख] छः चूल्हों के मुख लोहे के तवों से बन्ध कर, दर्शन करनेवालों को, जो कि धनाढ्य हों, बुलाके दिखलाते हैं। ऊपर-ऊपर के हण्डों से चावल निकाल, पके हुए चावलों को दिखला, नीचे के कच्चे चावल निकाल दिखाके उनसे कहते हैं कि—'कुछ हण्डों के लिये रख दो'। 'आंख के अन्धे गांठ के पूरे' रुपये अशर्फी धरते, और कोई-कोई मासिक भी बांध देते हैं।

शूद्र नीच लोग मन्दिर में नैवेद्य लाते हैं। जब नैवेद्य हो चुकता है, तब वे शूद्र नीच लोग जूंठा कर देते हैं। पश्चात् जो कोई रुपया देकर हण्डा लेवे, उसके घर पहुंचाते और दीन गृहस्थ और साधु[2] सन्तों को लेके शूद्र और अन्त्यजपर्यन्त एक पंक्ति में बैठ जूंठा एक दूसरे का भोजन करते हैं। जब वह पंक्ति उठती है, तब उन्हीं पत्तलों पर दूसरों को बैठाते जाते हैं। महा अनाचार है।

और बहुतेरे मनुष्य वहां जाकर, उनका जूंठा न खाके, अपने हाथ बना खाकर चले आते हैं। कुछ भी कुष्ठादि रोग नहीं होते। और उस जगन्नाथपुरी में भी बहुत से परसादी नहीं खाते, उनको भी कुष्ठादि रोग नहीं होते। और उस जगन्नाथपुरी में भी बहुत से कुष्ठी हैं। नित्यप्रति जूंठा खाने से भी रोग नहीं छूटता।

और यह जगन्नाथ में वाममार्गियों ने भैरवीचक्र बनाया है। क्योंकि सुभद्रा श्रीकृष्ण और बलदेव की बहिन लगती है, उसी को दोनों भाइयों के बीच में स्त्री और माता के स्थान बैठाई है।[3] जो

---

१. सं० २ में 'बनते' अपपाठ है। २. सं० २ में 'साधू' अपपाठ है।

३. प्राचीन भारतीय शिष्टाचार के अनुसार यज्ञकार्य से अन्यत्र पत्नी को वामभाग में, और पत्नी से भिन्न स्त्रीमात्र को दक्षिण भाग में बिठाया जाता है। दोनों के मध्य में सुभद्रा को रखने से उसकी स्थिति पत्नी और माता के समान होती है।

भैरवीचक्र न होता तो यह बात कभी न होती।

और रथ के पहियों के साथ कला बनाई हैं। जब उनको सूधी घुमाते हैं घूमती हैं, तब रथ चलता है। जब मेले के बीच में पहुंचता है, तभी उसकी कील को उलटी घुमा देने से रथ खड़ा रह जाता है। पूजारी लोग पुकारते हैं—'दान देओ, पुण्य करो, जिससे जगन्नाथ प्रसन्न होकर अपना रथ चलावें अपना धर्म रहै।' जबतक भेंट आती जाती है, तबतक ऐसे ही पुकारते जाते हैं। जब आ चुकती है, तब एक ब्रजवासी अच्छे कपड़े दुशाला ओढ़कर आगे खड़ा रहके हाथ जोड़ स्तुति करता है कि—'हे जगन्नाथ स्वामिन्! आप कृपा करके रथ को चलाइये, हमारा धर्म रक्खो' इत्यादि। बोलके साष्टाङ्ग दण्डवत् प्रणाम कर रथ पर चढ़ता है। उसी समय कील को सूधा घुमा देते हैं। और जय-जय शब्द बोल सहस्रों मनुष्य रस्सी खींचते हैं, रथ चलता है।

जब बहुत से लोग दर्शन को जाते हैं, तब इतना बड़ा मन्दिर है कि जिसमें दिन में भी अंधेरा रहता है, और दीपक जलाना पड़ता है। उन मूर्त्तियों के आगे पड़दे खेंचकर लगाने के पर्दे दोनों ओर रहते हैं। पण्डे पूजारी भीतर खड़े रहते हैं। जब एक ओर वाले ने पर्दे को खींचा, झट मूर्त्ति आड़ में आ जाती है। तब सब पण्डे और पूजारी पुकारते हैं—'तुम भेंट धरो, तुम्हारे पाप छूट जायेंगे, तब दर्शन होगा। शीघ्र करो।' वे बिचारे भोले मनुष्य धूर्त्तों के हाथ लूटे जाते हैं। और झट पर्दा दूसरा खैंच लेते हैं, तभी दर्शन होता है। तब जय शब्द बोलके प्रसन्न होकर धक्के खाके तिरस्कृत हो चले आते हैं।

इन्द्रदमन वही है [कि] जिसके कुल में [लोग] अब तक कलकत्ते में हैं। वह धनाढ्य राजा और देवी का उपासक था। उसने लाखों रुपये लगाकर मन्दिर बनवाया था। इसलिये कि आर्यावर्त्त देश के भोजन का बखेड़ा इस रीति से छुड़ावें, परन्तु वे मूर्ख कब छोड़ते हैं?

देव मानो तो उन्हीं कारीगरों को मानों, कि जिन शिल्पियों ने मन्दिर बनाया। राजा पण्डा और बढ़ई उस समय नहीं मरते, परन्तु वे तीनों वहां प्रधान रहते हैं। छोटों को दुःख देते होंगे,

[1]उन्होंने सम्मति करके उसी समय अर्थात् कलेवर बदलने के समय वे तीनों उपस्थित रहते हैं, मूर्त्ति का हृदय पोला रक्खा है। उसमें सोने के सम्पुट में एक सालगराम रखते हैं कि जिसको प्रतिदिन धोके चरणामृत बनाते हैं। उस पर रात्रि की शयन आरती में उन लोगों ने विष का तेजाब लपेट दिया होगा। उसको धोके उन्हीं तीनों को पिलाया होगा, कि जिससे वे कभी मर गये होंगे। मरे तो इस प्रकार, और भोजनभट्टों ने प्रसिद्ध किया होगा कि जगन्नाथजी अपने शरीर बदलने के समय तीनों भक्तों को भी साथ ले गये। ऐसी झूंठी बातें पराये धन ठगने के लिये बहुत सी हुआ करती हैं।

[रामेश्वर लिङ्ग-चमत्कार-खण्डन]

प्रश्न—जो रामेश्वर में गङ्गोतरी के जल चढ़ाने समय लिङ्ग बढ़ जाता है, क्या यह भी बात झूंठी है ?

उत्तर—झूंठी। क्योंकि उस मन्दिर में भी[2] दिन में अन्धेरा रहता है। दीपक रात दिन जला करते[3] हैं। जब जल की धारा छोड़ते हैं, तब उस जल में बिजुली के समान दीपक का प्रतिबिम्ब चलकता है, और कुछ भी नहीं। न पाषाण घटे न बढ़े, जितना का उतना रहता है। ऐसी लीला करके बिचारे निर्बुद्धियों को ठगते हैं।

प्रश्न—रामेश्वर को रामचन्द्र ने स्थापित किया है। जो मूर्त्ति-पूजा वेदविरुद्ध होती, तो रामचन्द्र मूर्त्तिस्थापन क्यों करते ? और वाल्मीकिजी रामायण में क्यों लिखते ?

उत्तर—रामचन्द्र के समय में उस लिङ्ग वा मन्दिर का नाम चिह्न भी न था। किन्तु यह ठीक है कि दक्षिण देशस्थ राम नामक राजा ने मन्दिर बनवा, लिङ्ग का नाम रामेश्वर धर दिया है। जब रामचन्द्र सीताजी को ले, हनुमान् आदि के साथ लङ्का से चले[4]

---

१. 'उन्होंने सम्मति करके' पद उत्तर वाक्य में 'मूर्त्ति का' से पूर्व होने चाहियें।

२. अर्थात् 'जगन्नाथ' के मन्दिर के समान। ३ सं०२ में 'कत्ते' पाठ है।

४. 'चले' पद समर्थदान ने जोड़ा। इसके विना भी संगति ठीक है।

आकाशमार्ग में विमान पर बैठ अयोध्या को आते थे, तब सीता जी से कहा था[1] कि—

अत्र पूर्वं महादेवः प्रसादमकरोद्विभुः ।
सेतुबन्ध इति विख्यातम् ।। बाल्मीकिरा० लङ्का कां०[2]

'[3]हे सीते ! तेरे वियोग में हम व्याकुल होकर घूमते थे, और इसी स्थान में चातुर्मास किया था। और परमेश्वर की उपासना ध्यान भी करते थे। वही जो सर्वत्र विभु=व्यापक देवों का देव महादेव परमात्मा है, उसकी कृपा से हमको सब सामग्री यहां प्राप्त हुई। और देख, यह सेतु हमने बांधकर, लङ्का में आके उस रावण को मार तुझको ले आये।' इसके सिवाय वहां बाल्मीकि ने अन्य कुछ भी नहीं लिखा।

प्रश्न—'रङ्ग है कालियाकन्त को !
जिसने हुक्का पिलाया सन्त को ।।'

दक्षिण में एक कालियाकन्त की मूर्त्ति है। वह अब तक हुक्का पिया करती है। जो मूर्त्तिपूजा झूंठी हो, तो यह चमत्कार भी झूंठा हो जाय ?

उत्तर—झूंठी-झूंठी। यह सब पोपलीला है। क्योंकि वह मूर्त्ति का मुख पोला होगा। उसका छिद्र पृष्ठ में निकालके भित्ती के पार दूसरे मकान में नल लगा होगा। जब पुजारी हुक्का भरवा पेचवां[4] लगा, मुख में नली जमाके पड़दे डाल, निकल आता होगा, तभी पीछेवाला आदमी मुख से खींचता होगा, तो इधर हुक्का गड़-गड़ बोलता होगा। दूसरा छिद्र नाक और मुख के साथ लगा होगा। जब पीछे फूकें मार देता होगा, तब नाक और मुख के छिद्रों से धुआं निकलता होगा। उस समय बहुत से मूढ़ों को धनादि पदार्थों से लूटकर धनरहित करते होंगे।

---

१. सं० २ में 'है' पाठ है। २. सर्ग १२३, श्लोक २२, २१ ।।
३. इस से पूर्व सं० २ में 'कहा था कि' पद हैं। वे व्यर्थ हैं।
४. अर्थात् 'पेचवान'।

[डाकोर-सोमनाथ-रणछोड़-चमत्कार-खण्डन]

प्रश्न—देखो, डाकोरजी की मूर्त्ति द्वारिका से भगत के साथ चली आई। एक सवा रत्ती सोने में कई मन की मूर्त्ति तुल गई। क्या यह भी चमत्कार नहीं ?

उत्तर—नहीं। वह भक्त मूर्त्ति को चोर[1] ले आया होगा। और सवा रत्ती के बराबर मूर्त्ति का तुलना किसी भङ्गड़ आदमी ने गप्प मारा होगा।

प्रश्न—देखो, सोमनाथजी पृथिवी से ऊपर रहता था, और बड़ा चमत्कार था। क्या यह भी मिथ्या बात है ?

उत्तर—हां, मिथ्या है। सुनो, ऊपर नीचे चुम्बक पाषाण लगा रक्खे [थे]। उसके आकर्षण से वह मूर्त्ति अधर खड़ी थी। जब 'महमूद गजनवी' आकर लड़ा, तब यह चमत्कार हुआ कि उसका मन्दिर तोड़ा गया। और पुजारी भक्तों की दुर्दशा हो गई। और लाखों फौज दस सहस्र फौज से भाग गई।

जो पोप पुजारी पूजा पुरश्चरण स्तुति प्रार्थना करते थे कि—'हे महादेव। इस म्लेच्छ को तू मार डाल, हमारी रक्षा कर'। और वे अपने चेले राजाओं को समझाते थे कि—'आप निश्चिन्त रहिये। महादेवजी भैरव अथवा वीरभद्र को भेज देंगे। वे सब म्लेच्छों को मार डालेंगे, वा अन्धा कर देंगे। अभी हमारा देवता प्रसिद्ध होता है। हनुमान्, दुर्गा और भैरव ने स्वप्न दिया है कि हम सब काम कर देंगे।'

वे बिचारे भोले राजा और क्षत्रिय पोपों के बहकाने से विश्वास में रहे। कितने ही ज्योतिषी पोपों ने कहा कि अभी तुम्हारी चढ़ाई का मुहूर्त्त नहीं है। एक ने आठवां चन्द्रमा बतलाया, दूसरे ने योगिनी सामने दिखलई, इत्यादि बहकावट में रहे। जब म्लेच्छों की फौज ने आकर घेर लिया, तब दुर्दशा से भागे। कितने पोप पुजारी और उनके चेले पकड़े गये। पुजारियों ने यह भी हाथ जोड़कर कहा कि—

---

१. अर्थात् 'चुरा'।

'तीन क्रोड़ रुपया लेलो, मन्दिर और मूर्त्ति मत तोड़ो।' मुसलमानों ने कहा कि—'हम 'बुतपरस्त'[1] नहीं, किन्तु 'बुतशिकन' अर्थात् मूर्त्ति-पूजक नहीं किन्तु मूर्त्तिभंजक हैं।' जाके झट मन्दिर तोड़ दिया।

जब ऊपर की छत टूटी, तब चुम्बक पाषाण पृथक् होने से मूर्त्ति गिर पड़ी। जब मूर्त्ति तोड़ी, तब सुनते हैं कि अठारह क्रोड़ के रत्न निकले। जब पुजारी और पोपों पर कोड़ा पड़े, तब रोने लगे। कहा कि कोष बतलाओ। मार के मारे झट बतला दिया। तब सब कोष लूट मार कूटकर, पोप और उनके चेलों को 'गुलाम' बिगारी[2] बना पिसना पिसवाया, घास खुदवाया, मल-मूत्रादि उठवाया, और चना खाने को दिये!

हाय! क्यों पत्थर की पूजा कर सत्यानाश को प्राप्त हुए? क्यों परमेश्वर की भक्ति न की? जो म्लेच्छों के दांत तोड़ डालते, और अपना विजय करते। देखो, जितनी मूर्त्तियां [पूजीं] हैं, उतनी शूरवीरों की पूजा करते, तो भी कितनी रक्षा होती। पुजारियों ने [3]इन पाषाणों की इतनी भक्ति की थी, परन्तु मूर्त्ति एक भी उन [शत्रुओं] के शिर पर उड़के न लगी। जो किसी एक शूरवीर पुरुष की मूर्त्ति के सदृश सेवा करते, तो वह अपने सेवकों को यथाशक्ति बचाता, और उन शत्रुओं को मारता।

प्रश्न—द्वारिकाजी के रणछोड़जी, जिसने 'नर्सीमहिता' के पास हुण्डी भेज दी, और उसका ऋण चुका दिया। इत्यादि बात भी क्या झूंठ है?

उत्तर—किसी साहूकार नें रुपये दे दिये होंगे। किसी ने झूंठा नाम उड़ा दिया होगा कि श्रीकृष्ण ने भेजे। जब संवत् १९१४ के

---

१. 'बुत' अपभ्रंश 'बुद्ध' से हुआ है। पहले बुद्ध की मूर्त्तियां ही फारस देश में थीं। भ० द०

२. अर्थात् जिनसे बेगार ली जाती है। कुछ संस्करणों में 'भिखारी' पाठ मिलता है, वह प्रकृत वाक्य से असंबद्ध है।

३. सं० २ में तथा अन्यत्र 'इनकी इतनी भक्ति पाषाणोंकी की परन्तु' इस प्रकार पूर्वापर पाठ है।

वर्ष में तोपों के मारे मन्दिर मूर्त्तियां अंगरेजों ने उड़ा दी थीं, तब मूर्त्ति कहां गई थीं ? प्रत्युत बाघेर लोगों ने जितनी वीरता की और लड़े, शत्रुओं को मारा[1], परन्तु मूर्त्ति एक मक्खी की टांग भी न तोड़ सकी। जो श्रीकृष्ण के सदृश कोई होता, तो इनके धुर्रे उड़ा देता, और ये भागते फिरते। भला यह तो कहो कि जिसका रक्षक मार खाये, उसके शरणागत क्यों न पीटे जायें ?

[ज्वालामुखी-चमत्कार-खण्डन]

प्रश्न—ज्वालामुखी तो प्रत्यक्ष देवी है, सबको खा जाती है। और प्रसाद देवे, तो आधा खा जाती है, और आधा छोड़ देती है। मुसलमान बादशाहों ने उस पर जल की नहर छुड़वाई, और लोहे के तवे जड़वाये थे, तो भी ज्वाला न बुझी और न रुकी।

वैसे हिंगलाज भी आधीरात को सवारी कर पहाड़ पर दिखाई देती, पहाड़ को गर्जना कराती[2] है। चन्द्रकूप बोलता, और योनि-यन्त्र से निकलने से पुनर्जन्म नहीं होता। ठुमरा बांधने से पूरा महा-पुरुष कहाता। जबतक हिंगलाज न हो आवे, तबतक आधा महापुरुष बजता है। इत्यादि सब बातें क्या मानने योग्य नहीं ?

उत्तर—नहीं। क्योंकि वह ज्वालामुखी पहाड़ से आगी निकलती है। उसमें पुजारी लोगों की विचित्र लीला है। जैसे बघार के घी के चमचे में ज्वाला आ जाती, अलग करने से वा फूंक मारने से बुझ जाती, और थोड़े-से घी को खा जाती, शेष छोड़ जाती है, उसी के समान वहां भी है। जैसे चूल्हे की ज्वाला में जो डाला जाये सब भस्म हो जाता, जंगल वा घर में [आग] लग जाने से सबको खा जाती है। इससे वहां क्या विशेष है ? विना एक मन्दिर, कुण्ड और इधर-उधर नल रचना के।

हिंगलाज में न कोई सवारी होती, और जो कुछ होता है, वह सब [पाप][3] पूजारियों की लीला से दूसरा कुछ भी नहीं। एक जल

---

१. यह सन् १८५७ की सिपाही-क्रान्ति के समय की बात है।

२. सं०२में 'करती' अपपाठ है। ३. कोष्ठान्तर्गत पाठ सं०३४,३५में है।

और दल्दल का कुण्ड बना रक्खा है। जिसके नीचे से बुदबुदे उठते हैं। उसको सफल यात्रा होना मूढ़ मानते हैं। योनि का यन्त्र उन लोगों ने धन हरने के लिये बनवा रक्खा है। और ठुमरे भी उसी प्रकार पोपलीला के हैं। उससे महापुरुष हो, तो एक पशु पर ठुमरे का बोझ लाद दें, तो क्या महापुरुष हो जायेगा ? महापुरुष तो बड़े उत्तम धर्मयुक्त पुरुषार्थ से होता है।

[अमृत तालाब, हर की पैड़ी आदि चमत्कार-खण्डन]

प्रश्न—अमृतसर का तालाब अमृतरूप; एक मुरेठी का फल आधा मीठा; और एक भित्ती नमती और गिरती नहीं[1]। रेवालसर में बेड़े तैरते; अमरनाथ में आप से आप लिङ्ग बन जाते; हिमालय से कबूतर के जोड़े आके सबको दर्शन देकर चले जाते हैं। क्या यह भी मानने योग्य नहीं ?

उत्तर—नहीं। उस तालाब का नाममात्र अमृतसर है। जब कभी जङ्गल होता, तब उसका जल अच्छा होगा। इससे उसका नाम 'अमृतसर' धरा होगा।[2] जो अमृत होता, तो पुराणियों के मानने के तुल्य कोई क्यों मरता ? भित्ती की कुछ बनावट ऐसी होगी, जिससे नमती होगी और गिरती न होगी। रीठे कलम के पैबन्दी होंगे अथवा गपोड़ा होगा। रेवालसर में बेड़ा तरने में कुछ कारीगरी होगी। अमरनाथ में बर्फ के पहाड़ बनते हैं, तो जल जमके छोटे लिङ्ग का बनना कौन आश्चर्य है ? और कबूतर के जोड़े पालित होंगे। पहाड़ की आड़ में से मनुष्य छोड़ते होंगे, दिखलाकर टका हरते होंगे।

प्रश्न—हरद्वार स्वर्ग का द्वार, हर की पैड़ी[3] में स्नान करे, तो पाप छूट जाते हैं। और तपोवन में रहने से तपस्वी होता। देवप्रयाग, गङ्गोत्तरी में गोमुख, उत्तरकाशी में गुप्त-काशी, त्रियुगी नारायण के दर्शन होते हैं। केदार और बद्रीनारायण की पूजा छः महीने तक

---

१. ऐसी भित्ती गुरदासपुर में है, जो हिलाने से हिलती है।

२. तिब्बत के ग्रन्थों में यही बात लिखी है। भ० द०

३. सं० २ में 'पीढ़ी' पाठ है।

मनुष्य और छः महीने तक देवता करते है। महादेव का मुख नैपाल में पशुपति, चूतड़ केदार, और तुङ्गनाथ में जानु, [और] पग अमरनाथ में। इनके दर्शन स्पर्शन स्नान करने से मुक्ति हो जाती है। वहां केदार और बद्री से स्वर्ग जाना चाहै, तो जा सकता है। इत्यादि बातें कैसी हैं?

उत्तर—'हरद्वार' उत्तर से पहाड़ों में जाने का एक मार्ग का आरम्भ है। हर की पैड़ी[1] एक स्नान के लिये कुण्ड की सीढ़ियों को बनाया है। सच पूछो तो 'हाड़पैड़ी'[2] है। क्योंकि देशदेशान्तर के मृतकों के हाड़ उसमें पड़ा करते हैं। पाप कभी नहीं कहीं छूट सकता विना भोगे, अथवा नहीं कटते।

'तपोवन' जब होगा तब होगा, अब तो 'भिक्षुकवन' है। तपोवन में जाने रहने से तप नहीं होता, किन्तु तप तो करने से होता है। क्योंकि वहां बहुत से दुकानदार झूठ बोलनेवाले भी रहते हैं।

'हिमवतः प्रभवति गङ्गा' पहाड़ के ऊपर से जल गिरता है। गोमुख का आकार टका लेनेवालों ने बनाया होगा, और वही पहाड़ पोप का स्वर्ग है। वहां उत्तरकाशी आदि स्थान ध्यानियों के लिये अच्छा है, परन्तु दुकानदारों के लिये वहां भी दुकानदारी है।

'देवप्रयाग' पुराण के गपोड़ों की लीला है। अर्थात् जहां अलखनन्दा और गङ्गा मिली हैं, इसलिये वहां देवता वसते हैं, ऐसे गपोड़े न मारें तो वहां कौन जाय? और टका कौन देवे? गुप्त काशी तो नहीं है, वह तो प्रसिद्ध काशी है। तीन युग की धूनी तो नहीं दीखती, परन्तु पोपों की दश बीस पीढ़ी की होगी। जैसी खाखियों की धूनी और पारसियों की अग्यारी सदैव जलती रहती है। तप्तकुण्ड भी पहाड़ों के भीतर ऊष्मा=गर्मी होती है, उसमें तपकर जल आता है। उसके पास दूसरे कुण्ड में ऊपर का जल, वा जहां गर्मी नहीं वहां का आता है। इससे ठण्डा है।

'केदार' का स्थान, वह भूमि बहुत अच्छी है। परन्तु वहां भी

---

१. सं० २ में 'पीढ़ी' पाठ है। २. सं० २ में 'हाड़पीढ़ी' पाठ है।

एक जमे हुए पत्थर पर पुजारी वा उनके चेलों ने मन्दिर बना रक्खा है। वहां महन्त पुजारी पण्डे 'आंख के अन्धे गांठ के पूरों' से माल लेकर विषयानन्द करते हैं। वैसे ही 'बद्रीनारायण' में ठगविद्या वाले बहुत से बैठे हैं। 'रावलजी' वहाँ के मुख्य हैं। एक स्त्री छोड़ अनेक स्त्री रख बैठे हैं।

'पशुपति' एक मन्दिर और 'पञ्चमुखी' मूर्त्ति का नाम धर रक्खा है। जब कोई न पूछे, तभी ऐसी लीला बलवती होती है। परन्तु जैसे तीर्थ के लोग धूर्त्त धनहरे होते हैं, वैसे पहाड़ी लोग नहीं होते । वहां की भूमि बड़ी रमणीय और पवित्र है।

[विन्ध्येश्वरी-प्रयाग-अयोध्या-मथुरा-माहात्म्य-खण्डन]

प्रश्न—विन्ध्याचल में 'विन्ध्येश्वरी काली अष्टभुजा' प्रत्यक्ष सत्य है। विन्ध्येश्वरी तीन समय में तीन रूप बदलती है । और उसके बाड़े में मक्खी एक भी नहीं होती। 'प्रयाग' तीर्थराज, वहां शिर मुण्डाये सिद्धि। गङ्गा यमुना के सङ्गम[1] में स्नान करने से इच्छासिद्धि होती है ।

वैसे ही 'अयोध्या' कई वार उड़कर सब वस्ती सहित स्वर्ग में चली गई। 'मथुरा' सब तीर्थों से अधिक; 'वृन्दावन' लीला-स्थान; और गोवर्द्धन व्रजयात्रा बड़े भाग्य से होती है। सूर्य-ग्रहण में 'कुरुक्षेत्र' में लाखों मनुष्यों का मेला होता है। क्या ये सब बातें मिथ्या हैं?

उत्तर—प्रत्यक्ष तो आंखों से तीनों मूर्त्तियां दीखती हैं कि पाषाण की मूर्त्तियां हैं। और तीन काल में तीन प्रकार के रूप होने का कारण पुजारी लोगों के वस्त्र आदि आभूषण पहिराने की चतुराईहै। और मक्खियां सहस्रों लाखों होती है। मैंने अपनी आंखों से देखा है।

'प्रयाग' में कोई नापित श्लोक बनानेहारा, अथवा पोपजी को कुछ धन देके मुण्डन कराने का माहात्म्य बनाया वा बनवाया होगा। प्रयाग में स्नान करके स्वर्ग को जाता, तो लौटकर घर में आता कोई भी नहीं दीखता? किन्तु घर को सब आते हुए दीखते हैं । अथवा

१. सं० २ में 'संग' अपपाठ है।

जो कोई वहां डूब मरता, और उसका जीव भी आकाश में वायु के साथ घूमकर जन्म लेता होगा। 'तीर्थराज' भी नाम टका लेनेवालों ने धरा है। जड़ में राजा प्रजा भाव कभी नहीं हो सकता।

यह बड़ी असम्भव बात है कि अयोध्या नगरी बस्ती कुत्ते गधे भंगी चमार जाजरू सहित तीन वार स्वर्ग में गई। स्वर्ग में तो नहीं गई, वहीं की वहीं है। परन्तु पोपजी के मुख-गपोड़ों में अयोध्या स्वर्ग को उड़ गई। यह गपोड़ा शब्दरूप उड़ता फिरता है। ऐसे ही नैमिषारण्य आदि की भी इन्हीं लोगों की[1] लीला जाननी।

मथुरा तीन लोक से 'निराली' तो नहीं, परन्तु उसमें तीन जन्तु बड़े लीलाधारी हैं। कि जिनके मारे जल स्थल और अन्तरिक्ष में किसी को सुख मिलना कठिन है।

एक—चौबे, जो कोई स्नान करने जाये, अपना कर लेने को खड़े रहकर बकते[2] रहते हैं—'लाओ यजमान ! भांग मर्ची और लड्डू खावें-पीवें। यजमान की जै-जै मनावें।'

दूसरे—जल में कछुवे, काट ही खाते हैं। जिनके मारे स्नान करना भी घाट पर कठिन पड़ता है।

तीसरे—आकाश के ऊपर लाल मुख के बन्दर पगड़ी टोपी गहने और जूते तक भी न छोड़ें। काट खावें, धक्के दे गिरा मार डालें।

और ये तीनों पोप और पोपजी के चेलों के पूजनीय हैं। मनों चना आदि अन्न कछुवे, और बन्दरों को चना गुड़ आदि, और चौबों की दक्षिणा और लड्डुओं से उनके सेवक सेवा किया करते हैं।

और **वृन्दावन** जब था तब था, अब तो वेश्यावनवत् लल्ला-लल्ली और गुरु-चेली आदि की लीला फैल रही है। वैसे ही दीपमालिका का मेला गोवर्द्धन और व्रजयात्रा में भी पोपों की बन पड़ती है।

कुरुक्षेत्र में भी वही जीविका की लीला समझ लो। इनमें जो कोई धार्मिक परोपकारी पुरुष है, इस पोपलीला से पृथक् हो जाता है।

---

१. सं० २ में 'इन्हीं लोगों ने' पाठ है।
२. सं० २ में 'वक्ता' अपपाठ है।

[मूर्त्तिपूजा-तीर्थ-नामस्मरण-माहात्म्य-खण्डन]

प्रश्न—यह मूर्त्तिपूजा और तीर्थ सनातन से चले आते हैं। झूठे क्योंकर हो सकते हैं ?

उत्तर—तुम सनातन किसको कहते हो ? जो सदा से चला आता है ? जो यह सदा से होता, तो वेद और ब्राह्मणादि ऋषिमुनिकृत पुस्तकों[1] में इनका नाम क्यों नहीं ? यह मूर्त्तिपूजा अढ़ाईतीन सहस्र वर्ष के इधर-उधर वाममार्गी और जैनियों से चली है। प्रथम आर्यावर्त्त में नहीं थी।

और ये तीर्थ भी नहीं थे। जब जैनियों ने गिरनार पालिटाना शिखर शत्रुञ्जय और आबू आदि तीर्थ बनाये, उनके अनुकूल इन लोगों ने भी बना लिये। जो कोई इनके आरम्भ की परीक्षा करना चाहें, वे पण्डों की पुरानी से पुरानी[2] बही और तांबे के पत्र[3] आदि लेख देखें, तो निश्चय हो जायगा कि ये सब तीर्थ पांच सौ अथवा एक सहस्र वर्ष से इधर ही बने हैं। सहस्र वर्ष से उधर का लेख किसी के पास नहीं निकलता, इससे आधुनिक हैं।

प्रश्न—जो-जो तीर्थ वा नाम का माहात्म्य, अर्थात् जैसे '**अन्यक्षेत्रे कृतं पापं काशीक्षेत्रे विनश्यति**'[4] इत्यादि बातें हैं, वे सच्ची हैं वा नहीं ?

उत्तर—नहीं। क्योंकि जो पाप छूट जाते हों, तो दरिद्रों को धन राजपाट, अन्धों को आंख मिल जाती, कोढ़ियों का कोढ़ आदि रोग छूट जाता। ऐसा नहीं होता, इसलिये पाप वा पुण्य किसी का नहीं छूटता।

प्रश्न—**गंगागङ्गेति यो ब्रूयाद्योजनानां शतैरपि।**
मुच्यते सर्वपापेभ्यो विष्णुलोकं स गच्छति ॥१॥[5]

---

१. वेद शाखा ब्राह्मण आरण्यक उपनिषद उपवेद वेदाङ्ग उपाङ्ग आदि में मूर्तिपूजा का लेश भी नहीं है। हां, इनके खिल=परिशिष्ट भाग में कहीं-कहीं मूर्ति-पूजा का संकेत है। पर ये खिल=परिशिष्ट ऋषियों के बनाये हुए नहीं हैं, पीछे से जोड़े गये हैं।

२. सं० २ में 'पूरानी' अपपाठ है।

३. ये ताम्रपत्र दान-सम्बन्धी हैं।

४. द्र०—काशीमाहात्म्य, काशीखण्ड आदि।

५. ब्रह्मपुराण १७५।८२॥ पद्म पुराण, उत्तर खण्ड २३।२॥

हरिर्हरति पापानि हरिरित्यक्षरद्वयम् ॥२॥[1]
प्रातःकाले शिवं दृष्ट्वा निशि पापं विनश्यति ।
आजन्मकृतं मध्याह्ने सायाह्ने सप्तजन्मनाम् ॥३॥

इत्यादि श्लोक पोपपुराण के हैं ।

जो सैंकड़ों सहस्रों कोश दूर से भी गङ्गा-गङ्गा कहै, तो उसके पाप नष्ट होकर वह विष्णुलोक अर्थात् वैकुण्ठ को जाता है ॥१॥

'हरि' इन दो अक्षरों का नामोच्चारण सब पापों को हर लेता है। वैसे ही राम कृष्ण शिव भगवती आदि नामों का माहात्म्य है ॥ २ ॥

और जो मनुष्य प्रातःकाल में शिव अर्थात् लिङ्ग वा उसकी मूर्त्ति का दर्शन करे, तो रात्रि में किया हुआ, मध्याह्न में दर्शन से जन्मभर का, सायङ्काल में दर्शन करने से सात जन्मों का पाप छूट जाता है ॥ ३ ॥

यह दर्शन का माहात्म्य है, क्या झूंठा हो जायगा ?

उत्तर—मिथ्या होने में क्या शंका ? क्योंकि गंगा-गंगा वा हरे राम कृष्ण नारायण शिव और भगवती नाम-स्मरण से पाप कभी नही छूटता। जो छूटे तो दुःखी कोई न रहै, और पाप करने से कोई भी न डरे। जैसे आजकल पोपलीला में पाप बढ़कर हो रहे हैं। मूढ़ों को विश्वास है कि हम पाप कर नाम-स्मरण वा तीर्थयात्रा करेंगे, तो पापों की निवृत्ति हो जायगी। इसी विश्वास पर पाप करके इस लोक और परलोक का नाश करते हैं। पर किया हुआ पाप भोगना ही पड़ता है।

प्रश्न—तो कोई तीर्थ, नाम-स्मरण सत्य है, वा नहीं ?

उत्तर—है। वेदादि सत्यशास्त्रों का पढ़ना-पढ़ाना, धार्मिक विद्वानों का संग, परोपकार, धर्मानुष्ठान, योगाभ्यास, निर्वैर

---

१. स्वामी वेदानन्द ने 'पद्म पु० उ० खं० २२।३४' पता दिया है। वैयमुद्रित सं० ३४ में 'पद्म पु०उ०खं० ७२।१२' पता छापा है। दोनों स्थानों में 'मोर' संस्करण में नहीं मिलता।

निष्कपट सत्यभाषण, सत्य का मानना, सत्य करना, ब्रह्मचर्य, आचार्य्य अतिथि माता-पिता की सेवा, परमेश्वर की स्तुति-प्रार्थना-उपासना, शान्ति, जितेन्द्रियता, सुशीलता, धर्मयुक्तपुरुषार्थ, ज्ञान-विज्ञान आदि शुभ गुणकर्म दुःखों से तारनेवाले होने से 'तीर्थ' हैं।

और जो जलस्थलमय हैं, वे तीर्थ कभी नहीं हो सकते। क्योंकि 'जना यैस्तरन्ति तानि तीर्थानि' मनुष्य जिन करके दुःखों से तरें, उनका नाम 'तीर्थ' है। जल स्थल तरानेवाले नहीं, किन्तु डुबाकर मारनेवाले हैं। प्रत्युत नौका आदि का नाम 'तीर्थ' हो सकता है। क्योंकि उनसे भी समुद्र आदि को तरते हैं।

समानतीर्थे वासी ॥१॥ पा० अ० ४।४।१०७॥

नमस्तीर्थ्याय च[1] ॥२॥ यजु० अ० १६।[2]

जो ब्रह्मचारी एक आचार्य [से] और एक शास्त्र को साथ-साथ पढ़ते हों, वे सब सतीर्थ्य अर्थात् समानतीर्थसेवी होते हैं [॥१॥]

जो वेदादिशास्त्र और सत्यभाषणादि धर्म-लक्षणों में साधु हो, उसको अन्नादि पदार्थ देना, और उससे[3] विद्या लेनी, इत्यादि 'तीर्थ' कहाते हैं [॥२॥]

'**नामस्मरण**' इसको कहते हैं कि—

यस्य नाम महद्यशः ॥ यजु०[4]

परमेश्वर का नाम बड़े यश अर्थात् धर्मयुक्त कामों का करना है। जैसे—ब्रह्म परमेश्वर ईश्वर न्यायकारी दयालु सर्वशक्तिमान् आदि नाम परमेश्वर के गुण कर्म स्वभाव से हैं।

जैसे '**ब्रह्म**'—सबसे बड़ा; '**परमेश्वर**'—ईश्वरों का ईश्वर; '**ईश्वर**' सामर्थ्ययुक्त; '**न्यायकारी**'—कभी अन्याय नहीं करता, '**दयालु**'—सब पर

---

१. वैयमुद्रित संस्करणों में 'च' को संहितावत् अनुदात्त छापा है, वह अपपाठ है। अगले आद्युदात्त पद का निर्देश होने पर ही 'च' अनुदात्त होता है। निर्दिष्ट पाठमात्र में वह एकश्रुति रहेगा।

२. अ० १६। मंत्र ४२।

३. सं० २ में 'उनसे' पाठ है।

४. यजुः ३२.३॥

कृपादृष्टि रखता; 'सर्वशक्तिमान्'—अपने सामर्थ्य ही से सब जगत् की उत्पत्ति स्थिति प्रलय करता[1], सहाय किसी का नहीं लेता; 'ब्रह्मा'[2] विविध जगत् के पदार्थों का बनानेहारा; 'विष्णु'—सबमें व्यापक होकर रक्षा करता; 'महादेव'—सब देवों का देव; 'रुद्र'—प्रलय करने-हारा आदि नामों के अर्थों को अपने में धारण करे।

अर्थात् बड़े कामों से बड़ा हो, समर्थों में समर्थ हो, सामर्थ्यों को बढ़ाता जाय। अधर्म कभी न करे, सब पर दया रक्खे। सब प्रकार के साधनों को समर्थ करे। शिल्पविद्या से नाना प्रकार के पदार्थों को बनावे। सब संसार में अपने आत्मा के तुल्य सुख दुःख समझे। सब की रक्षा करे, विद्वानों में विद्वान् होवे। दुष्ट कर्म[3] करनेवालों को प्रयत्न से दण्ड और सज्जनों की रक्षा करे।

इस प्रकार परमेश्वर के नामों का अर्थ जानकर परमेश्वर के गुण कर्म स्वभाव [के अनुकूल अपने गुण कर्म स्वभाव][4] को करते जाना ही परमेश्वर का 'नामस्मरण' है।

[गुरु-माहात्म्य तथा गुरु-गीता-खण्डन]

प्रश्न—गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुर्गुरुर्देवो महेश्वरः।
गुरुरेव परं ब्रह्म, तस्मै श्रीगुरवे नमः॥[5]

इत्यादि गुरुमाहात्म्य तो सच्चा है? गुरु के पग धोके पीना, जैसी आज्ञा करे वैसा करना। गुरु लोभी हो तो वामन के समान, क्रोधी हो तो नरसिंह के सदृश, मोही हो तो राम के तुल्य, और कामी हो तो कृष्ण के समान गुरु को जानना। चाहे गुरुजी कैसा ही पाप करें, तो भी अश्रद्धा न करनी। सन्त वा गुरु के दर्शन को जाने में पग-पग में अश्वमेध का फल होता है। यह बात ठीक है, वा नहीं?

---

१. सं० २ में 'कर्त्ता' पाठ है। २. सं० २ में 'ब्रह्म' पाठ है।

३. सं० २ में तथा अन्यत्र 'दुष्ट कर्म और दुष्टकर्म करने वालों' पाठ है। इसमें 'दुष्टकर्म और' अपपाठ है। 'दुष्टकर्म को' भला क्या दण्ड दिया जा सकता है? ४. कोष्ठान्तर्गत पाठ सं० २ में नहीं है। सं० ३४,३५ में बिना कोष्ठक के मिलता है। ५. गुरु-गीता। गुरु-माहात्म्य १६।

उत्तर—ठीक नहीं। ब्रह्मा विष्णु महेश्वर और परब्रह्म परमेश्वर के नाम हैं। उसके तुल्य गुरु कभी नहीं हो सकता। यह गुरुमाहात्म्य गुरुगीता भी एक बड़ी पोपलीला है। 'गुरु' तो माता पिता आचार्य और अतिथि होते हैं। उनकी सेवा करनी, उनसे विद्या शिक्षा लेनी-देनी शिष्य और गुरु का काम है। परन्तु जो गुरु लोभी क्रोधी मोही और कामी हो, तो उसको सर्वथा छोड़ देना, शिक्षा करनी। सहज शिक्षा से न माने, तो अर्घ्य-पाद्य अर्थात् ताड़ना दण्ड प्राणहरण तक भी करने में कुछ दोष नहीं।

जो विद्यादि सद्गुणों में गुरुत्व नहीं है [ऐसा मानते, और] झूंठ-मूंठ कंठी तिलक वेदविरुद्ध मन्त्रोपदेश करनेवाले हैं, वे गुरु ही नहीं, किन्तु गड़रिये जैसे हैं। जैसे गड़रिये अपनी भेड़-बकरियों से दूध आदि से प्रयोजन सिद्ध करते हैं, वैसे ही शिष्यों के चेले चेलियों के धन हरके अपना प्रयोजन करते हैं। वे—

दो०—गुरु लोभी चेला लालची, दोनों खेलें दाव।
भवसागर में डूबते, बैठ पत्थर की नाव॥

गुरु समझें कि चेले-चेली कुछ न कुछ देवेंहीगे। और चेला समझे कि चलो गुरु झूठे सौगन्द खाने पाप छुड़ाने [के काम आवेंगे,] आदि लालच से दोनों कपटमुनि भवसागर के दुःख में डूबते हैं। जैसे पत्थर की नौका में बैठनेवाले समुद्र में डूब मरते हैं।

ऐसे गुरु और चेलों के मुख पर धूड़ राख पड़े। उसके पास कोई भी खड़ा न रहै। जो रहै वह दुःखसागर में पड़ेगा। जैसी[1] [2][पोप]लीला पुजारी पुराणियों ने चलाई है, वैसी इन गड़रिये गुरुओं ने भी लीला मचाई है। यह सब काम स्वार्थी लोगों का है। जो परमार्थी लोग हैं, वे आप दुःख पावें तो भी जगत् का उपकार करना नहीं छोड़ते। और गुरुमाहात्म्य तथा गुरुगीता आदि भी इन्हीं [लोभी]कुकर्मी गुरु लोगों[3] ने बनाई हैं।

---

१. सं० २ में 'जैसे' पाठ है। २. सं० २ में नहीं है। सं० ३४, ३५ में विना कोष्ठक के है। ३. सं० ३४, ३५ तथा अन्यत्र 'गुरुओं ने' पाठ है।

[अष्टादश-पुराण-खण्डन]

प्रश्न—अष्टादशपुराणानां कर्त्ता सत्यवतीसुत: ॥१॥
इतिहासपुराणाभ्यां वेदार्थमुपबृंहयेत् ॥२॥ महाभारते[1]
पुराणानि खिलानि च ॥३॥ मनु०[2]
इतिहासपुराण: पञ्चमो वेदानां वेद: ॥४॥ छान्दोग्य०[3]
दशमेऽहनि किंचित्पुराणमाचक्षीत ॥५॥[4]
पुराणविद्या वेद: ॥६॥ सूत्रम्

अठारह पुराणों के कर्त्ता व्यासजी हैं। व्यासवचन का प्रमाण अवश्य करना चाहिये ॥ १ ॥

इतिहास महाभारत अठारह पुराणों से वेदों का अर्थ पढ़ें-पढ़ावें। क्योंकि इतिहास और पुराण वेदों ही के अर्थ अनुकूल हैं ॥२॥

पितृकर्म में पुराण और [खिल अर्थात्][5] हरिवंश[6] की कथा सुनें ॥ ३ ॥

इतिहास और पुराण पञ्चमवेद कहाते हैं ॥४॥[7]

अश्वमेध की समाप्ति में दशवें दिन थोड़ी सी पुराण की कथा सुनें ॥५॥

पुराण विद्या वेदार्थ के जानने ही से वेद हैं ॥६॥

इत्यादि प्रमाणों से पुराणों का प्रमाण, और इनके प्रमाणों से मूर्त्तिपूजा और तीर्थों का भी प्रमाण है। क्योंकि पुराणों में मूर्त्तिपूजा और तीर्थों का विधान है।

---

१. महा० आदि पर्व ३।२६७॥ २. मनु० ३।२३२। सं० २ में 'पुराणान्यखिलानि च' अपपाठ है। ३. छां० उ० ७।१।४॥

४. तुलना करो—'अथ नवमेऽहन्········किञ्चत् पुराणमाचक्षीत।' शतपथ १३।४।३।१३॥

५. कोष्ठान्तर्गत पाठ सं० ३४,३५ में विना कोष्ठक के है।

६. मूल प्रमाण मनुस्मृति का है। हरिवंश की रचना महाभारत से भी पीछे की है। अत: मनुस्मृति में 'हरिवंश' का संकेत नहीं हो सकता। सम्भवत: ग्रन्थकार ने यह निर्देश पौराणिक मतानुसार किया हो।

७. द्वि० सं० में संख्या ४ का पाठ संख्या ५ के पश्चात् है।

उत्तर—जो अठारह पुराणों के कर्त्ता व्यासजी होते, तो उनमें इतने गपोड़े न होते। क्योंकि शरीरकसूत्र, योगशास्त्र के भाष्य आदि व्यासोक्त ग्रन्थों के देखने से विदित होता है कि व्यासजी बड़े विद्वान् सत्यवादी धार्मिक योगी थे। वे ऐसी मिथ्या कथा कभी न लिखते।

और इससे यह सिद्ध होता है कि जिन सम्प्रदायी परस्पर-विरोधी लोगों ने भागवतादि नवीन कपोलकल्पित ग्रन्थ बनाये हैं, उनमें व्यास जी के गुणों का लेश भी नहीं था। और वेदशास्त्रविरुद्ध असत्यवाद लिखना व्याससदृश विद्वानों का काम नहीं। किन्तु यह काम [वेदशास्त्र]विरोधी स्वार्थी अविद्वान् लोगों का है।

'इतिहास' और 'पुराण' शिवपुराणादि का नाम नहीं। किन्तु—

ब्राह्मणानीतिहासान् पुराणानि कल्पान् गाथा नाराशंसीरिति॥

यह ब्राह्मण और सूत्रों का वचन है।[1]

ऐतरेय शतपथ साम और गोपथ ब्राह्मण ग्रन्थों ही के इतिहास पुराण कल्प गाथा और नाराशंसी ये पांच नाम हैं। 'इतिहास'—जैसे जनक और याज्ञवल्क्य का संवाद। 'पुराण'—जगदुत्पत्ति आदि का वणन। 'कल्प'—वेद शब्दों के सामर्थ्य का वर्णन, अथनिरूपण करना। 'गाथा'—किसी का दृष्टान्त दार्ष्टान्तिरूप कथा-प्रसंग कहना। 'नाराशंसी' मनुष्यों के प्रशंसनीय वा अप्रशंसनीय कर्मों का कथन करना[2]।

इन ही से वेदार्थ का बोध होता है। पितृकर्म अर्थात् ज्ञानियों की प्रशंसा में कुछ सुनना, अश्वमेध के अन्त में भी इन्हीं का सुनना लिखा है। क्योंकि जो व्यासकृत ग्रन्थ हैं, उनका सुनना-सुनाना व्यास जी के जन्म के पश्चात् हो सकता है, पूर्व नहीं। जब व्यासजी का जन्म भी नहीं था, तब[भी] वेदार्थ को पढ़ते-पढ़ाते सुनते-सुनाते थे। इसीलिये सबसे प्राचीन ब्राह्मणग्रन्थों ही में यह सब घटना हो

---

१. द्र०—पूर्व पृष्ठ १०६ टि० १ (रालाकट्र सं०) आरण्यक ब्राह्मणों के अन्तर्गत माने जाते हैं। २. द्र०—पूर्व पृष्ठ १०६, टि० २ (रालाकट्र सं०); तथा ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, पृष्ठ ६१, टि० ३ (रालाकट्र सं०)।

सकता[1] है। इन नवीन कपोलकल्पित श्रीमद्भागवत शिवपुराणादि मिथ्या वा दूषित ग्रन्थों में नहीं घट सकता[2]।

जब व्यासजी ने वेद पढ़े और पढ़ाकर वेदार्थ फैलाया, इसी लिये उसका नाम 'वेदव्यास' हुआ।[3] क्योंकि 'व्यास' कहते हैं वार-पार को मध्य रेखा को, अर्थात् ऋग्वेद के आरम्भ से लेकर अथर्ववेद के पार-पर्यन्त चारों वेद पढ़े थे। और शुकदेव तथा जैमिनी आदि शिष्यों को पढ़ाये भी थे। नहीं तो उनका जन्म का नाम 'कृष्ण द्वैपायन' था। जो कोई यह कहते हैं कि वेदों को व्यासजी ने इकट्ठे किये, यह बात झूठी है। क्योंकि व्यासजी के पिता पितामह प्रपितामह पराशर शक्ति वशिष्ठ और ब्रह्मा[4] आदि ने भी चारों वेद पढ़े थे, यह बात क्योंकर घट सके ?

प्रश्न—पुराणों में सब बातें झूठी हैं, वा कोई सच्ची भी हैं ?

उत्तर—बहुत सी बातें झूठी हैं, और कोई घुणाक्षरन्याय से सच्ची भी है। जो सच्ची है वह वेदादि सत्यशास्त्रों की, और जो झूठी हैं वे इन पोपों के पुराणरूप घर की हैं। जैसे शिवपुराण में शैवों ने शिव को परमेश्वर मानके विष्णु ब्रह्मा इन्द्र गणेश और सूर्य्यादि को उनके दास ठहराये। वैष्णवों ने विष्णुपुराण आदि में विष्णु को परमात्मा माना, और शिव आदि को विष्णु के दास। देवीभागवत में देवी को परमेश्वरी, और शिव विष्णु आदि को उसके किङ्कर बनाये। गणेशखण्ड में गणेश को ईश्वर, और शेष सबको दास बनाये।

---

१. सं० २ से ३५ तक 'हो सकती' अपपाठ है। घटना हो सकता है, अर्थात् महाभारत मनु० छां० उप० आदि के उपर्युक्त वचन घट सकते हैं।

२. पूर्ववत् सं० २ से ३५ तक 'घट सकती' अपपाठ है।

३. वेदान् विव्यास यस्मात् स वेदव्यास इति स्मृतः।
वायुपुराण अ० २३। श्लोक ११४ के आगे कृष्ण द्वैपायन व्यास से पूर्व २७ व्यासों का नामपूर्वक उल्लेख मिलता है।

४. यह कुल परम्परा महाभारत आदि में वर्णित है। पर ब्रह्मा से कृष्ण द्वैपायन व्यास तक ५ पीढी में अति सुदीर्घ काल कैसे व्यतीत हुआ, यह विचारणीय है।

भला यह बात इन सम्प्रदायी लोगों की नहीं, तो किनकी है ? एक मनुष्य के बनाने में ऐसी परस्पर विरुद्ध बात नहीं होती, तो विद्वान् के बनाये में कभी नहीं आ सकती। इसमें एक बात को सच्ची मानें तो दूसरी झूठी। और जो दूसरी को सच्ची मानें तो तीसरी झूठी। और जो तीसरी को सच्ची मानें, तो अन्य सब झूठी होती हैं।

शिवपुराणवाले शिव से, विष्णुपुराणवालों ने विष्णु से, देवीपुराणवाले ने देवी से, गणेशखण्डवाले ने गणेश से, सूर्यपुराणवाले ने सूर्य से, और वायुपुराणवाले ने वायु से सृष्टि की उत्पत्ति प्रलय लिखके, पुनः एक-एक से एक-एक जो जगत् के कारण लिखे, उनकी उत्पत्ति एक-एक से लिखी।

कोई पूछे कि जो जगत् की उत्पत्ति स्थिति प्रलय करनेवाला है वह उत्पन्न, और जो उत्पन्न होता है वह सृष्टि का कारण कभी हो सकता है, वा नहीं ? तो केवल चुप रहने के सिवाय कुछ भी नहीं कह सकते। और इन सबके शरीर की उत्पत्ति भी इसी से हुई होगी। फिर वे आप सृष्टि-पदार्थ और परिच्छिन्न होकर संसार की उत्पत्ति के कर्त्ता क्योंकर हो सकते हैं ?

[पुराण-प्रोक्त विलक्षण सृष्टि रचना-विवेचन]

और उत्पत्ति भी विलक्षण-विलक्षण प्रकार से मानी है, जो कि सर्वथा असम्भव है। जैसे—

शिवपुराण में शिव ने इच्छा की कि मैं सृष्टि करूं। तो एक नारायण जलाशय को उत्पन्न कर उसकी नाभि से कमल, कमल में से ब्रह्मा उपत्न्न हुआ। उसने देखा कि सब जलमय[1] है। जल की अञ्जलि उठा देख जल में पटक दी। उससे एक बुद्बुदा उठा, और बुद्बुदे में से एक पुरुष उत्पन्न हुआ। उसने ब्रह्मा से कहा कि 'हे पुत्र! सृष्टि उत्पन्न कर। ब्रह्मा ने उससे कहा कि मैं तेरा पुत्र नहीं, किन्तु तू मेरा पुत्र है। उनमें विवाद हुआ, और दिव्यसहस्र वर्ष पर्यन्त दोनों जल पर लड़ते रहे।

१. सं० २ में 'जलामय' अपपाठ है।

तब महादेव ने विचार किया जिनको मैंने सृष्टि करने के लिये भेजा था, वे दोनों आपस में लड़ झगड़ रहे हैं। तब उन दोनों के बीच में से एक तेजोमय लिङ्ग उत्पन्न हुआ, और वह शीघ्र आकाश में चला गया। उसको देखके दोनों साश्चर्य हो गये, विचारा कि इसका आदि-अन्त लेना चाहिये। जो आदि-अन्त लेके शीघ्र आवे वह पिता, और जो पीछे वा थाह लेके न आवे वह पुत्र कहावे।

विष्णु कूर्म का स्वरूप धरके नीचे को चला, और ब्रह्मा हंस का शरीर धारण करके ऊपर को उड़ा। दोनों मनोवेग से चले। दिव्य-सहस्र वर्षपर्यन्त दोनों चलते रहे, तो भी उसका अन्त न पाया। तब नीचे से ऊपर विष्णु और ऊपर से नीचे ब्रह्मा [चला। ब्रह्मा] ने विचारा कि जो वह छेड़ा[1] ले आया होगा, तो मुझको पुत्र बनना पड़ेगा।

ऐसा सोच रहा था कि उसी समय एक गाय और एक केतकी का वृक्ष ऊपर से उतर आया। उनसे ब्रह्मा ने पूछा कि—'तुम कहां से आये'? उन्होंने कहा—'हम सहस्र वर्षों से इस लिंग के आधार से चले आते हैं'। ब्रह्मा ने पूछा—'इस लिङ्ग का थाह है, वा नहीं?' उन्होंने कहा कि—'नहीं'।

ब्रह्मा ने उनसे कहा कि तुम हमारे साथ चलो, और ऐसी साक्षी देओ कि मैं इस लिङ्ग के शिर पर दूध की धारा वर्षाती थी। और वृक्ष कहे कि मैं फूल वर्षाता था। ऐसी साक्षी देओ, तो मैं तुमको ठिकाने पर ले चलूं। उन्होंने कहा कि हम झूठी साक्षी नहीं देंगे। तब ब्रह्मा कुपित होकर बोला—'जो साक्षी नहीं देओगे, तो मैं तुमको अभी भस्म करे देता हूं।' तब दोनों ने डरके कहा कि हम जैसी तुम कहते हो, वैसी साक्षी देवेंगे। तब तीनों नीचे की ओर चले।

विष्णु प्रथम ही आगये थे, ब्रह्मा भी पहुंचा। विष्णु से पूछा कि तू थाह ले आया वा नहीं? तब विष्णु बोला—'मुझको इसका थाह नहीं मिला'। ब्रह्मा ने कहा—'मैं ले आया'। विष्णु ने कहा—'कोई साक्षी देओ'। तब गाय और वृक्ष ने साक्षी दी—'हम दोनों

---

१. छेड़ा अर्थात् थाह।

लिङ्ग के शिर पर थे'। तब लिङ्ग में से शब्द निकला, और [वृक्ष को] शाप दिया कि—'जिससे तू झूंठ बोला, इसलिये तेरा फूल मुझ वा अन्य देवता पर जगत् में कहीं नहीं चढ़ेगा। और जो कोई चढ़ावेगा, उसका सत्यानाश होगा।'

गाय को शाप दिया कि—'जिस मुख से तू झूंठ बोली, उसी से विष्ठा खाया करेगी। तेरे मुख की पूजा कोई नहीं करेगा, किन्तु पूंछ की करेंगे'। और ब्रह्मा को शाप दिया कि—['जिससे] तू मिथ्या बोला, इसलिये तेरी पूजा संसार में कहीं न होगी'। और विष्णु को वर दिया—'[जिससे] तू सत्य बोला, इससे तेरी पूजा सर्वत्र होगी।'

पुनः दोनों ने लिङ्ग की स्तुति की। उससे प्रसन्न होकर उस लिङ्ग में से एक जटाजूट मूर्त्ति निकल आई। और कहा कि—'तुमको मैंने सृष्टि करने के लिये भेजा था, झगड़े में क्यों लगे रहे'? ब्रह्मा और विष्णु ने कहा कि—'हम विना सामग्री सृष्टि कहां से करें'? तब महादेव ने अपनी जटा में से एक भस्म का गोला निकालकर दिया, [और कहा] कि जाओ, इसमें से सब सृष्टि बनाओ, इत्यादि।

भला कोई इन पुराणों के बनानेवालों से पूछे कि—'जब सृष्टितत्व और पञ्च महाभूत भी नहीं थे, तो ब्रह्मा विष्णु महादेव के शरीर, जल कमल लिङ्ग गाय और केतकी का वृक्ष और भस्म का गोला क्या तुम्हारे बाबा के घर में से आ गिरे?

वैसे ही भागवत में विष्णु की नाभि से कमल, कमल से ब्रह्मा, और ब्रह्मा के दहिने पग के अंगूठे से स्वायंभव, और बायें अंगूठे से शतरूपा[1] राणी। ललाट से रुद्र और मरीचि आदि दश पुत्र, उनसे दश प्रजापति। उनकी तेरह लड़कियों का विवाह कश्यप से, उनमें से दिति से दैत्य, दनु से दानव, अदिति से आदित्य, विनता से पक्षी, कद्रू से सर्प, सरमा[2] से कुत्ते स्याल आदि। और अन्य स्त्रियों से हाथी घोड़े ऊंट गधा भैंसा घास फूस और बबूल आदि वृक्ष कांटे सहित उत्पन्न हो गये।

---

१. सं० २ में 'सत्यरूपा' पाठ है। २. सं० २ में 'शर्म्मा' अपपाठ है।

वाह रे वाह ! भागवत के बनानेवाले लालबुझक्कड़ ! क्या कहना । तुझको ऐसी-ऐसी मिथ्या बातें लिखने में तनिक भी लज्जा और-शर्म न आई । निपट अन्धा ही बन गया । स्त्री-पुरुष के रजवीर्य के संयोग से मनुष्य तो बनते ही हैं, परन्तु परमेश्वर की सृष्टिक्रम के विरुद्ध पशु पक्षी सर्प आदि कभी उत्पन्न नहीं हो सकते । और हाथी ऊंट सिंह कुत्ता गधा और वृक्षादि का स्त्री के गर्भाशय में स्थित होने का अवकाश कहां हो सकता है ? और सिंह आदि उत्पन्न होकर अपने मां-बाप को क्यों न खा गये ? और मनुष्य शरीर से पशु पक्षी वृक्षादि का होना क्योंकर संभव हो सकता है ?

शोक है इन लोगों की रची हुई इस महा असम्भव लीला पर, जिसने संसार को अभी तक भ्रमा रक्खा है । भला इन महा झूंठ बातों को वे अन्धे पोप और बाहर भीतर की फूटी आंखोंवाले उनके चेले सुनते और मानते हैं । बड़े ही आश्चर्य की बात है कि ये मनुष्य हैं, वा अन्य कोई ? इन भागवतादि पुराणों के बनानेहारे जन्मते[1] ही क्यों नहीं गर्भ ही में नष्ट हो गये ? वा जन्मते समय पर मर क्यों न गये ? क्योंकि इन पोपों[2] से बचते, तो आर्यावर्त्त देश दुःखों से बच जाता ।

प्रश्न—इन बातों में विरोध नहीं आ सकता । क्योंकि 'जिस का विवाह उसी के गीत' । जब विष्णु की स्तुति करने लगे, तब विष्णु को परमेश्वर अन्य को दास । जब शिव के गुण गाने लगे, तब शिव को परमात्मा अन्य को किंकर बनाया । और परमेश्वर की माया में सब बन सकता है । मनुष्य से [पशु आदि और पशु आदि से मनुष्यादि की उत्पत्ति][3] परमेश्वर कर सकता है । देखो, विना कारण अपनी माया से सब सृष्टि खड़ी कर दी है । उसमें कौनसी बात अघटित है ? जो करना चाहै, सो सब कर सकता है ।

उत्तर—अरे भोले लोगो ! विवाह में जिसके गीत गाते हैं, उस

---

१. अर्थात् गर्भ में आते ही । २. सं० २ में 'पापों' पाठ है ।
३. कोष्ठगत पाठ सं० २ में नहीं है । सं० ३४,३५ में विना कोष्ठक के है ।

को सबसे बड़ा, और दूसरों को छोटा वा निन्दा, अथवा उसको सब का बाप तो नहीं बनाते ? कहो पोपजी ! तुम भाट और खुशामदी चारणों से भी बढ़कर गप्पी हो, अथवा नहीं ? कि जिसके पीछे लगो, उसीको सबसे बड़ा बनाओ। और जिससे विरोध करो, उसको सबसे नीच ठहराओ।

तुमको सत्य और धर्म से क्या प्रयोजन ? किन्तु तुमको तो अपने स्वार्थ ही से काम है। माया मनुष्य में [ही]हो सकती है। जो कि छली कपटी हैं, उन्हीं को 'मायावी' कहते हैं। परमेश्वर में छल-कपटादि दोष न होने से उसको 'मायावी' नहीं कह सकते। जो आदि सृष्टि में कश्यप और कश्यप की स्त्रियों से पशु पक्षी सर्प वृक्षादि हुए होते, तो आजकल भी वैसे सन्तान क्यों नहीं होते ? सृष्टिक्रम जो पहिले लिख आये, वही ठीक है।

और अनुमान है कि पोपजी यहीं से धोखा खाकर बहके[1] होंगे—

तस्मात् काश्यप्य इमाः प्रजाः ॥[2]

'शतपथ' में यह लिखा है कि यह सब सृष्टि 'कश्यप' की बनाई हुई है।

कश्यपः कस्मात् पश्यको भवतीति निरु० ॥[3]

सृष्टिकर्त्ता परमेश्वर का नाम 'कश्यप' इसलिये है कि 'पश्यक' अर्थात् 'पश्यतीति पश्यः पश्य एव पश्यकः' जो निर्भ्रम होकर चराचर जगत् सब जीव और इनके कर्म, सकल विद्याओं को यथावत्

---

१ सं० २ में 'बके' पाठ है।

२. तुलना करो—'**तस्मादाहुः सर्वाः प्रजाः काश्यप्यः**।' शत० ७।५।१।५॥

३. यहां 'निरु०' संकेत निरुक्त ग्रन्थ के लिये नहीं है, अपितु 'निरुक्ति' पद के लिये है। द्रष्टव्य—'**कश्यपः कस्मात् पश्यको भवतीति निरुक्त्या**' (ऋभाभू० पृष्ठ ३३३; पं ६, रालाकट्र सं०)। तुलना करो—'कश्यपः पश्यको भवति यत्परिपश्यति सौक्ष्म्यात्'। तै० आर० १।८॥ **यद्वा**—निरुक्त २।२ के '**अथाप्याद्यन्तविपर्ययो भवति**' वचनानुसार आद्यन्त वर्णों के विपर्यय दर्शाने में तात्पर्य है। संभवतः इसी दृष्टि से सायण ने भी तै० आर० के वचन को यास्क के नाम से उद्धृत किया है। द्र०—अथर्व भाष्य १९।५३।१०॥

देखता है। और 'आद्यन्तविपर्ययश्च' इस महाभाष्य के वचन[1] से आदि का अक्षर अन्त और अन्त का वर्ण आदि में आने से 'पश्यक' से 'कश्यप' बन गया है। इसका अर्थ न जानके भांग के लोटे चढ़ा अपना जन्म सृष्टिविरुद्ध कथन करने में नष्ट किया।

[मार्कण्डेय तथा श्रीमद्भागवत-पुराण-विवेचन]

जैसे—मार्कण्डेयपुराण के दुर्गापाठ में देवों के शरीरों से तेज निकलके एक देवी बनी। उसने महिषासुर को मारा। रक्तबीज के शरीर से एक बिन्दु भूमि में पड़ने से उसके सदृश रक्तबीज के उत्पन्न होने से सब जगत् में रक्तबीज भर जाना, रुधिर की नदी का बह चलना, आदि गपोड़े बहुत से लिख रक्खे हैं।

जब रक्तबीज से सब जगत् भर गया था, तो देवी और देवी का सिंह और उसकी सेना कहां रही थी ? जो कहो कि देवी से दूर-दूर रक्तबीज थे, तो सब जगत् रक्तबीज से नहीं भरा था। जो भर जाता, तो पशु पक्षी मनुष्यादि प्राणी, और जलस्थ[2] मगरमच्छ कच्छप मत्स्यादि, वनस्पति आदि वृक्ष कहां रहते ? यहां यही निश्चित जानना[3] कि दुर्गापाठ बनानेवाले [पोप] के घर में भागकर चले गये होंगे ? देखिये क्या ही असम्भव कथा का गपोड़ा भंग की लहरी में उड़ाया, जिसका[4] ठौर न ठिकाना।

अब जिसको 'श्रीमद्भागवत' कहते हैं, उसकी लीला सुनो।[5] ब्रह्माजी को नारायण ने चतुःश्लोकी भागवत का उपदेश किया—

ज्ञानं परमगुह्यं मे यद्विज्ञानसमन्वितम्।
सरहस्यं तदङ्गञ्च गृहाण गदितं मया ॥[6]

[अर्थ—]हे ब्रह्माजी ! तू मेरा परमगुह्य ज्ञान, जो विज्ञान और रहस्ययुक्त, और धर्म अर्थ काम मोक्ष का अङ्ग है, उसी को मुझसे ग्रहण कर ॥

---

१. द्र०—महा० ३।१।१२३॥ २. सं० २ में 'जल स्थल' अपपाठ है।
३. सं० २ में 'जाना' पाठ है। ४. सं० २ में 'जिनका' पाठ है।
५. इस प्रकरण की तुलना ग्रन्थकार के आद्य ग्रन्थ 'भागवत-खण्डनम्' के साथ भी करें। ६. भाग० २।६।३०॥

जब विज्ञानयुक्त ज्ञान कहा, तो परम अर्थात् [श्रेष्ठ] ज्ञान का विशेषण रखना व्यर्थ है। और गुह्य विशेषण से रहस्य भी पुनरुक्त है। जब मूल श्लोक अनर्थक है, तो अन्य अनर्थक क्यों नहीं? जब भागवत का मूल ही झूठा है, तो उसका वृक्ष क्यों न झूठा होगा?[1]

ब्रह्माजी को वर दिया कि—

भवान् कल्पविकल्पेषु न विमुह्यति कर्हिचित्॥ भाग०[2]

आप कल्प=सृष्टि और विकल्प=प्रलय में भी मोह को कभी न प्राप्त होंगे। ऐसा लिखके पुनः दशम स्कन्ध में मोहित होके वत्स-हरण किया।[3] इन दोनों में से एक बात सच्ची, दूसरी झूंठी। ऐसा होकर दोनों बातें झूंठी।

जब वैकुण्ठ में राग द्वेष क्रोध ईर्ष्या दुःख नहीं है, तो सनकादिकों को वैकुण्ठ के द्वार में क्रोध क्यों हुआ? जो क्रोध हुआ, तो वह स्वर्ग ही नहीं। तब जय विजय द्वारपाल थे। स्वामी की आज्ञा पालनी अवश्य थी। उन्होंने सनकादिकों को रोका, तो क्या अपराध हुआ? इस पर विना अपराध शाप ही नहीं लग सकता।

जब शाप लगा कि तुम पृथिवी में गिर पड़ो, इसके कहने से यह सिद्ध होता है कि वहां पृथिवी न होगी। आकाश वायु अग्नि और जल होगा, तो ऐसा द्वार मन्दिर और जल किसके आधार थे? पुनः जय विजय ने सनकादिकों की स्तुति की, कि महाराज! पुनः हम वैकुण्ठ में कब आवेंगे? उन्होंने उनसे कहा कि जो प्रेम से नारायण की भक्ति करोगे तो सातवें जन्म, और जो विरोध से भक्ति करोगे तो तीसरे जन्म वैकुण्ठ को प्राप्त होओगे।[4]

इसमें विचारना चाहिये कि जय-विजय नारायण के नौकर थे। उनकी रक्षा और सहाय करना नारायण का कर्त्तव्य काम था। जो अपने नौकरों को विना अपराध दुःख देवें, उनको उनका स्वामी दण्ड

---

१. 'जब भागवत…होगा? यह अंश 'द्वि०सं० में समर्थदान ने काट दिया। सं० ३४,३५ में है।

२. भाग० २।९।३६॥

३. भाग० १०। अ० १३।१४॥

४. द्र०—भाग० ३। अ० १५,१६॥

न देवे, तो उसके नौकरों की दुर्दशा सब कोई कर डाले।

नारायण को उचित था कि जय विजय का सत्कार और सनकादिकों को खूब दण्ड देते। क्योंकि उन्होंने भीतर आने के लिये हठ क्यों किया? और नौकरों से लड़े क्यों? शाप [क्यों] दिया? उनके बदले सनकादिकों को पृथिवी में डाल देना नारायण का न्याय था। जब इतना अन्धेर नारायण के घर में है, तो उसके सेवक जो कि 'वैष्णव' कहाते हैं, उनकी जितनी दुर्दशा हो उतनी थोड़ी है।

पुन: वे हिरण्याक्ष और हिरण्यकश्यप उत्पन्न हुए।[1] उनमें से हिरण्याक्ष को वराह ने मारा। उसकी कथा इस प्रकार से लिखी है कि--वह पृथिवी को चटाई के समान लपेट शिराने धर सो गया।[2] विष्णु [ने] वराह का स्वरूप धारण करके उसके शिर के नीचे से पृथिवी को मुख में धर लिया[3]। वह उठा, दोनों की लड़ाई हुई। वराह ने हिरण्याक्ष को मार डाला।

इनसे कोई पूछे कि पृथिवी गोल है, वा चटाई के समान? तो कुछ न कह सकेंगे। क्योंकि पौराणिक लोग भूगोलविद्या के शत्रु हैं। भला जब लपेटकर शिराने धर ली, [तो] आप किस पर सोया? और वराहजी किस पर पग धरके दौड़ आये? पृथिवी को तो वराहजी ने मुख में रखा[4], फिर दोनों किस पर खड़े होके लड़े? वहां तो और कोई ठहरने की जगह नहीं थी। किन्तु भागवतादि पुराण बनानेवाले पोपजी की छाती पर ठड़े होकर लड़े होंगे? परन्तु पोपजी किस पर सोया होगा? यह बात जैसे—'गप्पी के घर गप्पी आये, बोले, गप्पीजी,' जब मिथ्यावादियों के घर में दूसरे गप्पी लोग आते हैं, फिर गप्प मारने में क्या कमती, इस प्रकार की है।

अब रहा हिरण्यकश्यप। उसका लड़का जो प्रह्लाद था, वह भक्त हुआ था। उसका पिता पढ़ाने को पाठशाला में भेजता था। तब वह अध्यापकों से कहता था कि मेरी पट्टी में राम-राम लिख

१. द्र०—भाग० ३।१७।१८।। २. द्र०—गरुड पु० उत्तर खण्ड २६।३।।
३. द्र०—भाग० ३, अ० १८,१९।। ४. सं० २ मे 'रक्खी' पाठ है।

देओ[1]। जब उसके बाप ने सुना, उससे कहा—'तू हमारे शत्रु का भजन क्यों करता है'? छोकरे ने न माना। तब उसके बाप ने उसको बांधके पहाड़ से गिराया, कूप में डाला, परन्तु उसको कुछ न हुआ। तब उसने एक लोहे का खम्भा आगी में तपाके उससे बोला—

'जो तेरा इष्टदेव राम सच्चा हो, तो तू इसको पकड़ने से न जलेगा।' प्रह्लाद पकड़ने को चला। मन में शंका हुई जलने से बचूंगा वा नहीं? नारायण ने उस खम्भे पर छोटी-छोटी चींटियों की पंक्ति चलाई।[2] उसको निश्चय हुआ। झट खम्भे को जा पकड़ा। वह फट गया'। उसमें से नृसिंह निकला और उसके बाप को पकड़ पेट फाड़ डाला। पश्चात् प्रह्लाद को लाड़ से चाटने लगा। प्रह्लाद से कहा—'वर मांग। उसने अपने पिता की सद्गति होनी मांगी। नृसिंह ने वर दिया कि—'तेरे इक्कीस पुरुषे सद्गति को गये।'[3]

अब देखो, यह भी दूसरे गपोड़े का भाई गपोड़ा है। किसी भागवत सुनने वा बांचनेवाले को पकड़ पहाड़ के ऊपर से गिरावे, तो कोई न बचावे, चकनाचूर होकर मर ही जावे। प्रह्लाद को उसका पिता पढ़ने के लिये भेजता था। क्या बुरा काम किया था? और वह प्रह्लाद ऐसा मूर्ख, पढ़ना छोड़ वैरागी होना चाहता था।

जो जलते हुए खम्भे से कीड़ी चढ़ने लगी, और प्रह्लाद स्पर्श करने से न जला, इस बात को जो सच्ची माने उसको भी खम्भे के साथ लगा देना चाहिये। जो यह न जले, तो जानो वह भी न जला होगा। और नृसिंह भी क्यों न जला?

प्रथम तीसरे जन्म में वैकुण्ठ में आने का वर सनकादिक का था। क्या उसको तुम्हारा नारायण भूल गया? भागवत की रीति से ब्रह्मा प्रजापति कश्यप हिरण्याक्ष और हिरण्यकश्यप चौथी पीढ़ी

---

१. द्र०—भक्तमाल का यह प्रकरण।

२. अग्निप्रज्वलिते स्तम्भे जग्मुः श्रेण्या पिपीलिकाः। न प्रदग्धा बभूवुस्ता हरेरद्भुतलीलया॥ (आर्यमित्र २६-४-१९३४, पृ० १३)। अकबर के मन्त्री फैजीकृत भागवत के फारसी अनुवाद में यह लेख विद्यमान है। स्वामी वेदानन्द सं० स० प्र० पृ० २९८॥ ३. द्र०—भाग० ७।१०।१८॥

में होता है। इक्कीस पीढ़ी प्रह्लाद की हुई भी नहीं, पुनः इक्कीस पुरुषे[1] सद्गति को गये, कह देना कितना प्रमाद है? और फिर वे ही हिरण्याक्ष हिरण्यकश्यप—रावण कुम्भकरण, पुनः शिशुपाल दन्त-वक्र उत्पन्न हुए[2], तो नृसिंह का वर कहां उड़ गया? ऐसी प्रमाद की बातें प्रमादी करते सुनते और मानते हैं, विद्वान् नहीं।

पूतना और अक्रूरजी के विषय में देखो कि—

रथेन वायुवेगेन;[3] जगाम गोकुलं प्रति ॥[4]

अक्रूरजी कंस के भेजने से वायु के वेग के समान दौड़नेवाले घोड़ों के रथ पर बैठकर सूर्योदय से चले[5], और चार मील गोकुल में सूर्यास्त समय पहुंचे[6]। अथवा घोड़े भागवत बनानेवाले की परिक्रमा करते रहे होंगे? वा मार्ग भूल [कर] भागवत बनानेवाले के घर में घोड़े हांकनेवाले और अक्रूरजी आकर सोगये होंगे?

पूतना का शररी छः कोश चौड़ा और बहुतसा लम्बा लिखा है।[7] मथुरा और गोकुल के बीच में उसको मारकर श्रीकृष्ण जी ने डाल दिया। जो ऐसा होता, तो मथुरा और गोकुल दोनों दबकर इस पोपजी का घर भी दब गया होता?

और अजामेल की कथा ऊटपटांग लिखी है—'उसने नारद के कहने से अपने लड़के का नाम 'नारायण' रक्खा था। मरते समय अपने पुत्र को पुकारा। बीच में नारायण कूद पड़े[8]। क्या नारायण उसके अन्तः-करण के भाव को नहीं जानते थे? कि वह अपने पुत्र को पुकारता है, मुझको नहीं। जो ऐसा ही नाममाहात्म्य है, तो आजकल भी नारायणं के स्मरण करनेवालों के दुःख छुड़ाने को [वे] क्यों नहीं आते? यदि यह बात सच्ची हो, तो कैदी लोग नारायण-नारायण करके क्यों नहीं छूट जाते?

---

१. अर्थात् पुरखे।
२. द्र०—भाग० ७, अ० १॥
३. भाग० १०।३९।३८॥
४. भाग० १०।३८।२४॥
५. भाग० १०।३८।१॥
६. भाग० १०।३८।२४॥
७. भाग० १०।६।१४ त्रिगव्यूति। गव्यूति=२कोस, ३×२=६ कोस।
८. भाग० ६।१।२९,३०॥

ऐसा ही ज्योतिष शास्त्र से विरुद्ध सुमेरु पर्वत का परिमाण लिखा है[1]। और प्रियव्रत राजा के रथ के चक्र की लीक से 'समुद्र' हुए[2], उञ्चास कोटि योजन पृथिवी है[3], इत्यादि मिथ्या बातों का गपोड़ा भागवत में लिखा है, जिसका कुछ पारावार नहीं।

और यह भागवत बोबदेव का बनाया है[4], जिसके भाई जयदेव ने गीतगोविन्द बनाया है। देखो, उसने ये श्लोक अपने बनाये 'हिमाद्रि'[5] नामक ग्रन्थ में लिखे हैं, कि श्रीमद्भागवतपुराण मैंने बनाया है। उस लेख के तीन पत्र हमारे पास थे। उनमें से एक पत्र खो गया है। उस पत्र में श्लोकों का जो आशय था, उस आशय के हमने दो श्लोक बनाके नीचे लिखे हैं। जिसको देखना हो, वह 'हिमाद्रि' ग्रन्थ में देख लेवे—

हिमाद्रेः सचिवस्यार्थे सूचना क्रियतेऽधुना।
स्कन्धाऽध्यायकथानां च यत्प्रमाणं समासतः ॥१॥
श्रीमद्भागवतं नाम पुराणं च मयेरितम्।
विदुषा बोबदेवेन श्रीकृष्णस्य यशोन्वितम् ॥२॥

इसी प्रकार के नष्टपत्र में श्लोक थे। अर्थात् राजा के सचिव हिमाद्रि ने बोबदेव पण्डित से कहा कि मुझको तुम्हारे बनाये श्रीमद्भागवत के सम्पूर्ण सुनने का अवकाश नहीं है। इसलिये तुम संक्षेप से श्लोकबद्ध सूचीपत्र बनाओ। जिसको देखके मैं श्रीमद्भागवत की कथा को संक्षेप से जान लूं। सो नीचे लिखा हुआ सूचीपत्र उस बोबदेव ने बनाया। उसमें से उस नष्टपत्र में १० श्लोक खो गये हैं। ग्यारहवें श्लोक से लिखते हैं[6]। ये नीचे लिखे श्लोक सब बोबदेव ने बनाये हैं। वे—

---

१. भाग० ५।१६।७॥ २. भाग० ५।१६।२॥
३. भाग० ५।२०।३८ में 'पचास कोटि योजन' लिखा है।
४. द्र०—नीलकण्ठकृत देवीभागवत की टीका का उपोद्घात—'विष्णुभागवतं बोपदेवकृतमिति वदन्ति। शाहजहां के समकालिक कवीन्द्राचार्य के पुस्तकालय के सूचीपत्र (बड़ोदा से छपा) में भागवत को बोपदेवकृत लिखा है।
५. इसका 'हरिलीलामृत' भी नाम है। ६. 'हरिलीलामृत' की मुद्रित पुस्तक के अनुसार ग्यारहवां श्लोक दसवां है।

बोधयन्तीति हि प्राहुः श्रीमद्भागवतं पुनः ।
पञ्च प्रश्नाः शौनकस्य सूतस्यात्रोत्तरं त्रिषु ॥११॥
प्रश्नावतारयोश्चैव व्यासस्यानिर्वृतिः कृतात् ।
नारदस्यात्र हेतूक्तिः प्रतीत्यर्थं स्वजन्म च ॥१२॥
सुप्तघ्नं द्रोण्याभिभवस्तदस्त्रात्पाण्डवा वनम् ।
भीष्मस्य स्वपदप्राप्तिः[1] कृष्णस्य द्वारिकागमः ॥१३॥
श्रोतुः परीक्षितो जन्म धृतराष्ट्रस्य निर्गमः ।
कृष्णमर्त्यत्यागसूचा ततः पार्थमहापथः ॥१४॥
इत्यष्टादशभिः पादैरध्यायार्थः क्रमात् स्मृतः ।
स्वपरप्रतिबन्धोनं स्फीतं राज्यं जहौ नृपः ॥१५॥
इति वैराज्ञो दार्ढ्योक्तौ प्रोक्ता द्रौणिजयादयः ॥[१६]॥
इति प्रथमः स्कन्धः ॥१॥

इत्यादि बारह स्कन्धों का सूचीपत्र इसी प्रकार बोबदेव पण्डित ने बनाकर हिमाद्रि सचिव को दिया। जो विस्तार देखना चाहै, वह बोबदेव के बनाये हिमाद्रि ग्रन्थ में देख लेवे ।

इसी प्रकार अन्य पुराणों की भी लीला समझनी । परन्तु उन्नीस बीस इक्कीस एक-दूसरे से बढ़कर हैं।

देखो, श्रीकृष्णजी का इतिहास महाभारत में अत्युत्तम है। उनका गुण कर्म स्वभाव और चरित्र आप्त पुरुषों के सदृश है । जिसमें कोई अधर्म का आचरण श्रीकृष्णजी ने जन्म से मरणपर्यन्त बुरा काम कुछ भी किया हो, ऐसा नहीं लिखा[2] । और इस भागवतवाले ने अनुचित मनमाने दोष लगाये हैं। दूध दही मक्खन आदि की चोरी

१. सं० २ में स्वपदं प्राप्तिः' अपपाठ है ।

२. महाभारत में श्रीकृष्ण का चरित्र विभिन्न स्थलों पर वर्णित है। ग्रन्थकार के उक्त कथन की सत्यता के लिये सभापर्व के शिशुपालवध प्रकरण का अ० ४१ देखना चाहिये । यदि श्रीकृष्ण ने अपने जीवन में कुछ भी दुष्कर्म (भागवत में लिखे) किये होते, तो शिशुपाल कृष्णदोषवर्णन में उनका अवश्य निर्देश करता । परन्तु वहां श्रीकृष्ण के किसी दुराचरण का निर्देश नहीं मिलता । इससे स्पष्ट है कि श्रीकृष्ण का चरित्र स्फटिक के समान निर्मल था ।

लगाई, और कुब्जा दासी से समागम, पर-स्त्रियों से रासमण्डल क्रीड़ा आदि मिथ्या दोष श्रीकृष्णजी में लगाये हैं। इसको पढ़-पढ़ा, सुन-सुनाके अन्य मतवाले श्रीकृष्णजी की बहुतसी निन्दा करते हैं। जो यह भागवत न होता, तो श्रीकृष्णजी के सदृश महात्माओं की झूठी निन्दा क्योंकर होती ?

शिवपुराण में बारह ज्योतिर्लिङ्ग [लिखे हैं। उसकी कथा सर्वथा असम्भव है। नाम धरा है ज्योतिर्लिङ्ग][1] और जिनमें प्रकाश का लेश भी नहीं। रात्रि को विना दीप किये[2] लिङ्ग भी अंधेरे में दीखते। नहीं ये सब लीला पोप जी की हैं।

प्रश्न—जब वेद पढ़ने का सामर्थ्य नहीं रहा तब स्मृति, जब स्मृति के पढ़ने की बुद्धि नहीं रही तब शास्त्र, जब शास्त्र पढ़ने का सामर्थ्य न रहा तब पुराण बनाये, केवल स्त्री और शूद्रों के लिये। क्योंकि इनको वेद पढ़ने-सुनने का अधिकार नहीं है।

उत्तर—यह बात मिथ्या है। क्योंकि सामर्थ्य पढ़ने-पढ़ाने ही से होता है। और वेद पढ़ने-सुनने का अधिकार सबको है। देखो, गार्गी[3] आदि स्त्रियां और छान्दोग्य में जानश्रुति शूद्र ने भी वेद 'रैक्यमुनि' के पास पढ़ा था[4]।

और यजुर्वेद के २६वें अध्याय २ मन्त्र में स्पष्ट लिखा है[5] कि—'वेदों के पढ़ने और सुनने का अधिकार मनुष्यमात्र को है।' पुनः जो ऐसे-ऐसे मिथ्याग्रन्थ बना लोगों को सत्यग्रन्थों से विमुख [कर] जाल में फंसा अपने प्रयोजन को साधते हैं, वे महापापी क्यों नहीं ?

[नवग्रह-पूजन-खण्डन]

देखो, ग्रहों का चक्र कैसा चलाया है, कि जिसने विद्याहीन मनुष्यों को ग्रस लिया है—

---

१. कोष्ठान्तर्गत पाठ सं० ३४,३५ में मिलता है। सम्भव है 'ज्योतिर्लिङ्ग' शब्द के पास-पास प्रयोग होने से दृष्टिदोष से छूट गया है।

२. किये अर्थात् दिखाये।

३. इन्होंने याज्ञवल्क्य से जनक सभा में शास्त्रार्थ किया था। द्र०—शत० १४।६।६।८॥

४. छां० उ० ४।२॥

५. यह मन्त्र पूर्व पृष्ठ १०६ पर उद्धृत है।

आकृष्णेन रजसा० ॥१॥[1] सूर्य का मन्त्र।
इमं देवा असपत्नꣳ सुवध्वम्० ॥२॥[2] चन्द्र०।
अग्निर्मूर्द्धा दिवः ककुत्पतिः० ॥३॥[3] मङ्गल०।
उद्बुध्यस्वाग्ने० ॥४॥[4] बुध०।
बृहस्पते अति यदर्यो० ॥५॥[5] बृहस्पति०।
शुक्रमन्धसः० ॥६॥[6] शुक्र०।
शन्नो देवीरभिष्टय० ॥७॥[7] शनि०।
कया नश्चित्र आ भुव० ॥८॥[8] राहु०। और—
केतुं कृण्वन्नकेतवे० ॥९॥[9] इसको 'केतु' की कण्डिका कहते हैं।

(आकृष्णे०) यह सूर्य का और भूमि का आकर्षण ॥१॥ दूसरा राजगुण-विधायक ॥२॥ तीसरा अग्नि ॥३॥ और चौथा यजमान ॥४॥ पांचवां विद्वान् ॥५॥ छठा वीर्य अन्न ॥६॥ सातवां जल प्राण और परमेश्वर ॥७॥ आठवां मित्र ॥८॥ नववां ज्ञानग्रहण का विधायक मन्त्र है ॥९॥ ग्रहों के वाचक नहीं। अर्थ न जानने[10] से भ्रमजाल में पड़े हैं।

प्रश्न—ग्रहों का फल होता है, वा नहीं ?

उत्तर—जैसा पोपलीला का है, वैसा नहीं। किन्तु जैसा सूर्य चन्द्रमा की किरणद्वारा उष्णता शीतता, अथवा ऋतुवत् काल चक्र के सम्बन्धमात्र से अपनी प्रकृति के अनुकूल प्रतिकूल सुख-दुःख के निमित्त होते हैं।[11]

---

१. यजु० ३३। ४३॥　　२. यजु० ९। ४०॥
३. यजु० ३। १२॥　　४. यजु० १५। ५४॥
५. यजु० २६। ३॥　　६. यजु० १९। ७५॥
७. यजु० ३६। १२॥　　८. यजु० २७। ३९॥
९. यजु० २९। ३७॥　　१०. सं० २ में 'जाने' अपपाठ है।
११. ग्रह शुभाशुभ के कारण नहीं। वे निवेदक मात्र है। ऐसा महा-

परन्तु जो पोपलीलावाले कहते हैं—'सुनो महाराज सेठजी ! यजमानो ! तुम्हारे आज आठवां चन्द्र सूर्यादि क्रूर [ग्रह] घर में आये हैं। अढ़ाई वर्ष का शनैश्चर पग में आया है। तुमको बड़ा विघ्न होगा। घर द्वार छुड़ाकर परदेश में घुमावेगा। परन्तु जो तुम ग्रहों का दान जप पाठ-पूजा कराओगे, तो दुःख से बचोगे।'

इनसे कहना चाहिये कि—'सुनो पोपजी ! तुम्हारा और ग्रहों का क्या सम्बन्ध है ? ग्रह क्या वस्तु है' ?

पोपजी—दैवाधीनं जगत्सर्वं मन्त्राधीनाश्च देवताः।
ते मन्त्रा ब्राह्मणाधीनास्तस्माद् ब्राह्मणदैवतम् ॥

देखो कैसा प्रमाण है—देवताओं के आधीन सब जगत्, मन्त्रों के आधीन सब देवता, और वे मन्त्र ब्राह्मणों के आधीन हैं। इसलिये ब्राह्मण 'देवता' कहाते हैं। क्योंकि चाहें उस[1] देवता को मन्त्र के बल से बुला प्रसन्न कर काम सिद्ध कराने का हमारा ही अधिकार है। जो हममें मन्त्रशक्ति न होती, तो तुम्हारेसे नास्तिक हमको संसार में रहने ही न देते।

सत्यवादी—जो चोर डाकू कुकर्मी लोग हैं, वे भी तुम्हारे देवताओं के आधीन होंगे ? देवता ही उनसे दुष्ट काम कराते होंगे ? जो वैसा है, तो तुम्हारे देवता और राक्षसों में कुछ भेद न रहेगा।

जो तुम्हारे आधीन मन्त्र हैं, उनसे [जो] तुम चाहो सो करा सकते हो, तो उन मन्त्रों से देवताओं को वश में कर राजाओं के कोष उठवाकर अपने घर में भरकर बैठके आनन्द क्यों नहीं भोगते ? घर-घर में शनैश्चरादि के तैल आदि का छायादान लेने को मारे-मारे क्यों फिरते हो ? और जिसको तुम कुवेर मानते हो, उसको वश में करके चाहो जितना धन लिया करो। विचारे गरीबों को क्यों लूटते हो ?

भारत, अनुशासन पर्व, अध्याय २२५ में महेश्वर का मत कहा है। श्लोक ८ में महेश्वर का मत है—'केवलं ग्रहनक्षत्रं न करोति शुभाशुभम्। सर्वमात्मकृतं कर्म लोकवादी ग्रहा इति' ॥ अर्थात् अपने ही कर्म का सब फल है। संसार भूल से कहता है कि यह ग्रहों का फल है। भ० द०

१. 'जिस' पाठ स्पष्टार्थक है।

तुमको दान देने से ग्रह प्रसन्न, और न देने से अप्रसन्न होते हों, तो हमको सूर्यादि ग्रहों की प्रसन्नता अप्रसन्नता प्रत्यक्ष दिखलाओ। जिसको ८वां सूर्य चन्द्र और दूसरे को ३ तीसरा हो, उन दोनों को ज्येष्ठ महीने में विना जूते पहिने तपी हुई भूमि पर चलाओ। जिस पर प्रसन्न हैं, उनके पग शरीर न जलने, और जिस पर क्रोधित हैं उनके जल जाने चाहियें। तथा पौष मास में दोनों को नंगे कर, पौर्णमासी की रात्रिभर मैदान में रक्खें। एक को शीत लगे दूसरे को नहीं, तो जानो की ग्रह क्रूर और सौम्य दृष्टिवाले होते हैं।

और क्या तुम्हारे ग्रह सम्बन्धी हैं? और तुम्हारी डाक वा तार उनके पास आता जाता है? अथवा तुम उनके वा वे तुम्हारे पास आते जाते हैं? जो तुम में मन्त्रशक्ति हो, तो तुम स्वयं राजा वा धनाढ्य क्यों नहीं बन जाओ? वा शत्रुओं को अपने वश में क्यों नहीं कर लेते हो?

'नास्तिक' वह होता है, जो वेद ईश्वर की आज्ञा [1]वेद-विरुद्ध पोपलीला चलावे। जब तुमको ग्रहदान न देवे, जिस पर ग्रह है वही[2] ग्रहदान को भोगे, तो क्या चिन्ता है? जो तुम कहो कि नहीं, हम ही को देने से वे प्रसन्न होते हैं, अन्य को देने से नहीं, तो क्या तुमने ग्रहों का ठेका ले लिया है? जो ठेका लिया हो, तो सूर्यादि को अपने घर में बुलाके जल मरो[3]।

सच तो यह है कि सूर्यादि लोक जड़ हैं। वे न किसी को दुःख और न सुख देने की चेष्टा कर सकते हैं। किन्तु जितने तुम ग्रह-दानोपजीवी हो, वे सब तुम ग्रहों की मूर्त्तियां हो। क्योंकि ग्रह शब्द का अर्थ भी तुममें ही घटित होता है। 'ये गृह्णन्ति ते ग्रहाः' जो ग्रहण करते हैं, उनका नाम 'ग्रह' है।

---

१. आज्ञा जो वेद इससे विरुद्ध। श्री पं० भ० द० ने 'आज्ञा [न माने और] वेद विरुद्ध' ऐसा पाठ बनाया है। यह अधिक स्पष्ट है।

२. सं० २ में 'वह' पाठ है।

३. सं० २ में 'जलमरे' अपपाठ है।

जब तक तुम्हारे चरण राजा-रईस सेठ-साहूकार और दरिद्रों के पास नहीं पहुंचते, तब तक किसी को नवग्रह का स्मरण भी नहीं होता। जब तुम साक्षात् सूर्य शनैश्चरादि मूर्त्तिमान् [क्रूर रूप धर][1] उन पर जा चढ़ते हो, तब विना ग्रहण किये उनको कभी नहीं छोड़ते। और जो कोई तुम्हारे ग्रास[2] में न आवे, उसको निन्दा नास्तिकादि शब्दों से करते फिरते हो।

पोपजी—देखो, ज्योतिष का प्रत्यक्ष फल। आकाश में रहनेवाले सूर्य चन्द्र और राहु केतु के संयोगरूप ग्रहण को पहिले ही कह देते हैं। जैसा यह प्रत्यक्ष होता है, वैसा ग्रहों का भी फल प्रत्यक्ष हो जाता है। देखो, धनाढ्य-दरिद्र राजा-रङ्क सुखी-दुःखी ग्रहों ही से होते हैं।

सत्यवादी—जो यह ग्रहणरूप प्रत्यक्ष फल है, सो गणितविद्या का है, फलित का नहीं। जो गणितविद्या है वह सच्ची, और फलितविद्या स्वाभाविक सम्बन्धजन्य को[3] छोड़के झूंठी है। जैसे अनुलोम प्रतिलोम घूमनेवाले पृथिवी और चन्द्र के गणित से स्पष्ट विदित होता है कि अमुक समय अमुक देश अमुक अवयव में सूर्य वा चन्द्र का ग्रहण होगा। जैसे—

छादयत्यर्कमिन्दुर्विधुं भूमिभाः॥

यह सिद्धान्त-शिरोमणि[4] का वचन [है]।

और इसी प्रकार 'सूर्य-सिद्धान्तादि'[5] में भी है। अर्थात् जब सूर्य [और] भूमि के मध्य में चन्द्रमा आता है तब 'सूर्यग्रहण', और जब सूर्य और चन्द्र के बीच में भूमि आती है तब 'चन्द्रग्रहण' होता है। अर्थात् चन्द्रमा की छाया भूमि पर और

---

१. कोष्ठान्तर्गत पाठ सं० २ में नहीं है। सं० ३४-३५ में विना कोष्ठक के छापा है।

२. सं० २ में 'पास' अपपाठ है। ३. सं० २ में 'के' अपपाठ है।

४. ग्रहलाघव चन्द्र-ग्रहणाधिकार। ५।४॥ 'सिद्धान्तशिरोमणि' में यह विषय गोलाध्याय ग्रहण प्रकरण में भी आया है।

५. 'सूर्यसिद्धान्त' चन्द्रग्रहणाधिकार द्रष्टव्य।

भूमि की छाया चन्द्रमा पर पड़ती है। सूर्य प्रकाशरूप होने से उसके सम्मुख छाया किसी की नहीं पड़ती। किन्तु जैसे प्रकाशमान सूर्य वा दीप से देहादि की छाया उल्टी जाती है, वैसे ही ग्रहण में समझो।

जो धनाढ्य दरिद्र प्रजा राजा रङ्क होते हैं, वे अपने कर्मों से होते हैं, ग्रहों से नहीं[1]। बहुत से ज्योतिषी लोग अपने लड़के-लड़की का विवाह ग्रहों की गणितविद्या के अनुसार करते हैं, पुनः उनमें विरोध वा विधवा अथवा मृतस्त्री [क] पुरुष हो जाता है। जो फल सच्चा होता, तो ऐसा क्यों होता ?

इसलिये कर्म की गति सच्ची, और ग्रहों की गति सुख-दुःख-भोग में कारण नहीं। भला ग्रह आकाश में और पृथिवी भी आकाश में बहुत दूर पर हैं। इनका सम्बन्ध कर्त्ता और कर्मों के साथ साक्षात् नहीं। कर्म और कर्म के फल का कर्त्ता भोक्ता जीव, और कर्मों के फल भोगानेहारा परमात्मा है।

जो तुम ग्रहों का फल मानो, तो इसका उत्तर देओ कि जिस क्षण में एक मनुष्य का जन्म होता है, जिसको तुम ध्रुवात्रुटि मान-कर जन्मपत्र बनाते हो, उसी समय में भूगोल पर दूसरे का जन्म होता है वा नहीं ? जो कहो नहीं, तो झूंठ। और जो कहो होता है, तो एक चक्रवर्ती के सदृश भूगोल में दूसरा चक्रवर्ती राजा क्यों नहीं होता ? हां, इतना तुम कह सकते हो कि यह लीला हमारे उदर भरने की है, तो कोई मान भी लेवे।

[गरुडपुराण-विवेचन]

प्रश्न—क्या गरुड़पुराण भी झूंठा है ?

उत्तर—हां, असत्य है।

प्रश्न—फिर मरे हुए जीव की क्या गति होती है ?

उत्तर—जैसे उसके कर्म हैं।

---

१. पूर्व पृ० ५१० टिप्पण ११ में उद्धृत महेश्वर-वचन में भी यही कहा है।

प्रश्न—जो यमराज राजा, चित्रगुप्त मन्त्री, उसके बड़े भयङ्कर गण कज्जल के पर्वत के तुल्य शरीरवाले, जीव को पकड़कर ले जाते हैं। पाप पुण्य के अनुसार नरक-स्वर्ग में डालते हैं। उसके लिये दान-पुण्य श्राद्ध-तर्पण गोदानादि वैतरणी नदी तरने के लिये करते हैं। ये सब बातें झूठ क्योंकर हो सकती हैं?

उत्तर—ये सब बातें पोपलीला के गपोड़े हैं। जो अन्यत्र के जीव वहां जाते हैं, उनका धर्मराज चित्रगुप्त आदि न्याय करते हैं, तो वे यमलोक के जीव पाप करें, तो दूसरा यमलोक मानना चाहिये कि वहां के न्यायाधीश उनका न्याय करें।

और पर्वत के समान यमगणों के शरीर हों, तो दीखते क्यों नहीं? और मरनेवाले जीव को लेने में छोटे द्वार में उनकी एक अंगुली भी नहीं जा सकती। और सड़क गली में क्यों नहीं रुक जाते?

जो कहो कि वे सूक्ष्म देह भी धारण कर लेते हैं, तो प्रथम पर्वतवत् शरीर के बड़े-बड़े हाड़ पोपजी विना अपने घर के कहां धरेंगे? जब जङ्गल में आगी लगती है, तब एकदम पिपीलिकादि जीवों के शरीर छूटते हैं। उनको पकड़ने के लिये असंख्य यम के गण आवें, तो वहां अंधकार हो जाना चाहिये?

और जब आपस में जीवों को पकड़ने को दौड़ेंगे, तब कभी उनके शरीर ठोकर खा जायेंगे, तो जैसे पहाड़ के बड़े-बड़े शिखर टूटकर पृथिवी पर गिरते हैं, वैसे उनके बड़े-बड़े अवयव गरुड़पुराण के बांचने सुननेवालों के आंगन में गिर पड़ेंगे, तो वे दब मरेंगे। वा घर का द्वार अथवा सड़क रुक जायगा, तो वे कैसे निकल और चल सकेंगे?

श्राद्ध तर्पण पिण्डप्रदान उन मरे हुए जीवों को तो नहीं पहुंचता, किन्तु मृतकों के प्रतिनिधि पोपजी के घर उदर और हाथ में पहुंचता[1] है। जो वैतरणी के लिये गोदान लेते हैं, वह तो पोपजी के घर में अथवा कसाई आदि के घर में पहुंचता है। वैतरणी पर गाय नहीं

१. सं० २ में 'पहुंचाता' अपपाठ है।

जाती, पुनः किसकी[1] पूंछ पकड़कर तरेगा ? और हाथ तो यहीं जलाया वा गाड़ दिया गया, फिर पूंछ को कैसे पकड़ेगा ?

यहां एक दृष्टान्त इस बात में उपयुक्त है कि—

एक जाट था। उसके घर में एक गाय बहुत अच्छी और बीस सेर दूध देनेवाली थी। दूध उसका बड़ा स्वादिष्ट होता था। कभी-कभी पोपजी के मुख में भी पड़ता था। उसका पुरोहित यही ध्यान कर रहा था कि जब जाट का बुड्ढा बाप मरने लगेगा, तब इसी गाय का संकल्प करा लूंगा।

कुछ दिनों में दैवयोग से उसके बाप का मरण-समय आया। जीभ बन्द हो गई, और खाट से भूमि पर ले लिया। अर्थात् प्राण छोड़ने का समय आ पहुंचा। उस समय जाट के इष्ट-मित्र और सम्बन्धी भी उपस्थित हुए थे।

तब पोपजी [ने] पुकारा कि यजमान ! अब तू इसके हाथ से गोदान करा। जाट ने १०) रुपैया निकाल पिता के हाथ में रखकर बोला—'पढ़ो संकल्प'। पोपजी बोला—'वाह-वाह! क्या बाप बारम्बार मरता है ? इस समय तो साक्षात् गाय को लाओ, जो दूध देती हो, बुड्ढी न हो, सब प्रकार उत्तम हो। ऐसी गौ का दान करना चाहिए।

जाट—हमारे पास तो एक ही गाय है। उसके विना हमारे लड़के-बालों का निर्वाह न हो सकेगा। इसलिये उसको न दूंगा। लो २०) रुपये का संकल्प पढ़ देओ। और इन रुपयों से दूसरी दुधार गाय ले लेना।

पोपजी—वाह जी वाह ! तुम अपने बाप से भी गाय को अधिक समझते हो ? क्या अपने बाप को वैतरणी नदी में डुबाकर दुःख देना चाहते हो ? तुम अच्छे सुपुत्र हुए !!

तब तो पोपजी की ओर सब कुटुम्बी हो गये। क्योंकि उन सब को पहिले ही पोपजी ने बहका रक्खा था। और उस समय भी

---

१. सं० २ में 'किसका' अपपाठ है।

इशारा कर दिया। सबने मिलकर हठ से उसी गाय का दान उसी पोपजी को दिला दिया।

उस समय जाट कुछ भी न बोला। उसका पिता मर गया। और पोपजी बच्छा सहित गाय और दोहने की बटलोई को ले अपने घर में गौ बांध बटलोई धर, पुनः जाट के घर आया। और मृतक के साथ श्मशान भूमि में जाकर दाहकर्म कराया। वहां भी कुछ-कुछ पोपलीला चलाई।

पश्चात् दशगात्र सपिंडी कराने आदि में भी उस को मूंडा। महाब्राह्मणों ने भी लूटा। और भुक्खड़ों ने भी बहुतसा माल पेट में भरा। अर्थात् जब सब क्रिया हो चुकी, तब जाट ने जिस किसी के घर से दूध मांग-मूंग निर्वाह किया। चौदहवें दिन प्रातःकाल पोपजी के घर पहुंचा। देखा तो पोपजी गाय दुह, बटलोई भर, पोपजी की उठने की तैयारी थी। इतने ही में जाटजी पहुंचे। उसको देख पोपजी बोला—'आइये यजमान! बैठिये'।

जाटजी—तुम भी पुरोहितजी! इधर आओ।

पोपजी—अच्छा, दूध धर आऊं।

जाटजी—नहीं-नहीं। दूध की बटलोई इधर लाओ।

पोपजी बिचारे जा बैठे, और बटलोई सामने धर दी।

जाटजी—तुम बड़े झूंठे हो।

पोपजी—क्या झूंठ किया?

जाटजी—कहो तुमने गाय किसलिये ली थी?

पोपजी—तुम्हारे पिता के वैतरणी नदी तरने के लिये।

जाटजी—अच्छा, तो तुमने वहां वैतरणी नदी के किनारे पर गाय क्यों न पहुंचाई? हम तो तुम्हारे भरोसे पर रहे, और तुम अपने घर बांध बैठे। न जाने मेरे बाप ने वैतरणी में कितने गोते खाये होंगे?

पोपजी—नहीं-नहीं। वहां इस दान के पुण्य के प्रभाव से दूसरी गाय बनकर उसको पार उतार दिया होगा।

जाटजी—वैतरणी नदी यहां से कितनी दूर, और किधर की ओर है ?

पोपजी—अनुमान से कोई तीस करोड़ कोश दूर है। क्योंकि उञ्चास कोटि योजन पृथिवी है[१]। और दक्षिण नैर्ऋत्य दिशा में वैतरणी नदी है।

जाटजी—इतनी दूर से तुम्हारी चिट्ठी वा तार का समाचार गया हो, उसका उत्तर आया हो कि वहां पुण्य की गाय बन गई, अमुक के पिता को पार उतार दिया, दिखलाओ।

पोपजी—हमारे पास 'गरुड़ पुराण' के लेख के विना डाक वा तारवर्की दूसरी कोई नहीं।

जाटजी—इस गरुड़ पुराण को हम सच्चा कैसे मानें ?

पोपजी—जैसे सब मानते हैं।

जाटजी—यह पुस्तक तुम्हारे पुरषाओं ने तुम्हारी जीविका के लिये बनाया है। क्योंकि पिता को विना अपने पुत्रों के कोई प्रिय नहीं। जब मेरा पिता मेरे पास चिट्ठी-पत्री वा तार भेजेगा, तभी मैं वैतरणी के किनारे गाय पहुंचा दूंगा। और उनको पार उतार पुनः गाय को घर में ले [आ] दूध को मैं और मेरे लड़के-बाले पिया करेंगे। लाओ, दूध की भरी हुई बटलोई।

गाय बछड़ा लेकर जाटजी अपने घर को चला।

पोपजी—तुम दान देकर लेते हो। तुम्हारा सत्यानाश हो जायगा।

जाटजी—चुप रहो। नहीं तो तेरह दिन लों दूध के विना जितना दुःख हमने पाया है, सब कसर निकाल दूंगा।

तब पोपजी चुप रहे। और जाटजी गाय-बछड़ा ले अपने घर पहुंचे।

---

१. भाग० ५।२०।३८, तथा मत्स्य १२४।१२ में पचास कोटि योजन पृथिवी का परिमाण लिखा है।

जब ऐसे ही जाटजी के से पुरुष हों, तो पोपलीला संसार में न चले।

जो ये लोग कहते हैं कि दशगात्र के पिण्डों से दश अङ्ग, सपिण्डी करने से शरीर के साथ जीव का मेल होके अंगुष्ठमात्र शरीर बनके पश्चात् यमलोक को जाता है। तो मरते[1] समय यमदूतों का आना व्यर्थ होता है। त्रयोदशाह के पश्चात् आना चाहिये। जो शरीर बन जाता हो, तो अपनी स्त्री सन्तान और इष्ट-मित्रों के मोह से क्यों नहीं लौट आता ?

प्रश्न—स्वर्ग में कुछ भी नहीं मिलता। जो दान किया जाता है, वही वहां मिलता है। इसलिये सब दान करने चाहियें।

उत्तर—उस तुम्हारे स्वर्ग से यही लोक अच्छा, जिसमें धर्मशाला हैं, लोग दान देते हैं। इष्ट मित्र और जाति में खूब निमन्त्रण होते हैं। अच्छे-अच्छे वस्त्र मिलते हैं। तुम्हारे कहने प्रमाणे स्वर्ग में कुछ भी नहीं मिलता। ऐसे निर्दय कृपण कङ्गले स्वर्ग में पोपजी जाके खराब होवें। वहां भले-भले मनुष्यों का क्या काम ?

प्रश्न—जब तुम्हारे कहने से यमलोक और यम नहीं हैं, तो मरकर जीव कहां जाता, और इनका न्याय कौन करता है ?

उत्तर—तुम्हारे गरुड़पुराण का कहा हुआ तो अप्रमाण है। परन्तु जो वेदोक्त है कि—'यमेन[2]। वायुना।[3]सत्यराजन्[4]', इत्यादि वेदवचनों से निश्चय है कि 'यम' नाम वायु[5] का है। शरीर छोड़ वायु के साथ अन्तरिक्ष में जीव रहते हैं। और जो सत्यकर्त्ता पक्षपातरहित परमात्मा 'धर्मराज'[6] है, वही सबका न्यायकर्त्ता है।

---

१. सं० २ में 'मर्ती' अपपाठ है।

२. ऋ० १०।१४।८॥ ३. अथर्व० २०।१४१।२॥

४. यजुः २०।४॥ ५. अयं वै यमो योऽयं (वायुः) पवते। शत० १४।२।२।११॥

६. इन्द्राय साम गायत विप्राय बृहते बृहत्।
धर्मकृते विपश्चिते न पनस्यवे॥ ऋ० ८।९८।१॥

[दानपात्र-अपात्र विवेचन]

प्रश्न—तुम्हारे कहने से गोदानादि दान किसी को न देना, और न कुछ दान-पुण्य करना, ऐसा सिद्ध होता है।

उत्तर—यह तुम्हारा कहना सर्वथा व्यर्थ है। क्योंकि सुपात्रों को परोपकारियों का परोपकारार्थ सोना चांदी हीरा मोती माणिक अन्न जल स्थान इत्यादि दान अवश्य करना उचित है। किन्तु कुपात्रों को कभी न देना चाहिये।

प्रश्न—'कुपात्र' और 'सुपात्र' का लक्षण क्या है?

उत्तर—जो छली-कपटी स्वार्थी विषयी, काम क्रोध लोभ मोह से युक्त, परहानि करनेवाले, लंपटी, मिथ्यावादी, अविद्वान्, कुसङ्गी, आलसी। जो कोई दाता हो उसके पास बारम्बार मांगना, धरना देना, ना किये पश्चात् भी हठता से मांगते ही जाना संन्तोष न होना। जो न दे उसकी निन्दा करना, शाप और गाली-प्रदानादि देना।

अनेक वार जो सेवा करे और एक वार न करे, तो उसका शत्रु बन जाना। ऊपर से साधु का वेश बना लोगों को बहकाकर ठगना! और अपने पास पदार्थ हो, तो भी मेरे पास कुछ भी नहीं है कहना। सबको फुसला-फुसलाकर स्वार्थ सिद्ध करना। रात-दिन भीख मांगने ही में प्रवृत्त रहना। निमन्त्रण दिये पर यथेष्ट भंगादि मादक द्रव्य खा-पीकर बहुत सा पराया पदार्थ खाना। पुनः उन्मत्त होकर प्रमादी होना।

सत्यमार्ग का विरोध और झूंठ मार्ग में अपने प्रयोजनार्थ चलना। वैसे ही अपने चेलों को केवल अपनी ही सेवा करने का उपदेश करना, अन्य योग्य पुरुषों की सेवा करने का नहीं। सद्विद्यादि प्रवृत्ति के विरोधी। जगत् के व्यवहार अर्थात् स्त्री-पुरुष माता-पिता सन्तान राजा-प्रजा इष्ट मित्रों में अप्रीति कराना कि ये सब असत्य हैं, और 'जगत् भी मिथ्या है। इत्यादि दुष्ट उपदेश करना[1] आदि **'कुपात्रों के लक्षण'** हैं।

---

१. सं० २ मे 'कराना' पाठ है।

और जो ब्रह्मचारी, जितेन्द्रिय, वेदादि विद्या के पढ़ने पढ़नेहारे। सुशील, सत्यवादी, परोपकारप्रिय, पुरुषार्थी, उदार, विद्या धर्म की निरन्तर उन्नति करनेहारे। धर्मात्मा, शान्त, निन्दा-स्तुति में हर्षशोकरहित। निर्भय, उत्साही, योगी, ज्ञानी, सृष्टिक्रम वेदाज्ञा ईश्वर के गुण-कर्म स्वभावानुकूल वर्तमान करनेहारे। न्याय की रीतियुक्त, पक्षपातरहित, सत्योपदेश और सत्यशास्त्रों के पढ़ने-पढ़ानेहारे के परीक्षक।

किसी की लल्लो पत्तो न करें, प्रश्नों के यथार्थ समाधानकर्त्ता। अपने आत्मा के तुल्य अन्य का भी सुख-दुःख हानि-लाभ समझनेवाले। अविद्यादि-क्लेश-हठ दुराग्रहाभिमान रहित। अमृत के समान अपमान और विष के समान मान को समझनेवाले[1]। सन्तोषी—जो कोई प्रीति से जितना देवे उतने ही से प्रसन्न। एकबार आपत्काल में मांगे भी न देने वा वर्जने पर भी दुःख वा बुरी चेष्टा न करना, वहां से झट लौट जाना उसकी निन्दा न करना।

सुखी पुरुषों के साथ मित्रता, दुःखियों पर करुणा, पुण्यात्माओं से आनन्द, और पापियों से उपेक्षा[2] अर्थात् राग-द्वेषरहित रहना। सत्यमानी, सत्यवादी, सत्यकारी, निष्कपट, ईर्ष्या द्वेषरहित, गम्भीराशय, सत्पुरुष, धर्म से युक्त और सर्वथा दुष्टाचार से रहित। अपने तन मन धन को परोपकार करने में लगानेवाले। पराये सुख के लिये अपने प्राणों को भी समर्पितकर्त्ता, इत्यादि शुभलक्षणयुक्त 'सुपात्र' होते हैं।

परन्तु दुर्भिक्षादि आपत्काल में अन्न जल वस्त्र और औषधि पथ्य स्थान के अधिकारी सब प्राणीमात्र हो सकते हैं।

प्रश्न—दाता कितने प्रकार के होते हैं।

उत्तर—तीन प्रकार के—उत्तम, मध्यम और निकृष्ट। 'उत्तम

---

१. सम्मानाद् ब्राह्मणो नित्यमुद्विजेत विषादिव।
अमृतस्येव चाकाङ्क्षेदवमानस्य सर्वदा ॥ मनु० २।१६२॥

२. मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम् ॥ योग १।३३॥

दाता' उसको कहते हैं जो देश काल पात्र को जानकर सत्यविद्या धर्म की उन्नतिरूप परोपकारार्थ देवे। 'मध्यम' वह है जो कीर्ति वा स्वार्थ के लिये दान करे। 'नीच' वह है कि अपना वा पराया कुछ उपकार न कर सके, किन्तु वेश्यागमनादि वा भांड भाटों आदि को देवे। देते समय तिरस्कार अपमानादि भी कुचेष्टा करे। पात्र कुपात्र का कुछ भी भेद न जाने। किन्तु 'सब अन्न बारह पसेरी' बेचनेवालों के समान विवाद-लड़ाई, दूसरे धर्मात्मा को दुःख देकर सुखी होने के लिये दिया करे, वह 'अधम दाता' है।

अर्थात् जो परीक्षापूर्वक विद्वान् धर्मात्माओं का सत्कार करे वह 'उत्तम', और जो कुछ परीक्षा करे वा न करे, परन्तु जिसमें अपनी प्रशंसा हो उसको 'मध्यम' और जो अन्धाधुंध परीक्षारहित निष्फल दान दिया करे, वह 'नीच दाता' कहाता है।

प्रश्न—दान के फल यहां होते हैं, वा परलोक में ?

उत्तर—सर्वत्र होते हैं।

प्रश्न— स्वयं होते हैं, वा कोई फल देनेवाला है ?

उत्तर—फल देनेवाला ईश्वर है। जैसे कोई चोर डाकू स्वयं बन्दीघर में जाना नहीं चाहता, राजा उसको अवश्य भेजता है, धर्मात्माओं के सुख की रक्षा करता भुगाता, डाकू आदि से बचाकर उनको सुख में रखता है। वैसे ही परमात्मा सबको पाप-पुण्य के दुःख और सुखरूप फलों को यथावत् भुगाता है।

प्रश्न—जो ये गरुड़पुराणादि ग्रन्थ हैं, [वे] वेदार्थ वा वेद की पुष्टि करनेवाले हैं, वा नहीं ?

उत्तर—नहीं। किन्तु वेद के विरोधी और उलटे चलते हैं। तथा तन्त्र भी वैसे ही है। जैसे कोई मनुष्य एक का मित्र, [किन्तु] सब संसार का शत्रु हो, वैसा ही पुराण और तन्त्र का माननेवाला पुरुष होता है। क्योंकि एक-दूसरे से विरोध करानेवाले ये ग्रन्थ हैं। इनका मानना किसी विद्वान् का काम नहीं, किन्तु इनको मानना अविद्वत्ता है।

[व्रत-उपवास-एकादशी-माहात्म्य-खण्डन]

देखो, शिवपुराण में त्रयोदशी सोमवार, आदित्यपुराण में रवि, चन्द्रखण्ड में 'सोम ग्रहवाले मङ्गल बुध बृहस्पति शुक्र शनैश्चर राहु केतु के, वैष्णव एकादशी, वामन की द्वादशी, नृसिंह वा अनन्त की चतुर्दशी, चन्द्रमा की पौर्णमासी, दिक्पालों की दशमी, दुर्गा की नौमी, वसुओं की अष्टमी, मुनियों की सप्तमी, कार्त्तिक स्वामी की षष्ठी, नाग की पञ्चमी, गणेश की चतुर्थी, गौरी की तृतीया, अश्विनीकुमार की द्वितीया, आद्यादेवी की प्रतिपदा और पितरों की अमावास्या। पुराणरीति से ये दिन उपवास करने के हैं।

और सर्वत्र यही लिखा है कि जो मनुष्य इन वार और तिथियों में अन्नपान ग्रहण करेगा, वह नरकगामी होगा। अब पोप और पोपजी के चेलों को चाहिये कि किसी वार अथवा किसी तिथि में भोजन न करें। क्योंकि जो भोजन वा पान किया, तो नरकगामी होंगे।

अब **'निर्णयसिन्धु'**, **'धर्मसिन्धु'**, **'व्रतार्क'** आदि ग्रन्थ, जो कि प्रमादी लोगों के बनाये हैं, उन्होंमें एक-एक व्रत की ऐसी दुर्दशा की है कि जैसे एकादशी को शैव दशमीविद्धा, कोई द्वादशी में एकादशी व्रत करते हैं, अर्थात् क्या बड़ी विचित्र पोपलीला है कि भूखे मरने में भी वाद-विवाद ही करते हैं।

जो **'एकादशी का व्रत'** चलाया है, उसमें अपना स्वार्थपन ही है, और दया कुछ भी नहीं। वे कहते है—**एकादश्यामन्ने पापानि वसन्ति'** जितने पाप हैं, वे सब एकादशी के दिन अन्न में वसते हैं।

इस पोपजी से पूछना चाहिये कि किसके पाप उसमें वसते हैं? तेरे वा तेरे पिता आदि के? जो सबके सब पाप एकादशी में जा वसें, तो एकादशी के दिन किसी को दुःख न रहना चाहिये। ऐसा तो नहीं होता, किन्तु उलटा क्षुधा आदि से दुःख होता है। दुःख पाप का फल है। इससे भूखे मरना पाप है।

---

१. यहां पाठ कुछ अस्पष्ट सा है।

इसका बड़ा माहात्म्य बनाया है। जिसकी कथा बांचके बहुत ठगे जाते हैं। उसमें एक गाथा है कि—

'ब्रह्मलोक में एक वेश्या थी। उसने कुछ अपराध किया। उस को शाप हुआ। वह पृथिवी पर गिर, उसने स्तुति की कि मैं पुनः स्वर्ग में क्योंकर आसकूंगी? उसने कहा—'जब कभी एकादशी के व्रत का फल तुझे कोई देगा, तभी तू स्वर्ग में आजायगी'।

वह विमानसहित किसी नगर में गिर पड़ी। वहां के राजा ने उससे पूछा कि—'तू कौन है'? तब उसने सब वृतान्त कह सुनाया। और कहा कि—'जो कोई मुझको एकादशी का फल अर्पण करे, तो फिर भी स्वर्ग को जा सकती हूं।'

राजा ने नगर में खोज कराया। कोई भी एकादशी का व्रत करनेवाला न मिला। किन्तु एक दिन किसी शूद्र स्त्री पुरुष में लड़ाई हुई थी। क्रोध से स्त्री दिनरात भूखी रही थी। दैवयोग से उस दिन एकादशी ही थी।

उसने कहा कि—'मैंने एकादशी जानकर तो नहीं की। अकस्मात् उस दिन भूखी रह गई थी।' ऐसे राजा के भृत्यों से कहा। तब तो वे उसको राजा के सामने ले आये। उससे राजा ने कहा कि—'तू इस विमान को छू'। उसने छुआ, तो उसी समय विमान ऊपर को उड़ गया। यह तो विना जाने एकादशी के व्रत का फल है। जो जान के करे, तो उसके फल का क्या पारावार है?

वाह रे आंख के अन्धे लोगो! जो यह बात सच्ची हो, तो हम एक पान की बीड़ी, जो कि स्वर्ग में नहीं होती, भेजना चाहते हैं। सब एकादशीवाले अपना-अपना फल दे दो। जो एक पानबीड़ा ऊपर को चला जायगा, तो पुनः लाखों करोड़ों पान वहां भेजेंगे। और हम भी एकादशी किया करेंगे। और जो ऐसा न होगा, तो तुम लोगों को इस भूखे मरने रूप आपत्काल से बचावेंगे।

---

१. इस कथा से कुछ मिलती कथा भक्तमाल की तिलक टीका में मिलती है। द्र०—पृ० १६२, १६३।

इन चौबीस एकादशियों के नाम पृथक्-पृथक् रक्खे हैं। किसी का 'धनदा', किसी का 'कामदा', किसी का 'पुत्रदा', और किसी का 'निर्जला'।[1] बहुत से दरिद्र बहुत से कामी और बहुत से निर्वंशी लोग एकादशी करके बूढ़े हो गये और मर भी गये, परन्तु धन कामना और पुत्र प्राप्त न हुआ।

और ज्येष्ठ महीने के शुक्लपक्ष में कि जिस समय एक घड़ीभर जल न पावे, तो मनुष्य व्याकुल हो जाता है, व्रत करनेवालों को महादुःख प्राप्त होता है। विशेषकर बङ्गाले में सब विधवा स्त्रियों को एकदशी के दिन बड़ी दुर्दशा होती है।

इस निर्दयी कसाई को लिखते समय कुछ भी मन में दया न आई। नहीं तो निर्जला का नाम सजला, और पौष महीने की शुक्लपक्ष की एकादशी का नाम 'निर्जला' रख देता, तो भी कुछ अच्छा होता। परन्तु इस पाप को दया से क्या काम? **'कोई जीवो वा मरो, पोपजी का पेट पूरा भरो'।**

गर्भवती वा सद्योविवाहिता स्त्री लड़के वा युवा पुरुषों को तो कभी उपवास न करना चाहिये। परन्तु किसी को करना भी हो, तो जिस दिन अजीर्ण हो, क्षुधा न लगे, उस दिन शर्करावत्[2]=शर्बत वा दूध पीकर रहना चाहिये। जो भूख में नहीं खाते, और विना भूख

---

१. १ मार्ग० शु०—मोक्षदा। २ मार्ग कृ०—संवत्सरदीपव्रता। ३ पौ० कृ०—सफला। ४ पौ०शु०—पुत्रदा। ५ मा० कृ०—षट्तिला। ६ मा० शु०—जया। ७। फा० कृ०—विजया। ८ फा० शु०—आमलकी। ९ चै० कृ०—पापमोचिनी। १० चै० शु०—कामदा। ११ वै० कृ०—रूपिणी। १२ वै०शु०—मोहिनी १३ ज्ये० कृ०—अपरा। १४ ज्ये० शु०—निर्जला। १५ आषाढ़ कृ०—योगिनी। १६ आ० शु०—शायिनी। १७ श्रा० कृ०—कामिका। १८ श्रा० शु०—पुत्रदा। १९ भा० कृ०—अजा। २० भा० शु०—पद्मा। २१ आश्वि० कृ०—इन्द्रा। २२ आ० शु०—पापाङ्कुशा। २३ का० कृ०—रमा। २४ का० शु०—प्रबोधिनी। द्र०—स्वामी वेदानन्द सं०, स० प्र० पृष्ठ ३१२।

२. शर्करावाला (मतुप् प्रत्ययान्त)।

के भोजन करते हैं, वे दोनों रोगसागर में गोते खा दुःख पाते हैं। इन प्रमादियों के कहने-लिखने का प्रमाण कोई भी न करे।

[लुप्त वेदशाखाओं में मूर्तिपूजा-तीर्थ-कल्पना खण्डन]

अब गुरु-शिष्य-मन्त्रोपदेश और मतमतान्तर के चरित्रों का वर्त्तमान कहते हैं—

मूर्त्तिपूजक सम्प्रदायी लोग प्रश्न करते हैं कि वेद अनन्त हैं।[1] ऋग्वेद की २१, यजुर्वेद की १०१, सामवेद की १००० और अथर्ववेद की ९ शाखा हैं[2]। इनमें से थोड़ीसी शाखा मिलती हैं, शेष लोप हो गई हैं। उन्हीमें [मूर्ति]पूजा और तीर्थों का प्रमाण होगा। जो न होता तो पुराणों में कहां से आता? जब कार्य देखकर कारण का अनुमान होता है, तब पुराणों को देखकर मूर्त्तिपूजा में क्या शङ्का है?

उत्तर—जैसे शाखा जिस वृक्ष की होती है, उसके सदृश हुआ करती है, विरुद्ध नहीं। चाहे शाखा छोटी बड़ी हों, परन्तु उनमें विरोध नहीं हो सकता। वैसे ही जितनी शाखा मिलती हैं, जब इनमें पाषाणादि मूर्त्ति और जल स्थल विशेष तीर्थों का प्रमाण नहीं मिलता, तो उन लुप्त शाखाओं में भी नहीं था।

और चार वेद पूर्ण मिलते हैं। उनसे विरुद्ध शाखा कभी नहीं हो सकतीं। और जो विरुद्ध हैं, उनको शाखा कोई भी सिद्ध नहीं कर सकता। जब यह बात है, तो पुराण वेदों की [लुप्त]शाखा[ओं के अनुसार] नहीं, किन्तु सम्प्रदायी लोगों ने परस्पर विरुद्धरूप ग्रन्थ बना रक्खे हैं।

वेदों को तुम परमेश्वरकृत मानते हो, तो 'आश्वलायनादि' ऋषि-मुनियों के नाम से प्रसिद्ध ग्रन्थों को वेद क्यों मानते हो? जैसे डाली और पत्तों के देखने से पीपल बड़ और आम्र आदि वृक्षों की पहिचान होती है, वैसे ही ऋषि-मुनियों के किये वेदाङ्ग चारों ब्राह्मण अंग उपाङ्ग और उपवेद आदि से वेदार्थ पहिचाना जाता है। इसी

---

१. अनन्ता वै वेदाः। तै० ब्रा० ३।१०।११।५॥

२. महाभाष्य अ० १। पा० १। आह्निक १॥

लिये इन ग्रन्थों को 'शाखा' माना[1] है। जो वेदों से विरुद्ध है उसका प्रमाण, और अनुकूल का अप्रमाण नहीं हो सकता।

जो तुम अदृष्ट[2] शाखाओं में मूर्त्ति आदि के प्रमाण की कल्पना करोगे, तो जब कोई ऐसा पक्ष करेगा कि लुप्त शाखाओं में वर्णाश्रम व्यवस्था उलटी, अर्थात् अन्त्यज और शूद्र का नाम ब्राह्मणादि, और ब्राह्मणादि का नाम शूद्र अन्त्यजादि, अगमनीया गमन,[3] अकर्त्तव्य कर्त्तव्य, मिथ्याभाषणादि धर्म, सत्यभाषणादि अधर्म आदि लिखा होगा। तो तुम उसको वही उत्तर दोगे, जो कि हमने दिया—

'अर्थात् वेद और प्रसिद्ध शाखाओं में जैसा ब्राह्मणादि का नाम ब्राह्मणादि, और शूद्रादि का नाम शूद्रादि लिखा है, वैसा ही अदृष्ट शाखाओं में भी मानना चाहिये। नहीं तो वर्णाश्रमव्यवस्था आदि सब अन्यथा हो जायेंगे।'

भला जैमिनि व्यास और पतञ्जलि के समय-पर्यन्त तो सब शाखा विद्यमान थीं वा नहीं? यदि थीं[4], तो तुम कभी निषेध न कर सकोगे। और जो कहो कि नहीं थीं[5], तो फिर शाखाओं के होने का क्या प्रमाण है?

देखो, जैमिनि ने मीमांसा में सब कर्मकाण्ड, पतञ्जलि मुनि ने योगशात्र में सब उपासनाकाण्ड, और व्यास मुनि ने शारीरक सूत्रों में सब ज्ञानकाण्ड वेदानुकूल लिखा है। उनमें पाषाणादि मूर्त्तिपूजा वा प्रयागदि तीर्थों का नाम तक भी नहीं लिखा।

---

१. सं० २ में 'मानी' पाठ है। शाखा शब्द वेद-शाखाओं में मुख्य है। वेदाङ्ग उपाङ्गों के लिये यहां शाखा शब्द का प्रयोग गौण है। शाखा शब्द पञ्चपादी (५।२५) तथा दशपादी (३।५६) उणादिसूत्रों में 'शीङ् शये' धातु से व्युत्पादित है। अतः अर्थ होगा—वेदार्थ जिन में सोता=रहता है। निरुक्तकार ने १।४; ६।३२में 'शक्नोति' से भी शाखा का निर्वचन दर्शाया है। तदनुसार 'जिन से वेदार्थ जाना जा सकता है' वे शाखा कहाती हैं। ग्रन्थकार ने इसी अर्थ को स्वीकार करके वेदाङ्ग उपाङ्गों को भी शाखा कहा है।

२. अर्थात् लुप्त। ३. वाक्य विन्यास के अनुसार 'अगमनीया गमनीया' पाठ चाहिये। ४. सं० २ में 'नहीं थीं' अपपाठ है।

५. सं० २ में 'थे' अपपाठ है।

लिखें कहां से? जो कहीं वेदों में होता, तो लिखे विना कभी न छोड़ते। इसलिये लुप्त शाखाओं में भी इस मूर्त्तिपूजादि का प्रमाण नहीं था।

ये सब शाखा वेद नहीं हैं। क्योंकि इनमें ईश्वरकृत वेदों की प्रतीक धरके व्याख्या, और संसारी जनों के इतिहासादि लिखे हैं। इसलिये वेद में कभी नहीं हो सकते। वेदों में तो केवल मनुष्यों को विद्या का उपदेश किया है। किसी मनुष्य का नाममात्र भी नहीं। इसलिये मूर्त्तिपूजा का सर्वथा खण्डन है।

[मूर्त्तिपूजा-दोष-निदर्शन]

देखो, मूर्त्तिपूजा से श्रीरामचन्द्र श्रीकृष्ण नारायण और शिवादि[1] की बड़ी निन्दा और उपहास होता है। सब कोई जानते हैं कि वे बड़े महाराजाधिराज और उनकी स्त्री सीता तथा रुक्मिणी लक्ष्मी और पार्वती आदि महाराणियां थीं। परन्तु जब उनकी मूर्त्तियां मन्दिर आदि में रखके पुजारी लोग उनके नाम से भीख मांगते हैं। अर्थात् उनको भिखारी बनाते हैं कि -

'आओ महाराज! महाराजाजी! सेठ साहूकारो! दर्शन कीजिये। बैठिये, चरणामृत लीजिये, कुछ भेंट चढ़ाइये। महाराज[2]! सीताराम, कृष्ण-रुक्मिणी वा राधाकृष्ण, लक्ष्मीनारायण और महादेव-पार्वती जी को तीन दिन से बालभोग वा राजभोग अर्थात् जलपान वा खानपान भी नहीं मिला है। आज इनके पास कुछ भी नहीं है। सीता आदि को नथुनी[3] आदि राणीजी वा सेठानीजी! बनवा दीजिये। अन्न आदि भेजो तो रामकृष्णादि को भोग लगावें।'

'वस्त्र सब फट गये हैं। मन्दिर के कोने सब गिर पड़े हैं। ऊपर से चूता है। और दुष्ट चोर जो कुछ था, उसे उठा ले गये। कुछ ऊंदरों=चूहों ने काट-कूट डाले। देखिये एक दिन ऊंदरों ने ऐसा अनर्थ किया कि इनकी आंख भी निकालके भाग गये। अब हम चांदी की आंख न बना सके, इसलिये कौड़ी की लगादी है।'

---

१. यहां ऐतिहासिक नारायण और शिव का कथन है।
२. स० २ में 'चढ़ाइये महाराज' पूर्वान्वयी है ३. अर्थात् नथ।

[1]रामलीला और रासमण्डल भी करवाते हैं। सीताराम राधा-कृष्ण नाच रहे हैं, राजा और महन्त आदि उनके सेवक आनन्द में बैठे हैं। मन्दिर में सीता रामादि खड़े और पुजारी वा महन्तजी आसन अथवा गद्दी पर तकिया लगाये बैठते हैं।

महागरमी[2] में भी ताला लगा भीतर बन्ध कर देते हैं, और आप सुन्दर वायु में पलंग बिछाकर सोते हैं। बहुत से पुजारी अपने नारायण को डब्बी में बन्ध कर, ऊपर से कपड़े आदि बांध गले में लटका लेते हैं। जैसे कि वानरी अपने बच्चे को गले में लटका लेती है, वैसे पुजारियों के गले में भी लटकते हैं।

जब कोई मूर्त्ति को तोड़ता है, तब हाय-हाय कर छाती पीट बकते हैं कि—[3]'सीतारामजी राधाकृष्णजी और शिवपार्वती को दुष्टों ने तोड़ डाला। अब दूसरी मूर्त्ति मंगवाकर, जो कि अच्छे शिल्पी [ने] संगमरमर की बनाई हो, स्थापन कर पूजना चाहिये। नारायण को घी के विना भोग नहीं लगता। बहुत नहीं तो थोड़ा सा अवश्य भेज देना'। इत्यादि बातें इन पर ठहराते हैं।

और रासमण्डल वा रामलीला के अन्त में सीताराम वा राधा-कृष्ण से भीख मंगवाते हैं। जहां मेला-ठेला होता है, वहां छोकरे पर मुकुट धर कन्हैया बना मार्ग में बैठाकर भीख मंगवाते हैं। इत्यादि बातों को आप लोग विचार लीजिये कि कितने बड़े शोक की बात है।

भला कहो तो, सीतारामादि ऐसे दरिद्र और भिक्षुक थे? यह उनका उपहास और निन्दा नहीं, तो क्या है? इससे बड़ी अपने माननीय पुरुषों की निन्दा होती है।

भला जिस समय ये विद्यमान थे, उस समय सीता रुक्मिणी लक्ष्मी और पार्वती को सड़क पर, वा किसी मकान में खड़ी कर पुजारी

---

१. पूर्व कथन पुजारियों के कथनोपकथन रूप है। यह संदर्भ ग्रन्थकार का स्थितिनिदर्शनात्मक है।

२. द्वि० सं० में समर्थदान ने—'उष्णकाल' कर दिया। भ० द०

३. यह सन्दर्भ पुनः पुजारियों का कथनोपकथनात्मक है।

कहते कि—'आओ इनका दर्शन करो, और कुछ भेंट-पूजा धरो,' तो सीता-रामादि इन मूर्खों के कहने से ऐसा काम कभी न करते, और न करने देते। जो कोई ऐसा उपहास उनका करता[1] है, उसको विना दण्ड दिये कभी छोड़ते ?

हां, जब उन्होंसे दण्ड न पाया, तो इनके [ही] कर्मों ने पुजारियों को बहुतसी मूर्त्तिविरोधियों से प्रसादी[2] दिलादी, और अब भी मिलती है। और जबतक इस कुकर्म को न छोड़ेंगे, तबतक मिलेगी।

इसमें क्या सन्देह है कि जो आर्य्यावर्त्त की प्रतिदिन महाहानि, पाषाणादि-मूर्त्तिपूजकों का पराजय इन्हीं कर्मों से होता है। क्योंकि पाप का फल दुःख है। इन्हीं पाषाणादि मूर्त्तियों के विश्वास से बहुत सी हानि हो गई। जो न छोड़ेंगे तो प्रतिदिन अधिक-अधिक होती जायगी।

[वाममार्गियों के मारण-मोहन-उच्चाटन आदि का खण्डन]

इनमें से **वाममार्गी** बड़े भारी अपराधी हैं। जब वे चेला करते हैं, तब साधारण को—

दं दुर्गायै नमः। भं भैरवाय नमः।
ऐं ह्रीं क्लीं चामुण्डायै विच्चे॥

इत्यादि मन्त्रों का उपदेश कर देते हैं। और बंगाले में विशेष करके एकाक्षरी मन्त्रोपदेश करते हैं। जैसे—

ह्रीं, श्रीं, क्लीं[3] ॥ इत्यादि।

और धनाढ्यों का पूर्णाभिषेक करते हैं। ऐसे ही दश-महाविद्याओं के मन्त्र—

ह्रां, ह्रीं, ह्रूं बगलामुख्यै फट् स्वाहा ॥[4]

कहीं-कहीं—　　**हूं फट् स्वाहा ॥**[5]

---

१. सं २ में 'कर्त्ता' अपपाठ है।
२. अर्थात् मूर्तिभंजन, लूटमार, मारपीट, मूर्ति की चोरी आदि रूप प्रसादी।
३. शावर तन्त्र, बं० प्रकी० अ० ४४।
४. शावरतन्त्र, बं० प्रकी० अ० ४१। ५. कामरत्न तन्त्र, बीजमन्त्र ४।

और मारण, मोहन, उच्चाटन, विद्वेषण, वशीकरण आदि प्रयोग करते हैं। सो मन्त्र से तो कुछ भी नहीं होता, किन्तु क्रिया से सब कुछ करते हैं।

जब किसी को मारने का प्रयोग करते हैं, तब इधर करानेवाले से धन लेके आटे वा मट्टी का पुतला, जिसको मारना चाहते हैं, उसका बना लेते हैं। उसकी छाती नाभि कण्ठ में छुरे प्रवेश कर देते हैं। आंख हाथ पग में कीलें ठोकते हैं। उसके ऊपर भैरव वा दुर्गा की मूर्त्ति बना हाथ में त्रिशूल दे, उसके हृदय पर लगाते हैं।

एक वेदी बनाकर मांस आदि का होम करने लगते हैं। और उधर दूत आदि भेजके उसको विष आदि से मारने का उपाय करते हैं। जो अपने पुरश्चरण के बीच में उसको मार डाला, तो अपने को भैरव देवी की सिद्धिवाले[1] बतलाते हैं। 'भैरवो भूतनाथश्च' इत्यादि का पाठ करते हैं।

मारय-मारय, उच्चाटय-उच्चाटय, विद्वेषय-विद्वेषय, छिन्धि-छिन्धि, भिन्धि-भिन्धि, वशीकुरु-वशीकुरु, खादय-खादय, भक्षय-भक्षय, त्रोटय-त्रोटय, नाशय-नाशय, मम शत्रून् वशीकुरु-वशीकुरु, हुं फट् स्वाहा ॥[2]

इत्यादि मन्त्र जपते। मद्यमांसादि यथेष्ट खाते-पीते। भृकुटी के बीच में सिन्दूर-रेखा देते। कभी-कभी काली आदि के लिये किसी आदमी को पकड़ मार होम कर कुछ-कुछ उसका मांस खाते भी हैं।

जो कोई भैरवीचक्र में जावे, मद्यमांस न पीवे न खावे, तो उसको मार होम कर देते हैं। उनमें से जो 'अघोरी' होता है, वह मृत मनुष्य का भी मांस खाता है। अजरी-बजरी करनेवाले विष्ठा मूत्र भी खाते-पीते हैं।

[चोलीमार्ग-बीजमार्ग-खण्डन]

एक **चोलीमार्ग** और दूसरे **बीजमार्गी** भी होते हैं। चोलीमार्ग-वाले एक गुप्त स्थान वा भूमि में एक स्थान बनाते हैं। वहां सबकी

---

१. सं० २ में 'सिद्ध वाले' अपपाठ है।
२. कामरत्न तन्त्र, उच्चाटन प्रक०, मं० ५-७ ॥

स्त्रियां पुरुष लड़का-लड़की बहिन माता पुत्रवधू आदि सब इकट्ठे हो सब लोग मिल-मिलाकर मांस खाते मद्य पीते। एक स्त्री को नंगी कर उसके गुप्त इन्द्रिय की पूजा सब पुरुष करते हैं। और उसका नाम 'दुर्गादेवी' धरते हैं। एक पुरुष को नंगा कर उसके गुप्त इन्द्रिय की पूजा सब स्त्रियां करती हैं।

जब मद्य पी-पी के उन्मत्त हो जाते हैं, तब स्त्रियों के छाती के वस्त्र जिसको 'चोली' कहते हैं, एक बड़ी मट्टी की नांद में सब वस्त्र मिलाकर रखके एक-एक पुरुष उसमें हाथ डालके जिसके हाथ में जिसका वस्त्र आवे, वह माता बहिन कन्या और पुत्रवधू क्यों न हो, उस समय के लिये वह उसकी स्त्री हो जाती है।

आपस में कुकर्म करने और बहुत नशा चढ़ने से जूते आदि से लड़ते-भिड़ते हैं। जब प्रातःकाल कुछ अंधेरे अपने-अपने घर को चले जाते हैं, तब माता माता कन्या कन्या बहिन बहिन और पुत्रवधू पुत्रवधू हो जाती हैं।

और बीजमार्गी स्त्रीपुरुष के समागम कर जल में वीर्य डाल मिलाकर पीते हैं। ये पामर ऐसे कर्मों को मुक्ति के साधन मानते हैं। विद्या विचार सज्जनतादि-रहित होते हैं।

[शैवमत-खण्डन]

प्रश्न—शैवमत वाले तो अच्छे होते हैं?

उत्तर—अच्छे कहां से होते हैं? **'जैसा प्रेतनाथ वैसा भूतनाथ'** जैसे वाममार्गी मन्त्रोपदेशादि से उनका धन हरते हैं, वैसे शैव भी **'ओं नमः शिवाय'** इत्यादि पञ्चाक्षरादि मन्त्रों का उपदेश करते, रुद्राक्ष भस्म धारण करते, मट्टी के और पाषाणादि के लिङ्ग बनाकर पूजते हैं।

और हर हर बं बं और बकरे के शब्द के समान बड़-बड़-बड़ मुख से शब्द करते हैं। उसका कारण यह कहते हैं कि ताली बजाने और बं बं शब्द बोलने से पार्वती प्रसन्न, और महादेव

अप्रसन्न होता है। क्योंकि जब भस्मासुर के आगे से महादेव भागे थे, तब बं बं और ठट्ठे की तालियां बजी थीं।

और गाल बजाने से पार्वती अप्रसन्न और महादेव प्रसन्न होते हैं। क्योंकि पार्वती के पिता दक्षप्रजापति का शिर काट आगी में डाल उसके धड़ पर बकरे का शिर लगा दिया था। 'उसी की नकल के तुल्य'[1] गाल बजाना मानते हैं। शिवरात्रि प्रदोष का व्रत करते हैं, इत्यादि से मुक्ति मानते हैं।

इसलिये जैसे वाममार्गी भ्रान्त हैं, वैसे शैव भी। इनमें विशेष-कर कनफटे, नाथ, गिरी, पुरी, वन, आरण्य, पर्वत और सागर तथा गृहस्थ भी शैव होते हैं।

कोई-कोई 'दोनों घोड़ों पर चढ़ते हैं' अर्थात् वाम और शैव दोनों मतों को मानते हैं[2]। और कितने ही वैष्णव भी रहते हैं। उनका—

अन्तः शाक्ता बहिश्शैवाः सभामध्ये च वैष्णवाः।
नानारूपधराः कौला विचरन्तीह महीतले॥

यह तन्त्र का श्लोक है।[3]

भीतर शाक्त अर्थात् वाममार्गी, बाहर शैव अर्थात् रुद्राक्ष भस्म धारण करते हैं और सभा में वैष्णव कहाते हैं कि हम विष्णु के उपासक हैं। ऐसे नाना प्रकार के रूप धारण करके वाममार्गी लोग पृथिवी में विचरते हैं।

[वैष्णवमत-खण्डन]

प्रश्न—'वैष्णव' तो अच्छे हैं ?

---

१. मूल में यही है। समर्थदान ने द्वि० सं० में—'उसी अनुकरण को बकरे के शब्द की तुल्य' ऐसा पाठ किया। सं० ३४,३५ में दोनों पाठों को मिलाकर 'उसकी नकल बकरे के शब्द के तुल्य' पाठ छापा गया है। इस प्रकार यह न हस्तलेख का पाठ रहा, और न द्वितीय संस्करण का।

२. पृष्ठ ४४५ टि० २ में हमने 'मिलते' के स्थान में 'मिलाते' पाठ स्वीकार किया है, उसका यह उपोद्बलक है।

३. द्र०—पाठभेद से—कौलोपनिषद; कुलार्णवतन्त्र उल्लास ११, बल्लभदिग्विजय, पृष्ठ २६२। स्वामी वेदानन्द।

उत्तर—क्या धूड़[1] अच्छे हैं, जैसे वे वैसे ये हैं। देखलो वैष्णवों की लीला,अपने को विष्णु का दास मानते हैं। उनमें से **श्रीवैष्णव**, जो कि **चक्राङ्कित** होते हैं,वे अपने को सर्वोपरि मानते हैं,सो कुछ भी नहीं है।

प्रश्न—क्यों सब कुछ नहीं ?सब कुछ है। देखो ललाट में नारायण के चरणारविन्द के सदृश तिलक, और बीच में पीली रेखा श्री होती है, इसलिये हम 'श्रीवैष्णव' कहाते हैं। एक नारायण को छोड़ दूसरे किसी को नहीं मानते। महादेव के लिङ्ग का दर्शन भी नहीं करते। क्योंकि हमारे ललाट में श्री विराजमान है, वह लज्जित होती है। आलमन्दारादि[2] स्तोत्रों के पाठ करते हैं। नारायण की मन्त्रपूर्वक पूजा करते हैं। मांस नहीं खाते, न मद्य पीते हैं, फिर अच्छे क्यों नहीं?

उत्तर—इस तुम्हारे तिलक को हरिपदाकृति, इस पीली रेखा को श्री मानना व्यर्थ है। क्योंकि यह तो हाथ की कारीगरी और लालट का चित्र[ण]है। जैसा हाथी का ललाट चित्र-विचित्र करते हैं। तुम्हारे ललाट में विष्णु के पद का चिह्न कहां से आया ? क्या कोई वैकुण्ठ में जाकर विष्णु के पग का चिह्न ललाट में करा आया है ?

विवेकी—और श्री जड़ है, वा चेतन ?

वैष्णव—चेतन है।

विवेकी—तो यह रेखा जड़ होने से श्री नहीं है। हम पूछते हैं कि श्री बनाई हुई है, वा विना बनाई ? जो विना बनाई है, तो यह श्री नहीं। क्योंकि इसको तो तुम नित्य अपने हाथ से बनाते हो, फिर श्री नहीं हो सकती। जो तुम्हारे ललाट में श्री हो, तो कितने ही वैष्णवों का बुरा मुख अर्थात् शोभारहित क्यों दीखता है ? ललाट में श्री और घर-घर भीख मांगत और सदावर्त्त लेकर पेट भरते क्यों फिरते हो ? यह बात खीड़ी और निर्लज्जों की है कि कपाल में श्री और महादरिद्रों के काम[3] हैं ?

---

१. अर्थात् 'धूल'। २. तमिल बोली के स्तोत्र। भ० द०

३. सं० ३४,३५ में 'काम करते हैं' पाठ है। सं० २ में 'करते' पाठ नहीं है। इसकी आवश्यकता भी नहीं है।

इनमें एक 'परिकाल' नामक वैष्णवभक्त था। वह चोरी डाका मार, छल कपट कर, पराया धन हर, वैष्णवों के पास धर प्रसन्न होता था। एक समय उसको चोरी में पदार्थ कोई नहीं मिला कि जिसको लूटे। व्याकुल होकर फिरता था।

नारायण ने समझा कि हमारा भक्त दुःख पाता है। सेठजी का स्वरूप धर, अंगूठी आदि आभूषण पहिन, रथ में बैठके सामने आये। तब तो परिकाल रथ के पास गया। सेठ से कहा—'सब वस्तु शीघ्र उतार दो, नहीं तो मार डालूंगा'। उतारते-उतारते अंगूठी उतारने में देर लगी। परिकाल ने नारायण की अंगुली काट अंगूठी ले ली।

नारायण बड़े प्रसन्न हो चतुर्भुज शरीर बना दर्शन दिया। कहा कि तू मेरा बड़ा प्रिय भक्त है। क्योंकि सब धन मार लूट चोरी कर वैष्णवों की सेवा करता है, इसलिये तू धन्य है। फिर उसने जा कर वैष्णवों के पास सब गहने धर दिये।

एक समय 'परिकाल' को कोई साहूकार नौकर कर जहाज में बिठाके देशान्तर में ले गया। वहां से जहाज में सुपारी भरी। परिकाल ने एक सुपारी तोड़ आधा टुकड़ा कर बनिये से कहा—'यह मेरी आधी सुपारी जहाज में धर दो, और लिख दो कि जहाज में आधी सुपारी परिकाल की है'।

बनिये ने कहा कि चाहे तुम हजार सुपारी ले लेना। परिकाल ने कहा—'नहीं, हम अधर्मी नहीं हैं, जो हम झूंठमूंठ लें। हमको तो आधी चाहिये'। बनिया बिचारा भोला-भाला था, उसने लिख दिया। जब अपने देश में बन्दर पर जहाज आया और सुपारी उतारने की तैयारी हुई, तब परिकाल ने कहा—'हमारी आधी सुपारी दे दो'।

बनिया वही आधी सुपारी देने लगा। तब परिकाल झगड़ने लगा। मेरी तो जहाज में आधी सुपारी है, आधा बांट लूंगा। राजपुरुषों तक झगड़ा गया। परिकाल ने बनिये का लेख दिखलाया कि इसने आधी सुपारी देनी लिखी है। बनिया बहुतसा कहता रहा, परन्तु उसने न माना। आधी सुपारी लेकर वैष्णवों को अर्पण कर दी। तब

तो वैष्णव बड़े प्रसन्न हुए। अब तक उस डाकू चोर परिकाल की मूर्त्ति मन्दिरों में रखते हैं।

यह कथा भक्तमाल में लिखी है। बुद्धिमान् देख लें कि वैष्णव, उनके सेवक और नारायण तीनों चोरमण्डली है, वा नहीं ? यद्यपि मतमतान्तरों में कोई थोड़ा अच्छा भी होता है, तथापि उस मत में रहकर सर्वथा अच्छा नहीं हो सकता।

अब जैसा वैष्णवों में फूट-टूट, भिन्न-भिन्न तिलक कण्ठी धारण करते हैं—रामानन्दी बगल में गोपीचन्दन, बीच में लाल; नीमावत दोनों [ओर] पतली रेखा, बीच में काला बिन्दु; माधव काली रेखा; और गौड़ बंगाली कटोरी के तुल्य; और रामप्रसादवाले दोनों चांदला, रेखा के बीच में एक सफेद गोल टीका इत्यादि।

इनका कथन विलक्षण-विलक्षण है—रामानन्दी लाल रेखा को लक्ष्मी का चिह्न, और नारायण के हृदय[1] में श्री, कृष्णचन्द्रजी [के] हृदय में राधा विराजमान है, इत्यादि कथन करते हैं।'

एक कथा भक्तमाल में लिखी है—कोई एक मनुष्य वृक्ष के नीचे सोता था। सोता-सोता ही मर गया। ऊपर से काक ने विष्ठा कर दी। वह ललाट पर तिलकाकार हो गई थी। वहां यम के दूत उसको लेने आये। इतने मे विष्णु के दूत भी पहुंच गये। दोनों विवाद करते थे कि यह हमारे स्वामी की आज्ञा है, हम यमलोक में ले जायेंगे।

विष्णु के दूतों ने कहा कि हमारे स्वामी की आज्ञा है वैकुण्ठ में लेजाने की। देखो इसके ललाट में वैष्णवी[2] तिलक है। तुम कैसे ले जाओगे? तब तो यम के दूत चुप होकर चले गये। विष्णु के दूत सुख से उसको वैकुण्ठ में ले गये। नारायण ने उसको वैकुण्ठ में रक्खा।

देखो जब अकस्मात् तिलक बन जाने का ऐसा माहात्म्य है,

---

१. कई संस्करणों में—'नारायण के हृदय में, गोसाईं श्रीकृष्णचन्द्रजी के हृदय में' पाठ मिलता है।

२. कई संस्करणों मे 'वैष्णव का तिलक' भ्रष्ट पाठ है।

तो जो अपनी प्रीति और हाथ से तिलक करते हैं, वे नरक से छूट वैकुण्ठ में जावें, तो इसमें क्या आश्चर्य है ?

हम पूछते हैं कि जब छोटे से तिलक के करने से वैकुण्ठ में जावें, तो सब मुख के ऊपर लेपन करने, वा काला मुख करने वा शरीर पर लेपन करने से वैकुण्ठ से भी आगे सिधार जाते हैं वा नहीं ? इससे ये बातें सब व्यर्थ हैं।

[खाखियों की लीला]

अब इनमें बहुत से खाखी[1] लङ्गोटी लगा लकड़े की धूनी तापते, जटा बढ़ाते, सिद्ध का वेश कर लेते हैं। बगुले के समान ध्याना-वस्थित होते हैं। गांजा भाँग चरस के दम लगाते, लाल नेत्र कर रखते, सबसे [2]चुकटी-चुकटी अन्न पिसान कौड़ी पैसे मांगते, गृहस्थों के लड़कों को बहकाकर चेले बना लेते हैं। बहुत करके मजूर लोग उनमें होते हैं।

कोई विद्या को पढ़ता हो, तो उसको पढ़ने नहीं देते। किन्तु कहते हैं कि--**पठितव्यं तदपि मर्त्तव्यं दन्तकटाकटेति किं कर्त्तव्यम् ?** सन्तों को विद्या पढ़ने से क्या काम ? क्योंकि विद्या पढ़नेवाले भी मर जाते हैं, फिर दन्त-कटाकट क्यों करना ? साधुओं को चार धाम फिर आना, सन्तों की सेवा करनी, रामजी का भजन करना [पर्याप्त है]।

जो किसीने मूर्ख अविद्या की मूर्त्ति न देखी हो, तो खाखीजी का दर्शन कर आवे। उसके पास जो कोई जाता है, उनको बच्चा-बच्ची कहते हैं। चाहे वे खाखीजी के बाप-मां के समान क्यों न हों ?

जैसे खाखीजी हैं, वैसे ही रूखड़ सूखड़, गोदड़िये, और जमातवाले सुतरेसाई और अकाली, कनफटे, जोगी, औघड़ आदि सब एकसे हैं।

[3]एक खाखी का चेला '**श्रीगणेशाय नमः**' घोखता-घोखता कुवे पर

---

१. सभी संस्करणों में—'खाखी लकड़े की लंगोटी लगा धूनी तापते' पूर्वापर अपपाठ है।

२. सं० ३४,३५ में 'चुटकी-चुटकी' भ्रष्टतर पाठ है।

३. यह कथा ग्रन्थकार ने 'व्यवहार-भानु' ग्रन्थ में भी लिखी है।

जल भरने को गया। वहां पण्डित बैठा था। वह उसको 'स्रीगने साजन में' घोखते देखकर बोला—अरे साधु! अशुद्ध घोखता है। 'श्री गणेशाय नमः' ऐसा घोख। उसने झट लोटा भर गुरुजी के पास जा कहा कि ए बम्मन मेरे घोखने को असुद्ध कहता है।

ऐसा सुनकर झट खाखीजी उठा, कूप पर गया, और पण्डित से कहा—तू मेरे चेले को बहकाता है? तू गुरू की लंडी क्या पढ़ा है? देख तू एक प्रकार का पाठ जानता है, हम तीन प्रकार का जानते हैं—'स्रीगनेसाजन्नमें'; 'स्रीगनेसा यन्न में'; 'श्रीगनेसाय नमें'।

पण्डित—सुनो [1]साधुजी! विद्या की बात बहुत कठिन है। विना पढ़े नहीं आती।

खाखी—चल बे! सब विद्वान् को हमने रगड़ मारे। जो भांग में घोट एकदम सब उड़ा दिये। सन्तों का घर बड़ा है. तू बाबूड़ा क्या जाने?

पण्डित—देखो, जो तुमने विद्या पढ़ी होती, तो ऐसे अपशब्द क्यों बोलते? सब प्रकार का तुमको ज्ञान होता।

खाखी—अबे तू हमारा गुरू बनता है? तेरा उपदेश हम नहीं सुनते।

पण्डित—सुनो कहां से? बुद्धि ही नहीं है। उपदेश सुनने-समझने के लिये विद्या चाहिये।

खाखी—जो सब वेदशास्त्र पढ़े, सन्तों को न माने, तो जानो कि वह कुछ भी नहीं पढ़ा।

पण्डित—हां, हम सन्तों की सेवा करते हैं, परन्तु तुम्हारे से हुर्दङ्गों की नहीं करते। क्योंकि 'सन्त' सज्जन विद्वान् धार्मिक परोपकारी पुरुषों को कहते हैं।

---

१. सं० २ में 'साधू' अपपाठ है। खाखी के बचनों में 'साधू' ही युक्त है।

खाखी—देख, हम रात-दिन नंगे रहते, धूनी तापते। गांजा चरस के सैंकड़ों दम लगाते। तीन-तीन लोटा भांग पीते। गांजे भांग धतूरा की पत्ता की भाजी=शाक बना खाते। संखिया और अफीम भी चट निगल जाते। नशा में गर्क रात-दिन बेगम रहते। दुनिया को कुछ नहीं समझते। भीख मांगकर टिक्कड़ बना खाते। रातभर ऐसी खांसी उठती, जो पास में सोवे उसको भी नींद कभी न आवे। इत्यादि सिद्धियां और साधूपन हममें है। फिर तू हमारी निन्दा क्यों करता [है] ? चेत बाबूड़े ! जो हमको दिक्क करेगा, हम तुमको भसम कर डालेंगे।

पण्डित—ये सब लक्षण असाधु मूर्ख और गवर्गण्डों के हैं, साधुओं के नहीं। सुनो, **'साध्नोति पराणि धर्मकार्य्याणि स साधु:'** जो धर्मयुक्त उत्तम काम करे, सदा परोपकार में प्रवृत्त हो, कोई दुर्गुण जिसमें न हो, विद्वान् सत्योपदेश से सबका उपकार करे, उस को 'साधु'[1] कहते हैं।

खाखी-चल बे ! तू साधू के कर्म क्या जाने ? सन्तों का घर बड़ा है। किसी सन्त से अटकना नहीं। नहीं तो देख एक चीमटा उठाकर मारेगा, कपाल फुड़वा लेगा।

पण्डित—अच्छा खाखी ! जाओ अपने आसन पर। हमसे बहुत गुस्से मत हो। जानते हो राज्य कैसा है ? किसी को मारोगे, तो पकड़े जाओगे। कारावास भोगोगे, बेंत खाओगे। वा कोई तुमको भी मार बैठेगा, फिर क्या करोगे ? यह साधु[1] का लक्षण नहीं।

खाखी-चल बे चेले ! किस राक्षस का मुख दिखलाया ?

पण्डित-तुमने कभी किसी महात्मा का संग नहीं किया है। नहीं तो ऐसे जड़ मूर्ख न रहते।

खाखी—हम आप ही महात्मा हैं। हमको किसी दूसरे की गर्ज नहीं।

---

१ द्र०—पृष्ठ ५३८, टि० १।

पण्डित— जिनके भाग्य नष्ट होते हैं, उनकी तुम्हारी सी बुद्धि और अभिमान होता है।

खाखी चला गया आसन पर, और पण्डित घर को गये।

जब सन्ध्या आर्त्ती हो गई, तब उस खाखी को बुड्ढा समझ बहुत से खाखी 'डण्डात-डण्डोत' कहते साष्टांग करके बैठे। उस खाखी ने पूछा—'अबे रामदासिये[1]! तू क्या पढ़ा है'?

रामदास—महाराज! मैंने 'बेस्नुसहसर नाम' पढ़ा है।

[**खाखी जी**—]'अबे गोबिन्ददासिये! तू क्या पढ़ा है'?

गोबिन्ददास—मैं 'रामसतवराज' पढ़ा हूं, अमुक खाखीजी के पास से।

तब रामदास बोला कि—'महाराज आप क्या पढ़े हैं?'

खाखी जी—हम गीता पढ़े हैं।

रामदास—किसके पास?

खाखी जी—चल बे छोकरे! हम किसीको गुरू नहीं करते। देख, हम 'परागराज' में रहते थे। हमको अक्खर नहीं आता था। जब किसी लम्बी धोतीवाले पण्डित को देखता था, तब गीता के गोटके में पूछता था कि इस कलङ्गीवाले अक्खर का क्या नाम है? ऐसे पूछता-पूछता अठारा अध्याय गीता रगड़ मारी। गुरू एक भी नहीं किया।

भला ऐसे विद्या के शत्रुओं को अविद्या घर करके ठहरे नहीं, तो कहां जाय?

ये लोग विना नशा प्रमाद लड़ना, खाना सोना झांझ पीटना, घण्टा घडियाल शङ्ख बजाना, धूनी चिता रखनी, नहाना-धोना, सब दिशाओं में व्यर्थ घूमते फिरने के अन्य कुछ भी अच्छा काम नहीं करते।

चाहे कोई पत्थर को भी पिघला लेवे, परन्तु इन खाखियों के आत्माओं को बोध कराना कठिन है। क्योंकि बहुधा वे शूद्र-वर्ण मजूर किसान कहार[2] आदि अपनी मजूरी छोड़ केवल खाख

---

१. सं० २ मे 'रामदासिया' अपपाठ है। द्र०—आगे 'अबे गोबिन्द-दासिये' सम्बोधन।	२. सं० २ में 'कहरा' अपपाठ है।

रमाके वैरागी खाखी आदि हो जाते हैं। उनको विद्या वा सत्सङ्ग आदि का माहात्म्य नहीं जान पड़ सकता।

इसमें से नाथों का मन्त्र—'**नमः शिवाय**'। खाखियों का—'**नृसिंहाय नमः**'। रामावतों का—'**श्रीरामचन्द्राय नमः**' अथवा '**सीतारामाभ्यां नमः**'। कृष्णोपासकों का—'**श्रीराधाकृष्णाभ्यां नमः**', '**नमो भगवते वासुदेवाय**' और बङ्गालियों का '**गोविन्दाय नमः**'। इन मन्त्रों को कान में पढ़नेमात्र से शिष्य कर लेते हैं।

और ऐसी-ऐसी शिक्षा करते हैं कि—बच्चे! तूंबे का मन्त्र पढ़ले—

जल पवितर सथल पवितर, और पवितर कुआ।
शिव कहे सुन पार्वती, तूंबा पवितर हुआ॥[1]

भला ऐसे की योग्यता साधु[2] वा विद्वान् होने अथवा जगत् के उपकार करने की कभी हो सकती है? खाखी रात-दिन लक्कड़ छाने=जङ्गली कण्डे जलाया करते हैं। एक महीने में कई रुपये की लकड़ी फूंक देते हैं। जो एक महीने की लकड़ी के मूल्य से कम्बलादि वस्त्र ले लें, तो शतांश धन से आनन्द में रहें। उनको इतनी बुद्धि कहां से आवे?

और अपना नाम उसी धूनी में तपने ही से 'तपस्वी' धर रक्खा है। जो इस प्रकार तपस्वी हो सकें, तो जङ्गली मनुष्य इनसे भी अधिक तपस्वी हो जावें। जो जटा बढ़ाने राख लगाने तिलक करने से तपस्वी हो जाये, तो सब कोई कर सके। ये ऊपर के त्यागस्वरूप और भीतर के महासंग्रही होते हैं।

[कबीरपन्थ-खण्डन]

प्रश्न—'कबीरपन्थी' तो अच्छे हैं?

उत्तर—नहीं।

प्रश्न—क्यों अच्छे नहीं? पाषाणादि मूर्त्तिपूजा का खण्डन करते हैं। कबीर साहब फूलों से उत्पन्न हुए, और अन्त में भी फूल हो

---

१. रामस्नेही धर्मप्रकाश, रामपटल पृ० ३। भ०द०

२. द्र०—पृ० ५३८, टि० १।

गये। ब्रह्मा विष्णु महादेव का जन्म जब नहीं था, तब भी **कबीर** साहब थे। बड़े सिद्ध, ऐसे कि जिस बात को वेद पुराण भी नहीं जान सकता, उसको कबीर जानते हैं। सच्चा रस्ता है, सो कबीर ही ने दिखलाया है। इनका मन्त्र **'सत्यनाम कबीर'** आदि है।

उत्तर—पाषाणादि को छोड़ पलंग, गद्दी, तकिये, खड़ाऊं, ज्योति अर्थात् दीप आदि का पूजना पाषाणमूर्त्ति से न्यून नहीं। क्या कबीर साहब भुनुगा था वा कलियां था, जो फूलों से उत्पन्न हुआ और अन्त में फूल हो गया?

यहां जो यह बात सुनो जाती है, वही सच्ची होगी कि—कोई जुलाहा काशी में रहता था। उसके लड़के-बालक नहीं थे। एक समय थोड़ी सी रात्रि थी। एक गली में चला जाता था, तो देखा—सड़क के किनारे में एक टोकनी में फूलों के बीच में उसी रात का जन्मा बालक था।

वह उसको उठा ले गया। अपनी स्त्री को दिया। उसने पालन किया। जब वह बड़ा हुआ, तब जुलाहे का काम करताथा। किसी पण्डित के पास संस्कृत पढ़ने के लिये गया। उसने उसका अपमान किया। कहा कि—'हम जुलाहे को नहीं पढ़ाते'। इसी प्रकार कई पण्डितों के पास फिरा, परन्तु किसी ने न पढ़ाया।

तब ऊट-पटांग भाषा बनाकर जुलाहे आदि नीच लोगों को समझाने लगा। तम्बूरे लेकर गाता था, भजन बनाता था। विशेष पण्डित शास्त्र वेदों की निन्दा किया करता था। कुछ मूर्ख लोग उसके जाल में फंस गये। जब मर गया तब लोगों ने उसको सिद्ध बना लिया। जो-जो उसने जीते-जी बनाया था, उसको उसके चेले पढ़ते रहे।

कान को मूंदके जो शब्द सुना जाता है, उसको **'अनहत शब्द'** सिद्धान्त ठहराया। मन की वृत्ति को **'सुरति'** कहते हैं। उसको उस शब्द [के] सुनने में लगाना। उसी को सन्त और परमेश्वर का ध्यान बतलाते हैं। वहां काल नहीं पहुंचता। बर्छी के समान तिलक और

चन्दनादि लकड़े की कंठी बांधते हैं। भला विचार[के]देखो कि इसमें आत्मा की उन्नति और ज्ञान क्या बढ़ सकता है ? यह केवल लड़कों के खेल के समान लीला है।

[नानकपन्थ-खण्डन]

प्रश्न—पंजाब देश में नानकजी ने एक मार्ग चलाया है। क्योंकि वे भी मूर्त्ति का खण्डन करते थे। मुसलमान होने से बचाये। वे साधु[1] भी नहीं हुए, किन्तु गृहस्थ बने रहे। देखो, उन्होंने यह **मन्त्र** उपदेश किया है। इसी से विदित होता है कि उनका आशय अच्छा था—

ओं सत्यनाम कर्त्ता पुरुष निर्भो निर्वैर अकालमूर्त्त अजोनि सहभं गुरुप्रसाद जप। आदि सच, जुगादि सच, है भी सच, नानक होसी भी सच ॥[2]

'**ओ३म्**' जिसका सत्य नाम है, वह कर्त्ता पुरुष, भय और वैर-रहित, अकालमूर्त्ति—जो काल में और जोनि में नहीं आता, प्रकाशमान् है, उसी का जप गुरु की कृपा से कर। वह परमात्मा आदि में सच था, जुगों की आदि में सच, वर्त्तमान में सच, और होगा भी सच।

उत्तर—नानकजी का आशय तो अच्छा था, परन्तु विद्या कुछ भी नहीं थी। हां, भाषा उस देश की, जो कि ग्रामों की है, उसे जानते थे। वेदादिशास्त्र और संस्कृत कुछ भी नहीं जानते थे। जो जानतें होते, तो 'निर्भय' शब्द को 'निर्भो' क्यों लिखते ?

और इसका दृष्टान्त उनका बनाया '**संस्कृती स्तोत्र**' है। चाहते थे कि मैं संस्कृत में भी 'पग अड़ाऊं'। परन्तु विना पढ़े संस्कृत कैसे आ सकता है ? हां, उन ग्रामीणों के सामने, कि जिन्होंने संस्कृत कभी सुना भी नहीं था, संस्कृती बनाकर संस्कृत के भी पण्डित बन गये होंगे।

यह बात अपने मान प्रतिष्ठा और अपनी प्रख्याति की इच्छा के विना कभी न करते। उनको अपनी प्रतिष्ठा की इच्छा

---

१. द्र०—पृ० ५३८, टि० १। २. जपजी, पौड़ी १।

अवश्य थी। नहीं तो जैसी भाषा जानते थे, कहते रहते। और यह भी कह देते कि मैं संस्कृत नहीं पढ़ा। जब कुछ अभिमान था, तो मानप्रतिष्ठा के लिये कुछ दम्भ भी किया होगा?

इसीलिये उनके ग्रन्थ में जहां-तहां वेदों की निन्दा और स्तुति भी है। क्योंकि जो ऐसा न करते, तो उनसे भी कोई वेद का अर्थ पूछता। जब न आता, तब प्रतिष्ठा नष्ट होती। इसलिये पहिले ही अपने शिष्यों के सामने कहीं-कहीं वेदों के विरुद्ध बोलते थे, और कहीं-कहीं वेद के लिये अच्छा भी कहा है। क्योंकि जो कहीं अच्छा न कहते, तो लोग उनको नास्तिक बनाते। जैसे—

वेद पढ़त ब्रह्मा मरे।[1] चारो वेद कहानि।[2]
सन्त कि महिमा वेद न जानी।[3]
[नानक] ब्रह्मज्ञानी आप परमेश्वर ॥[4]

क्या वेद पढ़नेवाले मर गये, और नानकजी आदि अपने को अमर समझते थे? क्या वे नहीं मर गये? वेद तो सब विद्याओं का भण्डार है। परन्तु जो चारों वेदों को कहानी कहे, उसकी सब बातें कहानी हैं।

जो मूर्खों का नाम सन्त होता है, वे बिचारे वेदों की महिमा कभी नहीं जान सकते। जो नानक जी वेदों ही का मान करते, तो उनका सम्प्रदाय न चलता। न वे गुरु बन सकते थे। क्योंकि संस्कृत विद्या तो पढ़े ही नहीं थे, तो दूसरे को पढ़ाकर शिष्य कैसे बना सकते थे?

यह सच है कि जिस समय नानकजी पंजाब में हुए थे, उस समय पंजाब संस्कृतविद्या से सर्वथा रहित, मुसलमानों से पीड़ित

---

१. अप्राप्त। द्र०—वेद पढ़-पढ़ ब्रह्मे जनम गंवाया ॥ आसा १।१०॥

२. अप्राप्त। द्र०—वेद कितेब इफ़तिरा भाई॥ १।१ राग तिलंग। इफ़तिरा=हयाकत=कहानी।

३. द्र०—सुखमनी पौड़ी ७, पद ८ (भेद से)

४. द्र०—सुखमनी पौड़ी ८, पद ६ (भेद से)।

था। उस समय उन्होंने कुछ लोगों को[मुसलमान होने से] बचाया। नानकजी के सामने कुछ उनका सम्प्रदाय वा बहुत से शिष्य नहीं हुए थे। क्योंकि अविद्वानों में यह चाल है कि मेरे पीछे उनको सिद्ध बना लेते हैं। पश्चात् बहुतसा माहात्म्य करके ईश्वर के समान मान लेते हैं।

हां, नानकजी बड़े धनाढच और रईस भी नहीं थे। परन्तु उनके चेलों ने 'नानकचन्द्रोदय' और 'जन्मशाखी' आदि में बड़े सिद्ध और बड़े-बड़े ऐश्वर्यवाले थे, लिखा है। नानकजो ब्रह्मा आदि से मिले, बड़ी बातचीत की। सबने इनका मान्य किया। नानकजी के विवाह में बहुत से घोड़े रथ हाथी, सोने चांदी मोती पन्ना आदि रत्नों से जड़े हुए, और अमूल्य रत्नों का पारावार न था, लिखा है। भला ये गपोड़े नहीं, तो क्या हैं? इसमें इनके चेलों का दोष है, नानकजी का नहीं।

दूसरा—जो उनके पीछे उनके लड़के से **उदासी** चले, और रामदास आदि से **निर्मले**। कितने ही गद्दीवालों ने भाषा बनाकर ग्रन्थ में रक्खी है। अर्थात् इनका गुरु गोविन्दसिंहजी दशमा हुआ। उसके पीछे उस ग्रन्थ में किसी की भाषा नहीं मिलाई गई। किन्तु वहां तक के जितने छोटे-छोटे पुस्तक थे, उन सबको इकट्ठे करके जिल्द बंधवा दी।

इन लोगों ने भी नानकजी के पीछे बहुतसी भाषा बनाई। कितने[1] ही ने नाना प्रकार की पुराणों की मिथ्याकथा के तुल्य बना दिये। परन्तु ब्रह्मज्ञानी आप परमेश्वर बनके उस पर कर्म उपासना छोड़कर इनके शिष्य झुकते आये। इसने बहुत बिगाड़ कर दिया। नहीं[तो]जो नानकजी ने कुछ भक्तिविशेष ईश्वर की लिखी थी, उसे करते आते तो अच्छा था।

अब **उदासी** कहते[2] हैं—'हम बड़े', **निर्मले** कहते हैं—'हम बड़े'।

---

१. सं० २ में यही पाठ है।'कथानक' शब्द का यहां सम्बन्ध जानना चाहिये। अन्य संस्करणों में 'कितनो' पाठ है। २. सं० २ में 'कहाते' अपपाठ है।

अकाली तथा[1] सूतरहसाई[2] कहते हैं कि सर्वोपरि हम हैं।

इनमें गोविन्दसिंहजी शूरवीर हुए। जो मुसलमानों ने उनके पुरुषाओं को बहुतसा दुःख दिया था, उनसे वैर लेना चाहते थे। परन्तु इनके पास कुछ सामग्री न थी। और उधर मुसलमानों की बादशाही प्रज्वलित हो रही थी। इन्होंने एक पुरश्चरण करवाया। प्रसिद्धि की कि—'मुझको देवी ने वर और खड्ग दिया है कि तुम मुसलमानों से लड़ो, तुम्हारा विजय होगा'। बहुत से लोग उनके साथी हो गये।

और उन्होंने, जैसे वाममार्गियों ने 'पंच मकार'; चक्रांकितों ने 'पंच संस्कार' चलाये थे, वैसे '**पंच ककार**' अर्थात् इनके पंच ककार युद्ध के उपयोगी थे।

एक—'केश' अर्थात् जिसके रखने से लड़ाई में लकड़ी और तलवार से कुछ बचावट हो।

दूसरा—'कंगण' जो शिर के ऊपर पगड़ी में अकाली लोग रखते हैं। और हाथ में 'कड़ा' जिससे हाथ और शिर बच सके।

तीसरा—'काछ' अर्थात् जानू के ऊपर एक जांघिया, कि जो दौड़ने और कूदने में अच्छा होता है। बहुत करके अखाड़-मल्ल[3] और नट भी इसको इसीलिये धारण करते हैं कि जिससे शरीर का मर्मस्थान बचा रहै, और अटकाव न हो।

चौथा—'कंगा' कि जिससे केश सुधरते हैं।

पांचवां—'काचू'[4] कि जिससे शत्रु से भेंट-भड़क्का होने से लड़ाई में काम आवे।

इसीलिये यह रीति गोविन्दसिंहजी ने अपनी बुद्धिमत्ता से उस समय के लिये की थी। अब इस समय में उनका रखना कुछ उप-

---

१. सं० २ में 'तथे' अपपाठ है। २. सुथरे शाह के अनुयायी।

३. अर्थात् अखाड़े के मल्ल।

४. काचू=चाकू, अर्थात् कटार।

योगी नहीं है। परन्तु अब, जो युद्ध के प्रयोजन के लिये बातें कर्त्तव्य थीं, उनको धर्म के साथ मान ली हैं।

मूर्त्तिपूजा तो नहीं करते, किन्तु उससे विशेष ग्रन्थ की पूजा करते हैं। क्या यह मूर्त्तिपूजा नहीं है ? किसी जड़ पदार्थ के सामने शिर झुकाना, वा उसकी पूजा करनी, सब 'मूर्त्तिपूजा' है। जैसे मूर्त्ति-[पूजा]वालों ने अपनी दुकान जमाकर जीविका ठाड़ी की है, वैसे इन लोगों ने भी करली है।

जैसे पुजारी लोग मूर्त्ति का दर्शन कराते, भेंट चढ़वाते हैं, वैसे नानकपन्थी लोग ग्रन्थ की पूजा करते-कराते, भेंट भी चढ़वाते हैं। अर्थात् मूर्त्तिपूजावाले जितना वेद का मान्य करते हैं, उतना ये लोग ग्रन्थसाहबवाले नहीं करते।

हां, यह कहा जा सकता है कि इन्होंने वेदों को न सुना न देखा, क्या करें ? जो सुनने और देखने में आवें तो बुद्धिमान् लोग, जो कि हठी-दुराग्रही नहीं हैं, वे सब सम्प्रदायवाले वेदमत में आ जाते हैं। परन्तु इन सबने भोजन का बखेड़ा बहुतसा हठा दिया है। जैसे इसको हठाया, वैसे विषयासक्ति दुरभिमान को भी हठाकर वेदमत की उन्नति करें, तो बहुत अच्छी बात है।

[दादूपन्थी-रामसनेही-मत-खण्डन]

प्रश्न—'**दादूपन्थी**' का मार्ग तो अच्छा है ?

उत्तर—अच्छा तो वेदमार्ग है, जो पकड़ा जाय तो पकड़ो। नहीं तो सदा गोते खाते रहोगे। इनके मत में **दादूजी** का जन्म गुजरात में हुआ था। पुनः जयपुर के पास 'आमेर' में रहते थे। तेली का काम करते थे। ईश्वर की सृष्टि की विचित्र लीला है कि दादूजी भी पुजाने लग गये। अब वेदादिशास्त्रों की[1] सब बातें छोड़कर 'दादूराम-दादूराम' में ही मुक्ति मान ली है। जब सत्योपदेशक नहीं होता, तब ऐसे-ऐसे ही बखेड़े चला करते हैं।

थोड़े दिन हुए कि एक 'रामसनेही' मत शाहपुरा से चला है।

---

१. सं० २ में 'की ही' पाठ है। 'ही' अनावश्यक है।

उन्होंने सब वेदोक्त धर्म को छोड़के 'राम-राम' पुकारना अच्छा माना है। उसीमें ज्ञान ध्यान मुक्ति मानते हैं। परन्तु जब भूख लगती है, तब 'राम-नाम' में से रोटी शाक नहीं निकलता। क्योंकि खानपान आदि तो गृहस्थों के घर ही में मिलते हैं। वे भी मूर्त्तिपूजा को धिक्कारते हैं, परन्तु आप स्वयं मूर्त्ति बन रहे हैं। स्त्रियों के सङ्ग में बहुत रहते हैं। क्योंकि रामजी [को] 'रामकी' के विना आनन्द ही नहीं मिल सकता।

[[1]अब थोड़ा सा विशेष रामसनेही मत के विषय में लिखते हैं—]

एक **'रामचरण'** नामक साधु हुआ है, जिसका मत मुख्यकर 'शाहपुरा' स्थान मेवाड़ से चला है। वे **'राम-राम'** कहने ही को परम मन्त्र और इसी को सिद्धान्त मानते हैं। उनका एक ग्रन्थ, कि जिसमें सन्तदासजी आदि की वाणी हैं, [2][उसमें] ऐसा लिखते हैं—

उनका वचन

भरम रोग तब ही मिट्या, रट्या निरंजन राइ।
तब जम का कागज फट्या, कट्या कर्म तब जाइ॥ साखी ६[3]

अब बुद्धिमान् लोग विचार लेवें कि 'राम-राम' कहने से भ्रम—जो कि अज्ञान है, वा यमराज का पापानुकूल शासन, अथवा किये हुए कर्म कभी छूट सकते हैं, वा नहीं? यह केवल मनुष्यों को पापों में फसाना, और मनुष्यजन्म को नष्ट कर देना है।

अब इनका जो मुख्य गुरु हुआ है— **रामचरण**', उसके वचन—

महमा नांव प्रताप की, सुणौ सरवण चित लाइ।
रामचरण रसना रटौ, क्रम सकल झड़ जाइ॥१॥
जिन-जिन सुमरया नांव कूं, सो सब उतरया पार।
रामचरण जो वीसरया, सो ही जम के द्वार॥२॥

---

१. सं० २ में यह पङ्क्ति नहीं है। स० ३४, ३५ में किस आधार पर रखी गई, पता नहीं।

२. वाक्य के पूर्वभाग में 'जिसमें' पाठ होने से 'उस में' रखना आवश्यक है।

३. सुमरण को अंग १७।

राम बिना सब झूठ बतायो।
राम भजत छूट्या सब कम्मा। चंद अरु सूर देइ परकम्मा॥
राम कहे तिन कूं भै नाहीं। तीन लोक में कीरति गाहीं॥
राम रटत जम जोर न लागै।
राम नाम लिख पथर तराई। भगति हेति औतार ही धरही॥
ऊंच नीच कुछ भेद विचारै। सो तो जनम आपणो हारै॥
संतां के कुल दीसै नाहीं। राम राम कह राम सम्हांहीं॥
ऐसो कुण जो कीरति गावै। हरि हरि जन को पार न पावै॥
राम संतां का अन्त न आवै। आप आपकी बुद्धि सम गावै॥'[1]

इनका खण्डन—प्रथम तो रामचरण आदि के ग्रन्थ देखने से विदित होता है कि यह ग्रामीण एक सादा-सीधा मनुष्य था। न वह कुछ पढ़ा था, नहीं तो ऐसा गपड़चौथ क्यों लिखता? यह केवल इनको भ्रम है कि 'राम-राम' कहने से कर्म छूट जायें। केवल ये अपना और दूसरों का जन्म खोते हैं।

जम का भय तो बड़ा भारी है, परन्तु राजसिपाही चोर डाकू व्याघ्र सर्प बीछू और मच्छर आदि का भय कभी नहीं छूटता। चाहे रात-दिन'राम-राम' किया करे, कुछ भी नहीं होगा।

जैसे 'सक्कर-सक्कर'[2] कहने से मुख मीठा नहीं होता, वैसे सत्य-भाषणादि कर्म किये विना 'राम-राम' कहने से कुछ भी नहीं होगा। और यदि 'राम-राम' करना इनका राम नहीं सुनता, तो जन्मभर कहने से भी नहीं सुनेगा। और जो सुनता है, तो दूसरी बार भी 'राम-राम' कहना व्यर्थ है।

इन लोगों ने अपना पेट भरने और दूसरों का भी जन्म नष्ट करने के लिये एक पाखण्ड खड़ा किया है। सो यह बड़ा आश्चर्य हम सुनते और देखते हैं कि नाम तो धरा 'रामस्नेही' और काम करते हैं **'रांडसनेही'** का। जहां देखो वहां रांड ही रांड सन्तों को घेर रही हैं।

---

१. नाम-प्रताप। २. अर्थात् शक्कर शक्कर।

यदि ऐसे-ऐसे पाखण्ड न चलते, तो आर्य्यावर्त्त देश की दुर्दशा क्यों होती ? ये लोग अपने चेलों को झूठ[न] खिलाते हैं, और स्त्रियां भी लम्बी पड़के दण्डवत् प्रणाम करती हैं। एकान्त में भी स्त्रियों और साधुओं की बैठक होती रहती है।

अब दूसरी इनकी शाखा 'खेड़ापा' ग्राम मारवाड़ देश से चली है। उसका इतिहास—

एक 'रामदास' नामक जाति का ढ़ेढ़ बड़ा चालाक था। उसके दो स्त्रियां थीं। वह प्रथम बहुत दिन तक औघड़ होकर कुत्तों के साथ खाता रहा। पीछे वामी कूण्डापन्थी, पीछे 'रामदेव का कामड़िया'[1] बना। अपनी दोनों स्त्रियों के साथ गाता था।

ऐसे घूमता-घूमता 'सीथल'[2] में ढ़ेढ़ों का गुरु [3]'[हर]रामदास' था, उससे मिला। उसने उसको 'रामदेव' का पन्थ बताके अपना चेला बनाया। उस रामदास ने खेड़ापा ग्राम में जगह बनाई, और इसका इधर मत चला। उधर शाहपुरे में 'रामचरण' का।

उसका भी इतिहास ऐसा सुना है कि वह जयपुर का बनियां था। उसने 'दांतड़ा'[4] ग्राम में एक साधु से वेष लिया, और उसको गुरु किया। और शाहपुरे में आके टिक्की जमाई। भोले मनुष्यों में पाखण्ड की जड़ शीघ्र जम जाती है, जम गई।

इन सब में ऊपर के रामचरण के वचनों के प्रमाण से चेला करके ऊंच-नीच का कुछ भेद नहीं। ब्राह्मण से अन्त्यज-पर्यन्त इनमें चेले बनते हैं। अब भी 'कूण्डापन्थी' से ही हैं। क्योंकि मट्टी के कुण्डों में ही खाते हैं, और साधुओं की झूठ[न] खाते हैं। वेदधर्म से, माता-पिता, संसार के व्यवहार से बहकाकर छुड़ा देते, और चेला बना लेते हैं।

---

१. राजपूताने में 'चमार' लोग भगवें वस्त्र रंगकर 'रामदेव' आदि के गीत, जिनको वे 'शब्द' कहते हैं, चमारों और अन्य जातियों को सुनाते हैं। वे 'कामड़िये' कहलाते हैं ।। समर्थदान

२. 'सीथल' जोधपुर के राज्य में एक बड़ा ग्राम है ।। समर्थदान

३. द्र०—अगला सन्दर्भ।

४. फुलेरा जंकशन के पास इस नाम का रेलवे स्टेशन है।

और 'राम' नाम को 'महामन्त्र' मानते हैं। और इसी को 'छुच्छम'[1] वेद भी कहते हैं। राम-राम कहने से अनन्त जन्मों के पाप छूट जाते हैं। इसके बिना मुक्ति किसी की नहीं होती।

जो श्वास और प्रश्वास के साथ राम-राम कहना बतावे, उसको 'सत्यगुरु' कहते हैं। और सत्यगुरु को परमेश्वर से भी बड़ा मानते हैं, और उसकी मूर्त्ति का ध्यान करते हैं। साधुओं के चरण धोके पीते हैं। जब गुरु से चेला दूर जावे, तो गुरु के नख और डाढ़ी के बाल अपने पास रख लेवे। उसका चरणामृत नित्य लेवे।

रामदास और हररामदास के वाणी के पुस्तक को वेद से अधिक मानते हैं। उस[1] की परिक्रमा और आठ दण्डवत् प्रणाम करते हैं। और जो गुरु समीप हो, तो गुरु को दण्डवत् प्रणाम कर लेते हैं। स्त्री वा पुरुष को 'राम-राम' एकसा ही मन्त्रोपदेश करते हैं। और नामस्मरण ही से कल्याण मानते हैं। पुनः पढ़ने में पाप समझते हैं।

उनकी साखी—

पंडिताई पाने पड़ी, ओ पूरबलो पाप।
राम राम सुमरयां बिनां, रइग्यौ रीतो आप॥
वेद पुराण पढ़े पढ़ गीता। रामभजन बिन रइ गये रीता॥

ऐसे-ऐसे पुस्तक बनाये हैं। स्त्री को पति की सेवा करने में पाप, और गुरु साधु की सेवा में धर्म बतलाते हैं। वर्णाश्रम को नहीं मानते। जो ब्राह्मण 'रामस्नेही' न हो, तो उसको नीच और चांडाल, रामस्नेही हो तो उसको उत्तम जानते हैं।

अब ईश्वर का अवतार नहीं मानते, और रामचरण का वचन जो ऊपर लिख आये कि—'भगति हेति औतार ही धरही' भक्ति और सन्तों के हित अवतार को भी मानते हैं। इत्यादि पाखण्ड प्रपञ्च इनका जितना है, सो सब आर्यावर्त्त देश का अहितकारक हैं। इतने ही से बुद्धिमान् बहुतसा समझ लेंगे।

---

१. छुच्छम अर्थात् सूक्ष्म॥ समर्थदान

[वल्लभ-मत-खण्डन]

प्रश्न—गोकुलिये गुसाइंयों का मत[1] तो बहुत अच्छा है। देखो कैसा ऐश्वर्य भोगते हैं? क्या यह ऐश्वर्य लीला के विना ऐसा हो सकता है?

उत्तर—यह ऐश्वर्य गृहस्थ लोगों का है, गुसाइंयों का कुछ नहीं।

प्रश्न—वाह! वाह! गुसाइयों के प्रताप से है। क्योंकि ऐसा ऐश्वर्य दूसरों को क्यों नहीं मिलता?

उत्तर—दूसरे भी इसी प्रकार का छल-प्रपञ्च रचें, तो ऐश्वर्य मिलने में क्या सन्देह है? और जो इनसे अधिक धूर्त्तता करते, तो अधिक भी ऐश्वर्य हो सकता है।

प्रश्न—वाह जी वाह! इसमें क्या धूर्त्तता है? यह तो सब गोलोक की लीला है।

उत्तर—गोलोक की लीला नहीं, किन्तु गुसाइंयों की लीला है। जो गोलोक [की] लीला है, तो गोलोक भी ऐसा ही होगा?

यह मत 'तैलङ्ग' देश से चला है। क्योंकि एक तैलङ्गी लक्ष्मण-भट्ट नाम[क] ब्राह्मण विवाह कर किसी कारण से माता-पिता और स्त्री को छोड़ काशी में जाके उसने संन्यास ले लिया था। और झूठ बोला था कि मेरा विवाह नहीं हुआ।

दैवयोग से उसके माता पिता और स्त्री ने सुना कि काशी में संन्यासी हो गया है। उसके माता-पिता और स्त्री काशी में पहुंचकर जिसने उसको संन्यास दिया था, उससे कहा कि इस को संन्यासी क्यों किया? देखो, इसकी [यह] युवति स्त्री है।

और स्त्री ने कहा कि—यदि आप मेरे पति को मेरे साथ न करें, तो मुझको भी संन्यास दे दीजिये'। तब तो उसको बुलाके कहा कि—तू बड़ा मिथ्यावादी है। संन्यास छोड़ गृहाश्रम कर। क्योंकि तूने झूठ बोलकर संन्यास लिया। उसने पुनः वैसा ही किया। संन्यास छोड़ उसके साथ हो लिया।

---

१. गोकुलिये गुसाईं अर्थात् वल्लभमत के विषय में ग्रन्थकार-लिखित **'वेदविरुद्धमत-खण्डन'** ग्रन्थ भी देखना चाहिये।

देखो, इस मत का मूल ही झूंठ कपट से जमा। जब तैलङ्ग देश में गये, उसको जाति में किसी ने न लिया। तब वहां से निकलकर घूमने लगे। 'चरणार्गढ़'[1] जो काशी के पास है, उसके समीप चम्पारण्य' नामक जंगल में चले जाते थे।

वहां कोई एक लड़के को जंगल में छोड़, चारों ओर दूर-दूर आगी जला कर चला गया[2] था। क्योंकि छोड़नेवाले ने यह समझा था--'जो आगी ने जलाऊंगा, तो अभी कोई जीव मार डालेगा'। लक्ष्मणभट्ट और उसकी स्त्री ने लड़के को लेकर अपना पुत्र बना लिया। फिर काशी में जा रहे।

जब वह लड़का बड़ा हुआ, तब उसके मा-बाप का शरीर छूट गया। काशी में बाल्यावस्था मे युवावस्था तक कुछ पढ़ता भी रहा। फिर और कहीं जाके एक विष्णुस्वामी के मन्दिर में चेला हो गया। वहां से कभी कुछ खटपट होने से काशी को फिर चला गया, और संन्यास ले लिया।

फिर कोई वैसा ही जाति-वहिष्कृत ब्राह्मण काशी में रहता था। उसकी लड़की युवति थी। उसने इससे कहा कि—'तू संन्यास छोड़ मेरी लड़की से विवाह करले। वैसा ही हुआ। जिसके बाप ने जैसी लीला की थी, वैसी [ही] पुत्र क्यों न करे?

उस स्त्री को लेके वहीं चला गया कि जहां प्रथम विष्णुस्वामी के मन्दिर में चेला हुआ था। विवाह करने से उनको वहां से निकाल दिया।

फिर ब्रजदेश में, कि जहां अविद्या ने घर कर रक्खा है, जाकर अपना प्रपञ्च अनेक प्रकार की छल-युक्तियों से फैलाने लगा। और मिथ्या बातों की प्रसिद्धि करने लगा कि—श्रीकृष्ण मुझको मिले, और कहा कि जो गोलोक से 'दैवी जीव' मर्त्यलोक में आये हैं, उनको ब्रह्मसम्बन्ध आदि से पवित्र करके गोलोक में भेजो।

---

१. चुनार, चुनार गढ़ नाम से प्रसिद्ध।
२. सं० २ में 'न गया' अपपाठ है।

इत्यादि मूर्खों को प्रलोभन की बातें सुनाके थोड़े से लोगों को अर्थात् ८४ चौरासी वैष्णव बनाये। और निम्नलिखित मन्त्र बना लिये, और उनमें भी भेद रक्खा। जैसे—

श्रीकृष्णः शरणं मम ॥१॥

क्लीं कृष्णाय गोपीजनवल्लभाय स्वाहा ॥२॥

ये दोनों साधारण मन्त्र हैं। परन्तु अगला मन्त्र ब्रह्मसम्बन्ध **और समर्पण** कराने का है—

श्रीकृष्णः शरणं मम सहस्रपरिवत्सरमितकालजातकृष्णवियोगजनिततापक्लेशानन्ततिरोभावोऽहं भगवते कृष्णाय देहेन्द्रियप्राणान्तःकरणतद्धर्मांश्च दारागारपुत्राप्तवित्तेहपराण्यात्मना सह समर्पयामि, दासोऽहं कृष्ण तवास्मि ॥

इस मन्त्र का उपदेश करके शिष्य-शिष्याओं को समर्पण कराते हैं।

'क्लीं कृष्णायेति' यह 'क्लीं' तन्त्र ग्रन्थ का है। इससे विदित होता है कि यह वल्लभ मत भी वाममार्गियों का भेद है। इसी से स्त्रीसंग गुसाईं लोग बहुधा करते हैं।

'गोपीवल्लभेति'—क्या कृष्ण गोपियों ही को प्रिय थे, अन्य को नहीं? स्त्रियों को प्रिय वह होता है, जो स्त्रैण अर्थात् स्त्रीभोग में फसा हो। क्या श्रीकृष्णजी ऐसे थे?

अब **'सहस्रपरिवत्सरेति'**—सहस्र वर्षों की गणना व्यर्थ है। क्योंकि वल्लभ और उसके शिष्य कुछ सर्वज्ञ नहीं हैं। क्या कृष्ण का वियोग सहस्रों वर्षों से हुआ? और आजलों अर्थात् जबलों वल्लभ का मत न था, न वल्लभ जन्मा था, उसके पूर्व अपने दैवी जीवों के उद्धार करने को क्यों न आया?

'ताप' और **'क्लेश'** ये दोनों पर्यायवाची हैं। इनमें से एक का ग्रहण करना उचित था, दो का नहीं।

'अनन्त' शब्द का पाठ करना व्यर्थ है। क्योंकि जो अनन्त शब्द रक्खो, तो **'सहस्र'** शब्द का पाठ न रखना चाहिये। और जो **'सहस्र'** शब्द का पाठ रक्खो, तो **'अनन्त'** शब्द का पाठ रखना सर्वथा व्यर्थ

है। और जो अनन्तकाललों 'तिरोहित' अर्थात् आच्छादित रहै, उसकी मुक्ति के लिये वल्लभ का होना भी व्यर्थ है। क्योंकि अनन्त का अन्त नहीं होता।

भला देहेन्द्रिय, प्राणान्तःकरण और उसके धर्म, स्त्री स्थान पुत्र प्राप्तधन का अर्पण कृष्ण को क्यों करना? क्योंकि कृष्ण पूर्णकाम[1] होने से किसी के देहादि की इच्छा नहीं कर सकते। और देहादि का अर्पण करना भी नहीं हो सकता। क्योंकि देह के अर्पण से नखशिखाग्रपर्यन्त 'देह' कहाता है। उसमें जो कुछ अच्छी-बुरी वस्तु हैं, मलमूत्रादि का भी अर्पण कैसे कर सकोगे?

और जो पाप-पुण्यरूप कर्म होते हैं, उनको कृष्णार्पण करने से उनके फलभागी भी कृष्ण ही होवें। अर्थात् नाम तो कृष्ण का लेते हैं, और समर्पण अपने लिये कराते हैं। जो कुछ देह में मल-मूत्रादि हैं, वह भी गोसाईं जी के अर्पण क्यों नहीं होता? क्या **'मीठा मीठा गड़प्प और कड़ुवा-कड़ुवा थू'**?

और यह भी लिखा है कि गोसाईं जी के अर्पण करना, अन्य मत वाले के नहीं। यह सब स्वार्थसिन्धुपन, और पराये धनादि पदार्थ हरने, और वेदोक्त धर्म [के] नाश करने की लीला रची है।

देखो यह वल्लभ का प्रपञ्च—

श्रावणस्यामले पक्षे एकादश्यां महानिशि।
साक्षाद् भगवता प्रोक्तं तदक्षरश उच्यते॥१॥
ब्रह्मसम्बन्धकरणात् सर्वेषां देहजीवयोः।
सर्वदोषनिवृत्तिर्हि दोषाः पञ्चविधाः स्मृताः॥२॥
सहजा देशकालोत्था लोकवेदनिरूपिताः।
संयोगजाः स्पर्शजाश्च न मन्तव्याः कदाचन॥३॥
अन्यथा सर्वदोषाणां न निवृत्तिः कथञ्चन।
असमर्पितवस्तूनां तस्माद्वर्ज्जनमाचरेत्॥४॥

---

१. न मे पार्थास्ति कर्त्तव्यं त्रिषु लोकेषु किंचन।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि॥ गीता ३। २२॥

निवेदिभिः समर्प्यैव सर्वं कुर्यादिति स्थितिः ।
न मतं देवदेवस्य स्वामिभुक्तिसमर्पणम् ॥५॥
तस्मादादौ सर्वकार्ये सर्ववस्तुसमर्पणम् ।
दत्तापहारवचनं तथा च सकलं हरेः ॥६॥
न ग्राह्यमिति वाक्यं हि भिन्नमार्गपरं मतम् ।
सेवकानां यथा लोके व्यवहारः प्रसिध्यति ॥७॥
तथा कार्यं समर्प्यैव सर्वेषां ब्रह्मता ततः ।
गङ्गात्वे गुणदोषाणां गुणदोषादिवर्णनम् ॥८॥

इत्यादि श्लोक गोसाइंयों के 'सिद्धान्तरहस्यादि' ग्रन्थों में लिखे हैं। यही गोसाइंयों के मत का मूल तत्त्व है। भला इनसे कोई पूछे कि श्रीकृष्ण के देहान्त हुए कुछ कम पांच सहस्र वर्ष बीते। वह वल्लभ [से] श्रावण मास की आधी रात को कैसे मिल सके? ॥१॥

'जो गोसाईं का चेला होता है, और उसको सब पदार्थों का समर्पण करता[1] है, उसके शरीर और जीव के सब दोषों की निवृत्ति हो जाती है।' यही वल्लभ का प्रपञ्च मूर्खों को बहकाकर अपने मत में लाने का है। जो गोसाईं के चेले-चेलियों के सब दोष निवृत्त हो जावें, तो रोग-दारिद्र्यादि दुःखों से पीड़ित क्यों रहें? और वे दोष पांच प्रकार के होते हैं—॥२॥

'**एक**—सहज दोष, जो कि स्वाभाविक अर्थात् काम-क्रोधादि से उत्पन्न होते हैं। **दूसरे**—किसी देश काल में नाना प्रकार के पाप किये जायें। **तीसरे**—लोक में जिनको भक्ष्याभक्ष्य कहते, और वेदोक्त जो कि मिथ्याभाषणादि हैं। **चौथे**—संयोगज, जो कि बुरे संग से अर्थात् चोरी, जारी—माता भगिनी कन्या पुत्रवधू गुरुपत्नी आदि से संयोग करना। **पांचवें**—स्पर्शज=अस्पर्शनीयों को स्पर्श करना। इन पांच दोषों को गोसाईं लोगों के मत वाले कभी न मानें, अर्थात् यथेष्टाचार करें' ॥३॥

'अन्य कोई प्रकार दोषों की निवृत्ति के लिये नहीं है, विना

१. सं० २ में 'कर्त्ता' अपपाठ है।

गोसाईंजी के मत के। इसलिये विना समर्पण किये पदार्थ को गोसाईंजी के चेले न भोगें'। इसीलिये इनके चेले अपनी स्त्री कन्या पुत्रवधू और धनादि पदार्थों को भी समर्पित करते हैं। परन्तु समर्पण का नियम यह है कि जबलों गोसाईंजी की चरणसेवा में समर्पित न होवे, तबलों उसका स्वामी स्वस्त्री को स्पर्श न करे ॥४॥

'इससे गोसाइयों के चेले समर्पण करके पश्चात् अपने-अपने पदार्थ का भोग करें। क्योंकि स्वामी के भोग करे पश्चात् समर्पण नहीं हो सकता' ॥५॥

'इससे प्रथम सब कामों में सब वस्तुओं का समर्पण करें। प्रथम गोसाईंजी को भार्यादि समर्पण करके पश्चात् ग्रहण करें। वैसे ही हरि को[1] सम्पूर्ण पदार्थ समर्पण करके ग्रहण करें' ॥६॥

'गोसाईंजी के मत से भिन्न मार्ग के वाक्यमात्र को भी गोसाइंयों के चेला-चेली कभी न सुनें न ग्रहण करें। यही उनके शिष्यों का व्यवहार प्रसिद्ध है[2] ॥७॥'

'वैसे ही सब वस्तुओं का समर्पण करके सबके बीच में ब्रह्मबुद्धि करे। उसके पश्चात् जैसे गंगा में अन्य जल मिलकर गंगारूप हो जाते हैं, वैसे ही अपने मत में गुण और दूसरे के मत में दोष हैं। इसलिये अपने मत में गुणों का वर्णन किया करें ॥८।'

अब देखिये, गोसाइंयों का मत सब मतों से अधिक अपना प्रयोजन सिद्ध करनेहारा है। भला, इन गोसाइंयों को कोई पूछे कि ब्रह्म का एक लक्षण भी तुम नहीं जानते, तो शिष्य-शिष्याओं को ब्रह्मसम्बन्ध कैसे करा सकोगे? जो कहो कि हम ही ब्रह्म हैं, हमारे साथ सम्बन्ध होने से [ब्रह्म]सम्बन्ध हो जाता है, सो तुममें ब्रह्म के गुण-कर्म-स्वभाव एक भी नहीं हैं। पुनः क्या तुम केवल भोगविलास के लिये ब्रह्म बन बैठे हो?

---

१. सं० २ में 'के' अपपाठ है।

२. 'यही······प्रसिद्ध है' यह भावमात्र है। शब्दार्थ—'जैसे लोक में सेवकों का व्यवहार प्रसिद्ध है, अर्थात् वे अपने स्वामी का कहा मानते हैं अन्य का नहीं, उसी प्रकार अन्य मतपरक वचन नहीं सुनना चाहिये।'

भला शिष्य और शिष्याओं को तो तुम अपने साथ समर्पित करके शुद्ध करते हो, परन्तु तुम और तुम्हारी स्त्री कन्या तथा पुत्रवधू आदि असमर्पित रह जाने से अशुद्ध रह गये वा नहीं ? और तुम असमर्पित वस्तु को अशुद्ध मानते हो, पुनः उनसे उत्पन्न हुए तुम लोग अशुद्ध क्यों नहीं ?

इसलिये तुमको भी उचित है कि अपनी स्त्री कन्या तथा पुत्रवधू आदि को अन्य मत वालों के साथ समर्पित कराया करो। जो कहो कि नहीं-नहीं, तो तुम भी अन्य स्त्री पुरुष तथा धनादि पदार्थों को समर्पित करना-कराना छोड़ देओ।

भला अबलों जो हुआ सो हुआ, परन्तु अब तो अपनी मिथ्या-प्रपञ्चादि बुराइयों को छोड़ो। और सुन्दर ईश्वरोक्त वेदविहित सुपथ में आकर अपने मनुष्यरूपी जन्म को सफल कर धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष इस चतुष्टय फल को प्राप्त होकर आनन्द भोगो।

और देखिये, ये गोसाईं लोग अपने सम्प्रदाय को 'पुष्टिमार्ग' कहते हैं। अर्थात् खानें-पीने पुष्ट होने और सब स्त्रियों के सग यथेष्ट भोगविलास करने को **'पुष्टिमार्ग'** कहते हैं। परन्तु इनसे पूछना चाहिये कि जब बड़े दुःखदायी भगन्दरादि रोगग्रस्त होकर ऐसे झीक-झीक मरते हैं कि जिसको ये ही जानते होंगे।

सच पूछो तो **'पुष्टिमार्ग'** नहीं, किन्तु **'कुष्ठिमार्ग'** है। जैसे कुष्ठी के शरीर की सब धातु पिघल-पिघलके निकल जाती हैं, और विलाप करता हुआ शरीर छोड़ता है, ऐसी ही लीला इनकी भी देखने में आती है। इसलिये 'नरकमार्ग' भी इसीको कहना संघटित हो सकता है। क्योंकि दुःख का नाम 'नरक' और सुख का नाम **'स्वर्ग'** है।

इसी प्रकार मिथ्या जाल रचके बिचारे भोले-भाले मनुष्यों को जाल में फसाया। और अपने आपको श्रीकृष्ण मानकर सबके स्वामी बनते हैं। यह कहते हैं कि—'जितने दैवी जीव गोलोक से यहां आये हैं, उनके उद्धार करने के लिये हम लीला पुरुषोत्तम जन्मे हैं। जब

लों हमारा उपदेश न ले तबलों गोलोक की प्राप्ति नहीं होती। वहां एक श्रीकृष्ण पुरुष और सब स्त्रियां हैं।'

वाह जी वाह ! भला तुम्हारा मत है !! गोसाइंयों के जितने चेले हैं, वे सब गोपियां बन जावेंगी। अब विचारिये, भला जिस पुरुष के दो स्त्री होती हैं, उसकी बड़ी दुर्दशा हो जाती है। तो जहां एक पुरुष और करोड़ों स्त्री एक के पीछे लगी हैं, उसके दुःख का क्या पारावार है ?

जो कहो कि श्रीकृष्ण में बड़ा भारी सामर्थ्य है, सबको प्रसन्न करते हैं। तो जो उसकी स्त्री, जिसको स्वामिनीजी कहते हैं, उसमें भी श्रीकृष्ण के समान सामार्थ्य होगा ? क्योंकि वह उनकी अर्धाङ्गी है। जैसे यहां स्त्री-पुरुष की कामचेष्टा तुल्य अथवा पुरुष से स्त्री की अधिक होती है, तो गोलोक में क्यों नहीं ?

जो ऐसा है, तो अन्य स्त्रियों के साथ स्वामिनी जी की अत्यन्त लड़ाई बखेड़ा मचता होगा। क्योंकि सपत्नीभाव बहुत बुरा होता है। पुनः गोलोक स्वर्ग के बदले[1] नरकवत् हो गया होगा। अथवा जैसे बहुत स्त्रीगामी पुरुष भगन्दरादि रोगों से पीड़ित रहते हैं, वैसा ही गोलोक में भी होगा। छि ! छि !! छि !!! ऐसे गोलोक से मर्त्य-लोक ही बिचारा भला है।

देखो, जैसे यहां गोसाईं जी अपने को श्रीकृष्ण मानते हैं, और बहुत स्त्रियो के साथ लीला करने से भगन्दर तथा प्रमेहादि रोगों से पीड़ित होकर महादुःख भोगते हैं। अब कहिये, जिनका स्वरूप गोसाईं पीड़ित होता है, तो गोलोक का स्वामी श्रीकृष्ण इन रोगों से पीड़ित क्यों न होगा ? और नहीं है, तो उनका स्वरूप गोसाईंजी पीड़ित क्यों होते हैं ?

प्रश्न—मर्त्यलोक में लीलावतार धारण करने से रोग-दोष होता है, गोलोक में नहीं। क्योंकि वहां रोग-दोष ही नहीं है।

---

१. यही मूलपाठ है। सं० २ में समर्थदान ने 'स्वर्ग की अपेक्षा' पाठ बनाया है। यहां मूलपाठ ही अधिक सुन्दर है।

उत्तर—'भोगे रोगभयम्'[1] जहां भोग है, वहां रोग अवश्य होता है। और श्रीकृष्ण के क्रोड़ानुक्रोड़ स्त्रियों से सन्तान होते हैं, वा नहीं? और जो होते हैं तो लड़के-लड़के होते हैं वा लड़की-लड़की ? अथवा दोनों ?

जो कहो कि लड़कियां ही लड़कियां होती हैं, तो उनका विवाह किनके साथ होता होगा ? क्योंकि वहां विना श्रीकृष्ण के दूसरा कोई पुरुष नहीं। जो दूसरा है, तो तुम्हारी प्रतिज्ञाहानि हुई।

जो कहो लड़के ही लड़के होते हैं, तो भी यही दोष आन पड़ेगा कि उनका विवाह कहां और किनके साथ होता है ? अथवा घर के घर ही में गटपट कर लेते हैं ? अथवा अन्य किसी की लड़कियां वा लड़के हैं? तो भी तुम्हारी प्रतिज्ञा—'गोलोक में एक ही श्रीकृष्ण पुरुष' नष्ट हो जायगी।

और जो कहो कि संतान होते ही नहीं, तो श्रीकृष्ण में नपुंसकत्व और स्त्रियों में बन्ध्यापन [का] दोष आवेगा। भला यह गोलोक क्या हुआ, जानो दिल्ली के बादशाह की बीबियों की सेना हुई !!

अब जो गोसाईं लोग शिष्य और शिष्याओं का तन-मन तथा धन अपने अर्पण करा लेते हैं। सो भी ठीक नहीं। क्योंकि तन तो विवाह-समय में स्त्री और पति के [2]समर्पण हो जाता है। पुनः मन भी दूसरे के समर्पण नहीं हो सकता। क्योंकि मन ही के साथ तन का भी समर्पण करना बन सकता [है]। और जो करें, तो व्यभिचारी कहावेंगे।

अब रहा धन, उसकी [भी] यही लीला समझो। अर्थात् मन के विना कुछ भी अर्पण नहीं हो सकता। इन गोसाइंयों का अभिप्राय यह है कि कमावें तो चेला और आनन्द करें हम।

जितने वल्लभ सम्प्रदायी गोसाईं लोग हैं, वे अबलों तैलंगी जाति में नहीं हैं। और जो कोई इनको भूले-भटके लड़की देता है,

---

१. भर्तृहरि, वैराग्यशतक ३२। २. अर्थात् स्त्री का शरीर पति के, और पति का शरीर स्त्री के समर्पणहो जाता है।

वह भी जातिबाह्य होकर भ्रष्ट[1] हो जाता है। क्योंकि ये जाति से पतित किये गये, और विद्याहीन रात-दिन प्रमाद में रहते हैं।

और देखिये, जब कोई गोसाईंजी की पधरावनी करता है, तब उसके घर पर जा चुपचाप काठ की पुतली के समान बैठा रहता है, न कुछ बोलता न चालता। बिचारा बोले तो तब जो मूर्ख न होवे। 'मूर्खाणां बलं मौनम्'[2] क्योंकि मूर्खों का बल मौन है। जो बोले तो उसकी पोल निकल जाय।

परन्तु स्त्रियों की ओर खूब ध्यान लगाके ताकता रहता है। और जिसकी ओर गुसाईंजी देखें, तो जानो बड़े ही भाग्य की बात है। और उसका पति भाई-बन्धु माता-पिता बड़े प्रसन्न होते हैं। वहां सब स्त्रियां गोसाईंजी के पग छूती हैं। जिस पर गोसाईंजी का मन लगे वा कृपा हो, उसकी अंगुली पैर से दबा देते हैं। वह स्त्री और उसके पति आदि अपना धन्यभाग्य समझते हैं। और उस स्त्री के[3] पति आदि सब उससे कहते हैं कि—'तू गोसाईंजी की चरण-सेवा में जा'।

और जहां-कहीं उसके पति आदि प्रसन्न नहीं होते, वहां दूती और कुटनियों से काम सिद्ध करा लेते हैं। सच पूंछो तो ऐसे काम करनेवाले उनके मन्दिरों में और उनके समीप बहुत से रहा करते हैं।

अब इनकी दक्षिणा की लीला, अर्थात् इस प्रकार मांगते हैं—लाओ भेंट गोसाईंजी की, बहूजी की, लालजी की, बेटीजी की, मुखियाजी की, बाहरियाजी की, गवैयाजी की, और ठाकुरजी की। इन सात[4] दुकानों से यथेष्ट माल मारते हैं।

जब कोई गोसाईंजी का सेवक मरने लगता है, तब उस की छाती में पग गोसाईंजी धरते हैं, और जो कुछ मिलता है, उसको गोसाईंजी 'गड़क्क' कर जाते हैं। क्या यह काम महाब्राह्मण और

---

१. सं० २ में 'भृष्ट' पाठ है। २. सुभाषित वचन, अप्राप्तमूल।
३. सं० २ में 'से' पाठ है।
४. पूर्वोक्त लोगों की संख्या 'आठ' है। अतः यहां 'आठ' पाठ होना चाहिये। गोसाईंजी को गणना में छोड़ दें, तो सात पाठ ठीक है।

कंठिया वा मुर्दावली के समान नहीं है ?

कोई-कोई चेला विवाह में गोसाईंजी को बुलाकर उन्हींसे लड़के लड़की का पाणिग्रहण कराते हैं । और कोई-कोई सेवक* जब केशरिया स्नान, अर्थात् गोसाईंजी के शरीर पर स्त्रीलोग केशर का उबटना करके फिर एक बड़े पात्र में पट्टा रखके गोसाईंजी को स्त्री पुरुष मिलके स्नान कराते हैं। परन्तु विशेष स्त्रीजन स्नान कराती हैं।

पुनः जब गोसाईंजी पीताम्बर पहिर और खड़ाऊं पर चढ़ बाहर निकल आते हैं, और धोती उसी में पटक देते हैं । फिर उस जल का आचमन उसके सेवक करते हैं । और अच्छे मसाला धरके पानबीड़ी गोसाईंजी को देते हैं । वह चाबकर कुछ निगल जाते हैं, शेष एक चांदी के कटोरे में, जिसको उनका सेवक मुख के आगे कर देता है, उसमें पीक उगल देते हैं । उसकी भी प्रसादी बटती है, जिसको **'खास प्रसादी'** कहते हैं ।

अब विचारिये कि ये लोग किस प्रकार के मनुष्य हैं ? जो मूढ़-पन और अनाचार होगा, तो इतना ही होगा ? बहुत से समर्पण लेते हैं । उनमें से कितने ही वैष्णवों के हाथ का खाते हैं, अन्य का नहीं । कितने ही वैष्णवों के हाथ का भी नहीं खाते । लकड़ेलों[1] धो लेते हैं, परन्तु आटा गुड़ चीनी घी आदि धोये विना उनका अस्पर्श[2] बिगड़ जाता है । क्या करें बिचारे ? जो इनको धोवें, तो पदार्थ ही हाथ से खो बैठें ।

वे कहते हैं कि हम ठाकुरजी के रङ्ग राग भोग में बहुतसा धन लगा देते हैं । परन्तु वे रङ्ग राग भोग आप ही करते हैं । और सच पूंछो तो बड़े-बड़े अनर्थ होते हैं । अर्थात् होली के समय पिचकारियां भरकर स्त्रियों के अस्पर्शनीय अवयव अर्थात् जो गुप्त स्थान हैं उन पर मारते हैं । और रसविक्रय [जो]ब्राह्मण के लिये निषिद्ध कर्म[3] है

---

१. अर्थात् लकड़ियों तक ।   २. अर्थात् विना धोये स्पर्श न करना ।

३. ब्राह्मण के लिये आपत्काल में वैश्यवृत्ति=व्यापार से जीने का विधान मनु० १०।८३ में किया है । इसी प्रसंग (१०।८६) में रसविक्रय का निषेध भी किया है ।   *यहां कुछ पाठ त्रुटित प्रतीत होता है ।

उसको भी करते हैं।

प्रश्न—गुसाईंजी रोटी दाल कढ़ी भात शाक और मठरी तथा लड्डू आदि को प्रत्यक्ष हाट में बैठके तो नहीं बेचते, किन्तु अपने नौकरों-चाकरों को पत्तलें बांट देते हैं। वे लोग बेचते हैं, गुसाईंजी नहीं।

उत्तर—जो गुसाईंजी उनको मासिक रुपये देवें, तो वे पत्तलें क्यों लेवें? गुसाईंजी अपने नौकरों के हाथ दाल भात आदि नौकरी के बदले में बेच देते हैं। वे ले जाकर हाट-बाजार में बेचते हैं। जो गुसाईंजी स्वयं बाहर बेचते, तो नौकर जो ब्राह्मणादि हैं, वे तो रस-विक्रय दोष से बच जाते। और अकेले गुसाईंजी ही रसविक्रयरूपी पाप के भागी होते।

प्रथम तो इस पाप में आप डूबे, फिर औरों को भी समेटा। और कहीं-कहीं 'नाथद्वारा' आदि में गोसाईंजी भी बेचते हैं। रस-विक्रय करना नीचों का काम है, उत्तमों का नहीं। ऐसे-ऐसे लोगों ने इस आर्यावर्त्त की अधोगति कर दी।

[स्वामिनारायण-मत-खण्डन]

प्रश्न—स्वामी नारायण का मत[1] कैसा है?

उत्तर—'यादृशी शीतला देवी तादृशो वाहनः खरः'। जैसी गुसाईंजी की धनहरणादि में विचित्र लीला है, वैसी ही स्वामी नारायण की भी है।

देखिये, एक '**सहजानन्द**' नामक अयोध्या के समीप एक ग्राम का जन्मा हुआ था। वह ब्रह्मचारी होकर गुजरात, काठियावाड़, कच्छभुज आदि देशों में फिरता था। उसने देखा कि यह देश मूर्ख और भोला-भाला है। चाहै जैसे इनको अपने मत में झुकालें, वैसे ही ये लोग झुक सकते हैं।

वहां उसने दो-चार शिष्य बनाये। उनने[2] आपस में सम्मति कर

---

१. इस मत के विषय में ग्रन्थकारलिखित 'शिक्षापत्रीध्वान्तनिवारण' ग्रन्थ भी देखना चाहिये। २. अर्थात् उन्होंने।

प्रसिद्ध किया कि सहजानन्द नारायण का अवतार और बड़ा सिद्ध है। और भक्तों को चतुर्भुज मूर्त्ति धारण कर साक्षात् दर्शन भी देता है।

एक वार काठियावाड़ में किसी काठी अर्थात् जिसका नाम 'दादाखाचर' गढड़े[1] का भूमिया (=जिमींदार) था, उसको शिष्यों ने कहा कि तुम चतुर्भुज नारायण का दर्शन करना चाहो, तो हम सहजानन्द जी से प्रार्थना करें। उसनें कहा बहुत अच्छी बात है।

वह भोला आदमी था। एक कोठरी में सहजानन्द [ने] शिर पर मुकुट धारण कर, और शंख चक्र अपने हाथ में ऊपर को धारण किया। और एक दूसरा आदमी उसके पीछे खड़ा रहकर गदा पद्म अपने हाथ में लेकर सहजानन्द की बगल में से आगे को हाथ निकाल चतुर्भुज के तुल्य बन-ठन गये।

दादाखाचर से उनके चेलों ने कहा कि एक वार आंख उठा देखके फिर आंख मीच लेना, और झट इधर को चले आना। जो बहुत देखोगे, तो नारायण कोप करेंगे। अर्थात् चेलों के मन में तो यह था, कि हमारे कपट की परीक्षा न कर लेवे? उसको ले गये।

वह सहजानन्द कलावत्तू और चिलकते हुए रेशमी कपड़े धारण कर रहा था,[2] अंधेरी कोठड़ी में खड़ा था। उसके चेलों ने एकसाथ लालटेन से कोठरी के ओर उजाला किया। दादाखाचर ने देखा, तो चतुर्भुज मूर्त्ति दीखी। फिर झट दीपक को आड़ में कर दिया। वे सब नीचे गिर, नमस्कार कर दूसरी ओर चले आये।

और उसी समय बीच में बातें कीं कि तुम्हारा धन्य भाग्य है। अब तुम महाराज के चेले हो जाओ। उसने कहा बहुत अछी बात। जबलों फिरके दूसरे स्थान में गये, तबलों दूसरे वस्त्र धारण करके सहजानन्द गद्दी पर बैठा मिला। तब चेलों ने कहा कि देखो, अब दूसरा स्वरूप धारण करके यहां विराजमान हैं।

---

१. अर्थात् छोटा किला या पहाड़ी भूमि।
२. अर्थात् किये हुए।

वह 'दादाखाचर' इनके जाल में फस गया। वहीं से उनके मत की जड़ जमी। क्योंकि वह एक बड़ा भूमिया था। वहीं अपनी जड़ जमा ली। पुनः इधर-उधर घूमता रहा। सबको उपदेश करता था, बहुतों को साधु[1] भी बनाता था।

कभी-कभी किसी साधु[1] की कण्ठ की नाड़ी को मलकर मूर्छित भी कर देता था, और सबसे कहता था कि हमने इनको समाधि चढ़ा दी है। ऐसी-ऐसी धूर्त्तता में काठियावाड़ के भोले-भाले लोग उसके पेच में फस गये। जब वह मर गया, तब उसके चेलों ने बहुतसा पाखण्ड फैलाया।

[नकटों का दृष्टान्त]

इसमें यह दृष्टान्त उचित होगा कि—'जैसे कोई एक चोरी करता पकड़ा गया था। न्यायाधीश ने उसको नाक काट डालने का दण्ड किया। जब उसकी नाक काटी गई, तब वह धूर्त्त नाचने-गाने और हंसने लगा। लोगों ने पूंछा कि—तू क्यों हंसता है'? उसने कहा—'कुछ कहने की बात नहीं है'। लोगों ने पूंछा—'ऐसी कौनसी बात है'? उसने कहा बड़ी भारी आश्चर्य की बात है, हमने ऐसी कभी नहीं देखी।

लोगों ने कहा—'कहो क्या बात है'? उसने कहा कि—'मेरे सामने साक्षात् चतुर्भुज नारायण खड़े हैं। मैं देखकर बड़ा प्रसन्न होकर नाचता-गाता अपने भाग्य को धन्यवाद देता हूं कि मैं नारायण का साक्षात् दर्शन कर रहा हूं'। लोगों ने कहा—'हमको दर्शन क्यों नहीं होता'? वह बोला—'नाक की आड़ हो रही है। जो नाक कटवा डालो, तो नारायण दीखे, नहीं तो नहीं'।

उनमें से किसी मूर्ख ने चाहा कि नाक जाय तो जाय, परन्तु नारायण का दर्शन अवश्य करना चाहिए। उसने कहा कि—'मेरी भी नाक काटो, नारायण को दिखलाओ'। उसने उसकी नाक काटकर कान में कहा कि—'तू भी ऐसा ही कर, नहीं तो मेरा और तेरा उपहास होगा'।

---

१. सं० २ में साधू अपपाठ है। आगे इस सम्बन्ध में टिप्पणी नहीं देंगे।

उसने भी समझा कि अब नाक तो आती नहीं, इसलिये ऐसा ही कहना ठीक है। तब तो वह भी वहां उसी के समान नाचने-कूदने गाने-बजाने हंसने और कहने लगा कि–'मुझको भी नारायण दीखता है'।

वैसे होते-होते एक सहस्र मनुष्यों का झुण्ड हो गया, और बड़ा कोलाहल मचा। और अपने सम्प्रदाय का नाम 'नारायणदर्शी' रक्खा। किसी मूर्ख राजा ने सुना, उनको बुलाया। जब राजा उनके पास गया, तब तो वे बहुत कुछ नाचने-कूदने हंसने लगे। तब राजा ने पूंछा कि यह क्या बात है? उन्होंने कहा कि साक्षात् नारायण हमको दीखता है।

राजा—'हमको क्यों नहीं दीखता ?

नारायणदर्शी—जब तक नाक है, तब तक नहीं दीखेगा। और जब नाक कटवा लोगे, तब नारायण प्रत्यक्ष दीखेंगे'।

उस राजा ने विचारा कि यह बात ठीक है। राजा ने कहा—'ज्योतिषीजी मुहूर्त्त देखिये'। ज्योतिषीजी ने उत्तर दिया—'जो हुक्म अन्नदाता'। दशमी के दिन प्रातःकाल आठ बजे नाक कटवाने और नारायण के दर्शन करने का बड़ा अच्छा मुहूर्त्त है।

वाहरे पोपजी! अपनी पोथी में नाक काटने-कटवाने का भी मुहूर्त्त लिख दिया। जब राजा की इच्छा हुई, और उन सहस्र नकटों के सीधे[1] बांध दिये, तब तो वे बड़े ही प्रसन्न होकर नाचने-कूदने और गाने लगे। यह बात राजा के दीवान आदि कुछ-कुछ बुद्धिवालों को अच्छी न लगी।

राजा के एक चार पीढ़ी का बूढ़ा ९० वर्ष का दीवान था। उसको जाकर उसके परपोते ने, जो कि उस समय दीवान था, वह बात सुनाई। तब उस वृद्ध ने कहा कि–'वे धूर्त्त हैं। तू मुझको राजा के पास ले चल'। वह ले गया। बैठते समय राजा ने बड़े हर्षित होके उन नाककटों की बातें सुनाईं। दीवान ने कहा कि—'सुनिये महा-

१. अर्थात् भोजन के लिये आटा दाल आदि का प्रबन्ध कर दिया।

राज ! ऐसी शीघ्रता न करनी चाहिये। बिना परीक्षा किये [कार्य करने से] पश्चात्ताप होता है।

राजा—क्या ये सहस्र पुरुष झूंठ बोलते होंगे?

दीवान—झूठ बोलो वा सच, बिना परीक्षा के सच झूठ कैसे कह सकते हैं?

राजा—परीक्षा किस प्रकार करनी चाहिये?

दीवान—विद्या, सृष्टिक्रम, प्रत्यक्षादि प्रमाणों से।

राजा—जो पढ़ा न हो, वह परीक्षा कैसे करे?

दीवान—विद्वानों के सङ्ग से ज्ञान की वृद्धि करके।

राजा—जो विद्वान् न मिले तो?

दीवान—पुरुषार्थी को कोई बात दुर्लभ नहीं है।

राजा—तो आप ही कहिये, कैसा किया जाय?

दीवान—मैं बुड्ढा और घर में बैठा रहता हूं, और अब थोड़े दिन जीऊंगा भी। इसलिये प्रथम परीक्षा मैं कर लेऊं, तत्पश्चात् जैसा उचित समझें, वैसा कीजियेगा।

राजा—बहुत अच्छी बात है।

ज्योतिषीजी ! दीवान [जी] के लिये मुहूर्त्त देखो।

ज्योतिषी—जो महाराज की आज्ञा। यही शुक्ल पञ्चमी १० बजे का मुहूर्त्त अच्छा है।

जब पञ्चमी आई, तब राजाजी के पास [जाके] आठ बजे बुड्ढे दीवान जी ने राजाजी से कहा कि—'सहस्र दो सहस्र सेना लेके चलना चाहिये'।

राजा—वहां सेना का क्या काम है?

दीवान—आपको राजव्यवस्था की जानकारी नहीं है। जैसा मैं कहता हूं, वैसा कीजिये।

राजा—अच्छा, जाओ भाई। सेना को तैयार करो।

साढे नौ बजे सवारी करके राजा सबको लेकर गया। उनको देखकर वे नाचने और गाने लगे। जाकर बैठे। उनके महन्त, जिसने

यह सम्प्रदाय चलाया था, जिसकी प्रथम नाक कटी थी, उसको बुलाकर [राजा ने] कहा कि—'आज हमारे दीवानजी को नारायण का दर्शन कराओ'। उसने कहा—'अच्छा'।

दश बजे का समय जब आया, तब एक[1] थाली मनुष्य ने नाक के नीचे पकड़ रक्खी। उसने पैना चक्कू ले नाक काट थाली में डाल दी। और दीवानजी की नाक से रुधिर की धार छूटने लगी। दीवान जी का मुख मलिन पड़ गया।

फिर उस धूर्त्त ने दीवानजी के कान में मन्त्रोपदेश किया कि—'आप भी हंसकर सबसे कहिये कि मुझको नारायण दीखता है। अब नाक कटी हुई नहीं आवेगी। जो ऐसा न कहोगे, तो तुम्हारा बड़ा ठट्ठा होगा, सब लोग हंसी करेंगे। वह इतना कह अलग हुआ। और दीवानजी ने अङ्गोछा हाथ में ले नाक की आड़ में लगा दिया।

जब दीवानजी से राजा ने पूंछा—'कहिये, नारायण दीखता है, वा नहीं'? दीवानजी ने राजा के कान में कहा कि कुछ भी नहीं दीखता। वृथा इस धूर्त्त ने सहस्रों[2] मनुष्यों को खराब[3] किया। राजा ने दीवान से कहा कि—'अब क्या करना चाहिये'?

दीवान ने कहा—'इनको पकड़के कठिन दण्ड देना चाहिये। जबलों जीवें तबलों बन्दीघर में रखना चाहिये। और इस दुष्ट को कि जिसने इन सबको बिगाड़ा है, गधे पर चढ़ा बड़ी दुर्दशा के साथ मारना चाहिये'।

जब राजा और दीवान कान में बातें करने लगे, तब उन्होंने डरके भागने की तैयारी की। परन्तु चारों ओर फौज ने घेरा दे रक्खा था, न भाग सके। राजा ने आज्ञा दी कि—'सबको पकड़ बेड़ियां डाल दो। और इस दुष्ट का काला मुख कर गधे पर चढ़ा, इसके कण्ठ में फटे जूतों का हार पहिना सर्वत्र घुमा, छोकरों से धूड़[4] राख

---

१. यहां 'एक मनुष्य ने थाली' ऐसा सम्बन्ध जानना चाहिये।

२. यहां 'सहस्र' पाठ अधिक उपयुक्त है। पहले 'सहस्र' पाठ ही है। अथवा केवल बहुत्व दर्शाने के लिये बहुवचन का प्रयोग जानना चाहिये।

३. यह मूलपाठ है। समर्थदान ने 'भ्रष्ट' पाठ बनाया। ४. अर्थात् धूल।

इस पर डलवा, चौक-चौक में जूतों से पिटवा, कुत्तों से लुंचवा, मरवा डाला जावे। जो ऐसा न होवे, तो पुनः दूसरे भी ऐसा काम करते न डरेंगे'।

जब ऐसा हुआ, तब नाककटे का सम्प्रदाय बन्द हुआ। इसी प्रकार सब वेदविरोधी दूसरों का धन हरने में बड़े चतुर हैं। यह सम्प्रदायों की लीला है।

ये स्वामी नारायण मत वाले धनहरे छल-कपटयुक्त काम करते हैं। कितने ही मूर्खों के बहकाने के लिये मरते समय कहते हैं कि सफेद घोड़े पर बैठ सहजानन्द जी मुक्ति को ले जाने के लिये आये हैं। और नित्य इस मन्दिर में एक बार आया करते हैं।

जब मेला होता है, तब मन्दिर के भीतर पुजारी रहते हैं, और नीचे दुकान लगा रक्खी है। मन्दिर में से दुकान में जाने का छिद्र रखते हैं। जो किसी ने नारियल चढ़ाया, वही दुकान में [उस छिद्र द्वारा] फेंक दिया। अर्थात् इसी प्रकार एक नारियल दिन में सहस्र वार बिकता है। ऐसे ही सब पदार्थों को बेचते हैं।

जिस जाति का साधु हो, उनसे वैसा ही काम कराते हैं। जैसे नापित हो उससे नापित का, कुह्मार से कुह्मार का, शिल्पी से शिल्पी का, बनिये से बनिये का, और शूद्र से शूद्रादि का काम लेते हैं।

अपने चेलों पर एक कर (=टिक्कस) बांध रखा है। लाखों करोड़ों रुपये ठगके एकत्र कर लिये हैं, और करते जाते हैं। जो गद्दी पर बैठता है, वह गृहस्थ=विवाह करता है, आभूषणादि पहिनता है। जहां कहीं पधरावनी होती है, वहां गोकुलिये के समान गुसाईंजी बहूजी आदि के नाम से भेंट-पूजा लेते हैं।

अपने को **'सत्सङ्गी'** और दूसरे मत वालों को **'कुसङ्गी'** कहते हैं। अपने सिवाय दूसरा कैसा ही उत्तम धार्मिक विद्वान् पुरुष क्यों न हो, परन्तु उसका मान्य और सेवा कभी नहीं करते। क्योंकि अन्य मतस्थ की सेवा करने में पाप गिनते हैं। प्रसिद्धि में उनके साधु स्त्री-जनों का मुख नहीं देखते, परन्तु गुप्त न जाने क्या लीला होती

होगी ? इसकी प्रसिद्धि[1] सर्वत्र न्यून हुई है। कहीं-कहीं साधुओं की[2] परस्त्रीगमनादि लीला प्रसिद्ध हो गई है।

और उनमें जो-जो बड़े-बड़े हैं, वे जब मरते हैं, तब उनको गुप्त कुवे में फेंक देकर प्रसिद्ध करते हैं कि अमुक महाराज सदेह वैकुण्ठ में गये। सहजानन्दजी आके ले गये। हमने बहुत प्रार्थना करी कि—'महाराज इनको न ले जाइये, क्योंकि इस महात्मा के यहां रहने से अच्छा है'।

सहजानन्दजी ने कहा कि—'नहीं। अब इनकी वैकुण्ठ में बहुत आवश्यकता है, इसलिये ले जाते हैं।' हमने अपनी आंख से सहजानन्दजी को और विमान को देखा। तथा जो मरनेवाले थे, उनको विमान में बैठा दिया। ऊपर को ले गये, और पुष्पों की वर्षा करते गये।

और जब कोई साधु बीमार पड़ता है, और उसके बचने की आशा न[हीं] होती, तब कहता है कि मैं कल रात को वैकुण्ठ में जाऊंगा। सुना है कि उस रात में जो उसके प्राण न छूटे, और मूर्च्छित हो गया हो, तो भी कुवे में फेंक देते हैं। क्योंकि जो उस रात को न फेंक दें तो झूठे पड़ें। इसलिये ऐसा काम करते होंगे। ऐसे ही जब गोकुलिया गोसाईं मरता है, तब उनके चेले कहते हैं कि—'गुसाईंजी लीला-विस्तार कर गये।'

जो इन गोसाईं [और]स्वामी नारायणवालों का उपदेश करने का मन्त्र है,वह एक ही है–'**श्रीकृष्णः शरणं मम**'। इसका अर्थ ऐसा करते हैं कि—'श्रीकृष्ण मेरा शरण है, अर्थात् मैं श्रीकृष्ण के शरणागत हूं'। परन्तु इसका अर्थ–'श्रीकृष्ण मेरे शरण को प्राप्त[3], अर्थात् मेरे शरणागत हों,' ऐसा भी हो सकता है।

ये सब जितने मत हैं वे विद्याहीन[4] होने से ऊटपटांग शास्त्र-

---

१. सं० २ में 'प्रसिद्ध' अपपाठ है। २. सं० २ में 'कि' अपपाठ हैं।
३. यह अर्थ 'श्रीकृष्णः मम शरणम्' अन्वयानुसार है।
४. यहां का 'विद्याहीन' पद सं० २ में उत्तर वाक्य 'उनको विद्याहीन विद्या के नियम' में अस्थान में छपा है।

विरुद्ध वाक्यरचना[1] करते हैं। क्योंकि उनको विद्या के नियम की जानकारी नहीं।

[माध्व-मत खण्डन]

प्रश्न—माध्वमत तो अच्छा है?

उत्तर—जैसे अन्य मतावलम्बी[2] हैं, वैसा ही माध्व भी है। क्योंकि ये भी 'चक्राङ्कित' होते हैं। इनमें चक्राङ्कितों से इतना विशेष है कि—रामानुजीय एक वार चक्राङ्कित होते हैं, और माध्व वर्ष-वर्ष में फिर-फिर चक्राङ्कित होते जाते हैं। चक्राङ्कित कपाल में पीली रेखा, और माध्व काली रेखा लगाते हैं।

एक माध्व पण्डित से किसी एक महात्मा का शास्त्रार्थ हुआ था—

महात्मा—तुमने यह काली रेखा और चांदला (=तिलक) क्यों लगाया?

शास्त्री—इसके लगाने से हम वैकुण्ठ को जायेंगे। और श्रीकृष्ण का भी शरीर श्याम रंग [का] था, इसलिये हम काला तिलक करते हैं।

महात्मा—जो काली रेखा और चांदला लगाने से वैकुण्ठ में जाते हों, तो सब मुख काला कर लेओ, तो कहां जाओगे? क्या वैकुण्ठ के भी पार उतर जाओगे? और जैसा श्रीकृष्ण का सब शरीर काला था, वैसा तुम भी सब शरीर काला कर लिया करो; तब श्रीकृष्ण का[3] सादृश्य हो सकता है। इसलिये यह भी पूर्वों के सदृश है।

[लिङ्गाङ्कित-मत-खण्डन]

प्रश्न—लिङ्गाङ्कित का मत कैसा है?

उत्तर—जैसा चक्राङ्कित का। जैसे चक्राङ्कित चक्र से दागे जाते, और नारायण के विना किसी को नहीं मानते, वैसे लिङ्गाङ्कित

---

१. जिस वाक्य से अभिप्रेत अर्थ से विपरीत अर्थ भी प्रकट होता है, वह दोषयुक्त माना जाता है। श्लेषालंकार से अनेकार्थता होने पर भी विपरीतार्थता नहीं होनी चाहिये। इसी कारण प्रक्रिया भेद से अनेकार्थता मन्त्रों का भूषण है, दोष नहीं।

२. यहां 'मत' इतना ही पाठ युक्त है। ३. सं० २ में 'के' पाठ है।

लिङ्ग से दागे जाते, और विना महादेव के अन्य किसी को नहीं मानते[१]। इनमें विशेष यह है कि लिङ्गाङ्कित पाषाण का एक लिङ्ग सोने अथवा चांदी में मढ़वाके गले में डाल रखते हैं। जब पानी भी पीते हैं, तब उसको दिखाके पीते हैं। उनका भी मन्त्र शैव के तुल्य रहता है।

ब्राह्मसमाज और प्रार्थनासमाज[२]

प्रश्न—ब्राह्मसमाज और प्रार्थनासमाज तो अच्छा है, वा नहीं?

उत्तर—कुछ कुछ बातें अच्छी, और बहुतसी बुरी हैं।

प्रश्न—ब्राह्मसमाज और प्रार्थनासमाज सबसे अच्छा है। क्योंकि इसके नियम बहुत अच्छे हैं।

उत्तर—नियम सर्वांश में अच्छे नहीं। क्योंकि वेदविद्याहीन लोगों की कल्पना सर्वथा सत्य क्योंकर हो सकती है? जो कुछ ब्राह्मसमाज और प्रार्थनासमाजियों ने ईसाईमत में मिलने से थोड़े मनुष्यों को बचाये, और कुछ-कुछ पाषाणादि मूर्त्तिपूजा को हटाया, अन्य जाल ग्रन्थों के फन्दे से भी कुछ बचाये, इत्यादि अच्छी बातें हैं। परन्तु—

१. इन लोगों में स्वदेशभक्ति बहुत न्यून है। ईसाइयों के आचरण बहुत से ले लिये हैं। खान-पान विवाहादि के नियम भी बदल दिये हैं।

२. अपने देश की प्रशंसा वा पूर्वजों की बड़ाई करनी तो दूर रही, उसके स्थान में पेटभर निन्दा करते हैं। व्याख्यानों में ईसाई आदि अंगरेजों की प्रशंसा भरपेट करते हैं।

ब्रह्मादि महर्षियों का नाम भी नहीं लेते, प्रत्युत ऐसा कहते हैं **कि विना अंगरेजों के सृष्टि में आज पर्यन्त कोई भी विद्वान्** नहीं

---

१. जैसे चक्राङ्कित······नहीं मानते' पाठ सं० ३ में शोधा गया। सं० २ में 'वो भी लिङ्गाङ्कित का एक मत है। विना महादेव के और किसी को नहीं मानते। जैसे चक्राङ्कित नारायण के विना दूसरे को नहीं मानते।' पाठ है। यहां निश्चय ही लेखनदोष से पौर्वापर्य तथा पाठ भ्रष्ट हुआ है।

२. सं० १५ या १६ में 'अब ब्राह्मसमाज और प्रार्थनासमाज के गुण-दोष कथन' पाठ बनाया है।

हुआ। आर्य्यावर्त्ती[य] लोग सदा से मूर्ख चले आये हैं। इनकी उन्नति कभी नहीं हुई।

३. वेदादिकों की प्रतिष्ठा तो दूर रही, परन्तु निन्दा करने से भी पृथक् नहीं रहते। ब्राह्मसमाज के उद्देश्य के पुस्तक में साधुओं की संख्या में ईसा मूसा मुहम्मद नानक और चैतन्य लिखे हैं। किसी ऋषि-महर्षि का नाम भी नहीं लिखा। इससे जाना जाता है कि इन लोगों ने जिनका नाम लिखा है, उन्हीं के मतानुसारी मत वाले हैं।

भला जब आर्य्यावर्त्त में उत्पन्न हुए हैं, इसी देश का अन्न-जल खाया-पिया, अब भी खाते-पीते हैं, [तब] अपने माता-पिता पितामहादि के मार्ग को छोड़ दूसरे विदेशी मतों पर अधिक झुक जाना; ब्राह्मसमाजी और प्रार्थनासमाजियों का एतद्देशस्थ संस्कृतविद्या से रहित अपने को विद्वान् प्रकाशित करना; इङ्गलिश भाषा पढ़के पण्डिताभिमानी होकर झटिति एक मत चलाने में प्रवृत्त होना; मनुष्यों का स्थिर और वृद्धिकारक काम क्योंकर हो सकता है?

४ अङ्गरेज यवन अन्त्यजादि से भी खाने-पीने का भेद नहीं रक्खा। इन्होंने यही समझा होगा कि खाने-पीने और जातिभेद तोड़ने से हम और हमारा देश सुधर जायगा। परन्तु ऐसी बातों से सुधार तो कहां है? उलटा बिगाड़ होता है।

५. **प्रश्न**—जातिभेद ईश्वरकृत है, वा मनुष्यकृत?

उत्तर—ईश्वरकृत और मनुष्यकृत भी जातिभेद है।

प्रश्न—कौनसे ईश्वरकृत, और कौनसे मनुष्यकृत?

उत्तर—मनुष्य पशु पक्षी वृक्ष जल-जन्तु आदि जातियां परमेश्वरकृत हैं। जैसे पशुओं मे गौ अश्व हस्ती आदि जातियां; वृक्षों में पीपल वट आम्र आदि; पक्षियों में हंस काक वकादि; जलजन्तुओं में मत्स्य मकरादि जातिभेद ईश्वरकृत[1] हैं, वैसे मनुष्यों में ब्राह्मण

---

१. यहां का 'ईश्वरकृत' पद सं० २ में (तथा आगे भी) अगले वाक्य 'अन्त्यज जाति भेद हैं ईश्वरकृत है' में अस्थान में छपा है। ग्रन्थकार के मत से विपरीत भी है। अगले प्रकरण पृष्ठ ५७४ में इन्हें मनुष्यकृत कहा है।

क्षत्रिय वैश्य शूद्र अन्त्यज जातिभेद हैं। परन्तु मनुष्यों में ब्राह्मणादि को सामान्य जाति में नहीं, किन्तु सामान्यविशेषात्मक [1]जाति में गिनते हैं।

जैसे पूर्व वर्णाश्रमव्यवस्था में लिख आये, वैसे ही गुण-कर्म-स्वभाव से वर्णव्यवस्था माननी अवश्य है। इस [में] मनुष्यकृतत्व उनके गुण-कर्म-स्वभाव से पूर्वोक्तानुसार ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य शूद्रादि वर्णों की परीक्षापूर्वक व्यवस्था करनी राजा और विद्वानों का काम [है]।

भोजनभेद भी ईश्वरकृत और मनुष्यकृत भी है। जैसे सिंह मांसाहारी, और अर्णा भैंसा घासादि का आहार करते हैं। यह ईश्वरकृत, और देश-काल-वस्तुभेद से भोजनभेद मनुष्यकृत है।

---

१. यहां नैयायिकों की 'सामान्य-विशेषात्मक जाति' अभिप्रेत नहीं है। उनके मतानुसार तो पूर्वोक्त गौ अश्व आदि भी सामान्य-विशेषात्मक जातियां हैं। अतः इस वाक्य का तात्पर्य यह है कि ब्राह्मणादि शास्त्रीय पारिभाषिक जाति होने से सामान्य मनुष्य जाति के अन्तर्गत विशेष जाति है। अत एव यह सामान्य-विशेषात्मक जाति है। महाभाष्य में अष्टाध्यायी के ४।१।६३ सूत्र में प्रयुक्त 'जाति' शब्द की व्याख्या करते हुए जाति का निम्न लक्षण लिखा है—

आकृतिग्रहणा जातिर्लिङ्गानां च न सर्वभाक्।
सकृदाख्यातनिर्ग्राह्या गोत्रं च चरणैः सह॥

इसकी व्याख्या करते हुए कैयट ने लिखा है—'आकृतिर्ग्रहणं यस्याः सा आकृतिग्रहणा-अवयवसन्निवेशव्यङ्ग्येत्यर्थः। एतेन गोत्वादिजातिर्लक्षिता, ब्राह्मणत्वादिस्तु न संग्रहीता, ब्राह्मणक्षत्रियादीनां संस्थानस्य सदृशत्वादिति। तत्संग्रहायाह—लिङ्गानामिति।

इसका तात्पर्य यह है कि जिसका आकृति=अवयव-रचना-विशेष से ज्ञान होता है वह जाति है, जैसे गोत्व अश्वत्व आदि। ब्राह्मण क्षत्रिय आदि के अवयवरचना में समानता होने से ब्राह्मण आदि का जाति शब्द से ग्रहण नहीं होगा। अतः कहा—जो सब (तीनों) लिङ्गों में प्रयुक्त नहीं होते, वह भी जाति शब्द से कहे जाते हैं। यथा—ब्राह्मण क्षत्रिय आदि।

इस उद्धरण से स्पष्ट है कि ब्राह्मण आदि उस प्रकार की मुख्य जातियाँ नहीं है जो आकृतिमात्र से जानी जाएं। **समानप्रसवात्मिका जातिः** (२।२।६८) इस न्यायसूत्र का तात्पर्य भी आकृतिग्रहणा जाति से ही है। यतः ब्राह्मण आदि सामान्य लक्षण से जातिवाचक नहीं हैं, अपितु शास्त्रीय-कार्य-सिद्धचर्थ

प्रश्न—देखो, यूरोपियन लोग मुण्डे जूते कोट पतलून पहरते, होटल में सबके हाथ का खाते हैं। इसीलिये अपना बढ़ती करते जाते हैं।

उत्तर—यह तुम्हारी भूल है। क्योंकि मुसलमान अन्त्यज लोग सबके हाथ का खाते हैं, पुनः उनकी उन्नति क्यों नहीं होती ?

जा यूरोपियनों में बाल्यावस्था में विवाह न करना; लड़का-लड़की को विद्या-सुशिक्षा करना-कराना; स्वयंवर विवाह होना; बुरे-बुरे आदमियों का उपदेश नहीं होता; वे विद्वान् होकर जिस-किसी के पाखण्ड में नहीं फसते; जो कुछ करते हैं वह सब परस्पर विचार और सभा से निश्चित करके करते हैं; अपनी स्वजाति की उन्नति के लिये तन मन धन व्यय करते हैं; आलस्य को छोड़ उद्योग किया करते हैं।

देखो, अपने देश के बने हुए जूते को कार्यालय (=आफिस) और कचहरी में जाने देते हैं, इस देशी जूते को नहीं। इतने ही में समझ लेओ कि अपने देश के बने जूतों का भी कितना मान प्रतिष्ठा करते हैं, उतना भी अन्यदेशस्थ मनुष्यों का नहीं करते।

देखो, कुछ[1] सौ वर्ष से ऊपर इस देश में आये यूरोपियनों को हुए, और आजतक वे लोग मोटे कपड़े आदि पहिरते हैं, जैसा कि स्वदेश में पहिरते थे। परन्तु उन्होंने अपने देश का चाल-चलन नहीं

(ब्राह्मणी आदि में स्त्री प्रत्यय करने के लिये) इनकी विशेष रूप से जाति संज्ञा कही है। चरणों और गोत्रवाची (यथा कठ बह्वृच नाडायन चारायण आदि) शब्दों की भी पारिभाषिक=शास्त्रीय जाति संज्ञा=विशेष जाति संज्ञा कही है।

इस प्रसग का उल्लेख ग्रन्थकार के जीवन-चरित्रों में कलकत्ता की यात्रा प्रसंग में भी आया है। वहां पं० हेमचन्द्र चक्रवर्ती के प्रश्न के उत्तर में ब्राह्मण आदि को वर्ण कहा है, जाति नहीं कहा। स० प्र० सं० १ के ११वें समुल्लास के अन्त में ब्राह्मसमाज के प्रकरण में लिखा है—'जे ब्राह्मणादि वर्णवाचक जो शब्द हैं, उनको जातिवाची ब्राह्मण लोग जानके निषेध कर्त्ते हैं, सो केवल उन का भ्रम है' (पृष्ठ ३६४)।

१. यहां 'सौ वर्ष से कुछ ऊपर' अन्वय जानना चाहिये।

छोड़ा। और तुममें से बहुत से लोगों ने उनका अनुकरण कर लिया। इसीसे तुम निर्बुद्धि, और वे बुद्धिमान् ठहरते[1] हैं। अनुकरण का करना किसी बुद्धिमान् का काम नहीं।

और जो जिस काम पर रहता है, उसको यथोचित करता है। आज्ञानुवर्त्ती बराबर रहते हैं। अपने देशवालों को व्यापार आदि में सहाय देते हैं। इत्यादि गुणों और अच्छे-अच्छे कर्मों से उनकी उन्नति है। मुण्डे जूते, कोट पतलून, होटल में खाने-पीने आदि साधारण और बुरे कामों से नहीं बढ़े हैं।

और इनमें जातिभेद भी है। देखो, जब कोई यूरोपियन चाहे कितने बड़े अधिकार पर और प्रतिष्ठित हो, किसी अन्य देश अन्य मतवालों की लड़की, वा यूरोपियन की लड़की अन्य देशवाले से विवाह कर लेती है, तो उसी समय उसका निमन्त्रण साथ बैठकर खाने, और विवाह आदि को अन्य लोग बन्ध कर देते हैं। यह जातिभेद नहीं, तो क्या [है] ?

और तुम भोले-भालों को बहकाते हैं कि हममें जातिभेद नहीं। तुम अपनी मूर्खता से मान भी लेते हो। इसलिये जो कुछ करना, वह सोच-विचारके करना चाहिये। जिसमें पुनः पश्चात्ताप करना न पड़े।

देखो, वैद्य और औषध की आवश्यकता रोगी के लिये है, नीरोग के लिये नहीं। विद्यावान् नीरोग, और विद्यारहित अविद्यारोग से ग्रसित[2] रहता है। उस रोग के छुड़ाने के लिये सत्यविद्या और सत्योपदेश है। उनको[3] अविद्या से यह रोग है कि खाने-पीने में ही धर्म रहता और जाता है। जब किसी को खाने-पीने में अनाचार करता देखते हैं, तब कहते और जानते हैं कि वह धर्मभ्रष्ट हो गया। उसकी बात न सुननी, और न उसके पास बैठते, न उसको अपने पास बैठने देते।

---

१. सं० २ में 'ठहराते' पाठ है

२ लौकिक संस्कृत में 'ग्रस्त' प्रयुक्त होता है। भाषा में प्रयुक्त होने वाला 'ग्रसित' वैदिक शब्द है।

३. अर्थात् पौराणिकों को।

अब कहिये कि तुम्हारी विद्या स्वार्थ के लिये है, अथवा परमार्थ के लिये ? परमार्थ तो तभी होता, कि जब तुम्हारी विद्या से उन अज्ञानियों को लाभ पहुंचता । जो कहो कि वे नहीं लेते, हम क्या करें ?

यह तुम्हारा दोष है उनका नहीं । क्योंकि तुम जो अपना आचरण अच्छा रखते, तो तुमसे प्रेम कर वे उपकृत होते । सो तुमने सहस्रों का उपकार नाश करके अपना ही सुख किया, सो यह तुमको बड़ा अपराध लगा । क्योंकि परोपकार करना 'धर्म' और परहानि करना 'अधर्म' कहाता है ।

इसलिये विद्वान् को यथायोग्य व्यवहार करके अज्ञानियों को दुःखसागर से तारने के लिये नौकारूप होना चाहिये । सर्वथा मूर्खों के सदृश कर्म न करने चाहियें । किन्तु जिसमें उनकी और अपनी दिन-दिन प्रति उन्नति हो, वैसे कर्म करने उचित हैं ।

प्रश्न—हम कोई पुस्तक ईश्वरप्रणीत वा सर्वांश सत्य नहीं मानते । क्योंकि मनुष्यों की बुद्धि निर्भ्रान्त नहीं होती । इससे उनके बनाये ग्रन्थ सब भ्रान्त होते हैं । इसलिये हम सबसे सत्य ग्रहण करते, और असत्य को छोड़ देते हैं । चाहे सत्य वेद में, बाइबिल में, वा कुरान में, और अन्य किसी ग्रन्थ में हो, हमको ग्राह्य है । असत्य किसी का नहीं ।

उत्तर—जिस बात से तुम सत्यग्राही होना चाहते हो, उसी बात से असत्यग्राही भी ठहरते हो । क्योंकि जब सब मनुष्य भ्रान्तिरहित नहीं हो सकते, तो तुम भी मनुष्य होने से भ्रान्तिसहित हो । जब भ्रान्तिसहित के वचन सर्वांश में प्रामाणिक नहीं होते, तो तुम्हारे वचन का भी विश्वास नहीं होगा । फिर तुम्हारे वचन पर भी सर्वथा विश्वास न करना चाहिये । जब ऐसा है, तो विषयुक्त अन्न के समान त्याग के योग्य हैं ।

फिर तुम्हारे व्याख्यान पुस्तक बनाये का प्रमाण किसी को भी न करना चाहिये । 'चले तो चौबेजी छब्बेजी बनने को, गांठ के दो खो-

कर दुबेजी बन गये।' कुछ तुम सर्वज्ञ नहीं, जैसे कि अन्य मनुष्य सर्वज्ञ नहीं हैं। कदाचित् भ्रम से असत्य को ग्रहण कर सत्य को छोड़ भी देते होगे?

इसलिये सर्वज्ञ परमात्मा के वचन का सहाय हम अल्पज्ञों को अवश्य होना चाहिये। जैसा कि वेद के व्याख्यान में लिख आये हैं, वैसा तुमको अवश्य ही मानना चाहिये। नहीं तो 'यतो भ्रष्टस्ततो भ्रष्टः' हो जाना है।

जब सर्व सत्य वेदों से प्राप्त होता है, जिन में असत्य कुछ भी नहीं, तो उनका ग्रहण करने में शङ्का करनी अपनी और पराई हानिमात्र कर लेनी है। इसी बात से तुमको आर्य्यावर्त्तीय लोग अपने नहीं समझते।

और तुम आर्य्यावर्त्त की उन्नति के कारण भी नहीं हो सके। क्योंकि तुम सब घर के भिक्षुक ठहरे हो। तुमने समझा है कि इस बात से हम लोग अपना और पराया उपकार कर सकेंगे, सो न कर सकोगे।

जैसे किसी के दो ही माता-पिता सब संसार के लड़कों का पालन करने लगें। सबका पालन करना तो असम्भव है, किन्तु उस बात से अपने लड़कों को भी नष्ट कर बैठें, वैसे ही आप लोगों की गति है। भला वेदादिसत्यशास्त्रों को माने विना तुम अपने वचनों की सत्यता और असत्यता की परीक्षा, और आर्य्यावर्त्त की उन्नति भी कभी कर सकते हो?

जिस देश को रोग हुआ है, उसकी औषधि तुम्हारे पास नहीं। और यूरोपियन लोग तुम्हारी अपेक्षा नहीं करते। और आर्य्यावर्त्तीय लोग तुमको अन्य मतियों[1] के सदृश समझते हैं। अब भी समझकर वेदादि के मान्य से देशोन्नति करने लगो, तो भी अच्छा है।

जो तुम यह कहते हो कि सब सत्य परमेश्वर से प्रकाशित

---

१. 'मत' शब्द से मत्वर्थक इन् 'मती'=मत वाला, बहुवचन मतियों=मत वालों। यथा धनी से बहुवचन धनियों।

होता है, पुनः ऋषियों के आत्माओं में ईश्वर से प्रकाशित हुए सत्यार्थ वेदों को क्यों नहीं मानते ? हां, यही कारण है कि तुम लोग वेद नहीं पढ़े, और न पढ़ने की इच्छा करते हो। क्योंकर तुमको वेदोक्त ज्ञान हो सकेगा ?

६. दूसरा—जगत् के उपादान कारण के विना जगत् की उत्पत्ति और जीव को भी उत्पन्न मानते हो, जैसा ईसाई और मुसलमान आदि मानते हैं। इसका उत्तर सृष्ट्युत्पत्ति और जीवेश्वर की व्याख्या में देख लीजिये। कारण के विना कार्य का होना सर्वथा असम्भव, और उत्पन्न वस्तु का नाश न होना भी वैसा ही असम्भव है।

७. एक यह भी तुम्हारा दोष है—जो पश्चात्ताप[1] और प्रार्थना से पापों की निवृत्ति मानते हो। इसी बात से जगत् में बहुत से पाप बढ़ गये हैं। क्योंकि पुराणी लोग तीर्थादि यात्रा से; जैनी लोग भी नवकार मन्त्र जप और तीर्थादि से; ईसाई लोग ईसा के विश्वास से; मुसलमान लोग 'तोबा:' करने से पाप का छूट जाना विना भोग के मानते हैं। इससे पापों से भय न होकर पाप में प्रवृत्ति बहुत हो गई है।

इस बात में ब्राह्म और प्रार्थनासमाजी भी पुराणी आदि के समान हैं। जो वेदों की सुनते[2], तो विना भोग के पाप-पुण्य की निवृत्ति न होने से पापों से डरते, और धर्म में सदा प्रवृत्त रहते। जो भोग के विना निवृत्ति मानें, तो ईश्वर अन्यायकारी होता है।

८. जो तुम जीव की अनन्त उन्नति मानते हो सो कभी नहीं हो सकती। क्योंकि ससीम जीव के गुण कर्म स्वभाव का फल भी ससीम होना अवश्य है।

---

१. पश्चात्ताप और प्रायश्चित्त में अन्तर है। पश्चात्ताप और प्रार्थना भविष्य में दुष्कर्म न करने में सहायक होते हैं। इस कारण उनसे पूर्वकृत-दुष्कर्मों के फलों से नहीं बच सकता। हां प्रायश्चित्त से, जिसमें स्वय शारीरिक मानसिक कष्ट भोग लेता है, उतने अंश में दुष्कर्म के फल से बच जाता है। यदि ऐसा न मानें, तो शास्त्रकारों का प्रायश्चित्त-विधान व्यर्थ हो जावे। और कर्त्ता को दोहरा फल भोगना पड़े। यही व्यवस्था राजदण्ड की भी जाननी चाहिये।

२. अर्थात् पढ़ते-पढ़ाते।

प्रश्न—परमेश्वर दयालु है, ससीम कर्मों का फल अनन्त दे देगा।

उत्तर—ऐसा करे, तो परमेश्वर का न्याय नष्ट हो जाय, और सत्कर्मों की उन्नति भी कोई न करेगा। क्योंकि थोड़े से भी सत्कर्म का अनन्त फल परमेश्वर दे देगा। और पश्चात्ताप वा प्रार्थना से पाप चाहें जितने हों छूट जायंगे। ऐसी बातों से धर्म की हानि, और पापकर्मों की वृद्धि होती है।

प्रश्न—हम स्वाभाविक ज्ञान को वेद से भी बड़ा मानते हैं, नैमित्तिक को नहीं[1]। क्योंकि जो स्वाभाविक ज्ञान परमेश्वरदत्त हममें में न होता, तो वेदों को भी कैसे पढ़-पढ़ा समझ-समझा सकते? इसलिये हम लोगों का मत बहुत अच्छा है।

उत्तर—यह तुम्हारी बात निरर्थक है। क्योंकि जो किसी का दिया हुआ ज्ञान होता है, वह स्वाभाविक नहीं होता। जो स्वाभाविक है, वह सहज ज्ञान होता है। और न वह बढ़ घट सकता[2]। उससे उन्नति कोई भी नहीं कर सकता। क्योंकि जङ्गली मनुष्यों में भी स्वाभाविक ज्ञान है, तो भी वे अपनी उन्नति नहीं कर सकते।[3]

और जो नैमित्तिक ज्ञान है, वही उन्नति का कारण है। देखो, तुम हम बाल्यावस्था में कर्त्तव्याकर्त्तव्य और धर्माधर्म कुछ भी ठीक-ठीक नहीं जानते थे। जब हम विद्वानों से पढ़े, तभी कर्त्तव्याकर्त्तव्य और धर्माधर्म को समझने लगे। इसलिये स्वाभाविक ज्ञान को सर्वोपरि मानना ठीक नहीं।

९. जो आप लोगों ने पूर्व और पुनर्जन्म नहीं माना है, वह ईसाई मुसलमानों से लिया होगा। इसका भी **उत्तर** पुनर्जन्म की व्याख्या से

---

१. यही पक्ष वर्त्तमान यूरोप और अमेरिका का है। इसके अनुसार कार्लमार्क्स और फ्रायड के कल्पित मत खड़े हुए हैं। इनका खण्डन अपेक्षित है। भ० द०

२. स्वामीजी का तर्क उनकी आर्ष बुद्धि का ज्वलन्त प्रमाण है। भ०द०

३. सभी संस्करणों में यही पाठ है। परन्तु यहां 'कर सके' पाठ युक्त है।

समझ लेना । परन्तु इतना समझो कि जीव शाश्वत अर्थात् नित्य है, और उसके कर्म भी प्रवाहरूप से नित्य हैं । कर्म और कर्मवान् का नित्य सम्बन्ध होता है । क्या वह जीव कहीं निकम्मा बैठा रहा था, वा रहेगा ? और परमेश्वर भी निकम्मा तुम्हारे कहने से होता है ।

पूर्वापर जन्म न मानने से कृतहानि और अकृताभ्यागम, नैर्घृण्य और वैषम्य दोष भी ईश्वर में आते हैं । क्योंकि जन्म न हो तो पाप-पुण्य के फलभोग की हानि हो जाय । क्योंकि जिस प्रकार दूसरे को सुख-दुख हानि-लाभ पहुंचाया होता है, वैसा उसका फल विना शरीर धारण किये नहीं होता ।

दूसरा—पूर्वजन्म के पाप-पुण्यों के विना सुख-दुःख की प्राप्ति इस जन्म में क्योंकर होवे ? जो पूर्वजन्म के पापपुण्यानुसार न होवे तो परमेश्वर अन्यायकारी, और विना भोग किये नाश के समान कर्म का फल हो जावे । इसलिये यह भी बात आप लोगों की अच्छी नहीं ।

१०. और एक यह कि—ईश्वर के विना दिव्यगुणवाले पदार्थों और विद्वानों को भी देव न मानना ठीक नहीं । क्योंकि परमेश्वर महादेव, और जो देव न होता तो सब देवों का स्वामी होने से 'महा-देव' क्यों कहाता ?

११. एक—अग्निहोत्रादि परोपकारक कर्मों को कर्त्तव्य न समझना अच्छा नहीं ।

१२. ऋषि-महर्षियों के किये उपकारों को न मानकर ईसा आदि के पीछे झुक पड़ना अच्छा नहीं ।

१३. और विना कारणविद्या वेदों के अन्य कार्यविद्याओं की प्रवृत्ति मानना सर्वथा असम्भव है ।

१४. और जो विद्या का चिह्न यज्ञोपवीत और शिखा को छोड़ मुसलमान-ईसाइयों के सदृश बन बैठना, यह भी व्यर्थ है । जब पतलून आदि वस्त्र पहिरते हो, और 'तमगों' की इच्छा करते हो, तो क्या यज्ञोपवीत आदि का कुछ बड़ा भार हो गया था ?

१५. और ब्रह्मा से लेकर पीछे-पीछे आर्यावर्त्त में बहुत से

विद्वान् हो गये हैं। उनकी प्रशंसा न करके यूरोपियन ही की स्तुति में उतर पड़ना, पक्षपात और खुशामद के विना क्या कहा जाय ?

१६. और बीजांकुर के समान जड़-चेतन के योग से जीवोत्पत्ति मानना, उत्पत्ति के पूर्व जीवतत्व का न मानना, और उत्पन्न का नाश न मान[ना] पूर्वापरविरुद्ध है। जो उत्पत्ति के पूर्व चेतन और जड़ वस्तु न था, तो जीव कहां से आया? और संयोग किनका हुआ? जो इन दोनों को सनातन मानते हो, तो ठीक है। परन्तु सृष्टि के पूर्व ईश्वर के विना दूसरे किसी तत्व को न मानना, यह आपका पक्ष व्यर्थ हो जायगा।

इसलिये जो उन्नति करना चाहो, तो 'आर्यसमाज' के साथ मिलकर उसके उद्देश्यानुसार आचरण करना स्वीकार कीजिये, नहीं तो कुछ हाथ न लगेगा। क्योंकि हम और आपको अति उचित है कि जिस देश के पदार्थों से अपना शरीर बना, अब भी पालन होता है आगे होगा, उसकी उन्नति तन मन धन से सब जने मिलकर प्रीति से करें।

इसलिये जैसा **आर्यसमाज** आर्यावर्त्त देश की उन्नति का कारण है, वैसा दूसरा नहीं हो सकता। यदि इस समाज को यथावत् सहायता देवें, तो बहुत अच्छी बात है। क्योंकि समाज का सौभाग्य बढ़ाना समुदाय का काम है, एक का नहीं।

प्रश्न—आप सबका खण्डन करते ही आते हो, परन्तु अपने-अपने धर्म में सब अच्छे हैं। खण्डन किसी का न करना चाहिये। जो करते हो, तो आप इनसे विशेष क्या बतलाते हो ? जो बतलाते हो, तो क्या आपसे अधिक वा तुल्य कोई पुरुष न था और न है ? ऐसा अभिमान करना आपको उचित नहीं। क्योंकि परमात्मा की सृष्टि में एक-एक से अधिक तुल्य और न्यून बहुत हैं। किसी को घमण्ड करना उचित नहीं।

उत्तर—धर्म सबका एक होता है वा अनेक ? जो कहो अनेक होते हैं, तो एक-दूसरे से विरुद्ध होते हैं वा अविरुद्ध ? जो कहो कि

विरुद्ध होते हैं, तो एक के विना दूसरा धर्म नहीं हो सकता। और जो कहो कि अविरुद्ध हैं, तो पृथक्-पृथक् होना व्यर्थ है। इसलिये धर्म और अधर्म एक ही है, अनेक नहीं।[1]

यही हम विशेष कहते हैं कि जैसे सब सम्प्रदायों के उपदेशों को कोई राजा इकटठा करे, तो एक सहस्र से कम नहीं होंगे। परन्तु इनका मुख्य भाग देखो, तो पुरानी किरानी जैनी और कुरानी चार ही हैं। क्योंकि इन चारों में सब सम्प्रदाय आ जाते हैं।

[धर्म-जिज्ञासा और परीक्षा]

कोई राजा उनकी सभा करके कोई जिज्ञासु होकर प्रथम वाममार्गी से पूछे—'हे महाराज! मैंने आजतक न[2] कोई गुरु और न किसी धर्म का ग्रहण किया है। कहिये, सब धर्मों में से उत्तम धर्म किस का है, जिसको मैं ग्रहण करूं?

वाममार्गी—हमारा है।

जिज्ञासु—ये नौ सौ निन्न्यानवें कैसे हैं?

वाममार्गी—सब झूंठे और नरकगामी हैं। क्योंकि '**कौलात् परतरं नहि**'[3] इस वचन के प्रमाण से हमारे धर्म से परे कोई धर्म नहीं है।

जिज्ञासु—आपका क्या धर्म है?

वाममार्गी—भगवती का मानना, मद्य मांसादि पञ्च मकारों का सेवन, और रुद्रयामल आदि चौसठ तन्त्रों का मानना, इत्यादि। जो तू मुक्ति की इच्छा करता है, तो हमारा चेला हो जा।

जिज्ञासु—अच्छा, परन्तु और महात्माओं का भी दर्शन कर पूंछ-पांछ आऊंगा। पश्चात् जिसमें मेरी श्रद्धा और प्रीति होगी, उसका चेला हो जाऊंगा।

---

१. यहां प्रसङ्ग धर्म के एक वा अनेक होने का है। इस कारण यहां 'धर्म एक ही है अनेक नहीं' इतना ही पाठ संगत है। यदि 'वेदविहित धर्म और वेदविरुद्ध अधर्म लक्षण से धर्म और अधर्म की व्याख्या करें, तो कथंचित् 'और अधर्म' पद संबद्ध हो सकते हैं। पूर्वापर प्रसंग के अनुसार 'धर्म एक ही है, अनेक नहीं' इतना पाठ ही यहां ग्रन्थकार को अपेक्षित है।

२. सं २ में 'न' पद नहीं है। ३. द्र०—कुलार्णव तन्त्र २।८॥

वाममार्गी—अरे। क्यों भ्रान्ति में पड़ा है ? ये लोग तुझको बहका कर अपने जाल में फसा देंगे। किसीके पास मत जावे। हमारे ही शरणागत हो जा, नहीं तो पछतावेगा। देख, हमारे मत में भोग और मोक्ष दोनों हैं।

जिज्ञासु—अच्छा, देख तो आऊं ?

आगे चलकर **शैव** के पास जाके पूंछा, तो ऐसा ही उत्तर उसने दिया। इतना विशेष कहा कि—विना शिव रुद्राक्ष भस्मधारण और लिङ्गार्चन के मुक्ति कभी नहीं होती।

वह उसको छोड़ **नवीन वेदान्तीजी** के पास गया।

जिज्ञासु—कहो महाराज ! आपका धर्म क्या है ?

वेदान्ती—हम धर्माऽधर्म कुछ भी नहीं मानते। हम साक्षात् ब्रह्म हैं। हम में धर्माऽधर्म कहां हैं ? यह जगत् सब मिथ्या है। और जो ज्ञानी शुद्ध चेतन हुआ चाहै, तो अपने को ब्रह्म मान, जीवभाव को छोड़, नित्यमुक्त हो जायगा।

जिज्ञासु—जो तुम ब्रह्म नित्यमुक्त हो, तो ब्रह्म के गुण कर्म स्वभाव तुममें क्यों नहीं ? और शरीर में क्यों बंधे हो ?

वेदान्ती—तुझको शरीर दीखते हैं, इसीसे तू भ्रान्त है। हमको कुछ नहीं दीखता, विना ब्रह्म के।

जिज्ञासु—तुम देखनेवाले कौन, और किसको देखते हो ?

वेदान्ती—देखनेवाला ब्रह्म, और ब्रह्म को ब्रह्म देखता है।

जिज्ञासु-क्या दो ब्रह्म हैं ?

वेदान्ती—नहीं, अपने आपको देखता है।

जिज्ञासु—क्या कोई अपने कन्धे पर आप चढ़ सकता है ? तुम्हारी बात कुछ नहीं, केवल पागलपने की है।

वह आगे चलकर **जैनियों** के पास [गया, और] जाके पूंछा। उन्होंने भी वैसा ही कहा। परन्तु इतना विशेष कहा कि—'जिणधर्म के विना सब धर्म खोटा; जगत् का कर्त्ता अनादि ईश्वर कोई नहीं; जगत् अनादि काल से जैसा का वैसा बना है, और बना रहेगा। आ

तू हमारा चेला होजा। क्योंकि हम सम्यक्त्वी[1] अर्थात् सब प्रकार से अच्छे हैं, उत्तम बातों को मानते हैं। जैनमार्ग से भिन्न सब मिथ्यात्वी हैं।'

आगे चलके ईसाई से पूछा। उससे[2] वाममार्गी के तुल्य सब जवाब-सवाल किये। इतना विशेष बतलाया—'सब मनुष्य पापी हैं, अपने सामर्थ्य से पाप नहीं छूटता। विना ईसा पर विश्वास के पवित्र होकर मुक्ति को नहीं पा सकता। ईसा ने सबके प्रायश्चित्त के लिये अपने प्राण देकर दया प्रकाशित की है। तू हमारा ही चेला होजा'।

जिज्ञासु सुनकर मौलवी साहब के पास गया। उनसे भी ऐसे ही जवाब-सवाल हुए। इतना विशेष कहा—'लाशरीक खुदा, उसके पैग़म्बर, और क़ुरानशरीफ़ के विना माने कोई निजात नहीं पा सकता। इस महज़ब को नहीं मानता, वह दोज़खी और क़ाफ़िर है, वाजिबुल-क़त्ल है।'

जिज्ञासु सुनकर वैष्णव के पास गया। वैसा ही संवाद हुआ। इतना विशेष कहा कि–'हमारे तिलक छापे देखकर यमराज डरता है।'

जिज्ञासु ने मन में समझा कि—जब मच्छर-मक्खी पुलिस के सिपाही चोर-डाकू और शत्रु नहीं डरते, तो यमराज के गण क्यों डरेंगे ?

फिर आगे चला, तो सब मत वालों ने अपने-अपने को सच्चा कहा। कोई—हमारा कबीर सच्चा, कोई—नानक, कोई—दादू, कोई—वल्लभ, कोई—सहजानन्द, कोई—माध्व[3] आदि को बड़ा और अवतार बतलाते सुना।

सहस्र[4] से पूछ उनके परस्पर एक-दूसरे का विरोध देख, विशेष

---

१. सं० २ में 'सम्यक्ति' अपपाठ है। २. सं० २ में 'उसने' पाठ है।

३. सं० २ में 'माधव' अपपाठ है।

४. हस्तलेख तथा सं० ३५ में 'हजार' पाठ है। समर्थदान ने इसे सहस्रों बनाया। यहां 'हजार' के स्थान में 'सहस्र' ही परिवर्तन होना चाहिये। प्रकरण के आदि वा दो पंक्ति आगे 'नो सौ निन्यानवें' पद पढ़े हैं। ये भी 'सहस्र' पाठ में ही युक्त हैं, 'सहस्रों' में नहीं।

निश्चय किया कि इनमें कोई गुरु करने योग्य नहीं। क्योंकि एक-एक की झूठ में नौ सौ निन्न्यानवें गवाह हो गये। जैसे झूठे दुकान-दार वा वेश्या और भड़ुवा आदि अपनी-अपनी वस्तुओं[1] की बड़ाई दूसरे की बुराई करते हैं, वैसे ही ये हैं।

ऐसा जान—

तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्।
समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम् ॥१॥
तस्मै स विद्वानुपसन्नाय सम्यक्प्रशान्तचित्ताय शमन्विताय।
येनाक्षरं पुरुषं वेद सत्यं प्रोवाच तां तत्त्वतो ब्रह्मविद्याम् ॥२॥

मुण्डक[2]

उस सत्य के विज्ञानार्थ वह समित्पाणि अर्थात् हाथ जोड़, अरिक्तहस्त होकर वेदवित् ब्रह्मनिष्ठ परमात्मा को जाननेहारे गुरु के पास जावे। इन पाखण्डियों के जाल में न गिरे ॥१॥

जब ऐसा जिज्ञासु विद्वान् के पास जाय, उस शान्तचित्त, जितेन्द्रिय, समीप-प्राप्त जिज्ञासु को यथार्थ ब्रह्मविद्या, परमात्मा के गुण कर्म स्वभाव का उपदेश करे। और जिस-जिस साधन से वह श्रोता धर्मार्थ-काम-मोक्ष और परमात्मा को जान सके, वैसी शिक्षा किया करे ॥२॥

जब वह ऐसे पुरुष के पास जाकर बोला कि—'महाराज! अब इन सम्प्रदायों के बखेड़ों से मेरा चित्त भ्रान्त हो गया। क्योंकि जो मैं इनमें से किसी एक का चेला होऊंगा, तो नौ सौ निन्न्यानवें से विरोधी होना पड़ेगा। जिसके नौ सौ निन्न्यानवें शत्रु और एक मित्र है, उसको सुख कभी नहीं हो सकता। इसलिये आप मुझको उपदेश कीजिये, जिसको मैं ग्रहण करूं।

---

१. वै० य० मु० संस्करणों में 'वस्तु' पाठ है। हस्तलेख में 'चीजों' बहुवचन था। तदनुसार समर्थदान को 'वस्तुओं' परिवर्तन करना चाहिये था। ग्रन्थकार की भाषा में लिङ्ग-निर्देश पद्धति के अनुसार 'अपने-अपने वस्तुओं की' पाठ होना चाहिये।

२. मुण्डकोप० १।२।१२, १३ ॥ सं० २ में 'माण्डूक्ये' अपपाठ है।

आप्त विद्वान्—ये सब मत अविद्याजन्य विद्याविरोधी हैं। मूर्ख पामर और जङ्गली मनुष्य को बहकाकर अपने जाल में फसाके अपना प्रयोजन सिद्ध करते हैं। वे[1] बिचारे[2] अपने मनुष्यजन्म के फल से रहित होकर अपने मनुष्यजन्म को व्यर्थ गमाते हैं। देख, जिस बात में ये सहस्र एकमत हों, वह वेदमत ग्राह्य है। और जिसमें परस्पर विरोध हो, वह कल्पित झूठा अधर्म अग्राह्य है।

जिज्ञासु—इसकी परीक्षा[3] कैसे हो ?

आप्त०—तू जाकर इन-इन बातों को पूंछ। सबकी एक सम्मति हो जायेगी।

तब वह उन सहस्र[4] की मण्डली के बीच में खड़ा होकर बोला कि-'सुनो सब लोगो! सत्यभाषण में धर्म है, वा मिथ्या [भाषण]में' ? सब एक स्वर होकर बोले 'कि—सत्यभाषण में धर्म और असत्यभाषण में अधर्म है। वैसे ही विद्या पढ़ने, ब्रह्मचर्य करने, पूर्ण युवावस्था में विवाह,सत्संग, पुरुषार्थ, सत्यव्यवहार आदि में धर्म[है,]वा[5] अविद्या-ग्रहण, ब्रह्मचर्य न करने, व्यभिचार करने, कुसङ्ग, आलस्य[6], असत्य व्यवहार, छल-कपट, हिंसा, परहानि करने आदि कर्मों में' ? सबने एकमत होके कहा कि—'विद्यादि के ग्रहण में धर्म, और अविद्यादि के ग्रहण में अधर्म।'

तब जिज्ञासु ने सबसे कहा कि—'तुम इसी प्रकार सब जने एक-मत हो सत्यधर्म की उन्नति और मिथ्यामार्ग की हानि क्यों नहीं करते हो' ?

वे सब बोले—'जो हम ऐसा करें, तो हमको कौन पूंछे ? हमारे चेले हमारी आज्ञा में न रहें; जीविका नष्ट हो जाय। फिर जो हम आनन्द कर रहे हैं, सो सब हाथ से जाय। इसलिये हम जानते हैं, तो

---

१. वे=बहके हुए जन।

२. सं० २ में 'विचाड़े' अपपाठ है। ३. सं० २ में 'परिक्षा' अपपाठ है।

४. सं० २ से ३३ तक 'सहस्रों' अपपाठ है। सहस्र=सहस्र संख्यावालों।

५. सर्वत्र 'और' अपपाठ है। पूर्ववाक्य एवं प्रसंगानुसार 'वा' ही चाहिये। ६. सं० २ में यह पद नहीं है।

भी अपने-अपने मत का उपदेश और आग्रह करते ही जाते हैं। क्योंकि **'रोटी खाइये शक्कर से, और दुनिया ठगिये मक्कर से'** ऐसी बात है।

देखो, संसार में सूधे-सच्चे मनुष्य को कोई नहीं देता, और न पूछता। जो कुछ ढोंगबाजी और धूर्त्तता करता है, वही पदार्थ पाता है।

जिज्ञासु—जो तुम ऐसा पाखण्ड चलाकर अन्य मनुष्यों को ठगते हो, तुमको राजा दण्ड क्यों नहीं देता ?

मत वाले—हमने राजा को भी अपना चेला बना लिया है। हमने पक्का प्रबन्ध किया है, छूटेगा नहीं।

जिज्ञासु—जब तुम छल से अन्य मतस्थ मनुष्यों को ठग उनकी हानि करते हो, परमेश्वर के सामने क्या उत्तर दोगे ? और घोर नरक में पड़ोगे। थोड़े जीवन के लिये इतना बड़ा अपराध करना क्यों नहीं छोड़ते ?

मत वाले—जब जैसा होगा, तब देखा जायेगा। नरक और परमेश्वर का दण्ड जब होगा तब होगा, अब तो आनन्द करते हैं। [लोग] हम को प्रसन्नता से धनादि पदार्थ देते हैं, कुछ बलात्कार से नहीं लेते। फिर राजा दण्ड क्यों देवे ?

जिज्ञासु—जैसे कोई छोटे बालक को फुसलाके धनादि पदार्थ हर लेता है, जैसे उसको दण्ड मिलता है, वैसे तुमको क्यों नहीं मिलता ? क्योंकि—

अज्ञो भवति वै बालः पिता भवति मन्त्रदः ।। मनु०[1]

जो ज्ञानरहित होता है वह **बालक**, और जो ज्ञान का देनेहारा है वह **पिता** और वृद्ध कहाता है। जो बुद्धिमान विद्वान् है, वह तो तुम्हारी बातों में नहीं फसता। किन्तु अज्ञानी लोग, जो बालक के सदृश हैं, उनको ठगने में तुमको राजदण्ड अवश्य होना चाहिये।

मत वाले—जब राजा प्रजा सब हमारे मत में है, तो हमको दण्ड

---

१. मनु० २।१५३।।

कौन देनेवाला है ? जब ऐसी व्यवस्था होगी, तब इन बातों को छोड़कर दूसरी व्यवस्था करेंगे ।

जिज्ञासु—जो तुम बैठे-बैठे व्यर्थ माल मारते हो, सो विद्याभ्यास कर गृहस्थों के लड़के-लड़कियों को पढ़ाओ, तो तुम्हारा और गृहस्थों का कल्याण हो जाय ।

मत वाले—जब हम बाल्यावस्था से लेकर मरण तक के सुखों को छोड़ें, बाल्यावस्था से युवावस्था-पर्यन्त विद्या पढ़ने में रहैं, पश्चात् पढ़ाने में और उपदेश करने में जन्म-भर परिश्रम करें, हमको क्या प्रयोजन ? हमको ऐसे ही लाखों रुपये मिल जाते हैं, चैन करते हैं, उसको क्यों छोड़ें ?

जिज्ञासु—इसका परिणाम तो बुरा है । देखो, तुमको बड़े रोग होते हैं, शीघ्र मर जाते हो । बुद्धिमानों में निन्दित होते हो, फिर भी क्यों नहीं समझते ?

मतवाले—अरे भाई !

टका[1] धर्मष्टका कर्म, टका हि परमं पदम् ।
यस्य गृहे टका नास्ति, हा ! टकां टकटकायते ।।१।।
आना अंशकलाः प्रोक्ता, रूप्योऽसौ भगवान् स्वयम् ।
अतस्तं सर्व इच्छन्ति, रूप्यं हि गुणवत्तमम् ।।२।।

तू लड़का है, संसार की बातें नहीं जानता । देख, टके के विना धर्म, टका के विना कर्म, टका के विना परमपद नहीं होता । जिसके घर में टका नहीं है, वह हाय ! टका-टका करता-करता उत्तम पदार्थों को टक-टक देखता रहता है कि हाय ! मेरे पास टका होता, तो इस उत्तम पदार्थ को मैं भोगता ।।१।।

---

१. टका=रुपया । इस अर्थ में आज भी अनेक प्रान्तीय भाषाओं में प्रयुक्त होता है । हिन्दी में 'टका' शब्द का व्यवहार पुराने दो पैसों के सिक्के के लिये होता था । यह परिमाण में रुपये के बराबर होता था । पुराकाल में भी समान परिमाण के सुवर्ण कार्षापण और ताम्रकार्षापण प्रचलित थे ।

क्योंकि सब कोई सोलह कलायुक्त अदृश्य भगवान् का कथन-श्रवण करते हैं। सो तो नहीं दीखता, परन्तु सोलह आने और पैसे[1] कौड़ीरूप अंश कलायुक्त जो रुपैया है, वही साक्षात् भगवान् है। इसीलिये सब कोई रुपयों की खोज में लगे रहते हैं। क्योंकि सब काम रुपयों से सिद्ध होते हैं ॥२॥

जिज्ञासु—ठीक है। तुम्हारी भीतर की लीला बाहर आ गई। तुमने जितना यह पाखण्ड खड़ा किया है, वह सब अपने सुख के लिये किया है। परन्तु इसमें जगत् का नाश होता है। क्योंकि जैसा सत्योपदेश से संसार को लाभ पहुचता है, वैसी ही असत्योपदेश से हानि होती है। जब तुमको धन का ही प्रयोजन था, तो नौकरी और व्यापारादि कर्म करके धन को इकट्ठा क्यों नहीं कर लेते हो ?

मत वाले—उसमें परिश्रम अधिक और हानि भी हो जाती है। परन्तु इस हमारी लीला में हानि कभी नहीं होती, किन्तु सर्वदा लाभ-ही-लाभ होता है। देखो, तुलसीदल डालके चरणामृत दें, कण्ठी बांध देते। चेला मूड़ने से जन्मभर को पशुवत् हो जाता है। फिर चाहें जैसे चलावें, चल सकता है।

जिज्ञासु—ये लोग तुमको बहुतसा धन किसलिये देते हैं ?

मत वाले—धर्म स्वर्ग और मुक्ति के अर्थ।

जिज्ञासु—जब तुम हो मुक्त नहीं, और न मुक्ति का स्वरूप वा साधन जानते हो, तो तुम्हारी सेवा करनेवालों को क्या मिलेगा ?

मत वाले—क्या इस लोक में मिलता है ? नहीं। किन्तु मरकर पश्चात् परलोक में मिलता है। जितना ये लोग हमको देते हैं, और सेवा करते हैं, वह सब इन लोगों को परलोक में मिल जाता है।

जिज्ञासु—इनको तो दिया हुआ मिल जाता है, वा नहीं ? तुम

---

१. सोलह कला पक्ष में आना, ६४ कला पक्ष में ६४ पैसे। इसी प्रकार १ पैसे की १६ गण्डे=६४ कौडियां। एक पैसे की ६४ कौड़ियां हमारे बचपन में (महेश्वर—इन्दौर राज्य में) प्रचलित थीं। यह सब सिक्कों की व्यवस्था दशमलव पद्धति के सिक्कों से पूर्व की है।

लेनेवालों को क्या मिलेगा ? नरक वा अन्य कुछ ?

मत वाले—हम भजन करा करते हैं। इसका सुख हमको मिलेगा।

जिज्ञासु—तुम्हारा भजन तो टका ही के लिये है, वे सब टके यहीं पड़े रहेंगे। और जिस मांसपिण्ड को यहां पालते हो, वह भी भस्म होकर यहीं रह जायगा। जो तुम परमेश्वर का भजन करते होते, तो तुम्हारा आत्मा भी पवित्र होता।

मत वाले—क्या हम अशुद्ध हैं ?

जिज्ञासु—भीतर के बड़े मैले हो।

मत वाले—तुमने कैसे जाना ?

जिज्ञासु—तुम्हारे चालचलन व्यवहार से।

मत वाले—महात्माओं का व्यवहार हाथी के दांत के समान होता है। जैसे हाथी के दांत खाने के भिन्न और दिखलाने के भिन्न होते हैं, वैसे ही भीतर से हम पवित्र हैं, और बाहर से लीलामात्र करते हैं।

जिज्ञासु—जो तुम भीतर से शुद्ध होते, तो तुम्हारे बाहर के काम भी शुद्ध होते। इसलिये भीतर भी मैले हो।

मत वाले—हम चाहें जैसे हों, परन्तु हमारे चेले तो अच्छे हैं।

जिज्ञासु—जैसे तुम गुरु हो, वैसे तुम्हारे चेले भी होंगे।

मत वाले—एकमत कभी नहीं हो सकता। क्योंकि मनुष्यों के गुण कर्म स्वभाव भिन्न-भिन्न हैं।

जिज्ञासु–जो बाल्यावस्था में एकसी शिक्षा हो, सत्यभाषणादि धर्म का ग्रहण और मिथ्याभाषणादि अधर्म का त्याग करें, तो एक-मत अवश्य हो जाय। और दो मत अर्थात् धर्मात्मा और अधर्मात्मा सदा रहते हैं, वे तो रहैं। परन्तु धर्मात्मा अधिक होने और अधर्मी न्यून होने से संसार में सुख बढ़ता है। और जब अधर्मी अधिक होते हैं, तव दुःख। सब सब विद्वान् एक-सा उपदेश करें, तो एकमत होने में कुछ भी विलम्ब न हो।

मत वाले—आजकल कलियुग है, सत्ययुग की बात मत चाहो।

जिज्ञासु—कलियुग नाम काल का है। काल निष्क्रिय होने से कुछ धर्माधर्म के करने में साधक-बाधक नहीं। किन्तु तुम हीं कलियुग की मूर्त्तियां बन रहे हो। जो मनुष्य ही सत्ययुग कलियुग [रूप] न हों, तो कोई भी संसार में धर्मात्मा [अधर्मात्मा] नहीं होता। ये सब संग के गुण-दोष हैं, स्वाभाविक नहीं।

इतना कहकर 'आप्त' के पास गया। उनसे कहा कि महाराज! तुमने मेरा उद्धार किया। नहीं तो मैं भी किसी के जाल में फसकर नष्टभ्रष्ट हो जाता। अब मैं भी इन पाखण्डियों का खण्डन, और वेदोक्त सत्यमत का मण्डन किया करूंगा।

आप्त—यही सब मनुष्यों का, विशेष विद्वान् और संन्यासियों का काम है कि सब मनुष्यों को सत्य का मण्डन और असत्य का खण्डन पढ़ा-सुनाके सत्योपदेश से उपकार पहुंचाना चाहिये।

प्रश्न—जो **ब्रह्मचारी संन्यासी** हैं, वे तो ठीक हैं?

उत्तर—ये आश्रम तो ठीक हैं, परन्तु आजकल इनमें भी बहुत-सी गड़बड़ है। कितने ही नाम **ब्रह्मचारी** रखते हैं, और झूंठ-मूंठ जटा बढ़ाकर सिद्धाई करते, और जप-पुरश्चरणादि में फसे रहते हैं। विद्या पढ़ने का नाम नहीं लेते, कि जिस हेतु से '**ब्रह्मचारी**' नाम होता है। उस ब्रह्म अर्थात् वेद पढ़ने में परिश्रम कुछ भी नहीं करते। वे ब्रह्मचारी बकरी के गले के स्तन के सदृश निरर्थक हैं[1]।

और जो वैसे **संन्यासी** विद्याहीन दण्ड-कमण्डलु ले भिक्षामात्र करते फिरते हैं; जो कुछ भी वेदमार्ग की उन्नति नहीं करते; छोटी अवस्था में संन्यास लेकर घूमा करते है, और विद्याभ्यास को छोड़ देते हैं।

ऐसे ब्रह्मचारी और संन्यासी इधर-उधर जल स्थल पाषाणादि

---

१. धर्मार्थकाममोक्षाणां यस्यैकोऽपि न विद्यते।
अजागलस्तनस्येव तस्य जन्म निरर्थकम्॥ कस्यचित् कवेः।

मूर्त्तियों का दर्शन-पूजन करते फिरते, विद्या जानकर भी मौन हो रहते,एकान्त देश में यथेष्ट खा-पीकर सोते पड़े रहते हैं। और ईर्ष्या-द्वेष में फसकर निन्दा कुचेष्टा करके निर्वाह करते, काषाय वस्त्र और दण्ड-ग्रहणमात्र से अपने को कृतकृत्य समझते, और सर्वोत्कृष्ट जानकर उत्तम काम नहीं करते। वैसे संन्यासी भी जगत् में व्यर्थ वास करते हैं। और जो सब जगत् का हित साधते हैं, वे ठीक हैं।

प्रश्न--गिरी पुरी भारती आदि गुसाईं लोग तो अच्छे हैं। क्योंकि मण्डली बांधकर इधर-उधर घूमते हैं। सैंकड़ों साधुओं को आनन्द कराते हैं। और सर्वत्र अद्वैत मत का उपदेश करते हैं। और कुछ-कुछ पढ़ते-पढ़ाते भी हैं। इसलिये वे अच्छे होंगे?

उत्तर—ये सब दश नाम पीछे से कल्पित किये हैं, सनातन नहीं। उनकी मण्डलियां केवल भोजनार्थ हैं, बहुत से साधु भोजन ही के लिये मण्डलियों में रहते हैं। दम्भी भी हैं, क्योंकि एक को महन्त बना सायंकाल में एक महन्त, जो कि उनमें प्रधान होता है, वह गद्दी पर बैठ जाता है। सब ब्राह्मण और साधु खड़े होकर हाथ में पुष्प ले—

नारायणं पद्मभवं वसिष्ठं शक्तिं च तत्पुत्रपराशरं च।
व्यासं शुकं गौडपदं महान्तम्० ॥

इत्यादि श्लोक पढ़के हर-हर बोल उनके ऊपर पुष्पवर्षा कर साष्टाङ्ग नमस्कार करते हैं। जो कोई ऐसा न करे, उसका वहां रहना भी कठिन है। यह दम्भ संसार को दिखलाने के लिये करते हैं, जिससे जगत् में प्रतिष्ठा होकर माल मिले।

कितने ही मठधारी गृहस्थ[1] होकर भी संन्यास का अभिमानमात्र करते हैं, कर्म कुछ नहीं। संन्यास का वही कर्म है, जो पांचवें समुल्लास में लिख आये हैं। उसको न करके व्यर्थ समय खोते हैं। जो कोई अच्छा उपदेश करे, उसके भी विरोधी होते हैं।

---

१. कुछ मठधारी विवाहित होते हैं। कुछ सेविका आदि के रूप में स्त्रियां रखते हैं। कुछ अन्य सांसारिक व्यवहार में लगे रहते हैं। यहां 'गृहस्थ होकर' से इन सभी की ओर संकेत है।

बहुधा ये लोग भस्म रुद्राक्ष धारण करते, और कोई-कोई शैव सम्प्रदाय का अभिमान रखते हैं। और जब कभी शास्त्रार्थ करते हैं, तो अपने मत अर्थात् शङ्कराचार्योक्त का स्थापन और चक्राङ्कित आदि के खण्डन में प्रवृत्त रहते हैं। वेदमार्ग की उन्नति, और यावत्[1] पाखण्ड मार्ग हैं तावत्[1] के खण्डन में प्रवृत्त नहीं होते। ये संन्यासी लोग ऐसा समझते हैं कि हमको खण्डन-मण्डन से क्या प्रयोजन? हम तो महात्मा हैं। ऐसे लोग भी संसार में भाररूप हैं।

जब ऐसे हैं, तभी तो वेदमार्गविरोधी वाममार्गादि सम्प्रदायी, ईसाई मुसलमान जैनी आदि बढ़ गये, अब भी बढ़ते जाते हैं। और इनका[2] नाश होता जाता है, तो भी इनकी आंख नहीं खुलती। खुले कहां से? जो कुछ उनके मन में परोपकार-बुद्धि और कर्त्तव्यकर्म करने में उत्साह होवे? किन्तु ये लोग अपनी प्रतिष्ठा खाने-पीने के सामने अन्य अधिक कुछ भी नहीं समझते। और संसार की निन्दा से बहुत डरते हैं।

पुनः **लोकैषणा**=लोक में प्रतिष्ठा, **वित्तैषणा**=धन बढ़ाने में तत्पर होकर विषयभोग, **पुत्रैषणा**=पुत्रवत् शिष्यों पर मोहित होना, इन तीन एषणाओं का त्याग करना उचित है[3]। जब एषणा ही नहीं छूटी, पुनः संन्यास क्योंकर हो सकता है?

अर्थात् पक्षपातरहित वेदमार्गोपदेश से जगत् के कल्याण करने में अहर्निश प्रवृत्त रहना संन्यासियों का मुख्य काम है। जब अपने-अपने अधिकार कर्मों को नहीं करते, पुनः **संन्यासादि** नाम धराना व्यर्थ है। नहीं तो जैसे गृहस्थ व्यवहार और स्वार्थ में परिश्रम करते हैं, उनसे अधिक परिश्रम परोपकार करने में संन्यासी भी तत्पर रहैं, तभी सब आश्रम उन्नति पर रहैं।

देखो, तुम्हारे सामने पाखण्ड मत बढ़ते जाते हैं। ईसाई मुसल-

---

१. यावत्—अर्थात् जितने। तावत्—उतने, अर्थात् उन सबके।
२. अर्थात् वेदमार्गी आर्यों का।
३. द्र०—स० प्र० समु० ५, पृष्ठ १८५ में निर्दिष्ट शतपथवचन।

मान तक होते जाते हैं। तनिक भी तुमसे अपने घर की रक्षा और दूसरों को मिलाना नहीं बन सकता। बने तो तब जब तुम करना चाहो।

जबलों वर्त्तमान और भविष्यत् में उन्नतिशील नहीं होते, तबलों आर्य्यावर्त्त और अन्यदेशस्थ मनुष्यों की वृद्धि नहीं होती। जब वृद्धि के कारण वेदादिसत्यशास्त्रों का पठन-पाठन, ब्रह्मचर्य्यादि आश्रमों के यथावत् अनुष्ठान, सत्योपदेश होते हैं, तभी देशोन्नति होती है।

चेत रक्खो, बहुत सी पाखण्ड की बातें तुमको सचमुच दीख पड़ती हैं—जैसे कोई साधु दुकानदार[1] पुत्रादि देने की सिद्धियां बतलाता है, तब उसके पास बहुत स्त्री जाती हैं। और हाथ जोड़कर पुत्र मांगती हैं। और बाबाजी सबको पुत्र होने का आशीर्वाद देता है। उनमें से जिस-जिसको पुत्र होता है, वह-वह समझती हैं कि बाबाजी के वचन से ऐसा हुआ।

जब उनसे कोई पूंछे कि सुअरी कुत्ती गधी और कुक्कुटी आदि के बच्चे-कच्चे किस बाबाजी के वचन से होते हैं? तब कुछ भी उत्तर न दे सकेंगी। जो कोई कहे कि मैं लड़के को जीता रख सकता हूं, तो आप ही क्यों मर जाता है?

कितने ही धूर्त्त लोग ऐसी माया रचते हैं कि बड़े-बड़े बुद्धिमान् भी धोखा खा जाते हैं—जैसे धनसारी के ठग[2]। ये लोग पांच-सात मिलके दूर-दूर देश में जाते हैं।जो शरीर से डौलडाल में अच्छा होता है, उसको सिद्ध बना लेते हैं। जिस नगर वा ग्राम में धनाढ्य होते हैं, उसके समीप जङ्गल में उस सिद्ध को बैठाते हैं। उसके साधक

---

१. यह उपमा के रूप में प्रयुक्त हुआ है। जैसे दुकानदार अपनी वस्तुओं की झूठी प्रशंसा करके ग्राहकों को फंसाता है, उसी प्रकार साधु लोग भी अपनी झूठी सिद्धियों का बखान करके स्त्रियों को फंसाते हैं।

२. इन्होंने राजस्थान वा उसके आस-पास राजाओं के निर्बल होने पर ठगी वा लूटमार द्वारा प्रजा को बहुत पीड़ित किया था।

नगर में जाके अजान बनके जिस-किसी को पूछते हैं—'तुमने ऐसे महात्मा को यहां कहीं देखा, वा नहीं?' वे ऐसा सुनकर पूछते हैं कि—'वह महात्मा कौन और कैसा है'?

साधक कहता है—'बड़ा सिद्ध पुरुष है। मन की बातें बतला देता है। जो मुख से कहता है, वह हो जाता है। बड़ा योगीराज है। उसके दर्शन के लिये हम अपने घर द्वार छोड़कर देखते फिरते हैं। मैंने किसी से सुना था कि वे महात्मा इधर की ओर आये हैं'।

गृहस्थ कहता है—'जब वह महात्मा तुमको मिले, तो हमको भी कहना। दर्शन करेंगे, और मन की बातें पूछेंगे'। इसी प्रकार दिनभर नगर में फिरते, और प्रत्येक[1] को उस सिद्ध की बात कहकर रात्रि को इकट्ठे[2] सिद्ध-साधक होकर खाते-पीते और सो रहते हैं।

फिर भी प्रातःकाल नगर वा ग्राम में जाके उसी प्रकार दो तीन दिन कहकर फिर चारों साधक किसी एक-एक धनाढ्य से बोलते हैं कि—'वह महात्मा मिल गये। तुमको दर्शन करना हो तो चलो'। वे जब तय्यार होते हैं, तब साधक उनसे पूछते हैं कि—'तुम क्या बात पूछना चाहते हो, हमसे कहो'। कोई पुत्र की इच्छा करता, कोई धन की, कोई रोग-निवारण की, और कोई शत्रु के जीतने की।

उनको वे साधक ले जाते हैं। सिद्ध-साधकों ने जैसा संकेत किया होता है, अर्थात् जिसको धन की इच्छा हो, उसको दाहिनी ओर, जिसको पुत्र की इच्छा हो उसको सम्मुख, जिसको रोग निवा- की इच्छा हो उसको बाईं ओर, और जिसको शत्रु जीतने की इच्छा हो उसको पीछे से लेजाके सामने वालों[3] के बीच में बैठा लेते[3] हैं।

जब नमस्कार करते हैं, उसी समय वह सिद्ध अपनी सिद्धाई की झपट से उच्च स्वर से बोलता है—'क्या यहां हमारे पास पुत्र रक्खे हैं, जो तू पुत्र की इच्छा करके आया है'? इसी प्रकार धन की इच्छा करने वाले से—'क्या यहां थैलियां रक्खी हैं, जो धन की

१. हस्तलेख में 'हर एक' पाठ है।
२. इसका संबन्ध 'होकर' पद के साथ है। ३. सं० २ में यही पाठ है।

इच्छा करके आया ? फकीरों के पास धन कहां धरा है' ? रोग वाले से—'क्या हम वैद्य हैं, जो तू रोग छुड़ाने की इच्छा से आया ? हम वैद्य नहीं, जो तेरा रोग छुड़ावें। जा किसी वैद्य के पास।'

परन्तु जब उसका पिता रोगी हो, तो उसका साधक अंगूठा, जो माता रोगी हो तो तर्जनी, जो भाई रोगी हो तो मध्यमा, जो स्त्री रोगी हो तो अनामिका, जो कन्या रोगी हो तो कनिष्ठिका अंगुली चला[1] देता है। उसको देख वह सिद्ध कहता है कि तेरा पिता रोगी है। तेरी माता, तेरा भाई, तेरी स्त्री, और तेरी कन्या रोगी है। तब तो वे चारों के चारों बड़े मोहित हो जाते हैं। साधक लोग उनसे कहते हैं—'देखो, जैसा हमने कहा था, वैसे ही हैं वा नहीं' ?

गृहस्थ कहते हैं—हां ! जैसा तुमने कहा था, वैसे ही हैं। तुमने हमारा बड़ा उपकार किया। और हमारा भी बड़ा भाग्योदय था जो ऐसे महात्मा मिले, जिनके दर्शन करके हम कृतार्थ हुए।

साधक कहता है—'सुनो भाई ! ये महात्मा मनोगामी है। यहां बहुत दिन रहनेवाले नहीं। जो कुछ इनका आशीर्वाद लेना हो, तो अपनी-अपनी सामर्थ्य के अनुकूल इनकी तन मन धन से सेवा करो। क्योंकि **'सेवा से मेवा मिलती है'**। जो किसी पर प्रसन्न हो गये, तो जाने क्या वर दे दें ? **'सन्तों की गति अपार है'**।

गृहस्थ ऐसे लल्लो-पत्तो की बातें सुनकर, बड़े हर्ष से उनकी प्रशंसा करते हुए घर की ओर जाते हैं। साधक भी उनके साथ ही चले जाते हैं। क्योंकि कोई उनका पाखण्ड खोल न देवे। उन धनाढ्यों का जो कोई मित्र मिला, उससे प्रशंसा करते हैं। इसी प्रकार जो-जो साधकों के साथ जातें हैं, उन-उन का वृत्तान्त सब कह देते हैं।

जब नगर में हल्ला मचता है कि अमुक ठौर एक बड़े भारी सिद्ध आये हैं, चलो उनके पास। जब मेला का मेला जाकर बहुत से लोग पूंछने लगते हैं कि—'महाराज ! मेरे मन का वृत्तान्त कहिये।' तब तो व्यवस्था के बिगड़ जाने से [सिद्ध] चुपचाप होकर मौन

१. अर्थात् अङ्गुली से संकेत कर देता है।

साध जाता है। और कहता है कि हमको बहुत मत सताओ। तब तो झट उसके साधक भी कहने लग जाते हैं—'जो तुम इनको बहुत सताओगे, तो चले जायेंगे'।

और जो कोई बड़ा धनाढ्य होता है, वह साधक को अलग बुलाके पूछता है कि—'हमारे मन की बात कहला दो, तो हम सच मानें'। साधक ने पूछा कि क्या बात है? धनाढ्य ने उससे कहदी। तब उसको उसी प्रकार के संकेत से लेजाके बैठाल देता है। उसे सिद्ध ने समझके झट कह दिया। तब तो सब मेलाभर ने सुन ली कि अहो! बड़े ही सिद्ध पुरुष हैं।

कोई मिठाई, कोई पैसा, कोई रुपया, कोई अशर्फी, कोई कपड़ा, और कोई सीधा-सामग्री भेट करता [है]। फिर जबतक मानता बहुत-सी रहो, तबतक यथेष्ट लूट करते हैं। और किन्हीं-किन्हीं दो एक **'आंख के अन्धे गांठ के पूरों'** को पुत्र होने का आशीर्वाद वा राख उठाके दे देता है। और उससे सहस्र रुपये लेकर कह देता है कि—'जो तेरी सच्ची भक्ति होगी, तो पुत्र हो जायगा'।

इस प्रकार के बहुत से ठग होते हैं, जिनकी विद्वान् ही परीक्षा कर सकते हैं, और कोई नहीं। इसलिये वेदादिविद्या का पढ़ना, सत्संग करना होता है। जिससे कोई उसको ठगाई में न फसा सके, औरों को भी बचा सके। क्योंकि मनुष्य का नेत्र विद्या ही है। विना विद्या-शिक्षा के ज्ञान नहीं होता।

जो बाल्यावस्था से उत्तम शिक्षा पाते हैं, वे ही मनुष्य और विद्वान् होते हैं। जिनको कुसंग है, वे दुष्ट पापी महामूर्ख होकर बड़े दुःख पाते है। इसीलिये ज्ञान को विशेष कहा है—'कि जो जानता है, वही मानता है'।

न वेत्ति यो यस्य गुणप्रकर्षं, स तस्य निन्दां सततं करोति।
यथा किराती करिकुम्भजाता, मुक्ताः परित्यज्य बिभर्ति गुञ्जाः॥

यह किसी कवि का श्लोक है।[1]

१. वृद्ध चाणक्य ११।१२॥

जो जिसका गुण नहीं जानता, वह उसकी निन्दा निरन्तर करता है। जैसे जंगली भील गजमुक्ताओं को छोड़ गुञ्जा का हार पहिन लेता है, वैसे ही जो पुरुष विद्वान् ज्ञानी धार्मिक सत्पुरुषों का संगी योगी पुरुषार्थी जितेन्द्रिय सुशील होता है, वही धर्मार्थ-काम-मोक्ष को प्राप्त होकर इस जन्म और परजन्म में सदा आनन्द में रहता है।

यह आर्यावर्त्त-निवासी लोगों के मत-विषय में संक्षेप से लिखा। इसके आगे जो थोड़ासा आर्य राजाओं का इतिहास मिला है,[1] इसको सब सज्जनों को जनाने के लिये प्रकाशित किया जाता है।

अब आर्यावर्त्तदेशीय राजवंश, कि जिसमें श्रीमान् महाराज 'युधिष्ठिर' से लेके महाराज 'यशपाल' पर्यन्त हुए हैं, उस इतिहास को लिखते हैं। और श्रीमान् महाराज 'स्वायंभुव[2] मनु' से लेके महाराजा 'युधिष्ठिर' पर्यन्त का इतिहास महाभारतादि में लिखा ही है।[3] और इससे सज्जन लोगों को इधर के कुछ इतिहास का वर्त्तमान विदित होगा।

यद्यपि यह विषय विद्यार्थी सम्मिलित 'हरिश्चन्द्रचन्द्रिका' और 'मोहनचन्द्रिका' जो कि पाक्षिकपत्र श्रीनाथद्वारे से निकलता था, जो राजपूताना देश मेवाड़राज उदयपुर चित्तौड़गढ़ [में] सबको विदित है, यह उससे हमने अनुवाद किया है। यदि ऐसे ही हमारे आर्य-सज्जन लोग इतिहास और विद्या पुस्तकों का खोज[4] कर प्रकाश करेंगे, तो देश को बड़ा ही लाभ पहुंचेगा।

---

१. आगे उद्धृत वंशावली लेखक ने पीछे से जोड़ी है। द्र०—ऋ० द० के पत्र और विज्ञापन पृष्ठ ४५८ (द्वि० सं०) भाद्रवदी ३० सं० १९४० का पत्र।

२. सं० २ में 'स्वायम्भव' अपपाठ है।

३. महाराज इक्ष्वाकु से लेकर भारत युद्धकाल तक लगभग १०० (एकसौ) पीढ़ी होती हैं। इसका पूरा वर्णन श्री पं० भगवद्दत्त जी विरचित 'भारतवर्ष का बृहद् इतिहास' द्वितीय भाग में देखें।

४. ऋषि दयानन्द प्राचीन इतिहास के अनुसन्धान-कार्य को अत्यन्त महत्वपूर्ण मानते थे। इस दिशा में श्री प्रो० रामदेव जी और पं० श्री भगवद्दत्त जी के अतिरिक्त अन्य आर्य विद्वानों ने सदा उपेक्षा की। महद् आश्चर्य की बात

उस पत्र [के] सम्पादक ने अपने मित्र से एक प्राचीन पुस्तक, जो कि संवत् विक्रम के १७८२ सत्रह सौ बयासी का लिखा हुआ था, उससे उक्त पत्र के सम्पादक महाशय ने ग्रहण कर अपने संवत् १९३९ मार्गशीर्ष शुक्लपक्ष १९-२० किरण अर्थात् दो पाक्षिक पत्रों में छापा है[1]। सो निम्नलिखे प्रमाणे जानिये—

आर्यावर्त्तदेशीय-राजवंशावली

इन्द्रप्रस्थ में आर्यलोगों ने श्रीमन्महाराजे 'यशपाल' पर्यन्त राज्य किया। जिनमें श्रीमन्महाराजे 'युधिष्ठिर' से महाराजे 'यशपाल'[2] तक वंश अर्थात् पीढ़ी अनुमान १२४ एकसौ चौबीस राजा वर्ष ४१५७ मास ९ दिन १४ समय में हुए हैं। इनका व्यौरा[3]—

राजा	पीढ़ी[4]	वर्ष	मास	दिन
आर्यराजा	१२४	४१५७	९	१४

श्रीमन्महाराजे युधिष्ठिरादि वंश अनुमान पीढ़ी ३०, वर्ष १७७०, मास ११, दिन १०। इनका विस्तार—

तो यह है कि 'आर्यसमाज-स्थापना-दिवस' और 'परोपकारिणी-स्थापना-दिवस' की भूलों का भी समाज के विद्वानों ने संशोधन नहीं किया।

१. इसी प्रकार की इन्द्रप्रस्थ के राजाओं की ३-४ वंशावलियां और भी मिलती हैं। उनके लिये श्री पं० भगवद्दत्त जी कृत 'भारतवर्ष का बृहद् इतिहास' भाग १, पृष्ठ २२२-२२४ देखना चाहिये। श्री गुरुवर्य पं० ब्रह्मदत्त जी जिज्ञासु को भी काशी से एक वंशावली मिली थी। वह उन्होंने श्री पं० भगवद्दत्त जी को दे दी थी। (द्र०—उक्त पृष्ठ)

२. आगे निर्दिष्ट वंशावली के अनुसार। विशेष अन्त में देखें।

३. इस व्यौरे में अनेक स्थानों पर भूलें हैं। कुछ का निर्देश यथास्थान किया जायेगा। पूरा संशोधन महान् परिश्रम की अपेक्षा रखता है।

४. वै० य० मुद्रित सभी संस्करणों में 'शक' अपपाठ है। 'शक' शब्द संवत् का वाचक है। 'शक' नाम की एक जाति के लिये भी प्रयुक्त होता है। यह भी सम्भव है कि पूर्व पीढ़ी अर्थ में प्रयुक्त वंश शब्द शक रूप में भ्रष्ट हो गया हो।

आर्यराजा	वर्ष	मास	दिन	आर्यराजा	वर्ष	मास	दिन
१ राजा युधिष्ठिर	३६	८	२५	१६ सुचिरथ	४२	११	२
२ राजा परीक्षित	६०[1]	०	०	१७ शूरसेन (द्वि०)	५८	१०	८
३ राजा जनमेजय	८४	७	२३	१८ पर्वतसेन	५५	८	१०
४ राजा अश्वमेध	८२	८	२२	१९ मेधावी	५२	१०	१०
५ द्वितीयराम	८८	२	८	२० सोनचीर	५०	८	२१
६ छत्रमल	८१	११	२७	२१ भीमदेव	४७	९	२०
७ चित्ररथ	७५	३	१८	२२ नृहरिदेव	४५	११	२३
८ दुष्टशैल्य	७५	१०	२४	२३ पूर्णमल	४४	८	७
९ राजा उग्रसेन	७८	७	२१	२४ करदवी	४४	१०	८
१० राजा शूरसेन	७८	७	२१	२५ अलंमिक	५०	११	८
११ भुवनपति	६९	५	५	२६ उदयपाल	३८	९	०
१२ रणजीत	६५	१०	४	२७ दुवनमल	४०	१०	२६
१३ ऋक्षक	६४	७	४	२८ दमात	३२	०	०
१४ सुखदेव	६२	०	२४	२९ भीमपाल	५८	५	८
१५ नरहरिदेव	५१	१०	२	३० क्षेमक[2]	४८	११	२१

राजा क्षेमक के प्रधान विश्रवा ने क्षेमक राजा को मारकर राज्य किया। पीढ़ी १४, वर्ष ५००, मास ३, दिन १७। इनका विस्तार—

आर्यराजा	वर्ष	मास	दिन	आर्यराजा	वर्ष	मास	दिन
१ विश्रवा	१७	३	२९	८ कद्रुत	४२	९	२४
२ पुरसेनी	४२	८	२१	९ सज्ज	३२	२	१४
३ वीरसेनी	५२	१०	७	१० अमरचूड़	२७	३	१६
४ अनङ्गशायी	४७	८	२३	११ अमीपाल	२२	११	२५
५ हरिजित्	३५	९	१७	१२ दशरथ	२५	४	१२
६ परमसेनी	४४	२	२३	१३ वीरसाल	३१	८	११
७ सुखपाताल	३०	२	२१	१४ वीरसालसेन	४७	०	१४

१. ऐतिहासिकों के अनुसार यह परीक्षित का जीवनकाल है। उसका राज्यकाल २४ वर्ष था। द्र०—'भारतवर्ष का बृहद् इतिहास' भाग २, पृष्ठ २२६।

२. क्षेमक तक वंशावली की तुलना के लिये श्री पं० भगवद्दत्त जी विरचित 'भारतवर्ष का बृहद् इतिहास' भाग २, पृष्ठ २२३,२२४ देखें।

राजा वीरसालसेन को वीरमहा प्रधान ने मारकर राज्य किया। वंश १६, वर्ष ४४५, मास ५, दिन ३। इनका विस्तार—

आर्यराजा	वर्ष	मास	दिन	आर्यराजा	वर्ष	मास	दिन
१ राजा वीरमहा	३५	१०	८	९ तेजपाल	२८	११	१०
२ अजितसिंह	२७	७	१९	१० माणिकचन्द	३७	७	२१
३ सर्वदत्त	२८	३	१०	११ कामसेनी	४२	५	१०
४ भुवनपति	१५	४	१०	१२ शत्रुमर्दन	८	११	१३
५ वीरसेन	२१	२	१३	१३ जीवनलोक	२८	९	१७
६ महीपाल	४०	८	७	१४ हरिराव	२६	१०	२९
७ शत्रुशाल	२६	४	३	१५ वीरसेन (द्वि०)	३५	२	२०
८ संघराज	१७	२	१०	१६ आदित्यकेतु[१]	२३	११	१३

राजा आदित्यकेतु मगधदेश के राजा को 'धन्धर' नामक राजा प्रयाग के ने मारकर राज्य किया। वंश पीढ़ी ९, वर्ष ३७४, मास ११, दिन २६। इनका विस्तार—

आर्यराजा	वर्ष	मास	दिन	आर्यराजा	वर्ष	मास	दिन
१ राजा धन्धर	४२	७	२४	६ जीवनराज	४५	२	५
२ महर्षि	४१	२	२९	७ रुद्रसेन	४७	४	२८
३ सनरच्ची	५०	१०	१९	८ आरीलक	५२	१०	८
४ महायुद्ध	३०	३	८	९ राजपाल	३६	०	०
५ दुरनाथ	२८	५	२५				

राजा राजपाल को सामन्त महान्पाल ने मारकर राज्य किया। पीढ़ी १, वर्ष १४, मास ०, दिन ०। इनका विस्तार नहीं है।

राजा महान्पाल के राज्य पर राजा विक्रमादित्य ने 'अवन्तिका' (उज्जैन) से चढ़ाई करके राजा महान्पाल को मारके राज्य किया। पीढ़ी १, वर्ष ९३,[२] मास ०, दिन ०। इनका विस्तार नहीं है।

राजा विक्रमादित्य को शालीवाहन का उमराव समुद्रपाल

---

१. आदित्यकेतु और आदित्य पोंवार सम्भवतः एक ही हों। 'आईने-अकबरी' में वह विक्रमादित्य से ४२२ वर्ष पूर्व था। भ० द०

२. विक्रमादित्य का राज्यकाल ३९ वर्ष है। प्रतीत होता है मूल लेख में लेखक-प्रमाद से अङ्क-विपर्यय होकर ३९ का ९३ बन गया।

योगी पैठण के ने मारकर राज्य किया। पीढ़ी १६, वर्ष ३७२, मास ४, दिन २७। इनका विस्तार—

आर्यराजा	वर्ष	मास	दिन	आर्यराजा	वर्ष	मास	दिन
१ समुद्रपाल[1]	५४	२	२०	९ अमृतपाल	३६	१०	१३
२ चन्द्रपाल	३६	५	४	१० बलीपाल	१२	५	२७
३ सहायपाल	११	४	११	११ महीपाल	१३	८	४
४ देवपाल	२७	१	२८	१२ हरीपाल	१४	८	४
५ नरसिंहपाल	१८	०	२०	१३ सीसपाल[2]	११	१०	१३
६ सामपाल	२७	१	१७	१४ मदनपाल	१७	१०	१९
७ रघुपाल	२२	३	२५	१५ कर्मपाल	१६	२	२
८ गोविन्दपाल	२७	१	१७	१६ विक्रमपाल	२४	११	१३

राजा विक्रमपाल ने पश्चिम दिशा का राजा (मलुखचन्द बोहरा था) इन पर चढ़ाई करके मैदान में लड़ाई की। इस लड़ाई में मलुखचन्द ने विक्रमपाल को मारकर इन्द्रप्रस्थ का राज्य किया। पीढ़ी १०, वर्ष १९१, मास १, दिन १६। इनका विस्तार—

आर्यराजा	वर्ष	मास	दिन	आर्यराजा	वर्ष	मास	दिन
१ मलुखचन्द	५४	२	१०	६ कल्याणचन्द	१०	५	८
२ विक्रमचन्द	१२	७	१२	७ भीमचन्द	१६	२	९
३ अमीनचन्द[3]	१०	०	५	८ लोवचन्द	२६	३	२२
४ रामचन्द	१३	११	८	९ गोविन्दचन्द	३१	७	१२
५ हरीचन्द	१४	९	२४	१० रानी पद्मावती[4]	१	०	०

रानी पद्मावती मर गई। इसके पुत्र भी कोई नहीं था। इसलिये

---

१. श्री प० भगवद्दत्त जी के मतानुसार ये गुप्त वंश के सम्राट् हैं। उन्होंने संख्या १, २, ४, ५, ८ के नामों की तुलना समुद्रपाल=समुद्रगुप्त, चन्द्रपाल=चन्द्रगुप्त, देवपाल=देवगुप्त, स्कन्दगुप्त, नरसिंहपाल=नृसिंहगुप्त, गोविन्दपाल=गोविन्दगुप्त के साथ की है। उनके इतिहास के अनुसार समुद्रगुप्त का राज्यकाल ५१ वर्ष और चन्द्रगुप्त का ३६ वर्ष था। इस वंशावली के अनुसार समुद्रपाल शालीवाहन का सामन्त था। शालीवाहन आन्ध्र थे। अतः गुप्त भी आन्ध्रभृत्य थे।

२. किसी इतिहास में भीमपाल भी लिखा है। मूल टि०

३. इसका नाम कहीं मानकचन्द भी लिखा है। मूल टि०

४. वह पद्मावती गोविन्दचन्द की रानी थी। मूल टि०

सब मुत्सद्दियों ने सलाह करके हरिप्रेम वैरागी को गद्दी पर बैठाके मुत्सद्दी राज्य करने लगे। पीढ़ी ४, वर्ष ५०, मास ०, दिन २१। हरिप्रेम का विस्तार—

आर्यराजा	वर्ष	मास	दिन	आर्यराजा	वर्ष	मास	दिन
१ हरिप्रेम	७	५	१६	३ गोपालप्रेम	१५[1]	७	२८
२ गोविन्दप्रेम	२०	२	८	४ महाबाहु	६	८	२९

राजा महाबाहु राज्य छोड़के वन में तपश्चर्या करने गये। यह बंगाल के राजा आधीसेन ने सुनके इन्द्रप्रस्थ में आके आप राज्य करने लगे। पीढ़ी १२, वर्ष १५१, मास ११, दिन २। इनका विस्तार—

आर्यराजा	वर्ष	मास	दिन	आर्यराजा	वर्ष	मास	दिन
१ राजा आधीसेन	१८	५	२१	७ कल्याणसेन	४	८	२१
२ विलावलसेन	१२	४	२	८ हरीसेन	१२	०	२५
३ केशवसेन	१५	७	१२	९ क्षेमसेन	८	११	१५
४ माधसेन	१२	४	२	१० नारायणसेन	२	२	२९
५ मयूरसेन	२०	११	२७	११ लक्ष्मीसेन	२६	१०	०
६ भीमसेन	५	१०	९	१२ दामोदरसेन	११	५	१९

राजा दामोदरसेन ने अपने उमराव को बहुत दुःख दिया। इसलिये राजा के उमराव दीपसिंह ने सेना मिलाके राजा के साथ लड़ाई की। उस लड़ाई में राजा को मारकर दीपसिंह आप राज्य करने लगे। पीढ़ी ६, वर्ष १०७, मास ६, दिन २२। इनका विस्तार—

आर्यराजा	वर्ष	मास	दिन	आर्यराजा	वर्ष	मास	दिन
१ दीपसिंह	१७	१	२६	४ नरसिंह	४५	०	१५
२ राजसिंह	१४	५	०	५ हरिसिंह	१३	२	२९
३ रणसिंह	९	८	११	६ जीवनसिंह	८	०	१

राजा जीवनसिंह ने कुछ कारण के लिये अपनी सब सेना उत्तर दिशा को भेज दी। यह खबर पृथ्वीराज चह्वाण वैराट के राजा सुनकर जीवनसिंह के ऊपर चढ़ाई करके आये, और लड़ाई में जीवन-

१. वै० य० मुद्रित कुछ संस्करणों में वर्षमान १ छपा है, वह अशुद्ध है।

सिंह को मारकर इन्द्रप्रस्थ का राज्य किया।[1] पीढ़ी ५, वर्ष ८६, मास०, दिन २०। इनका विस्तार—

आर्यराजा	वर्ष	मास	दिन	आर्यराजा	वर्ष	मास	दिन
१ पृथ्वीराज	१२	२	१६	४ उदयपाल	११	७	३
२ अभयपाल	१४	५	१७	५ यशपाल	३६	४	२७
३ दुर्जनपाल	११	४	१४				

राजा यशपाल[2] के ऊपर सुलतान शहाबुद्दीन गोरी गढ़ गजनी से चढ़ाई करके आया, और राजा यशपाल को प्रयाग के किले में संवत् १२४९[3] साल में पकड़कर कैद किया। पश्चात् इन्द्रप्रस्थ अर्थात्

[१. इसके आगे और इतिहासों में इस प्रकार है कि महाराज पृथ्वीराज के ऊपर सुल्तान शहाबुद्दीन गोरी चढ़कर आया, और कई बार हारकर लौट गया। अन्त में संवत् १२४९ में आपस की फूट के कारण महाराज पृथ्वीराज को जीत अन्धा कर अपने देश को ले गया। पश्चात् दिल्ली (इन्द्रप्रस्थ) का राज्य आप करने लगा। मुसलमानों का राज्य पीढ़ी ४५, वर्ष ६१३ तक रहा।]

यह टिप्पणी न मूल में है, न संस्करण २, ३, ४ में। पञ्चम सं० में प्रथम बार छपी है। सं० ५ का सम्पादन श्री पं० लेखराम जी ने किया था। अतः यह टिप्पणी उन्हीं की होगी। उपरि निर्दिष्ट वंशावली से सम्बद्ध लेख में जो भूलें दर्शाई हैं। उनके साथ ग्रन्थकार का कोई सम्बन्ध नहीं है। क्योंकि ग्रन्थकार ने आरम्भ (पृष्ठ ५९९)में लिख दिया है कि में यह अंश 'हरिश्चन्द्र चन्द्रिका' और 'मोहनचन्द्र चन्द्रिका' पत्रों के अनुसार उद्धृत कर रहा हूं।

२. उपलब्ध इतिहास के अनुसार शहाबुद्दीन गोरी ने पृथ्वीराज पर आक्रमण कर उसे पराजित करके सं० १२४९=सन् ११७२ में दिल्ली पर अधिकार किया था।

३. यहां एक अशुद्धि और भी ध्यान देने योग्य है। कलिसंवत् का आरम्भ महाराजा युधिष्ठिर के राज्य के अन्त में श्री कृष्ण के स्वर्गवास के पश्चात् हुआ था। विक्रम संवत् कलि संवत् ३०४४ के पश्चात् प्रारम्भ हुआ। ये दोनों बातें भारतीय काल गणनानुसार सर्वसम्मत हैं। कलि सं० ३०४४ में वि० स० १२४९ जोड़ने पर ४२९३ वर्ष बनते हैं। पृष्ठ ६०० पर आगे उल्लिखित १२४ राजाओं का राज्य काल ४१५७ वर्ष ९ मास १४ दिन लिखा है। यह जोड़ आगे लिखे वर्षों के अनुसार है। ४१५७ वर्ष ९ मास १४ दिन में महाराजा युधिष्ठिर का राज्य काल ३६ वर्ष ८ मास २५ दिन कम करने पर ४१२१ वर्ष १९ दिन काल शेष रहता है। वि० सं० १२४९ तक

दिल्ली का राज्य आप (सुलतान शहाबुद्दीन) करने लगा। पीढ़ी ५३, वर्ष ७५४[1], मास १, दिन १७। इनका विस्तार बहुत इतिहास पुस्तकों में लिखा है। इसलिये यहां नहीं लिखा।

इसके आगे बौद्ध-जैनमत विषय में लिखा जायगा।

इति श्रीमद्दयानन्दसरस्वतीस्वामिनिर्मिते सत्यार्थप्रकाशे सुभाषाविभूषित आर्य्यावर्त्तीयमतखण्डनमण्डनविषय एकादशः समुल्लासः सम्पूर्णः ॥११॥

कलि संवत् ४२९३ होता है। इस प्रकार उक्त वंशावली के अनुसार १७२ दिन का अन्तर आता है। इससे तथा अन्य दर्शाई गई अशुद्धियों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि इस वंशावली में कई शोधन अपेक्षित हैं। यह कार्य अन्य वंशावलियों को प्राप्त करके ही सम्भव है।

१. यहां पीढ़ी और राज्यकाल के निर्देश में निश्चय ही भूल हुई है। सं० १२४९ में ७५४ वर्ष जोड़ने पर योग २००३ वि० वर्ष होता है। अंग्रेजों ने दिल्ली पर अधिकार सन् १८०३ वि० संवत् १८६० में कर लिया था। अगले बादशाह नाममात्र के थे। सन् १८५७=वि० सं० १९१४ से तो अंग्रेजों का पूर्ण प्रभुत्व हो गया था। यहां न्यूनातिन्यून १०० वर्ष की भूल है।

अनुभूमिका (२)

जब आर्य्यावर्त्तस्थ मनुष्यों में सत्याऽसत्य का यथावत् निर्णय करानेवाली वेदविद्या छूटकर अविद्या फैलके मतमतान्तर खड़े हुए, [तब] यही जैन आदि के विद्याविरुद्ध मत-प्रचार का निमित्त हुआ।

क्योंकि वाल्मीकीय और महाभारतादि में जैनियों का नाम-मात्र भी नहीं लिखा। और जैनियों के ग्रन्थों में वाल्मीकीय और भारत में कथित 'राम-कृष्णादि' की गाथा बड़े विस्तारपूर्वक लिखी हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि यह मत इनके पीछे चला। क्योंकि जैसा अपने मत को बहुत प्राचीन जैनी लोग लिखते हैं, वैसा होता तो वाल्मीकीय [रामायण] आदि ग्रन्थों में उनकी कथा अवश्य होती। इसलिये जैनमत इन ग्रन्थों के पीछे चला है।

कोई कहे कि जैनियों के ग्रन्थों में से कथाओं को लेकर वाल्मीकीय [रामायण] आदि ग्रन्थ बने होंगे, तो उनसे पूंछना चाहिये कि वाल्मीकीय [रामायण] आदि में तुम्हारे ग्रन्थों का नाम-लेख भी क्यों नहीं? और तुम्हारे ग्रन्थों में क्यों है? क्या पिता के जन्म का दर्शन पुत्र कर सकता है? कभी नहीं। इससे यही सिद्ध होता है कि जैन-बौद्ध मत शैव-शाक्तादि मतों के पीछे चला है।

अब इस १२ बारहवें समुल्लास में जो-जो जैनियों के मत-विषयक लिखा गया है, सो-सो उनके ग्रन्थों के पते पूर्वक लिखा है। इसमें जैनी लोगों को बुरा न मानना चाहिये। क्योंकि जो-जो हमने इनके मत-विषय में लिखा है,वह केवल सत्याऽसत्य के निर्णयार्थ है, न कि विरोध वा हानि करने के अर्थ।

इस लेख को जब जैनी बौद्ध वा अन्य लोग देखेंगे, तब सबको सत्याऽसत्य के निर्णय में विचार और लेख करने का समय मिलेगा, और बोध भी होगा। जबतक वादी-प्रतिवादी होकर प्रीति से वाद वा लेख न किया जाय,तबतक सत्याऽसत्य का निर्णय नहीं हो सकता।

जब विद्वान् लोगों में सत्याऽसत्य का निश्चय नहीं होता, तभी

अविद्वानों को महा अन्धकार में पड़कर बहुत दुःख उठाना पड़ता है। इसलिये सत्य के जय और असत्य के क्षय के अर्थ मित्रता से वाद वा लेख करना हमारी मनुष्यजाति का मुख्य काम है। यदि ऐसा न हो, तो मनुष्यों की उन्नति कभी न हो।

और यह बौद्ध-जैन मत का विषय विना इनके अन्य मत वालों को अपूर्व लाभ और बोध करनेवाला होगा। क्योंकि ये लोग अपने पुस्तकों को किसी अन्य मत वाले को देखने-पढ़ने वा लिखने को भी नहीं देते।

बड़े परिश्रम से मेरे और विशेष आर्य्यसमाज मुम्बई के मन्त्री 'सेठ सेवकलाल कृष्णदास' के पुरुषार्थ से ग्रन्थ प्राप्त हुए हैं।[1] तथा काशीस्थ 'जैनप्रभाकर' यन्त्रालय में छपने, और मुम्बई में 'प्रकरण-रत्नाकर' ग्रन्थ के छपने से भी सब लोगों को जैनियों का मत देखना सहज हुआ है।

भला यह किन विद्वानों की बात है कि अपने मत के पुस्तक आप ही देखना, और दूसरों को न दिखलाना? इसीसे विदित होता है कि इन ग्रन्थों के बनानेवालों को प्रथम ही शंका थी कि इन ग्रन्थों में असम्भव बातें हैं। जो दूसरे मत वाले देखेंगे, तो खण्डन करेंगे। और हमारे मत वाले दूसरों के ग्रन्थ देखेंगे, तो इस मत में श्रद्धा न रहेगी।

अस्तु,जो हो। परन्तु बहुत मनुष्य ऐसे हैं कि जिनको अपने दोष तो नहीं दीखते, किन्तु दूसरों के दोष देखने में अति उद्युक्त रहते हैं। यह न्याय की बात नहीं। क्योंकि प्रथम अपने दोष देख निकालके पश्चात् दूसरों के दोषों में दृष्टि देके निकालें। अब इन बौद्ध-जैनियों के मत का विषय सब सज्जनों के सन्मुख धरता हूं। जैसा है वैसा विचारें।

किमधिकलेखेन बुद्धिमद्वर्येषु ।

---

१. इस विषय में देखें पृष्ठ ६ की टि० ५। सेवकलाल कृष्णदास का इस विषय का पत्र, जो महात्मा मुंशीराम (स्वामी श्रद्धानन्द) जी द्वारा सम्पादित 'ऋषि दयानन्द का पत्रव्यवहार' भाग १, पृष्ठ २५५-२६४ तक गया है, पठनीय है।

अथ द्वादश-समुल्लासारम्भः

अथ नास्तिकमतान्तर्गतचारवाक-बौद्ध-जैनमत-खण्डन-मण्डनविषयान् व्याख्यास्यामः

[चारवाक-मत-समीक्षा][1]

कोई एक बृहस्पति नामा पुरुष हुआ था, जो वेद ईश्वर और यज्ञादि उत्तम कर्मों को भी नहीं मानता था। देखिये उनका मत—

यावज्जीवं सुखं जीवेन्नास्ति मृत्योरगोचरः।
भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः॥[2]

'कोई मनुष्यादि प्राणी मृत्यु के अगोचर नहीं है, अर्थात् सबको मरना है। इसलिये जबतक शरीर में जीव रहै, तब तक सुख से रहै'। जो कोई कहे कि धर्माचरण से कष्ट होता है, जो धर्म को छोड़ें तो पुनर्जन्म में बड़ा दुःख पावें। उसको चारवाक' उत्तर देता है कि—

'अरे भोले भाई! जो मरे के पश्चात् शरीर भस्म हो जाता है कि जिसने खाया-पिया है, वह पुनः संसार में न आवेगा। इसलिये जैसे हो सके, वैसे आनन्द में रहो, लोक में नीति से चलो। ऐश्वर्य को बढ़ाओ, और उससे इच्छित भोग करो। यही लोक समझो, परलोक कुछ नहीं'।

'देखो, पृथिवी जल अग्नि वायु इन चार भूतों के परिणाम से यह शरीर बना है। इसमें इनके योग से चैतन्य उत्पन्न होता है।

---

१. इस समुल्लास में निर्दिष्ट चारवाक और बौद्ध मत का निर्देश सायणाचार्य विरचित 'सर्वदर्शनसंग्रह' पर ही आश्रित है। क्योंकि उस समय इन दोनों के मत के पुस्तक उपलब्ध न थे। जैन मत के निर्देश में भी इस ग्रन्थ से कुछ सहायता ली गई है।

२. 'सर्वदर्शन-संग्रह' (वासुदेव शास्त्री अभ्यंकर कृत टीका सहित, सन् १९२४) चार्वाक-दर्शन, पृष्ठ २। आगे भी पृष्ठ इसी संस्करण के जानने चाहियें।

जैसे मादक द्रव्य खाने-पीने से मद (=नशा) उत्पन्न होता है, इसी प्रकार जीव शरीर के साथ उत्पन्न होकर शरीर के नाश के साथ आप भी नष्ट हो जाता है[१]। फिर किसको पाप-पुण्य का फल होगा'?

तच्चैतन्यविशिष्टदेह एव आत्मा, देहातिरिक्त आत्मनि प्रमाणाभावत् ।।[२]

'जो इस शरीर में चारों भूतों के संयोग से जीवात्मा उत्पन्न होकर उन्हींके वियोग के साथ ही नष्ट हो जाता है। क्योंकि मरे पीछे कोई भी जीव प्रत्यक्ष नहीं होता। हम एक प्रत्यक्ष ही को मानते[३] हैं। क्योंकि प्रत्यक्ष के विना अनुमानादि होते ही नहीं। इसलिये मुख्य प्रत्यक्ष के सामने अनुमानादि गौण होने से उनका ग्रहण नहीं करते। सुन्दर स्त्री के आलिङ्गन से आनन्द का करना पुरुषार्थ का फल है।'[४]

उत्तर—ये पृथिव्यादि भूत जड़ हैं, उनसे चेतन की उत्पत्ति कभी नहीं हो सकती[५]। जैसे अब माता-पिता के संयोग से देह की उत्पत्ति होती है, वैसे ही आदि सृष्टि[६] में मनुष्यादि शरीरों की आकृति परमेश्वर कर्त्ता के विना कभी नहीं हो सकती। मद के समान चेतन

---

१. 'तत्र पृथिव्यादीनि भूतानि चत्वारि तत्त्वानि। तेभ्य एव देहाकारपरिणतेभ्य: किण्वादिभ्यो मदशक्तिवच्चैतन्यमुपजायते तेषु विनष्टेषु सत्सु स्वयं विनश्यति।' चार्वाक-दर्शन, पृष्ठ २। कम्यूनिज्म के प्रवर्तक कालमार्क्स का भी यही मत है। भ० द० २. चार्वाक-दर्शन, पृष्ठ ३।

३. प्रत्यक्षैकप्रमाणवादितयाऽनुमानादेरनङ्गीकारेण प्रामाण्याभावात्। चार्वाक-दर्शन, पृष्ठ ३।

४. 'प्रत्यक्षैकप्रमाणवादितयाऽनुमानादेरनङ्गीकारेण प्रामाण्याभावात्। अङ्गनाद्यालिङ्गनादिजन्यं सुखमेव पुरुषार्थ:। चार्वाकदर्शन, पृ० ३। तथा फ्रायड इस कामवासना को संसार के सम्पूर्ण पुरुषार्थों का मूल मानता है। उसे यह ज्ञान नहीं हुआ कि—**काम: सङ्कल्पसम्भव:(संकल्पमूल: कामो वै। मनु० २।३)**। अर्थात् काम की उत्पत्ति सङ्कल्प से होती है। अत: जीवन का मूलस्रोत सङ्कल्प है। भ० द०। इसीलिये वेद में शिवसंकल्प की प्रार्थना की गई है। (यजु: ३४।१-६)।

५. न भूतचैतन्यं प्रत्येकादृष्टे: सांहत्येऽपि। सांख्य ५।१२९।।

६. अर्थात् सृष्टि के आदि में। द्र०—पूर्वत्र पृष्ठ ३२९, टि० ४।

की उत्पत्ति और विनाश नहीं होता। क्योंकि मद चेतन को होता है, जड़ को नहीं।

पदार्थ नष्ट अर्थात् अदृष्ट होते हैं, परन्तु अभाव किसी का नहीं होता। इसी प्रकार अदृश्य होने से जीव का भी अभाव न मानना चाहिये।[1] जब जीवात्मा सदेह होता है, तभी उसकी प्रकटता होती है। जब [वह] शरीर को छोड़ देता है, तब यह शरीर जो मृत्यु को प्राप्त हुआ है, वह जैसा चेतनयुक्त पूर्व था, वैसा नहीं हो सकता।

यही बात बृहदारण्यक में कही है—

नाहं मोहं ब्रवीमि, अनुच्छित्तिधर्मायमात्मेति ॥[2]

याज्ञवल्क्य कहते हैं कि—'हे मैत्रेयि! मैं मोह से बात नहीं करता, किन्तु आत्मा अविनाशी है। जिसके योग से शरीर चेष्टा करता है'।

जब जीव शरीर से पृथक् हो जाता है, तब शरीर में ज्ञान कुछ भी नहीं रहता। जो देह से पृथक आत्मा न हो, तो जिसके संयोग से चेतनता और वियोग से जड़ता होती है, वह देह से पृथक् है।

जैसे आंख सब को देखती है, परन्तु अपने को नहीं, इसी प्रकार प्रत्यक्ष का करनेवाला अपने [को] ऐन्द्रिय प्रत्यक्ष नहीं कर सकता। जैसे अपनी आंख से सब घट-पटादि पदार्थ देखता है, वैसे आंख को अपने ज्ञान से देखता है। जो द्रष्टा है वह द्रष्टा ही रहता है, दृश्य कभी नहीं होता। जैसे विना आधार आधेय, कारण के विना कार्य, अवयवी के विना अवयव, और कर्त्ता के विना कर्म नहीं रह सकते, वैसे कर्त्ता के विना प्रत्यक्ष कैसे हो सकता है?

---

१. तुलना करो—यथा हिमवतः पार्श्वं पृष्ठं चन्द्रमसो यथा। न दृष्टपूर्वं मनुजैर्न च तन्नास्ति तावता ॥ तद्वद् भूतेषु भूतात्मा सूक्ष्मो ज्ञानात्मवानसौ। अदृष्टपूर्वश्चक्षुर्भ्यां न चासौ नास्ति तावता ॥ महा० शान्तिपर्व अ० २०३। श्लोक ६, ७ ॥ भ० द०

२. ग्रन्थकार ने अभिप्रायमात्र दिया है। मूल पाठ इस प्रकार है—'न वा अरेऽहं मोहं ब्रवीम्यविनाशी वा अरेऽयमात्मानुच्छित्तिधर्मा। बृह० ४।५।१४॥

जो सुन्दर स्त्री के साथ समागम करने ही को पुरुषार्थ का फल मानो, तो क्षणिक सुख और उससे दुःख भी होता है, वह भी पुरुषार्थ ही का फल होगा। जब ऐसा है तो स्वर्ग की हानि होने से दुःख भोगना पड़ेगा। जो कहो दुःख के छुड़ाने और सुख के बढ़ाने में यत्न करना चाहिये, तो मुक्तिसुख की हानि हो जाती है। इसलिये वह पुरुषार्थ का फल नहीं।

चारवाक—जो दुःख-संयुक्त सुख का त्याग करते हैं, वे मूर्ख हैं। जैसे धान्यार्थी धान्य का ग्रहण और बुस का त्याग करता है, वैसे इस संसार में बुद्धिमान् सुख का ग्रहण और दुःख का त्याग करें। क्योंकि [जो] इस लोक के उपस्थित सुख को छोड़के अनुपस्थित स्वर्ग के सुख की इच्छा कर धूर्तकथित वेदोक्त अग्निहोत्रादि कर्म उपासना और ज्ञानकाण्ड का अनुष्ठान परलोक के लिये करते हैं, वे अज्ञानी हैं।[1] जो परलोक है ही नहीं, तो उसकी आशा करना मूर्खता का काम है। क्योंकि—

अग्निहोत्रं त्रयो वेदास्त्रिदण्डं भस्मगुण्ठनम्।
बुद्धिपौरुषहीनानां जीविकेति बृहस्पतिः॥[2]

चारवाकमत-प्रचारक 'बृहस्पति' कहता है कि—'अग्निहोत्र, तीन वेद, तीन दण्ड[3], और भस्म का लगाना बुद्धि और पुरुषार्थ-रहित पुरुषों ने जीविका बना ली है।'

किन्तु कांटे लगने आदि से उत्पन्न हुए दुःख का नाम नरक, लोकसिद्ध राजा परमेश्वर, और देह का नाश होना मोक्ष [है,] अन्य कुछ भी नहीं[4] है।

---

१. द्रष्टव्य—'न चास्य दुःखसम्भिन्नतया' इत्यारभ्य 'पशुवन्मूर्खो भवेत्' इत्यन्तश्चार्वाकदर्शनस्थः पाठः (पृष्ठ ३,४)। २. चार्वाक-दर्शन, पृष्ठ ५।

३. यहां 'त्रिदण्ड' पाठ चाहिये। यह पारिभाषिक शब्द है। देखो अगला उत्तर।

४. कण्टकादिव्यथाजन्यं दुःखं निरय उच्यते। लोकसिद्धो भवेद्राजा परेशो नापरः स्मृतः॥ देहस्य नाशो मुक्तिस्तु न ज्ञानान्मुक्तिरिष्यते॥ चार्वाक-दर्शन, पृष्ठ ६,७।

उत्तर—विषयरूपी सुखमात्र को पुरुषार्थ का फल मानकर विषय-दुःखनिवारणमात्र में कृतकृत्यता और स्वर्ग मानना मूर्खता है। अग्निहोत्रादि यज्ञों से वायु वृष्टि जल की शुद्धि द्वारा आरोग्यता का होना, उससे धर्म अर्थ काम और मोक्ष की सिद्धि होती है। उसको न जानकर वेद ईश्वर और वेदोक्त धर्म की निन्दा करना धूर्तों का काम है। जो त्रिदण्ड और भस्मधारण का खण्डन है, सो ठीक है।

यदि कण्टकादि से उत्पन्न ही दुःख का नाम नरक हो, तो उससे अधिक महारोगादि नरक क्यों नहीं ? यद्यपि राजा को ऐश्वर्यवान् और प्रजापालन में समर्थ होने से श्रेष्ठ मानें तो ठीक है, परन्तु जो अन्यायकारी पापी राजा हो, उसको भी परमेश्वरवत् मानते हो, तो तुम्हारे जैसा कोई भी मूर्ख नहीं। शरीर का विच्छेद होना मात्र मोक्ष है, तो गदहे, कुत्ते आदि और तुममें क्या भेद रहा ? किन्तु आकृति ही मात्र भिन्न रही।

चारवाक—अग्निरुष्णो जलं शीतं शीतस्पर्शस्तथाऽनिलः ।
केनेदं चित्रितं तस्मात् स्वभावात्तद्व्यवस्थितिः ॥१॥
न स्वर्गो नाऽपवर्गो वा नैवात्मा पारलौकिकः ।
नैव वर्णाश्रमादीनां क्रियाश्च फलदायिकाः ॥२॥
पशुश्चेन्निहतः स्वर्गं ज्योतिष्टोमे गमिष्यति ।
स्वपिता यजमानेन तत्र कस्मान्न हिंस्यते ॥३॥
मृतानामपि जन्तूनां श्राद्धं चेत्तृप्तिकारणम् ।
गच्छतामिह जन्तूनां व्यर्थं पाथेयकल्पनम् ॥४॥
स्वर्गस्थिता यदा तृप्तिं गच्छेयुस्तत्र दानतः ।
प्रासादस्योपरिस्थानामत्र कस्मान्न दीयते ॥५॥
यावज्जीवेत्सुखं जीवेदृणं कृत्वा घृतं पिबेत् ।
भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः ॥६॥
यदि गच्छेत् परं लोकं देहादेष विनिर्गतः ।
कस्माद् भूयो न चायाति बन्धुस्नेहसमाकुलः ॥७॥

ततश्च जीवनोपायो ब्राह्मणैर्विहितस्त्विह ।
मृतानां प्रेतकार्याणि न त्वन्यद् विद्यते क्वचित् ।।८।।
त्रयो वेदस्य कर्त्तारो भण्डधूर्त्तनिशाचराः ।
जर्फरीतुर्फरीत्यादि पण्डितानां वचः स्मृतम् ।।९।।
अश्वस्यात्र हि शिश्नन्तु पत्नीग्राह्यं प्रकीर्त्तितम् ।
भण्डैस्तद्वत्परं चैव ग्राह्यजातं प्रकीर्त्तितम् ।।१०।।
मांसानां खादनं तद्वन्निशाचरसमीरितम् ।।११।।[1]

चारवाक आभाणक बौद्ध और जैन भी जगत् की उत्पत्ति स्वभाव से मानते हैं । जो-जो स्वाभाविक गुण है, उस-उससे द्रव्य संयुक्त होकर सब पदार्थ बनते हैं । कोई जगत् का कर्त्ता नहीं ।।१।।[2]

परन्तु इनमें से 'चारवाक' ऐसा[3] मानता है । किन्तु परलोक और जीवात्मा बौद्ध जैन मानते हैं, चारवाक नहीं । शेष इन तीनों का मत कोई-कोई बात छोड़के एकसा है । न कोई स्वर्ग, न कोई नरक, और न कोई परलोक में जानेवाला आत्मा है । और न वर्णाश्रम की क्रिया फलदायक है ।।२।।

जो यज्ञ में पशु को मार होम करने से वह स्वर्ग को जाता हो, तो यजमान अपने पितादि को मार होम करके स्वर्ग को क्यों नहीं भेजता ? ।।३।।

जो मरे हुए जीवों का श्राद्ध और तर्पण तृप्तिकारक होता है, तो परदेश में जानेवाले मार्ग में निर्वाहार्थ अन्न वस्त्र और धनादि को क्यों ले जाते हैं ? क्योंकि जैसे मृतक के नाम से अर्पण किया हुआ पदार्थ स्वर्ग में पहुंचता है, तो परदेश में जानेवालों के लिये उनके सम्बन्धी भी घर में उनके नाम से अर्पण करके देशान्तर में

---

१. चार्वाक-दर्शन, पृष्ठ १३,१४,१५ ।।

२. स्वभावं भूतचिन्तकाः । श्वेताश्वतर उपनिषद के आरम्भ में स्वभाव से सृष्टि उत्पत्ति मानने का पक्ष भी गिना है । आगे इसका खण्डन किया है । भ० द०

३. 'ऐसा' अर्थात् पूर्व वाक्य में कहा मात्र मानता है, इससे अधिक नहीं।

पहुंचा देवें। जो यह नहीं पहुंचता, तो स्वर्ग में वह क्योंकर पहुंच सकता है ? ॥४॥

जो मर्त्यलोक में दान करने से स्वर्गवासी तृप्त होते हैं, तो नीचे देने से घर के ऊपर स्थित पुरुष तृप्त क्यों नहीं होता ?॥५॥

इसलिये जबतक जीवे, तबतक सुख से जीवे। जो घर में पदार्थ न हो, तो ऋण लेके आनन्द करे, ऋण देना नहीं पड़ेगा। क्योंकि जिस शरीर में जीव ने खाया पिया है, उन दोनों का पुनरागमन न होगा। फिर किससे कौन मांगेगा, और कौन देवेगा ? ॥६॥

जो लोग कहते हैं कि मृत्युसमय जीव निकलके परलोक को जाता है, यह बात मिथ्या है। क्योंकि जो ऐसा होता, तो कुटुम्ब के मोह से बद्ध होकर पुन: घर में क्यों नहीं आ जाता ? ॥७॥

इसलिये यह सब ब्राह्मणों ने अपनी जीविका का उपाय किया है। जो दशगात्रादि मृतक क्रिया करते हैं, यह सब उनकी जीविका की लीला है ॥८॥

वेद के बनानेहारे भांड धूर्त्त और निशाचर अर्थात् राक्षस ये तीन हैं। 'जर्फरी' 'तुर्फरी'[1] इत्यादि पण्डितों के धूर्त्ततायुक्त वचन हैं ॥९॥

देखो, धूर्त्तों की रचना—घोड़े के लिङ्ग को स्त्री ग्रहण करे। उसके साथ समागम यजमान की स्त्री से कराना, कन्या से ठट्ठा [करना] आदि लिखना, धूर्त्तों के विना नहीं हो सकता ॥१०॥

और जो मांस का खाना लिखा है, वह वेदभाग राक्षस का बनाया है ॥११॥

उत्तर—विना चेतन परमेश्वर के निर्माण किये जड़ पदार्थ स्वयं आपस में स्वभाव से नियमपूर्वक मिलकर उत्पन्न नहीं हो सकते। जो स्वभाव से ही होते हों, तो द्वितीय सूर्य चन्द्र पृथिवी और नक्षत्रादि लोक आपसे आप क्यों नहीं बन जाते हैं ? ॥१॥

---

१. ऋ० १०।१०६।६॥

'स्वर्ग' सुखभोग, और 'नरक' दुःखभोग का नाम है। जो जीवात्मा न होता, तो सुख-दुःख का भोक्ता कौन हो सके ? जैसे इस समय सुख-दुःख का भोक्ता जीव है, वैसे परजन्म में भी होता है। क्या सत्यभाषण और परोपकारादि क्रिया भी वर्णाश्रमियों की निष्फल होगी ? कभी नहीं ॥२॥

पशु मारके होम करना वेदादि सत्यशास्त्रों में कहीं नहीं लिखा। और मृतकों का श्राद्ध-तर्पण करना कपोलकल्पित है। क्योंकि यह वेदादि सत्यशास्त्रों के विरुद्ध होने से भागवतादि पुराणमत वालों का मत है। इसलिये इस बात का खण्डन अखण्डनीय है ॥३–५॥[1]

जो वस्तु है, उसका अभाव कभी नहीं होता। विद्यमान जीव का अभाव नहीं हो सकता। देह भस्म हो जाता है, जीव नहीं। जीव तो दूसरे शरीर में जाता है। इसलिये जो कोई ऋणादि कर विराने पदार्थों से इस लोक में भोग कर नहीं देते हैं, वे निश्चय पापी होकर दूसरे जन्म में दुःख-रूपी नरक भोगते हैं। इसमें कुछ भी सन्देह नहीं ॥६॥

देह से निकलकर जीव स्थानान्तर और शरीरान्तर को प्राप्त होता है, और उसको पूर्वजन्म तथा कुटुम्बादि का ज्ञान कुछ भी नहीं रहता। इसलिये पुनः कुटुम्ब में नहीं आ सकता ॥७॥

हां,ब्राह्मणों ने प्रेत-कर्म अपनी जीविकार्थ बना लिया है। परन्तु वेदोक्त न होने से खण्डनीय है ॥८॥

अब कहिये, जो चारवाक आदि ने वेदादि सत्यशास्त्र देखे सुने वा पढ़े होते, तो वेदों की निन्दा कभी न करते कि—'वेद भांड धूर्त्त और निशाचरवत् पुरुषों ने बनाये हैं,' ऐसा वचन कभी न निकालते। हां, भांड धूर्त्त निशाचरवत् महीधरादि[2] टीकाकार हुए हैं, उनकी धूर्त्तता है, वेदों की नहीं।

---

१. संस्करण २ में यहां से आगे ४-५ आदि संख्याक्रम श्लोकानुसार नहीं है। २. संवत् १६४५ के समीप महीधर का काल है। उससे बहुत पूर्व ऐसे भ्रष्ट भाष्य होने लगे थे। भ० द०

परन्तु शोक है चारवाक आभाणक बौद्ध और जैनियों पर, कि इन्होंने मूल चार वेदों की संहिताओं को भी न सुना, न देखा, और न किसी विद्वान् से पढ़ा। इसीलिये नष्टभ्रष्टबुद्धि होकर ऊटपटांग वेदों की निन्दा करने लगे। दुष्ट वाममार्गियों की प्रमाणशून्य कपोलकल्पित भ्रष्ट टीकाओं को देखकर वेदों से विरोधी होकर अविद्यारूपी अगाध समुद्र में जा गिरे ॥९॥

भला विचारना चाहिये कि स्त्री से अश्व के लिङ्ग का ग्रहण कराके उससे समागम कराना[1], और यजमान की कन्या से हांसी ठट्ठा आदि करना, सिवाय वाममार्गी लोगों के[2] अन्य मनुष्यों का काम नहीं है। विना इन महापापी वाममार्गियों के भ्रष्ट वेदार्थ से विपरीत अशुद्ध व्याख्यान कौन करता?

अत्यन्त शोक तो इन चारवाक आदि पर है, जो कि विना विचारे वेदों की निन्दा करने पर तत्पर हुए। तनिक तो अपनी बुद्धि से काम लेते। क्या करें बिचारे? उनमें इतनी विद्या ही नहीं थी, जो सत्यासत्य का विचार कर सत्य का मण्डन और असत्य का खण्डन करते ॥१०॥

और जो मांस खाना है, यह भी उन्हीं वाममार्गी टीकाकारों की लीला है। इसलिये उनको 'राक्षस' कहना उचित है। परन्तु वेदों में कहीं मांस का खाना नहीं लिखा। इसलिये इत्यादि मिथ्या बातों का पाप उन टीकाकारों को, और जिन्होंने वेदों के जाने सुने विना मनमानी निन्दा की है, निःसन्देह उनको लगेगा।

सच तो यह है कि जिन्होंने वेदों से विरोध किया और करते हैं और करेंगे, वे अवश्य अविद्यारूपी अन्धकार में पड़के सुख के बदले दारुण दुःख जितना पावें, उतना ही न्यून है। इसलिये मनुष्यमात्र को वेदानुकूल चलना समुचित है ॥११॥

जो वाममार्गियों ने मिथ्या कपोलकल्पना करके वेदों के नाम से अपना प्रयोजन सिद्ध करना, अर्थात् यथेष्ट मद्यपान मांस खाने और

---

१. सं० २ में 'करना' पाठ है। २. सं० २ में 'से' पाठ है।

परस्त्रीगमन करने आदि दुष्ट कामों की प्रवृत्ति होने के अर्थ वेदों को कलङ्क लगाया। इन्हीं बातों को देखकर चारवाक बौद्ध तथा जैन लोग वेदों की निन्दा करने लगे। और पृथक् एक वेदविरुद्ध अनीश्वरवादी अर्थात् नास्तिक मत चला लिया।

जो चारवाकादि वेदों का मूलार्थ विचारते, तो झूंठी टीकाओं को देखकर सत्य वेदोक्त मत से क्यों हाथ धो बैठते? क्या करें बिचारे? **'विनाशकाले विपरीतबुद्धिः'**[1] जब नष्ट-भ्रष्ट होने का समय आता है, तब मनुष्य की उल्टी बुद्धि हो जाती है।

अब जो चारवाकादिकों में भेद हैं, सो लिखते हैं। ये चारवाकादि बहुतसी बातों में एक हैं, परन्तु चारवाक देह की उत्पत्ति के साथ जीवोत्पत्ति, और उसके नाश के साथ ही जीव का भी नाश मानता है। पुनर्जन्म और परलोक को नहीं मानता। एक प्रत्यक्ष प्रमाण के विना अनुमानादि प्रमाणों को भी नहीं मानता। चारवाक शब्द का अर्थ—'जो बोलने में प्रगल्भ और विशेषार्थ वैतण्डिक होता है'।

और बौद्ध जैन प्रत्यक्षादि चारों प्रमाण, अनादि जीव, पुनर्जन्म, परलोक और मुक्ति को भी मानते हैं। इतना ही चारवाक से बौद्ध और जैनियों का भेद है। परन्तु नास्तिकता, वेद-ईश्वर की निन्दा, परमतद्वेष, और छः यतना,[2] जगत् का कर्त्ता कोई नहीं, इत्यादि बातों में सब एक ही हैं। यह 'चारवाक' का मत संक्षेप से दर्शा दिया।

[बौद्धमत-समीक्षा]

[अब] **बौद्धमत**[3] के विषय में संक्षेप से लिखते हैं—

कार्य्यकारणभावाद्वा स्वभावाद्वा नियामकात्।
अविनाभावनियमो दर्शनान्तरदर्शनात्॥[4]

---

१. चाणक्यनीति १६।५॥ २. अर्थात् आगे कहे छः कर्म। भ० द०

३. बौद्धमत का जो यहां वर्णन किया गया है। वह प्रधानरूप से 'सर्वदर्शन-संग्रह' के अन्तर्गत 'बौद्धदर्शन' के अनुसार है। ग्रन्थकार के काल में बौद्धदर्शन के ग्रन्थ दुर्लभ थे।

४. सर्वदर्शन-संग्रह, बौद्धमत, पृष्ठ १६। तथा चित्सुख कृत तत्त्वदीपिका में कीर्ति (=धर्मकीर्ति) के नाम से उद्धृत।

कार्य्यकारणभाव अर्थात् कार्य्य के दर्शन से कारण और कारण के दर्शन से कार्य्यादि का साक्षात्कार प्रत्यक्ष से, शेष में अनुमान होता है। इसके विना प्राणियों के सम्पूर्ण व्यवहार पूर्ण नहीं हो सकते। इत्यादि लक्षणों से अनुमान को अधिक मानकर चारवाक से भिन्न शाखा बौद्धों की हुई है।

बौद्ध चार प्रकार के हैं[1]—एक 'माध्यमिक'; दूसरा 'योगाचार'; तीसरा 'सौत्रान्तिक'; और चौथा 'वैभाषिक'।

'**बुद्धया निर्वर्त्तते स बौद्धः**' जो बुद्धि से सिद्ध हो, अर्थात् जो-जो बात अपनी बुद्धि में आवे, उस-उसको माने। और जो-जो [अपनी] बुद्धि में न आवे, उस-उसको नहीं माने।

इनमें से पहला 'माध्यमिक' 'सर्वशून्य' मानता है। अर्थात् जितने[2] पदार्थ हैं वे सब शून्य। अर्थात् आदि में नहीं होते, अन्त में नहीं रहते। मध्य में जो प्रतीत होता है, वह भी प्रतीति[3] समय में है, पश्चात् शून्य हो जाता है। जैसे—उत्पत्ति के पूर्व घट नहीं था, प्रध्वंस के पश्चात् नहीं रहता, और घटज्ञानसमय में भासता, और पदार्थान्तर में ज्ञान जाने से घटज्ञान नहीं रहता। इसलिये 'शून्य' ही एक तत्त्व है।

दूसरा 'योगाचार', जो 'बाह्य-शून्य' मानता है। अर्थात् पदार्थ भीतर ज्ञान में भासते[4] हैं, बाहर नहीं। जैसे घटज्ञान आत्मा में है, तभी मनुष्य कहता कि 'यह घट है'। जो भीतर ज्ञान न हो, तो नहीं कह सकता। ऐसा मानता है।

तीसरा 'सौत्रान्तिक', जो 'बाहर अर्थ का अनुमान' मानता है। क्योंकि बाहर कोई पदार्थ साङ्गोपाङ्ग प्रत्यक्ष नहीं होता। किन्तु एक-

---

१. ते च बौद्धाश्चतुर्विधया भावनया परमपुरुषार्थं कथयन्ति। ते च माध्यमिक-योगाचार-सौत्रान्तिक-वैभाषिकसंज्ञाभिः प्रसिद्धा बौद्धा यथाक्रमं सर्व-शून्यत्व-बाह्यार्थशून्यत्व-बाह्यार्थानुमेयत्व-बाह्यार्थप्रत्यक्षवादान् आतिष्ठन्ते। बौद्ध-दर्शन, पृष्ठ १९।

२. सं० २ में 'कितने' अपपाठ है।

३. वै० य० मुद्रित संस्करणों में 'प्रतीत' अपपाठ है।

४. सं० २ में 'भाषते' अपपाठ है।

देश प्रत्यक्ष होने से शेष में अनुमान किया जाता है। इसका ऐसा मत है।

चौथा 'वैभाषिक' है। उसका मत 'बाहर पदार्थ प्रत्यक्ष होता है, भीतर नहीं।' जैसे 'अयं नीलो घटः' इस प्रतीति में नीलयुक्त घटाकृति बाहर प्रतीति होती है। यह ऐसा मानता है।

यद्यपि इनका आचार्य बुद्ध एक है, तथापि शिष्यों के बुद्धिभेद से चार प्रकार [की] शाखा हो गईं हैं। जैसे सूर्यास्त होने में जारपुरुष परस्त्रीमगन, और विद्वान् सत्यभाषणादि श्रेष्ठ कर्म करते हैं। समय एक, परन्तु अपनी-अपनी बुद्धि के अनुसार भिन्न-भिन्न चेष्टा करते हैं।[1]

अब[2] इन पूर्वोक्त चारों में [प्रथम] 'माध्यमिक'—'सबको क्षणिक मानता है। अर्थात् क्षण-क्षण में बुद्धि के परिणाम होने से जो पूर्व क्षण में ज्ञात वस्तु था, वैसा ही दूसरे क्षण में नहीं रहता। इसलिये सबको क्षणिक मानना चाहिये।' ऐसे मानता है।

---

१. यद्यपि भगवान् बुद्ध एक एव बोधयिता, तथापि बोद्धव्यानां बुद्धिभेदाच्चातुर्विध्यम्। यथा गतोऽस्तमक इत्युक्ते जारचोरानूचानादयः स्वेष्टचेष्टानुसारेणाभिसरण-परस्वहरण-सदाचरणादिसमयं बुध्यन्ते। बौद्धद०, पृष्ठ १६।

२. यहां से आगे पाठ कुछ भ्रष्ट हुआ है। वस्तुतः अगला प्रकरण माध्यमिक आदि बौद्ध-भेदों का नहीं है। अपितु पूर्व संकेतित बुद्ध की उन भावनाओं का है, जिन्हें उनके शिष्यों ने अन्यथा ग्रहण किया। वह बुद्ध का उपदेश इस प्रकार है—'सर्वं क्षणिकं **क्षणिकम्, दुःखं दुःखम्, स्वलक्षणं स्वलक्षणम्, शून्यं शून्यम्**। बौद्धद०, पृष्ठ १६। इन चारों तत्त्वों की भाषा में लिखी गई व्याख्या ठीक है। केवल इस व्याख्या में से बारीक टाइप में छपा अंश यहां नहीं होना चाहिये।

उक्त चार भावनाओं की व्याख्या माध्यमिक आदि पद बोधित आचार्यों ने इस प्रकार समझी—

माध्यमिक—'आचार्य ने क्षणिक उपदेश के द्वारा यह दर्शाया है कि स्थायित्व अनुकूलवेदनीयत्व अनुगतत्व सत्यत्व का स्वीकार करना भ्रम है।

दूसरा 'योगाचार'—'जो प्रवृत्ति है, सो सब दुःखरूप है। क्योंकि प्राप्ति में सन्तुष्ट कोई भी नहीं रहता। एक की प्राप्ति में दूसरे की इच्छा बनी ही रहती है।' इस प्रकार मानता है।

तीसरा 'सौत्रान्तिक'—'सब पदार्थ अपने-अपने लक्षणों से लक्षित होते हैं। जैसे गाय के चिह्नों से गाय और घोड़े के चिह्नों से घोड़ा ज्ञात होता है। वैसे लक्षण लक्ष्य में सदा रहते हैं।' ऐसा कहता है।

चौथा 'वैभाषिक' 'शून्य ही को एक पदार्थ मानता है।'

प्रथम माध्यमिक सबको शून्य मानता था। उसी का पक्ष वैभाषिक का भी है। इत्यादि बौद्धों में बहुत से विवाद पक्ष हैं। इस प्रकार चार प्रकार की भावना मानते हैं।

उत्तर—जो सब शून्य हो, तो शून्य का जाननेवाला शून्य नहीं हो सकता। और जो सब शून्य होवे, तो शून्य को शून्य नहीं जान सके। इसलिये शून्य का ज्ञाता और ज्ञेय दो पदार्थ सिद्ध होते हैं।

और जो 'योगाचार' बाह्यशून्यत्व मानता है, तो पर्वत इसके[1] भीतर होना चाहिये। जो कहे कि पर्वत भीतर है, तो उसके हृदय

इस भ्रम को दूर करने के लिये क्षणिकत्व का सर्वशून्त्व में पर्यवसान जानना चाहिये।' (बौ०द०, पृ० २६)

योगाचार—'बुद्धोपदिष्ट भावना-चतुष्टय को स्वीकार करते हुए बाह्यार्थशून्यत्व को भी मानना चाहिये। सर्वशून्य पक्ष में यदि अन्तःशून्य भी मान लिया जाये, तो सारा जगत् ही अन्ध हो जाये, उसे पदार्थ की प्रतीति ही न होवे। इसलिये पदार्थ बाहर नहीं हैं भीतर है, इसमें बुद्ध का तात्पर्य है।' (बौद्धद०, पृ० ३०)

वैभाषिक—'क्षणिकत्व का उपदेश होने पर भी बाह्यवस्तु की स्थिति माननी चहिये। अन्यथा प्रत्यक्ष ज्ञान ही उपपन्न नहीं होता है।' (बौद्धद०, पृ० ३३)

सौत्रान्तिक—'प्रत्यक्षबल से पदार्थ को बाहर मानना ठीक नहीं है। पदार्थ के एकदेश के प्रत्यक्ष से अनुमान द्वारा उस पदार्थ का साङ्गोपाङ्ग ज्ञान होता है। अतः साङ्गोपाङ्ग बाह्यपदार्थ अनुमान-गम्य है'।

१. इसके=ज्ञाता के।

में पर्वत के समान अवकाश कहां है ? इसलिये बाहर पर्वत है, और पर्वतज्ञान आत्मा में रहता है ।

'सौत्रान्तिक' किसी पदार्थ को प्रत्यक्ष नहीं मानता, तो वह आप स्वयं और उसका वचन भी अनुमेय होना चाहिये, प्रत्यक्ष नहीं। जो प्रत्यक्ष न हो, तो 'अयं घटः' यह प्रयोग भी न होना चाहिये। किन्तु 'अयं घटैकदेशः' यह घट का एक देश है' [ऐसा प्रयोग होना चाहिये] । और एकदेश का नाम घट नहीं, किन्तु समुदाय का नाम घट है। 'यह घट है' यह प्रत्यक्ष है, अनुमेय नहीं। क्योंकि सब अवयवों में अवयवी एक है। उसके प्रत्यक्ष होने से सब घट के अवयव भी प्रत्यक्ष होते हैं। अर्थात् सावयव [घट] प्रत्यक्ष होता है।

चौथा 'वैभाषिक' बाह्य पदार्थों को प्रत्यक्ष मानता है। वह भी ठीक नहीं। क्योंकि जहां ज्ञाता और ज्ञान होता है, वहीं प्रत्यक्ष होता है। यद्यपि प्रत्यक्ष का विषय बाहर होता है, [तथापि] तदाकार ज्ञान आत्मा को होता है।[1]

वैसे जो क्षणिक पदार्थ और उसका ज्ञान क्षणिक हो, तो 'प्रत्यभिज्ञा' अर्थात् मैंने वह बात की थी, [ऐसा] स्मरण न होना चाहिये। परन्तु पूर्वदृष्टश्रुत का स्मरण होता है। इसलिये क्षणिकवाद भी ठीक नहीं।

जो सब दुःख ही हो, और सुख कुछ भी न हो, तो सुख की अपेक्षा के विना दुःख सिद्ध नहीं हो सकता। जैसे रात्रि की अपेक्षा से दिन, और दिन की अपेक्षा से रात्रि होती है। इसलिये सब दुःख मानना ठीक नहीं।

जो स्वलक्षण ही मानें, तो नेत्र[2] रूप का लक्षण है, और रूप लक्ष्य है। जैसे घट का रूप, घट के रूप का लक्षण चक्षु लक्ष्य से

---

१. यहां से आगे पूर्वोक्त चार भावनाओं की समीक्षा जाननी चहिये।

२. स्वामी वेदानन्द जी का पाठ इस प्रकार है—'नेत्रग्राह्यत्व रूप का लक्षण है, और रूप लक्ष्य है। जैसा घट का रूप लक्ष्य, चक्षुर्ग्राह्यत्व लक्षण से भिन्न है और गन्ध।'

भिन्न है, और गन्ध पृथिवी से अभिन्न है। इसी प्रकार भिन्नाभिन्न लक्ष्य लक्षण मानना चाहिये।

शून्य का जो उत्तर पूर्व दिया है, वही अर्थात् शून्य का जाननेवाला शून्य [से] भिन्न होता है।[1]

जिनको बौद्ध तीर्थङ्कर मानते हैं, उन्हीं को जैन भी मानते हैं। इसीलिये ये दोनों एक हैं। और पूर्वोक्त 'भावनाचतुष्टय' अर्थात् चार भावनाओं से सकल वासनाओं की निवृत्ति से शून्यरूप निर्वाण अर्थात् मुक्ति मानते हैं।

अपने शिष्यों को योग आचार का उपदेश करते हैं। गुरु के वचन का प्रमाण करना, अनादि बुद्धि में वासना होने से बुद्धि ही अनेकाकार भासती है। उनमें ये पांच स्कन्ध[2] [हैं]—

रूपविज्ञानवेदनासंज्ञासंस्कारसंज्ञकः ॥[3]

[4]प्रथम—जो इन्द्रियों से रूपादि विषय ग्रहण किया जाता है, वह 'रूपस्कन्ध'। दूसरा - आलयविज्ञान, प्रवृत्ति का जाननारूप व्यवहार को 'विज्ञानस्कन्ध'। तीसरा—रूपस्कन्ध और विज्ञानस्कन्ध से उत्पन्न हुआ सुख-दुःख आदि प्रतीतिरूप व्यवहार को 'वेदनास्कन्ध'। चौथा—गौ आदि संज्ञा का सम्बन्ध नामी के साथ मानने रूप को 'संज्ञास्कन्ध'। पांचवां—वेदनास्कन्ध से रागद्वेषादि क्लेश और क्षुधा-

---

१. इसके आगे वै० यं० मुद्रित में 'सर्वस्य संसारस्य०' पाठ मिलता है। उसका सम्बन्ध आगे होने से यथास्थान रख दिया है।

२. सं. २ में 'उनमें से प्रथम स्कन्ध' अपपाठ है। उनमें=बुद्धि के अनेकाकार भासने में। ३. बौद्धदर्शन, पृष्ठ ३९, पं० ११।

४. यहां से आगे की भाषा का मूलपाठ इस प्रकार है—'तत्र रूप्यन्त एभिर्विषया इति, रूप्यन्त इति च व्युत्पत्त्या सविषयाणीन्द्रियाणि रूपस्कन्धः। आलयविज्ञानप्रवृत्तिविज्ञानप्रवाहो विज्ञानस्कन्धः। प्रागुक्तस्कन्धद्वयसंबन्धजन्यः सुखदुःखादिप्रत्ययप्रवाहो वेदनास्कन्धः। गौरित्यादिशब्दोल्लेखिसंवित्प्रवाहः संज्ञास्कन्धः। वेदनास्कन्धनिबन्धना रागद्वेषादयः क्लेशा उपक्लेशाश्च मदमानादयो धर्माधर्मौ च संस्कारस्कन्धः। तदिदं सर्वं दुःखायतनं दुःखसाधनं चेति भावयित्वा तन्निरोधोपायं तत्त्वज्ञानं सम्पादयेत्। बौद्धद०, पृ० ३९,४०।

तृषादि उपक्लेश, मद प्रमाद अभिमान, धर्म और अधर्मरूप व्यवहार को 'सस्कारस्कन्ध' मानते हैं।

सर्वस्य संसारस्य दुःखात्मकत्वं सर्वतीर्थंकरसंमतम्[1] ।।

सब संसार में दुःखरूप, दुःख का घर, दुःख का साधनरूप भावना करके संसार से छूटना[2] बौद्ध मानते हैं। चारवाकों में अधिक, मुक्ति और अनुमान तथा जीव को न मानना [है]।

देशना लोकनाथानां सत्त्वाशयवशानुगाः ।
भिद्यन्ते बहुधा लोके उपायैर्बहुभिः किल[3] ।।१।।
गम्भीरोत्तानभेदेन क्वचिच्चोभयलक्षणा ।
भिन्ना हि देशनाभिन्ना शून्यताद्वयलक्षणा ।।२।।[4]

द्वादशायतनपूजा श्रेयस्करीति बौद्धा मन्यन्ते ।[5]

अर्थानुपार्ज्य बहुशो द्वादशायतनानि वै ।
परितः पूजनीयानि किमन्यैरिह पूजितैः ।।३।।
ज्ञानेन्द्रियाणि पञ्चैव तथा कर्मेन्द्रियाणि च ।
मनो बुद्धिरिति प्रोक्तं द्वादशायतनं बुधैः ।।४।[6]

अर्थात् जो ज्ञानी विरक्त जीवनमुक्त लोकों के नाथ बुद्ध आदि तीर्थङ्करों के पदार्थों के स्वरूप को जाननेवाला, जो कि भिन्न-भिन्न पदार्थों का उपदेशक है, जिसको बहुत से भेद और बहुत से उपायों से कहा है, उसको मानना ।।१।।

बड़े गम्भीर और प्रसिद्ध भेद से कहीं-कहीं गुप्त और प्रकटता से भिन्न-भिन्न गुरुओं के उपदेश, जो कि न्यून लक्षणयुक्त पूर्व कह आये, उनको मानना ।।२।।

जो द्वादशायतन पूजा है, वही मोक्ष करनेवाली है। उस पूजा के लिये बहुत से द्रव्यादि पदार्थों को प्राप्त होके द्वादशायतन अर्थात्

---

१. बौद्धदर्शन, पृष्ठ २८, पं० ३।

२. वै० य० मुद्रित पाठ यहां कुछ आगे पीछे हो गया है। उसे यथा स्थान रख दिया है। ३. 'सर्वदर्शन-संग्रह' में 'पुनः' पाठ है।

४. बौद्धदर्शन, पृष्ठ ४५। ५. यह पाठ सं० २,३,४ में है, ५ में हटाया गया। सं०३४ में पुनः सन्निविष्ट किया। ६. बौद्धदर्शन, पृष्ठ ४६।

बारह प्रकार के स्थान विशेष बनाके सब प्रकार से पूजा करनी चाहिये। अन्य की पूजा करने से क्या प्रयोजन ?॥३॥

इनकी द्वादशायतन पूजा यह हैं—पांच ज्ञान इन्द्रिय अर्थात् श्रोत्र त्वक् चक्षु जिह्वा और नासिका। [1]पांच कर्मेन्द्रिय अर्थात् वाक् हस्त पाद गुह्य और उपस्थ ये १० इन्द्रियां, और मन बुद्धि इन हीं का सत्कार, अर्थात् इनको आनन्द में प्रवृत्त रखना इत्यादि बौद्ध का मत है ॥४॥

उत्तर—जो सब संसार दुःखरूप होता, तो किसी जीव की प्रवृत्ति न होनी चाहिये। संसार में जीवों की प्रवृत्ति प्रत्यक्ष दीखती है, इसलिये सब संसार दुःखरूप नहीं हो सकता। किन्तु इसमें सुख-दुःख दोनों हैं। और जो बौद्ध लोग ऐसा ही सिद्धान्त मानते हैं, तो खान-पानादि करना और पथ्य तथा औषध्यादि सेवन करके शरीर-रक्षण करने में प्रवृत्त होकर सुख क्यों मानते [हैं] ?

जो कहैं कि हम प्रवृत्त तो होते हैं, परन्तु इसको दुःख ही मानते हैं। तो यह कथन हो सम्भव नहीं। क्योंकि जीव सुख जानकर प्रवृत्त और दुःख जानके निवृत्त होता है। संसार में धर्मक्रिया विद्या सत्सङ्गादि श्रेष्ठ व्यवहार सब सुखकारक हैं। इनको कोई भी विद्वान् दुःख का लिङ्ग नहीं मान सकता, विना बौद्धों के।

जो पांच स्कन्ध हैं, वे भी पूर्ण अपूर्ण हैं। क्योंकि जो ऐसे-ऐसे स्कन्ध विचारने लगें, तो एक-एक के अनेक भेद हो सकते हैं।

जिन तीर्थङ्करों को उपदेशक और लोकनाथ मानते हैं, और अनादि जो नाथों का भी नाथ परमात्मा है उसको नहीं मानते, तो उन तीर्थङ्करों ने उपदेश किससे पाया ? जो कहैं कि स्वयं प्राप्त हुआ, तो ऐसा कथन सम्भव नहीं। क्योंकि कारण के विना कार्य्य नहीं हो सकता।

---

१. आगे उद्ध्रियमाण (पृ० ६२७।६२८) चौथे श्लोक और उस की व्याख्या में पांच कर्मेन्द्रियों के स्थान में पांच शब्दादि विषय द्वादशायतन में गिने हैं।

अथवा उनके कथनानुसार ऐसा ही होता, तो अब भी उनमें पढ़े-पढ़ाये सुने-सुनाये और ज्ञानियों के सत्संग किये विना ज्ञानी क्यों नहीं हो जाते ? जब नहीं होते, तो ऐसा कथन सर्वथा निर्मूल और युक्तिशून्य सन्निपात-रोगग्रस्त मनुष्य के बड़ाने के समान है।

जो शून्यरूप ही अद्वैत[1] उपदेश बौद्धों का है, तो विद्यमान वस्तु शून्यरूप कभी नहीं हो सकती। हां, सूक्ष्म कारणरूप तो हो जाती है। इसलिये यह भी कथन भ्रमरूपी है।

जो द्रव्यों के उपार्जन से ही पूर्वोक्त द्वादशायतन पूजा [को] मोक्ष का साधन मानते हैं, तो दश प्राण और ग्यारहवें जीवात्मा की पूजा क्यों नहीं करते ? जब इन्द्रिय और अन्त:करण की पूजा भी मोक्षप्रद है, तो इन बौद्धों और विषयी जनों में क्या भेद रहा ? जो उनसे ये बौद्ध नहीं बच सके, तो वहां मुक्ति भी कहां रही ? जहां ऐसी बातें हैं, वहां मुक्ति का क्या काम? क्या ही इन्होंने अपनी अविद्या की उन्नति की है, जिसका सादृश्य इनके विना दूसरों से नहीं घट सकता।

निश्चय तो यही होता है कि इनको वेद-ईश्वर से विरोध करने का यही फल मिला। पूर्व तो सब संसार की दुःखरूपी भावना की,

---

१. नवीन वेदान्त के आद्य प्रवर्तक शंकराचार्य के गुरु के गुरु गौड़-पादाचार्य पर बौद्ध मत का विशेष प्रभाव था। उन के शून्यवाद को ही गौड़-पादाचार्य ने वैदिक रूप देकर अद्वैतवाद को प्रतिष्ठित किया था। उनकी 'माण्डूक्य कारिका' ग्रन्थ में पठित अनेक कारिकांश बौद्ध ग्रन्थों में शब्दत: वा अर्थत: उपलब्ध होते हैं। इतना ही नहीं, बुद्ध के लिए बौद्ध ग्रन्थों में व्यवहृत **द्विपदांवर: तथागत:** जैसे विशिष्ट शब्दों का भी निर्देश मिलता है। यदि शंकराचार्य की टीका को छोड़ दिया जाय, तो स्पष्ट प्रतीत होता है कि गौड़-पादाचार्य की बुद्ध के प्रति महती भक्ति थी। संभवत: इसीलिये विज्ञानभिक्षु ने सांख्य-प्रवचन भाष्य में नवीन वेदान्तियों के लिए बहुधा प्रच्छन्न बौद्ध शब्द का प्रयोग किया है। सांख्य-प्रवचन भाष्य के आरम्भ में पद्मपुराण के कुछ श्लोक उद्धृत किये हैं, उनमें एक श्लोकार्ध है—**मायावादमसच्छास्त्रं प्रच्छन्नं बौद्धमेव च**। इस विषय में विशेष देखें-वेदवाणी वर्ष २४ अंक १२, अक्टूबर १९७२ में प० हंसराजजी रिसर्चस्कालर का लेख—**'वैदिकों में नवीन वेदान्त का प्रचार'**।

फिर बीच में द्वादशायतनपूजा लगा दी। क्या इनको द्वादशायतनपूजा संसार के पदार्थों से बाहर की है, जो मुक्ति की देनेहारी हो सके?

तो भला कभी आंख मीच के कोई रत्न ढूंढ़ा चाहै वा ढूंढ़े, कभी प्राप्त हो सकता है? ऐसी ही इनकी लीला वेद-ईश्वर को न मानने से हुई। अब भी सुख चाहैं, तो वेद-ईश्वर का आश्रय लेकर अपना जन्म सफल करें।

'विवेकविलास' ग्रन्थ में बौद्धों का इस प्रकार का मत लिखा है—

बौद्धानां सुगतो देवो विश्वं च क्षणभङ्गुरम्।
आर्यसत्त्वाख्यया तत्त्वचतुष्टयमिदं क्रमात्॥१॥
दुःखमायतनं चैव ततः समुदयो मतः।
मार्गश्चेत्यस्य च व्याख्या क्रमेण श्रूयतामतः॥२॥
दुःखसंसारिणः स्कन्धास्ते च पञ्च प्रकीर्त्तिताः।
विज्ञानं वेदना संज्ञा संस्कारो रूपमेव च॥३॥
पञ्चेन्द्रियाणि शब्दाद्या विषयाः पञ्च मानसम्।
धर्मायतनमेतानि द्वादशायतनानि तु॥४॥
रागादीनां गणोऽयं स्यात् समुदेति नृणां हृदि।
आत्मात्मीयस्वभावाख्यः स स्यात् समुदयः पुनः॥५॥
क्षणिकाः सर्वसंस्कारा इति या वासना स्थिरा।
स मार्ग इति विज्ञेयः स च मोक्षोऽभिधीयते॥६॥
प्रत्यक्षमनुमानं च प्रमाणं द्वितयं तथा।
चतुःप्रस्थानिका बौद्धाः ख्याता वैभाषिकादयः॥७॥
अर्थो ज्ञानान्वितो वैभाषिकेण बहु मन्यते।
सौत्रान्तिकेन प्रत्यक्षग्राह्योऽर्थो न बहिर्मतः॥८॥
आकारसहिता बुद्धिर्योगाचारस्य संमता।
केवलां संविदं स्वस्थां मन्यन्ते मध्यमाः पुनः॥९॥
रागादिज्ञानसन्तानवासनाच्छेदसम्भवा।
चतुर्णामपि बौद्धानां मुक्तिरेषा प्रकीर्तिता॥१०॥

कृत्तिः कमण्डलुर्मौण्ड्यं चीरं पूर्वाह्णभोजनम् ।
सङ्घो रक्ताम्बरत्वं च शिश्रिये बौद्धभिक्षुभिः ।।११।।[1]

बौद्धों का सुगतदेव बुद्ध भगवान् पूजनीय देव, और जगत् क्षणभंगुर, आर्य पुरुष और आर्या स्त्री, तथा तत्त्वों की आख्या संज्ञादि-प्रसिद्धि, ये चार तत्त्व बौद्धों में मन्तव्य पदार्थ हैं ।।१।।

इस विश्व को दुःख, [शरीर को दुःख] का घर जाने । तदनन्तर समुदय अर्थात् उत्पत्ति[2] होती है, और [मार्ग] इनकी व्याख्या क्रम से सुनो ।।२।।

संसार में दुःख ही है । जो पञ्च स्कन्ध पूर्व[3] कह आये हैं, उनको जानना ।।३।।

पञ्च ज्ञानेन्द्रिय, उनके शब्दादि विषय[4] पांच, और मन बुद्धि= अन्तःकरण, धर्म का स्थान ये द्वादश हैं ।।४।।

जो मनुष्यों के हृदय में रागद्वेषादि समूह की उत्पत्ति होती है वह समुदय । और जो आत्मा, आत्मा के सम्बन्धी, और स्वभाव है वह 'आख्या' । इन्हीं से फिर समुदय होता है ।।५।।

सब संस्कार क्षणिक हैं, जो यह वासना [का] स्थिर होना, वह बौद्धों का मार्ग है । और वही शून्य तत्त्व शून्यरूप हो जाना 'मोक्ष' है ।।६।।

बौद्ध लोग **प्रत्यक्ष और अनुमान** दो ही प्रमाण मानते हैं । चार प्रकार के इनमें भेद हैं—वैभाषिक, सौत्रान्तिक, योगाचार और माध्यमिक ।।७।।

इनमें **वैभाषिक** ज्ञान में जो अर्थ है, उसको विद्यमान मानता है । क्योंकि जो ज्ञान में नहीं है, उसका होना सिद्ध पुरुष नहीं मान सकता । और **सौत्रान्तिक** भीतर को प्रत्यक्ष पदार्थ मानता है, बाहर नहीं ।।८।।

---

१. विवेकविलास ८।२६५-२७५।। स० द० सं० बौद्धदर्शन पृष्ठ ४६,४७ पर उद्धृत । २. सं० २ में 'उन्नति' अपपाठ । ३. पृ० ६२३ ।

४. पूर्व पृष्ठ ६२४ पर उद्धृत चौथे श्लोक में पांच शब्दादि विषयों के स्थान में कर्मेन्द्रियों का निर्देश है । यह विरोध ध्यान में रखने योग्य है ।

योगाचार आकार-सहित विज्ञानयुक्त बुद्धि को मानता है। और माध्यमिक केवल अपने में पदार्थों का ज्ञानमात्र मानता है, पदार्थों को नहीं मानता ॥९॥

और रागादि ज्ञान के प्रवाह की वासना के नाश से उत्पन्न हुई मुक्ति चारों बौद्धों की है ॥१०॥

मृगादि का चमड़ा कमण्डलु, मूण्ड-मुण्डाये, वल्कल वस्त्र, पूर्वाह्ण अर्थात् ९ बजे से पूर्व भोजन, अकेला न रहे, रक्त वस्त्र का धारण, यह बौद्धों के साधुओं का वेश है ॥११॥

उत्तर—जो बौद्धों का सुगत बुद्ध ही देव है, तो उसका गुरु कौन था ? और जो विश्व क्षणभङ्गुर[1] हो, तो चिरदृष्ट पदार्थ का 'यह वही है' ऐसा स्मरण न होना चाहिये। जो क्षणभङ्गुर होता, तो वह पदार्थ ही नहीं रहता, पुनः स्मरण किसका होवे ? जो क्षणिकवाद ही बौद्धों का मार्ग है, तो इनका मोक्ष भी क्षणभङ्गुर[1] होगा।

जो ज्ञान से युक्त अर्थ द्रव्य हो, तो जड़ द्रव्य में भी ज्ञान होना चाहिये। और वह चालनादि क्रिया किस पर करता है ? भला जो बाहर दीखता है, वह मिथ्या कैसे हो सकता है ? जो आकार[2] से सहित बुद्धि होवे, तो दृश्य होना चाहिये।

जो केवल ज्ञान ही हृदय में आत्मस्थ होवे, बाह्य पदार्थों को केवल ज्ञान [रूप] ही माना जाय, तो ज्ञेय पदार्थ के बिना ज्ञान ही नहीं हो सकता। जो वासनाच्छेद ही मुक्ति है, तो सुषुप्ति में भी मुक्ति माननी चाहिये। ऐसा मानना विद्या से विरुद्ध होने के कारण तिरस्करणीय है।

इत्यादि बातें संक्षेपतः बौद्धमतस्थों की प्रदर्शित कर दी हैं। अब बुद्धिमान् विचारशील पुरुष अवलोकन करके जान जायेंगे, कि इनकी कैसी विद्या और कैसा मत है ? इसको जैन लोग भी मानते हैं।

---

१. सं० २ में 'क्षणभंग' अपपाठ।

२. सं० २ में 'आकाश' अपपाठ है।

यहां से आगे जैनमत का वर्णन है—

प्रकरण-रत्नाकर, १ भाग, नयचक्रसार[1] में निम्नलिखित बातें लिखी हैं—

बौद्ध लोग समय-समय[2] में नवीनपन से १. आकाश, २. काल, ३. जीव, ४. पुद्गल, ये चार द्रव्य मानते हैं। और जैनी लोग **धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, पुद्गलास्तिकाय, जीवास्तिकाय,** और काल इन छः द्रव्यों को मानते हैं। इनमें काल को अस्तिकाय[3] नहीं मानते, किन्तु ऐसा कहते हैं कि काल उपचार से द्रव्य है,[4] वस्तुतः नहीं।

उनमें से '**धर्मास्तिकाय**'—जो गतिपरिणामीपन से परिणाम को प्राप्त हुआ जीव और पुद्गल इसकी गति के समीप से स्तम्भन करने का हेतु है, वह धर्मास्तिकाय। और वह असंख्य प्रदेश परिमाण और लोक में व्यापक है[5]।

दूसरा '**अधर्मास्तिकाय**' यह है कि—जो स्थिरता से परिणामी हुए जीव तथा पुद्गल की स्थिति के आश्रय का हेतु है[6]।

तीसरा '**आकाशास्तिकाय**' उसको कहते हैं कि—जो सब द्रव्यों का आधार, जिसमें अवगाहन प्रवेश निर्गम आदि क्रिया करनेवाले

---

१. 'नयचक्रसार' प्रकरणरत्नाकर का टीका ग्रन्थ है।

२. क्षणिकवादियों के मत में प्रत्येक द्रव्य के पूर्व अवयव प्रतिक्षण नष्ट होते हैं और नये-नये उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार प्रत्येक द्रव्य प्रतिक्षण नया होता है।

३. सं० २ 'आस्तिकाय' अपपाठ है।

४. तत्र पञ्चानां प्रदेशपिण्डत्वाद् अस्तिकायत्वम्, कालस्य प्रदेशाभावाद् अस्तिकायता नास्ति। तत्र काल उपचारतयैव द्रव्यम्, न वस्तुवृत्त्या। प्र० र० पृ० १७७।

५. तत्र गतिपरिणतानां जीवपुद्गलानां गत्युपष्टम्भहेतुर्धर्मास्तिकायः। स चासंख्येयप्रदेशलोकप्रदेशपरिमाणः। प्र० र० पृ० १७७।

६. स्थितिपरिणतानां जीवपुद्गलानां स्थित्युपष्टम्भहेतुरधर्मास्तिकायः। स चासंख्येयप्रदेशलोकपरिमाणः। प्र० र० पृ० १७८।

जीव तथा पुद्गलों को अवगाहन का हेतु और सर्वव्यापी है[1]।

चौथा 'पुद्गलास्तिकाय' यह है कि—जो कारणरूप सूक्ष्म, नित्य एकरस, वर्ण गन्ध स्पर्श कार्य का लिङ्ग, पूरने और गलने के स्वभाव-वाला होता है।[2]

पांचवां 'जीवास्तिकाय'—जो चेतना लक्षण ज्ञान दर्शन में उपयुक्त अनन्त पर्यायों से परिणामी होनेवाला कर्त्ता भोक्ता है।[3]

और छःठा 'काल' यह है कि—जो पूर्वोक्त पञ्चास्तिकायों का परत्व अपरत्व नवीन[ता] प्राचीनता का चिह्नरूप प्रसिद्ध वर्त्तमानरूप पर्यायों से युक्त है, वह 'काल' कहाता है।[4]

समीक्षक—जो बौद्धों ने चार द्रव्य प्रतिसमय में नवीन-नवीन माने हैं,[5] वे झूठे हैं। क्योंकि आकाश, काल, जीव और परमाणु, ये नए वा पुराने कभी नहीं हो सकते। क्योंकि ये अनादि और कारण-रूप से अविनाशी हैं। पुनः नया और पुरानापन कैसे घट सकता है ?

और जैनियों का मानना भी ठीक नहीं। क्योंकि धर्माधर्म द्रव्य नहीं, किन्तु गुण हैं। ये दोनों जीवास्तिकाय में आ जाते हैं। इसलिये आकाश, परमाणु, जीव और काल मानते तो ठीक था।

और जो नव द्रव्य वैशेषिक में माने हैं, वे ही ठीक हैं। क्योंकि पृथिव्यादि पांच तत्त्व, काल, दिशा, आत्मा और मन ये नव पृथक्-पृथक् पदार्थ निश्चित हैं। एक जीव को चेतन मानकर ईश्वर को न मानना, यह जैन-बौद्धों की मिथ्या पक्षपात की बात है।

---

१. सर्वद्रव्याणामाधारभूतोऽवगाहकत्वभावानां जीवपुदगलानाम् अवगाहोपष्टम्भक आकाशास्तिकायः स चानन्तप्रदेशो लोकालोकपरिमाणः। यत्र जीवादयो वर्त्तन्ते स लोकः, ततः परमलोकः, केवलाकाशप्रदेशव्ययरूपः स चानन्तप्रदेशपरिरमाणः। प्र० ० पृष्ठ १७८।

२. एकरसवर्णगन्धो द्विस्पर्शः कार्य्यलिङ्गी च। पूरणगलनस्वभावः पुद्गलास्तिकायः। स च परमाणुरूपः। प्र० र० पृष्ठ १७८।

३. चेतनालक्षणो जीवः, चेतना च ज्ञानदर्शनोपयोगी, अनन्तपर्यायपरिणामिककर्तृकभोक्तृत्वादिलक्षणो जीवास्तिकायः। प्र० र० पृष्ठ १७९।

४. पञ्चास्तिकायानां परत्वापरत्वे नवपुराणादिलिङ्गव्यक्तवृत्तिवर्त्तरूपपर्यायः कालः। प्र० र० १८०। ५. द्रष्टव्य पूर्व पृष्ठ ६३०।

[सप्तभङ्गी-स्याद्वाद-समीक्षा]

अब जो बौद्ध और[1] जैनी लोग सप्तभङ्गी[2] और स्याद्वाद मानते हैं, सो यह है कि—

सन् घटः, इसको **प्रथम भंग** कहते हैं। क्योंकि घट अपनी वर्त्तमानता से युक्त अर्थात् घड़ा है। इसने अभाव का विरोध किया है।

दूसरा भंग—'असन् घटः' घड़ा नहीं है। प्रथम घट के भाव से इस घड़े के असद्भाव से दूसरा भंग है।

तीसरा भंग यह है कि—**'सन्नसन्न घटः'** अर्थात् यह घड़ा तो है, परन्तु पट नहीं। क्योंकि उन दोनों से पृथक् हो गया।

चौथा भंग 'घटोऽघटः'[3] जैसे **'अघटः पटः'** दूसरे पट के अभाव की अपेक्षा[4] अपने में होने से घट अघट कहाता है, युगपत् उसको दो संज्ञा अर्थात् घट और अघट भी है।

पांचवां भंग यह है कि—घट को पट कहना अयोग्य, अर्थात् उसमें घटपन वक्तव्य है, और पटपन अवक्तव्य है।

छटा भंग यह है कि—जो घट नहीं है वह कहने योग्य भी नहीं, और जो है वह है और कहने योग्य भी है।

और सातवां भंग यह है कि—जो कहने को इष्ट है परन्तु वह नहीं है, और कहने के योग्य भी घट नहीं। यह सप्तम भंग कहाता है।

इसी प्रकार—

---

१. बौद्धमतानुयायी सप्तभङ्गी और स्यादवाद को नहीं मानते। अतः 'बौद्ध और' ये दो पद युक्त प्रतीत नहीं होते। स्वा वेदा० ने हटा दिये हैं।

२. सप्तानां भङ्गानां समाहारः सप्तभङ्गी=७ भङ्गों का समूह।

३. सर्वदर्शन संग्रह के आर्हत दर्शन प्रकरण में (पृष्ठ ८२) सप्तभङ्गी निरूपण का जो प्रकार लिखा है और ऋ० द० ने जीव-विषयक सप्तभङ्गी का जो स्वरूप आगे उपस्थापित किया है तदनुसार वहां लिखा तृतीय भङ्ग चतुर्थ होना चाहिये और चतुर्थ तृतीय स्थानीय। स्वा० वेदानन्दजी ने लिखा है—'घट और जीव की सप्तभङ्गी दर्शाते हुए जो भाषा लिखी है वह प्रकरण-रत्नान्तर्गत नयचक्रसार के संस्कृत तथा यथापेक्ष उसके गुजराती अनुवाद का भाषान्तर है। द्र० स० प्र० पृष्ठ ३८१, स्वा० वेदा० संपा०।

४. अर्थात् अभाव की अवक्तव्यत्व के अपेक्षा से।

स्यादस्ति जीवोऽयं प्रथमो भङ्गः ॥१॥
स्यान्नास्ति जीवो द्वितीयो भङ्गः ॥२॥
स्यादवक्तव्यो जीवस्तृतीयो भङ्गः ॥३॥
स्यादस्ति नास्तिरूपो जीवश्चतुर्थो भङ्गः ॥४॥
स्यादस्ति [च] अवक्तव्यो जीवः पञ्चमो भङ्गः ॥५॥
स्यान्नास्ति [च] अवक्तव्यो जीवः षष्ठो भङ्गः ॥६॥
स्यादस्ति नास्ति [च] अवक्तव्यो जीव इति सप्तमो भङ्गः ॥७॥

अर्थात्—'है जीव' ऐसा कथन होवे, तो जीव के विरोधी जड़ पदार्थों का जीव में अभावरूप भंग प्रथम कहाता है।

दूसरा भंग यह है कि—'नहीं है जीव जड़ में' ऐसा कथन भी होता है, इससे यह दूसरा भंग कहाता है।

'जीव' कहने योग्य नहीं,' यह तीसरा भंग [है]।

'जब जीव शरीर धारण करता है तब प्रसिद्ध, और जब शरीर से पृथक् होता है तब अप्रसिद्ध रहता है,' ऐसा कथन होवे, उसको चतुर्थ भंग कहते हैं।

'जीव है परन्तु कहने योग्य नहीं' जो ऐसा कथन है उसको पञ्चम भंग कहते हैं।

'जीव प्रत्यक्ष प्रमाण से कहने में नहीं आता, इसलिये चक्षु-प्रत्यक्ष नहीं है', ऐसा व्यवहार है उसको छठा भंग कहते हैं।

'एक काल में जीव का अनुमान से होना और अदृश्यपन में न होना, और एकसा न रहना, किन्तु क्षण-क्षण में परिणाम[2] को प्राप्त

---

१. सं० २-३५ तक 'जीव है परन्तु कहने' पाठ है। यहां 'है परन्तु' इतना भाग व्यर्थ है। क्योंकि यदि इस पाठ ही ठीक को मानें तो तीसरे और पांचवें भंग में कुछ अन्तर नहीं रहता।

२. 'जीव का एक-सा न रहना क्षण-क्षण में परिणाम को प्राप्त होना' का संकेत सम्भवतः जैनमत में जीव को शरीर में व्यापक मानने की दृष्टि से लिखा है। शरीर में व्यापक मानने पर शरीर-भेद से जीव के आकार में भी संकोच-विकास मानना पड़ता है।

होना, अस्ति नास्ति न होवे, और नास्ति अस्ति व्यवहार भी न होवे' यह सातवां भंग कहाता है।

इसी प्रकार नित्यत्व सप्तभंगी और अनित्यत्व सप्तभंगी, तथा सामान्य धर्म, विशेष धर्म, गुण और पर्यायों की प्रत्येक वस्तु में सप्तभंगी होती है[1]। वैसे द्रव्य गुण स्वभाव और पर्यायों के अनन्त होने से सप्तभंगी भी अनन्त होती है[2]। ऐसा बौद्ध तथा[3] जैनियों का स्याद्वाद और सप्तभंगी न्याय कहाता है।

समीक्षक– यह कथन एक अन्योन्याभाव में साधर्म्य और वैधर्म्य में चरितार्थ हो सकता है। इस सरल प्रकरण[4] को छोड़कर कठिन रचना केवल अज्ञानियों के फंसाने के लिये होती है।

देखो, जीव का अजीव में और अजीव का जीव में अभाव रहता ही है। जैसे जीव और जड़ के वर्त्तमान होने से साधर्म्य, और चेतन तथा जड़ होने से वैधर्म्य, अर्थात् जीव में चेतनत्व अस्ति=है, और जड़त्व नास्ति=नहीं है। इसी प्रकार जड़ में जड़त्व है, और चेतनत्व नहीं है। इसमे गुण कर्म स्वभाव के समान धर्म और विरुद्ध धर्म के विचार से सब इनका[5] सप्तभंगी और स्याद्वाद सहजता से समझ में आता है। फिर इतना प्रपञ्च बढ़ाना किस काम का है?

इसमें[6] बौद्ध और जैनों का एक मत है। थोड़ा सा ही पृथक्[7] होने से भिन्नभाव भी हो जाता है।

---

१. एवं नित्यत्वसप्तभङ्गी अनित्यत्वसप्तभङ्गी, एवं सामान्यधर्माणां विशेषधर्माणां गुणानां पर्यायाणां प्रत्येकं सप्तभङ्गी। प्र० र० पृष्ठ १६३।

२. एवं पञ्चास्तिकाये प्रत्यस्तिकायमनन्तः सप्तभङ्ग्यो भवन्ति। प्र० र० पृष्ठ १६३।

३. यहां 'बौद्ध तथा' पद अनावश्यक हैं। देखो टि० ६।

४. यहां 'प्रक्रिया' पद युक्त प्रतीत होता है।

५. 'इन का सब' इस प्रकार अन्वय जानना चाहिये।

६. 'इस में' का वाच्य विचारणीय है। यदि इस का तात्पर्य सप्तभङ्गी और स्याद्वाद से है तो यह वाक्य युक्त नहीं। क्योंकि बौद्ध इन्हें नहीं मानते। सम्भवतः इसी कारण स्वा० वेदानन्द जी ने इस वाक्य को 'अनपेक्षित' कहा है।

७. सं० २ में 'पृथक् २' पाठ है।

[जैनमत-समीक्षा]

अब इसके आगे केवल जैनमत [के] विषय में लिखा जाता है—

चिदचिद् द्वे परे तत्त्वे विवेकस्तद्विवेचनम् ।
उपादेयमुपादेयं हेयं हेयं च कुर्वतः ॥१॥
हेयं हि कर्तृ रागादि तत् कार्यमविवेकिनः ।
उपादेयं परं ज्योतिरुपयोगैकलक्षणम् ॥२॥[1]

जैन लोग 'चित्' और 'अचित्' अर्थात् चेतन और जड़ दो ही परतत्त्व मानते हैं। उन दोनों के विवेचन का नाम 'विवेक'। जो-जो ग्रहण के योग्य है उस-उस का ग्रहण, और जो-जो त्याग करने योग्य है, उस उसका[2] त्याग करनेवाले को 'विवेकी' कहते हैं ॥१॥

जगत् का कर्त्ता और रागादि तथा ईश्वर ने जगत् किया है, इस अविवेकी मत का त्याग, और योग से लक्षित परमज्योतिस्वरूप जो जीव है, उसका ग्रहण करना उत्तम है ॥२॥

अर्थात् जीव के विना दूसरा चेतन तत्त्व ईश्वर को नहीं मानते। 'कोई भी अनादि सिद्ध ईश्वर नहीं' ऐसा बौद्ध-जैन लोग मानते हैं।

इसमें[3] राजा शिवप्रसादजी 'इतिहासतिमिरनाशक' ग्रन्थ में लिखते हैं कि—'इनके दो नाम हैं, एक जैन और दूसरा बौद्ध। ये पर्यायवाची शब्द हैं। परन्तु बौद्धों में वाममार्गी मद्यमांसाहारी बौद्ध हैं। उनके साथ जैनियों का विरोध [है]। परन्तु जो महावीर और गौतम गणधर हैं, उनका नाम बौद्धों ने 'बुद्ध' रखा है। और जैनियों ने गणधर और जिनवर।'

इसमें[4] जिनकी परम्परा जैनमत है, उन राजा शिवप्रसादजी ने अपने 'इतिहासतिमिरनाशक' ग्रन्थ के तीसरे खण्ड में लिखा है कि—

---

१. सर्वदर्शनसं० के 'आर्हत' (=जैन) दर्शन (पृष्ठ ६७) में इन्हें पद्मनन्दी के नाम से उदधृत किया है।

२. सं० २ में 'के' अपपाठ।

३. अर्थात् इस विषय में।

४. अर्थात् बौद्ध जैन में।

'स्वामी शंकराचार्य से पहले, जिनको हुए कुल हजार वर्ष के लगभग गुजरे हैं, सारे भारतवर्ष में बौद्ध अथवा जैन धर्म फैला हुआ था।'

इस पर नोट—

'बौद्ध कहने से हमारा आशय उस मत से है, जो महावीर के गणधर गौतम स्वामी के समय से शङ्कर स्वामी के समय तक वेद-विरुद्ध सारे भारतवर्ष में फैला रहा। और जिसको अशोक और सम्प्रति महाराज ने माना। उससे जैन बाहर किसी तरह नहीं निकल सकते।

'जिन' जिससे जैन निकला, और 'बुद्ध' जिससे बौद्ध निकला, दोनों पर्याय शब्द हैं। कोश में दोनों का अर्थ एक ही लिखा है। और गौतम को दोनों मानते हैं। वर्ना **दीपवंश** इत्यादि पुराने बौद्ध ग्रन्थों में **शाक्यमुनि गौतम** बुद्ध को अकसर महावीर ही के नाम से लिखा है। बस उसके समय में एक ही उनका मत रहा होगा। हमने जो जैन न लिखकर गौतम के मत वालों को बौद्ध लिखा, उसका प्रयोजन केवल इतना ही है कि उन को दूसरे देश वालों ने बौद्ध ही के नाम से लिखा है।'

ऐसा ही **अमरकोश** में भी लिखा है—

सर्वज्ञः सुगतो बुद्धो धर्मराजस्तथागतः।
समन्तभद्रो भगवान मारजिल्लोकजिज्जिनः ॥१॥
षडभिज्ञो दशबलोऽद्वयवादी विनायकः।
मुनीन्द्रः श्रीधनः शास्ता मुनिः शाक्यमुनिस्तु यः ॥२॥
स शाक्यसिंहः सर्वार्थः सिद्धः शौद्धोदनिश्च सः।
गौतमश्चार्कबन्धुश्च मायादेवीसुतश्च सः ॥३॥

अमरकोश कां० १, वर्ग १, श्लोक ८ से १० तक॥

अब देखो, बुद्ध जिन और बौद्ध तथा जैन एक के नाम हैं वा नहीं? क्या **अमरसिंह** भी बुद्ध-जिन के एक लिखने में भूल गया है?

जो अविद्वान् जैन हैं, वे तो न अपना जानते और न दूसरे का।

केवल हठमात्र से बढ़ाया करते हैं। परन्तु जो जैनों में विद्वान् हैं, वे सब जानते हैं कि 'बुद्ध' और 'जिन' तथा 'बौद्ध' और 'जैन' पर्यायवाची हैं। इसमें कुछ सन्देह नहीं।

जैन लोग कहते हैं कि— जीव ही परमेश्वर हो जाता है। वे जो अपने तीर्थङ्करों को ही केवली मुक्तिप्राप्त और परमेश्वर मानते हैं। अनादि परमेश्वर कोई नहीं। सर्वज्ञ, वीतराग, अर्हन्, केवली, तीर्थंकृन्, जिन ये छ:[1] नास्तिकों[2] के देवताओं के नाम हैं।

'आदिदेव' का स्वरूप चन्द्रसूरि ने 'आप्तनिश्चयालंकार' ग्रन्थ में लिखा—

सर्वज्ञो वीतरागादिदोषस्त्रैलोक्यपूजितः।
यथास्थितार्थवादी च देवोऽर्हन् परमेश्वरः ॥१॥[3]

वैसे ही तौतातितों[4] ने भी लिखा है कि—

---

१. यहां पांच नाम पठित हैं। सम्भवतः 'आदिदेव' नाम छूट गया है।

२. अर्थात् जैनियों के।

३. सर्वदर्शन संग्रह आर्हत दर्शन, पृष्ठ ५६। यहां वीतराग, के स्थान में 'जितराग' पाठ है।

४. तुतातित यह कुमारिल का नामान्तर है। देखो, तुतातितमततिलक भूमिका पृ० २। मुद्रणकाल—सन् १९३९। भ० द०। सर्वदर्शनसंग्रह के टीकाकार वासुदेव अभ्यङ्कर ने तौतातितैः, का अर्थ 'बौद्धैः' किया है (पृष्ठ ५६) यह अशुद्ध है। सर्वदर्शन-संग्रह के पृष्ठ ३०२ पर तौतातितों की 'यावन्तो यायदृश्या ये च' कारिका उद्धृत की है वह भट्ट कुमारिल के श्लोकवार्तिक पृष्ठ ५२७ (चौखम्बा सीरिज काशी) में यथावत् मिलती है। इसी प्रकार स० द० सं० पृष्ठ ४३८ पर 'तौततितमतमवलम्ब्य विधिविवेकं व्याकुर्वाणै...' लिखा है। विधिविवेक ग्रन्थ भी भाट्टमतानुसारी मीमांसा का ग्रन्थ है। ऊपर जो श्लोक उद्धृत किये हैं उन में से 'सर्वज्ञो दृश्यते...' श्लोकार्ध श्लोकवार्तिक पृष्ठ ८२ पर मिलता है। सर्वदर्शनसंग्रह में इस प्रसंग (पृष्ठ ५६-५७) में जो १० श्लोक उद्धृत हैं वे श्लोकवार्तिक के उक्त प्रसंग के ही सक्षेप रूप हैं। अतः तुतातित निश्चय ही भट्ट कुमारिल का नामान्तर है। प्रबोधचन्द्रोदय २।३ में लिखा है—'नैवाश्रावि गुरोर्मतं न विदितं तौततिकंदर्शनम्।' यहां गुरु=प्रभाकर के प्रतिपक्ष में 'तौतातिक' का निर्देश होने से कुमरिल का ही नामान्तर विदित होता है। संभव है प्र० च० में 'तौतातित' के स्थान में 'तौतातिक' पाठ-भ्रंश हो

सर्वज्ञो दृश्यते तावन्नेदानीमस्मदादिभि: ।
दृष्टो न चैकदेशोऽस्ति लिङ्गं वा योऽनुमापयेत् ॥२॥
न चागमविधि: कश्चिन्नित्यसर्वज्ञबोधक: ।
न च तत्रार्थवादानां तात्पर्यमपि कल्पते ॥३॥
न चान्यार्थप्रधानैस्तैस्तदस्तित्वं विधीयते ।
न चानुवादितुं शक्य: पूर्वमन्यैरबोधित: ॥४॥[1]

जो रागादि दोषों से रहित त्रैलोक्य में पूजनीय, यथावत् पदार्थों का वक्ता, सर्वज्ञ अर्हन् देव है, वही परमेश्वर है ॥१॥

जिसलिये हम इस समय परमेश्वर को नहीं देखते, इसलिये कोई सर्वज्ञ अनादि परमेश्वर प्रत्यक्ष नहीं। जब ईश्वर में प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं, तो अनुमान भी नहीं घट सकता, क्योंकि एकदेश प्रत्यक्ष के विना अनुमान नहीं हो सकता ॥२॥

जब प्रत्यक्ष अनुमान नहीं तो आगम अर्थात् नित्य अनादि सर्वज्ञ परमात्मा का बाधक शब्द-प्रमाण भी नहीं हो सकता। जब तीनों प्रमाण नहीं, तो 'अर्थवाद' अर्थात् स्तुति निन्दा, परकृति अर्थात् पराये चरित्र का वर्णन, और पुराकल्प[2] अर्थात् इतिहास का तात्पर्य भी नहीं घट सकता ॥३॥

और अन्यार्थप्रधान अर्थात् बहुव्रीहि समास[3] के तुल्य परोक्ष परमात्मा की सिद्धि का विधान भी नहीं हो सकता। पुन: ईश्वर के उपदेष्टाओं से सुने विना अनुवाद भी कैसे हो सकता है ? ॥४॥

---

१. आर्हत दर्शन, पृष्ठ ५६।

२. स्तुतिर्निन्दा परकृति: पुराकल्प इत्यर्थवाद:। न्याय २।१।६४॥

३. उपरि उद्धृत श्लोक में 'अन्यार्थप्रधानै:' का प्रकरणानुसारी अर्थ इस प्रकार जानना चाहिये—अन्यतात्पर्यबोधक किसी अर्थवाद वाक्य में सर्वज्ञ के अस्तित्व का अनुवाद होने पर भी अन्य पांच प्रमाणों से अबोधित अर्थ (=सर्वज्ञत्व) का अनुवाद कैसे हो सकता है, क्योंकि अनुवाद सिद्ध वस्तु का होता है। ऋ० द० ने यहाँ बहुव्रीहि समास का जो निर्देश किया है वह भी ठीक है। क्योंकि बहुव्रीहि समास 'शबला गावो यस्य स शबलगु'-में जो अन्यार्थ बोधित होता है वह न शबलपद से बोधित होता है न गो

इसका प्रत्याख्यान अर्थात् खण्डन—जो अनादि ईश्वर न होता, तो 'अर्हन्' देव के माता-पिता आदि का शरीर का सांचा कौन बनाता ? विना संयोगकर्त्ता के यथायोग्य सर्वावयवसम्पन्न यथोचित कार्य करने में उपयुक्त शरीर बन ही नहीं सकता। और जिन पदार्थों से शरीर बना है, उनके जड़ होने से स्वयं इस प्रकार की उत्तम रचना से युक्त शरीररूप नहीं बन सकते। क्योंकि उनमें यथायोग्य बनने का ज्ञान ही नहीं।

और जो रागादि दोषों से सहित होकर पश्चात् दोषरहित होता है, वह ईश्वर कभी नहीं हो सकता। क्योंकि जिस निमित्त से वह रागादि से मुक्त होता है, वह मुक्ति उस निमित्त के छूटने से उसका कार्य मुक्ति भी अनित्य होगी।

जो अल्प और अल्पज्ञ है, वह सर्वव्यापक और सर्वज्ञ कभी नहीं हो सकता। क्योंकि जीव का स्वरूप एकदेशी, और परिमित गुण कर्म स्वभाववाला होता है। वह सब विद्याओं में सब प्रकार यथार्थ-वक्ता नहीं हो सकता। इसलिये तुम्हारे तीर्थङ्कर परमेश्वर कभी नहीं हो सकते ॥१॥

क्या तुम जो प्रत्यक्ष पदार्थ हैं उन्हीं को मानते हो, अप्रत्यक्ष को नहीं ? जैसे कान से रूप और चक्षु से शब्द का ग्रहण नहीं हो सकता, वैसे अनादि परमात्मा को देखने का साधन शुद्धान्तःकरण विद्या और योगाभ्यास से पवित्रात्मा परमात्मा को प्रत्यक्ष देखता है। जैसे विना पढ़े विद्या के प्रयोजनों की प्राप्ति नहीं होती, वैसे ही योगाभ्यास और विज्ञान के विना परमात्मा भी नहीं दीख पड़ता।

जैसे भूमि के[1] रूपादि गुण ही को देख जानके गुणों से अव्यव-

शब्द से। अतः जैसे शबलगु से अन्यार्थ परोक्षभूत अर्थ की प्रतीति होती है उस प्रकार परोक्षभूत परमात्मा की परम आत्मा दोनों पदों के सामान्य अर्थ से से भिन्न विशेषणार्थ विशिष्ट आत्मारूप अन्यार्थक 'परमात्मा' आदि शब्दों से उसकी सिद्धि नहीं हो सकती। क्योंकि शबलगु शब्द वाच्य व्यक्ति तो प्रत्यक्ष जाना जाता है, परन्तु 'परमात्मा' आदि का वाच्य किसी के द्वारा भी प्रत्यक्ष नहीं होता।

१. सं० २ में 'को' अपपाठ है।

हित सम्बन्ध से पृथिवी प्रत्यक्ष होती है, वैसे इस सृष्टि में परमात्मा के[1] रचना-विशेष लिङ्ग देखके परमात्मा प्रत्यक्ष होता है। और जो पापाचरणेच्छा-समय में भय, शंका, लज्जा उत्पन्न होती है, वह अन्तर्यामी परमात्मा की ओर से है। इससे भी परमात्मा प्रत्यक्ष होता है। [फिर] अनुमान के होने में क्या सन्देह हो सकता है ॥२॥

और प्रत्यक्ष तथा अनुमान के होने से आगम प्रमाण भी नित्य अनादि सर्वज्ञ ईश्वर का बोधक होता है। इसलिये शब्द प्रमाण भी ईश्वर में है। जब तीनों प्रमाणों से ईश्वर को जीव जान सकता है, तब अर्थवाद अर्थात् परमेश्वर के गुणों की प्रशंसा करना भी यथार्थ घटता है। क्योंकि जो नित्य पदार्थ हैं, उनके गुण-कर्म-स्वभाव भी नित्य होते हैं। उनकी प्रशंसा करने में कोई भी प्रतिबन्धक नहीं ॥३॥

जैसे मनुष्यों[2] में कर्त्ता के विना कोई भी कार्य नहीं होता, वैसे ही इस महत्कार्य का कर्त्ता के विना होना सर्वथा असंभव है। जब ऐसा है, तो ईश्वर के होने में मूढ को भी सन्देह नहीं हो सकता। जब परमात्मा के उपदेश करनेवालों से सुनेंगे, पश्चात् उसका अनुवाद करना भी सरल है ॥४॥

इससे जैनों[3] के प्रत्यक्षादि प्रमाणों से ईश्वर का खण्डन करना आदि व्यवहार अनुचित है।

प्रश्न—अनादेरागमस्यार्थो न च सर्वज्ञ आदिमान्।
कृत्रिमेण त्वसत्येन स कथं प्रतिपाद्यते ॥१॥
अथ तद्वचनेनैव सर्वज्ञोऽन्यैः प्रतीयते।
प्रकल्पेत कथं सिद्धिरन्योऽन्याश्रययोस्तयोः ॥२॥
सर्वज्ञोक्ततया वाक्यं सत्यं तेन तदस्तिता।
कथं तदुभयं सिध्येत् सिद्धमूलान्तरादृते ॥३॥[4]

---

१. 'रचना विशेष' पद की दृष्टि से पुंल्लिग निर्देश है।
२. अर्थात् मनुष्यों से किये गए कार्यों में।
३. यहां 'और तीततितों' इतना पाठ अपेक्षित जानना चाहिये।
४. आर्हत दर्शन पृष्ठ ५६,५७।

बीच में सर्वज्ञ हुआ अनादि शास्त्र का अर्थ नहीं हो सकता[1]। क्योंकि किये हुए असत्य वचन से उसका प्रतिपादन किस प्रकार से हो सके ? ॥१॥

और जो परमेश्वर ही के वचन से परमेश्वर सिद्ध होता है, तो अनादि ईश्वर से अनादि शास्त्र की सिद्धि [और] अनादि शास्त्र से अनादि ईश्वर की सिद्धि, अन्योऽन्याश्रय दोष आता है ।।२।।

क्योंकि सर्वज्ञ के कथन से वह वेदवाक्य सत्य, और उसी वेद-वचन से ईश्वर की सिद्धि करते हो, यह कैसे सिद्ध हो सकता है ? उस शास्त्र और परमेश्वर की सिद्धि के लिये तीसरा कोई प्रमाण चाहिए। जो ऐसा [न] मानोगे, तो अनवस्था दोष आवेगा ।।३।।

उत्तर—हम लोग परमेश्वर और परमेश्वर के गुण कर्म स्वभाव को अनादि मानते हैं। अनादि नित्य पदार्थों में अन्योऽन्याश्रय दोष नहीं आ सकता। जैसे कार्य्य से कारण का ज्ञान और कारण से कार्य्य का बोध होता है, कार्य्य में कारण का स्वभाव और कारण में कार्य का स्वभाव नित्य है, वैसे परमेश्वर और परमेश्वर के अनन्त विद्यादि गुण नित्य होने से ईश्वरप्रणीत वेद में अनवस्था दोष नहीं आता ।।१, २, ३।।

और तुम तीर्थङ्करों को परमेश्वर मानते हो, यह कभी नहीं

---

१. यहां प्रकरणानुसार प्रथम श्लोक का अर्थ इस प्रकार जानना चाहिये—"अनादि शास्त्र का अर्थ नहीं जाना जा सकता। क्योंकि कोई सर्वज्ञ माना भी जाये, तो वह आदिमान् अर्थात् अनादि नहीं हो सकता । इसलिये कल्पित किसी के कृत्रिम=असत्यवचन से अनादि सर्वज्ञ की सिद्धि नहीं हो सकती है।" म० म० अभ्यङ्कर शास्त्री ने इन वचनों को जैनियों के सर्वज्ञ माने गये तीर्थङ्करों की सर्वज्ञता के खण्डनपरक माना है, वह अशुद्ध है। हम पूर्व लिख चुके हैं कि ये 'तौतातित' मत के वचन मीमांसक भट्ट कुमारिल के अनुयायियों के हैं। अतः यहां सर्वज्ञ ईश्वर के खण्डन में इनका तात्पर्य है। ऋ० द० का अर्थ इस दृष्टि से उचित ही है। जैन मतवाले भी सर्वज्ञ ईश्वर का खण्डन करते हैं। 'सर्वदर्शनसंग्रह' में वेदानुयायी भाट्ट मीमांसकों के सर्वज्ञ ईश्वर का खण्डन करनेवाले वचन इसलिये उद्धृत किये गए हैं कि जैसे वेदानुयायी मीमांसक भी सर्वज्ञ ईश्वर को नहीं मानते, वैसे हम भी नहीं मानते।

घट सकता। क्योंकि विना माता-पिता के उनका शरीर ही नहीं होता, तो वे तपश्चर्य्याज्ञान और मुक्ति को कैसे पा सकते हैं? वैसे ही संयोग का आदि अवश्य होता है। क्योंकि विना वियोग के संयोग हो ही नहीं सकता। इसलिये अनादि सृष्टिकर्त्ता परमात्मा को मानो।

देखो, चाहे कितना ही कोई सिद्ध हो, तो भी शरीर आदि की रचना को पूर्णता से नहीं जान सकता। जब सिद्ध जीव सुषुप्ति दशा में जाता है, तब उसको कुछ भी भान नहीं रहता। जब जीव दुःख को प्राप्त होता है, तब उसका ज्ञान भी न्यून हो जाता है। ऐसे[1] परिच्छिन्न सामर्थ्यवाले एकदेश में रहनेवाले[2] को ईश्वर मानना विना भ्रान्तिबुद्धियुक्त जैनियों से अन्य कोई भी नहीं मान सकता।

जो तुम कहो कि वे तीर्थङ्कर अपने माता-पिताओं से हुए, तो वे किनसे? और उनके माता-पिता किनसे? फिर उसके भी माता-पिता किनसे उत्पन्न हुए? इत्यादि अनवस्था आवेगी।

आस्तिक और नास्तिक का संवाद

इसके आगे **'प्रकरणरत्नाकर'** के दूसरे भाग [से] आस्तिक नास्तिक के संवाद के प्रश्नोत्तर[3] यहां लिखते हैं। जिसको बड़े-बड़े जैनियों ने अपनी सम्मति के साथ माना, और मुम्बई में छपवाया है।[4]

---

१. सं० २ में ऐसा' पाठ है।

२. अर्थात् किसी सिद्ध तीर्थङ्कर आदि को।

३. यहां स्वामी वेदानन्द जी की टिप्पणी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, जो इस प्रकार है—'प्र० रत्नाकर भाग २ पृ० १७७ से २११ तक यह संवाद है। जैन अपने को आस्तिक तथा ईश्वरवादियों को नास्तिक कहते हैं। सत्यार्थप्रकाशकार ने उसका यहां सक्षेप दिया है। और आस्तिक के स्थान पर नास्तिक और नास्तिक के स्थान पर आस्तिक कर दिया है। अर्थात् प्रकरण रत्नाकर के पूर्वपक्ष को उत्तरपक्ष और उत्तरपक्ष को पूर्वपक्ष कर दिया गया है।' स० प्र० पृष्ठ ३८७ टि०।

४. 'प्र० रत्नाकर, भाग २' शाह भीमसिंह माणक द्वारा निर्णयसागर प्रेस बम्बई में वि० स० १९३३ में प्रकाशित हुआ था।

नास्तिक—ईश्वर की इच्छा से कुछ नहीं होता। जो कुछ होता है, वह कर्म से।

आस्तिक—जो सब कर्म से होता है, तो कर्म किससे होता है? जो कहो कि जीव आदि से होता है, तो जिन श्रोत्रादि साधनों से कर्म जीव करता है, वे किनसे हुए? जो कहो कि अनादि काल और स्वभाव से होते हैं, तो अनादि का छूटना असम्भव होकर तुम्हारे मत में मुक्ति का अभाव होगा। जो कहो कि प्रागभागवत् अनादि सान्त[1] है, तो विना यत्न के सबके कर्म निवृत्त हो जायेंगे।

यदि ईश्वर फलप्रदाता न हो, तो पाप का फल दुःख को जीव अपनी इच्छा से कभी नही भोगेगा। जैसे चोर आदि चोरी का फल दण्ड अपनी इच्छा से नहीं भोगते, किन्तु राज्यव्यवस्था से भोगते हैं, वैसे ही परमेश्वर के भुगाने से जीव पाप और पुण्य के फलों को भोगते हैं। अन्यथा कर्मसंकर[2] हो जायेंगे, अन्य के कर्म अन्य को भोगने पड़ेंगे।

नास्तिक—ईश्वर अक्रिय है। क्योंकि जो कर्म करता[3] होता, तो कम का फल भी भोगना[4] पड़ता। इसलिये जैसे हम केवली-प्राप्त मुक्तों को अक्रिय मानते हैं, वैसे तुम भी मानो।

आस्तिक—ईश्वर अक्रिय नहीं, किन्तु सक्रिय है। जब चेतन है, तो कर्त्ता क्यों नहीं? और जो कर्त्ता है, तो वह क्रिया से पृथक् कभी नहीं हो सकता। जैसा तुम्हारा कृत्रिम बनावट का ईश्वर तीर्थ-

---

१. घट आदि कार्य की उत्पत्ति से पूर्व उसका अभाव होता है, और यह अभाव अनादि है। कार्य के उत्पन्न हो जाने पर उसका अनादि काल से चला आया अभाव समाप्त हो जाता है। अतः कार्य का प्रागभाव अनादि होते हुए भी सान्त होता है।

२. कर्म अचेतन हैं। इसलिये फलकाल में वे कैसे पहचानेंग कि हम किस के कर्म हैं? इस कारण जिस-किसी के साथ उनका सम्बन्ध होजाने से 'कर्मसंकर' हो जायेगा।

३. सं० २ 'कर्त्ता' पाठ है।

४. सं० २ में 'भोगने' अपपाठ है।

श्वर [उस]को जीव से बने हुए मानते हो, इस प्रकार के ईश्वर को कोई भी विद्वान् नहीं मान सकता।

क्योंकि जो निमित्त से ईश्वर बने, तो अनित्य और पराधीन हो जाय। क्योंकि ईश्वर बनने[1] के प्रथम जीव था; पश्चात् किसी निमित्त से ईश्वर बना, तो फिर भी जीव हो जायगा। अपने जीवत्व स्वभाव को कभी नहीं छोड़ सकता। क्योंकि अनन्तकाल से जीव है, और अनन्तकाल तक रहेगा। इसलिये इस अनादि स्वतःसिद्ध ईश्वर को मानना योग्य है।

देखो, जैसे वर्तमान समय में जीव पाप-पुण्य करता[2], सुख-दुःख भोगता है, वैसे ईश्वर कभी नहीं होता। जो ईश्वर क्रियावान् न होता, तो इस जगत् को कैसे बना सकता? जैसा [कि] कर्मों को प्रागभाववत् अनादि सान्त मानते हो, तो कर्म समवाय सम्बन्ध[3] से नहीं रहेगा। जो समवाय सम्बन्ध से नहीं, वह संयोगज होके अनित्य होता है।

जो मुक्ति में क्रिया ही न मानते हो, तो वे मुक्त जीव ज्ञानवाले होते हैं वा नहीं? जो कहो होते हैं, तो अन्तःक्रियावाले हुए। क्या मुक्ति में पाषाणवत् जड़ हो जाते, एक ठिकाने पड़े रहते, और कुछ भी चेष्टा नहीं करते? तो मुक्ति क्या हुई, किन्तु अन्धकार और बन्धन में पड़ गये।

नास्तिक—ईश्वर व्यापक नहीं है। जो व्यापक होता, तो सब वस्तु चेतन क्यों नहीं होती? और ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य शूद्र आदि की उत्तम मध्यम निकृष्ट अवस्था क्यों हुई? क्योंकि सब में ईश्वर एक-सा व्यापक है, तो छुटाई-बड़ाई न होनी चाहिये।

आस्तिक—व्याप्य और व्यापक एक नहीं होते। किन्तु व्याप्य एकदेशी और व्यापक सर्वदेशी होता है। जैसे आकाश सबमें

---

१. सं० २ में 'बने' पाठ है।   २. सं० २ से 'कर्त्ता' पाठ है।

३. दार्शनिक संयोग दो प्रकार का मानते हैं। एक संयोगज, और दूसरा सामवायिक। समवाय-सम्बन्ध गुण-गुणी में, कर्म-कर्मवान में, अवयव-अवयवी में, और जाति-व्यक्ति में रहता है। यह सम्बन्ध नित्य होता है।

व्यापक है, और भूगोल और घटपटादि सब व्याप्य एकदेशी हैं। जैसे पृथिवी [और] आकाश एक नहीं, वैसे ईश्वर और जगत् एक नहीं। जैसे सब घटपटादि में आकाश व्यापक है, और घटपटादि आकाश नहीं[1], वैसे परमेश्वर चेतन सब में है, और सब चेतन नहीं होता।

जैसे सब विद्वान् अविद्वान् और धर्मात्मा अधर्मात्मा बराबर नहीं होते। विद्यादि सद्‌गुण और सत्यभाषणादि कर्म, सुशीलतादि स्वभाव के न्यूनाधिक होने से ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य शूद्र और अन्त्यज बड़े-छोटे माने जाते हैं। वर्णों की व्याख्या जैसी 'चतुर्थ समुल्लास'[2] में लिख आये हैं, वहां देख लो।

नास्तिक—जो ईश्वर की रचना से सृष्टि होती, तो माता-पिता[3] का क्या काम ?

आस्तिक—ऐश्वरी सृष्टि का ईश्वर कर्त्ता है, जैवी सृष्टि का नहीं। जो जीवों के कर्त्तव्य कर्म हैं, उनको ईश्वर नहीं करता, किन्तु जीव ही करता है। जैसे वृक्ष फल ओषधि अन्नादि ईश्वर ने उत्पन्न किया है, उसको लेकर मनुष्य न पीसें, न कूटें, न रोटी आदि पदार्थ बनावें और न खावें, तो क्या ईश्वर उसके बदले इन कामों को कभी करेगा ? और जो न करें, तो जीव का जीवन भी न हो सके। इसलिये आदिसृष्टि[4] में जीव के शरीरों और सांचे को बनाना ईश्वराधीन, पश्चात् उनसे पुत्रादि की उत्पत्ति करना जीव का कर्त्तव्य काम है।

नास्तिक—जब परमात्मा शाश्वत अनादि चिदानन्द ज्ञानस्वरूप है, तो जगत् के प्रपञ्च और दुःख में क्यों पड़ा? आनन्द छोड़ दुःख का ग्रहण ऐसा काम कोई साधारण मनुष्य भी नहीं करता, [फिर] ईश्वर ने क्यों किया ?

आस्तिक—परमात्मा किसी प्रपञ्च और दुःख में नहीं

---

१. अर्थात् जैसा आकाश अदृश्य अस्पर्श है, वैसा घट अदृश्य अस्पर्श नहीं होता है। २. पूर्व पृ० १२४से१३५ तक।

३. सं० २ में 'पितादि' पाठ है। ४. द्र०—पूर्व पृ० ३२६, टि० ४।

गिरता, न अपने आनन्द को छोड़ता है। क्योंकि प्रपञ्च और दुःख में गिरना, जो एकदेशी हो उसका हो सकता है, सर्वदेशी का नहीं। जो अनादि चिदानन्द, ज्ञानस्वरूप परमात्मा जगत् को न बनावे, तो अन्य कौन बना सके? जगत् बनाने का जीव में सामर्थ्य नहीं, और जड़ में स्वयं बनने का भी सामर्थ्य नहीं।

इससे यह सिद्ध हुआ कि परमात्मा ही जगत् को बनाता, और सदा आनन्द में रहता है। जैसे परमात्मा परमाणुओं से सृष्टि करता है, वैसे माता-पितारूप निमित्त कारण से भी उत्पत्ति का प्रबन्ध का नियम उसी ने किया है।

नास्तिक—ईश्वर मुक्तिरूप सुख को छोड़ जगत् की सृष्टि-करण धारण और प्रलय करने के बखेड़े में क्यों पड़ा?

आस्तिक—ईश्वर सदा मुक्त होने से, तुम्हारे साधनों से सिद्ध हुए तीर्थङ्करों के समान एकदेश में रहनेहारे बन्धपूर्वक मुक्ति से युक्त सनातन परमात्मा नहीं है। जो अनन्तस्वरूप गुण कर्म स्वभावयुक्त परमात्मा है, वह इस किंचिन्मात्र[1] जगत् को बनाता धरता[2] और प्रलय करता[2] हुआ भी बन्ध में नहीं पड़ता। क्योंकि बन्ध और मोक्ष सापेक्षता से हैं। जैसे मुक्ति की अपेक्षा से बंध, और बंध की अपेक्षा से मुक्ति होती है।

जो कभी बद्ध नहीं था, वह मुक्त क्योंकर कहा जा सकता है? और जो एकदेशी जीव हैं, वे ही बद्ध और मुक्त सदा हुआ करते[3] हैं। अनन्त सर्वदेशी सर्वव्यापक ईश्वर बन्धन वा नैमित्तिक मुक्ति के चक्र में, जैसे कि तुम्हारे तीर्थङ्कर हैं, कभी नहीं पड़ता। इसलिये वह परमात्मा सदैव मुक्त कहाता है।

नास्तिक—जीव कर्मों के फल ऐसे ही भोग सकते हैं, जैसे भांग पीने के मद को स्वयमेव भोगता है[4]। इसमें ईश्वर का काम नहीं।

---

१. अपने एकदेश में वर्तमान। द्र०—'पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि।' यजुः ३१।२॥

२. सं० २ में 'धर्ता' 'कर्ता' पाठ है। ३. सं० २ में 'कर्त्ते' पाठ है।

४. यही प्रश्न आगे भी लिखा है। वहां उसका उत्तर इस प्रकार दिया

आस्तिक—जैसे विना राजा के डाकू लम्पट चोरादि दुष्ट मनुष्य स्वयं फांसी वा कारागृह में नहीं जाते, न वे जाना चाहते हैं, किन्तु राज की न्यायव्यवस्थानुसार बलात्कार से पकड़ाकर यथोचित राजा दण्ड देता है, इसी प्रकार जीव [को] भी ईश्वर [अपनी[1]] न्याय-व्यवस्था से स्व-स्व-कर्मानुसार यथायोग्य दण्ड देता है। क्योंकि कोई भी जीव अपने दुष्ट कर्मों के फल भोगना नहीं चाहता। इसलिये अवश्य परमात्मा न्यायाधीश होना चाहिये।

नास्तिक—जगत् में एक ईश्वर नहीं, किन्तु जितने मुक्त जीव हैं, वे सब ईश्वर हैं।

आस्तिक—यह कथन सर्वथा व्यर्थ है। क्योंकि जो प्रथम बद्ध होकर मुक्त हो, तो पुनः बन्ध में अवश्य पड़े। क्योंकि वे स्वाभाविक सदैव मुक्त नहीं। जैसे तुम्हारे चौबीस तीर्थङ्कर पहिले बद्ध थे, पुनः मुक्त हुए, फिर भी बन्धमें अवश्य गिरेंगे। और जब बहुत से ईश्वर हैं, तो जैसे जीव अनेक होने से लड़ते-भिड़ते फिरते हैं, वैसे ईश्वर भी लड़ा-भिड़ा करेंगे।

नास्तिक—हे मूढ़! जगत् का कर्त्ता कोई नहीं, किन्तु जगत् स्वयंसिद्ध है।

आस्तिक—यह जैनियों की कितनी बड़ी भूल है। भला विना कर्त्ता के कोई कर्म, कर्म के विना कोई कार्य्य जगत् में होता दीखता है? यह ऐसी बात है कि जैसे गेहूं के खेत में स्वयंसिद्ध पिसान रोटी बनके जैनियों के पेट में चली जाती हो। कपास सूत, कपड़ा अङ्गरखा दुपट्टा धोती पगड़ी आदि बनके कभी नहीं आते। जब ऐसा नहीं, तो ईश्वर कर्त्ता के विना यह विविध जगत्, और नाना प्रकार की रचना-विशेष कैसे बन सकती?

है—'जो ऐसा हो, तो जैसे मदपान करनेवालों को मद कम चढ़ता, किन्तु अनभ्यासी को बहुत चढ़ता है, वैसे नित्य बहुत पाप-पुण्य करनेवालों को [फल] न्यून, और कभी-कभी थोड़ा-थोड़ा पाप-पुण्य करनेवालों को अधिक फल होना चाहिये। और छोटे कर्मवालों को अधिक फल होवे।'

१. सं० २ में 'की' अपपाठ है।

जो हठधर्म से स्वयंसिद्ध जगत् को मानो, तो स्वयंसिद्ध उप-रोक्त वस्त्रादिकों को कर्त्ता के विना प्रत्यक्ष कर दिखलाओ। जब ऐसा सिद्ध नहीं कर सकते, पुनः तुम्हारे प्रमाणशून्य कथन को कौन बुद्धिमान् मान सकता है?

नास्तिक—ईश्वर विरक्त है, वा मोहित? जो विरक्त है, तो जगत् के प्रपञ्च में क्यों पड़ा? जो मोहित है, तो जगत् के बनाने को समर्थ नहीं हो सकेगा।

आस्तिक—परमेश्वर में वैराग्य वा मोह कभी नहीं घट सकता। क्योंकि जो सर्वव्यापक है, वह किसको छोड़े और किसको ग्रहण करे? ईश्वर से उत्तम वा उसको अप्राप्त कोई पदार्थ नहीं है। इसलिये किसी में मोह भी नहीं होता। वैराग्य और मोह का होना जीव में घटता है, ईश्वर में नहीं।

नास्तिक—जो ईश्वर को जगत् का कर्त्ता, और जीवों के कर्मों के फलों का दाता मानोगे, तो ईश्वर प्रपञ्ची होकर दुःखी हो जायगा।

आस्तिक—भला अनेकविध कर्मों का कर्त्ता, और प्राणियों को फलों का दाता, धार्मिक न्यायाधीश विद्वान् कर्मों में नहीं फसता, न प्रपञ्ची होता है, तो परमेश्वर अनन्त सामर्थ्यवाला प्रपञ्ची और दुःखी क्योंकर होगा? हां, तुम अपने और अपने तीर्थङ्करों के समान परमेश्वर को भी अपने अज्ञान से समझते हो, सो तुम्हारी अविद्या की लीला है।

जो अविद्यादि दोषों से छूटना चाहो, तो वेदादिसत्य-शास्त्रों का आश्रय लेओ। क्यों भ्रम में पड़े-पड़े ठोकरें खाते हो?

अब जैन लोग जगत् को जैसा मानते हैं, वैसा इनके सूत्रों के अनुसार दिखलाते। और संक्षेपतः मूलार्थ के किये पश्चात् सत्य झूठ की समीक्षा करके दिखलाते हैं—

मूल—'[1] सामि अणाइ अणन्ते, चउगइ संसारघोरकान्तारे।
मोहाइ कम्मगुरुठिइ, विवागवसउ भमइ जीवो॥
प्रकरणरत्नाकर, भाग दूसरा २। षष्टीशतक[2] ६०। सूत्र २॥[3]

यह 'रत्नसार भाग[4]' नामक ग्रन्थ के 'सम्यक्त्वप्रकाश' प्रकरण में गौतम और महावीर का संवाद है[5]—

इसका संक्षेप से उपयोगी यह अर्थ[6] है कि—'यह संसार अनादि अनन्त है। न कभी इसकी उत्पत्ति हुई, न कभी विनाश होता है। अर्थात् किसी का बनाया जगत् नहीं। सो ही आस्तिक नास्तिक के संवाद में - हे मूढ़! जगत् का कर्त्ता कोई नहीं न कभी बना, और न कभी नाश होता'।

समीक्षक—जो संयोग से उत्पन्न होता है, वह अनादि और अनन्त कभी नहीं हो सकता। और उत्पत्ति तथा विनाश हुए विना कर्म नहीं रहता। जगत् में जितने पदार्थ उत्पन्न होते हैं वे सब संयोगज उत्पत्ति विनाशवाले देखे जाते हैं। पुनः जगत् उत्पन्न और विनाशवाला क्यों नहीं? इसलिये तुम्हारे तीर्थङ्करों को सम्यक् बोध

---

१. वै० य० मु० संस्क० २-३३ तक जैन गाथाओं का पाठ बहुत अशुद्ध छपा है। सं०३४ में मूल ग्रन्थ से मिलाकर शुद्ध पाठ दिया गया। हम उसी के तथा स्वयं मिलाकर शोधे हुए पाठ के अनुसार शुद्ध पाठ दे रहे हैं।

२. यहां 'सम्यक्त्वस्वरूपस्तव' निर्देश होना चाहिये।

३. द्र०—पृ० ५७८।

४. यहां 'प्रकरण रत्नाकर, भाग २' ऐसा पाठ होना चाहिये। रत्नसार ग्रन्थ पृथक् है। देखो अगला प्रकरण। वै० य० मुद्रित सं० ३४ में 'प्रकरणरत्नाकर नामक' पाठ बना दिया है।

५. गौतम महावीर स्वामी के गणधर थे। प्र० रत्ना० भाग२ के अन्तर्गत 'सम्यक्त्वस्वरूपस्तव' की पहली गाथा की गुजराती व्याख्या में महावीर स्वामी और गौतम गणधर का संवाद बताया है। स्वामी वेदा०

६. गाथा का शब्दार्थ इस प्रकार है—'हे स्वामी! इस अनादि अनन्त चार गतियोंवाले संसाररूपी घोर जंगल में मोहनीय आदि कर्मों की उत्कृष्ट स्थिति के विपाक=फल के वश में हुआ जीव भ्रमण कर रहा है।' स्वामी वेदा०

नहीं था। जो उनको सम्यक् ज्ञान होता, तो ऐसी असम्भव बातें क्यों लिखते ?

जैसे तुम्हारे गुरु हैं, वैसे तुम शिष्य भी हो। तुम्हारी बातें सुनने-वाले को पदार्थ-ज्ञान कभी नहीं हो सकता। भला, जो प्रत्यक्ष संयुक्त पदार्थ दीखता है, उसकी उत्पत्ति और विनाश क्योंकर नहीं मानते ? अर्थात् इनके आचार्य वा जैनियों को भूगोल-खगोल विद्या भी नहीं आती थी, और न अब यह विद्या इनमें है। नहीं तो निम्नलिखित ऐसी असम्भव बातें क्योंकर मानते और कहते ?

देखो, इस सृष्टि में पृथिवीकाय अर्थात् पृथिवी भी जीव का शरीर है, और जलकायादि भी जीव मानते हैं। इसको कोई भी नहीं मान सकता। और भी देखो इनकी मिथ्या बातें। जिन तीर्थङ्करों को जैन लोग सम्यक्ज्ञानी और परमेश्वर मानते हैं, उनकी मिथ्या बातों के ये नमूने हैं—

रत्नसार भाग [१] के पृष्ठ १४५—इस ग्रन्थ को जैन लोग मानते हैं, और यह ईसवी सन् १८७९ अप्रैल तारीख २८ में बनारस जैन प्रभाकर प्रेस में नानकचन्द जती ने छपवाकर प्रसिद्ध किया है। उसके पूर्वोक्त पृष्ठ में काल की इस प्रकार व्याख्या की है—

'अर्थात् **समय** का नाम सूक्ष्म काल है, और असंख्यात[1] समयों को '**आवलि**' कहते हैं। एक क्रोड़ सर्सठ लाख सत्तर सहस्र दो सौ सोलह आवलियों का एक '**मुहूर्त्त**' होता है। वैसे तीस मुहूर्त्तों का एक '**दिवस**', वैसे पन्द्रह दिवसों का एक '**पक्ष**', वैसे दो पक्षों का एक '**मास**', वैसे बारह महीनों का एक '**वर्ष**' होता है। वैसे सत्तर लाख क्रोड़, छप्पन सहस्र क्रोड़ वर्षों का एक '**पूर्व**' होता है। ऐसे असंख्यात पूर्वों को[2] एक '**पल्योपम**' काल कहते हैं।'

असंख्यात इसको कहते हैं कि—एक चार कोश का चौरस और उतना ही गहिरा कुआं खोदकर उसमें **जुगुलिये** मनुष्य के शरीर के

---

१. सं० २ में 'अख्यात' अपपाठ है। २. सं० २ में 'का' अनन्वित पाठ है।

निम्नलिखित बालों के टुकड़ों से भरना। अर्थात् वर्त्तमान मनुष्य के बाल से जुगुलिये मनुष्य के बाल चार हजार छानवें भाग सूक्ष्म होता है। जब जुगुलिये मनुष्यों के चार सहस्र छानवें बालों को इकट्ठा करें, तो इस समय के मनुष्यों का एक बाल होता है।

ऐसे जुगुलिये मनुष्यों के एक बाल के[1] एक अंगुल बाल के[1] सात बार आठ-आठ टुकड़े करने से २०, ९७, १५२ अर्थात् बीस लाख सत्तानवें सहस्र एक सौ बावन टुकड़े होते हैं ऐसे टुकड़ों से पूर्वोक्त कुआ को भरना। उसमें से सौ वर्ष के अन्तरे एक-एक टुकड़ा निकालना। जब सब टुकड़े निकल जावें, और कुआ खाली हो जाय, तो भी वह संख्यात काल है।

और जब उनमें से एक-एक टुकड़े के असंख्यात टुकड़े करके उन टुकड़ों से उसी कुए को ऐसा ठस[के]भरना कि उसके ऊपर से चक्रवर्ती राजा की सेना चली जाय, तो भी न दबे। उन टुकड़ों में से सौ वर्ष के अन्तरे एक टुकड़ा निकाले। जब वह कुम्रा रीता हो जाय, तब उसमें असंख्यात पूर्व पड़ें, तब एक-एक **पल्योपम**' काल होता है। वह 'पल्योपम' काल कुम्रा के दृष्टान्त से जानना।

जब दश क्रोडान् क्रोड़ पल्योपम काल बीतें, तब एक '**सागरोपम**' काल होता है। जब दश क्रोड़ान् क्रोड़ सागरोपम काल बीत जाय, तब एक '**उत्सर्पणी**' काल होता है। और जब एक उत्सर्पणी[2] और एक **अवसर्पणी**[2] काल बीत जाय, तब एक '**कालचक्र**' होता है। जब अनन्त कालचक्र बीत जावें, तब एक '**पुद्गल परावृत्त**' होता है।

अब अनन्तकाल किसको कहते हैं? जो सिद्धान्त पुस्तकों में नव दृष्टान्तों से काल की संख्या की है, उससे उपरान्त 'अनन्तकाल' कहाता है। वैसे अनन्त पुद्गल परावृत्त काल जीव को भ्रमते हुए बीते हैं, इत्यादि।

---

१. सं० २ में 'का' पाठ है।

२. ये शब्द आयुर्वेद की काश्यपसंहिता में भी हैं। पर वहां उनका अर्थ दूसरा है। भ० द०

समीक्षक—सुनो भाई गणित-विद्यावाले लोगो ! जैनियों के ग्रन्थों की काल-संख्या कर सकोगे वा नहीं ? और तुम इसको सच भी मान सकोगे वा नहीं ? देखो, इन तीर्थङ्करों ने ऐसी गणितविद्या पढ़ी थी । ऐसे-ऐसे तो इनके मत में गुरु और शिष्य हैं, जिनकी अविद्या का कुछ पारावार नहीं ।

और भी इनका अन्धेर सुनो—

रत्नसार भाग [१] पृ० १३३[1] से लेके जो कुछ बूटाबोल[2] अर्थात् जैनियों के सिद्धान्त-ग्रन्थ, जो कि उनके तीर्थङ्कर अर्थात् ऋषभदेव से लेके महावीर-पर्य्यन्त चौबीस हुए हैं, उनके वचनों का सारसंग्रह है। ऐसा रत्नसार भाग [१]पृ० १४८ में लिखा है कि—

'पृथिवीकाय के जीव मट्टी पाषाणादि पृथिवी के भेद जानना । उनमें रहनेवाले जीवों के शरीर का परिमाण एक अंगुल का असंख्यातवां समझना अर्थात् अतीव सूक्ष्म होते हैं । उनका आयुमान, अर्थात् वे अधिक-से-अधिक २२ सहस्र वर्ष पर्यन्त जीते हैं ।'

रत्न० [भाग १]पृ० १४९–'वनस्पति के एक शरीर में अनन्त जीव होते हैं, वे साधारण वनस्पति कहाती है, जो कि कन्दमूलप्रमुख और अनन्तकायप्रमुख होते हैं, उनको साधारण वनस्पति के जीव कहने चाहियें । उनका आयुमान [3]अनन्तमुहूर्त्त होता है । परन्तु यहां पूर्वोक्त इन का मुहूर्त्त समझना चाहिये ।'

और एक शरीर में जो एकेन्द्रिय अर्थात् स्पर्श इन्द्रिय इनमें है, और उसमें एक जीव रहता है, उसको प्रत्येक वनस्पति कहते हैं । उसका देहमान एक सहस्र योजन अर्थात् पुराणियों का योजन ४ कोश का, परन्तु जैनियों का योजन १०,००० दश सहस्र कोशों का होता है । ऐसे चार सहस्र कोश का शरीर होता है । उसका आयुमान अधिक से अधिक दश सहस्र वर्ष का होता है ।

---

१. 'पृष्ठ १३४' चाहिये । सं० ३४ में शोधा है ।
२. सं० ३४ में 'जो कुछ छुट्टाबोल=[बट्टाबोल]' पाठ छपा है ।
३. सं० २ में 'अन्तमुहूर्त' अपपाठ है ।

अब दो इन्द्रिवाले जीव, अर्थात् एक उनका शरीर और एक मुख, जो शंख कौड़ी और जूं आदि होते हैं। उनका देहमान अधिक से अधिक अड़तालीस कोश का स्थूल शरीर होता है। और उनका आयुमान अधिक से अधिक बारह वर्ष का होता है।'

[समीक्षक–]यहां बहुत ही भूल गया। क्योंकि इतने बड़े शरीर का आयु अधिक लिखता। और अड़तालीस कोश की स्थूल जूं जैनियों के शरीर में पड़ती होगी, और उन्होंने देखी भी होगी ? और का भाग्य ऐसा कहां, जो इतनी बड़ी जूं को देखे !!!

और देखो इनका अन्धाधुन्ध—

'रत्नसार भाग [१] पृ० १५०—बीछू, बगाई, कसारी और मक्खी एक योजन के शरीरवाले होते हैं। इनका आयुमान अधिक से अधिक छह महीने का है।

[समीक्षक—]देखो भाई ! चार-चार कोश का बीछू अन्य किसी ने देखा न होगा। जो आठ मील तक का शरीरवाला बीछू और मक्खी भी जैनियों के मत में होती हैं। ऐसे बीछू और मक्खी उन्हींके घर में रहते होंगे ? और उन्होंने देखे होंगे, अन्य किसी ने संसार में नहीं देखे होंगे ? कभी ऐसे बीछू किसी जैनी को काटें, तो उसका क्या होता होगा ?

जलचर मच्छी आदि के शरीर का मान एक सहस्र योजन अर्थात् १०,००० कोश के योजन के हिसाब से १,००,००,००० एक करोड़ कोश का शरीर होता है। और एक करोड़ 'पूर्ववर्षों' का इनका आयु होता है।

वैसा[२] स्थूल जलचर सिवाय जैनियों के अन्य किसी ने न देखा होगा ?

और चतुष्पात् हाथी आदि का देहमान दो कोश से नव कोश-पर्यन्त, और आयुमान चौरासी सहस्र वर्षों का, इत्यादि। ऐसे बड़े-

१. यह स्थान-निर्देशक अंश सं० २ में 'और देखो' से पूर्व है।
२. सं० २ में 'वैसे' अपपाठ है।

बड़े शरीरवाले जीव भी जैनी लोगों ने देखे होंगे, और मानते हैं। और कोई बुद्धिमान् नहीं मान सकता।

रत्नसार भाग [१] पृ० १५१—'जलचर गर्भज जीवों का देहमान उत्कृष्ट एक सहस्र योजन अर्थात् १,००,००,००० एक करोड़ कोशों का, और आयुमान एक करोड़ 'पूर्व-वर्षों' का होता है।'

[**समीक्षक**—]इतने बड़े शरीर और आयुवाले जीवों को भी इन्होंके आचार्यों ने स्वप्न में देखे होंगे। क्या यह महाझूठ बात नहीं? कि जिसका कदापि सम्भव न हो सके

अब सुनिये भूमि के[1] परिमाण को—

रत्नसार भाग [१] पृ० १५२—इस तिरछे लोक में असंख्यात द्वीप और असंख्यात समुद्र हैं। इन असंख्यात का प्रमाण, अर्थात् जो अढ़ाई 'सागरोपम' काल में जितना समय हो, उतने द्वीप तथा समुद्र जानना।

अब इस पृथिवी में एक 'जम्बूद्वीप' प्रथम सब द्वीपों के बीच में है। इसका प्रमाण एक लाख योजन अर्थात् एक अरब कोश[2] का है। और इसके चारों ओर लवण समुद्र है। उसका प्रमाण दो लाख योजन[3] का है, अर्थात् दो अरब[4] कोश का।

इस जम्बूद्वीप के चारों ओर जो 'धातकीखण्ड' नाम द्वीप है, उसका चार लाख योजन अर्थात् चार अरब[5] कोश का प्रमाण है।

---

१. स० २ में 'को' अपपाठ है।

२. सं० २, ३, ४ में 'चार लाख कोश' पाठ है। सं० ५ में 'एक अरब कोश' पाठ बनाया है। इस का कारण यह है कि पूर्व पृष्ठ ६५२ पं० २४ में जैनियों का योजन १०००० दश सहस्र कोश का बताया है। अत: १००००० योजन को १०००० दश हजार से गुणा करने पर एक लाख योजन=१ अरब कोश होता है। सं० २, ३, ४ के पाठ में पौराणिक योजन-परिमाण=४ कोश (द्र०—पूर्व पृष्ठ ६५२, पं० २४) से गुणा करने से यहां भूल हुई है। सं० ३४, ३५ में पुन: पुराना अपपाठ छापा है।

३. सं० २ में 'योजन कोश' अपपाठ है।

४. सं २, ३, ४, ३४, ३५ में 'आठ लाख कोश' पूर्ववत् अपपाठ है।

५. सं० २, ३, ४, ३४, ३५ में 'सोलह लाख कोश' पूर्ववत् अपपाठ है।

और उसके पीछे 'कालोदधि' समुद्र है। उसका आठ लाख [योजन] अर्थात् आठ अरब[1] कोश का प्रमाण है। उसके पीछे 'पुष्करावर्त्त' द्वीप है। उसका प्रमाण सोलह [लाख योजन अर्थात् सोलह अरब][2] कोश का है। उस द्वीप के भीतर की [ओर] कोरें हैं।

उस द्वीप के आधे में मनुष्य बसते हैं, और उसके उपरान्त असंख्यात द्वीप समुद्र हैं। उनमें तिर्यग् योनी के जीव रहते हैं।

रत्नसार भाग [१] पृ० १५३—जम्बूद्वीप में एक हिमवन्त, एक ऐरण्यवन्त, एक हरिवर्ष, एक रम्यक, एक देवकुरु एक उत्तरकुरु ये छः क्षेत्र हैं।[3]

समीक्षक—सुनो भाई भूगोलविद्या के जाननेवाले लोगो! भूगोल के परिमाण करने में तुम भूले वा जैन? जो जैन भूल गये हों, तो तुम उनको समझाओ। और जो तुम भूले हो, तो उनसे समझ लेओ। थोड़ा-सा विचारकर देखो तो यही निश्चय होता है कि जैनियों के आचार्य और शिष्यों ने भूगोल खगोल और गणितविद्या कुछ भी नहीं पढ़ी थी। जो पढ़े होते, तो महा असम्भव गपोड़ा क्यों मारते?

भला ऐसे अविद्वान् पुरुष जगत् को अकर्तृक, और ईश्वर को न मानें, इसमें क्या आश्चर्य है? इसलिये जैनी लोग अपने पुस्तकों को किन्हीं विद्वान् अन्य मतस्थों को नहीं देते। क्योंकि जिनको ये लोग[4] प्रामाणिक तीर्थङ्करों के बनाये हुए सिद्धान्त-ग्रन्थ मानते हैं, उनमें इसी प्रकार की अविद्यायुक्त बातें भरी पड़ी हैं। इसलिये नहीं देखने देते। जो देवें तो पोल खुल जाय। इनके विना जो कोई मनुष्य कुछ भी बुद्धि रखता होगा, वह कदापि इस गपोड़ाध्याय को सत्य नहीं मान सकेगा।

---

१. सं० २, ३, ४, ३४, ३५ में 'बत्तीस लाख कोश' पूर्ववत् अपपाठ है।

२. यह पाठ सं० २ से ३३ तक त्रुटित है। सं० ३४, ३५ में ['लाख योजन' अर्थात् चौंसठ लाख] कोश' इस प्रकार छपा है। यहां भी 'चौंसठ लाख योजन' पूर्ववत् अपपाठ है।

३. जैन ग्रन्थ 'तत्त्वार्थ-राजवार्तिक' २।१० में भी कुछ नाम हैं। विष्णु-पुराण में भी इनमें से कुछ नाम हैं। इन दोनों में हैरण्यवत और ऐरावत नाम हैं। भ० द०

४. सं० २ में 'लोग ये' पाठ है।

यह सब प्रपञ्च जैनियों ने जगत् को अनादि मानने के लिये खड़ा किया है, परन्तु यह निरा झूठ है। हां, जगत् का कारण अनादि है। क्योंकि वह परमाणु आदि तत्त्वस्वरूप अकर्तृक है। परन्तु उनमें नियमपूर्वक बनने वा बिगड़ने का सामर्थ्य कुछ भी नहीं। क्योंकि जब एक परमाणु द्रव्य किसी का नाम है, और स्वभाव से पृथक्-पृथक् रूप और जड़ हैं, वे अपने आप यथायोग्य नहीं बन सकते। इसलिये इनका बनानेवाला चेतन अवश्य है, और वह बनानेवाला ज्ञानस्वरूप है।

देखो, पृथिवी सूर्यादि सब लोकों को नियम में रखना अनन्त अनादि चेतन परमात्मा का काम है। जिसमें संयोग रचना-विशेष दीखता है, वह स्थूल जगत् अनादि कभी नहीं हो सकता।

जो कार्य जगत् को नित्य मानोगे, तो उसका कारण कोई न होगा। किन्तु वही कार्यकारणरूप हो जाएगा। जो ऐसा कहोगे, तो अपना कार्य और कारण आप ही होने से अन्योऽन्याश्रय और आत्माश्रय दोष आवेगा। जैसे अपने कन्धे पर आप चढ़ना, और अपना पिता-पुत्र आप नहीं हो सकता। इसलिये जगत् का कर्त्ता अवश्य ही मानना है।

प्रश्न—जो ईश्वर को जगत् का कर्त्ता मानते हो, तो ईश्वर का कर्त्ता कौन है?

उत्तर—कर्त्ता का कर्त्ता और कारण का कारण कोई भी नहीं हो सकता। क्योंकि प्रथम कर्त्ता और कारण के होने से ही कार्य होता है। जिसमें संयोग-वियोग नहीं होता, जो प्रथम संयोग-वियोग का कारण है, उसका कर्त्ता वा कारण किसी प्रकार नहीं हो सकता। इसकी विशेष व्याख्या 'आठवें समुल्लास' [में] सृष्टि की व्याख्या में लिखी है, देख लेना।

इन जैन लोगों को स्थूल बात का भी यथावत् ज्ञान नहीं, तो परम सूक्ष्म सृष्टिविद्या का बोध कैसे हो सकता है? इसलिये जो जैनी लोग सृष्टि को अनादि अनन्त मानते, और द्रव्यपर्यायों को भी अनादि अनन्त मानते हैं, और प्रतिगुण प्रतिदेश में पर्यायों और प्रति-

वस्तु में भी अनन्त पर्याय को मानते हैं, यह **प्रकरणरत्नाकर के प्रथम भाग** में लिखा है।[1]

यह भी बात कभी नहीं घट सकती। क्योंकि जिनका अन्त अर्थात् मर्यादा होती है, उनके सब सम्बन्धी अन्तवाले ही होते हैं। यदि अनन्त को असंख्य कहते, तो भी नहीं घट सकता। किन्तु जीवापेक्षा में यह बात घट सकती है, परमेश्वर के सामने नहीं। क्योंकि एक-एक द्रव्य में अपने-अपने एक-एक कार्य-करण[2] सामर्थ्य को अविभाग पर्यायों से अनन्त-सामर्थ्य मानना केवल अविद्या की बात है।

जब एक परमाणु द्रव्य की सीमा है, तो उसमें अनन्त विभाग-रूप पर्याय कैसे रह सकते हैं? ऐसे ही एक-एक द्रव्य में अनन्त गुण, और एक गुण प्रदेश में अविभागरूप अनन्त पर्यायों को भी अनन्त मानना केवल बालकपन की बात है। क्योंकि जिसके अधिकरण का अन्त है, तो उसमें रहनेवालों का अन्त क्यों नहीं? ऐसी ही लम्बी-चौड़ी मिथ्या बातें लिखी हैं।

अब **जीव और अजीव** इन दो पदार्थों के विषय में जैनियों का निश्चय ऐसा है—

चेतनालक्षणो जीवः स्यादजीवस्तदन्यकः।
सत्कर्मपुद्गलाः पुण्यं पापं तस्य विपर्ययः॥[3]

यह **'जिनदत्तसूरि'** का वचन है।

और यही 'प्रकरणरत्नाकर' भाग पहिले में 'नयचक्रसार'[4] में भी लिखा है कि—'चेतना-लक्षण जीव, और चेतना-रहित अजीव

---

१. तत्रैकस्मिन् द्रव्ये प्रतिप्रदेशे स्वस्व एककार्यकरणसामर्थ्यरूपा अनन्ता अविभागरूपपर्यायाः। तेषां समुदायो गुणः। भिन्नकार्यकरणे सामर्थ्यरूपाः भिन्नगुणस्य पर्यायाः, एवं गुणा अप्यनन्ताः। प्रतिगुणं प्रतिप्रदेशं पर्याया अविभागरूपा अनन्तास्तुल्याः प्रायो (?) इति ते चास्तिरूपाः प्रतिवस्तुनि अनन्ताः, ततोऽनन्ता गुणाः सामर्थ्यपर्यायाः। प्र० रत्ना०, भा० १, पृष्ठ १७४।

२. सं० २ में 'कारण' पाठ है। ३. आर्हत-दर्शन, पृष्ठ ८७।

४. पृष्ठ १९२।

अर्थात् जड़ है। सत्कर्मरूप पुद्गल पुण्य, और पापकर्मरूप पुद्गल पाप कराते हैं।'

समीक्षक—जीव और जड़ का लक्षण तो ठीक है, परन्तु जो जड़रूप पुद्गल हैं, वे पापपुण्ययुक्त कभी नहीं हो सकते। क्योंकि पाप-पुण्य करने का स्वभाव चेतन में होता है। देखो, ये जितने जड़ पदार्थ हैं, वे सब पाप-पुण्य से रहित हैं। जो जीवों को अनादि मानते हैं, यह तो ठीक है। परन्तु उसी अल्प और अल्पज्ञ जीव को मुक्तिदशा में सर्वज्ञ मानना झूठ है। क्योंकि जो अल्प और अल्पज्ञ है, उसका सामर्थ्य भी सर्वदा ससीम रहेगा।

जैनी लोग जगत्, जीव, जीव के कर्म और बन्ध अनादि मानते हैं। यहां भी जैनियों के तीर्थङ्कर भूल गये हैं। क्योंकि संयुक्त जगत् का कार्यकारण, प्रवाह से कार्य, और जीव के कर्म, बन्ध भी[1] अनादि नहीं हो सकता। जब ऐसा मानते हो, तो कर्म और बन्ध का छूटना क्यों मानते हो? क्योंकि जो अनादि पदार्थ है, वह कभी नहीं छूट सकता।

जो अनादि का भी नाश मानोगे, तो तुम्हारे सब अनादि पदार्थों के नाश का प्रसंग होगा[2]। और तब[3] सब कर्मों के नाश का प्रसंग होगा। और जब अनादि को नित्य मानोगे, तो कर्म और बन्ध भी नित्य होगा। और जब सब कर्मों के छूटने से मुक्ति मानते हो, तो सब कर्मों का छूटनारूप मुक्ति का निमित्त हुआ। तब नैमित्तिकी मुक्ति होगी, तो सदा नहीं रह सकेगी।

और कर्म-कर्त्ता का नित्य सम्बन्ध होने से कर्म भी कभी न छूटेंगे। पुन: जब तुमने अपनी मुक्ति और तीर्थंकरों की मुक्ति नित्य मानी है, सो नहीं बन सकेगी।

---

१. 'भी' के आगे [प्रवाह से अनादि हैं, स्वरूप से] इतने शब्द लिपिकरों की लोपलीला से लुप्त हुए हैं। स्वामी वेदानन्द

२. व० यं० मुद्रित संस्करणों में यहां से आगे 'और जब अनादि को नित्य मानोगे, तो कर्म और बन्ध भी नित्य होगा' पाठ व्यर्थ है। यह आगे पुन: यथास्थान पठित है।

३ सं० २ में 'जब' पाठ है।

प्रश्न—जैसे धान्य का छिकला उतारने, वा अग्नि के संयोग होने से वह बीज पुनः नहीं उगता, इसी प्रकार मुक्ति में गया हुआ जीव पुनः जन्ममरणरूप संसार में[1] नहीं आता।

उत्तर—जीव और कर्म का सबन्ध छिकले और बीज के समान नहीं है। किन्तु इनका समवाय सम्बन्ध है। इससे अनादि काल से जीव और उसमें कर्म और कर्तृत्व शक्ति का सम्बन्ध है। जो उसमें कर्म करने की शक्ति का भी अभाव मानोगे, तो सब जीव पाषाणवत् हो जायेंगे। और मुक्ति को भोगने का भी सामर्थ्य नहीं रहेगा।

जैसे अनादि काल का कर्मबन्धन छूटकर जीव मुक्त[2] होता है. तो तुम्हारी नित्य-मुक्ति से भी छूटकर बन्धन में पड़ेगा। क्योंकि जैसे कर्मरूप मुक्ति के साधनों से भी छूटकर जीव का मुक्त होना मानते हो, वैसे ही नित्य-मुक्ति से भी छूटके बन्धन में पड़ेगा।

साधनों से सिद्ध हुआ पदार्थ नित्य कभी नहीं हो सकता। और जो साधन-सिद्ध के विना मुक्ति मानोगे, तो कर्मों के विना ही बन्ध प्राप्त हो सकेगा। जैसे वस्त्रों में मैल लगता, और धोने से छूट जाता है, पुनः मैल लग जाता है, वैसे मिथ्यात्वादि हेतुओं से रागद्वेषादि के आश्रय से जीव को कर्मरूप फल लगता है।

और जो सम्यक्ज्ञान दर्शन चारित्र से निर्मल होता है, और मल लगने के कारणों से मलों का लगना मानते हो, तो मुक्त जीव संसारी और संसारी जीव का मुक्त होना अवश्य मानना पड़ेगा। क्योंकि जैसे निमित्तों से मलिनता छूटती है, वैसे निमित्तों से मलिनता लग भी जायगी। इसलिये जीव को बन्ध और मुक्ति प्रवाहरूप से अनादि मानो, अनादि अनन्तता से नहीं।

प्रश्न—जीव निर्मल कभी नहीं था, किन्तु मलसहित है।

उत्तर—जो कभी निर्मल नहीं था, तो निर्मल भी कभी नहीं हो

१. इसके आगे सं० २ में 'फिर' पाठ है, वह व्यर्थ है।

२. सं० २ में 'मुक्ति' अपपाठ है।

सकेगा। जैसे शुद्ध वस्त्र में पीछे से लगे हुए मैल को धोने से छुड़ा देते हैं, उसके स्वाभाविक श्वेत वर्ण को नहीं छुड़ा सकते। मैल फिर भी वस्त्र में लग जाता है, इसी प्रकार मुक्ति में भी लगेगा।

प्रश्न—जीव पूर्वोपार्जित कर्म ही से शरीर धारण कर लेता है। ईश्वर का मानना व्यर्थ है।

उत्तर—जो केवल कर्म ही शरीरधारण में निमित्त हो, ईश्वर कारण न हो, तो वह जीव बुरा जन्म कि जहां बहुत दुःख हो, उसको धारण कभी न करे। किन्तु सदा अच्छे-अच्छे जन्म धारण किया करे। जो कहो कि कर्म प्रतिबन्धक है, तो भी जैसे चोर आपसे आके बन्धीगृह में नहीं जाता, और स्वयं फांसी भी नहीं खाता, किन्तु राजा देता है, इसी प्रकार जीव को शरीर धारण कराने[1], और उसके कर्मानुसार फल देनेवाले परमेश्वर को तुम भी मानो।

प्रश्न—मद (=नशा) के समान कर्म [फल] स्वयं प्राप्त होता है। फल देने में दूसरे की आवश्यकता नहीं।

उत्तर—जो ऐसा हो, तो जैसे मदपान करनेवालों को मद कम चढ़ता, अनभ्यासी को बहुत चढ़ता है, वैसे नित्य बहुत पाप-पुण्य करनेवालों [को] न्यून, और कभी-कभी थोड़ा-थोड़ा पाप-पुण्य करनेवालों को अधिक फल होना चाहिये। और छोटे कर्मवालों को अधिक फल होवे।

प्रश्न—जिसका जैसा स्वभाव होता है, उसको वैसा ही फल हुआ करता[2] है।

उत्तर—जो स्वभाव से है, तो उसका छूटना वा मिलना नहीं हो सकता। हां, जैसे शुद्ध वस्त्र में निमित्तों से मल लगता है, उसके छुड़ाने के निमित्तों से छूट भी जाता है, ऐसा मानना ठीक है।

प्रश्न—संयोग के विना कर्म परिणाम को प्राप्त नहीं होता। जैसे दूध और खटाई के संयोग के विना दही नहीं होता। इसी प्रकार जीव और कर्म के योग से कर्म का परिणाम होता है।

---

१. सं० २ में 'करना' अपपाठ है। २. सं० २ में 'कर्त्ता' पाठ है।

उत्तर—जैसे दही और खटाई का मिलानेवाला तीसरा होता है, वैसे ही जीवों को[1] कर्मों के फल के साथ मिलानेवाला तीसरा ईश्वर होना चाहिये। क्योंकि जड़ पदार्थ स्वयं नियम से संयुक्त नहीं होते। और जीव भी अल्पज्ञ होने से स्वयं अपने कर्मफल को प्राप्त नहीं हो सकते। इससे यह सिद्ध हुआ कि विना ईश्वरस्थापित सृष्टिक्रम के कर्मफलव्यवस्था नहीं हो सकती।

प्रश्न—जो कर्म से मुक्त होता है, वही ईश्वर कहाता है।

उत्तर—जब अनादि काल से जीव के साथ कर्म लगे हैं, तो उनसे जीव मुक्त कभी नहीं हो सकेंगे।

प्रश्न—कर्म का बन्ध सादि है।

उत्तर—जो सादि है, तो कर्म का योग अनादि नहीं। और संयोग की आदि में जीव निष्कर्म होगा। और जो निष्कर्म को कर्म लग गया, तो मुक्तों को भी लग जायगा। और कर्म-कर्त्ता का समवाय अर्थात् नित्य सम्बन्ध होता है। यह[2] कभी नहीं छूटता। इसलिये जैसा ९वें समुल्लास में लिख आये हैं, वैसा ही मानना ठीक है।

जीव चाहै जैसा अपना ज्ञान और सामर्थ्य बढ़ावे, तो भी उसमें परिमित ज्ञान और ससीम सामर्थ्य रहेगा। ईश्वर के समान कभी नहीं हो सकता। हां, जितन सामर्थ्य बढ़ना उचित है, उतना योग से बढ़ा सकता है।

और जो जैनियों में आर्हत लोग देह के परिमाण से जीव का भी परिमाण मानते हैं,[3] उनसे पूंछना चाहिये कि जो ऐसा हो, तो हाथी का जीव कीड़ी में और कीड़ी का जीव हाथी में कैसे समा सकेगा?

यह भी एक मूर्खता की बात है। क्योंकि जीव एक सूक्ष्म पदार्थ

---

१. सं० २ में 'के' अपपाठ है। २. 'वह' पाठ होना चाहिये।

३. आत्मा प्रत्यक्षादिप्रमाणसिद्धः चैतन्यरूपः परिणामी कर्त्ता साक्षात्भोक्ता स्वदेहपरिमाणः। प्र० र० भाग १, नयसार।

है, जो कि एक परमाणु में भी रह सकता है। परन्तु उसकी शक्तियां शरीर में प्राण, बिजुली और नाड़ी आदि के साथ संयुक्त हो रहती हैं। उनसे सब शरीर का वर्त्तमान जानता है। अच्छे सङ्ग से अच्छा और बुरे सङ्ग से बुरा हो जाता है।

अब जैन लोग धर्म इस प्रकार का मानते हैं—

मूल—रे जीव भव दुहाइं इक्कं चिय हरइ जिणमयं धम्मं।
इयराणं परमंतो सुहकय्ये मूढ मुसिओसि ॥
प्रकरणरत्नाकर, भाग २। षष्टीशतक ६०। सूत्राङ्क ३ ॥[1]

संक्षेप से अर्थ—रे जीव ! एक ही जिनमत श्रीवीतरागभाषित धर्म संसार सम्बन्धी जन्म-जरा-मरणादि दुःखों का हरणकर्त्ता है। इसी प्रकार सुदेव और सुगुरु भी जैन मत वाले को जानना। इतर जो वीतराग ऋषभदेव से लेके महावीर पर्य्यन्त वीतराग देवों से भिन्न अन्य हरिहर ब्रह्मादि कुदेव हैं, उनकी अपने कल्याणार्थ जो जीव पूजा करते हैं, वे सब मनुष्य ठगाये गये हैं।

इसका यह भावार्थ है कि जैन मत के सुदेव सुगुरु तथा सुधर्म को छोड़के अन्य कुदेव कुगुरु तथा कुधर्म को सेवने से कुछ भी कल्याण नहीं होता।

समीक्षक—अब विद्वानों को विचारना चाहिये कि कैसे निन्दा-युक्त इनके धर्म के पुस्तक हैं ?

मूल—अरिहं देवो सुगुरु सुद्धं धम्मं च पंच नवकारो।
धन्नाणं कयच्छाणं निरन्तरं वसइ हिययम्मि ॥
प्रक० भा० २। षष्टी० ६०। सू० १ ॥[2]

[**सं० अर्थ**—]जो अरिहन् देवेन्द्रकृत पूजादिकन के योग्य दूसरा पदार्थ उत्तम कोई नहीं। ऐसा जो देवों का देव शोभायमान अरिहन्त देव ज्ञान क्रियावान् शास्त्रों का उपदेष्टा शुद्ध कषाय मलरहित सम्यक्त्व विनय दयामूल श्री जिनभाषित जो धर्म है, वही दुर्गति में पड़ने-

---

1. पृष्ठ ६२७। 2. पृष्ठ ६२७।

वाले प्राणियों का उद्धार करनेवाला है। और अन्य हरिहरादि का धर्म संसार से उद्धार करनेवाला नहीं। और पंच अरिहन्तादिक परमेष्ठी तत्सम्बन्धी उनको नमस्कार ये चार पदार्थ धन्य हैं, अर्थात् श्रेष्ठ हैं। अर्थात् दया, क्षमा, सम्यक्त्व, ज्ञान, दर्शन और चारित्र यह जैनों का धर्म है।

समीक्षक—जब मनुष्यमात्र पर दया नहीं, वह [न] दया न क्षमा, ज्ञान के बदले अज्ञान, दर्शन अन्धेर और चरित्र के बदले भूखे मरना कौनसी अच्छी बात है?

जैनमत के धर्म की प्रशंसा—

मूल—जइ न कुणसि तव चरणं न पढसि न गुणेसि देसि नो दाणम्।
ता इत्तियं सक्किसि जं देवो इक्क अरिहन्तो ॥
प्रकरण० भा० २। षष्टी० ६०। सू० २॥[1]

[सं० अर्थ—] हे मनुष्य! जो तू तप चारित्र नहीं कर सकता, न सूत्र पढ़ सकता, न प्रकरणादि का विचार कर सकता, और सुपात्रादि को दान नहीं दे सकता, तो भी जो तू देवता एक अरिहन्त ही हमारे आराधना के योग्य सुगुरु, सुधर्म जैनमत में श्रद्धा रखना सर्वोत्तम बात और उद्धार का कारण है।

समीक्षक—यद्यपि दया और क्षमा अच्छी वस्तु है, तथापि पक्षपात में फसने से दया अदया और क्षमा अक्षमा हो जाती है। इसका प्रयोजन यह है कि किसी जीव को दुःख न देना। यह बात सर्वथा सम्भव नहीं हो सकती। क्योंकि दुष्टों को दण्ड देना भी दया में गणनीय है। जो एक दुष्ट को दण्ड न दिया जाय, तो सहस्रों मनुष्यों को दुःख प्राप्त हो। इसलिये वह दया अदया और क्षमा अक्षमा हो जाय।

यह तो ठीक है कि सब प्राणियों के दुःखनाश और सुख की प्राप्ति का उपाय करना 'दया' कहाती है। केवल जल छान के पीना, क्षुद्र जन्तुओं को बचाना ही 'दया' नहीं कहाती। किन्तु इस प्रकार

---

१. पृष्ठ ६२७।

की दया जैनियों के कथनमात्र ही है, क्योंकि वैसा वर्त्तते नहीं। क्या मनुष्यादि पर, चाहे किसी मत में क्यों न हो, दया करके उसको अन्न-पानादि से सत्कार करना, और दूसरे मत के विद्वानों का मान्य और सेवा करना दया नहीं है ?

जो इनकी सच्ची 'दया' होती, तो 'विवेकसार[1]' के पृष्ठ २२१ में देखो क्या लिखा है—

'एक—'परमती की स्तुति' अर्थात् उनका गुणकीर्तन कभी न करना। दूसरा—उनको 'नमस्कार' अर्थात् वन्दना भी न करनी। तीसरा—आलपन[2] अर्थात् अन्य मतवालों के साथ थोड़ा बोलना। चौथा—'संलपन' अर्थात् उनसे वार-वार न बोलना। पांचवां—'उनको अन्न वस्त्रादि दान' अर्थात् उनको खाने-पीने की वस्तु भी न देनी। छःठा—'गन्धपुष्पादि दान' अन्य मत की प्रतिमा-पूजन के लिये गन्धपुष्पादि भी न देना। ये छः यत्तना अर्थात् इन छः प्रकार के कर्मों को जैन लोग कभी न करें।'

समीक्षक—अब बुद्धिमानों को विचारना चाहिये कि इन जैनी लोगों की अन्य मत वाले मनुष्यों पर कितनी अदया, कुदृष्टि और द्वेष है। जब अन्य मतस्थ मनुष्यों पर इतनी अदया है, तो फिर जैनियों को दयाहीन कहना संभव है। क्योंकि अपने घरवालों ही की सेवा करना विशेष धर्म नहीं कहाता। उनके मत के मनुष्य उनके घर के समान हैं। इसलिये उनकी सेवा करते, अन्य मतस्थों की नहीं। फिर उनको दयावान् कौन बुद्धिमान् कह सकता है ?

विवेक० पृष्ठ १०८में लिखा है कि—'मथुरा के राजा के नमुची नामक दीवान को जैन यतियों[3] ने अपना विरोधी समझकर मार डाला, और आलोयणा[4] करके शुद्ध हो गये[5]।

[समीक्षक—] क्या यह भी दया और क्षमा का नाशक कर्म

१. प्रथम संस्करण, सम्यक्त्वोत्पत्ति प्रकरण।
२. सं० २ में 'आलापन' पाठ है। ३. सं० २ में 'मतियों' अपपाठ है।
४. अर्थात् प्रायश्चित्त। ५. सं० २ में 'गया' अपपाठ है।

नहीं है? जब अन्य मत वालों पर प्राण लेने पर्य्यन्त वैर-बुद्धि रखते हैं, तो इनको 'दयालु' के स्थान पर हिंसक कहना ही सार्थक है।

अब सम्यक्त्वदर्शनादि के लक्षण 'आर्हतप्रवचनसंग्रह, **परमागमसार**' में कथित हैं—सम्यक् श्रद्धान, सम्यक् दर्शन, ज्ञान और चारित्र, ये चार मोक्षमार्ग के साधन हैं। इनकी व्याख्या योगदेव ने की है—जिस रूप से जीवादि द्रव्य अवस्थित हैं, उसी रूप से जिन-प्रतिपादित ग्रन्थानुसार विपरीत अभिनिवेशादिरहित जो श्रद्धा अर्थात् जिन-मत में प्रीति है, सो 'सम्यक् श्रद्धान' और 'सम्यक् दर्शन' है—

रुचिर्जिनोक्ततत्त्वेषु सम्यक् श्रद्धानमुच्यते ॥[2]

जिनोक्त-तत्त्वों में सम्यक् श्रद्धा करनी चाहिये। अर्थात् अन्यत्र कहीं नहीं।

यथावस्थिततत्त्वानां संक्षेपाद् विस्तरेण वा।
यो बोधस्तमत्राहुः सम्यग्ज्ञानं मनीषिणः ॥[3]

जिस प्रकार के जीवादि तत्त्व हैं, उनका संक्षेप वा विस्तार से जो बोध होता है, उसी को 'सम्यक् ज्ञान' बुद्धिमान् कहते हैं।

सर्वथाऽनवद्ययोगानां त्यागश्चारित्रमुच्यते।
कीर्त्तितं तदहिंसादिव्रतभेदेन पञ्चधा ॥
अहिंसासूनृतास्तेयब्रह्मचर्य्यापरिग्रहाः ।[4]

सब प्रकार से निन्दनीय अन्य मतसम्बन्ध का त्याग '**चारित्र**' कहाता है। और अहिंसादि भेद से पांच प्रकार का 'व्रत' है। एक—(अहिंसा) किसी प्राणिमात्र को न मारना। दूसरा—(सूनृता) प्रियवाणी बोलना। तीसरा—(अस्तेय) चोरी न करना। **चौथा**—(ब्रह्मचर्य्य) उपस्थ इन्द्रिय का संयमन। और **पांचवां**—(अपरिग्रह) सब वस्तुओं का त्याग करना।

[**समीक्षक**—] इनमें बहुत सी बातें अच्छी हैं। अर्थात् अहिंसा,

---

१. सं० २ में 'दया' अपपाठ है।
२. आर्हतदर्शन, पृष्ठ ६२।
३. आर्हतदर्शन, पृष्ठ ६३।
४. आर्हतदर्शन, पृष्ठ ६५।

और चोरी आदि निन्दनीय कर्मों का त्याग अच्छी बात है। परन्तु ये सब अन्य मत की निन्दा करनी आदि दोषों से सब अच्छी बातें भी दोषयुक्त हो गई हैं। जैसे प्रथम सूत्र में लिखी है—'अन्य हरिहरादि का धर्म संसार से[1] उद्धार करनेवाला नहीं।'[2]

क्या यह छोटी निन्दा है कि जिनके ग्रन्थ देखने से ही पूर्ण विद्या और धार्मिकता पाई जाती है, उसको बुरा कहना? और अपने महा असम्भव, जैसा कि पूर्व लिख आये, वैसी बातों के कहनेवाले अपने तीर्थङ्करों की स्तुति करना, केवल हठ की बातें हैं।

भला जो जैनी कुछ चारित्र न कर सके, न पढ़ सके, न दान देने का सामर्थ्य हो, तो भी 'जैनमत सच्चा है' क्या इतना कहने ही से वह उत्तम हो जाये[3]? और अन्य मत वाले श्रेष्ठ भी अश्रेष्ठ हो जायें[4]? ऐसे कथन करनेवाले मनुष्यों को भ्रान्त और बालबुद्धि न कहा जाय, तो क्या कहें?

इसमें यही विदित होता है कि इनके आचार्य स्वार्थी थे, पूर्ण विद्वान् नहीं। क्योंकि जो सबकी निन्दा न करते, तो ऐसी झूठी बातों में कोई न फसता, न उनका प्रयोजन सिद्ध होता। देखो, यह तो सिद्ध होता है कि जैनियों का मत डुबानेवाला, और वेदमत सबका उद्धार करनेहारा, हरिहरादि देव सुदेव और इनके ऋषभदेवादि सब कुदेव दूसरे लोग कहें, तो क्या वैसा ही उनको बुरा न लगेगा?

और भी इनके आचार्य और माननेवालों की भूल देख लो—

मूल—जिणवर आणा भंगं उमग्ग उस्सुत्त लेस देसणउं।
आणा भंगे पावंता जिणमय दुक्करं धम्मम्॥

प्रकर० भाग २। षष्टीश० ६०। सू० ११॥[4]

[सं० अर्थ—]उन्मार्ग उत्सूत्र के लेश दिखाने से जो जिनवर अर्थात् वीतराग तीर्थङ्करों की आज्ञा का भङ्ग होता है, वह दुःख का

१. सं० २ में 'में' पाठ है। २. द्र०—पूर्व पृष्ठ ६६३, पं० १-२।
३. द्र०—पूर्व पृष्ठ ६६३, पं० १३-१७। ४. पृष्ठ ६३१।

हेतु पाप है। जिनेश्वर के कहे सम्यक्त्वादि धर्म ग्रहण करना बड़ा कठिन है। इसलिये जिस प्रकार जिन-आज्ञा का भंग न हो, वैसा करना चाहिये।

समीक्षक—जो अपने ही मुख से अपनी प्रशंसा, और अपने ही धर्म को बड़ा कहना, और दूसरे की निन्दा करनी है, वह मूर्खता की बात है। क्योंकि प्रशंसा उसी की ठीक है कि जिसकी दूसरे विद्वान् करें। अपने मुख से अपनी प्रशंसा तो चोर भी करते हैं। तो क्या वे प्रशंसनीय हो सकते हैं? इसी प्रकार की इनकी बातें हैं।

मूल—बहुगुणविज्झा निलओ उस्सुत्तभासी तहावि मुत्तवो।
जह वरमणिजुतो विहु विग्घकरो विसहरो लोए॥
प्रकर० भा० २। षष्टी०। सू० १८॥[1]

[सं० अर्थ—] जैसे विषधर सर्प में मणि त्यागने योग्य है, वैसे जो जैनमत में नहीं वह चाहै कितना बड़ा धार्मिक पण्डित हो, उसको त्याग देना ही जैनियों को उचित है।

समीक्षक—देखिये, कितनी भूल की बात है। जो इनके चेले और आचार्य विद्वान् होते, तो विद्वानों से प्रेम करते। जब इनके तीर्थङ्कर-सहित अविद्वान् हैं, तो विद्वानों का मान्य क्यों करें? क्या सुवर्ण को मल वा धूड़ में पड़े को कोई त्यागता है? इससे यह सिद्ध हुआ कि विना जैनियों के वैसे दूसरे कौन पक्षपाती हठी दुराग्रही विद्याहीन होंगे?

मूल—अइसय पाविय पावा धम्मिअ पव्वेसु तोवि पावरया।
न चलन्ति सुद्ध धम्मा धन्ना किविपाव पव्वेसु॥
प्रकर० भा० २। षष्टी०। सू० २९॥[2]

[सं० अर्थ—] अन्यदर्शनी कुलिंगी अर्थात् जैनमत-विरोधी उनका दर्शन भी जैनी लोग न करें।[3]

समीक्षक—बुद्धिमान् लोग विचार लेंगे कि यह कितनी पामर-

---

१. पृष्ठ ६३४। २. पृष्ठ ६३९।
३. यह गुजराती व्याख्या का सारमात्र है।

पन की बात है। सच तो यह है कि जिसका मत सत्य है, उसको किसी से डर नहीं होता। इनके आचार्य जानते थे कि हमारा मत पोलपाल है। जो दूसरे को सुनावेंगे, तो खण्डन हो जायगा। इसलिये सबकी निन्दा करो, और मूर्खजनों को फसाओ।

मूल—नामंपि तस्स असुहं जेण निदिठाइ मिच्छ पव्वाइ।
जेसिं अणुसंगाउ धम्मीणवि होई पाव मइ॥
प्रकर० भा० २। षष्टी०। सू० २७॥[1]

[सं० अर्थ—]जो जैनधर्म से विरुद्ध धर्म हैं, वे सब मनुष्यों को पापी करनेवाले हैं। इसलिये किसी के अन्य धर्म को न मानकर जैनधर्म ही को मानना श्रेष्ठ है।[2]

समीक्षक—इससे यह सिद्ध होता है कि सबसे वैर-विरोध निन्दा-ईर्ष्या आदि दुष्ट कर्मरूप सागर में डुबानेवाला जैनमार्ग है। जैसे जैनी लोग सबके निन्दक हैं, वैसा कोई भी दूसरा मतवाला महा-निन्दक और अधर्मी न होगा। क्या एक ओर से सब की निन्दा, और अपनी अतिप्रशंसा करना शठ मनुष्यों की बातें नहीं हैं? विवेकी लोग तो चाहें किसी मत के हों, उनमें अच्छे को अच्छा और बुरे को बुरा कहते हैं।

मूल—हा हा गुरुअ अकज्झं सामी न हु अच्छि[3] कस्स पुक्करिमो।
कह जिण वयण कह सुगुरु सावया कह इय अकज्झं॥
प्रकर० भा० २। षष्टी०। सू० ३५॥[4]

[सं० अर्थ—] सर्वज्ञभाषित जिन-वचन जैन के सुगुरु और जैन धर्म कहां? और उनसे विरुद्ध कुगुरु अन्य मार्गों के उपदेशक कहां? अर्थात् हमारे सुगुरु सुदेव सुधर्म, और अन्य के कुदेव कुगुरु कुधर्म हैं।

समीक्षक—यह बात बेर बेचनेहारी कूंजड़ी के समान है। जैसे

---

१. पृष्ठ ६३८।

२. यह भावमात्र है। शब्दार्थ है—'नाम भी उसका अशुभ, जिसने कथन किये मिथ्यापर्व [होली आदि]। जिनके अनुसंग से धर्मियों की भी होती है पापमति।

३. 'अत्थि' पाठ उचित है। ४. पृष्ठ ६४२।

वह अपने खट्टे बेरों को मीठा, और दूसरी के मीठों को खट्टा और निकम्मे बतलाती है, इसी प्रकार की जैनियों की बातें हैं। ये लोग अपने मत से भिन्न मतवालों की सेवा में बड़ा अकार्य अर्थात् पाप गिनते हैं।

मूल—सप्पो इक्कं मरणं कुगुरु अणंताइ देह मरणाइ।
तो वरिसप्पं गहियुं मा कुगुरुसेवणं भद्दम्॥
प्रकर० भा० २। षष्टी०। सू० ३७॥[1]

[सं० अर्थ—] जैसे प्रथम लिख[2] आये कि सर्प में मणि का भी त्याग करना उचित है, वैसे अन्य मार्गियों में श्रेष्ठ धार्मिक पुरुषों का भी त्याग कर देना। अब उससे भी विशेष निन्दा अन्य मत वालों की करते हैं—

जैनमत से भिन्न सब कुगुरु अर्थात् वे सर्प से भी बुरे हैं। उनका दर्शन सेवा संग कभी न करना चाहिये। क्योंकि सर्प के संग से एक वार मरण होता है, और अन्यमार्गी कुगुरुओं के संग से अनेक वार जन्म-मरण में गिरना पड़ता है। इसलिये हे भद्र! अन्य-मार्गियों के कुगुरुओं के पास भी मत खड़ा रह। क्योंकि जो तू अन्य-मार्गियों की कुछ भी सेवा करेगा, तो दुःख में पड़ेगा।

समीक्षक—देखिये, जैनियों के समान कठोर भ्रान्त द्वेषी निन्दक भूला हुआ दूसरे मत वाले कोई भी न होंगे। इन्होंने मन से यह विचारा है कि जो हम अन्य की निन्दा और अपनी प्रशंसा न करेंगे, तो हमारी सेवा और प्रतिष्ठा न होगी। परन्तु यह बात उनके दौर्भाग्य की है। क्योंकि जबतक उत्तम विद्वानों का संग सेवा न करेंगे, तबतक इनको यथार्थ ज्ञान और सत्यधर्म की प्राप्ति कभी न होगी।

इसलिये जैनियों को उचित है कि अपनी विद्याविरुद्ध मिथ्या बातें छोड़ वेदोक्त सत्य बातों का ग्रहण करें, तो उनके लिये बड़े कल्याण की बात है।

---

१. पृष्ठ ६४३। २. द्र०—पूर्व पृष्ठ ६६७, पं० १२।

मूल—किं भणिमो किं करिमो ताण हयासाण धिट्ठ दुट्ठाणं ।
जे दंसिऊण लिंगं खिवंति न रयम्मि मुद्ध जणं ॥
प्रक० भा० २ । षष्टी० । सू० ४० ॥[1]

[सं० **अर्थ**—]जिसकी कल्याण की आशा नष्ट हो गई, ढीठ,[2] बुरे काम करने में अति चतुर, दुष्ट दोषवाले से क्या कहना और क्या करना ? क्योंकि जो उसका उपकार करो, तो उल्टा उसका नाश करे। जैसे कोई दया करके अन्धे सिंह की आंख खोलने को जाय, तो वह उसीको खा लेवे। वैसे ही कुगुरु अर्थात् अन्यमार्गियों का उपकार करना अपना नाश कर लेना है। अर्थात् उनसे सदा अलग ही रहना ।

समीक्षक—जैसे जैन लोग विचारते हैं, वैसे दूसरे मत वाले भी विचारें, तो जैनियों की कितनी दुर्दशा हो ? और उनका कोई किसी प्रकार का उपकार न करे, तो उनके बहुत से काम नष्ट होकर कितना दुःख प्राप्त हो ? वैसा अन्य के लिये जैनी क्यों नहीं विचारते ?

मूल—जह जह तुट्टइ धम्मो जह जह दुट्ठाण होइ अइ उदउं ।
सम्मद्दिट्ठि जियाणं तह तह उल्लसइ सम्मत्तं ॥
प्रक० भा० २ । षष्टी० । सू० ४२ ॥[3]

[सं० **अर्थ**—]जैसे-जैसे दर्शनभ्रष्ट निह्नव, पासच्छा[4], उसन्ना, तथा कुसीलियादिक,और अन्यदर्शनी त्रिदण्डी परिव्राजक, तथा विप्रादिक दुष्ट लोगों का अतिशय बल सत्कार पूजादिक होवे, वैसे-वैसे सम्यग् दृष्टि जीवों का सम्यक्त्व विशेष प्रकाशित होवे, यह बड़ा आश्चर्य है ।

समीक्षक—अब देखो, क्या इन जैनों से अधिक ईर्ष्या-द्वेष वैरबुद्धियुक्त दूसरा कोई होगा ? हां दूसरे मत में भी ईर्ष्या-द्वेष है,

---

१. पृष्ठ ६४५ ।   २. सं० २ में 'धीठ' पाठ है ।   ३. पृष्ठ ६६१ ।
४. सं० २ में 'पाच्छत्ता' पाठ है । सं० ३४ में शुद्ध पाठ है ।

परन्तु जितनी इन जैनियों में है, उतनी किसी में नहीं। और द्वेष ही पाप का मूल है। इसलिये जैनियों में पापाचार क्यों न हो ?

मूल—संगोवि जाण अहिउ तेसिं धम्माइ जे पकुव्वन्ति।
मुत्तूण चोरसंगं करन्ति ते चोरियं पावा॥
प्रक० भा० २। षष्टी०। सू० ७५॥[1]

[सं० अर्थ—]इसका मुख्य प्रयोजन इतना ही है कि—जैसे मूढजन चोर के संग से नासिकाछेदादि दण्ड से भय नहीं करते, वैसे जैनमत से भिन्न चोर धर्मों में स्थित जन अपने अकल्याण से भय नहीं करते।

समीक्षक—जो जैसा मनुष्य होता है, वह प्राय: अपने ही सदृश दूसरों को समझता है। क्या यह बात सत्य हो सकती है कि अन्य सब चोरमत, और जैन का साहूकार मत है ? जबतक मनुष्य में अति अज्ञान और कुसंग से भ्रष्टबुद्धि होती है, तबतक दूसरों के साथ अति ईर्ष्या-द्वेषादि दुष्टता नहीं छोड़ता। जैसा जैनमत पराया द्वेषी है, ऐसा अन्य कोई नहीं।

मूल—जच्छ पसुमहिसलरका पव्वं होमन्ति पाव नवमीए।
पूअन्ति तंपि सढ्ढा हा हीला वीयरायस्स॥
प्रक० भा० २। षष्टी०। सू० ७६॥[2]

[सं० अर्थ—]पूर्व सूत्र में जो मिथ्यात्वी अर्थात् जैनमार्ग-भिन्न सब मिथ्यात्वी और आप सम्यक्त्वी, अर्थात् अन्य सब पापी, जैन लोग सब पुण्यात्मा [हैं, ऐसा कहा है।] इसलिये जो कोई मिथ्यात्वी के धर्म का स्थापन करे, वह पापी है।

समीक्षक—जैसे अन्य के स्थानों में चामुण्डा, कालिका, ज्वाला प्रमुख के आगे पापनौमी अर्थात् दुर्गानौमी तिथि आदि सब बुरे हैं, वैसे क्या तुम्हारे पजूषण[3] आदि व्रत बुरे नहीं हैं, जिनसे महाकष्ट होता है? यहां वाममार्गियों की लाला का खण्डन तो ठीक है, परन्तु

१. पृष्ठ ६६१। २. पृष्ठ ६६१।
३. अर्थात् पर्यूषण।

जो शासनदेवी[1] और मरुतदेवी[1] आदि को मानते हैं,उनका भी खण्डन करते तो अच्छा था।

जो कहैं कि हमारी देवी हिंसक नहीं, तो इनका कहना मिथ्या है। क्योंकि शासनदेवी ने एक पुरुष और दूसरे[2] बकरे की आंखें निकाल ली थीं। पुनः वह राक्षसी और दुर्गा कालिका की सगी बहिन [क्यों] नहीं? और अपने पच्चखाण आदि व्रतों को अतिश्रेष्ठ, और नवमी आदि को दुष्ट कहना मूढता की बात है। क्योंकि दूसरे के उपवासों की तो निन्दा और अपने उपवासों की स्तुति करना मूर्खता की बात है।

हां, जो सत्यभाषणादि व्रत धारण करने हैं, वे तो सबके लिये उत्तम हैं। जैनियों और अन्य किसी का उपवास सत्य नहीं है।

मूल—वेसाण वदियाणय माहण डुंबाण जरकसिरकाणं।
भत्ता भरकट्ठाणं वियाणं जन्ति दूरेणं॥
प्रक० भा० २। षष्टी०। सू० ८२॥[3]

[**सं० अर्थ**—]इसका मुख्य प्रयोजन यह है कि जो वेश्या, चारण-भाटादि लोगों, ब्राह्मण यक्ष गणेशादिक[4] मिथ्यादृष्टि देवी आदि देवताओं का भक्त है, जो इनके माननेवाले हैं, वे सब डूबने और डूबानेवाले हैं। क्योंकि उन्हीं के पास वे सब वस्तुएं मांगते[5] हैं। और वीतराग पुरुषों से दूर रहते हैं।

समीक्षक—अन्यमार्गियों के देवताओं को झूंठ कहना, और अपने देवताओं को सच कहना, केवल पक्षपात की बात है। और अन्य वाममार्गियों की देवी आदि का निषेध करते हैं, परन्तु जो **'श्राद्धदिनकृत्य'** के[6] पृष्ठ ४६ में लिखा है कि—

'शासनदेवी' ने रात्रि में भोजन करने के कारण एक पुरुष के थपेड़ा

१. विशेष—देखो अगली गाथा की समीक्षा।
२. सं० २ में 'दूसरी' पाठ है। ३ पृष्ठ ६६४।
४. स० २ में 'गणेशादि के' अपपाठ है।
५. सं० २ से ३३ तक 'मानते' अपपाठ है।
६. सं० २ मे 'को' अपपाठ है।

मारा। उसकी आंख निकाल डाली। उसके बदले बकरे की आंख निकालकर उस मनुष्य के[1] लगा दी। इस देवी को हिंसक क्यों नहीं मानते ? रत्नसार, भाग १, पृष्ठ६७ में देखो क्या लिखा है--'मरुत-देवी पथिकों को पत्थर की मूर्त्ति होकर सहाय करती थी।' इसको भी वैसी क्यों नहीं मानते ?

मूल—किं सोपि जणणि जाओ जाणो जणणी किं गओ विद्धि।
जइ मिच्छरओ जाओ गुणेसु तह मच्छरं वहइ ॥

प्रक० भा० २। षष्टी०। सू० ८१॥[2]

[सं० अर्थ—]जो जैनमत विरोधी मिथ्यात्वी अर्थात् मिथ्या धर्मवाले हैं, वे क्यों जन्मे ? जो जन्मे तो बढ़े क्यों ? अर्थात् शीघ्र ही नष्ट हो जाते, तो अच्छा होता।

समीक्षक—देखो, इनके वीतरागभाषित दया-धर्म। दूसरे मत वालों का जीवन भी नहीं चाहते। केवल इनका[3] दया-धर्म कथनमात्र है। और जो है, सो क्षुद्र जीवों और पशुओं के लिये है। जैन-भिन्न मनुष्यों के लिये नहीं।

मूल—सुद्धे मग्गे जाया सुहेण गच्छन्ति सुद्ध मग्गंमि।
जे पुण अमग्गजाया मग्गे गच्छन्ति ते चुय्यं॥

प्रक० भा० २। षष्टी०। सू० ८३॥[4]

सं० अर्थ—इसका मुख्य प्रयोजन यह है कि जो जैनकुल में जन्म लेकर मुक्ति को जाय, तो कुछ आश्चर्य नहीं। परन्तु जैन-भिन्न कुल में जन्मे हुए मिथ्यात्वी अन्यमार्गी मुक्ति को प्राप्त हों, इसमें बड़ा आश्चर्य है। इसका फलितार्थ यह है कि जैनमत वाले ही मुक्ति को जाते हैं, अन्य कोई नहीं। जो जैनमत का ग्रहण नहीं करते, वे नरकगामी हैं।

समीक्षक—क्या जैनमत में कोई दुष्ट वा नगकगामी नहीं होता ? सब ही मुक्ति में जाते हैं, और अन्य कोई नहीं ? क्या यह उन्मत्तपन

---

१. सं० २ में 'के लिये' पाठ है। २. पृष्ठ ६६३।
३. सं० २ में 'इन की' पाठ है। ४. पृष्ठ ६६४।

की बात नहीं है ? विना भोले मनुष्यों के ऐसी बात कौन मान सकता है ?

मूल – **तिच्छयराणं पूत्र्रा संमत्त गुणाणकारिणी भणिया।**
साविय मिच्छत्तयरी जिण समये देसिया पूत्र्रा ।।

प्रक० भा० २। षष्टी०। सू० ६०।।[1]

सं० अर्थ— एक जिन मूर्त्तियों की पूजा सार, और इससे भिन्नमार्गियों की मूर्त्तिपूजा असार है। जो जिन-मार्ग की आज्ञा पालता है, वह तत्त्वज्ञानी। जो नहीं पालता है, वह तत्त्वज्ञानी नहीं।

समीक्षक—वाहजी ! क्या कहना !! क्या तुम्हारी मूर्त्ति पाषाणादि जड़ पदार्थों की नहीं, जैसी कि वैष्णवादिकों की हैं ? जैसी तुम्हारी मूर्त्ति-पूजा मिथ्या है, वैसी ही मूर्त्तिपूजा वैष्णवादिकों की भी मिथ्या है। जो तुम तत्त्वज्ञानी बनते हो, और अन्यों को अतत्त्वज्ञानी बनाते हो, इससे विदित होता है कि तुम्हारे मत में तत्त्वज्ञान नहीं है।

मूल—**जिण आणाए धम्मो आणारहि आण फुडं अहमुत्ति।**
इय मुणिऊणय तत्तं जिण आणाए कुणहु धम्मं ।।

प्रक० भा० २। षष्टी०। सू० ९२।।[2]

सं० अर्थ—जो जिनदेव की आज्ञा दया-क्षमादिरूप धर्म है, उससे अन्य सब आज्ञा अधर्म हैं।

समीक्षक—यह कितने बड़े अन्याय की बात है ? क्या जैनमत से भिन्न कोई भी पुरुष सत्यवादी धर्मात्मा नहीं है ? क्या उस धार्मिक जन को न मानना चाहिये ? हां,जो जैनमतस्थ मनुष्यों के मुख जिह्वा चमड़े की न होती, और अन्य की चमड़े की होती, तो यह बात घट सकती थी। इससे अपने ही मत के ग्रन्थ वचन साधू आदि की ऐसी बड़ाई की है कि जानो भाटों के बड़े भाई ही जैन लोग बन रहे हैं।

---

१. पृष्ठ ६६७। २. पृष्ठ ६६८।

मूल—वन्नेमि नारयाउवि जेसि दुरकाइ सम्भरं ताणम् ।
भव्वाण जणइ हरिहर रिद्धि समिद्धी वि उद्धोसं ॥

प्रक० भा० २ । षष्टी० । सू० ६५ ॥[1]

सं० अर्थ— इसका मुख्य तात्पर्य यह है कि जो हरिहरादि देवों की विभूति है, वह नरक का हेतु है । उसको देखके जैनियों के रोमाञ्च खड़े हो जाते हैं । जैसे राजाज्ञा[2] भङ्ग करने से मनुष्य मरण तक दुःख पाता है, वैसे जिनेन्द्र आज्ञा-भंग से क्यों न जन्म-मरण-दुःख पावेगा ?

समीक्षक—देखिये, जैनियों के आचार्य आदि की मानसी वृत्ति, अर्थात् ऊपर के कपट और ढोंग की लीला । अब तो इनके भीतर की भी खुल गई । हरिहरादि और उनके उपासकों के ऐश्वर्य और बढ़ती को देख भी नहीं सकते ।

उनके रोमाञ्च इसलिये खड़े होते हैं कि दूसरे की बढ़ती क्यों हुई ? बहुधा वैसे चाहते होंगे कि इनका सब ऐश्वर्य हमको मिल जाय, और ये दरिद्र हो जायें तो अच्छा । और राजाज्ञा का दृष्टान्त इसलिये देते हैं कि जैन लोग राज्य के बड़े खुशामदी झूंठे और डरपुकने हैं । क्या झूंठी बात भी राजा को मान लेनी चाहिये ?[3] जो ईर्ष्याद्वेषी हो, तो जंनियों से बढ़के दूसरा कोई भी न होगा ।

मूल—जो देइ सुद्ध धम्मं सो परसप्पा जयम्मि न हु अन्नो ।
किं कप्पद्दुम्म सरिसो इयर तरू होइ कइयावि ॥

प्रक० भा० २ । षष्टी० । सू० १०१॥[4]

सं० अर्थ— वे मूर्ख लोग हैं, जो जैन-धर्म से विरुद्ध हैं । और

---

१. पृष्ठ ५६६ ।

२. राजाज्ञा का दृष्टान्त मूल गाथा में नहीं है । सम्भवतः गुजराती अनुवाद, जिसके आधार पर ऋषि दयानन्द की भाषा है, उसमें दिया होगा ।

३. ऋषि दयानन्द सरस्वती की निर्भीकता सुस्पष्ट है । भ० द०

४. पृष्ठ ६७२ ।

जो जिनेन्द्रभाषित धर्मोपदेष्टा साधु वा गृहस्थ अथवा ग्रन्थकर्त्ता हैं, वे तीर्थङ्करों के तुल्य हैं। उन[के] तुल्य कोई भी नहीं।[1]

समीक्षक—क्यों न हो ? जो जैनी लोग छोकर-बुद्धि न होते, तो ऐसी बातें क्यों मान बैठते ? जैसे वेश्या विना अपने के दूसरी की स्तुति नहीं करती, वैसे ही यह बात भी दीखती है।

मूल—[2]**मूलं जिणिदं देवो तव्वयणं गुरुजणं महासयाणं।**
सेसं पावट्ठाणं परमप्पाणं च वज्जेमि॥

प्रक० भा० २। षष्टी०। सू० १०३॥[3]

सं० अर्थ—जिनेन्द्रदेव, तदुक्त सिद्धान्त, और जिन-मत के उपदेष्टाओं का त्याग करना जैनियों को उचित नहीं है।

समीक्षक—यह जैनियों का हठ पक्षपात और अविद्या का फल नहीं तो क्या है ? किन्तु जैनियों की थोड़ी-सी बात छोड़के अन्य सब त्यक्तव्य हैं। जिसकी कुछ थोड़ी-सी भी बुद्धि होगी, वह जैनियों के देव सिद्धान्तग्रन्थ और उपदेष्टाओं को देखे सुने विचारे, तो उसी समय निःसन्देह छोड़ देगा।

---

१. यह पूर्वार्ध का भाव है। उत्तरार्ध का भाव यह है कि—'क्या कल्पवृक्ष के समान दूसरा वृक्ष कहीं भी होता है' ?

२. सं० २से३३ तक इस गाथा के स्थान में '**जे अमुणिय गुण दोषा ते कहअ वुहाण हुंतिम झच्छा। अह ते विहुमझच्छा ता विस अमिआण तुल्लत्तं।।प्रक० भा० २, षष्टी०, सू० १०२**' पाठ है। परन्तु ऋ० द० ने जो 'सं० अर्थ' लिखा है, वह इसकी अगली गाथा का है। प्रतीत होता है कि गाथा के लेखन में यहां भूल हुई है। इसलिये हमने जिस गाथा का अर्थ दिया है, उसी का पाठ ऊपर छापा है। वै० य० मु० सं० ३४ में शुद्ध गाथा ही छापी है, परन्तु पाठ बदलने का कोई संकेत नहीं किया है। इस ओर स्वामी वेदानन्दजी ने सबसे प्रथम ध्यान आकृष्ट किया है। १०३ वीं गाथा का शाब्दिक भाव यह है—'जिनेन्द्रदेव और उसका वचन धर्म का मूल है। गुरुजन महासुजन हैं। शेष (=जिनेन्द्र-देव, उसके वचन, तथा जैन साधुओं से भिन्न) पापस्थान हैं। इसलिये दूसरों के 'आत्मीय देवों को छोड़ता हूं।' गुणरत्नाकर ने इसकी व्याख्या में लिखा है—'**व्यापारा व्यवसायाः शत्रुहननराजसेवाकृषिवाणिज्यादयः।**'

३. पृष्ठ ६७३।

मूल—वयणे वि सुगुरु जिणवल्लहस्स केसिं न उल्लसइ सम्मं।
अह कह दिणमणि तेयं उलुआणं हरइ अंधत्तं॥

प्रक० भा० २। षष्टी०। सू० १०८॥[1]

सं० अर्थ— जो जिनवचन के अनुकूल चलते हैं वे पूजनीय, और जो विरुद्ध चलते हैं वे अपूज्य हैं। जैन गुरुओं को मानना, अर्थात् अन्यमार्गियों को न मानना।

समीक्षक—भला जो जैन लोग अन्य अज्ञानियों को पशुवत्[2] चेले करके न बांधते, तो उनके जाल में से छूटकर अपनी मुक्ति के साधन कर जन्म सफल कर लेते। भला जो कोई तुमको कुमार्गी कुगुरु मिथ्यात्वी और कूपदेष्टा कहैं, तो तुमको कितना दुःख लगे? वैसे ही जो तुम दूसरे को दुःखदायक हो, इसीलिये तुम्हारे मत में असार बातें बहुत-सी भरी हैं।

मूल—[3]जे रज्जधानईणं कारणभूय हवंति वावारा।
ते विहु अइपावजुया धन्ना छड्डं तिभवभिया॥

प्रक० भा० २। षष्टी०। सू० ११९॥[4]

सं० अर्थ— जो मृत्युपर्यन्त दुःख हो, तो भी कृषि-व्यापारादि कर्म जैनी लोग न करें। क्योंकि ये कर्म नरक में लेजानेवाले हैं।

---

१. पृष्ठ ६७५।

२. साम्प्रदायिक मत वाले और राजनीतिक मतस्थ नेता भी ऐसे चेले बनाते हैं। भ० द०

३. सं० २ से ३५ तक इस गाथा के स्थान में **'तिहुअण जणं मरंतं दठूण निअंति जे न अप्पाणं। विरमंति न पावाउ धिद्धी धिठत्तण ताणं॥प्रक०भाग २, षष्टी०, सू० १०९॥'**पाठ है। परन्तु ऋ० द० ने आगे जो 'सं० अर्थ' लिखा है वह ११९ वीं गाथा का है। प्रतीत होता है ११९ वीं गाथा के स्थान में १०९ वीं गाथा भूल से लिखी गई। वै० यं० मुद्रित के ३४ वें सं० के सम्पादक ने पूर्ववत् यह भूल ठीक नहीं की। स्वामी वेदानन्द जी ने इस का संकेत किया है। ११९ वीं गाथा का शाब्दिक भाव यह है—'जो राज्यधन आदि के कारणभूत व्यापार हैं, वे भी अति पापयुक्त ही हैं। वे धन्य हैं, जो इनको छोड़ देते हैं।'

४. पृष्ठ ६७९।

समीक्षक—अब कोई जैनियों से पूंछे कि तुम व्यापारादि कर्म क्यों करते हो ? इन कर्मों को क्यों नहीं छोड़ देते ? और जो छोड़ देओ, तो तुम्हारे शरीर का पालन-पोषण भी न हो सके।

और जो तुम्हारे कहने से सब लोग छोड़ दें, तो तुम क्या वस्तु खाके जीओगे ? ऐसा अत्याचार का उपदेश करना सर्वथा व्यर्थ है। क्या करें बिचारे? विद्या सत्संग के विना जो मन में आया, सो बक दिया।

मूल—तइया हमाण अहमा कारणरहिया अनाणगव्वेण।
जे जंपंति उस्सुत्तं तेसिं द्धिद्धिच्छ पंडिच्चं॥

प्र० भा० २। षष्टी०। सू० १२१॥[1]

सं० अर्थ— जो जैनागम से विरुद्ध शास्त्रों के माननेवाले हैं, वे अधमाऽधम हैं। चाहे कोई प्रयोजन भी सिद्ध होता हो, तो भी जैन मत से विरुद्ध न बोले, न माने। चाहें कोई प्रयोजन सिद्ध होता है, तो भी अन्य मत का त्याग करदे।

समीक्षक—तुम्हारे मूलपुरुषों[2] से लेके आजतक जितने हो गये और होंगे, वे विना दूसरे मत को गालीप्रदान के अन्य कुछ भी दूसरी बात न किये थे और न करेंगे। भला जहां-जहां जैनी लोग अपना प्रयोजन सिद्ध होना देखते हैं, [वहां-] वहां चेलों के भी चेले बन जाते हैं। तो ऐसी मिथ्या लम्बी-चौड़ी बातों के हांकने में तनिक भी लज्जा नहीं आती। यह बड़े शोक की बात है।

मूल—जं वीरजिणस्स जिओ मिरई उस्सुत्त लेसदेसणओ।
सागर कोडाकोडिं हिंडइ अइभीमभवरण्णे॥

प्रक० भा० २। षष्टी०। सू० १२२॥[3]

सं० अर्थ— जो कोई ऐसा कहे कि जैन साधुओं में धर्म है,

---

१. पृष्ठ ६८०।

२. सं० २ में 'मूल पुरुषा' पाठ में मात्रा टूटी है, जैसे आगे 'लके' में। परन्तु सं० ३४ के सम्पादक ने इस पर ध्यान न देकर 'मूलपुरुषा' अपपाठ ही छापा है।

३. पृष्ठ ६८०।

हमारे और अन्य में भी धर्म है। तो वह मनुष्य क्रोड़ान कोड़ वर्ष तक नरक में रहकर फिर भी नीच जन्म पाता है।

समीक्षक—वाह रे! वाह!! विद्या के शत्रुओ! तुमने यही विचारा होगा कि हमारे मिथ्या वचनों का कोई खण्डन न करे। इसीलिये यह भयंकर वचन लिखा है, सो असम्भव है। अब कहां तक तुमको समझावें? तुमने तो झूंठ निन्दा और अन्य मतों से वैर-विरोध करने पर ही कटिबद्ध होकर अपना प्रयोजन सिद्ध करना मोहनभोग के समान समझ लिया है।

मूल—दूरे करणं दूरम्मि साहणं तह पभावणा दूरे।
जिणधम्म सद्दहाणं पि तिरकदुरकाइ[1] निट्ठवइ॥
प्रक० भा० २। षष्टी०। सू० १२७॥[2]

सं० अर्थ—जिस मनुष्य से जैनधर्म का कुछ भी अनुष्ठान न हो सके, तो भी जो 'जैनधर्म सच्चा है, अन्य कोई नहीं' इतनी श्रद्धामात्र ही से दुःखों से तर जाता है।

समीक्षक—भला इससे अधिक मूर्खों को अपने मतजाल में फसाने की दूसरी कौनसी बात होगी? क्योंकि कुछ कर्म करना न पड़े, और मुक्ति हो ही जाय। ऐसा भूंदू[3] मत कौनसा होगा?

**मूल—कइया होही दिवसो जइया सुगुरूण पायमूलम्मि।
उत्सुत्त लेसविसलव रहिओ निसुणेसु जिणधम्मं॥**
प्रक० भा० २। षष्टी०। सू० १२८॥[4]

सं० अर्थ—जो मनुष्य, जिनागम अर्थात् जैनों के शास्त्रों को सुनूंगा, उत्सूत्र अर्थात् अन्य मत के ग्रन्थों को कभी न सुनूंगा, इतनी इच्छा करे, वह इतनी इच्छामात्र ही से दुःखसागर से तर जाता है।

समीक्षक—यह भी बात भोले मनुष्यों को फंसाने के लिये है। क्योंकि इस पूर्वोक्त इच्छा से यहां के दुःखसागर से भी नहीं तरता।

१. 'तिक्खदुक्खाई' पाठान्तर। २. पृष्ठ ६८२।
३. भुंदू=भोंदू। ४. पृष्ठ ६८२।

और पूर्वजन्म के भी संचित पापों के दुःखरूपी फल भोगे विना नहीं छूट सकता।

जो ऐसी-ऐसी झूंठ अर्थात् विद्याविरुद्ध बात न लिखते, तो इनके अविद्यारूप ग्रन्थों को वेदादिशास्त्र देख सुन सत्यासत्य जानकर इनके पोकल[1] ग्रन्थों को छोड़ देते। परन्तु ऐसा जकड़कर इन अविद्वानों को बांधा है कि इस जाल से कोई एक बुद्धिमान् सत्सङ्गी चाहें छूट सकें, तो सम्भव है। परन्तु अन्य जड़बुद्धियों का छूटना तो अति कठिन है।

मूल—जह्मा जेणहिं भणियं सुय ववहारं विसोहियं तस्स।
जाइय विसुद्ध बोही जिणआणा राहगत्ताओ॥

प्रक० भा० २। षष्टी०। सू० १३८॥[2]

सं० अर्थ—जो जिनाचार्यों के[3] कहे [4]सूत्र निरुक्ति वृत्ति भाष्य चूर्णी मानते हैं, वे ही शुभ व्यवहार और दुःसह व्यवहार के करने से चारित्रयुक्त होकर सुखों को प्राप्त होते हैं। अन्य मत के ग्रन्थ देखने से नहीं।

समीक्षक-क्या अत्यन्त भूखे मरने आदि कष्ट सहने को 'चारित्र' कहते हैं? जो भूखा-प्यासा मरना आदि ही चारित्र है, तो बहुत से मनुष्य अकाल वा जिनको अन्नादि नहीं मिलते भूखे मरते हैं, वे शुद्ध होकर शुभ फलों को प्राप्त होने चाहियें। सो न ये शुद्ध होवें, और न तुम। किन्तु पित्तादि के प्रकोप से रोगी होकर सुख के बदले दुःख को प्राप्त होते हैं।

'धर्म' तो न्यायाचरण, ब्रह्मचर्य, सत्यभाषणादि है, और असत्य-भाषण अन्यायाचरणादि 'पाप' है। और सबसे प्रीतिपूर्वक परोपकारार्थ वर्त्तना 'शुभ चरित्र' कहाता है। जैनमतस्थों का भूखा-प्यासा

---

१. पोकल=फोकल=सारहीन। २. पृष्ठ ६८७। ३. सं० २ में 'ने' है।
४. 'सुयववहारं'=श्रुतव्यवहारं'। गुजराती टीका में श्रुत का अर्थ लिखा है—'श्रुतव्यवहारे करी एटले सूत्र, निर्युक्ति, वृत्ति, भाष्य, चूर्णि ए पंचने श्रुत कहिये। निर्युक्ति=निरुक्ति।

रहना आदि धर्म नहीं। इन सूत्रादि को मानने से थोड़ा-सा सत्य, और अधिक झूंठ का प्राप्त होकर दुःखसागर में डूबते हैं।

मूल—जइ जाणिसि जिण नाहो लोयायारा विपरकए भूओ।
ता तं तं मन्नंतो कह मन्नसि लोअ आयारं॥
प्रक० भा० २। षष्टी०। सू० १४८॥[1]

सं० अर्थ—[2]जो उत्तम प्रारब्धवान् मनुष्य होते हैं, वे ही जिन-धर्म का ग्रहण करते हैं। अर्थात् जो जिन-धर्म का ग्रहण नहीं करते, उनका प्रारब्ध नष्ट है।

समीक्षक—क्या यह बात भूल की, और झूंठ नहीं है? क्या अन्य मत में श्रेष्ठप्रारब्धी और जैनमत में नष्टप्रारब्धी कोई भी नहीं है?

और जो यह कहा कि[3]—'साधर्मी अर्थात् जैनधर्मवाले आपस में क्लेश न करें, किन्तु प्रीतिपूर्वक वर्त्तें।' इससे यह बात सिद्ध होती है कि दूसरे के साथ कलह करने में बुराई जैन लोग नहीं मानते होंगे। यह भी इनकी बात अयुक्त है। क्योंकि सज्जन पुरुष सज्जनों के साथ प्रेम और दुष्टों को शिक्षा देकर सुशिक्षित करते हैं।

और जो यह लिखा कि[4]—'ब्राह्मण त्रिदण्डी परिव्राजकाचार्य अर्थात् संन्यासी और तापसादि अर्थात् वैरागी आदि सब जैनमत के शत्रु हैं।'

अब देखिये कि सबको शत्रुभाव से देखते और निन्दा करते हैं, तो जैनियों की दया और क्षमारूप धर्म कहां रहा? क्योंकि जब दूसरे पर द्वेष रखना, दया क्षमा का नाश, और इसके समान कोई दूसरा हिंसारूप दोष नहीं। जैसे द्वेषमूर्त्तियां जैनी लोग हैं, वैसे दूसरे थोड़े ही होंगे।

---

१. पृष्ठ ६९२।

२. यह अभिप्राय इस गाथा का नहीं है। स्वामी वेदानन्दजी ने लिखा है—'प्रतीत होता है कि यह भाव १४९ वीं गाथा का है।'

३. द्र०—प्रक० भा० २ गाथा १४७, पृष्ठ ६९१।

४. यह प्रक० की गुणरत्नाकर की टीका में लिखा है।

[1][जो]ऋषभदेव से लेके महावीर-पर्यन्त २४ तीर्थङ्करों को रागी द्वेषी मिथ्यात्वी कहें, और जैनमत माननेवालों को सन्निपातज्वर में[2] फसे हुए मानें, और उनका धर्म नरक और विष के समान समझें, तो जैनियों को कितना बुरा लगेगा? इसलिये जैनी लोग निन्दा और परमतद्वेषरूप नरक में डूबकर महाक्लेश भोग रहे हैं। इस बात को छोड़ दें, तो बहुत अच्छा होवे।

मूल—एगो अगुरू एगो विसावगी चेइ आणि विवहाणि।
तच्छय जं जिणदव्वं परुप्परं तं न विच्चन्ति॥
प्रक० भा० २। षष्टी०। सू० १५०॥[3]

सं० अर्थ— सब श्रावकों का देवगुरुधर्म एक है। चैत्यवन्दन अर्थात् जिन-प्रतिबिम्ब मूर्त्तिदेवल और जिन-द्रव्य की रक्षा और मूर्त्ति की पूजा करना धर्म है।

समीक्षक—अब देखो, जितना मूर्त्तिपूजा का झगड़ा चला है, वह सब जैनियों के घर से। और पाखण्डों का मूल भी जैनमत है।

श्राद्धदिनकृत्य, पृष्ठ १ में मूर्त्तिपूजा के प्रमाण—

नवकारेण विवोहो ॥१॥ अनुसरणं सावउ।२॥ वयाइं इमे॥३॥ जोगो॥४॥ चिय वन्दणगो॥५॥ पच्चरखाणं तु विहि पुब्वं॥६॥ इत्यादि।

श्रावकों को पहिले द्वार में नवकार का जप कर जाना॥ १॥ दूसरा नवकार जपे पीछे 'मैं श्रावक हूं' स्मरण करना॥ २॥ तीसरे अणुव्रतादिक हमारे कितने हैं॥ ३॥ चौथे द्वारे चार वर्ग में अग्र-

१. इस समीक्षा का समीक्ष्य अंश यहां छूट गया प्रतीत होता है। मूलगाथा है—'जि मन्न वि जिणंदं पुणो वि पणमंति इयरदेवाणं। मिच्छत्तसन्निवायगघत्थाणं ताण को विज्जो॥' प्रक० भा० २, षष्टी०, सू० १४९। इसका भाव यह है कि—'जो जिनेन्द्रदेव को मानते हैं, फिर दूसरे देवों को भी नमस्कार करते हैं। उन मिथ्यात्व-सन्निपात-ग्रहग्रस्तों का कौन वैद्य है?' इस गाथा की टीका में 'हरिहरादि को मिथ्यात्वी, अन्यमतवालों को सन्निपात-रोगग्रस्त, और उनके धर्म को विष के समान लिखा है। द्रष्टव्य—पृष्ठ ६९२।

२. सं० २ में 'से' अपपाठ है। ३. पृष्ठ ६९२।

गामी मोक्ष है, उस[का] कारण ज्ञानादिक है सो योग, उसका सब अतीचार निर्मल करने से छः आवश्यक कारण सो भी उपचार से योग कहाता है, सो योग कहेंगे ॥ ४ ॥ पांचवें चैत्यवन्द[न] अर्थात् मूर्त्ति को नमस्कार द्रव्यभाव पूजा कहेंगे ॥५। छःठा प्रत्याख्यान द्वार नवकारसीप्रमुख विधिपूर्वक कहूंगा इत्यादि ॥६॥

और इसी ग्रन्थ में आगे-आगे बहुत सी विधि लिखी हैं। अर्थात् संध्या के भोजन समय में जिन-बिम्ब अर्थात् तीर्थङ्करों की मूर्त्ति पूजना[1],और द्वार पूजना। और द्वारपूजा में बड़े-बड़े बखेड़े हैं। मन्दिर बनाने के नियम, पुराने मन्दिरों को बनवाने और सुधारने से मुक्ति हो जाती है।[2] मन्दिर में इस प्रकार जाकर बैठे,[3]बड़े भाव प्रीति से पूजा करे। 'नमो जिनेन्द्रेभ्य:' इत्यादि मन्त्रों से स्नानादि कराना[4]। और 'जलचन्दनपुष्पधूपदीपनैः' इत्यादि से गन्धादि चढ़ावें।

रत्नसार भाग [१] के १२वें पृष्ठ में मूर्त्तिपूजा का फल यह लिखा है कि—'पुजारी को राजा वा प्रजा कोई भी न रोक सके।'

समीक्षक—ये बातें सब कपोलकल्पित हैं। क्योंकि बहुत से जैन पुजारियों को राजादि रोकते हैं।

रत्नसार[5] पृष्ठ ३ में लिखा है—'मूर्त्तिपूजा से रोग पीड़ा और महादोष छूट जाते हैं। एक किसी ने ५ कौड़ी का फूल चढ़ाया। उसने १८ देश का राज पाया। उसका नाम कुमारपाल हुआ था, इत्यादि।'

[**समीक्षक**—] सब बातें झूंठी और मूर्खों को लुभाने की हैं। क्योंकि अनेक जैनी लोग पूजा करते-करते रोगी रहते हैं। और एक बीघे का भी राज्य पाषाणादि-मूर्त्तिपूजा से नहीं मिलता।

और जो पांच कौड़ी का फूल चढ़ाने से राज मिले, तो पांच-पांच कौड़ी के फूल चढ़ाके सब भूगोल का राज क्यों नहीं कर

---

१. श्रा० दि० कृ०, पृष्ठ १। २. श्रा० दि० कृ०, पृष्ठ २०।
३. श्रा० दि० कृ०, पृष्ठ २४। ४. श्रा० दि०कृ०, पृष्ठ ५-६।
५. भाग १।

लेते ? और राजदण्ड क्यों भोगते हैं ? और जो मूर्त्तिपूजा करके भवसागर से तर जाते हो, तो ज्ञान सम्यग्दर्शन और चारित्र क्यों करते हो ?

रत्नसार भाग [१] पृष्ठ १३ में लिखा है कि—'गोतम के अंगूठे में अमृत, और उसके स्मरण से मनवांछित फल पाता है'।

समीक्षक—जो ऐसा हो, तो सब जैनी लोग अमर हो जाने चाहियें, सो नहीं होते। इससे यह इनकी केवल मूर्खों के बहकाने की बात है। दूसरा इसमें कुछ भी तत्त्व नहीं।

इनकी पूजा करने का श्लोक रत्नसार भाग [१] पृ० ५२ में—

जलचन्दन[पुष्प]धूपनैरथ दीपाक्षतकैर्नैवेद्यवस्त्रैः।
उपचारवरैर्[वयं]जिनेन्द्रान् रुचिरैरद्य[मुदा]यजामहे॥

'हम जल, चन्दन, चावल, पुष्प, धूप, दीप, नैवेद्य, वस्त्र और अतिश्रेष्ठ उपचारों से जिनेन्द्र अर्थात् तीर्थङ्करों की पूजा करें'।

[**समीक्षक**—] इसी से हम कहते हैं कि मूर्त्तिपूजा जैनियों से चली है।

विवेकसार, पृष्ठ २१—'जिन-मन्दिर में मोह नहीं आता, और भवसार के पार उतारनेवाला है'।

विवेकसार, पृष्ठ ५१ से ५२—'मूर्त्तिपूजा से मुक्ति होती है,और जिन-मन्दिर में जाने से सद्गुण आते हैं। जो जल-चन्दनादि से तीर्थङ्करों की पूजा करे, वह नरक से छूट स्वर्ग को जाय'।

विवेकसार,पृष्ठ ५५—'जिन-मन्दिर में ऋषभदेवादि की मूर्त्तियों के पूजने से धर्म अर्थ काम और मोक्ष की सिद्धि होती है'।

विवेकसार, पृष्ठ ६१—'जिन-मूर्त्तियों की पूजा करे, तो सब जगत् के क्लेश छूट जायें।'

समीक्षक—अब देखो, इनकी अविद्यायुक्त असम्भव बातें। जो इस प्रकार से पापादि बुरे कर्म छूट जायें; मोह न आवे; भव-सागर से पार उतर जायें; सद्गुण आ जायें; नरक को छोड़ स्वर्ग में जायें; धर्म अर्थ काम मोक्ष को प्राप्त होवें; और सब क्लेश छूट

जायें, तो सब जैनी लोग सुखी और सब पदार्थों की सिद्धि को प्राप्त क्यों नहीं होते ?

इसी विवेकसार के ३ पृष्ठ में लिखा है कि--'जिन्होंने जिनमूर्त्ति का स्थापन किया है, उन्होंने अपनी और अपने कुटुम्ब की जीविका खड़ी की है।'

विवेकसार, पृष्ठ २२५—'शिव विष्णु आदि की मूर्त्तियों की पूजा करनी बहुत बुरी है, अर्थात् नरक का साधन है।'

समीक्षक—भला जब शिवादि की मूर्त्तियां नरक के साधन हैं, तो जैनियों की मूर्त्तियां क्या वैसी नहीं ? जो कहें कि हमारी मूर्त्तियां त्यागी शान्त और शुभमुद्रायुक्त हैं,इसलिये अच्छी [हैं।] और शिवादि की मूर्त्ति वैसी नहीं, इसलिये बुरी हैं। [तो] इनसे कहना चाहिये कि तुम्हारी मूर्त्तियां तो लाखों रुपयों के मन्दिर में रहती हैं, और चन्दन केशरादि चढ़ता है, पुन: त्यागी कैसीं ? और शिवादि की मूर्त्तियां तो विना छाया के भी रहती हैं, वे त्यागी क्यों नहीं ?

और जो शान्त कहो, तो जड़ पदार्थ सब निश्चल होने से शान्त हैं। सब मतों की मूर्त्तिपूजा व्यर्थ है।

प्रश्न—हमारी मूर्त्तियां वस्त्र-आभूषणादि धारण नहीं करतीं। इसलिये अच्छी हैं।

उत्तर--सबके सामने नङ्गी मूर्त्तियों का रहना और रखना पशुवत् लीला है।

प्रश्न—जैसे स्त्री का चित्र वा मूर्त्ति देखने से कामोत्पत्ति होती है, वैसे साधु और योगियों की मूर्त्तियों को देखने से शुभ गुण प्राप्त होते हैं।

उत्तर--जो पाषाण मूर्त्तियों के देखने से शुभ परिणाम मानते हो, तो उसके जड़त्वादि गुण भी तुम्हारे में आजायेंगे। जब जड़बुद्धि होगे, तो सर्वथा नष्ट हो जाओगे। दूसरे—जो उत्तम विद्वान् हैं, उनके संग-सेवा से छूटने से मूढ़ता भी अधिक होगी। और जो-जो दाष

ग्यारहवें समुल्लास में लिखे हैं,[1] वे सब पाषाणादि-मूर्त्तिपूजा करने वालों को लगते हैं।

इसलिये जैसा जैनियों ने मूर्त्तिपूजा में झूठा कोलाहल चलाया है, वैसे इनके मन्त्रों में भी बहुत सी असम्भव बातें लिखी हैं।

यह इनका मन्त्र है रत्नसार, भाग [१] पृष्ठ १ में—

नमो अरिहंताणं नमो सिद्धाणं नमो आयरियाणं नमो उवज्झायाणं नमो लोए सब्बसाहूणं। एसो पंच नमुक्कारो सव्व पावप्पणासणो मंगलाचाणं च सब्वेसिं पढमं हवइ मंगलम्॥१॥

इस मन्त्र का बड़ा माहात्म्य लिखा है। और सब जैनियों का **यह गुरुमन्त्र है।** इसका ऐसा माहात्म्य धरा है कि तन्त्र पुराण भाटों की भी कथा को पराजय कर दिया है।

श्राद्धदिनकृत्य, पृष्ठ ३—

नमुक्कारं तउ पढ़े ॥९॥

जउ कब्बं। मंताणमंतो परमो इमुत्ति धेयाणधेयं परमं इमुत्ति।
तत्ताणतत्तं परमं पवित्तं संसार सत्ताण दुहाइयाणं॥१०॥
ताणं अनंतु नो अत्थि। जीवाणं भवसायरे।
बुड्डुं ताणं इमं मुत्तुं। नमुक्कारं सुपोययम्॥११॥
कब्बं। अणेगजम्मंतरसं चिअाणं दुहाणं सारीरिअमाणुसाणुसाणं।
कत्तोय भव्वाणभिवज्जनासो न जावपत्तो नवकारमन्तो॥१२॥

जो यह मन्त्र है, पवित्र और परममन्त्र है। वह ध्यान के योग्य में परम ध्येय है, तत्त्वों में परम तत्त्व है। दुःखों से पीड़ित संसारी जीवों को नवकार मन्त्र ऐसा है कि जैसी समुद्र के पार उतारने की नौका होती है॥१०॥

जो यह नवकार मन्त्र है, वह नौका के समान है। जो इसको छोड़ देते हैं, वे भवसागर में डूबते हैं। और जो इसका ग्रहण करते हैं, वे दुःखों से तर जाते हैं। जीवों को दुःखों से पृथक् रखनेवाला,

---

[1] पूर्व पृष्ठ ४६९-४७२ तक।

सब पापों का नाशक, मुक्तिकारक इस मन्त्र के विना दूसरा कोई नहीं ॥११॥

अनेक भवान्तर में उत्पन्न हुआ शरीर [और मन] सम्बन्धी दुःख भव्य जीवों को भवसागर से तारनेवाला यही है। जबतक नवकार मन्त्र नहीं पाया, तबतक भवसागर से जीव नहीं तर सकता ॥१२॥

यह अर्थ सूत्र में कहा है। और जो अग्निप्रमुख अष्ट महाभयों में सहाय एक नवकार मन्त्र को छोड़कर दूसरा कोई नहीं। जैसे महारत्न वैडूर्य नामक मणि ग्रहण करने में आवे, अथवा शत्रुभय में अमोघ शस्त्र के ग्रहण करने में आवे, वैसे श्रुतकेवली का ग्रहण करे। और सब द्वादशांगी का नवकार मन्त्र रहस्य है।

इस मन्त्र का अर्थ यह है—(नमो अरिहन्ताणं) सब तीर्थङ्करों को नमस्कार। (नमो सिद्धाणं) जैनमत के सब सिद्धों का नमस्कार। (नमो आयरियाणं) जैनमत के सब आचार्यों को नमस्कार। (नमो उवज्झायाणं) जैनमत के सब उपाध्यायों को नमस्कार। (नमो लोए सब्बसाहूणं) जितने जैन मत के साधु इस लोक में हैं, उन सबको नमस्कार है।

यद्यपि मन्त्र में जैन पद नहीं है, तथापि जैनियों के अनेक ग्रन्थों में विना जैनमत के अन्य किसी को नमस्कार भी न करना लिखा है,[1] इसलिये यही अर्थ ठीक है।

तत्वविवेक, पृष्ठ १६६—'जो मनुष्य लकड़ी पत्थर को देवबुद्धि कर पूजता है, वह अच्छे फलों को प्राप्त होता है।'

समीक्षक—जो ऐसा हो, तो सब कोई दर्शन करके सुखरूप फलों को प्राप्त क्यों नहीं होते?

रत्नसार, भाग [१] पृष्ठ १०—'पार्श्वनाथ की मूर्त्ति के दर्शन से पाप नष्ट हो जाते हैं।' **कल्पभाष्य**, पृष्ठ ५१ में लिखा है कि—

---

१. द्र०—पृ० ६६७, सूत्र २६; पृष्ठ ६७२, सूत्र ८२।

'सवा लाख मन्दिरों का जीर्णोद्धार किया।' इत्यादि मूर्त्तिपूजा विषय में इनका बहुत-सा लेख है। इसीसे समझा जाता है कि मूर्त्तिपूजा का मूल कारण जैनमत है।

अब इन जैनियों के साधुओं की लीला देखिये—

विवेकसार, पृष्ठ २२८—'एक जैनमत का साधु कोशा वैश्या से भोग करके पश्चात् त्यागी होकर स्वर्गलोक को गया।'

विवेकसार, पृष्ठ १०१, [१०६-१०७] 'अर्णकमुनि चारित्र से चूक कर कई वर्ष पर्य्यन्त दत्ता सेठ के घर में विषयभोग करके पश्चात् देवलोक को गया। श्रीकृष्ण के पुत्र ढंढण मुनि को स्थालिया उठा ले गया, पश्चात् देवता हुआ।'

विवेकसार, पृष्ठ १५६—'जैनमत का साधु लिङ्गधारी अर्थात् वेशधारीमात्र हो, तो भी उसका सत्कार श्रावक लोग करें। चाहें साधु शुद्धचरित्र हों, चाहें अशुद्धचरित्र सब पूजनीय हैं।'

विवेकसार, पृष्ठ १६८—'जैनमत का साधु चरित्रहीन हो, तो भी अन्य मत के साधुओं से श्रेष्ठ है।'

विवेकसार, पृष्ठ १७१—'श्रावक लोग जैनमत के साधुओं को चरित्ररहित भ्रष्टाचारी देखें, तो भी उनकी सेवा करनी चाहिये।'

विवेकसार, पृष्ठ २१६—'एक चोर ने पांच मूठी लोंचकर चारित्र ग्रहण किया, बड़ा कष्ट और पश्चात्ताप किया। छःठे महीने में केवल ज्ञान पाके सिद्ध हो गया।'

समीक्षक—अब देखिये, इनके साधु और गृहस्थों की लीला। इनके मत में बहुत कुकर्म करनेवाला साधु भी सद्गति को गया। और—

विवेकसार, पृष्ठ १०६ में लिखा है कि—'श्रीकृष्ण तीसरे नरक में गया।'

विवेकसार, पृष्ठ १४५ में लिखा है कि—'धन्वन्तरि नरक में गया।'

विवेकसार, पृष्ठ ४८ में—'जोगी, जंगम काजी, मुल्ला कितने ही अज्ञान से तप कष्ट करके भी कुगति को पाते हैं।'

रत्नसार भा० [१] पृष्ठ [१७०-] १७१ में लिखा है कि—'नव वासुदेव अर्थात् [१.] त्रिपृष्ठ वासुदेव, [२.] द्विपृष्ठ वासुदेव, [३.] स्वयंभू वासुदेव, [४.] पुरुषोत्तम वासुदेव, [५.] सिंहपुरुष वासुदेव, [६.] पुरुषपुण्डरीक वासुदेव, [७.] दत्त वासुदेव, [८.] लक्ष्मण वासुदेव, और[1] [९.] श्रीकृष्णवासुदेव ये सब ग्यारहवें बारहवें चौदहवें पन्द्रहवें अठारहवें बीसवें और बाईसवें[2] तीर्थङ्करों के समय में नरक को गये'।

'और नव प्रतिवासुदेव[3] अर्थात् [१.] अश्वग्रीवप्रतिवासुदेव, [२.] तारकप्रतिवासुदेव, [३.] मोदकप्रतिवासुदेव, [४.] मधुप्रतिवासुदेव, [५.] निशुम्भप्रतिवासुदेव, [६.] बलीप्रतिवासुदेव, [७.] प्रहलाद प्रतिवासुदेव, [८.] रावणप्रतिवासुदेव, और [९.] जरासिंधुप्रति-वासुदेव, ये भी सब नरक को गये।'

और कल्पभ.ष्य[4] में लिखा है कि—'ऋषभदेव से लेके महावीर पर्यन्त २४ तीर्थङ्कर सब मोक्ष को प्राप्त हुए'।

समीक्षक—भला कोई बुद्धिमान् पुरुष विचारे कि इनके साधु गृहस्थ और तीर्थङ्कर, जिनमें बहुत से वेश्यागामी परस्त्रीगामी चोर आदि सब जैनमतस्थ स्वर्ग और मुक्ति को गये। और श्रीकृष्णादि महाधार्मिक महात्मा सब नरक को गये। यह कितनी बड़ी बुरी बात है।

प्रत्युत विचारके देखें, तो अच्छे पुरुष को जैनियों का संग करना वा उनको देखना भी बुरा है। क्योंकि जो इनका संग करे, तो ऐसी ही झूठी-झूठी बातें उसके भी हृदय में स्थित हो जायेंगी। क्योंकि इन महाहठी दुराग्रही मनुष्यों के संग से सिवाय बुराइयों के

---

१. यह पद सं० २ में 'लक्ष्मण' शब्द से पूर्व अस्थान में है।

२. वासुदेव ९ गिनाये हैं। उनके नरक-गमन की काल-गणना में ११, १२, १४, १५, १८, २०, २१ सात तीर्थङ्करों का ही निर्देश है। सम्भवतः यहां दो तीर्थङ्करों का निर्देश छूट गया है।

३. प्रतिवासुदेव=विष्णु के प्रतिद्वन्द्वी, जिन्हें विष्णु ने मारा या मरवाया।

४. मोक्षकल्पानक, पृष्ठ ५५-५६।

अन्य कुछ भी पल्ले न पड़ेगा। हां, जो जैनियों में उत्तमजन[1] हैं, उनसे सत्संगादि करने में कुछ भी दोष नहीं।

विवेकसार, पृष्ठ ५५ में लिखा है कि—'गङ्गादि तीर्थ और काशी आदि क्षेत्रों के सेवने से कुछ भी परमार्थ सिद्ध नहीं होता' और अपने गिरनार पालीटाणा और आबू आदि तीर्थ और क्षेत्र मुक्तिपर्यन्त के देनेवाले लिखे हैं[2]।

समीक्षक—यहां विचारना चाहिये कि जैसे शैववैष्णवादि के तीर्थ और क्षेत्र, जल स्थल जड़ स्वरूप हैं, वैसे जैनियों के भी हैं। इनमें से एक की निन्दा और दूसरे की स्तुति करना मूर्खता का काम है।

जैनों की मुक्ति का वर्णन

रत्नसार, भा० [१], पृष्ठ २३[-२४]—'महावीर तीर्थंकर गौतमजी से कहते हैं कि ऊर्ध्वलोक में एक सिद्धशिला स्थान है। स्वर्गपुरी के ऊपर पैंतालीस लाख योजन लम्बी और उतनी ही पोली है, तथा ८ योजन मोटी है। जैसे मोती का श्वेत हार वा गोदुग्ध है, उससे भी उजली है। सोने के समान प्रकाशमान और स्फटिक से भी निर्मल है।

वह सिद्धशिला चौदहवें लोक की शिखा पर है। और उस सिद्धशिला के ऊपर शिवपुर धाम, उसमें भी मुक्त पुरुष अधर रहते हैं। वहां जन्म-मरणादि कोई दोष नहीं, और आनन्द करते रहते हैं। पुनः जन्म-मरण में नहीं आते, सब कर्मों से छूट जाते हैं। यह जैनियों की मुक्ति है।'

समीक्षक—विचारना चाहिये कि जैसे अन्य मत में वैकुण्ठ कैलाश गोलोक श्रीपुर आदि पुराणी; चौथे आसमान में ईसाई; सातवें आसमान में मुसलमानों के मत में मुक्ति के स्थान लिखे हैं, वैसे ही जैनियों की सिद्धशिला और शिवपुर भी है। क्योंकि जिसको जैनी लोग ऊंचा मानते हैं, वही नीचेवालों[3] की जो कि हमसे भूगोल के नीचे रहते हैं, उनकी अपेक्षा से नीचा है।

---

१. जो उत्तमजन होगा, वह इस असार जैनमत में कभी न रहेगा। स०दा०
२. द्र०—रत्नसार, भाग १, पृष्ठ २९। ३. सं० २ में 'वाले' अपपाठ है।

ऊंचा-नीचा व्यवस्थित पदार्थ नहीं है। जो आर्य्यावर्त्तवासी जैनी लोग ऊंचा मानते हैं, उसी को[1] अमेरिकावाले नीचा मानते हैं। और आर्य्यावर्त्तवासी जिसको नीचा मानते हैं, उसको अमेरिकावाले ऊंचा मानते हैं। चाहे वह शिला पैंतालीस लाख से दूनी नब्बे लाख कोश की होती, तो भी वे मुक्त बन्धन में हैं। क्योंकि उस शिला वा शिवपुर के बाहर निकलने से उनकी मुक्ति छूट जाती होगी।

और सदा उसमें रहने की प्रीति, और उससे बाहर जाने में अप्रीति भी रहती होगी। जहां अटकाव प्रीति और अप्रीति है, उसको मुक्ति क्योंकर कह सकते हैं? मुक्ति तो जैसी नवमे समुल्लास में वर्णन कर आये हैं, वैसी माननी ठीक है।

और यह जैनियों की मुक्ति भी एक प्रकार का बन्धन है। ये जैनी भी मुक्ति-विषय में[2] भ्रम से फसे हैं। यह सच है कि विना वेदों के यथार्थ अर्थबोध के मुक्ति के स्वरूप को कभी नहीं जान सकते।

अब और थोड़ी सी असम्भव बातें इनकी सुनो—

विवेकसार, पृष्ठ ७८—'एक करोड़ साठ लाख कलशों से महावीरों को जन्म समय में स्नान कराया।'

विवेकसार पृष्ठ १३६—'दशार्ण राजा महावीर के दर्शन को गया। वहां कुछ अभिमान किया। उसके निवारण के लिये १६,७७,७२,१६००० इतने इन्द्र के स्वरूप, और १३,३७,०५,७२,८०,००,००,०००[3] इतनी इन्द्राणी वहां आई थीं। देखकर राजा आश्चर्य हो गया।'

समीक्षक—अब विचारना चाहिये कि इन्द्र और इन्द्राणियों के खड़े रहने के लिये ऐसे-ऐसे कितने ही भूगोल चाहियें?

---

१. सं० २ में 'में' अपपाठ है।   २. सं० २ में 'से' पाठ है।

३. पाठक इन इन्द्र इन्द्राणी की संख्याओं में भाग देकर देखें। प्रति इन्द्र ७९६९४८ इन्द्राणियों के पश्चात् ६३२३२००० इन्द्राणियां बचती हैं। उन्हें प्रति इन्द्र कैसे बांटा जायेगा?

श्राद्धदिनकृत्य, आत्मनिन्दा भावना, पृष्ठ ३१ में लिखा है कि—'बावड़ी कुआ और तालाब न बनवाना चाहिये'।

समीक्षक—भला जो सब मनुष्य जैनमत में हो जाय, और कुआ तालाब बावड़ी आदि कोई भी न बनवावें, तो सब लोग जल कहां से पियें ?

प्रश्न—तालाब आदि बनवाने से जीव पड़ते हैं। उससे बनवाने-वाले को पाप लगता है। इसलिये हम जैनी लोग इस काम को नहीं करते।

उत्तर—तुम्हारी बुद्धि नष्ट क्यों हो गई? क्योंकि जैसे क्षुद्र-क्षुद्र जीवों के मरने से पाप गिनते हो, तो बड़े-बड़े गाय आदि पशु और मनुष्यादि प्राणियों के जल पीने आदि से महापुण्य होगा, उसको क्यों नहीं गिनते ?

तत्त्वविवेक, पृष्ठ १९६[-१९८] 'एक[1] नगरी में एक नन्द-मणिकार सेठ ने बावड़ी बनवाई। उससे धर्मभ्रष्ट होकर सोलह महारोग हुए। मरके उसी बावड़ी में मेंडुका हुआ। महावीर के दर्शन से उसको जातिस्मरण हो गया।' महावीर कहते हैं कि—'मेरा आना सुनकर वह पूर्वजन्म के धर्माचार्य जान, वन्दना को आने लगा। मार्ग में श्रेणिक के घोड़े की टाप से मरकर शुभध्यान के योग से दर्दुरांक नाम महर्द्धिक देवता हुआ। अवधिज्ञान से मुझको यहां आया जान वन्दनापूर्वक ऋद्धि दिखाके गया।'

समीक्षक—इत्यादि विद्याविरुद्ध असम्भव मिथ्या बात के कहने-वाले महावीर को सर्वोत्तम मानना महाभ्रान्ति की बात है।

श्राद्धदिनकृत्य, पृष्ठ ३६[2] में लिखा है कि—'मृतक वस्त्र साधु ले लेवें।'

समीक्षक—देखिये, इनके साधु भी महाब्राह्मण के समान हो गये। वस्त्र तो साध लेवें, परन्तु मृतक के आभूषण कौन लेवे? बहुमूल्य होने से घर में रख लेते होंगे, तो आप कौन हुए?

---

१. स० २ में 'इस' पाठ है।   २. द्र० पंक्ति ७।

रत्नसार, [भाग १] पृष्ठ १०५--'भूंजने कूटने पीसने अन्न पकाने आदि में पाप होता है।'

समीक्षक--अब देखिये इनकी विद्याहीनता। भला ये कर्म न किये जायें, तो मनुष्यादि प्राणी कैसे जी सकें? और जैनी लोग भी पीड़ित होकर मर जायें।

रत्नसार, [भाग १] पृष्ठ १०४—'बागीचा लगाने से एक लक्ष पाप माली को लगता है।'

समीक्षक—जो माली को लक्ष पाप लगता है, तो अनेक जीव पत्र-फल-फूल और छाया से आनन्दित होते हैं, तो करोड़ों गुणा पुण्य भी होता ही है। इस पर कुछ ध्यान भी न दिया। यह कितना अन्धेर है?

तत्त्वविवेक, पृष्ठ [२०१-]२०२—'एक दिन लब्धि साधु भूल से वेश्या के घर में चला गया, और धर्म से भिक्षा मांगी। वेश्या बोली कि यहां धर्म का काम नहीं, किन्तु अर्थ का काम है। तो उस लब्धि साधु ने साढ़े बारह लाख अशर्फी वर्षा उसके घर में करदी।'

समीक्षक—इस बात को सत्य[1] बिना नष्टबुद्धि पुरुष के कौन मानेगा?

रत्नसार, भाग [१] पृष्ठ ६७ में लिखा है कि—'एक पाषाण की मूर्त्ति घोड़े पर चढ़ी हुई, उसका जहां स्मरण करे, वहां उपस्थित होकर रक्षा करती है।'

समीक्षक—कहो जैनीजी! आजकल तुम्हारे यहां चोरी डांका आदि, और शत्रु से भय होता ही है। तो तुम उसका स्मरण करके अपनी रक्षा क्यों नहीं करा लेते हो? क्यों जहां-तहां पुलिस आदि राज-स्थानों में मारे-मारे फिरते हो?

अब इनके साधुओं के लक्षण--

सरजोहरणा भैक्षभुजो[2] लुञ्चितमूर्द्धजाः।
श्वेताम्बराः क्षमाशीला निःसङ्गा जैनसाधवः ॥१॥

---

१. सं० २ में 'साथ' अपपाठ है। २. सं० २ में 'भैक्ष्यभुजो' पाठ है।

लुञ्चिता: पिच्छिकाहस्ता: पाणिपात्रा दिगम्बरा: ।
ऊर्ध्वाशिनो गृहे दातुर्द्वितीया: स्युर्जिनर्षय: ॥२॥
भुङ्क्ते न केवली न स्त्री मोक्षमेति दिगम्बर: ।
प्राहुरेषामयं भेदो महान् श्वेताम्बरै: सह ॥३॥[1]

जैन के साधुओं के लक्षणार्थ जिनदत्तसूरी ने ये[2] श्लोकों से कहे हैं। सरजोहरण=चमरी रखना, और भिक्षा मांगके खाना, शिर के बाल लुञ्चित कर देना, श्वेत वस्त्र धारण करना, क्षमायुक्त रहना, किसी का सङ्ग न करना, ऐसे लक्षणयुक्त जैनियों के श्वेताम्बर, जिनको 'जती' कहते हैं [॥१॥]

दूसरे दिगम्बर अर्थात् वस्त्र धारण न करना, शिर के बाल उखाड़ डालना, पिच्छिका=एक ऊन के सूतों का झाडू लगाने का साधन बगल में रखना, जो कोई भिक्षा दे तो हाथ में लेकर खा लेना। ये दिगम्बर दूसरे प्रकार के साधु होते हैं। और भिक्षा देनेवाला गृहस्थ जब भोजन कर चुके, उसके पश्चात् भोजन करें, वे जिनर्षि अर्थात् तीसरे प्रकार के साधु होते हैं [॥२॥[3]]

दिगम्बरों का श्वेताम्बरों के साथ इतना ही भेद है कि दिगम्बर लोग[4] स्त्री का अपवर्ग[5] नहीं कहते, और श्वेताम्बर कहते हैं।

---

१. सर्वद० सं०, आर्हतदर्शन, श्लोक १०-१२, पृष्ठ ८८। सं० २ में 'भुङ्क्ते न केवलं' अपपाठ है।

२. सं० २, ३४, ३५ में यही पाठ है। सं० ३ में 'से' के स्थान में 'ये' बनाया है। फिर भी वाक्य ठीक नहीं हुआ। यहां 'ये श्लोक कहे हैं' पाठ होना चाहिये।

३. यह '॥२॥' संख्या सं० २ से ३३ तक पूर्व वाक्य 'दूसरे प्रकार के साधु होते हैं' के आगे अस्थान में छपी है। सं० ३४-३५ में यही निर्देश मिलता है। इस वाक्य में 'अर्थात् तीसरे प्रकार के' ये पद अनावश्यक हैं। मूल श्लोक में 'द्वितीया:' पाठ है, न कि 'तृतीया:'।

४. यहां 'भुङ्क्ते न केवली' का अर्थ छूट गया है। अत: इतना पाठ और होना चाहिये—'केवली भोजन नहीं करता, और'।

५. 'अपवर्ग . श्वेताम्बर कहते हैं' पाठ सं० ५ में परिशोधित हुआ है, जो उक्त श्लोकानुसार ठीक है। सं० २, ३, ४, ३४, ३५ में 'स्त्री का संसर्ग

इत्यादि बातों से मोक्ष को प्राप्त होते हैं। यह इनके साधुओं का भेद है। [॥३॥]

इससे जैन लोगों का केश-लुञ्चन सर्वत्र प्रसिद्ध है। और पांच मुष्टि लुञ्चन करना इत्यादि भी लिखा है। **विवेकसार, भा०**[1] पृष्ठ २१६ में लिखा है कि—'पांच मुष्टि लुञ्चन कर चारित्र ग्रहण किया। अर्थात् पांच मूठी शिर के बाल उखाड़के साधु हुआ। **कल्पसूत्रभाष्य, पृष्ठ १०८**[2] **'केशलुञ्चन करे, गौ के बालों के तुल्य रखे।'**

समीक्षक—अब कहिये, जैन लोगो! तुम्हारा दया धर्म कहां रहा? क्या यह हिंसा अर्थात् चाहैं अपने हाथ से लुञ्चन करे, चाहैं उसका गुरु करे वा अन्य कोई, परन्तु कितना बड़ा कष्ट उस जीव को होता होगा? जीव को कष्ट देना ही 'हिंसा' कहाती है।[3]

विवेकसार,पृष्ठ[७-८][4]—'संवत् १६३३ के साल में श्वेताम्बरों में से ढूंढिया, और ढूंढियों में से तेरहपन्थी आदि ढोंगी निकले हैं। ढूंढिये लोग पाषाणादि मूर्त्ति को नहीं मानते। और वे भोजन-स्नान

नहीं करते, और श्वेताम्बर करते हैं' पाठ मिलता है। यह भ्रष्ट पाठ है। दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों के मतों में स्त्री-संसर्ग सर्वथा वर्जित है।

१. 'भा०' पाठ सर्वत्र है। सं० ३४, ३५ में हटाया गया। ऐसा ही आगे भी किया है

२. द्र०—२२ वीं समाचारी।

३. ऋ० द० ने संस्कारविधि के संन्यास प्रकरण (पृष्ठ ३२७, रालाकट्र सं०) में शिखा के ५-७ केशों के उखाड़ने का निर्देश किया है। इस पर अनेक व्यक्ति यही आक्षेप करते हैं, जो यहां किया गया है। यदि तत्त्वत: देखा जाय, तो दोनों में महान् अन्तर है। जैनियों के मत में सभी केशों का लुञ्चन विहित है, जब कि संन्यासकर्म में शिखा के ५-७ केशों का। शिखा और यज्ञोपवीत पूर्व तीन आश्रमों के चिह्न हैं। उन्हें संन्यास ग्रहण करनेवाला स्वयं अपने हाथ से दूर करे। इतने मात्र तात्पर्य के लिये ५-७ केशों का उखाड़ना लिखा है। ५-७ केश उखाड़ने में कोई कष्ट नहीं होता।

४. यहां '[भाग १]' तथा पृष्ठ संख्या मूल में छूट जाने से सं० २ से ३३ तक नहीं मिलती। स० ३४ में पृष्ठ संख्या बढ़ाई गई है।

को छोड़ सर्वदा मुख पर पट्टी बांधे रहते हैं। और जती आदि भी जब पुस्तक बांचते हैं, तभी मुख पर पट्टी बांधते हैं, अन्य समय नहीं'।

प्रश्न—मुख पर पट्टी अवश्य बांधना चाहिये। क्योंकि 'वायु-काय' अर्थात् जो वायु में सूक्ष्म शरीरवाले जीव रहते हैं, वे मुख के बाफ की उष्णता से मरते हैं। और उसका पाप मुख पर पट्टी न बांधनेवाले पर होता है। इसीलिये हम लोग मुख पर पट्टी बांधना अच्छा समझते हैं।

उत्तर—यह बात विद्या और प्रत्यक्षादि प्रमाणादि की रीति से अयुक्त है। क्योंकि जीव अजर अमर हैं। फिर वे मुख की बाफ से कभी नहीं मर सकते। इनको तुम भी अजर-अमर मानते हो।

प्रश्न—जीव तो नहीं मरता, परन्तु जो मुख के उष्ण वायु से उनको पीड़ा पहुंचती है, उस पीड़ा पहुंचानेवाले को पाप होता है। इसीलिये मुख पर पट्टी बांधना अच्छा है।

उत्तर—यह भी तुम्हारी बात सर्वथा असम्भव है। क्योंकि पीड़ा दिये विना किसी जीव का किंचित् भी निर्वाह नहीं हो सकता। जब मुख के वायु से तुम्हारे मत में जीवों को पीड़ा पहुंचती है, तो चलने फिरने बैठने हाथ उठाने और नेत्रादि के चलाने में भी पीड़ा अवश्य पहुंचती होगी। इसलिये तुम भी जीवों को पीड़ा पहुंचाने से पृथक नहीं रह सकते।

प्रश्न—हां, जब[1] तक बन सके, वहां तक जीवों की रक्षा करनी चाहिये। और जहां हम नहीं बचा सकते, वहां अशक्त हैं। क्योंकि सब वायु आदि पदार्थों में जीव भरे हुए हैं। जो हम मुख पर कपड़ा न बांधें, तो बहुत जीव मरें। कपड़ा बांधने से न्यून मरते हैं।

उत्तर—यह भी तुम्हारा कथन युक्तिशून्य है। क्योंकि कपड़ा बांधने से जीवों को अधिक दुःख पहुंचता है। जब कोई मुख पर

---

१. आगे 'वहां तक' पाठ होने से यहां 'जहां तक' पाठ होना चाहिये। अथवा 'वहां तक' के स्थान में 'तब तक' पाठ होना चाहिये।

कपड़ा बांधे, तो उसका मुख का वायु रुकके नीचे वा पार्श्व, और मौन-समय में नासिका द्वारा इकट्ठा होकर वेग से निकलता है। उससे उष्णता अधिक होकर जीवों को विशेष पीड़ा तुम्हारे मतानुसार पहुंचती होगी।

देखो, जैसे घर वा कोठरी के सब दरवाजे बन्ध किये वा परदे डाले जायें, तो उसमें उष्णता विशेष होती है, खुला रखने से उतनी नहीं होती, वैसे मुख पर कपड़ा बांधने से उष्णता अधिक होती है, और खुला रखने से न्यून। वैसे तुम अपने मतानुसार जीवों को अधिक दुःखदायक हो।

और जब मुख बन्ध किया जाता है, तब नासिका के छिद्रों से वायु रुक इकट्ठा होकर वेग से निकलता हुआ जीवों को अधिक धक्का और पीड़ा करता[1] होगा।

देखो, जैसे कोई मनुष्य अग्नि को मुख से फूंकता और कोई नली से, तो मुख का वायु फैलने से कम बल, और नली का वायु इकट्ठा होने से अधिक बल से अग्नि में लगता है, वैसे ही मुख पर पट्टी बांधकर वायु को रोकने से नासिका द्वारा अतिवेग से निकलकर जीवों को अधिक दुःख देता है। इससे मुख-पट्टी बाधनेवालों से, नहीं बांधनेवाले धर्मात्मा हैं।

और मुख पर पट्टी बांधने से अक्षरों का यथायोग्य स्थान-प्रयत्न के साथ उच्चारण भी नहीं होता। निरनुनासिक अक्षरों को सानुनासिक बोलने से तुमको दोष लगता है।

तथा मुख-पट्टी बांधने से दुर्गन्ध भी अधिक बढ़ता है। क्योंकि शरीर के भीतर दुर्गन्ध भरा है। शरीर से जितना वायु निकलता है, वह दुर्गन्धयुक्त प्रत्यक्ष है। जो वह रोका जाय, तो दुर्गन्ध भी अधिक बढ़ जाय।

जैसा कि बन्ध 'जाजरूर'[2] अधिक दुर्गन्धयुक्त, और खुला हुआ न्यून दुर्गन्धयुक्त होता है, वैसे ही मुखपट्टी बांधने, दन्तधावन

---

१. सं० २ में 'कर्त्ता' पाठ है। २. अर्थात् शौचालय।

मुखप्रक्षालन और स्नान न करने, तथा वस्त्र न धोने से तुम्हारे शरीरों से अधिक दुर्गन्ध उत्पन्न होकर संसार में बहुत रोग करके जीवों को जितनी पीड़ा [तुम्हारे शरीर] पहुंचाते हैं, उतना पाप तुमको अधिक होता है।

जैसे मेले आदि में अधिक दुर्गन्ध होने से 'विसूचिका' अर्थात् हैजा आदि बहुत प्रकार के रोग उत्पन्न होकर जीवों को दुःखदायक होते हैं, और न्यून दुर्गन्ध होने से रोग भी न्यून होकर जीवों को बहुत दुःख नहीं पहुंचता। इससे तुम अधिक दुर्गन्ध बढ़ाने में अधिक अपराधी।

और जो मुख-पट्टी नहीं बांधते, दन्तधावन मुखप्रक्षालन स्नान करके स्थान-वस्त्रों को शुद्ध रखते हैं, वे तुमसे बहुत अच्छे हैं। जैसे अन्त्यजों की दुर्गन्ध के सहवास से पृथक् रहनेवाले बहुत अच्छे हैं।

जैसे अन्त्यजों की दुर्गन्ध के सहवास से निर्मल बुद्धि नहीं होती, वैसे तुम और तुम्हारे संगियों की भी बुद्धि नहीं बढ़ती। जैसे रोग की अधिकता और बुद्धि के स्वल्प होने से धर्मानुष्ठान की बाधा होती है, वैसे ही दुर्गन्धयुक्त तुम्हारा और तुम्हारे संगियों का भी वर्त्तमान होता होगा।

प्रश्न—जैसे बन्ध मकान में जलाये हुए अग्नि की ज्वाला बाहर निकलके बाहर के जीवों को दुःख नहीं पहुंचा सकती, वैसे हम मुख-पट्टी[1] बांधके वायु को रोककर बाहर के जीवों को न्यून दुःख पहुंचानेवाले हैं। मुखपट्टी बांधने से बाहर के वायु के जीवों को पीड़ा नहीं पहुंचती। और जैसे सामने अग्नि जलाता है, उसको आड़ा हाथ देने से [आंच] कम लगती है। और वायु के जीव शरीरवाले होने से उनको पीड़ा अवश्य पहुंचती है।

उत्तर—यह तुम्हारी बात लड़कपन की है। प्रथम तो देखो, जहां छिद्र और भीतर के वायु का योग बाहर के वायु के साथ न हो, तो वहां अग्नि जल ही नहीं सकता। जो इसको प्रत्यक्ष देखना चाहो,

---

१. अर्थात् 'मुख पर पट्टी'।

तो किसी फानूस में दीप जलाकर सब छिद्र बन्ध करके देखो, तो दीप उसी समय बुझ जायेगा।

जैसे पृथिवी पर रहनेवाले मनुष्यादि प्राणी बाहिर के वायु के योग के विना नहीं जी सकते, वैसे अग्नि भी नहीं जल सकता। जब एक ओर से अग्नि का वेग रोका जाय, तो दूसरी ओर अधिक वेग से निकलेगा।

और हाथ की आड़ करने से मुख पर आंच न्यून लगती है, परन्तु वह आंच हाथ पर अधिक लग रही है। इसलिये तुम्हारी बात ठीक नहीं।

प्रश्न—इसको सब कोई जानता है कि जब किसी बड़े मनुष्य से छोटा मनुष्य कान में वा निकट होकर बात कहता है, तब मुख पर पल्ला वा हाथ लगाता है। इसलिये कि मुख से थूंक उड़कर वा दुर्गन्ध उसको न लगे। और जब पुस्तक बांचता है, तब अवश्य थूक उड़कर उस पर गिरने से उच्छिष्ट होकर वह बिगड़ जाता है। इसलिये मुखपर पट्टी का बांधना अच्छा है।

उत्तर—इससे यह सिद्ध हुआ कि जीव-रक्षार्थ मुख-पट्टी बांधना व्यर्थ है। और जब कोई बड़े मनुष्य से बात करता है, तब मुख पर हाथ वा पल्ला इसलिये रखता है कि उस गुप्त बात को दूसरा कोई न सुन लेवे। क्योंकि जब कोई प्रसिद्ध बात करता है, तब कोई भी मुख पर हाथ वा पल्ला नहीं धरता। इससे क्या विदित होता है कि गुप्त बात के लिये यह बात है।

दन्तधावनादि न करने से तुम्हारे मुखादि अवयवों से अत्यन्त दुर्गन्ध निकलता है। और जब तुम किसी के पास, वा कोई तुम्हारे पास बैठता होगा, तो विना दुर्गन्ध के अन्य क्या आता होगा? इत्यादि।

मुख के आड़ा हाथ वा पल्ला देने के प्रयोजन अन्य बहुत हैं। जैसे बहुत मनुष्यों के सामने गुप्त बात करने में जो हाथ वा पल्ला न लगाया जाय, तो दूसरों की ओर वायु के फैलने से बात भी फैल जाय। जब वे दोनों एकान्त में बात करते हैं, तब मुख पर हाथ वा

पल्ला इसलिये नहीं लगाते कि वहां[1] तीसरा कोई सुननेवाला नहीं।

जो बड़ों ही के ऊपर थूक न गिरे, इससे क्या छोटों के ऊपर[2] थूक गिराना चाहिये? और उस थूक से बच भी नहीं सकता। क्योंकि हम दूरस्थ बात करें, और वायु हमारी ओर से दूसरे की ओर जाता हो, तो सूक्ष्म होकर उसके शरीर पर वायु के साथ त्रसरेणु अवश्य गिरेंगे। उसका दोष गिनना अविद्या की बात है।

क्योंकि जो मुख की उष्णता से जीव मरते वा उनको पीड़ा पहुंचती हो, तो वैशाख वा ज्येष्ठ महीने में सूर्य की महा उष्णता से वायुकाय के जीवों में से मरे विना एक भी न बच सके। सो उस उष्णता से भी वे जीव नहीं मर सकते[3]। इसलिये यह तुम्हारा सिद्धान्त झूंठा है। क्योंकि जो तुम्हारे तीर्थङ्कर भी पूर्ण विद्वान् होते, तो ऐसी व्यर्थ बातें क्यों करते?

देखो, पीड़ा उसी जीव[4] को पहुंचती है, जिसकी वृत्ति[5] सब अवयवों के साथ विद्यमान हो। इसमें प्रमाण—

पञ्चावयवयोगात्[6]सुखसंवित्तिः॥ यह सांख्यशास्त्र का सूत्र है।[7]

जब पांचों इन्द्रियों का पांचों विषयों के साथ सम्बन्ध होता है, तभी सुख वा दुःख की प्राप्ति जीव को होती है। जैसे बधिर को गालीप्रदान; अन्धे को रूप वा आगे से सर्प व्याघ्रादि भयदायक जीवों का चला जाना; शून्य बहिरीवाले[8] [को]स्पर्श; पिन्नस रोगवाले को गन्ध; और शून्य जिह्वावाले को रस प्राप्त नहीं हो सकता, इसी प्रकार उन जीवों की भी व्यवस्था है।

देखो, जब मनुष्य का जीव सुषुप्ति दशा में रहता है,तब उसको

---

१. सं० २ में 'यहां' पाठ है। २. सं० २ में 'पर' अपपाठ है।
३. 'क्योंकि जीव अजर अमर है' इतना पाठ यहां और होना चाहिये।
४. सं० २ में 'जीवों' अपपाठ है। 'उन्हीं जीवों......जिनकी' पाठ सं० ३ में बनाया है। ५. अर्थात् आत्मा-इन्द्रिय-विषय-सम्बन्ध।
६. सं० २ में 'पञ्चावयवात्' अपपाठ है।
७. सां० द० ५।२७॥ ८. अर्थात् शून्यत्वगिन्द्रियवाले को।

सुख वा दुःख की प्राप्ति कुछ भी नहीं होती। क्योंकि वह शरीर के भीतर तो है, परन्तु उसका बाहर के अवयवों के साथ उस समय सम्बन्ध न रहने से सुख-दुःख की प्राप्ति नहीं कर सकता।

और जैसे वैद्य वा आजकाल के डाक्तर लोग नशा की वस्तु खिला वा सुंघाके रोगी पुरुष के शरीर के अवयवों को काटते वा चीरते हैं, उसको उस समय कुछ भी दुःख विदित नहीं होता, वैसे वायुकाय अथवा अन्य स्थावर शरीरवाले जीवों को सुख वा दुःख प्राप्त कभी नहीं हो सकता।

जैसे मूर्च्छित प्राणी सुख-दुःख को प्राप्त नहीं हो सकता, वैसे वे वायुकायादि के जीव भी अत्यन्त मूर्च्छित होने से सुख-दुःख को प्राप्त नहीं हो सकते। फिर उनको[1] पीड़ा से बचाने की बात सिद्ध कैसे हो सकती है? जब उनको सुख-दुःख की प्राप्ति ही प्रत्यक्ष नहीं होती, तो अनुमानादि यहां कैसे युक्त हो सकते हैं?

प्रश्न—जब वे जीव हैं, तो उनको सुख-दुःख क्यों नहीं होगा?

उत्तर—सुनो भोले भाइयो! जब तुम सुषुप्ति में होते हो, तब तुमको सुख-दुःख प्राप्त क्यों नहीं होते? सुख-दुःख की प्राप्ति का[2] हेतु प्रसिद्ध सम्बन्ध है। अभी हम इसका उत्तर दे आये हैं कि नशा सुंघाके डाक्तर लोग अङ्गों को चीड़ते-फाड़ते और काटते हैं। जैसे उनको दुःख विदित नहीं होता, इसी प्रकार अतिमूर्च्छित जीवों को सुख-दुःख क्योंकर प्राप्त होवें? क्योंकि वहां प्राप्ति होने का साधन कोई भी नहीं।

प्रश्न—देखो, निलौति अर्थात् जितने हरे शाक पात और कन्दमूल हैं, उनको हम लोग नहीं खाते। क्योंकि निलोति में बहुत और कन्दमूल में अनन्त जीव हैं। जो हम उनको खावें, तो उन जीवों को मारने और पीड़ा पहुचने से हम लोग पापी हो जावें।

उत्तर—यह तुम्हारी बड़ी अविद्या की बात है। क्योंकि हरित

---

१. सं० २ में 'इनको' पाठ है। २. सं० २ में 'के' अपपाठ है।

शाक के खाने में जीव का मरना, उनको पीड़ा पहुंचनी क्योंकर मानते हो ? भला जब तुमको पीड़ा प्राप्त होती प्रत्यक्ष नहीं दीखती। और जो दीखती है, तो हमको भी दिखलाओ। तुम कभी न प्रत्यक्ष देख वा हमको दिखा सकोगे। जब प्रत्यक्ष नहीं, तो अनुमान उपमान और शब्दप्रमाण भी कभी नहीं घट सकता।

फिर जो हम ऊपर उत्तर दे आये हैं, वह इस बात का भी उत्तर है। क्योंकि जो अत्यन्त अन्धकार[1], महासुषुप्ति और महानशा में जीव हैं, इनको सुख-दुःख की प्राप्ति मानना तुम्हारे तीर्थङ्करों की भी भूल विदित होती है। जिन्होंने तुमको ऐसी युक्ति और विद्याविरुद्ध उपदेश किया है।

भला जब घर का अन्त है, तो उसमें रहनेवाले अनन्त क्योंकर हो सकते हैं ? जब कन्द का अन्त हम देखते हैं, तो उसमें रहनेवाले जीवों का अन्त क्यों नहीं ? इससे यह तुम्हारी बात बड़ी भूल की है।

प्रश्न—देखो, तुम लोग विना उष्ण किये कच्चा पानी पीते हो, वह बड़ा पाप करते हो। जैसे हम उष्ण पानी पीते है, वैसे तुम लोग भी पिया करो।

उत्तर—यह भी तुम्हारी बात भ्रमजाल की है। क्योंकि जब तुम पानी को उष्ण करते हो, तब पानी के जीव सब मरते होंगे। और उनका शरीर भी जल में रंधकर वह पानी सौंफ के अर्क के तुल्य होने से जानो तुम उनके शरीरों का 'तेजाब' पीते हो। इसमें तुम बड़े पापी हो।

और जो ठण्ढा जल पीते हैं, वे नहीं। क्योंकि जब ठण्ढा पानी पियेंगे, तब उदर में जाने से किंचित् उष्णता पाकर श्वास के साथ वे जीव बाहर निकल जायेंगे। जलकाय जीवों को सुख-दुःख प्राप्त पूर्वोक्त रीति से नहीं हो सकता। पुनः इसमें पाप किसी को नहीं होगा।

---

१. अर्थात् आत्मा-इन्द्रिय-विषय-सम्बन्ध के अभाव में।

प्रश्न—जैसे जाठराग्नि से, वैसे उष्णता पाके जल से बाहर जीव क्यों न निकल जायेंगे ?

उत्तर—हां निकल तो जाते, परन्तु जब तुम मुख के वायु की उष्णता से जीव का मरना मानते हो, तो जल उष्ण करने से तुम्हारे मतानुसार जीव मर जायेंगे, वा अधिक पीड़ा पाकर निकलेंगे। और उनके शरीर उस जल में रंध जायेंगे। इससे तुम अधिक पापी होगे वा नहीं ?

प्रश्न—हम अपने हाथ से उष्ण जल नहीं करते, और न किसी गृहस्थ को उष्ण जल करने की आज्ञा देते हैं। इसलिये हमको पाप नहीं।

उत्तर—जो तुम उष्ण जल न लेते न पीते, तो गृहस्थ उष्ण क्यों करते ? इसलिये उस पाप के भागी तुम ही हो, प्रत्युत अधिक पापी हो। क्योंकि जो तुम किसी एक गृहस्थ को उष्ण करने को कहते, तो एक ही ठिकाने उष्ण होता। जब वे गृहस्थ इस भ्रम में रहते हैं कि न जाने साधु जी किसके घर को आवेंगे ? इसलिये प्रत्येक गृहस्थ अपने-अपने घर में उष्ण जल कर रखते हैं। इसके पाप के भागी मुख्य तुम ही हो।

दूसरा—अधिक काष्ठ और अग्नि के जलने-जलाने से भी ऊपर लिखे प्रमाणे[1] रसोई खेती और व्यापादि में अधिक पापी और नरकगामी होते हो। फिर जब तुम उष्ण जल कराने के मुख्य निमित्त, और तुम उष्ण जल के पीने और ठण्ढे के न पीने के उपदेश करने से तुम ही मुख्य पाप के भागी हो। और जो तुम्हारा उपदेश मानकर ऐसी बातें करते हैं, वे भी पापी हैं।

अब देखो, कि तुम बड़ी अविद्या में होते हो वा नहीं ? कि छोटे-छोटे जीवों पर दया करनी, और अन्य मत वालों की निन्दा अनुपकार करना क्या थोड़ा पाप है ? जो तुम्हारे तीर्थङ्करों का मत

---

१. सं० २ में 'परमाणे' अपपाठ है।

सच्चा होता, तो सृष्टि में इतनी वर्षा, नदियों का चलना, और इतना जल क्यों उत्पन्न ईश्वर ने किया? और सूर्य को भी उत्पन्न न करता? क्योंकि इनमें क्रोड़ान् क्रोड़ जीव तुम्हारे मतानुसार मरते ही होंगे, जब वे विद्यमान थे। और तुम जिनको ईश्वर मानते हो, उन्होंने दया कर सूर्य का ताप और मेघ को बन्ध क्यों न किया?

और पूर्वोक्त प्रकार से विना विद्यमान प्राणियों के दुःख-सुख की प्राप्ति कन्दमूलादि पदार्थों में रहनेवाले जीवों को नहीं होती। सर्वथा सब जीवों पर दया करना भी दुःख का कारण होता है। क्योंकि जो तुम्हारे मतानुसार सब मनुष्य हो जावें, चोर डाकुओं को कोई भी दण्ड न देवे, तो कितना बड़ा पाप खड़ा हो जाये?

इसलिये दुष्टों को यथावत् दण्ड देने, और श्रेष्ठों के पालन करने में '**दया**', और इससे विपरीत करने में दया-क्षमारूप धर्म का नाश है।

कितनेक जैनी लोग दुकान करते, उन व्यवहारों में झूंठ बोलते, पराया धन मारते, और दीनों को छलने आदि कुकर्म करते हैं। उनके निवारण में विशेष उपदेश क्यों नहीं करते? और मुखपट्टी बांधने आदि ढोंग में क्यों रहते हो?

जब तुम चेला-चेली करते हो, तब केशलुञ्चन और बहुत दिवस भूखे रहने में पराये वा अपने आत्मा को पीड़ा दे, और पीड़ा को प्राप्त होके दूसरों को दुःख देते। और आत्महत्या अर्थात् आत्मा को दुःख देनेवाले होकर हिंसक क्यों बनते हो? जब[1] हाथी घोड़े बैल ऊंट पर चढ़ने और मनुष्यों को मजूरी कराने में पाप जैनी लोग क्यों नहीं गिनते? जब तुम्हारे चेले ऊटपटांग बातों को सत्य नहीं कर सकते, तो तुम्हारे तीर्थङ्कर भी सत्य नहीं कर सकते।

जब तुम कथा बांचते हो तब मार्ग में श्रोताओं के और तुम्हारे मतानुसार जीव मरते ही होंगे। इसलिये तुम इस पाप के मुख्य

---

१. 'जब' अनावश्यक है। 'जब' का प्रयोग होने पर 'तो' वा 'तब' का प्रयोग होना आवश्यक है।

कारण क्यों होते हो ? इस थोड़े कथन से बहुत समझ लेना कि उन जल स्थल वायु के स्थावर शरीरवाले अत्यन्त मूर्च्छित जीवों को दुःख वा सुख कभी नहीं पहुंच[1] सकता।

अब जैनियों की और भी थोड़ी सी असंभव कथा लिखते हैं। सुनना चाहिये, और यह भी ध्यान में रखना कि अपने हाथ से साढ़े तीन हाथका धनुष होता है। और काल की संख्या जैसी पूर्व लिख आये[2] हैं, वैसी ही समझना।

रत्नसार, भाग १, पृष्ठ १६६-१६७ तक में लिखा है-

१. ऋषभदेव का शरीर ५०० (पांच सौ) धनुष् लम्बा, और ८४०००० (चौरासी लाख) 'पूर्व' [वर्ष] का आयु।

२. अजितनाथ का ४५० [साढ़े चार सौ] धनुष् परिमाण का शरीर, और ७२००००० (बहत्तर लाख) 'पूर्व' वर्ष का आयु।

३. संभवनाथ का ४०० (चार सौ) धनुष् परिमाण [का] शरीर, और ६०००००० (साठ लाख) 'पूर्व' वर्ष का आयु।

४. अभिनन्दन का ३५० (साढ़े तीन सौ) धनुष् का शरीर, और ५०००००० (पचास लाख) 'पूर्व' वर्ष का आयु।

५. सुमतिनाथ का ३०० [तीन सौ] धनुष् परिमाण का शरीर, और ४०००००० (चालीस लाख) 'वर्ष' पूर्व का आयु।

६. पद्मप्रभ का १४० [एक सौ चालीस] धनुष् का शरीर, और ३०००००० (तीस लाख) 'पूर्व' वर्ष का आयु।

७. पार्श्वनाथ का २०० [दो सौ] धनुष् का शरीर, और २०००००० (बीस लाख) 'पूर्व' वर्ष का आयु।

८. चन्द्रप्रभ का १५० [डेढ़ सौ] धनुष् परिमाण का शरीर, और १०००००० (दश लाख) 'पूर्व' वर्षों का आयु।

९. सुविधिनाथ का १०० (सौ) धनुष् का शरीर, और २००००० (दो लाख) 'पूर्व' वर्ष का आयु।

---

१. सं० २ में 'पहुंचा' अपपाठ है। २. पूर्व पृष्ठ ६५०, ६५१।

१०. शीतलनाथ का ९० (नब्वे) धनुष् का शरीर, और १००००० (एक लाख) 'पूर्व' वर्ष का आयु।

११. श्रेयांसनाथ का ८० [अस्सी] धनुष् का शरीर, और ८४००००० (चौरासी लाख) वर्ष का आयु।

१२. वासुपूज्य स्वामी का ७० [सत्तर] धनुष् का शरीर, और ७२००००० (बहत्तर लाख) वर्ष का आयु।

१३. विमलनाथ का ६० [साठ] धनुष् का शरीर, और ६०००००० (साठ लाख) वर्षों का आयु।

१४. अनन्तनाथ का ५० [पचास] धनुष् का शरीर, और ३०००००० (तीस लाख) वर्षों का आयु।

१५. धर्मनाथ का ४५ [पैंतालीस] धनुषों का शरीर, और १०००००० (दश लाख) वर्षों का आयु।

१६. शान्तिनाथ का ४० [चालीस] धनुषों का शरीर, और १००००० (एक लाख) वर्ष का आयु।

१७. कुन्थुनाथ का ३५ [पैंतीस] धनुष् का शरीर, और ९५००० (पचानवे सहस्र) वर्षों का आयु।

१८. अमरनाथ का ३०[तीस]धनुषों का शरीर, और ८४००० (चौरासी सहस्र) वर्षों का आयु।

१९. मल्लीनाथ का २५ [पच्चीस] धनुषों का शरीर, और ५५००० (पचपन सहस्र) वर्षों का आयु।

२०. मुनिसुवृत का २०[बीस]धनुषों का शरीर, और ३०००० (तीस सहस्र) वर्षों का आयु।

२१. नमिनाथ का १४ [चौदह] धनुषों का शरीर, और १०००० (दश सहस्र) वर्षों का आयु।

२२. नेमिनाथ का १० (दश) धनुषों का शरीर, और १००० (एक सहस्र) वर्ष का आयु।

२३. पार्श्वनाथ का ९ [नौ] हाथ का शरीर, और १०० (सौ) वर्ष का आयु।

२४. महावीर स्वामी का ७ [सात] हाथ का शरीर, और बहत्तर वर्षों का आयु।

[समीक्षक—]ये चौबीस तीर्थङ्कर जैनियों के मत चलानेवाले आचार्य और गुरु हैं। इन्हींको जैनी लोग परमेश्वर मानते हैं, और ये सब मोक्ष को गये हैं। इसमें बुद्धिमान् लोग विचार लेवें कि इतने बड़े शरीर, और इतना आयु मनुष्यदेह का होना कभी सम्भव है? इस भूगोल में बहुत ही थोड़े मनुष्य बस सकते हैं।

इन्हीं जैनियों के गपोड़े लेकर जो पुराणियों ने एक लाख, दश सहस्र, और एक सहस्र वर्ष का आयु लिखा, सो भी संभव नहीं हो सकता। तो जैनियों का कथन सम्भव कैसे हो सकता है?

अब और भी सुनो—

कल्पभाष्य, पृष्ठ ४—'नागकेत ने ग्राम की बराबर एक शिला अंगुली पर धरली!'

कल्पभाष्य, पृष्ठ ३५—'महावीर ने अंगूठे से पृथिवी को दबाई, उससे शेषनाग कम्प गया!'

कल्पभाष्य, पृष्ठ ४६—'महावीर को सर्प ने काटा, रुधिर के बदले दूध निकला, और वह सर्प ८वें स्वर्ग को गया!'

कल्पभाष्य, पृष्ठ ४७—'महावीर के पग पर खीर पकाई और पग न जले!'

कल्पभाष्य, पृष्ठ १६—'छोटे से पात्र में ऊंट बुलाया!'

रत्नसार, भाग १ प्रथम, पृष्ठ १४—'शरीर के मैल को न उतारे और न खुजलावे।'

विवेकसार, भाग १, पृष्ठ १५[1]—'जैनियों के एक दमसार साधु ने क्रोधित होकर उद्वेगजनक सूत्र पढ़कर एक शहर में आग लगा दी, और महावीर तीर्थङ्कर का अतिप्रिय था।'

---

१. सं ३४, ३५ में 'विवेकसार, पृष्ठ २१५' पाठ है।

विवेकसार, भाग १, पृष्ठ १२७[1]='राजा की आज्ञा अवश्य माननी चाहिये।'

विवेकसार. भा० १, पृष्ठ २२७[2]—'एक कोशा वेश्या ने थाली में सरसों की ढेरी लगा, उसके ऊपर फूलों से ढकी हुई सुई खड़ी कर, उस पर अच्छे प्रकार नाच किया, परन्तु सुई पग में गड़ने न पाई। और सरसों की ढेरी बिखरी नहीं!!!'

तत्त्वविवेक, पृष्ठ २२८—'इसी कोशा वेश्या के साथ एक स्थूलमुनि ने १२ वर्ष तक भोग किया, और पश्चात् दीक्षा लेकर सद्गति को गया। और कोशा वेश्या भी जैन धर्म को पालती हुई सद्गति को गई।'

विवेक०, भा० १, पृष्ठ १८५[3]—'एक सिद्ध की कन्था जो गले में पहिनी जाती है, वह ५०० अशर्फी एक वैश्य को नित्य देती रही।'

विवेक०, भा० १, पृष्ठ २२८[4]—'बलवान् पुरुष की आज्ञा, देव की आज्ञा, घोर वन में कष्ट से निर्वाह, गुरु के रोकने, माता-पिता कुलाचार्य ज्ञातीय लोग और धर्मोपदेष्टा[5] इन छः के रोकने से धर्म में न्यूनता होने से धर्म की हानि नहीं होती।'

समीक्षक—अब देखिये इनकी मिथ्या बातें—एक मनुष्य ग्राम के बराबर पाषाण की शिला को अंगुली पर कभी धर सकता है? ॥१॥[6]

और पृथिवी के ऊपर अंगूठे से दाबने से पृथिवी कभी दब सकती है? और जब शेषनाग ही नहीं, तो कम्पेगा कौन? ॥२॥

---

१. सं० ३४, ३५ में 'विवेक० पृष्ठ २२७' पाठ है।
२. सं० ३४, ३५ में 'विवेक० पृष्ठ २२७[-२२८]' पाठ है।
३. सं० ३४, ३५ में 'विवेक० पृष्ठ १६५' पाठ है।
४. सं० ३४, ३५ में 'विवेक० पृष्ठ २२८[-२२९]' पाठ है। इसकी समीक्षा नहीं की गई।
५. सं० २ मे इससे आगे 'के रोकने से' पाठ व्यर्थ है।
६. सं० २ में कहीं अन्त में संख्या दी है, कहीं नहीं दी। क्रमानुसार मुद्रित संख्या अशुद्ध भी है। यहां हमने संख्या शोधकर दी है। सं० ३४, ३५

भला शरीर[1] के काटने से दूध निकलना किसी ने नहीं देखा। सिवाय इन्द्रजाल के दूसरी बात नहीं। उसको काटनेवाला सर्प तो स्वर्ग में गया, और महात्मा श्रीकृष्ण आदि तीसरे नरक को गये, यह कितनी मिथ्या बात है? ॥३॥

जब महावीर के पग पर खीर पकाई, तब उसके पग जल क्यों न गये? ॥४॥

भला छोटे-से पात्र में कभी ऊंट आ सकता है? ॥५॥

जो शरीर का मैल नहीं उतारते, और न खुजलाते होंगे, वे दुर्गन्धरूप महानरक भोगते होंगे ॥६॥

जिस साधु ने नगर जलाया, उसकी दया और क्षमा कहां गई? जब महावीर के सङ्ग से भी उसका पवित्र आत्मा न हुआ, तो अब महावीर के मरे पीछे उसके आश्रय से जैन लोग कभी पवित्र न होंगे ॥७॥

राजा की आज्ञा माननी चाहिये, परन्तु जैन लोग बनिये हैं। इसलिये राजा से डरकर यह बात लिख दी होगी ॥८॥

कोशा वेश्या, चाहे उसका शरीर कितना ही हल्का हो, तो भी सरसों की ढेरी पर सुई खड़ी-कर उसके ऊपर नाचना, सुई का न छिदना और सरसों का न बिखरना, अतीव झूठ नहीं तो क्या है? ॥९॥

धर्म किसी को किसी अवस्था में भी न छोड़ना चाहिये, चाहे कुछ भी हो जाय ॥१०॥

भला कन्था वस्त्र का होता है, वह नित्यप्रति ५०० अशर्फी किस प्रकार दे सकता है? ॥११॥[2]

अब ऐसी-ऐसी असम्भव कहानी इनकी लिखें, तो जैनियों के

में ३, ४ संख्या इकट्ठी देकर पाठ भ्रष्ट किया है।

१. यहां समीक्ष्य पाठानुसार 'सर्प' पद होना चाहिये।

२. अन्तिम उद्धरण की समीक्षा नहीं मिलती है।

थोथे पोथों के सदृश बहुत बढ़ जाय। इसलिये अधिक नहीं लिखते। अर्थात् थोड़ी-सी इन जैनियों की बातें छोड़के, शेष सब मिथ्या जाल भरा है। देखिये—

दो ससि दो रवि पढमे। दुगुणा लवणंमि धायई संडे।
बारस ससि बारस रवि। तप्पमि इं निदिठ ससि रविणो॥
[1][तिगुणा पुब्बिलजया। अणन्तराणंतरं मिखित्तमि।
कालो ए बयाला। बिसत्तरी पुस्कर द्धंम्मि॥]

प्रक०, भा० ४, संग्रहणीसूत्र ७७[-७८]।

जो जम्बूद्वीप लाख योजन अर्थात् ४ (चार)[2] लाख कोश का लिखा है, उनमें यह पहिला द्वीप कहाता है। इसमें दो चन्द्र और दो सूर्य हैं। और वैसे ही लवण समुद्र में उससे दुगुणे अर्थात् ४ चन्द्रमा और ४ सूर्य हैं। तथा धातकी खण्ड में बारह चन्द्रमा और बारह सूर्य हैं। और इनको तिगुणा करने से छत्तीस होते हैं। उनके साथ दो जम्बूद्वीप के और चार लवण समुद्र के मिलकर ब्यालीस चन्द्रमा और ब्यालीस सूर्य कालोदधि समुद्र में हैं।

इसी प्रकार अगले-अगले द्वीप और समुद्रों में पूर्वोक्त ब्यालीस को तिगुणा करें,तो १२६ (एक सौ छब्बीस) होते हैं। उनमें धातकी खण्ड के १२ (बारह),लवण समुद्र के ४ (चार) और जम्बूद्वीप के जो-जो दो, इसी रीति से निकालकर १४४ (एक सौ चवालीस) चन्द्र और १४४ सूर्य पुष्करद्वीप में हैं।

यह भी आधे मनुष्यक्षेत्र की गणना है। परन्तु जहां तक मनुष्य नहीं रहते हैं, वहां बहुत से सूर्य और बहुत से चन्द्र हैं। और जो पिछले अर्ध पुष्करद्वीप में बहुत चन्द्र और सूर्य हैं, वे स्थिर हैं।

पूर्वोक्त एक सौ चवालीस को तिगुणा करने से ४३२, और उनमें

---

१. कोष्ठान्तर्गत पाठ वै० यं० मुद्रित सं० ३४, ३५ में बढ़ाया है। इसका भाषार्थ विद्यमान है।

२. एक लाख योजन = ४ लाख योजन सामान्य अर्थ के अनुसार है। जैनियों का योजन दश सहस्र कोश का होता है। द्र०—पूर्व पृष्ठ ६५२।

पूर्वोक्त जम्बूद्वीप के दो चन्द्रमा दो सूर्य, चार-चार लवण समुद्र के, और बारह-बारह धातकी खण्ड के, और ब्यालीस कालोदधि के मिलाने से ४९२ चन्द्र तथा ४९२ सूर्य पुष्कर समुद्र में हैं।

ये सब बातें श्रीजिनभद्रगणीक्षमा श्रमण ने बड़ी 'संघयणी' में, तथा 'योतीसकरण्डक पयन्ना' मध्ये, और 'चन्द्रपन्नति' तथा 'सूरपन्नति' प्रमुख सिद्धान्त-ग्रन्थों में इसी प्रकार कहा है।

समीक्षक—अब सुनिये, भूगोल खगोल के जाननेवालो ! इस एक भूगोल में एक प्रकार ४९२ (चार सौ बानवे), और दूसरी प्रकार असंख्य चन्द्र और सूर्य जैनी लोग मानते हैं। आप लोगों का बड़ा भाग्य है कि वेदमतानुयायी 'सूर्यसिद्धान्तादि' ज्योतिष ग्रन्थों के अध्ययन से ठीक-ठीक भूगोल-खगोल विदित हुए। जो कहीं जैन के महा अन्धेर [मत][1] में होते, तो जन्मभर अन्धेर में रहते। जैसे कि जैनी लोग आजकल हैं।

इन अविद्वानों को यह शङ्का हुई कि जम्बूद्वीप में एक सूर्य और एक चन्द्र से काम नहीं चलता। क्योंकि इतनी बड़ी पृथिवियों को तीस घड़ी में चन्द्र सूर्य कैसे आ सकें ? क्योंकि पृथिवी को ये[2] लोग सूर्यादि से भी बड़ी मानते हैं, यही इनकी बड़ी भूल है।

दो ससि दो रवि पंती एगंतरिया छसठि संखाया।
मेरुं पयाहिणंता माणुसखित्ते परिअडंति ॥

प्रकरण०, भा० ४, संग्रहणीसूत्र ७९ ॥

[3][सं० अर्थ—] मनुष्यलोक में चन्द्रमा और सूर्य की पंक्ति की संख्या कहते हैं। दो चन्द्रमा और दो सूर्य की पंक्ति (=श्रेणी) है। वे एक-एक लाख योजन अर्थात् चार लाख[4] कोश के आंतरे से चलते हैं।

---

१. सं० २ में नहीं है। सं० ३४, ३५ में विना कोष्ठ के छापा है।
२. सं० २ में 'जो' पाठ है। सं० ३४, ३५ में 'ये' पाठ छापा है।
३. यह पाठ 'प्रकरण रत्नाकर, भाग ४, पृष्ठ ६७' पर पठित गाथा के गुजराती अर्थ का भाषान्तर है। स्वामी वेदानन्द
४. द्र०—पूर्व पृष्ठ ७१०, टि० २।

जैसे सूर्य की पंक्ति के आंतरे एक पंक्ति चन्द्र की है, इसीप्रकार चन्द्रमा की पंक्ति के आंतरे सूर्य की पंक्ति हैं। इसी रीति से चार पंक्ति हैं। वे एक-एक चन्द्रपंक्ति में ६६ चन्द्रमा, और एक-एक सूर्य-पंक्ति में ६६ सूर्य हैं।

वे चारों पंक्ति जम्बूद्वीप के मेरुपर्वत की प्रदक्षिणा करती हुई मनुष्यक्षेत्र में परिभ्रमण करती हैं, अर्थात् जिस समय जम्बूद्वीप के मेरु से एक सूर्य दक्षिण दिशा में विहरता, उस समय दूसरा सूर्य उत्तर दिशा में फिरता है। वैसे ही लवणसमुद्र की एक-एक दिशा में दो-दो चलते-फिरते, धातकीखण्ड के ६, कालोदधि के २१, पुष्करार्द्ध के ३६, इस प्रकार सब मिलकर ६६ सूर्य दक्षिण दिशा, और ६६ सूर्य उत्तर दिशा में अपने-अपने क्रम से फिरते हैं।

और जब इन दोनों दिशा के सब सूर्य मिलाये जायें, तो १३२ सूर्य, और ऐसे ही छासठ-छासठ[1] चन्द्रमा की दोनों दिशाओं की पंक्तियां मिलाई जायें, तो १३२ चन्द्रमा मनुष्यलोक में चाल चलते हैं। इसी प्रकार चन्द्रमा के साथ नक्षत्रादि की भी पंक्तियां बहुत-सी जाननी।

समीक्षक—अब देखो भाई! इस भूगोल में १३२ सूर्य और १३२ चन्द्रमा जैनियों के घर पर तपते होंगे? भला जो तपते होंगे, तो वे जीते कैसे हैं? और रात्रि में भी शीत के मारे जैनी लोग जकड़ जाते होंगे?

ऐसी असम्भव बात में भूगोल-खगोल के न जाननेवाले फसते हैं, अन्य नहीं। जब एक सूर्य इस भूगोल के सदृश अन्य अनेक भूगोलों को प्रकाशता है, तब इस छोटे से भूगोल की क्या कथा कहनी?

और जो पृथिवी न घूमे, और सूर्य पृथिवी के चारों ओर घूमे[2], तो कई[3] एक वर्षों का दिन और रात होवे। और सुमेरु विना हिमा-

१. सं० २ में 'बासठ २' अपपाठ है। १३२ का आधा ६६ होता है।
२. सं० २ में 'न घूमे' अपपाठ है।
३. सं० २ में 'कै एक' पाठ है।

लय के दूसरा कोई नहीं। यह सूर्य के सामने ऐसा है कि जैसे घड़े के सामने राई का दाना भी नहीं। इन बातों को जैनी लोग जबतक उसी मत में रहेंगे, तबतक नहीं जान सकते। किन्तु सदा अन्धेर में रहेंगे।

समत्तचरण सहिया सव्वं लोगं फुसे निरवसेसं।
सत्तय चउदसभाए पंचय सुयदेसविरईए॥

प्रकरण०, भा० ४, संग्रहणी सूत्र १३५॥

[सं० अर्थ—] सम्यक्चारित्र सहित जो केवली, वे केवल समुद्घात अवस्था से सर्व चौदह राज्यलोक अपने आत्मप्रदेश करके फिरेंगे।

समीक्षक—जैनी लोग १४ चौदह राज्य मानते हैं। उनमें से चौदहवें की शिखा पर सर्वार्थसिद्धि विमान की ध्वजा से ऊपर थोड़े दूर पर सिद्धशिला तथा दिव्य आकाश को 'शिवपुर' कहते हैं। उसमें केवली अर्थात् जिनको केवल ज्ञान सर्वज्ञता और पूर्ण पवित्रता प्राप्त हुई है, वे उस लोक में जाते हैं। और अपने आत्मप्रदेश से सर्वज्ञ रहते हैं।

जिसका प्रदेश होता है, वह विभू नहीं। जो विभू नहीं, वह सर्वज्ञ केवलज्ञानी कभी नहीं हो सकता। क्योंकि जिसका आत्मा एकदेशी है, वही जाता-आता, और बद्ध-मुक्त ज्ञानी-अज्ञानी होता है। सर्वव्यापी सर्वज्ञ वैसा कभी नहीं हो सकता।

जो जैनियों के तीर्थङ्कर जीवरूप अल्प-अल्पज्ञ होकर स्थित थे, वे सर्वव्यापक सर्वज्ञ कभी नहीं हो सकते। किन्तु जो परमात्मा अनाद्यनन्त सर्वव्यापक सर्वज्ञ पवित्र ज्ञानस्वरूप है, उसको जैनी लोग मानते नहीं, कि जिसमें सर्वज्ञादि गुण याथातथ्य घटते हैं।

गब्भनर तिपलियाऊ। तिगाउ उक्कोस ते जहन्नेणं।
मुच्छिम दुहावि अन्तमुहु। अंगुल असंख भागतणू॥२४१॥[1]

---

१. प्रकरणरत्नाकर, भाग ४, संग्रहणी सूत्र २४१॥

[सं०] अर्थ[1]—यहां मनुष्य दो प्रकार के हैं—एक गर्भज, दूसरे जो गर्भ के विना उत्पन्न हुए। उनमें गर्भज मनुष्य का उत्कृष्ट तीन पल्योपम का आयु जानना, और तीन कोश का शरीर।

समीक्षक—भला तीन पल्योपम का आयु, और तीन कोश के शरीरवाले मनुष्य इस भूगोल में बहुत थोड़े समा सकें। और फिर तीन पल्योपम की आयु, जैसाकि पूर्व लिख आये हैं[2], उतने समय तक जीवें, तो वैसे ही उनके सन्तान भी तीन कोश के शरीरवाले होने चाहियें। [इन] जैसे मुम्बई से शहर में दो, और कलकत्ता ऐसे शहर में तीन वा चार मनुष्य निवास कर सकते हैं।

जो ऐसा है, तो जैनियों ने एक नगर में लाखों मनुष्य लिखे हैं, तो उनके रहने का नगर भी लाखों कोशों का चाहिये। तो सब भूगोल में वैसा एक नगर भी न बस सके।

पणयाल लरकजोयण। विरकंभा सिद्धिसिल फलिह विमला।
तदुवरि गजोयणंते लोगंतो तच्छ सिद्धठिई ॥२५८॥[3]

[सं० अर्थ—] जो सर्वार्थसिद्धि विमान की ध्वजा से ऊपर १२ योजन सिद्धशिला है, वह बाटला और लंबेपन[4] और पोलपन में ४५ (पैंतालीस) लाख योजन प्रमाण है। वह सब धवला अर्जुन सुवर्ण मय स्फटिक के समान निर्मल सिद्धशिला की सिद्धभूमि है। इसको कोई 'ईषत्' 'प्राग्भरा' ऐसा नाम कहते हैं। यह सर्वार्थ सिद्धशिला विमान से १२ योजन अलोक भी है। यह परमार्थ केवली [बहु]श्रुत जानता है।

यह सिद्धशिला सर्वार्थ मध्यभाग में ८ (आठ) योजन स्थूल है। वहां से ४ दिशा और ४ उपदिशा में घटती-घटती मक्खी के पांख के सदृश पतली, उत्तानछत्र और आकार करके सिद्धशिला की स्थापना

---

१. यह पद स० २ में है, सं० ३४, ३५ में नहीं है।
२. पल्योपम काल का गणना देखिये पृष्ठ ६५०-६५१ पर।
३. प्रकरण रत्नाकर, भाग ४, संग्रहणीसूत्र २५८॥
४. सं० २ में 'लंबाबेपन' पाठ है।

है। उस शिला से ऊपर १ (एक) योजन के आंतरे लोकान्त है। वहां सिद्धों की स्थिति है।[1]

समीक्षक—अब विचारना चाहिये कि जैनियों के मुक्ति का स्थान सर्वार्थसिद्धि विमान की ध्वजा के ऊपर ४५ (पैंतालीस) लाख योजन की शिला अर्थात् चाहें ऐसी[2] अच्छी और निर्मल हो, तथापि उसमें रहनेवाले मुक्त जीव एक प्रकार के बद्ध हैं। क्योंकि उस शिला से बाहर निकलने में मुक्ति के सुख से छूट जाते होंगे।[3] और जो भीतर रहते होंगे, तो उनको वायु भी न लगता होगा। यह केवल कल्पनामात्र अविद्वानों को फसाने के लिये भ्रमजाल है।

[जोयण सहस्स महियं । एगिंदियदेह मुक्कोसं ॥]
विति चउरिंदिस सरीयं । बारस जोयणं तिकोस चउकोसं ।
जोयण सहसपणिं दिय । उहे वुच्छंत विसेसंतु ॥

प्रकरण०, भा० ४, संग्रहणीसूत्र [२६६-]२६७ ॥

[सं० अर्थ—] सामान्यपन से एकेन्द्रिय का शरीर १ सहस्र योजन के शरीरवाला उत्कृष्ट जानना। और दो इन्द्रियवाले जो शङ्खादि [उन]का शरीर १२ योजन का जानना। वैसे[4] ही कीड़ी मकोड़ादि [तीन इन्द्रियवालों] का शरीर ३ कोश का जानना।[4] और चतुरिन्द्रिय भ्रमरादि का शरीर ४ कोश का, और पंचेन्द्रिय [का] एकसहस्र योजन अर्थात् चार[5] सहस्र कोश के शरीरवाले जानना।

समीक्षक—चार-चार सहस्र कोश के प्रमाणवाले शरीरवाले हों, तो भूगोल में तो बहुत थोड़े मनुष्य अर्थात् सैकड़ों मनुष्यों से भूगोल [ठसा]ठस भर जाय। किसी को चलने की जगह भी न

---

१. यह गुजराती व्याख्यान का सक्षेप है। स्वामी वेदानन्द

२. 'कैसी' पाठ चाहिये।

३. 'और जो भीतर रहते होंगे' यह वाक्य सं० २ में नहीं है। सं० ३४, ३५ में छपा है।

४. यह वाक्य सं० ३४, ३५ में इसी रूप में छपा है। सं० २ से ३२ में नहीं है।

५. द्र०—पृष्ठ ७१०, टि० २।

रहै। फिर वे जैनियों से रहने का ठिकाना और मार्ग पूछें। और जो इन्होंने लिखा है, तो अपने घर में रख लें।

परन्तु चार सहस्र कोश के शरीरवाले को निवासार्थ कोई एक के लिये ३२ (बत्तीस) सहस्र कोश का घर तो चाहिये। ऐसे एक घर के बनाने में जैनियों का सब धन चुक जाय, तो भी घर न बन सके। इतने बड़े आठ सहस्र कोश की छत्त बनाने के लिये लट्ठे कहां से लावेंगे? और जो उसमें खम्बा लगावें, तो वह भीतर प्रवेश भी नहीं कर सकता। इसलिये ऐसी बातें मिथ्या हुआ करती हैं।

ते थूला पल्ले विहु संखिज्जाचे बहुंति सव्वेवि।
ते इक्किक्क असंखे। सुहुमे खम्मे पकप्पेह॥

प्रकरण०, भा० ४, लघुक्षेत्रसमासप्रकरण, सू० ४॥

[सं० अर्थ—] पूर्वोक्त[1] एक अंगुल लोम के खण्डों से चार कोश का चौरस और उतना ही गहिरा कुंआ हो। अंगुल प्रमाण लोम का खण्ड सब मिलके बीस लाख सत्तावन सहस्र एक सौ बावन होते हैं।

और अधिक से अधिक ३३०७६२१०४' २४६५६२५' ४२१९९६०' ९७५३६००'००००००० तेतीस क्रोड़ाक्रोड़ी[2] सात लाख बासठ हजार एकसौ चार क्रोड़ाक्रोड़ी', चौबीस लाख पैंसठ हजार छ:सौ पच्चीस इतने क्रोड़ाक्रोड़ी,' तथा बयालीस लाख उन्नीस हजार नौ सौ साठ इतनी क्रोड़ाक्रोड़ी,' तथा सत्तानवे लाख त्रेपन हजार और छ: सौ क्रोड़ाक्रोड़ी, इतनी बाटला घन योजन पल्योपम में सर्व स्थूल रोम खण्ड की संख्या होवे।

यह भी संख्यातकाल होता है। पूर्वोक्त एक लोम खण्ड के असंख्यात खण्ड मन से कल्पे, तब असंख्यात सूक्ष्म रोमाणु होवें।

---

१. द्र०—पृष्ठ ६५१।

२. 'ह० प्रेस कापी में 'क्रोड़ लिखकर मिटाया हुआ है, और हाशिये पर उसके स्थान में क्रोड़ाक्रोड़ी किया हुआ है। और ३३० के आगे स्वल्प विराम भी नहीं है। अत: यहां क्रोड़ पाठ ही उचित प्रतीत होता है'। (यह टिप्पण वैदिक यन्त्रालय के संस्करण के सम्पादक का है) भ० द०। यह ३२ वें संस्करण में टिप्पणी है। इसके संशोधक पं० भद्रसेन थे। यु० मी०

समीक्षक—अब देखिये, इनकी गिनती की रीति। एक अंगुल प्रमाण लोम के कितने खण्ड किये। यह कभी किसी की गिनती में आ सकते हैं? और उसके उपरान्त मन से असंख्य खण्ड कल्पते हैं। इससे यह भी सिद्ध होता है कि पूर्वोक्त खण्ड हाथ से किये होंगे। जब हाथ से न हो सके, तब मन से किये। भला यह बात कभी सम्भव हो सकती है कि एक अंगुल रोम के असंख्य खण्ड हो सकें?

जम्बूद्वीपपमाण गुलजोयणलरक वट्टविरकंभो।
लवणाई यासेसा। बलयाभा दुगुण दुगुणाय॥

प्रकरण०, भा० ४, लघुक्षेत्रसमा०, सू० १२॥

[सं० अर्थ—]प्रथम जम्बूद्वीप का लाख योजन का प्रमाण और पोला है, और बाकी लवणादि सात समुद्र, सात द्वीप जम्बूद्वीप के प्रमाण से दुगुणे-दुगुणे हैं। इस एक पृथिवी में जम्बूद्वीपादि सात द्वीप और सात समुद्र हैं, जैसेकि पूर्व लिख आये हैं[1]।

समीक्षक—अब जम्बूद्वीप से दूसरा द्वीप दो लाख योजन, तीसरा चार लाख योजन, चौथा आठ लाख योजन, पांचवां सोलह लाख योजन, छःठा बत्तीस लाख योजन, और सातवां चौंसठ लाख योजन और उतने प्रमाण वा उनसे अधिक समुद्र के प्रमाण से इस पन्द्रह सहस्र [कोश] परिधिवाले[2] भूगोल में क्यों कर समा सकते हैं? इससे यह बात केवल मिथ्या है।

कुरु नइ चुलसी सहसा। छच्चेवन्तरनईउ पइ विजयं।
दोदो महा नईउ। चउदस सहसाउ पत्तेयं॥

प्रकरणरत्ना०, भा० ४, लघुक्षेत्रसमा०, सू० ६३॥

[सं० अर्थ—]कुरुक्षेत्र में ८४ (चौरासी) सहस्र नदी हैं।[3]

[समीक्षक—]भला कुरुक्षेत्र बहुत छोटा देश है। उसको न देखकर एक मिथ्या बात लिखने में इनको लज्जा भी न आई।

---

१. द्र०—पृष्ठ ६५४।
२. आधुनिकों के मतानुसार पृथिवी की परिधि २४९०० मील है।
३. यह अर्थ और समीक्षा उक्तवचन के प्रथम भाग मात्र का है।

जामुत्तराउ ताउ। इगेग सिंहासणाउ अइपुब्बं।
चउसुवि तासु नियासण,दिसि भवजिण मज्जणं होई ॥

प्रकरणरत्नाकर, भा० ४, लघुक्षेत्रसमा०, सू०११९॥

[**सं० अर्थ**—]उस शिला के विशेष दक्षिण और उत्तर दिशा में एक-एक सिंहासन जानना चाहिये। उन शिलाओं के नाम दक्षिण दिशा में अतिपाण्डु कम्बला, उत्तर दिशा में अतिरक्त कम्बला शिला हैं। उन सिंहासनों पर तीर्थङ्कर बैठते हैं।

समीक्षक—देखिये, इनके तीथङ्करों के जन्मोत्सवादि करने की शिला को। ऐसो ही मुक्ति की सिद्धशिला है। ऐसी इनकी बहुतसी बातें गोलमाल हैं, कहां तक लिखें ? किन्तु जल छान के पीना, और सूक्ष्म जीवों पर नाममात्र दया करना, रात्रि को भोजन न करना ये तीन बातें अच्छी हैं। बाकी जितना इनका कथन है, सब असम्भव-ग्रस्त है।

इतने ही लेख से बुद्धिमान् लोग बहुत सा जान लेंगे। थोड़ा सा यह दृष्टान्तमात्र लिखा है। जो इनकी असम्भव बातें सब लिखें तो इतने पुस्तक हो जायें कि एक पुरुष आयुभर में पढ़ भी न सके।

इसलिये [जैसे] एक हण्डे में चुड़ते[1] चावलों में से एक चावल की परीक्षा करने से कच्चे वा पक्के हैं, सब चावल विदित हो जाते हैं, ऐसे ही इस थोड़े से लेख से सज्जन लोग बहुत-सी बातें समझ लेंगे। बुद्धिमानों के सामने बहुत लिखना आवश्यक नहीं। क्योंकि दिग्दर्शनवत् सम्पूर्ण आशय को बुद्धिमान् लोग जान ही लेते हैं।

इसके आगे ईसाइयों के मत के विषय में लिखा जायगा।

इति श्रीमद्दयानन्दसरस्वतीस्वामिनिर्मिते सत्यार्थप्रकाशे सुभाषाविभूषिते नास्तिकमतान्तर्गतचार्वाक-बौद्धजैनमतखण्डनमण्डनविषये द्वादशः समुल्लासः सम्पूर्णः ॥१२॥

---

१. चुड़ते अर्थात् पकते।

अनुभूमिका (३)

जो यह बाइबल का मत है, वह केवल ईसाइयों का है सो नहीं, किन्तु इससे यहूदी आदि भी गृहीत होते हैं।[1] जो यहां १३ (तेरहवें) समुल्लास में ईसाईमत के विषय में लिखा है, इसका यही अभिप्राय है कि आजकल बाइबल के मत में[2] ईसाई मुख्य हो रहे हैं, और यहूदी आदि गौण हैं। मुख्य के ग्रहण से गौण का ग्रहण हो जाता है। इससे यहूदियों का भी ग्रहण समझ लीजिये।

इनका जो विषय यहां लिखा है, सो केवल बाइबल में से, कि जिसको ईसाई और यहूदी आदि सब मानते हैं। और इसी पुस्तक को अपने धर्म का मूल कारण समझते हैं। इस पुस्तक के भाषान्तर बहुत से हुए हैं, जो कि इनके मत में बड़े-बड़े पादरी हैं, उन्होंने किये हैं। उनमें से देवनागरी वा संस्कृत[3] भाषान्तर देखकर मुझको बाइबल में बहुत-सी शंका हुई हैं। उनमें से कुछ थोड़ीसी इस १३ वें (तेरहवें) समुल्लास में सबके विचारार्थ लिखी हैं।

यह लेख केवल सत्य को वृद्धि और असत्य के ह्रास होने के लिये है, न कि किसी को दुःख देने वा हानि करने, अथवा मिथ्या दोष लगाने के अर्थ हो। इसका अभिप्राय उत्तर लेख में सब कोई समझ लेंगे कि यह पुस्तक कैसा है, और इनका मत भी कैसा है?

इस लेख से यही प्रयोजन है कि सब मनुष्यमात्र को देखना सुनना लिखना आदि करना सहज होगा। और पक्षी-प्रतिपक्षी होके विचार कर ईसाईमत का आन्दोलन सब कोई कर सकेंगे।

---

१ बाइबल के दो भाग हैं—पुराना नियम (पुराना धर्मशास्त्र) और नया नियम (नया धर्मशास्त्र)। यहूदी पुराने नियमों को ही मानते हैं।

२ सं० २, ३, ४, २४, ३५ में 'मे' शुद्ध पाठ है। सं० ५ में 'के' बनाया।

३. नीलकण्ठ शास्त्री ने ईसाई मत ग्रहण करके बाइबल का संस्कृत भाषान्तर किया था।

इससे एक यह प्रयोजन सिद्ध होगा कि मनुष्यों को धर्मविषयक ज्ञान बढ़कर यथायोग्य सत्याऽसत्य मत और कर्त्तव्याऽकर्त्तव्य कर्म-सम्बन्धी विषय विदित होकर सत्य और कर्त्तव्यकर्म का स्वीकार, असत्य और अकर्त्तव्यकर्म का परित्याग करना सहजता से हो सकेगा।

सब मनुष्यों को उचित है कि सबके मतविषयक पुस्तकों को देख समझकर कुछ सम्मति वा असम्मति देवें वा लिखें, नहीं तो सुना करें। क्योंकि जैसे पढ़ने से पण्डित होता है, वैसे सुनने से बहुश्रुत होता है। यदि श्रोता दूसरे को नहीं समझा सके, तथापि आप स्वयं तो समझ ही जाता है। जो कोई पक्षपातरूप यानारूढ़ होके देखते हैं, उनको न अपने और न पराये गुण-दोष विदित हो सकते हैं।

मनुष्य का आत्मा यथायोग्य सत्यासत्य के निर्णय करने का सामर्थ्य रखता है। जितना अपना पठित वा श्रुत है, उतना निश्चय कर सकता है। यदि एक मत वाले दूसरे मत वाले के विषयों को जानें। और अन्य [मत वाले के विषय को] न जानें, तो यथावत् संवाद नहीं हो सकता। किन्तु अज्ञानी [होने से] किसी भ्रमरूप बाड़े में घिर[1] जाते हैं।

ऐसा न हो, इसलिये इस ग्रन्थ में प्रचरित सब मतों का विषय थोड़ा-थोड़ा लिखा है। इतने ही से शेष-विषयों में अनुमान कर सकता है, कि वे सच्चे हैं, वा झूंठे ?

जो-जो सर्वमान्य सत्य विषय हैं, वे तो सबमें एक से हैं। झगड़ा झूठे विषयों में होता है। अथवा एक सच्चा और दूसरा झूठा हो, तो भी कुछ थोड़ा-सा विवाद चलता है। यदि वादी-प्रतिवादी सत्यासत्य-निश्चय के लिये वाद-प्रतिवाद करें, तो अवश्य निश्चय हो जाय।

अब मैं इस १३ वें समुल्लास में ईसाईमत-विषयक थोड़ा-सा लिखकर सबके सम्मुख स्थापित करता हूं। विचारिये कि कैसा है ?

अलमतिलेखेन विचक्षणवरेषु ।

---

१. सं० २ में 'गिर' पाठ है।

अथ त्रयोदशसमुल्लासारम्भः

अथ कृश्चीनमतविषयं व्याख्यास्यामः[1]

अब इसके आगे ईसाइयों के मत-विषय में लिखते हैं। जिससे सबको विदित हो जाय कि इनका मत निर्दोष और इनकी बाइबल पुस्तक ईश्वरकृत है वा नहीं ? प्रथम बाइबल के तौरेत का विषय लिखा जाता है—

१—आरम्भ में ईश्वर ने आकाश और पृथिवी को सृजा ॥ और पृथिवी बेडौल[2] और सूनी थी, और गहिराव पर अंधियारा था। और ईश्वर का आत्मा जल के ऊपर डोलता था ॥ [तौरेत उत्पत्ति पुस्तक[3]] पर्व १। आयत १, २ ॥

समीक्षक—आरम्भ किसको कहते हो ?

ईसाई—सृष्टि के प्रथमोत्पत्ति को।

समीक्षक—क्या यही सृष्टि प्रथम हुई ? इसके पूर्व कभी नहीं हुई थी ?

ईसाई—हम नहीं जानते, हुई थी वा नहीं, ईश्वर जाने।

समीक्षक—जब नहीं जानते, तो इस पुस्तक पर विश्वास क्यों किया ? क्योंकि[4] जिससे सन्देह का निवारण नहीं हो सकता। और इसीके भरोसे लोगों को उपदेश कर इस सन्देह के भरे हुए मत में

---

१. सं० ३ से ३३ तक 'समीक्षिष्यामः' परिवर्तित पाठ मिलता है।

२. बाइबल के उत्तरवर्ती हिन्दी अनुवादों में बहुत सुधार किया गया है। यथा 'बेडौल' के स्थान पर 'सुनसान' पाठ मिलता है, 'और पृथिवी सूनी और सुनसान पड़ी थी।' द्र०—सन् १९१२ में मिशन प्रेस इलाहाबाद में छपा संस्करण। ऐसे ही अन्यत्र भी बहुत पाठ बदला गया है।

३. यहां स्थान-निर्देश में कहीं पूरा पता दिया है, कहीं अधूरा। एकरूपता और सुगमता के लिये जहां पूरा निर्देश नहीं है, वहां कोष्ठक में पूर्ति की है।

४. सं० ५ से ३५ तक 'क्योंकि' के स्थान पर 'कि' मात्र पाठ है।

क्यों फसाते हो ? और निःसन्देह सर्वशंकानिवारक वेदमत का स्वीकार क्यों नहीं करते ? जब तुम ईश्वर की सृष्टि का हाल नहीं जानते, तो ईश्वर को कैसे जानते होगे ?

आकाश किसको मानते हो ?

ईसाई—पोल और ऊपर को।

समीक्षक—पोल की उत्पत्ति किस प्रकार हुई ? क्योंकि यह विभु पदार्थ और अति सूक्ष्म है, और ऊपर-नीचे एक-सा है। जब आकाश नहीं सृजा था, तब पोल और अवकाश था वा नहीं ? जो नहीं था, तो ईश्वर जगत् का कारण और जीव कहां रहते थे ? विना अवकाश[1] के कोई पदार्थ स्थित नहीं हो सकता। इसलिये तुम्हारी बाइबल का कथन युक्त नहीं।

ईश्वर बेडौल, उसका ज्ञान कर्म बेडौल होता है, वा सब डौलवाला ?

ईसाई—डौलवाला होता है।

समीक्षक—तो यहां ईश्वर की बनाई पृथिवी बेडौल थी, ऐसा क्यों लिखा ?

ईसाई—बेडौल का अर्थ यह है कि ऊंची-नीची थी, बराबर नहीं थी।

समीक्षक—फिर बराबर किसने की ? और क्या अब भी ऊंची-नीची नहीं है ? इसलिये ईश्वर का काम बेडौल नहीं हो सकता, क्योंकि वह सर्वज्ञ है। उसके काम में न भूल, न चूक कभी हो सकती है। और बाइबल में ईश्वर की सृष्टि बेडौल लिखी, इसलिये यह पुस्तक ईश्वरकृत नहीं हो सकता।

प्रथम[2] ईश्वर का आत्मा क्या पदार्थ है ?

---

१. अवकाश=आकाश। सं० २ से १, तक 'अवकाश' पाठ है। स० १५ वा १६ में 'आकाश' पाठ बनाया गया। स० ३४, ३५ में पुनः 'अवकाश' पाठ किया गया।

२. यहां 'प्रथम' पद अनन्वित सा है। सभव है 'प्रश्न' का अपभ्रंश 'प्रथम' बन गया हो।

ईसाई—चेतन।

समीक्षक—वह साकार है वा निराकार? तथा व्यापक है वा एकदेशी?

ईसाई—निराकार चेतन और व्यापक है। परन्तु किसी एक 'सनाई' पर्वत, चौथा 'आसमान' आदि स्थानों में विशेष करके रहता है।

समीक्षक—जो निराकार है, तो उसको किसने देखा? और व्यापक का जल पर डोलना कभी नहीं हो सकता।[1] भला जब ईश्वर का आत्मा जल पर डोलता था, तब ईश्वर कहां था? इससे यही सिद्ध होता है कि ईश्वर का शरीर कहीं अन्यत्र स्थित होगा। अथवा अपने कुछ आत्मा के एक टुकड़े को जल पर डुलाया होगा। जो ऐसा है, तो विभु और सर्वज्ञ कभी नहीं हो सकता।

जो विभु नहीं, तो जगत् की रचना धारण पालन और जीवों के कर्मों की व्यवस्था वा प्रलय कभी नहीं कर सकता। क्योंकि जिस पदार्थ का स्वरूप एकदेशी है, उसके गुण कर्म स्वभाव भी एकदेशी होते हैं। जो ऐसा है तो वह ईश्वर नहीं हो सकता। क्योंकि ईश्वर सर्वव्यापक, अनन्तगुण-कर्म-स्वभावयुक्त, सच्चिदानन्दस्वरूप, नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्तस्वभाव, अनादि-अनन्तादि लक्षणयुक्त वेदों में कहा है। उसीको मानो, तभी तुम्हारा कल्याण होगा, अन्यथा नहीं ॥१॥

२—और ईश्वर ने कहा कि उजियाला[2] होवे, और उजियाला हो गया॥ और ईश्वर ने उजियाले को देखा कि अच्छा है॥

[तौरेत उत्पत्ति०] पर्व १। आ० ३,४॥

---

१. मूसा मिश्रदेश से निकाला गया। मिश्र देश में पहले वेद का प्रचार था। मिश्र के विद्वान् वैदिक ज्ञान के अनुसार जानते थे कि हिरण्यगर्भ अथवा महदण्ड आपः में सरकता (=गति करता) था। शतपथ ब्राह्मण ११।१।६।१,२ में यही सत्य लिखा है कि आपः में हिरण्याण्ड परिप्लवन करता था। इस गूढ़ वैज्ञानिक तथ्य को न समझकर अज्ञानवश बाइबल में हिरण्याण्ड को ईश्वर मानकर संसार को अज्ञान में धकेला है। मूल वैदिक विचार का बाइबल में बहुधा विकृत रूप दीखता है। भ० द०

२. सं० २ में सर्वत्र 'उंजियाला' पाठ है।

समीक्षक—क्या ईश्वर की बात जड़रूप उजियाले ने सुन ली? जो सुनी हो तो इस समय भी सूर्य्य दीप और[1] अग्नि का प्रकाश हमारी तुम्हारी बात क्यों नहीं सुनता? प्रकाश जड़ होता है, वह कभी किसी की बात नहीं सुन सकता।

क्या जब ईश्वर ने उजियाले को देखा, तभी जाना कि उजियाला अच्छा है? पहिले नहीं जानता था? जो जानता होता, तो देखकर अच्छा क्यों कहता? जो नहीं जानता था, तो वह ईश्वर ही नहीं। इसीलिये[2] तुम्हारी बाइबल ईश्वरोक्त और उसमें कहा हुआ ईश्वर सर्वज्ञ नहीं है॥२॥

३—और ईश्वर ने कहा कि पानियों के मध्य में आकाश होवे। और पानियों को पानियों से विभाग करे॥ तब ईश्वर ने आकाश को बनाया। और आकाश के नीचे के पानियों को आकाश के ऊपर के पानियों से विभाग किया। और ऐसा हो गया॥ और ईश्वर ने आकाश को स्वर्ग कहा। और सांझ और बिहान दूसरा दिन हुआ॥

[तौरेत उत्पत्ति०] पर्व १। आ० ६-८॥

समीक्षक—क्या आकाश और जल ने भी ईश्वर की बात सुन ली? और जो जल के बीच में आकाश न होता, तो जल रहता ही कहां? प्रथम आयत में आकाश का सृजा था, पुनः आकाश का बनाना व्यर्थ हुआ।

जो आकाश को स्वर्ग कहा, तो वह सर्वव्यापक है, इसलिये सर्वत्र स्वर्ग हुआ। फिर ऊपर को स्वर्ग है, यह कहना व्यर्थ है। जब सूर्य्य उत्पन्न ही नहीं हुआ था, तो पुनः दिन और रात कहां से हो गई? ऐसी ही असम्भव बातें आगे की आयतों में भरी है॥३॥

४—तब ईश्वर ने कहा कि—हम आदम को अपने स्वरूप में अपने समान बनावें॥ तब ईश्वर ने आदम को अपने स्वरूप में उत्पन्न किया। उसने उसे ईश्वर के स्वरूप में उत्पन्न किया। उसने

---

१. वै० य० मुद्रित संस्करणों म 'सूर्य और दीप अग्नि' पाठ है। इस पाठ में 'दीप की अग्नि' पाठ होना चाहिये।

२. सं० ५ से ३३ तक 'इसलिये' पाठ है।

उन्हें नर और नारी बनाया ॥ और ईश्वर ने उन्हें आशीष दिया ॥
[तौरेत उत्पत्ति०] पर्व १ । आ० २६--२८ ॥

समीक्षक—यदि आदम को ईश्वर ने अपने स्वरूप में बनाया, तो ईश्वर का स्वरूप पवित्र ज्ञानस्वरूप आनन्दमय आदि लक्षणयुक्त है, उसके सदृश आदम क्यों नहीं हुआ ? जो नहीं हुआ, तो उसके स्वरूप में नहीं बना। और आदम को उत्पन्न किया, तो ईश्वर ने अपने स्वरूप ही को उत्पत्तिवाला किया। पुनः वह अनित्य क्यों नहीं ?

और आदम को उत्पन्न कहां से किया ?

ईसाई—मट्टी से बनाया।

समीक्षक—मट्टी कहां से बनाई ?

ईसाई—अपनी कुदरत अर्थात् सामर्थ्य से।

समीक्षक—ईश्वर का सामर्थ्य अनादि है, वा नवीन ?

ईसाई—अनादि है।

समीक्षक—जब अनादि है, तो जगत् का कारण सनातन हुआ। फिर अभाव से भाव क्यों मानते हो ?

ईसाई—सृष्टि के पूर्व ईश्वर के विना कोई वस्तु नहीं था ?

समीक्षक—जो नहीं था, तो यह जगत् कहां से बना ? और ईश्वर का सामर्थ्य द्रव्य है वा गुण ? जो द्रव्य है, तो ईश्वर से भिन्न दूसरा पदार्थ था।[1] और जो गुण है, तो गुण से द्रव्य कभी नहीं बन सकता। जैसे रूप से अग्नि और रस से जल नहीं बन सकता।

---

१. ग्रन्थकार ने अपने अनेक ग्रन्थों में सृष्टि की उत्पत्ति 'स्वसामर्थ्य' से लिखी है। (यथा—पञ्चमहायज्ञविधि, अघमर्षणमन्त्र की व्याख्या)। इस प्रकार के लेख से यह भ्रान्ति नहीं होनी चाहिये कि ग्रन्थकार भी नवीन वेदान्तियों के समान ईश्वर से ही जगत् की उत्पत्ति मानते हैं। वास्तविकता यह है कि सामर्थ्य दो प्रकार का होता है—एक स्वगत, और दूसरा स्ववशस्थ पदार्थगत। जैसे राजा की सेना आदि का बल भी उसी का सामर्थ्य समझा जाता है। अतएव सेना द्वारा विजय प्राप्त करने पर भी राजा का विजय माना जाता है। प्रकृति ईश्वर से भिन्न पदार्थ होते हुए भी उसके वश में होने से प्रकृति उसी का सामर्थ्य कहा जाता है।

और जो ईश्वर से जगत् बना होता, तो ईश्वर के सदृश गुण-कर्म-स्वभाववाला होता। उसके गुण-कर्म-स्वभाव के सदृश न होने से यही निश्चय है कि ईश्वर से नहीं बना। किन्तु जगत् के कारण अर्थात् परमाणु आदि नामवाले जड़ से बना है।

जैसी कि जगत् की उत्पत्ति वेदादि शास्त्रों में लिखी है, वैसी ही मान लो, जिससे ईश्वर जगत् को बनाता है। जो आदम के भीतर का स्वरूप जीव और बाहर का मनुष्य के सदृश है, तो वैसा ईश्वर का स्वरूप क्यों नहीं ? क्योंकि जब आदम ईश्वर के सदृश बना, तो ईश्वर आदम के सदृश अवश्य होना चाहिये ॥४॥

५—तब परमेश्वर ईश्वर ने भूमि की धूल से आदम को बनाया। और उसके नथुनों में जीवन का श्वास फूंका, और आदम जीवता प्राण हुआ ॥

और परमेश्वर ईश्वर ने 'अदन' में पूर्व की ओर एक 'बारी' लगाई। और उस आदम को, जिसे उसने बनाया था, उसमें रखा ॥ और उस बारी के मध्य में जीवन का पेड़ और भले बुरे के ज्ञान का पेड़ भूमि से उगाया ॥ [तौ० उ०] पर्व २। आ० ७—९ ॥

समीक्षक—जब ईश्वर ने अदन में बाड़ी बनाकर उसमें आदम को रक्खा, तब ईश्वर नहीं जानता था कि इसको पुनः यहां से निकालना पड़ेगा ? और जब ईश्वर ने आदम को धूली से बनाया, तो ईश्वर का स्वरूप नहीं हुआ। और जो है, तो ईश्वर भी धूली से बना होगा ?

जब उसके नथुनों में ईश्वर ने श्वास फूंका, तो वह श्वास ईश्वर का स्वरूप था वा भिन्न ? जो भिन्न था, तो आदम ईश्वर के स्वरूप में नहीं बना। जो एक है, तो आदम और ईश्वर एक-से हुए। और जो एक-से हैं, तो आदम के सदृश जन्म-मरण वृद्धि-क्षय क्षुधा-तृषा आदि दोष ईश्वर में आये। फिर वह ईश्वर क्योंकर हो सकता है ?

इसलिये यह तौरेत की बात ठीक नहीं विदित होती। और यह पुस्तक भी ईश्वर-कृत नहीं है ॥५॥

६--और परमेश्वर ईश्वर ने आदम को बड़ी नींद में डाला, और वह[1] सो गया। तब उसने उसकी पसलियों में से एक पसली निकाली, और उसकी सन्ति[2] मांस भर दिया॥ और परमेश्वर ईश्वर ने आदम की उस पसली से एक नारी बनाई, और उसे आदम के पास लाया॥ [तौरेत उत्पत्ति०] पर्व २। आ० २१, २२॥

समीक्षक—जो ईश्वर ने आदम को धूली से बनाया, तो उसकी स्त्री को धूली से क्यों नहीं बनाया? और जो नारी को हड्डी से बनाया, तो आदम को हड्डी से क्यों नहीं बनाया? और जैसे नर से निकलने से नारी नाम हुआ, तो नारी से नर नाम भी होना चाहिये। और उनमें परस्पर प्रेम भी रहै। जैसे स्त्री के साथ पुरुष प्रेम करे, वैसी पुरुष के साथ स्त्री भी प्रेम करे।

देखो विद्वान् लोगो! ईश्वर को कैसी पदार्थविद्या अर्थात् 'फिलासफी' चलकती है? जो आदम की एक पसली निकालकर नारी बनाई, तो सब मनुष्यों की एक पसली कम क्यों नहीं होती? और स्त्री के शरीर में एक पसली होनी चाहिये। क्योंकि वह एक पसली से बनी हुई है।

क्या जिस सामग्री से सब जगत् बनाया, उस सामग्री से स्त्री का शरीर नहीं बन सकता था? इसलिये यह बाइबल का सृष्टिक्रम सृष्टिविद्या से विरुद्ध है॥६॥

७—अब सर्प्प भूमि के हर एक पशु से, जिसे परमेश्वर ने बनाया था, धूर्त था। और उसने स्त्री से कहा—क्या निश्चय ईश्वर ने कहा है कि तुम इस बारी के हर एक पेड़ से [फल] न खाना[3]॥ और स्त्री ने सर्प्प से कहा कि हम तो इस बारी के पेड़ों का फल खाते हैं॥ परन्तु उस पेड़ का फल, जो बारी के बीच में है, ईश्वर ने कहा

---

१. सं० २ में सवत्र 'वह' के स्थान मे 'वुह' पाठ है।

२. सन्ति-सन्ती, ये संभवत: 'सन्धि' के वाचक हैं। जहां से पसली निकाली गई, उसकी सन्धि में मांस भर दिया है।

३. इलाहाबाद की छपी बाइबल में यह वाक्य इस प्रकार है—'तुम इस बारी के किसी वृक्ष का फल न खाना।'

कि तुम उसे न खाना और न छूना, न हो कि मर जाओ ।।

तब सर्प्प ने स्त्री से कहा कि—तुम निश्चय न मरोगे ।। क्योंकि ईश्वर जानता है कि जिस दिन तुम उसे खाओगे तुम्हारी आंखें खुल जायेंगी । और तुम भले और बुरे की पहिचान में ईश्वर के समान हो जाओगे ।।

और जब स्त्री ने देखा वह पेड़ खाने में सुस्वाद और दृष्टि में सुन्दर और बुद्धि देने के योग्य है, तो उसके फल में से लिया और खाया[1] । और अपने पति[2] को भी दिया और उसने खाया ।।

तब उन दोनों की आंखें खुल गईं, और वे जान गये कि हम नङ्गे हैं । सो उन्होंने गूलर[3] के पत्तों को मिलाके सिया, और अपने लिये ओढ़ना बनाया ।। तब परमेश्वर ईश्वर ने सर्प्प से कहा कि जो तूने यह किया है इस कारण तू सारे ढोर और हर एक वन के पशुन से अधिक स्रापित होगा । तू अपने पेट के बल चलेगा, और अपने जीवनभर धूल खाया करेगा ।।

और मैं तुझमें और स्त्री में और तेरे वंश और उसके वंश में बैर डालूंगा । वह तेरे शिर को कुचलेगा और तू उसकी एड़ी को काटेगा ।। और उसने स्त्री को कहा कि मैं तेरी पीड़ा और गर्भधारण को बहुत बढ़ाऊंगा । तू पीड़ा से बालक जनेगी । और तेरी इच्छा तेरे पति पर होगी और वह तुझ पर प्रभुता करेगा ।।

और उसने आदम से कहा कि—तूने जो अपनी पत्नी का शब्द माना है, और जिस पेड़ का [फल] मैंने तुझे खाने से बर्जा था तू ने खाया है, इस कारण भूमि तेरे लिये स्रापित है । अपने जीवनभर तू उसे पीड़ा के साथ खायेगा ।। और वह कांटे और ऊंटकटारे तेरे लिये उगायेगी और तू खेत का साग-पात खायेगा ।।

तौरेत उत्पत्ति०, पर्व ३ । आ० १–७, १४–१८ ।।

---

१. यहां इलाहाबाद संस्करण का पाठ इस प्रकार है—'तब उसने उसमें से तोड़कर खाया' । २. सं० २ में सर्वत्र 'पती' पाठ है ।

३. इलाहाबाद संस्करण में 'अंजीर' पाठ है ।

समीक्षक—जो ईसाइयों का ईश्वर सर्वज्ञ होता, तो इस धूर्त सर्प्प अर्थात् शैतान को क्यों बनाता ? और जो बनाया, तो वही ईश्वर अपराध का भागी है। क्योंकि जो वह उसको दुष्ट न बनाता, तो वह दुष्टता क्यों करता ? और वह पूर्वजन्म नहीं मानता, तो विना अपराध उसको पापी क्यों बनाया ?

और सच पूछो तो वह सर्प्प नहीं था, किन्तु मनुष्य था। क्योंकि जो मनुष्य न होता, तो मनुष्य की भाषा क्योंकर बोल सकता ?

और जो आप झूठा और दूसरे को झूठ में चलावे, उसको 'शैतान' कहना चाहिये। स० यहां शैतान सत्यवादी और इससे उसने उस स्त्री को नहीं बहकाया, किन्तु सच कहा। और ईश्वर ने आदम और हव्वा से झूठ कहा कि इसके खाने से तुम मर जाओगे।

जब वह पेड़ ज्ञानदाता और अमर करनेवाला था, तो उसके फल खाने से क्यों वर्जा ? और जो वर्जा तो वह ईश्वर झूठा और बहकानेवाला ठहरा। क्योंकि उस वृक्ष के फल मनुष्यों को ज्ञान और सुखकारक थे, अज्ञान और मृत्युकारक नहीं।

जब ईश्वर ने फल खाने से वर्जा, तो उस वृक्ष की उत्पत्ति किस लिये की थी ? जो अपने लिये की, तो क्या आप अज्ञानी और मृत्युधर्मवाला था ? और जो दूसरों के लिये बनाया, तो फल खाने में अपराध कुछ भी न हुआ। और आजकाल[1] कोई भी वृक्ष ज्ञानकारक और मृत्यु निवारक देखने में नहीं आता। क्या ईश्वर ने उसका बीज भी नष्ट कर दिया ?

ऐसी बातों से मनुष्य छली-कपटी होता है, तो ईश्वर वैसा[2] क्यों नहीं हुआ ? क्योंकि जो कोई दूसरे से छल-कपट करेगा, वह छली-कपटी क्यों न होगा ? और जो इन तीनों को स्राप[3] दिया,

---

१. सं० २ में सर्वत्र यही पाठ है। यहां संस्करण ३४, ३५ में भी 'आजकल' बदला हुआ पाठ मिलता है। २. अर्थात् छली-कपटी।

३. सं० ५ में 'शाप' बनाया है। सं० ३४, ३५ में भी यही बदला हुआ पाठ मिलता है।

वह विना अपराध से है। पुनः वह ईश्वर अन्यायकारी भी हुआ। और यह स्राप[1] ईश्वर को होना चाहिये। क्योंकि वह झूंठ बोला और उनको[2] बहकाया।

यह 'फिलासफी' देखो! क्या विना पीड़ा के गर्भधारण और बालक का जन्म हो सकता था? और विना श्रम के कोई अपनी जीविका कर सकता है? क्या प्रथम कांटे आदि के वृक्ष न थे? और जब शाक-पात खाना सब मनुष्यों को ईश्वर के कहने से उचित हुआ, तो जो उत्तर[3] में मांस[4] खाना, बाइबल में लिखा वह झूंठा क्यों नहीं? और जो वह सच्चा हो, तो यह झूंठा है।

जब आदम का कुछ भी अपराध सिद्ध नहीं होता, तो ईसाई लोग सब मनुष्यों को आदम के अपराध से [उसका] सन्तान होने पर अपराधी क्यों कहते हैं? भला ऐसा पुस्तक और ऐसा ईश्वर कभी बुद्धिमानों के सामने[5] [मानने] योग्य हो सकता है? ॥७॥

८—और परमेश्वर ईश्वर ने कहा कि देखो! आदम भले-बुरे के जानने में हममें से एक की नाईं हुआ। और अब ऐसा न होवे कि वह अपना हाथ डाले और जीवन के पेड़ में से भी लेकर खावे और अमर हो जाय॥

सो उसने आदम को निकाल दिया और अदन की बारी की पूर्व ओर करोबीम[6] ठहराये। और चमकते हुए खड्ग को[7] जो चारों

---

१. द्र०—टि० ३, पृष्ठ ७२६।

२. स० २ में इसके आगे 'वह' पद व्यर्थ है। ३. अर्थात् आगे।

४. ऋषि दयानन्द सरस्वती सर्वत्र मांसभक्षण के विरुद्ध लिखते हैं। भ० द०

५. कुछ संस्करणों में 'समान' पाठ मिलता है। स० ३४,३५ में 'सामने' को बदलकर 'मानने' बनाया है। हमारा विचार है कि यहां 'सामने' के आगे 'मानने' पद लिपिकर-प्रमाद से छूट गया है।

६ बाइबल के अनुवादों में विशिष्ट संज्ञावाचक शब्दों के भिन्न-भिन्न रूप उपलब्ध होते हैं। अतः हम ऐसे नामों को रोमनलिपि में भी दे रहे हैं। करोबीम=Cherubems.

७. सं० २ से ३५ तक 'हुए जो खड्ग को जो चारों ओर' पाठ है।

ओर घूमता था, जिसते जीवन के पेड़ के मार्ग की रखवाली करें ॥

[तौरेत उत्पत्ति०] पर्व ३। आ० २२, २४॥

समीक्षक—भला ईश्वर को ऐसी ईर्ष्या और भ्रम क्यों हुआ कि ज्ञान में हमारे तुल्य हुआ ? क्या यह बुरी बात हुई ? यह शङ्का ही क्यों पड़ी ? क्योंकि ईश्वर के तुल्य कभी कोई नहीं हो सकता।

परन्तु इस लेख से यह भी सिद्ध हो सकता है कि वह ईश्वर नहीं था, किन्तु मनुष्यविशेष था। बाइबल में जहां-कहीं ईश्वर की बात आती है, वहां मनुष्य के तुल्य ही लिखी आती है।

अब देखो, आदम के[1] ज्ञान की बढ़ती में ईश्वर कितना दुःखी हुआ। और फिर अमरवृक्ष के फल खाने में कितनी ईर्ष्या की। और प्रथम जब उसको बारी में रक्खा, तब उसको भविष्यत् का ज्ञान नहीं था कि इसको पुनः निकालना पड़ेगा ? इसलिये ईसाइयों[2] का ईश्वर सर्वज्ञ नहीं था। और चमकते खड्ग का पहिरा रखा, यह भी मनुष्य का काम है, ईश्वर का नहीं ॥८॥

९—और कितने दिनों के पीछे यों हुआ कि काइन[3] भूमि के फलों में से परमेश्वर के लिये भेंट लाया॥ और हाबील[4] भी अपनी झुण्ड[5] में से पहिलौठी और मोटी-मोटी [भेड़][6] लाया। और परमेश्वर ने हाबील का और उसकी भेंट का आदर किया॥

परन्तु काइन का और उसकी भेंट का आदर न किया। इसलिये काइन अतिकुपित हुआ और अपना मुंह फुलाया॥ तब परमेश्वर ने काइन से कहा कि तू क्यों क्रुद्ध है, और तेरा मुंह क्यों फूल गया ? ॥

तौरेत [उत्पत्ति०] पर्व ४। आ० ३—६॥

समीक्षक—यदि ईश्वर मांसहारी न होता, तो भेड़ की भेंट और

---

१. सं० २ में 'को' पाठ है। २. सं० २ में 'ईसायियों' पाठ है।

३. Cain. ४. Abel.

५. सं० ५ में टिप्पणी है—'भेड़-बकरियों के झुण्ड।'

६. 'भेड़' पद छूट गया है। सं० ३४ के सम्पादक ने यहां पूर्वनिर्दिष्ट बाइबल के संस्करण का पाठ कोष्ठक में बढ़ाया है, वह व्यर्थ है।

हाबील का सत्कार, और काइन का तथा उसकी भेंट का तिरस्कार क्यों करता ? और ऐसा झगड़ा लगाने, और हाबील के मृत्यु का कारण भी ईश्वर ही हुआ ।

और जैसे आपस में मनुष्य लोग एक-दूसरे से बातें करते हैं, वैसी ही ईसाइयों के ईश्वर की बातें हैं। बगीचे में आना-जाना, उसका बनाना भी मनुष्यों का कर्म है। इससे विदित होता है कि यह बाइबल मनुष्यों की बनाई है, ईश्वर की नहीं ॥९॥

[1]१०—जब परमेश्वर ने काइन से कहा [कि] तेरा भाई हाबिल कहां है ? और वह बोला मैं नहीं जानता । क्या मैं अपने भाई का रखवाला हूं ?॥ तब उसने कहा—तूने क्या किया ? तेरे भाई के लोहू का शब्द भूमि से मुझे पुकारता है ॥ और अब तू पृथिवी से स्रापित है ॥१०॥ तौ० [उत्पत्ति०] पर्व ४। आ० ९-११ ॥

समीक्षक—क्या ईश्वर काइन से पूछे विना हाबिल का हाल नहीं जानता था ? और लोहू का शब्द भूमि से कभी किसी को पुकार सकता है ? ये सब बातें अविद्वानों की हैं। इसीलिये यह पुस्तक न ईश्वर और न विद्वान् का बनाया हो सकता है ॥१०॥

११—और हनूक[2] मतूसिलह[3] की उत्पत्ति के पीछे तीन सौ वर्ष लों ईश्वर के साथ-साथ चलता था ॥

तौ० [उत्पत्ति०] पर्व ५। आ० २२ ॥

समीक्षक—भला ईसाइयों का ईश्वर मनुष्य न होता, तो हनूक के साथ-साथ क्यों चलता ? इससे जो वेदोक्त निराकार ईश्वर[4] है, उसीको ईसाई लोग मानें, तो उनका कल्याण होवे ॥११॥

१२—[5]और उनसे बेटियां उत्पन्न हुईं ॥ तो ईश्वर के पुत्रों ने

---

१. सं० २ में यहां १० के स्थान में '११' संख्या भूल से छपी है। यह भूल ४८ संख्या के दो बार छपने से दूर हुई है।

२. Henoch. ३. Mathusala.

४. सं० ३४, ३५ में 'निराकार व्यापक ईश्वर' पाठ है।

५. सं० ३४, ३५ में 'और' से पूर्व 'और यों हुआ कि जब आदमी

आदम की पुत्रियों को देखा कि वे सुन्दरी हैं, और उनमें से जिन्हें उन्होंने चाहा उन्हें ब्याहा ॥

और उन दिनों में पृथिवी पर दानव थे। और उसके पीछे भी जब ईश्वर के पुत्र आदम की पुत्रियों से मिले, तो उनसे बालक उत्पन्न हुए। जो बलवान् हुए, जो आगे से नामी थे ॥

और ईश्वर ने देखा कि आदम की दुष्टता पृथिवी पर बहुत हुई। और उनके मन की चिन्ता और भावना प्रतिदिन केवल बुरी होती है ॥ तब आदमी को पृथिवी पर उत्पन्न करने से परमेश्वर पछताया, और उसे अति[1] शोक हुआ ॥

तब परमेश्वर ने कहा कि आदमी को, जिसे मैंने उत्पन्न किया, आदमी से ले के पशुन लों और रेंगवैयों को और आकाश के पक्षियों को पृथिवी पर से नष्ट करूंगा, क्योंकि उन्हें बनाने से मैं पछताता हूं ॥

तौ० [उत्पत्ति०] पर्व ६। आ० १, २, ४-७ ॥

समीक्षक—ईसाइयों से पूछना चाहिये कि ईश्वर के बेटे कौन हैं ? और ईश्वर की स्त्री सास श्वसुर साला और सम्बन्धी कौन हैं ? क्योंकि अब तो आदमी की बेटियों के साथ विवाह होने से ईश्वर इनका सम्बन्धी हुआ। और जो उनसे उत्पन्न होते हैं, वे पुत्र और प्रपौत्र हुए।

क्या ऐसी बात ईश्वर और ईश्वर के पुस्तक की हो सकती है ? किन्तु यह सिद्ध होता है कि उन जङ्गली मनुष्यों ने यह पुस्तक बनाया है।

वह ईश्वर ही नहीं, जो सर्वज्ञ न हो, न भविष्यत् की बात जाने, वह जीव है। क्या जब सृष्टि की थी, तब आगे मनुष्य दुष्ट होंगे, ऐसा नहीं जानता था ? और पछताना, अतिशोकादि होना, भूल से काम करके पीछे पश्चात्ताप करना आदि ईसाइयों के ईश्वर

पृथ्वी पर बढ़ने लगे' पाठ विना कोष्ठक के बढ़ाया हुआ मिलता है। इसकी कोई आवश्यकता नहीं है।

१. सं० २ में 'अती' अपपाठ है।

में घट सकता है [[1]वेदोक्त ईश्वर में नहीं और इस से यह भी सिद्ध होता है कि] ईसाइयों का ईश्वर पूर्ण विद्वान् योगी भी नहीं था। नहीं तो शान्ति और विज्ञान से अतिशोकादि से पृथक् हो सकता। भला पशु-पक्षी भी दुष्ट हो गये ?

यदि वह ईश्वर सर्वज्ञ होता, तो ऐसा विषादी क्यों होता ? इसलिये न यह ईश्वर और न यह ईश्वरकृत पुस्तक हो सकता है। जैसे वेदोक्त परमेश्वर सब पाप क्लेश दुःख शोकादि से रहित 'सच्चिदानन्दस्वरूप' है, उसको ईसाई लोग मानते वा अब भी मानें, तो अपने मनुष्य जन्म को सफल कर सकें ॥१२॥

१३—उस नाव की लम्बाई तीन सौ हाथ, और चौड़ाई पचास हाथ, और ऊंचाई तीस हाथ की होवे ॥ तू नाव में जाना, तू और तेरे बेटे और तेरी पत्नी और तेरे बेटों की पत्नियां तेरे साथ ॥ और सारे शरीरों में से जीवता जन्तु[2] दो-दो अपने साथ नाव में लेना। जिसते वे तेरे साथ जीते रहें, वे नर और नारी होवें ॥

पंछी में से उसके भांति-भांति के, और ढोर में से उसके भांति-भांति के, और पृथिवी के हर एक रेंगवैये में से भांति-भांति के, हर एक में से दो-दो तुझ पास आवें, जिसते जीते रहें ॥

और तू अपने लिये खाने को सब सामग्री अपने पास इकट्ठा कर। वह तुम्हारे और उनके लिये भोजन होगा ॥ सो ईश्वर की सारी आज्ञा के समान नूह[3] ने किया ॥[4] तौ० [उ०] पर्व ६। आ० १५, १८-२२ ॥

समीक्षक—भला कोई भी विद्वान् ऐसी विद्या से विरुद्ध असम्भव बात के वक्ता को ईश्वर मान सकता है ? क्योंकि इतनी बड़ी चौड़ी ऊंची नाव में हाथी हथनी ऊंट ऊंटनी आदि क्रोड़ों जन्तु और उनके खाने-पीने की चीजें, वे सब कुटुम्ब के भी समा सकते हैं ? यह इसी-

---

१. यह कोष्ठान्तर्गत पाठ सं० ३४, ३५ में विना कोष्ठक के बढ़ाया हुआ मिलता है। इतना पाठ यहां आवश्यक है। २ सं० २में 'जन्तू' अपपाठ है। ऐसा ही आगे भी समझें। ३. Noe

४. बाइबल की यह कहानी ब्राह्मण ग्रन्थोक्त 'मनु के जल-प्लावन' की कहानी का विकृत रूप है। अतः ग्रन्थकारोक्त समीक्षा युक्त है।

लिये मनुष्यकृत पुस्तक है। जिसने यह लेख किया है, वह विद्वान् भी नहीं था ।।१३।।

१४ -और नूह ने परमेश्वर के लिये एक वेदी बनाई। और सारे पवित्र पशु और हर एक पवित्र पंछियों में से लिये। और होम की भेंट उस वेदी पर चढ़ाई ।। और परमेश्वर ने सुगन्ध सूंघा, और परमेश्वर ने अपने मन में कहा कि आदमी के लिये मैं पृथिवी को फिर कभी स्राप न दूंगा। इस कारण कि आदमी के मन की भावना उसकी लड़काई से बुरी है। और जिस रीति से मैंने सारे जीवधारियों को मारा, फिर कभी न मारूंगा ।।

तौ० [उत्पत्ति०] पर्व ८। आ० २०, २१ ।।

समीक्षक—वेदी के बनाने, होम करने के लेख से यही सिद्ध होता है कि ये बातें वेदों से बाइबल में गई हैं। क्या परमेश्वर के नाक भी है कि जिससे सुगन्ध सूंघा ? क्या यह ईसाइयों का ईश्वर मनुष्यवत् अल्पज्ञ नहीं है ? कि कभी स्राप देता है और कभी पछताता है?

कभी कहता है स्राप न दूंगा, पहले दिया था, और फिर भी देगा। प्रथम सबको मार डाला, और अब कहता है कि कभी न मारूंगा !!! ये बातें सब लड़केपन की-सी हैं, ईश्वर की नहीं और न किसी विद्वान् की। क्योंकि विद्वान् की भी बात और प्रतिज्ञा स्थिर होती है ।।१४।।

१५—और ईश्वर ने नूह को और उसके बेटों को आशीष दिया, और उन्हें कहा कि—।। हर एक जीता चलता[1] जन्तु तुम्हारे भोजन के लिये होगा। मैंने हरी तरकारी के समान सारी वस्तु तुम्हें दिईं ।। केवल मांस उसके जीव अर्थात् उसके लोहू समेत मत खाना ।।

तौ० [उत्पत्ति०] पर्व ९। आ० १, ३,४ ।।

समीक्षक—क्या एक को प्राणकष्ट देकर दूसरों को आनन्द कराने से दयाहीन ईसाइयों का ईश्वर नहीं है ? जो माता-पिता एक लड़के को मरवाकर दूसरे को खिलावें, तो महापापी नहीं हों ? इसी प्रकार

१. सं० २ में 'चलत' अपपाठ है।

यह बात है। क्योंकि ईश्वर के लिये सब प्राणी पुत्रवत् हैं। ऐसा न होने से इनका ईश्वर कसाईवत् काम करता है। और सब मनुष्यों को हिंसक भी इसीने बनाया[1] है। इसलिये ईसाइयों का ईश्वर निर्दय होने से पापी क्यों नहीं? ॥१५॥

१६—और सारी पृथिवी पर एक ही बोली और एक ही भाषा[2] थी॥ फिर उन्होंने कहा कि आओ, हम एक नगर और एक गुम्मट जिसकी चोटी स्वर्गलों पहुंचे अपने लिये बनावें, और अपना नाम करें। न हो कि हम सारी पृथिवी पर छिन्न-छिन्न हो जायें॥

तब ईश्वर[3] उस नगर और उस गुम्मट को, जिसे आदम के सन्तान बनाते थे, देखने को उतरा॥ तब परमेश्वर ने कहा कि—देखो ये लोग एक ही हैं, और उन सबकी एक ही बोली है। अब वे ऐसा-ऐसा कुछ करने लगे। सो वे जिस पर मन लगावेंगे, उससे अलग न किये जायेंगे॥

आओ हम उतरें, और वहां उनकी भाषा को गड़बड़ावें, जिसतें एक-दूसरी की बोली न समझें॥ तब परमेश्वर ने उन्हें वहां से सारी पृथिवी पर छिन्न-भिन्न किया। और वे उस नगर के बनाने से अलग रहे॥ तौ० [उत्पत्ति०] पर्व ११। आ० १, ४-८॥

समीक्षक—जब सारी पृथिवी पर एक भाषा [और] बोली होगी, उस समय सब मनुष्यों को परस्पर अत्यन्त आनन्द प्राप्त हुआ होगा। परन्तु क्या किया जाय? यह ईसाइयों के ईर्ष्यक ईश्वर ने सबकी भाषा गड़बड़ाके सबका सत्यानाश किया। उसने यह बड़ा अपराध किया। क्या यह शैतान के काम से भी बुरा काम नहीं है?

---

१. सं० २, ३४, ३५ में 'बनाये' अपपाठ है।

२. यह सत्य तत्त्व आर्यों के द्वारा ही यहूदियों तक पहुंचा था। यह एक भाषा आदि वेद के आधार पर निष्पन्न अतिभाषा वा आदिभाषा थी। बाइबल का यह प्रमाण वर्तमान पाश्चात्य भाषाविदों के मिथ्या अहंकार, 'संस्कृत आदि भाषा नहीं है' का मुंह-बोलता उत्तर है। विशेष देखिये—पं० भगवद्दत्तजी कृत 'वैदिकवाङ्मय का इतिहास' भाग १, पृष्ठ १ से ४० (सं० २)।

३. सं० २ से ३२ तक यही पाठ है। सं० ३४ में 'परमेश्वर' पाठ बनाया गया है।

और इससे यह भी विदित होता है कि ईसाइयों का ईश्वर 'सनाई' पहाड़ आदि पर रहता था, और जीवों की उन्नति भी नहीं चाहता था। यह विना एक अविद्वान् के, ईश्वर की बात और यह ईश्वरोक्त पुस्तक क्योंकर हो सकता है ?॥१६॥

१७—तब उसने अपनी पत्नी सरी[1] से कहा कि देख, मैं जानता हूं [कि] तू देखने में सुन्दर स्त्री है। इसलिये यों होगा कि जब मिश्री तुझे देखें, तब वे कहेंगे कि यह उसकी पत्नी है। और मुझे मार डालेंगे, परन्तु तुझे जीती रखेंगे॥ तू कहियो कि मैं उसकी बहिन हूं, जिसतें तेरे कारण मेरा भला होय, और मेरा प्राण तेरे हेतु से जीता रहे॥ तौ० [उत्पत्ति०] पर्व १२। आ० ११-१३॥

समीक्षक—अब देखिये, जो अबिरहाम[2] बड़ा पैगम्बर ईसाई और मुसलमानों का बजता है, और उसके कर्म मिथ्याभाषणादि बुरे हैं[3]। भला जिनके ऐसे पैगम्बर हों, उनको विद्या वा कल्याण का मार्ग कैसे मिल सके ?॥१७॥

१८—और ईश्वर ने अबिरहाम से कहा कि—तू और तेरे पीछे तेरा वंश उनकी पीढ़ियों में मेरे[4] नियम को माने॥ तुम मेरा नियम जो मुझसे[5] और तुमसे और तेरे पीछे तेरे वंश से है, जिसे तुम मानोगे सो यह है कि—तुममें से हर एक पुरुष का खतनः किया जाय॥

और तुम अपने शरीर की खलड़ी काटो, और वह मेरे और तुम्हारे मध्य में नियम का चिह्न होगा॥ और तुम्हारी[6] पीढ़ियों में हर[7] एक आठ दिन के पुरुष का खतनः किया जाय। जो घरमें उत्पन्न होय अथवा जो किसी परदेशी से, जो तेरे वंश का न हो, रूपै से मोल लिया जाय॥

---

१. Sarai. २. Abraham.

३. इसके आगे सं० ३४, ३५ में 'और अपनी स्त्री का पातिव्रत्य धर्म भंग कराके व्यभिचारिणी बनाता है।' पाठ अधिक है। सम्भव है इसे समर्थदान ने निकाल दिया होगा। ४. सं० २ में तेरे' अपपाठ है।

५. सं० २ में 'मुस्से' अपपाठ है। ६. सं० २ में 'तुमारी' पाठ है।

७. सं० २ में 'रहे' पाठ है।

जो तेरे घर में उत्पन्न हुआ हो, और जो[1] तेरे रूपे से मोल लिया गया हो, अवश्य उसका खतन: किया जाय। और मेरा नियम तुम्हारे मांस में सर्वदा नियम के लिये होगा ॥

और जो अखतन: बालक जिसकी खलड़ी का खतन: न हुआ हो, सो प्राणी अपने लोग से कट जाय कि उसने मेरा नियम तोड़ा है ॥

तौ० [उत्पत्ति०] पर्व १७। आ० ९-१४॥

समीक्षक—अब देखिये ईश्वर की अन्यथा आज्ञा कि जो यह खतन: करना ईश्वर को इष्ट होता, तो उस चमड़े को आदि सृष्टि में बनाता ही नहीं। और जो यह बनाया है, वह रक्षार्थ है, जैसा आंख के ऊपर का चमड़ा। क्योंकि वह गुप्त स्थान अति कोमल है। जो उस पर चमड़ा न हो, तो एक कीड़ी के भी काटने और थोड़ी-सी चोट लगने से बहुत-सा दु:ख होवे। और वह लघुशङ्का के पश्चात् कुछ मूत्रांश कपड़ों में न लगे, इत्यादि बातों के लिये [है]। इसका काटना बुरा है।

और अब ईसाई लोग इस आज्ञा को क्यों नहीं [पालन] करते? यह आज्ञा सदा के लिये है। इसके न करने से ईसा की गवाही जोकि 'व्यवस्था के पुस्तक का एक बिन्दु भी झूंठा नहीं है' मिथ्या हो गई। इसका सोच-विचार ईसाई कुछ भी नहीं करते ॥१८॥

१९—तब उ[स] से बात करने से रह गया। और अबिरहाम के पास से ईश्वर ऊपर जाता रहा ॥[2]

तौ० [उत्पत्ति०] पर्व १७। आ० २२ ॥

समीक्षक—इससे यह सिद्ध होता है कि ईश्वर मनुष्य वा पक्षिवत् था, जो ऊपर से नीचे और नीचे से ऊपर आता-जाता रहता था। यह कोई इन्द्रजाली पुरुषवत् विदित होता है ॥१९॥

२०—फिर ईश्वर उसे ममरे के बलूतों में दिखाई दिया। और

---

१. सं० ३४, ३५ में 'जो' पद नहीं है।

२. सं० ५ में इसका पाठ इस प्रकार बदला है—'जब ईश्वर अबिरहाम से बातें कर चुका, तो ऊपर चला गया।' यही पाठ सं० ३३ तक छपता रहा। सं० ३४ में फिर मूलवत् किया।

वह दिन को घाम के समय में अपने तम्बू के द्वार पर बैठा था ।। और उसने अपनी आंखें उठाईं, और देखा[1] कि तीन मनुष्य उसके पास खड़े हैं । और उन्हें देख के वह तम्बू के द्वार पर से उनकी भेंट को दौड़ा, और भूमि-लों दण्डवत् किई ।। और कहा हे मेरे स्वामि ! यदि मैंने अब आपकी दृष्टि में अनुग्रह पाया है, तो मैं आपकी विनती करता हूं कि अपने दास के पास से चले न जाइये ।।

इच्छा होय तो थोड़ा जल लाया जाय । और अपने चरण धोइये, और पेड़ तले विश्राम कीजिये ।। और मैं एक कौर रोटी लाऊं और आप तृप्त हूजिये । उसके पीछे आगे बढ़िये, क्योंकि आप इसी-लिये अपने दास के पास आये हैं । तब वे बोले कि जैसा तूने कहा वैसा कर ।।

और अबिरहाम तम्बू में सरः[2] पास उतावली से गया । और उसे कहा कि फुरती कर, और तीन नपुआ चोखा पिसान लेके गूंध और उसके फुलके पका ।।

और अबिरहाम झुण्ड की ओर दौड़ा गया, और एक अच्छा कोमल बछड़ा लेके दास को दिया । और उसने भी उसे सिद्ध करने में चटक किया ।। और उसने मक्खन और दूध और वह बछड़ा जो पकाया था लिया, और उनके आगे धरा । और आप उनके पास पेड़ तले खड़ा रहा, और उन्होंने खाया ।।

तौ० [उत्पत्ति०]पर्व १८ । आ० १-८ ।।

समीक्षक—अब देखिये, सज्जन लोगो ! जिनका ईश्वर बछड़े का मांस खावे, उसके उपासक गाय-बछड़े आदि पशुओं को क्यों छोड़ें ? जिसको कुछ दया नहीं, और मांस के खानें में आतुर रहै, वह विना हिंसक मनुष्य के, ईश्वर कभी हो सकता है ?

और ईश्वर के साथ दो मनुष्य न जाने कौन थे ? इससे विदित होता है कि जङ्गली मनुष्यों की एक मण्डली थी । उनका जो प्रधान मनुष्य था, उसका नाम बाइबल में ईश्वर रक्खा होगा । इन्हीं बातों

---

१. सं० २ में 'उठाई और देखा और देखा कि' अपपाठ है । सं० ५ में 'उठाई और क्या देखा कि' पाठ बनाया है । यही पाठ सं० ३५ तक मिलता है । २. Sara.

से बुद्धिमान् लोग इनके पुस्तक को ईश्वरकृत नहीं मान सकते । और न ऐसे को ईश्वर [मानने योग्य] समझते हैं ॥२०॥

२१—और परमेश्वर ने अबिरहाम से कहा कि सरः क्यों यह कहके मुस्कुराई कि जो मैं बुढ़िया हूं, सचमुच बालक जनूंगी ॥ क्या परमेश्वर के लिये कोई बात असाध्य है ? ॥

तौ० [उत्पत्ति०] पर्व १८ । आ० १३, १४ ॥

समीक्षक—अब देखिये, कि क्या ईसाइयों के ईश्वर की लीला कि जो लड़के वा स्त्रियों के समान चिड़ता और ताना मारता है !!! ॥२१॥

२२—तब परमेश्वर ने सदूम[1] [और] अमूरः[2] पर गन्धक और आग परमेश्वर की[3] ओर से[4] वर्षाया ॥ और उन नगरों को, और सारे चौगान को, और नगरों के सारे निवासियों को, और जो कुछ भूमि पर उगता था उलट दिया ॥

तौ० उत्पत्ति० पर्व १९ । आ० २४, २५ ॥

समीक्षक—अब यह भी लीला बाइबल के ईश्वर की देखिये, कि जिसको बालक आदि पर भी कुछ दया न आई । क्या वे सब ही अपराधी थे, जो सबको भूमि उलटा के दबा मारा ? यह बात न्याय दया और विवेक से विरुद्ध है । जिनका ईश्वर ऐसा काम करे, उनके उपासक क्यों न करें ?[5] ॥२२॥

२३—आओ हम अपने पिता को दाखरस पिलावें । और हम उसके साथ शयन करें कि हम अपने पिता से वंश जुगावें[6] ॥ तब उन्होंने

---

१. Sodom. सं० २ में 'समूद' अपपाठ है । २ Gomorrha.

३. यहां 'अपनी ओर से' पाठ होना चाहिये । 'परमेश्वर' पद पहले आ चुका है । सन् १९१९ की छपी बाइबल में 'अपनी ओर से' पाठ है ।

४. सं० ३४, ३५ में 'ओर से स्वर्ग से वर्षाया' पाठ मिलता है ।

५. सन् ४५ में जापान पर परमाणु बम द्वारा लाखों निरपराध बालक स्त्री और वृद्धों की हत्या ईसाईमतानुयायी अमेरिका ने की । यह सम्भवतः इसी शिक्षा का फल है । अमेरिका यही ताण्डव १७ वर्ष से वियतनाम में कर रहा है ।

६. अर्थात् चलावें । सं० ५ में यही पाठ बना दिया है ।

उस रात अपने पिता को दाखरस पिलाया। और पहिलोठी[1] गई, और अपने पिता के साथ शयन किया। हम उसे आज रात भी दाखरस पिलावें, तू जाके शयन कर॥ सो लूत[2] की दोनों बेटियां अपने पिता से गर्भिणी हुईं॥ तौ० उत्पत्ति० पर्व १९। आ० ३२-३४, ३६॥

समीक्षक—देखिये, पिता-पुत्री भी जिस मद्यपान के नशे में कुकर्म करने से न बच सके, ऐसे दुष्ट मद्य को जो ईसाई आदि पीते हैं, उनकी बुराई का क्या पारावार है? इसलिये सज्जन लोगों को मद्य के पीने का नाम भी न लेना चाहिये॥२३॥

२४—और अपने कहने के समान परमेश्वर ने सरः से भेंट किया। और अपने वचन के समान परमेश्वर ने सरः के विषय में किया॥ और सरः गर्भिणी हुई॥

तौ० उत्पत्ति० पर्व २१। आ० १, २॥

समीक्षक—अब विचारिये कि सरः से भेंट कर गर्भवती की, यह काम कैसे हुआ? क्या बिना परमेश्वर और सरः के तीसरा कोई गर्भस्थापन का कारण दीखता है? ऐसा विदित होता है कि सरः परमेश्वर की कृपा से गर्भवती हुई!!! ॥२४॥

२५—तब अबिरहाम ने बड़े तड़के उठके रोटी और एक पखाल में जल लिया, और हाजिरः[3] के कन्धे पर धर दिया। और लड़के को भी उसे सौंपके उसे विदा किया॥ उसने उस लड़के को एक झाड़ी के तले डाल दिया॥ और वह उसके सन्मुख बैठके चिल्ला-चिल्ला रोई॥ तब ईश्वर ने उस बालक का शब्द सुना॥

तौ० उत्पत्ति० पर्व २१। आ० १४-१७॥

समीक्षक-अब देखिये, ईसाइयों के ईश्वर की लीला कि प्रथम तो सरः का पक्षपात करके हाजिरः को वहां से निकालवा दी, और चिल्ला-चिल्ला रोई हाजिरः, और शब्द सुना लड़के का। यह कैसी अद्भुत बात है?

यह ऐसा हुआ होगा कि ईश्वर को भ्रम हुआ होगा कि यह बालक ही रोता है। भला यह ईश्वर और ईश्वर की पुस्तक की

१. अर्थात् प्रथम उत्पन्न बड़ी पुत्री। २. Lot. ३. Agar.

बात कभी हो सकती है ? विना साधारण मनुष्य के वचन के इस पुस्तक में थोड़ी-सी बात सत्य के, सब असार भरा है ।।२५।।

२६—और इन बातों के पीछे यों हुआ कि ईश्वर ने अबिरहाम की परीक्षा किई ।। और उसे कहा—हे अबिरहाम ! तू अपने बेटे को, अपने इकलौठे इजहाक[1] को जिसे तू प्यार करता है, ले उसे होम की भेंट के लिये चढ़ा ।। और अपने बेटे इजहाक[1] को बांधके उसे वेदी में लकड़ियों पर धरा ।।

और अबिरहाम ने छुरी लेके अपने बेटे को घात करने के लिये हाथ बढ़ाया ।। तब परमेश्वर के दूत ने स्वर्ग पर से उसे पुकारा कि अबिरहाम-अबिरहाम ।। अपना हाथ लड़के पर मत बढ़ा, उसे कुछ मत कर । क्योंकि अब मैं जानता हूं कि तू ईश्वर से डरता है ।।

तौ० उत्पत्ति० पर्व २२ । आ० १, २, ६-१२ ।।

समीक्षक—अब स्पष्ट हो गया कि यह बाइबल का ईश्वर अल्पज्ञ है, सर्वज्ञ नहीं । और अबिरहाम भी एक भोला मनुष्य था, नहीं तो ऐसी चेष्टा क्यों करता ? और जो बाइबल का ईश्वर सर्वज्ञ होता, तो उसकी भविष्यत् श्रद्धा को भी सर्वज्ञता से जान लेता । इससे निश्चित होता है कि ईसाइयों का ईश्वर सर्वज्ञ नहीं ।। २६ ।।

२७—सो आप हमारी समाधिन में से चुनके एक में अपने मृतक को गाड़िये, जिसतें आप अपने मृतक को गाड़ें ।।

तौ० उत्पत्ति० पर्व २३ । आ० ६ ।।

समीक्षक—मुर्दों के गाड़ने से संसार की बड़ी हानि होती है ; क्योंकि वह सड़के वायु को दुर्गन्धमय कर रोग फैला देता है ।

प्रश्न—देखो, जिससे प्रीति हो, उसको जलाना अच्छी बात नहीं । और गाड़ना जैसाकि उसको सुला देना है । इसलिये गाड़ना अच्छा है ।

उत्तर—जो मृतक से प्रीति करते हो, तो अपने घर में क्यों नहीं रखते ? और गाड़ते[2] भी क्यों हो ? जिस जीवात्मा से प्रीति थी वह

१. Isaac. २. सं० २ में यहां तथा आगे 'गाढ़ते, गाढ़, गाढ़ना'

निकल गया, अब दुर्गन्धमय मट्टी से क्या प्रीति ? और जो प्रीति करते हो, तो उसको पृथिवी में क्यों गाड़ते हो ? क्योंकि किसी से कोई कहे कि तुझको भूमि में गाड़ देवें, तो वह सुनकर प्रसन्न कभी नहीं होता। उसके मुख आंख और शरीर पर धूल पत्थर ईंट चूना डालना, छाती पर पत्थर रखना कौनसी प्रीति का काम है ?

और सन्दूक में डालके गाड़ने से बहुत दुर्गन्ध होकर पृथिवी से निकल, वायु को बिगाड़कर दारुण रोगोत्पत्ति करता है। दूसरा एक मुर्दे के लिये कम-से-कम ६ हाथ लम्बी और ४ हाथ चौड़ी भूमि चाहिये। इसी हिसाब से सौ, हजार वा लाख अथवा क्रोड़ों मनुष्यों के लिये कितनी भूमि व्यर्थ रुक जाती है। न वह खेत, न बगीचा, और न बसने के काम की रहती है। इसलिये सबसे बुरा गाड़ना है।

उससे कुछ थोड़ा बुरा जल में डालना। क्योंकि उसको जलजन्तु उसी समय चीर-फाड़के खा लेते हैं। परन्तु जो कुछ हाड़ वा मल जल में रहेगा, वह सड़कर जगत् को दुःखदायक होगा।

उससे कुछ एक थोड़ा बुरा जङ्गल में छोड़ना है। क्योंकि उसको मांसाहारी पशु-पक्षी लूंच खायेंगे। तथापि जो उसके हाड़ की मज्जा और मल सड़कर दुर्गन्ध करेगा, उतना जगत् का अनुपकार होगा। और जो जलाना है वह सर्वोत्तम है। क्योंकि उसके सब पदार्थ अणु होकर वायु में उड़ जायेंगे।

प्रश्न—जलाने से भी दुर्गन्ध होता है।

उत्तर—जो अविधि से जलावें, तो थोड़ा-सा होता है। परन्तु गाड़ने आदि से बहुत कम होता है।

और जो विधिपूर्वक, जैसाकि वेद[1] में लिखा है—वेदी मुर्दे के तीन

पदों का प्रयोग मिलता है। इससे पहले 'गाड़े, गाड़ने, गाड़ना' आदि का। हमने एकरूपता के लिये सर्वत्र 'ड़' का ही प्रयोग किया है।

१. 'विरोधे त्वनपेक्षं स्यादसति ह्यनुमानम्' (मी० १।३।२) अर्थात् श्रौत गृह्य धर्म सूत्रोक्त विधि यदि वेद से विरुद्ध हो तो उसकी अपेक्षा न करे= प्रमाण न माने। विरोध न होने पर उसकी वेदानुकूलता का अनुमान करना चाहिये' इस वचन के अनुसार आश्वलायन आदि गृह्यसूत्रों में कही गई अन्त्येष्टि विधि का ही निर्देश यहां 'वेद में लिखा है' शब्दों से किया है, ऐसा जानना चाहिये।

हाथ गहरी, साढ़े तीन हाथ चौड़ी, पांच हाथ लम्बी, तले में डेढ़ बीता अर्थात् चढ़ा उतार[1] खोदकर[2], शरीर के बराबर घी, उसमें एक सेर में रत्तीभर कस्तूरी, मासाभर केसर डाल, न्यून से न्यून आध मन चन्दन, अधिक चाहें जितना ले।

अगर तगर कपूर आदि और पलाश आदि की लकड़ियों को वेदी [में] जमा, उस पर मुर्दा रखके पुनः चारों ओर ऊपर वेदी के मुख से एक-एक बीता तक [लकड़ियां][3] भरके उस घी की आहुति देकर जलाना लिखा है[4]।

उस प्रकार से दाह करें, तो कुछ भी दुर्गन्ध न हो। किन्तु इसी का नाम **अन्त्येष्टि, नरमेध, पुरुषमेध यज्ञ** है। और जो दरिद्र हो तो बीस सेर से कम घी चिता में न डाले। चाहें वह भीख मांगने वा जातिवाले के देने अथवा राज से मिलने से प्राप्त हो। परन्तु उसी प्रकार दाह करे।

और जो घृतादि किसी प्रकार न मिल सके, तथापि गाड़ने आदि से केवल लकड़ी से भी मृतक का जलाना उत्तम है। क्योंकि एक विश्वा भर भूमि में अथवा एक वेदी में लाखों क्रोड़ों मृतक जल सकते हैं। भूमि भी गाड़ने के समान अधिक नहीं बिगड़ती। और कबर के देखने से भय भी होता है। इससे गाड़ना आदि सर्वथा निषिद्ध है ॥२७॥

२८—परमेश्वर मेरे स्वामी अबिरहाम का ईश्वर धन्य है, जिसने मेरे स्वामी को अपनी दया और अपनी सच्चाई विना न

---

१. चढ़ा उतार खोदकर अर्थात् शिर की ओर कुछ ऊंचा और पैर की ओर कुछ नीचा रहे, इस प्रकार खोदकर।

२. सं० ३ में 'चढ़ा उतार वेदी खोदकर' पाठ बनाया है। यह पाठ सं० ३३ तक छपता रहा, सं० ३४ में 'वेदी' पद हटा दिया। इसकी आवश्यकता भी नहीं है। यहां 'खोदकर वेदी बना' पाठ होवे, तो अधिक अच्छा होवे।

३. इस परिवर्धित पद के बिना वाक्यार्थ अस्पष्ट रहता है। देखो, सं० विधि पृष्ठ ३४६ (रालाकट्र सं० ३)—'वेदी से ऊपर एक बीता भर लकड़ियां चिनें।'

४. सं० ३ से ३३ में 'चाहिये' पाठ है।

छोड़ा। मार्ग में पमेश्वर ने मेरे स्वामी के भाइयों के घर की ओर मेरी अगुवाई किई ॥ तौ० उत्पत्ति० पर्व २४। आ० २७॥

समीक्षक—क्या वह अबिरहाम ही का ईश्वर था? और जैसे आजकल बिगारी[1] वा अगुवे लोग अगुवाई अर्थात् आगे-आगे चलकर मार्ग दिखलाते हैं, तथा[2] ईश्वर ने भी किया, तो आजकल मार्ग क्यों नहीं दिखलाता? और मनुष्यों से बातें क्यों नहीं करता?

इसलिये ऐसी बातें ईश्वर वा ईश्वर के पुस्तक की कभी नहीं हो सकतीं, किन्तु जङ्गली मनुष्यों की हैं ॥२८॥

२९—इसमअऐल[3] के बेटों के नाम ये हैं—इसमअऐल का पहिलौठा नबीत[4] और कीदार[5] और अदबिएल[6] और मिबसाम[7] ॥ और मिसमाअ[8] और दूम:[9] और मस्सा[10] ॥ हदर[11] और तैमा[12], इतूर[13], नफीस[14] और किदम[15] ॥ तौ० उत्पत्ति० पर्व २५। आ० १३-१५॥

समीक्षक—यह इसमअऐल अबिरहाम से उसकी हाजिर: दासी का पुत्र हुआ था ॥२९॥

३०—मैं तेरे पिता की रुचि के समान [उनके मांस का][16] स्वादित भोजन बनाऊंगी ॥ और तू अपने पिता के पास ले जाइयो, जिसतें वह खाय और अपने मरने से आगे तुझे आशीष देवे ॥

और रिबक:[17] ने अपने घर में से अपने जेठे बेटे एसौ[18] का अच्छा पहिरावा लिया [और अपने छोटे बेटे यअकूब को पहिनाया ॥][19] और बकरी के मेम्नों का चमड़ा उसके हाथों और गले

---

१. जिन से बेगार ली जाती है। २. तथा=वैसे=उसी प्रकार।
३. Ismael. ४. Nabajoth. ५. Cedar.
६. Adbeel. ७ Mabsam. ८. Masma.
९. Duma. १०. Massa. ११. Hadar.
१२. Thema. १३. Jethur. १४. Naphis. १५. Cedma.
१६. उनके मांस का अर्थात् बकरी के मेम्नों के मांस का।
१७. Rebecca. १८. Esau.
१९. सं० ३४ में यह पाठ कोष्ठक में बढ़ाया है। यह अर्थ की स्पष्टता के लिए आवश्यक है।

की चिकनाई[1] पर लपेटा ।। तब यअकूब[2] अपने पिता से बोला कि मैं आपका पहिलौठा एसौ हूं। आपके कहने के समान मैंने किया है। उठ बैठिये, और मेरे अहेर के मांस में से खाइये, जिसतें आपका प्राण मुझे आशीष दे ।।

तौ० उत्पत्ति० पर्व २७। आ० ६, १०, १५, १६, १६ ।।

समीक्षक—देखिये, ऐसे झूंठ कपट से आशीर्वाद लेके पश्चात् सिद्ध और पैगम्बर बनते हैं। क्या यह आश्चर्य की बात नहीं है? और ऐसे ईसाइयों के अगुवा हुए हैं। पुनः इनके मत की गड़बड़ में क्या न्यूनता हो ।।३०।

३१—और यअकूब बिहान को तड़के उठा, और उस पत्थर को जिसे उसने अपना उसीसा[3] किया था, खम्भा खड़ा किया। और उस पर तेल डाला[4] ।। और उस स्थान का नाम बैतएल[5] रक्खा ।। और यह पत्थर जो मैंने खम्भा खड़ा किया ईश्वर का घर होगा ।।

तौ० उत्पत्ति० पर्व २८। आ० १८, १६, २२ ।।

समीक्षक—अब देखिये, जङ्गलियों के काम। इन्होंने पत्थर पूजे और पुजवाये। और इसको मुसलमान लोग 'बयतलमुकद्दस' कहते हैं। क्या यही पत्थर ईश्वर का घर, और उसी पत्थर मात्र में ईश्वर रहता था? वाह-वाह जी!! क्या कहना है। ईसाई लोगो! महाबुतपरस्त तो तुम्हीं हो ।।३१।।

३२—और ईश्वर ने राखिल[6] को स्मरण किया, और ईश्वर ने उसकी सुनी और उसकी कोख को खोला ।। और वह गर्भिणी हुई और बेटा जनी। और बोली कि ईश्वर [ने] मेरी निन्दा दूर किई ।।

तौ० उत्पत्ति० पर्व ३०। आ० २२, २३ ।।

समीक्षक—वाह ईसाइयों के ईश्वर! क्या बड़ा डाक्तर है?

---

१. अर्थात् चिकने गले पर। हाथों और गले को देखकर उसका पिता पहचान न ले, इसलिये उन पर चमड़ा लपेटा।

२. Jacob. ३. उसीसा=सिराहना। ४. सं० २ में 'ढाला' पाठ है।
५. Bethel. ६. Rachel.

स्त्रियों की कोख [को] खोलने को कौन-से शस्त्र वा औषध थे, जिनसे खोली ? ये सब बातें अन्धाधुन्ध की हैं ॥३२॥

३३ परन्तु ईश्वर अरामी[1] लावन[2] कने[3] स्वप्न में रात को आया, और उस कहा कि चौकस रह, तू यअकूब को भला बुरा मत कहना ॥ क्योंकि तू अपने पिता के घर का निपट अभिलाषी है, तूने किसलिये मेरे देवों को चुराया है ?

तौ॰ उत्पत्ति॰ पर्व ३१ । आ॰ २४, ३० ॥

समीक्षक यह हम नमूना लिखते हैं। हजारों मनुष्यों को स्वप्न में आया, बातें किईं। [4]जागृत [में] साक्षात् मिला, खाया, पिया, आया, गया आदि बाइबल में लिखा है। परन्तु अब न जाने वह है, वा नहीं ? क्योंकि अब किसी को स्वप्न वा [4]जागृत में भी ईश्वर नहीं मिलता।

और यह भी विदित हुआ कि ये जङ्गली लोग पाषाणादि मूर्त्तियों को देव मानकर पूजते थे। परन्तु ईसाइयों का ईश्वर भी पत्थर ही को देव मानता है। नहीं तो देवों का चुराना कैसे घटे ? ॥३३॥

३४—और यअकूब अपने मार्ग चला गया, और ईश्वर के दूत उसे आ मिले। और यअकूब ने उन्हें देखके कहा कि यह ईश्वर की सेना है ॥ तौ॰ उत्पत्ति॰, पर्व ३२ । आ॰ १, २ ॥

समीक्षक—अब ईसाइयों के ईश्वर [के] मनुष्य होने में कुछ भी संदिग्ध[5] नहीं रहा। क्योंकि [वह] सेना भी रखता है। जब सेना हुई, तब शस्त्र भी होंगे। और जहां-तहां चढ़ाई करके लड़ाई भी करता होगा। नहीं तो सेना रखने का क्या प्रयोजन है ? ॥३४॥

---

१ सं॰ २ से ३३ तक 'आरामी' पाठ है। सं॰ ३४, ३५ में बदलकर 'अरामी' बनाया गया।

२. Laban. ३. कने=समीप में।

४. यहां 'जाग्रत्' पाठ होना चाहिये।

५. 'संदिग्ध' शब्द के स्थान पर 'सन्देह' शब्द होना चाहिये। भ॰ द॰

३५—और यअकूब अकेला रह गया, और वहां पौ फटे लों एक जन उससे[1] मल्लयुद्ध करता रहा ।। और जब उसने देखा कि वह उस पर प्रबल न हुआ, तो उसकी जांघ को भीतर से छुआ ।।

तब यअकूब के जांघ की नस उसके सङ्ग[2] मल्लयुद्ध करने में चढ़ गई ।। तब वह बोला कि मुझे जाने दे, क्योंकि पौ फटती है । और वह बोला मैं तुझे जाने न देऊंगा, जब लों तू मुझे आशीष न देवे ।।

तब उसने उसे कहा कि तेरा नाम क्या [है]? और वह बोला कि यअकूब ।। तब उसने कहा कि तेरा नाम आगे को यअकूब न होगा, परन्तु इसरायेल[3] । क्योंकि तूने ईश्वर के आगे और मनुष्यों के आगे राजा की नाईं मल्लयुद्ध किया और जीता ।।

तब यअकूब ने यह कहिके उससे[1] पूंछा कि अपना नाम बताइये । और वह बोला कि तू मेरा नाम क्यों पूंछता है ? और उसने उसे वहां आशीष दिया ।।

और यअकूब ने उस स्थान का नाम फनूएल[4] रक्खा ।। क्योंकि मैंने ईश्वर को प्रत्यक्ष देखा और मेरा प्राण बचा है ।। और जब वह फनूएल से पार चला, तो सूर्य की ज्योति उस पर पड़ी । और वह अपनी जांघ से लंगड़ाता था ।। इसलिये इसरायेल के वंश उस जांघ की नस को जो चढ़ गई थी, आज लों नहीं खाते । क्योंकि उसने यअकूब के जांघ की नस को जो चढ़ गई थी, छुआ था ।।

तौ० उत्प०, पर्व ३२ । आ० २४-३२ ।।

समीक्षक—जब ईसाइयों का ईश्वर अखाड़मल्ल है, तभी तो सरः और राखल पर पुत्र होने की कृपा की । भला यह कभी ईश्वर हो सकता है ? और देखो लीला कि एक जना नाम पूंछे, तो दूसरा अपना नाम ही न बतलावे ।

और ईश्वर ने उसकी नाड़ी को चढ़ा तो दी और जीता गया, परन्तु जो डाक्तर होता, तो जांघ की नाडी को अच्छी भी करता ।

---

१. सं० २ में 'उस्से' पाठ है । २. सं० २ में 'संघ' अपपाठ है ।
३. Israel. ४. Phanuel.

और ऐसे ईश्वर की भक्ति से जैसा कि यअकूब लंगड़ाता रहा, तो अन्य भक्त भी लंगड़ाते होंगे। जब ईश्वर को प्रत्यक्ष देखा और मल्लयुद्ध किया, यह बात विना शरीरवाले के कैसे हो सकती है? यह केवल लड़कपन की लीला है ॥३५॥

३६[1]—ईश्वर का मुंह देखा ॥ तौ० उत्प० पर्व ३३। आ० १०॥

समीक्षक—जब ईश्वर के मुंह है, तो और भी सब अवयव होंगे। और वह जन्म-मरणवाला भी होगा ॥३६॥

३७—और यहूदाह[2] का पहिलौठा एर[3] परमेश्वर की दृष्टि में दुष्ट था, सो परमेश्वर ने उसे मार डाला ॥ तब यहूदाह ने ओनान[4] को कहा कि अपने भाई की पत्नी [के] पास जा, और उससे ब्याह कर अपने भाई के लिये वंश चला ॥ और ओनान ने जाना कि यह वंश मेरा न होगा। और यों हुआ कि जब वह अपने भाई की पत्नी के पास गया, तो वीर्य्य को भूमि पर गिरा दिया ॥ और उसका वह कार्य्य परमेश्वर की दृष्टि में बुरा था, इसलिये उसने उसे भी मार डाला ॥ तौ० उत्प० पर्व ३८। आ० ७-१०॥

समीक्षक—अब देख लीजिये, ये मनुष्यों के काम हैं कि ईश्वर के? जब उसके साथ नियोग हुआ, तो उसको क्यों मार डाला? उसकी बुद्धि शुद्ध क्यों न करदी? और वेदोक्त नियोग भी प्रथम सर्वत्र चलता था। यह निश्चय हुआ[5] कि नियोग की बातें सब देशों में चलती थीं ॥३७॥

तौरेत यात्रा[6] की पुस्तक

३८ जब मूसा[7] सयाना हुआ, और अपने भाइयों में से एक इबरानी[8] को देखा कि मिश्री उसे मार रहा है ॥ तब उसने इधर-उधर दृष्टि किई देखा कि कोई नहीं, तब उसने उस मिश्री को मार डाला,

१. यह समीक्ष्य और समीक्षांश सं० २ से ३३ तक नहीं है। छूटा हुआ यह पाठ सं० ३४ में जोड़ा है।

२. Juda. ३. Her. ४. Onan. ५. यह पुनरुक्ति है। यहां 'चलता था यह सिद्ध हुआ' पर्याप्त है। ६. Exodus. ७. Moses. ८. Hebrew.

और बालू में उसे छिपा दिया ।। जब वह दूसरे दिन बाहर गया, तो देखा दो इब्रानी आपुस में झगड़ रहे हैं। तब उसने उस अंधेरी[1] को कहा कि तू अपने परोसी को क्यों मारता है ? ।।

तब उसने कहा कि किसने तुझे हम पर अध्यक्ष अथवा न्यायी ठहराया ? क्या तू चाहता है कि जिस रीति से तूने मिश्री को मार डाला मुझे भी मार डाले ।। तब मूसा डरा, और भाग निकला ।

तौ० या०, पर्व २ । आ० ११-१५।।

समीक्षक—अब देखिये, जो बाइबल का मुख्य सिद्धकर्ता मत का आचार्य मूसा कि जिसका चरित्र क्रोधादि [2]दुर्गुणों से युक्त, मनुष्य को हत्या करनेवाला, और चोरवत् राजदण्ड से बचनेहारा, अर्थात् जब बात को छिपाता था, तो झूंठ बोलनेवाला भी अवश्य होगा।

ऐसे को भी जो ईश्वर मिला, वह पैगम्बर बना, उसने यहूदी आदि का मत चलाया। वह भी मूसा ही के सदृश हुआ। इसलिये ईसाइयों के जो मूल पुरुष हुए हैं, वे सब मूसा से आदि[3] ले करके जङ्गली अवस्था में थे, विद्याऽवस्था में नहीं इत्यादि ।।३७।।

३९[4]—जब परमेश्वर ने देखा कि वह देखने को एक अलंग[5] फिरा, तो ईश्वर ने झाड़ी के मध्य में से उसे पुकारके कहा कि—हे मूसा हे मूसा ! तब वह बोला मैं यहां हूं ।। तब उसने कहा कि इधर पास मत आ, अपने पाओं से जूता उतार, क्योंकि यह स्थान जिस

---

१. अन्धेरी=अन्धेर करनेवाले=अपराधी ।

२. सं० २, ३, ४ में 'गुणों' पाठ है। सं० ५ में ठीक किया।

३. 'मूसा आदि से लेकर' पाठ होना चाहिये।

४. यह तथा अगला ४० संख्या का समीक्ष्य तथा समीक्षा रूप अंश सं० २ से ३३ तक नहीं है। मूल हस्तलेख के एक पृष्ठ पर लिखा गया अंश छपने से रह गया। श्री पं० महेन्द्र शास्त्रीजी ने अपने वैदिक यन्त्रालय के संशोधन काल में सं० २४ वें या २५ वें के मुद्रणकाल में इस छूटे हुये पत्रे को उपलब्ध किया था, परन्तु उस समय किसी कारण से नहीं छप सका। यह ३४ वें सं० में प्रथम बार छपा है।

५. अर्थात् एक ओर मुड़ा।

पर तू खड़ा है पवित्र भूमि है ।। [तौ०] या० पर्व ३ । आ० ४, ५ ।।

समीक्षक—देखिये, ऐसे मनुष्य जो कि मनुष्य को मार के बालू में गाड़नेवाले से इन के ईश्वर की मित्रता, और उसको पैगम्बर मानते हैं। और देखो, जब तुम्हारे ईश्वर ने मूसा से कहा कि पवित्र स्थान में जूती न ले जानी चाहिये, तुम ईसाई इस आज्ञा से विरुद्ध क्यों चलते हो ?

प्रश्न—हम जूती के स्थान में टोपी उतार लेते हैं।

उत्तर—यह दूसरा अपराध तुमने किया। क्योंकि टोपी उतारना न ईश्वर ने कहा, न तुम्हारे पुस्तक में लिखा है। और उतारने योग्य को नहीं उतारते, जो नहीं उतारना चाहिये उसको उतारते हो। यह दोनों प्रकार तुम्हारे पुस्तक से विरुद्ध है।

प्रश्न—हमारे यूरोप देश में शीत अधिक है, इसलिये हम लोग जूती नहीं उतारते।

उत्तर—क्या शिर में शीत नहीं लगता ? जो यही है तो जब यूरोप देश में जाओ, तब ऐसा ही करना। परन्तु जब हमारे घर में वा बिछौने में आया करो, तब तो जूती उतार दिया करो। और जो न उतारोगे, तो तुम अपने बाइबल पुस्तक के विरुद्ध चलते हो। ऐसा तुमको न करना चाहिये ।। [३९।।]

४०—तब परमेश्वर ने उसे कहा कि तेरे हाथ में यह क्या है ? और वह बोला कि छड़ी ।। तब उसने कहा कि उसे भूमि पर डाल दे। और उसने उसे भूमि पर डाल दिया। और वह सर्प्प बन गई, और मूसा उसके आगे से भागा ।।

तब परमेश्वर ने मूसा से कहा कि अपना हाथ बढ़ा, और उसकी पूंछ पकड़ ले। तब उसने अपना [हाथ] बढ़ाया, और उसे पकड़ लिया। और वह उस के हाथ में छड़ी हो गई ।।

तब परमेश्वर ने उसे कहा कि फिर तू अपना हाथ अपनी गोद में कर। और उसने अपना हाथ अपनी गोद में किया। जब उसने उसे निकाला, तो देखा कि उसका हाथ हिम के समान कोढ़ी था ।।

और उसने कहा, कि अपना हाथ फिर अपनी गोद में कर। उसने फिर अपने हाथ को अपनी गोद मे किया और अपनी गोद से उसे निकाला, तो देखा कि जैसी उसकी सारी देह थी वह वैसा फिर हो गया ॥ तू नील नदी का जल लेके सूखीपर डालियो। और वह जल जो तू नदी से निकालेगा सो सूखी पर लोहू हो जायगा ॥

[तौ०] या० प० ४। आ० २-४, ६, ७, ९ ॥

समीक्षक—अब देखिये, कैसे वाजीगर का खेल, खिलाड़ी ईश्वर, उसका सेवक मूसा, और इन बातों के मानने हारे कैसे हैं? क्या आजकल वाजीगर लोग इससे कम करामात करते हैं? यह ईश्वर क्या, यह तो बड़ा खिलाड़ी है। इन बातों को विद्वान् क्यों कर मानेंगे?

और हर एक बार 'मैं परमेश्वर हूं' और 'अबिरहाम, इजहाक और याकूब का ईश्वर हूं' इत्यादि हर एक से अपने मुख से अपनी प्रशंसा करता फिरता है। यह [बात] उत्तम जन की नहीं हो सकती, किन्तु दम्भी मनुष्य की हो सकती है ॥ [४० ॥]

४१—और फसह[1] [का] मेम्ना मारो ॥ और एक मूठी जूफा[2] लेओ, और उसे उस लोहू में, जो बासन में है बोर के ऊपर की चौखट के और द्वार की दोनों ओर उससे छापो। और तुममें से कोई बिहान लों अपने घर के द्वार से बाहर न जावे ॥

क्योंकि परमेश्वर मिश्र के मारने के लिये आरपार जायगा। और जब वह ऊपर की चौखट पर और द्वार को दोनों ओर लोहू को देखे, तब परमेश्वर द्वार से बीत[3] जायगा। और नाशक[4] तुम्हारे घरों में न जाने देगा कि मारे ॥ तौ० या० प० १२। आ० २१—२३ ॥

समीक्षक—भला यह जो टोने टामन करनेवाले के समान है, वह ईश्वर सर्वज्ञ कभी हो सकता है? जब लोहू का छापा देखे, तभी

---

१. फसह = लांघन-पर्व (द्र०—१९१९ की इलाहाबाद की छपी बाइबल)। सं० ३४ मेंयहां कोष्ठक में जो पाठ बढ़ा दिया है, वह अनावश्यक है।

२. Hyssop. ३. अर्थात् निकल जायगा। ४. अर्थात् हिंसक।

इसरायेल कुल का घर जाने, अन्यथा नहीं। यह काम क्षुद्र-बुद्धिवाले मनुष्य के सदृश है। इससे यह विदित होता है कि ये बातें किसी जङ्गली मनुष्य की लिखी हैं ॥४१॥

४२—और यों हुआ कि परमेश्वर ने आधी रात को मिश्र के देश में सारे पहिलौठे को, फिराऊन[1] के पहिलौठे से लेके जो अपने सिंहासन पर बैठता था, उस बन्धुआ के पहिलौठे लों, जो बन्दीगृह में था, पशुन के पहिलौठे समेत नाश किये॥ और रात को फिराऊन उठा, वह और उसके सब सेवक और सारे मिश्री उठे। और मिश्र में बड़ा विलाप था। क्योंकि कोई घर न रहा, जिसमें एक न मरा॥
तौ० या० प० १२। आ० २९, ३०॥

समीक्षक—वाह! अच्छा, आधी रात को डाकू के समान निर्दयी होकर ईसाइयों के ईश्वर ने लड़के बाले वृद्ध और पशु तक भी विना अपराध मार दिये, और कुछ भी दया न आई। और मिश्र में बड़ा विलाप होता रहा, तो भी ईसाइयों के ईश्वर के चित्त से निष्ठुरता नष्ट न हुई?

ऐसा काम ईश्वर का तो क्या, किन्तु किसी साधारण मनुष्य के भी करने का नहीं है। यह आश्चर्य नहीं, क्योंकि लिखा है—"**मांसाहारिणः कुतो दया।**" जब ईसाइयों का ईश्वर मांसाहारी है, तो उसको दया करने से क्या काम है? ॥४२॥

४३—परमेश्वर तुम्हारे लिये युद्ध करेगा॥ इसरायेल के सन्तान से कह कि वे आगे बढ़ें॥ परन्तु तू अपनी छड़ी उठा और समुद्र पर अपना हाथ बढ़ा, और उसे[2] दो भाग कर। और इसरायेल के सन्तान समुद्र के बीचोंबीच से सूखी भूमि में होकर चले जायेंगे॥
तौ० या० प० १४। आ० १४–१६॥

समीक्षक—क्योंजी! आगे तो ईश्वर भेड़ों के पीछे गड़रिये के समान इसरायेल कुल के पीछे-पीछे डोला करता था, अब न जाने कहां अन्तर्धान हो गया? नहीं तो समुद्र के बीच में से चारों ओर

१. Pharao. २. उसे=समुद्र को। सं० २ में 'उससे' अपपाठ है।

की रेलगाड़ियों की सड़क बनवा लेते। जिससे सब संसार का उपकार होता। और नाव आदि बनाने का श्रम छूट जाता। परन्तु क्या किया जाय? ईसाइयों का ईश्वर [न] जाने कहां छिप रहा है? इत्यादि बहुत-सी मूसा के साथ असम्भव लीला बाइबल के ईश्वर ने की है।

परन्तु यह विदित हुआ कि जैसा ईसाइयों का ईश्वर है, वैसे ही उसके सेवक, और ऐसी ही उसकी बनाई पुस्तक है। ऐसी पुस्तक और ऐसा ईश्वर हम लोगों से दूर रहै, तभी अच्छा है ॥४३॥

४४—क्योंकि मैं परमेश्वर तेरा ईश्वर ज्वलित[1] सर्वशक्तिमान् हूं। पितरों के अपराध का दण्ड उनके पुत्रों को, जो मेरा बैर रखते हैं, उनकी तीसरी और चौथी पीढ़ी लों देवैया हूं॥

तौ० या० प० २०। आ० ५॥

समीक्षक—भला यह किस घर का न्याय है कि जो पिता के अपराध से चार पीढ़ी तक दण्ड देना अच्छा समझना।[2] क्या अच्छे पिता के दुष्ट और दुष्ट के अच्छे सन्तान नहीं होते? जो ऐसा है, तो चौथी पीढ़ी तक दण्ड कैसे दे सकेगा? और जो पांचवीं पीढ़ी से आगे दुष्ट होगा, उसको दण्ड न दे सकेगा? विना अपराध किसी को दण्ड देना अन्यायकारी की बात है ॥४४।

४५—विश्राम के दिन को उसे पवित्र रखने के लिये स्मरण कर॥ छः दिन लों तू परिश्रम कर॥ और सातवां दिन परमेश्वर तेरे ईश्वर का विश्राम है॥ परमेश्वर ने विश्राम दिन को आशीष दी॥ तौ० या० प० २०। आ० ८–११॥

समीक्षक—क्या रविवार एक ही पवित्र, और छः दिन अपवित्र

---

१. Jealous.

२. तौरेत की यह भूल मनु के धर्मशास्त्र को न समझने का फल है। मनुस्मृति में अशुचि धन के विषय में लिखा है कि 'अधर्म से आया धन अधिक से अधिक तीसरी पीढ़ी में नाशक हो जाता है। जो पुत्र पौत्र इस दुःख से बचना चाहें, उन्हें पाप से दायाद में आया धन अपने पास न रखकर राजकोश में दे देना चाहिये'। (द्र०—मनु० ४।१७३॥) भ० द०

है ? और क्या परमेश्वर ने छः दिन तक बड़ा परिश्रम किया था कि जिससे थकके सातवें दिन सो गया[1] ? और जो रविवार को आशीर्वाद दिया, तो सोमवार आदि छः दिनों को क्या दिया ? अर्थात् शाप दिया होगा। ऐसा काम विद्वान् का भी नहीं [हो सकता,] तो ईश्वर का क्योंकर हो सकता है ?

भला रविवार में[2] क्या गुण [था,] और सोमवार आदि ने क्या दोष किया था कि जिससे एक को पवित्र [कहा] तथा वर दिया, और अन्यों को ऐसे ही अपवित्र कर दिये ? ॥४५॥

४६—अपने परोसी पर झूठी साक्षी मत दे ॥ अपने परोसी की स्त्री और उसके दास उसकी दासी और उसके बैल और उसके गदहे और किसी वस्तु का, जो तेरे परोसी की है, लालच मत कर ॥

तौ० या० प० २० । आ० १६, १७ ॥

समीक्षक—वाह ! तभी तो ईसाई लोग परदेशियों के माल पर ऐसे झुकते हैं कि जानो प्यासा जल पर, भूखा अन्न पर। जैसी यह केवल मतलबसिन्धु और पक्षपात की बात है, ऐसा ही ईसाइयों का ईश्वर अवश्य होगा।

यदि कोई कहे कि हम सब मनुष्यमात्र को परोसी मानते हैं, तो सिवाय मनुष्यों के अन्य कौन स्त्री और [दास] दासीवाले हैं कि जिनको अपरोसी गिनें ? इसलिये ये बातें स्वार्थी मनुष्यों की हैं, ईश्वर की नहीं ॥४६॥[3]

---

१. तैत्तिरीय ब्राह्मण में प्रजापति-हिरण्यगर्भ-महदण्ड के विषय में लिखा है—श्रान्तो भूत्वा अशयत। इसे न समझकर ईसाइयों ने ईश्वर का सोना लिख दिया। भ० द०। पौराणिक मत के अनुसार ब्रह्मा ने ६ मन्वन्तरों में सृष्टि की रचना की, और सातवें मन्वन्तर में उसका कोई कार्य नहीं रहा। सृष्टि की पालना विष्णु का कार्य है। सम्भव है इसी को बाइबल में अपने अज्ञान से अन्यथा रूप दे दिया। ६ मन्वन्तर को ६ दिन और ७ वें वैवस्वत मन्वन्तर को रविवार लिख दिया। २. सं० ३४ में 'में' के स्थान में 'ने' बनाया।

३. यहां से आगे एक समीक्ष्य और समीक्षा का जो अंश सं० २ से ३३ तक छपा है। वह 'गिनती की पुस्तक' का होने से अस्थान में छप गया है। सं० ३४ में इसे यथास्थान छापा है।

४७—जो कोई किसी मनुष्य को मारे और वह मर जाय, वह निश्चय घात किया जाय ।। और वह मनुष्य घात में न लगा हो, परन्तु ईश्वर ने उसके हाथ में सौंप दिया हो, तब मैं तुझे भागने का स्थान बता दूंगा ।। तौ० या० प० २१ । आ० १२,१३ ।।

समीक्षक—जो यह ईश्वर का न्याय सच्चा है, तो मूसा एक आदमी को मार गाड़कर भाग गया था, उसको यह दण्ड क्यों न हुआ ? जो कहो ईश्वर ने मूसा को मारने के निमित्त सौंपा था, तो ईश्वर पक्षपाती हुआ । क्योंकि उस मूसा का राजा से न्याय क्यों न होने दिया ? ।।४७।।

४८—और कुशल का बलिदान बैलों से परमेश्वर के लिये चढ़ाया ।। और मूसा ने आधा लोहू लेके पात्रों में रक्खा, और आधा लोहू वेदी पर छिड़का ।। और मूसा ने उस लोहू को लेके लोगों पर छिड़का, और कहा कि यह लोहू उस नियम का है, जिसे परमेश्वर ने इन बातों के कारण तुम्हारे साथ किया है ।।

और परमेश्वर ने मूसा से कहा कि पहाड़ पर मुझ[१] पास आ, और वहां रह । और मैं तुझे पत्थर की पटियां और व्यवस्था और आज्ञा जो मैंने लिखी है, दूंगा ।। तौ० या० प० २४ । आ० ५, ६ ८, १२ ।।

समीक्षक—अब देखिये, ये सब जङ्गली लोगों की बातें हैं, वा नहीं ? और परमेश्वर बैलों का बलिदान लेता, और वेदी पर लोहू छिड़कना, यह कैसी जङ्गलीपन और असभ्यता की बात है ?

जब ईसाइयों का खुदा भी बैलों का बलिदान लेवे, तो उसके भक्त बैल गाय के बलिदान की प्रसादी से पेट क्यों न भरें? और जगत् की हानि क्यों न करें ?

ऐसी-ऐसी बुरी बातें बाइबल में भरी हैं । इसीके कुसंस्कारों से वेदों में भी ऐसा झूंठा दोष लगाना चाहते हैं[२] । परन्तु वेदों में ऐसी बातों का नाम भी नहीं ।

---

१. अर्थात् मेरे पास ।

२. पाश्चात्य विद्वानों ने वेदों और अन्य वाङ्मय के सम्बन्ध में जो कुछ

और यह भी निश्चय हुआ कि ईसाइयों का ईश्वर एक पहाड़ी मनुष्य था, पहाड़ पर रहता था। जब वह खुदा स्याही लेखनी कागज नहीं बना जानता, और न उसको प्राप्त था, इसीलिये पत्थर की पटियों पर लिख-लिख देता था। और इन्हीं जङ्गलियों के सामने ईश्वर भी बन बैठा था ॥४८॥

४९—और बोला कि तू मेरा रूप नहीं देख सकता। क्योंकि मुझे देखके कोई मनुष्य न जियेगा ॥

और परमेश्वर ने कहा कि देख एक स्थान मेरे पास है, और तू उस टीले पर खड़ा रह ॥

और यों होगा कि जब मेरा विभव[1]चलक निकलेगा, तो मैं तुझे पहाड़ के दरार में रक्खूंगा। और जब लों जा निकलूं, तुझे अपने हाथ से ढापूंगा ॥

और अपना हाथ उठा लूंगा, और तू मेरा पीछा देखेगा, परन्तु मेरा रूप दिखाई न देगा ॥

तौ० या० पर्व ३३। आ० २०—२३ ॥

समीक्षक—अब देखिये ! ईसाइयों का ईश्वर केवल मनुष्यवत् शरीरधारी। और मूसा से कैसा प्रपञ्च रचके आप स्वयं ईश्वर बन गया। जो पीछा देखेगा रूप न देखेगा, तो हाथ से उसको ढांप भी दिया[2] न होगा। जब खुदा ने अपने हाथ से मूसा को ढांपा होगा, तब क्या उसके हाथ का रूप उसने न देखा होगा ? ॥४९॥

ऊट-पटांग लिखा है, उसका कारण एकमात्र ईसाई यहूदी मत का पक्षपात है। ग्रन्थकार ने उनके कुचक्र की ठीक नाड़ी पकड़ी है। ग्रन्थकार के उक्त कथन की सत्यता के लिये श्री पं० भगवद्दत्त लिखित 'Western Indologists : A Study in Motives.' निबन्ध देखना चाहिये। इसका हिन्दी अनुवाद वेदवाणी वर्ष २४ अंक १ (नवम्बर १९७१) में **'पाश्चात्य संस्कृतज्ञों की नियत'** शीर्षक से छपा है। यह अत्यन्त मननीय लेख है। नीचे टिप्पणी में उन लेखों के मूल वचन भी दे दिये हैं।

१. अर्थात् तेज की झलक। सं० ३४ में 'चलक' के स्थान में 'चल' पाठ बनाया है, वह चिन्त्य है।

२. सं० २ से ३५ तक 'ढांप दिया भी' पाठ है।

लैव्य व्यवस्था की पुस्तक,[1] तौ०

५०—और परमेश्वर ने मूसा को बुलाया, और मण्डली[2] के तम्बू[3] में से यह वचन उसे कहा कि ।। इसराएल के सन्तान में से बोल, और उन्हें कह—यदि कोई तुममें से परमेश्वर के लिये भेंट लावे, तो तुम ढोर में से अर्थात् गाय बैल और भेड़ बकरी में से अपनी भेंट लाओ ।।

तौ० लैव्य व्यवस्था की पुस्तक, प० १ । आ० १, २ ।।

समीक्षक—अब विचारिये, ईसाइयों का परमेश्वर गाय बैल आदि की भेंट लेनेवाला, जो कि अपने लिये बलिदान कराने के लिये उपदेश करता है। वह बैल गाय आदि पशुओं के लोहू मांस का भूखा प्यासा है वा नहीं ? इसीसे वह अहिंसक और ईश्वरकोटि में गिना कभी नहीं जा सकता, किन्तु मांसाहारी प्रपञ्ची मनुष्य के सदृश है ।।५०।।

५१—और वह उस बैल को परमेश्वर के आगे बलि करे। और हारून[4] के बेटे याजक[5] लोहू को निकट लावें। और लोहू को यज्ञवेदी के चारों ओर, जो मण्डली के तम्बू के द्वार पर है, छिड़कें ।।

तब वह उस भेंट के बलिदान की खाल निकाले, और उसे टुकड़ा-टुकड़ा करे ।। और हारून के बेटे याजक यज्ञवेदी पर आग रक्खें, और उस पर लकड़ी चुनें ।।

और हारून के बेटे याजक उसके टुकड़ों को और शिर[6] और चिकनाई को उन लकड़ियों पर, जो यज्ञवेदी की आग पर हैं विधि से धरें ।। जिसते बलिदान की भेंट होवे, जो आग से परमेश्वर के सुगन्ध के लिये भेंट किया गया ।।

तौ० लै० व्यवस्था की पुस्तक प० १ । आ० ५—९ ।।

---

१. लैव्य व्यवस्था की पुस्तक=The book of leviticus.

२. Testimony. ३. Tabernacle.

४. Aaron. ५. Priests.

६. सं० ३४ में शुद्ध पाठ को बदल कर 'सिर' पाठ बनाया है।

समीक्षक—तनिक विचारिये कि बैल को परमेश्वर के आगे उसके भक्त मारें, और वह मरवावे और लोहू को चारों ओर छिड़कें, अग्नि में होम करें, ईश्वर सुगन्ध लेवे, भला यह कसाई के घर से कुछ कमती लीला है ? इसीसे न बाइबल ईश्वरकृत, और न वह जङ्गली मनुष्य के सदृश लीलाधारी ईश्वर हो सकता है ।।५१।।

५२—फिर परमेश्वर मूसा से यह कहके बोला ।। यदि वह अभिषेक किया हुआ याजक लोगों के पाप के समान पाप करे, तो वह अपने पाप के कारण, जो उसने [1]किया है, अपने पाप की भेंट के लिये निसखोट[1] एक बछिया परमेश्वर के लिये लावे ।।

और बछिया के शिर[2] पर अपना हाथ रक्खे, और बछिया को परमेश्वर के आगे बलि करे ।। तौ० लै० व्य० प० ४ । आ० १, ३, ४ ।।

समीक्षक—अब देखिये पापों के छुड़ाने के प्रायश्चित्त ! स्वयं पाप करे, गाय आदि उत्तम पशुओं की हत्या करे, और परमेश्वर करवावे । धन्य हैं ईसाई लोगो[3]! कि ऐसी बातों के करने करानेहारे को भी ईश्वर मानकर अपनी मुक्ति आदि की आशा करते हैं !!! ।।५२।।

५३—जब कोई अध्यक्ष पाप करे ।। तब वह बकरी का निसखोट नर मेम्ना अपनी भेंट के लिये लावे ।। और उसे परमेश्वर के आगे बलि करे, यह पाप की भेंट है ।।

तौ० लै० प० ४ । आ० २२-२४ ।।

समीक्षक—वाहजी वाह ! यदि ऐसा है, तो इनके अध्यक्ष अर्थात् न्यायाधीश तथा सेनापति आदि पाप करने से क्यों डरते होंगे ? आप तो यथेष्ट पाप करें, और प्रायश्चित्त के बदले में गाय बछिया बकरे आदि के प्राण लेवें । तभी तो ईसाई लोग किसी पशु वा पक्षी के प्राण लेने में शङ्कित नहीं होते ।

---

१. निसखोट = निर्दोष = Without blemish.

२. द्र०—७५८ पृष्ठ की टि० ६ ।

३. यहां 'धन्य हैं ईसाई, लोगो ! कि' ऐसा विच्छेद कर देने से पाठ स्पष्ट हो जाता है । सं० २ से ३५ तक 'ईसाई लोग' पाठ मिलता है ।

सुनो ईसाई लोगो! अब तो इस जङ्गली मत को छोड़के सुसभ्य धर्ममय वेदमत को स्वीकार करो कि जिससे तुम्हारा कल्याण हो ।।५३।।

५४—और यदि उसे भेड़ लाने की पूंजी न हो, तो वह अपने किये हुए अपराध के लिये दो पिंडुकियां[1] और कपोत के दो बच्चे परमेश्वर के लिये लावे ।।

और उसका शिर[2] उसके गले के पास से मरोड़ डाले, परन्तु अलग न करे ।। उसके किये हुए पाप का प्रायश्चित्त करे । और उसके लिये क्षमा किया जायगा ।।

पर यदि उसे दो पिंडुकियां और कपोत के दो बच्चे लाने की पूंजी न हो, तो सेर भर चोखा पिसान का दशवां हिस्सा[3] पाप की भेंट के लिये लावे* उस पर तेल न डाले ।। और वह क्षमा किया जायगा ।। तौ० लै० प० ५ । आ० ७, ८, १०, ११, १३ ।।

समीक्षक—अब सुनिये, ईसाइयों में पाप करने से कोई धनाढ्य भी न डरता होगा और न गरीब[4] । क्योंकि इनके ईश्वर ने पापों का

---

१. Turtles. २. द्र०—पृष्ठ ७५८ टि० ६ ।

३. The tenth part of an ephi of flour.

* इस ईश्वर को धन्य है कि जिसने बछड़ा भेड़ी और बकरी का बच्चा कपोत और पिसान (आटे) तक लेने का नियम किया । अद्भुत बात तो यह है कि कपोत के बच्चे 'गरदन मरोडवाके' लेता था, अर्थात् गर्दन तोड़ने का परिश्रम[भी]न करना पड़ें । इन सब बातों के देखने से विदित होता है कि जंगलियों में कोई चतुर पुरुष था, वह पहाड़ पर जा बैठा और अपने को ईश्वर प्रसिद्ध किया । जंगली अज्ञानी थे, उन्होंने उसी को ईश्वर स्वीकार कर लिया । अपनी युक्तियों से वह पहाड़ पर ही खाने के लिये पशु-पक्षी और अन्नादि मंगा लिया करता था, और मौज करता था । उसके दूत फरिश्ते काम किया करते थें । सज्जन लोग विचारें कि कहां तो बाइबल में बछड़ा भेड़ी बकरी का बच्चा कपोत और 'अच्छे' पिसान का खानेवाला ईश्वर, और कहां सर्वव्यापक, सर्वज्ञ, अजन्मा, निराकार, सर्वशक्तिमान् और न्यायकारी इत्यादि उत्तम गुणयुक्त वेदोक्त ईश्वर ?

४. सं० २ में 'धनाढ्य दरिद्र भी न डरता होगा और न गरीब' पाठ के स्थान में सं० ५ में 'धनाढ्य भी न डरता होगा और न दरिद्र' पाठ शोधा

प्रायश्चित्त करना सहज कर रक्खा है। एक यह बात ईसाइयों की बाइबल में बड़ी अद्‌भुत है कि विना कष्ट किये पाप से पाप[1] छूट जाय। क्योंकि एक तो पाप किया, और दूसरे जीवों की हिंसा की और खूब आनन्द से मांस खाया, और पाप भी छूट गया।

भला कपोत के बच्चे का गला मरोड़ने से वह बहुत देर तक तड़फता होगा, तब भी ईसाइयों को दया नहीं आती। दया क्योंकर आवे ? इनके ईश्वर का उपदेश ही हिंसा करने का है।

और जब सब पापों का ऐसा प्रायश्चित्त है, तो ईसा के विश्वास से पाप छूट जाता है, यह बड़ा आडम्बर क्यों करते हैं ? ॥५४॥

५५—सो उसी बलिदान की खाल उसी याजक की होगी, जिसने उसे चढ़ाया॥ और समस्त भोजन को भेंट जो तन्दूर में पकाई जावे, और सब जो कड़ाही में अथवा तवे पर, सो उसी याजक की होगी॥ तौ० लै० प० ७। आ० ८, ९॥

समीक्षक—हम जानते थे कि यहां देवी के भोपे[2] और मन्दिरों के पुजारियों की पोपलीला विचित्र है। परन्तु ईसाइयों के ईश्वर और उनके पुजारियों की पोपलीला इससे सहस्रगुणी बढ़कर है। क्योंकि चाम के दाम और भोजन के पदार्थ खाने को आवें। फिर ईसाइयों ने खूब मौज उड़ाई होगी, और अब भी उड़ाते होंगे ?

भला कोई मनुष्य एक लड़के को मरवावे, और दूसरे लड़के को उसका मांस खिलावे, ऐसा कभी हो सकता है ? वैसे ही ईश्वर के सब मनुष्य और पशु पक्षी आदि सब जीव पुत्रवत् हैं। परमेश्वर ऐसा काम कभी नहीं कर सकता।

इसीसे यह बाइबल ईश्वरकृत और इसमें लिखा ईश्वर और

है। यही सं० ३५ तक छप रहा है। वस्तुत: यहां 'धनाढ्य' के आगे पढ़ा 'दरिद्र' पद ही व्यर्थ है। उसे ही हटाना चाहिये था।

१. अर्थात् पाप=पशु-हिंसा से स्वकृत पाप।

२. अर्थात् पुजारी। यह राजस्थानी भाषा का शब्द है।

इसके माननेवाले धर्मज्ञ कभी नहीं हो सकते। ऐसी ही सब बातें 'लैव्य व्यवस्था' आदि पुस्तकों में भरी हैं, कहां तक गिनावें ? ।।५५।।

गिनती[1] की पुस्तक

५६--सो गदही[2] ने परमेश्वर के दूत को अपने हाथ में तलवार खैंचे हुए मार्ग में खड़ा देखा। तब गदही मार्ग से अलग खेत में फिर गई। उसे मार्ग में फिरने के लिये बलआम[3] ने गदही को लाठी से मारा ।।

तब परमेश्वर ने गदही का मुंह खोला। और उसने बलआम से कहा कि मैंने तेरा क्या किया है कि तूने मुझे अब तीन बार मारा ।।

तौ० गि० प० २२। आ० २३, २८ ।।[4]

समीक्षक—प्रथम तो गदहे तक ईश्वर के दूतों को देखते थे, और आजकल बिशप पादरी आदि श्रेष्ठ वा अश्रेष्ठ मनुष्यों को भी खुदा वा उसके दूत नहीं दीखते हैं। क्या आजकल परमेश्वर और उसके दूत हैं वा नहीं ? यदि हैं तो क्या बड़ी नींद में सोते हैं ? वा रोगी अथवा अन्य भूगोल में चले गये ? वा किसी अन्य धन्धे में लग गये ? वा अब ईसाइयों से रुष्ट हो गये ? अथवा मर गये ? विदित नहीं होता कि क्या हुआ ?

अनुमान तो ऐसा होता है कि जो अब नहीं हैं, नहीं दीखते, तो तब भी नहीं थे और न दीखते होंगे। किन्तु ये केवल मनमाने गपोड़े उड़ाये हैं ।।५६।।

५७—[5]सो अब लड़कों में से हर एक बेटे को और हर एक स्त्री को, जो पुरुष से संयुक्त हुई हो, प्राण से मारो ।। परन्तु वे बेटियां,

---

१. Numbers. २. She-ass. ३. Balaam.

४. यहां सं० ३४ में कोष्ठक में [२७ वीं आयत भी देखें] पाठ बढ़ाया है, वह अनावश्यक है।

५. यह आयत और इसका समीक्ष्यमाण अंश सं० २ से ३३ तक पूर्व अस्थान में छपा था। उसे सं० ३४ में यथास्थान रखा गया। द्र०—पृष्ठ ७५५ टि० ३।

जो पुरुष से संयुक्त नहीं हुई हैं, उन्हें अपने लिये जीती रक्खो ॥

तौ० गिनती० प० ३१ । आ० १७, १८ ॥

समीक्षक—वाह जी ! मूसा पैगम्बर और तुम्हारा ईश्वर धन्य है ! कि जो स्त्री बालक वृद्ध और पशु आदि की हत्या करने से भी अलग न रहे ।

और इससे स्पष्ट निश्चित होता है कि मूसा विषयी था । क्योंकि जो विषयी न होता, तो अक्षतयोनि अर्थात् पुरुषों से समागम न की हुई कन्याओं को अपने लिये [क्यों] मंगवाता ? वा उनको ऐसी निर्दय वा विषयीपन की आज्ञा क्यों देता ? ॥५७॥

समुएल[1] की दूसरी पुस्तक

५८—और उसी रात ऐसा हुआ कि परमेश्वर का वचन यह कहके नातन[2] को पहुंचा ॥ कि जा और मेरे सेवक दाऊद[3] से कह कि परमेश्वर यों कहता है [कि] मेरे निवास के लिये तू एक घर बनावेगा ॥ क्योंकि जब से इसराएल के सन्तान को मिश्र से निकाल लाया, मैंने तो आज के दिन लों घर में वास न किया । परन्तु तम्बू में और डेरे में फिरा किया ॥

तौ० समुएल की दूसरी पु०, प० ७ । आ० ४-६ ॥

समीक्षक—अब कुछ सन्देह न रहा कि ईसाइयों का ईश्वर मनुष्यवत् देहधारी नहीं है । और उलहना देता है कि मैंने बहुत परिश्रम किया, इधर-उधर डोलता फिरा । अब दाऊद घर बनादे, तो उसमें आराम करूं ।

क्यों ईसाइयों को ऐसे ईश्वर और ऐसे पुस्तक को मानने में लज्जा नहीं आती ? परन्तु क्या करें, बिचारे फस ही गये । अब निकलने के लिये बड़ा पुरुषार्थ करना उचित है ॥५८॥

राजाओं की पुस्तक [२]

५९—और बाबुल[4] के राजा नबूखुदनजर[5] के राज्य के **उन्नी-**

---

१. Samuel. २. Nathan.
३. David. ४. Babylon. ५. Nabuchodonosor.

सवें बरष के पांचवें मास सातवीं तिथि में बाबुल के राजा का एक सेवक नबूसरअद्दान[1],जो निज सेना का प्रधान अध्यक्ष था, यरूसलम[2] में आया ॥

और उसने परमेश्वर का मन्दिर और राजा का भुवन[3] और यरूसलम के सारे घर और हर एक बड़े घर को जला दिया ॥

और कसदियों[4] की सारी सेना ने, जो उस निज सेना के अध्यक्ष के साथ थी, यरूसलम की भीतों को चारों ओर से ढा दिया ॥

तौ० रा० [पु०२] प० २५ । आ०८-१० ॥

समीक्षक—क्या किया जाय, ईसाइयों के ईश्वर ने तो अपने आराम के लिये दाऊद आदि से घर बनवाया था। उसमें आराम करता होगा, परन्तु नबूसरअद्दान ने ईश्वर के घर को नष्ट-भ्रष्ट कर दिया। और ईश्वर वा उसके दूतों की सेना कुछ भी नकर सकी।

प्रथम तो इनका ईश्वर बड़ी लड़ाइयां मारता था और विजयी होता था, परन्तु अब अपना घर जला तुड़वा बैठा, न जाने चुपचाप क्यों बैठा रहा? और न जाने उसके दूत किधर भाग गये? ऐसे समय पर कोई भी काम न आया। और ईश्वर का पराक्रम भी न जाने कहां उड़ गया?

यदि यह बात सच्ची हो, तो जो-जो विजय की बातें प्रथम लिखीं सो-सो सब व्यर्थ हो गईं। क्या मिश्र के लड़का लड़कियों के मारने में ही शूरवीर बना था? अब शूरवीरों के समाने चुपचाप हो बैठा? यह तो ईसाइयों के ईश्वर ने अपनी निन्दा और अप्रतिष्ठा करा ली। ऐसे ही हजारों इस पुस्तक में निकम्मी कहानियां भरी हैं ॥५६॥

---

१. Nabuzardan.   २. Jerusalem.

३. सं० ८ से ३५ तक 'भवन' पाठ है। संस्कृत भाषा में भवन विशेष के लिये 'भुवन' शब्द भी प्रयुक्त होता है।

४. Chaldees.

जबूर का दूसरा भाग

काल के समाचार की पहली पुस्तक[1]

६०— सो परमेश्वर मेरे ईश्वर ने इसराएल पर मरी भेजी। और इसराएल में से सत्तर सहस्र पुरुष गिर गये ॥

[जबूर० २] काल० [पहली पु०] प० २१। आ० १४ ॥

समीक्षक—अब देखिये! इसराएल के ईसाइयों के ईश्वर की लीला। जिस इसराएल कुल को बहुत से वर दिये थे, और रात-दिन जिनके पालन में डोलता था, अब झट क्रोधित होकर मरी डाल के सत्तर सहस्र मनुष्यों को मार डाला। जो यह किसी कवि ने लिखा है, सत्य है कि—

क्षणे रुष्टः क्षणे तुष्टो रुष्टस्तुष्टः क्षणे क्षणे।
अव्यवस्थितचित्तस्य प्रसादोऽपि भयङ्करः ॥[2]

जैसे कोई मनुष्य क्षण में प्रसन्न, क्षण में अप्रसन्न होता है अर्थात् क्षण-क्षण में प्रसन्न-अप्रसन्न होवे, उसकी प्रसन्नता भी भयदायक होती है। वैसी लीला ईसाइयों के ईश्वर की है ॥६०॥

ऐयूब की पुस्तक[3]

६१—और एक दिन ऐसा हुआ कि परमेश्वर के आगे ईश्वर के पुत्र आ खड़े हुए। और शैतान भी उनके मध्य में परमेश्वर के आगे आ खड़ा हुआ ॥

और परमेश्वर ने शैतान से कहा कि तू कहां से आता है? तब शैतान ने उत्तर देके परमेश्वर से कहा कि पृथिवी पर घूमते और इधर-उधर से फिरते चला आता हूं ॥

तब परमेश्वर ने शैतान से पूछा कि तूने मेरे दास ऐयूब को

---

१. The first book of Paralipomenon.

२. द्र०—सुभाषितरत्नभाण्डागार, प्रकरण ३, सामान्यनीति, श्लोक १७४ में 'क्वचिद् रुष्टः क्वचित्तुष्टः' पाठभेद से उद्धृत।

३. The book of Job.

जांचा है कि उसके समान पृथिवी में कोई नहीं है। वह सिद्ध और खरा जन ईश्वर से डरता और पाप से अलग रहता है। और अब-लों अपनी सच्चाई को धर रक्खा है। और तूने मुझे उसे अकारण नाश करने को उभारा है॥

तब शैतान ने उत्तर देके परमेश्वर से कहा कि—चाम के लिये चाम। हां जो मनुष्य का है, सो अपने प्राण के लिये देगा॥ परन्तु अब अपना हाथ बढ़ा, और उसके हाड़ मांस को छू। तब वह निःसन्देह तुझे तेरे सामने त्यागेगा॥[1]

तब परमेश्वर ने शैतान से कहा कि—देख, वह तेरे हाथ में है, केवल उसके प्राण को बचा॥ तब शैतान परमेश्वर के आगे से चला गया। और ऐयूब को शिर से तलवे लों बुरे फोड़ों से मारा॥

जबूर ऐयूब, प० २। आ० १-७॥

समीक्षक—अब देखिये ईसाइयों के ईश्वर का सामर्थ्य, कि शैतान उसके सामने उसके भक्तों को दुःख देता है। न शैतान को दण्ड, न अपने भक्तों को बचा सकता है। और न दूतों में से कोई उसका सामना कर सकता है। एक शैतान ने सबको भयभीत कर रखा है।

और ईसाइयों का ईश्वर भी सर्वज्ञ नहीं है। और जो सर्वज्ञ होता, तो ऐयूब को परीक्षा शैतान से क्यों कराता?॥६१॥

उपदेश[2] की पुस्तक

६२—हां मेरे अन्तःकरण ने बुद्धि और ज्ञान बहुत देखा है॥ और मैंने बुद्धि और बौड़ाहपन और मूढ़ता जानने[3] को मन लगाया। मैंने जान लिया कि यह भी मन का झूंझट[4] है। क्योंकि अधिक बुद्धि

---

१. सं० ३४ में यहां से आगे कोष्ठक में वाक्यतात्पर्यबोधक पाठ सम्पादक ने बढ़ाया है, जो अनावश्यक है।

२. सन् १९१९ की इलाहाबाद की छपी बाइबल में 'सभोपदेशक' नाम से निर्देश मिलता है (पृ० ६६५)। ३. सं० २ में 'जानने' पाठ है।

४. वायु का बगूला=चक्रवात। सं० ३४, ३५ में 'झंझट' पाठ बनाया।

में बड़ा शोक है । और जो ज्ञान में बढ़ता है, सो दुःख में बढ़ता है ।।
जा० उप०, प० १ । आ० १६-१८ ।।

समीक्षक—अब देखिये, जो बुद्धि और ज्ञान पर्यायवाची हैं, उनको दो मानते हैं । और बुद्धि-वृद्धि में शोक और दुःख मानना विना अविद्वानों के ऐसा लेख कौन कर सकता है ? इसलिये यह बाइबल ईश्वर की बनाई तो क्या, किसी विद्वान् को भी बनाई नहीं है ।। ६२ ।।

यह थोड़ा-सा तौरेत जबूर के विषय में लिखा है । इसके आगे कुछ मत्तीरचित आदि इञ्जील के विषय में लिखा जाता है, कि जिसको ईसाई लोग बहुत प्रमाणभूत मानते हैं । जिसका नाम इञ्जील[1] रखा है । उसकी परीक्षा थोड़ी-सी लिखते हैं - कि यह कैसी है ।

मत्ती[2] रचित इञ्जील

६३—यीशुख्रीष्ट का जन्म इस रीति से हुआ । उसकी माता मरियम[3] को यूसफ[4] से मंगनी हुई थी । पर उनके इकट्ठे होने के पहिले ही वह देख पड़ी कि पवित्र आत्मा से गर्भवती है ।।

देखो परमेश्वर के एक दूत ने स्वप्न में उसे दर्शन दे कहा—'हे दाऊद के सन्तान यूसफ ! तू अपनी स्त्री मरियम को यहां लाने से मत डर । क्योंकि उसको जो गर्भ रहा है, सो पवित्र आत्मा से है' ।।
इं० [मत्ती०] पर्व १ । आ० १८,२० ।।

समीक्षक - इन बातों को कोई विद्वान् नहीं मान सकता, कि जो प्रत्यक्षादि प्रमाण और सृष्टिक्रम से विरुद्ध हैं । इन बातों का मानना मूर्ख मनुष्य जंगलियों का काम है, सभ्य विद्वानों का नहीं । भला जो परमेश्वर का नियम है, उसको कोई तोड़ सकता है ? जो परमेश्वर भी नियम को उलटा-पलटा करे, तो उसकी आज्ञा को कोई न माने ।

---

१. इसे 'नया नियम' भी कहा जाता है । पुराने नियम का सम्बन्ध विशेषकर यहूदियों के साथ है । यहूदी 'नये नियम' को नहीं मानते ।
२. Matthew. ३. Mary. ४. Joseph.

और वह भी सर्वज्ञ और निर्भ्रम है। ऐसे तो जिस-जिस कुमारिका के गर्भ रह जाय, तब सब कोई ऐसे कह सकते हैं कि इसमें गर्भ का रहना ईश्वर की ओर से [है]। और झूंठ-मूंठ कह दे कि परमेश्वर के दूत ने मुझको स्वप्न में कह दिया है कि यह गर्भ परमात्मा की ओर से है।

जैसा यह असम्भव प्रपञ्च रचा है, वैसा ही सूर्य से कुन्ती का गर्भवती होना भी पुराणों में असम्भव लिखा है। ऐसी-ऐसी बातों को 'आंख के अंधे गांठ के पूरे' लोग मानकर भ्रमजाल में गिरते हैं।

यह ऐसी बात हुई होगी [कि] किसी पुरुष के साथ समागम होने से गर्भवती मरियम हुई होगी। उसने वा किसी दूसरे ने ऐसी असम्भव बात उड़ा दी होगी कि इसमें गर्भ ईश्वर की ओर से है ॥६३॥

६४—तब आत्मा यीशु को जंगल में ले गया कि शैतान से उसकी परीक्षा की जाय ॥ वह चालीस दिन और चालीस रात उपवास करके पीछे भूखा हुआ ॥ तब परीक्षा करनेहारे ने[1] कहा कि जो तू ईश्वर का पुत्र है, तो कहदे कि ये पत्थर रोटियां बन जावें ॥

इं० [मत्ती०] पर्व० ४। आ० १-३ ॥

समीक्षक—इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि ईसाइयों का ईश्वर सर्वज्ञ नहीं। क्योंकि जो सर्वज्ञ होता, तो उसकी परीक्षा शैतान से क्यों कराता? स्वयं जान लेता। भला किसी ईसाई को आजकल चालीस रात चालीस दिन भूखा रखें, तो कभी बच सकेगा?

और इससे यह भी सिद्ध हुआ कि न वह ईश्वर का बेटा, और न कुछ उसमें करामात अर्थात् सिद्धि थी। नहीं तो शैतान के सामने पत्थर [को] रोटियां क्यों न बना देता? और आप भूखा क्यों रहता?

और सिद्धान्त यह है कि जो परमेश्वर ने पत्थर बनाये हैं, उनको रोटी कोई भी नहीं बना सकता। और ईश्वर भी पूर्वकृत

---

१. सं० ३४ में 'ने' के आगे कोष्ठक में सन् १८१८ की छपी बाइबल के अनुसार ['उस पास आ'] शब्द बढ़ाये हैं। यह आवश्यक हैं।

नियम को उलटा नहीं कर सकता। क्योंकि वह सर्वज्ञ, और उसके सब काम विना भूल-चूक के हैं ॥६४॥

६५—उसने उनसे कहा—'मेरे पीछे आओ। मैं तुमको मनुष्यों के मछुवे बनाऊंगा' ॥ वे तुरन्त जालों को छोड़के उसके पीछे हो लिये ॥ इं० [मत्ती०] प० ४। आ० १९,२० ॥[1]

समीक्षक—विदित होता है कि इसी पाप, अर्थात् जो तौरेत[2] में दश आज्ञाओं में लिखा है कि—'सन्तान लोग अपने माता-पिता की सेवा और मान्य करें, जिससे उनकी उमर बढ़े' सो ईसा ने न अपने माता-पिता की सेवा की, और दूसरे को भी माता-पिता की सेवा से छुड़ाये। इसी अपराध से चिरंजीवी न रहा।

और यह भी विदित हुआ कि ईसा ने मनुष्यों के फसाने के लिये एक मत चलाया है कि जाल में मच्छी के समान मनुष्यों को स्वमत में फसाकर अपना प्रयोजन साधें। जब ईसा ही ऐसा था, तो आजकाल के पादरी लोग अपने जाल में मनुष्यों को फसावें, तो क्या आश्चर्य है?

क्योंकि जैसे बड़ी-बड़ी और बहुत मच्छियों को जाल में फसाने-वाले की प्रतिष्ठा और जीविका अच्छी होती है, ऐसे ही जो बहुतों को अपने मत में फसा ले, उसकी अधिक प्रतिष्ठा और जीविका होती है।

इसीसे ये लोग जिन्होंने वेद और शास्त्रों को न पढ़ा न सुना, उन बिचारे भोले मनुष्यों को अपने जाल में फसाके, उनके[3] मा-बाप कुटुम्ब आदि से पृथक् कर देते हैं।

इससे सब विद्वान् आर्यों को उचित है कि स्वयं इनके भ्रमजाल से बचकर अन्य अपने भोले भाइयों के बचाने में तत्पर रहें[4] ॥६५॥

---

१. सं० २ से ३३ तक २१ संख्या अपपाठ है।
२. तौ यात्रा० पर्व २०, आयत १२। ३. सं० २ में 'उसके' पाठ है।
४. इस वाक्य पर आर्यों को विशेष ध्यान देना चाहिये।

६६—तब यीशु सारे गालील[1] देश में उनकी सभाओं में उपदेश करता हुआ, और राज्य का सुसमाचार प्रचार करता हुआ, और लोगों में हर एक रोग और हर एक व्याधि को चंगा करता हुआ फिरा किया ॥

सब रोगियों को जो नाना प्रकार के रोगों और पीड़ाओं से दुःखी थे, और भूतग्रस्तों और मृगीवाले और अर्द्धाङ्गियों को उसके पास लाये, और उसने उन्हें चंगा किया ॥

इ० मत्ती० प० ४ । आ० २३,२४ ॥[2]

समीक्षक—जैसे आजकल पोपलीला निकालने[3], मन्त्र पुरश्चरण आशीर्वाद[ता]बीज और भस्म की चुटकी देने से भूतों को निकालना, रोगों को छुड़ाना सच्चा हो, तो वह इञ्जील की बात भी सच्ची होवे। इस कारण भोले मनुष्यों को भ्रम में फसाने के लिये ये बातें हैं।

जो ईसाई लोग ईसा की बातों को मानते हैं, तो यहां के देवी भोपों की बातें क्यों नहीं मानते ? क्योंकि वे बातें इन्हीं के सदृश हैं ॥६६॥

६७—धन्य वे जो मन में दीन हैं। क्योंकि स्वर्ग का राज्य उन्हीं का है ॥ क्योंकि मैं तुमसे सच कहता हूं कि जब लों आकाश और पृथिवी टल न जायें, तब लों व्यवस्था से एकमात्रा अथवा एक बिन्दु बिना पूरा हुए नहीं टलेगा ॥

इसलिये [जो कोई] इन अति छोटी आज्ञाओं में से एक को लोप करे, और लोगों को वैसे ही सिखावे, वह स्वर्ग के राज्य में सबसे छोटा कहावेगा ॥ इ० मत्ती० प० ५ । आ० ३,[4] १८, १९ ॥

समीक्षक—जो स्वर्ग एक है, तो राजा भी एक होना चाहिये। इसलिये जितने दीन हैं, वे सब स्वर्ग को जावेंगे, तो स्वर्ग में राज्य

---

१. Galilee.
२. सं० २ से ३३ तक '२५ संख्या' अपपाठ है।
३. यहां 'पोपलीला रचने वालों का' पाठ होना चाहिये।
४. सं २ से ३३ तक ४ संख्या अपपाठ है।

का अधिकार किसको होगा ? अर्थात् परस्पर लड़ाई-भिड़ाई करेंगे, और राज्यव्यवस्था खण्ड-बण्ड हो जायगी।

और दीन के कहने से जो कंगले लोगे, तब तो ठीक नहीं। जो निरभिमानी लोगे, तो भी ठीक नहीं। क्योंकि दीन और निरभिमान[1] का एकार्थ नहीं किन्तु जो मन में दीन होता है, उसको सन्तोष कभीं नहीं होता[2]। इसलिये यह बात ठीक नहीं।

'जब आकाश पृथिवी टल जायें, तब व्यवस्था भी टल जायगी'। ऐसी अनित्य व्यवस्था मनुष्यों की होती है, सर्वज्ञ ईश्वर की नहीं। और यह एक प्रलोभन और भयमात्र दिया है कि जो इन आज्ञाओं को न मानेगा, वह स्वर्ग में सबसे छोटा गिना जायगा ॥६७॥

६८—हमारी दिनभर की रोटी आज हमें दे ॥ अपने लिये पृथिवी पर धन का संचय मत करो ॥

इं० म० प० ६। आ० ११, १९ ॥

समीक्षक—इससे विदित होता है कि जिस समय ईसा का जन्म हुआ है, उस समय लोग जङ्गली और दरिद्र थे। तथा ईसा भी वैसा ही दरिद्र था। इसीसे तो दिनभर की रोटी की प्राप्ति के लिये ईश्वर की प्रार्थना करता और सिखलाता है। जब ऐसा है, तो ईसाई लोग धन-संचय क्यों करते हैं ? उनको चाहिये कि ईसा के वचन से विरुद्ध न चलकर सब दान-पुण्य करके दीन हो जायें ॥६८॥

६९—हर एक जो मुझसे 'हे प्रभु-हे प्रभु' कहता है, स्वर्ग के राज्य में प्रवेश नहीं करेगा ॥ इं० म० प० ७। आ० २१ ॥

समीक्षक—अब विचारिये, बड़े-बड़े पादरी बिशप साहेब और क्रुश्चीन लोग, जो यह ईसा का वचन सत्य है ऐसा समझें, तो ईसा को प्रभु अर्थात् ईश्वर कभी न कहें। यदि इस बात को न मानेंगे, तो पाप से कभी नहीं बच सकेंगे ॥६९॥

---

१. सं० २ से ३३ तक 'अभिमान' पाठ है।

२. इसीलिये वेद में 'अदीनाः स्याम शरदः शतम्' (यजु: ३६।२४) की प्रार्थना है।

७०—उस दिन में बहुतेरे मुझसे कहेंगे ।। तब मैं उनसे खोलके कहूंगा—'मैंने तुमको कभी नहीं जाना है। कुकर्म्म करनेहारे मुझसे दूर होओ' ।। इं० म० प० ७। आ० २२, २३ ।।

समीक्षक—देखिये, ईसा जङ्गली मनुष्यों को विश्वास कराने के लिये स्वर्ग में न्यायाधीश बनना चाहता था। यह केवल भोले मनुष्यों को प्रलोभन देने की बात है ।।७०।।

७१—और देखो, एक कोढ़ी ने आ उसको प्रणाम कर कहा—'हे प्रभु ! जो आप चाहें तो मुझे शुद्ध कर सकते हैं' ।। यीशु ने हाथ बढ़ा उसे छूके कहा—'मैं तो चाहता हूं शुद्ध होजा'। और उसका कोढ़ तुरन्त शुद्ध हो गया ।। इं० म० प० ८। आ० २, ३ ।।

समीक्षक—ये सब बातें भोले मनुष्यों के फसाने की हैं। क्योंकि जब ईसाई लोग इन विद्यासृष्टिक्रमविरुद्ध बातों को सत्य मानते हैं, तो **शुक्राचार्य्य धन्वन्तरि कश्यप** आदि की बात, जो पुराण और भारत में—

'अनेक दैत्यों की मरी हुई सेना को जिला दी। **बृहस्पति** के पुत्र **कच** को टुकड़ा-टुकड़ा कर जानवर और मच्छियों को खिला दिया, फिर भी शुक्राचार्य्य ने जीता कर दिया। पश्चात् कच को मारकर शुक्राचार्य्य को खिला दिया, फिर [भी] उसको पेट में जीता कर बाहर निकाला। आप मर गया। उसको कच ने जीता किया।

कश्यप ऋषि ने मनुष्य सहित वृक्ष को **तक्षक** से भस्म हुए पीछे पुनः वृक्ष और मनुष्य को जिला दिया। **धन्वन्तरि** ने लाखों मुर्दे जिलाये। लाखों कोढ़ी आदि रोगियों को चङ्गा किया। लाखों अन्धों और बहिरों को आंख और कान दिये।'

इत्यादि कथा को मिथ्या क्यों कहते हैं ? जो उक्त बातें मिथ्या हैं, तो ईसा की बात मिथ्या क्यों नहीं ? जो दूसरे की बात को मिथ्या, और अपनी झूंठी को सच्ची कहते हैं, तो हठी क्यों नहीं ? इसलिये ईसाइयों की बातें केवल हठ और लड़कों के समान हैं ।।७१।।

७२–तब [दो][1] भूतग्रस्त मनुष्य कबरस्थान में से निकल[2] उससे आ मिले। जो यहां लों अतिप्रचण्ड थे कि उस मार्ग से कोई नहीं जा सकता था॥

और देखो, उन्होंने चिल्लाके कहा—'हे यीशु ईश्वर के पुत्र! आपको हमसे क्या काम? क्या आप समय के आगे हमें पीड़ा देने को यहां आये हैं?'॥[3]

सो भूतों ने उससे विनती कर कहा–'जो आप हमको निकालते हैं, तो सूअरों के झुण्ड में पैठने दीजिये'॥ उसने उनसे कहा जाओ। और वे निकलके सूअरों के झुण्ड में पैठे। और देखो सूअरों का सारा झुण्ड कड़ाड़े[4] पर से समुद्र में दौड़ गया, और पानी में डूब मरा॥

इ० म० प० ८। आ० २८, २९, ३१, ३२॥[5]

समीक्षक—भला यहां तनिक विचार करें, तो ये बातें सब झूंठी हैं। क्योंकि मरा हुआ मनुष्य कब्रस्थान से कभी नहीं निकल सकता। वे किसी पर न जाते न संवाद करते हैं। ये सब बातें अज्ञानी लोगों की हैं। जो कि महा जङ्गली हैं, वे ऐसी बातों पर विश्वास लाते हैं।

और उन सूअरों की हत्या कराई। सूअरवालों की हानि करने का पाप ईसा को हुआ होगा। और ईसाई लोग ईसा को पाप-क्षमा और पवित्र करनेवाला मानते हैं, तो उन भूतों को पवित्र क्यों न कर सका? और सूअरवालों की हानि क्यों न भर दी?

क्या आजकल के सुशिक्षित ईसाई अंग्रेज लोग इन गपोड़ों को भी मानते होंगे? यदि मानते हैं, तो भ्रमजाल में पड़े हैं॥७२॥

---

१. सं० ३४ में 'दो' शब्द बढ़ाया, यह आवश्यक है।

२. सं० ३४ में 'निकलते हुए' पाठ बाइबल (१९१९ की छपी) के अनुसार बदले। परिवर्तन अनावश्यक है।

३. सं० ३४ में इससे आगे कोष्ठक में [बहुत से सुवरों का झुण्ड उन से कुछ दूर पर चरता था] पाठ बाइबल के अनुसार बढ़ाया। बढ़ाने की विशेष आवश्यकता नहीं थी।

४. अर्थात् ढ़लाई वाले टीले पर से।

५. सं० २ से ३३ तक यहां संख्या २८ से ३३ तक दी है।

७३—देखो, लोग एक अर्द्धाङ्गी[1] को, जो खटोले पर पड़ा था, उस[के] पास लाये। और यीशु ने उनका विश्वास देखके उस अर्द्धाङ्गी से कहा—'हे पुत्र! ढाढस कर। तेरे पाप क्षमा किये गये हैं'॥

मैं धर्मियों को नहीं, परन्तु पापियों को पश्चात्ताप के लिये बुलाने आया हूं॥ इं० म० प० ९। आ० २, १३॥

समीक्षक—यह भी बात वैसी ही असम्भव है, जैसी पूर्व लिख आये हैं। और जो पाप क्षमा करने की बात है, वह केवल भोले लोगों को प्रलोभन देकर फसाना है। जैसे दूसरे के पीये मद्य भांग और अफीम खाये का नशा दूसरे को नहीं प्राप्त हो सकता, वैसे ही किसी का किया हुआ पाप किसी के पास नहीं जाता। किन्तु जो करता है, वही भोगता है। यही ईश्वर का न्याय है।

यदि दूसरे का किया पाप-पुण्य दूसरे को प्राप्त होवे, अथवा न्यायाधीश स्वयं ले लेवे, वा कर्त्ताओं ही को यथायोग्य फल ईश्वर न देवे, तो वह अन्यायकारी हो जावे।

देखो, धर्म ही कल्याणकारक है, ईसा वा अन्य कोई नहीं। और धर्मात्माओं के लिये ईसा आदि की कुछ आवश्यकता भी नहीं। और न पापियों के लिये, क्योंकि पाप किसी का नहीं छूट सकता॥७३॥

७४—यीशु ने अपने बारह शिष्यों को अपने पास बुलाके उन्हें अशुद्ध भूतों पर अधिकार दिया कि उन्हें निकालें। और हर एक रोग और हर एक व्याधि को चङ्गा करें॥ बोलनेहारे तो तुम नहीं हो, परन्तु तुम्हारे पिता का आत्मा तुममें बोलता है॥

मत समझो कि मैं पृथिवी पर मिलाप करवाने को[2] [आया हूं। मैं मिलाप करवाने को][2] नहीं, परन्तु खड्ग चलवाने को आया हूं॥ मैं मनुष्य को उसके पिता से, और बेटी को उसकी मां से, और पतोहू को उसकी सास से अलग करने आया हूं॥ मनुष्य के घर ही के लोग उसके बैरी होंगे॥ इं० म० प० १०। आ० १, २०, ३४-३६॥

---

१. अर्थात् पक्षाघात से पीड़ित। २. यह कोष्ठान्तगत पाठ स० ३४ में बढ़ाया है, आवश्यक है। सम्भव है प्रतिलिपिकर्त्ता के प्रमाद से छूट गया।

समीक्षक—ये वे ही शिष्य हैं, जिनमें से एक ३० तीस रुपये[1] के लोभ पर ईसा को पकड़ावेगा, और अन्य बदलकर अलग-अलग भागेंगे।

भला, ये बात जब विद्या ही से विरुद्ध हैं कि भूतों का आना वा निकालना, विना औषध वा पथ्य के व्याधियों का छूटना, सृष्टिक्रम से असम्भव है। इसलिये ऐसी-ऐसी बातों का मानना अज्ञानियों का काम है।

यदि जीव बोलनेहारे नहीं, ईश्वर बोलनेहारा है, तो जीव क्या काम करते हैं? और सत्य वा मिथ्याभाषण का फल सुख वा दुःख को ईश्वर ही भोगता होगा? यह भी एक मिथ्या बात है।

और जैसा ईसा फूट कराने और लड़ाने को आया था, वही आजकल कलह लोगों में चल रहा है। यह कैसी बड़ी बुरी बात है कि फूट कराने से सर्वथा मनुष्यों को दुःख होता है। और ईसाइयों ने इसीको गुरुमन्त्र समझ लिया होगा। क्योंकि एक दूसरे की फूट ईसा ही अच्छा मानता था, तो ये क्यों नहीं मानते होंगे[2]? यह ईसा ही का काम होगा कि घर के लोगों के शत्रु घर के लोगों को बनाना। यह श्रेष्ठ पुरुष का काम नहीं ॥७४॥

७५—तब यीशु ने उनसे कहा—तुम्हारे पास कितनी रोटियां हैं? उन्होंने कहा सात और [थोड़ी-सी] छोटी मछलियां ॥ तब उसने लोगों को भूमि पर बैठने की आज्ञा दी ॥ तब[3] उसने उन सात रोटियों को और मछलियों को [लेके] धन्य मानके तोड़ा, और अपने शिष्यों को दिया, और शिष्यों ने लोगों को दिया ॥

सो सब खाके तृप्त हुए। और जो टुकड़े बच रहे, उनके सात टोकरे भरे उठाये ॥ जिन्होंने खाया, सो स्त्रियों और बालकों को छोड़

---

१. द्रष्टव्य संख्या ८५ समीक्ष्यांश।

२. यही कारण है कि अंग्रेज आदि पश्चिमी-देशवासियों ने जहां भी राज्य स्थापन किया, वहां सर्वत्र देश में बसनेवाली विभिन्न जातियों एव वर्गों को आपस में लड़ाकर अपना प्रभुत्व जमाया।

३. सं० ३४ में 'तब' के स्थान में 'और' पाठ बनाया है। परिवर्तन अनावश्यक है।

चार सहस्र पुरुष थे ।। इं० म०, प० १५ । आ० ३४—३८ ।।[1]

समीक्षक—अब देखिये, क्या यह आजकल के झूठे सिद्धों और इन्द्रजाली आदि के समान छल की बात नहीं है । उन रोटियों में अन्य रोटियां कहां से आ गईं ? यदि ईसा में ऐसी सिद्धियां होतीं, तो आप भूखा हुआ गूलर के फल खाने को क्यों भटका करता था[2] ? अपने लिये मिट्टी पानी और पत्थर आदि से मोहनभोग रोटियां क्यों न बनालीं ?

ये सब बातें लड़कों के खेलपन की हैं । जैसे कितने ही साधु वैरागी ऐसी छल की बातें करके भोले मनुष्यों को ठगते हैं, वैसे ही ये भी हैं ।।७५।।

७६—और तब वह हर एक मनुष्य को उसके कार्य के अनुसार फल देगा ।। इं० म० प० १६ । आ० २७ ।।

समीक्षक—जब कर्मानुसार फल दिया जायेगा, तो ईसाइयों का पाप क्षमा होने का उपदेश करना व्यर्थ है । और वह सच्चा हो, तो यह झूंठा होवे ।

यदि कोई कहे कि क्षमा करने के योग्य क्षमा किये जाते, और क्षमा न करने योग्य क्षमा नहीं किये जाते हैं, यह भी ठीक नहीं । क्योंकि सब कर्मों के फल यथायोग्य देने ही से न्याय और पूरी दया होती है ।।७६।।

७७—हे अविश्वासी और हठीले लोगो ।। मैं तुम से सत्य कहता हूं । यदि तुमको राई के एक दाने के तुल्य विश्वास हो, तो तुम इस पहाड़ से जो कहोगे कि यहां से वहां चला जाय, वह चला[3] जायगा । और कोई काम तुमसे असाध्य नहीं होगा ।।

इं० म० प० १७ । आ० १७, २० ।।

---

१. सं० २ से ३३ तक ३९ संख्या अपपाठ है ।

२. द्रष्टव्य संख्या ८१ का समीक्ष्यांश ।

३. सन् १९१९ की छपी बाइबल में 'चला' पद न होने से सं० ३४ के सम्पादक ने इसे निकाल दिया ।

समीक्षक—अब जो ईसाई लोग उपदेश करते फिरते हैं कि—'आओ हमारे मत में, पाप क्षमा कराओ, मुक्ति पाओ' आदि, वह सब मिथ्या बात है। क्योंकि जो ईसा में पाप छुड़ाने विश्वास जमाने,[1] और पवित्र करने का सामर्थ्य होता, तो अपने शिष्यों के आत्माओं को निष्पाप विश्वासी पवित्र क्यों न कर देता?

जो ईसा के साथ-साथ घूमते थे, जब उन्हींको शुद्ध विश्वासी और कल्याण [कारी][2] न कर सका, तो वह मरे पर न जाने कहां है? इस समय किसी को पवित्र नहीं कर सकेगा।

जब ईसा के चेले राईभर विश्वास से रहित थे, और उन्होंने यह इंजील पुस्तक बनाई है, तब इसका प्रमाण नहीं हो सकता। क्योंकि जो अविश्वासी अपवित्रात्मा अधर्मी मनुष्यों का लेख होता है, उस पर विश्वास करना कल्याण की इच्छा करनेवाले मनुष्यों का काम नहीं।

और इसी से यह भी सिद्ध हो सकता है कि जो ईसा का यह वचन सच्चा है, तो किसी ईसाई में एक राई के दाने के समान विश्वास अर्थात् ईमान नहीं है।

जो कोई कहे कि हम में पूरा वा थोड़ा विश्वास है, तो उससे कहना कि आप इस पहाड़ को मार्ग में से हठा देवें। यदि उनके हठाने से हठ जाये, तो भी पूरा विश्वास नहीं, किन्तु एक राई के दाने के बराबर है। और जो न हठा सके, तो समझो एक छींठा भी विश्वास ईमान अर्थात् धर्म का ईसाइयों में नहीं है।

यदि कोई कहे कि यहां अभिमान आदि दोषों का नाम पहाड़ है, तो भी ठीक नहीं। क्योंकि जो ऐसा हो, तो मुरदे अन्धे कोढ़ी भूतग्रस्तों को चङ्गा करना[3] भी आलसी अज्ञानी विषयी और भ्रान्तों को बोध करके सचेत कुशल किया होगा। जो ऐसा मानें, तो भी

१. सं० २ में 'न जमाने' पाठ है।
२. कोष्ठान्तर्गत 'कारी' पाठ सं० ३४ में बदलकर 'मय' बनाया।
३. सं० २ से ३० तक 'कहना' अपपाठ है।

ठीक नहीं। क्योंकि जो ऐसा होता, तो स्वशिष्यों को ऐसा क्यों न कर सकता ? इसलिये असम्भव बात कहना ईसा की अज्ञानता का प्रकाश करता [है]।

भला जो कुछ भी ईसा में विद्या होती, तो ऐसी अटाटूट जंगलीपन की बातें क्यों कह देता ? तथापि **'यत्र देशे द्रुमो नास्ति तत्रैरण्डोऽपि द्रुमायते'**[1] जैसे[2] जिस देश में कोई भी वृक्ष न हो, तो उस देश में एरण्ड का वृक्ष सबसे बड़ा और अच्छा गिना जाता है, वैसे महा-जंगली [अविद्वानों के] देश में ईसा का भी होना ठीक था। पर आजकल ईसा की क्या गणना हो सकती है ? ॥७७॥

७८—मैं तुम्हें सच कहता हूं, जो तुम मन न फिराओ, और बालकों के समान न हो जाओ, तो स्वर्ग के राज्य में प्रवेश करने [न] पाओगे ॥ इं म० प० १८। आ० ३ ॥

समीक्षक—जब अपनी ही इच्छा से मन का फिराना स्वर्ग का कारण और न फिराना नरक का कारण है, तो कोई किसी का पाप-पुण्य कभी नहीं ले सकता, ऐसा सिद्ध होता है।

और बालक के समान होने के लेख से यह विदित होता है कि ईसा की बातें विद्या और सृष्टिक्रम से बहुत-सी विरुद्ध थीं। और यह भी उसके मन में था कि लोग मेरी बातों को बालक के समान मान लें, पूछें-गाछें कुछ भी नहीं। आंख मीचके मान लेवें।

बहुत से ईसाईयों की बालबुद्धिवत् चेष्टा है। नहीं तो ऐसी युक्ति-विद्या से विरुद्ध बातें क्यों मानते ? और यह भी सिद्ध हुआ [कि] जो ईसा आप विद्याहीन बालबुद्धि न होता, तो अन्य को बालवत् बनने का उपदेश क्यों करता ? क्योंकि जो जैसा होता है, वह दूसरे को भी अपने सदृश बनाना चाहता ही है॥७८॥

---

१. यह सूक्ति पूर्व पृष्ठ ४१२ (रालाकट्रसं०) पर भी उद्धृत है। वहां 'यत्र' के स्थान में 'यस्मिन्' पाठ है।

२. सं० २ में 'जैसे' पद नहीं है, सं० ३ में बढ़ाया। सं० ३४ में इसे पुनः हटाया। आगे 'वैसे' पद होने से यहां 'जैसे' पद आवश्यक है। सं० २ में

७९—मैं तुमसे सच कहता हूं—'धनवानों को स्वर्ग के राज्य में प्रवेश करना कठिन होगा' ॥ फिर भी मैं तुमसे कहता हूं कि—'ईश्वर के राज्य में धनवान् के प्रवेश करने से ऊंट का सुई के नाके में से जाना सहज है ॥' इं म० प० १९ । आ० २३, २४ ॥

समीक्षक–इससे यह सिद्ध होता है कि ईसा दरिद्र था। धनवान् लोग उसकी प्रतिष्ठा नहीं करते होंगे । इसलिये यह लिखा होगा । परन्तु यह बात सच नहीं । क्योंकि धनाढ्यों और दरिद्रों में अच्छे बुरे होते हैं । जो कोई अच्छा काम करे वह अच्छा, और [जो] बुरा करे वह बुरा फल पाता है ।

और इससे यह भी सिद्ध होता है कि ईसा ईश्वर का राज्य किसी एक देश में मानता था, सर्वत्र नहीं । जब ऐसा है, तो वह ईश्वर ही नहीं । जो ईश्वर है, उसका राज्य सर्वत्र है । पुनः उसमें प्रवेश करेगा वा न करेगा, यह कहना केवल अविद्या की बात है ।

और इससे यह भी आया कि जितने ईसाई धनाढ्य हैं, क्या वे सब नरक ही में जायेंगे ? और दरिद्र सब स्वर्ग में जायेंगे ? भला तनिक-सा विचार तो ईसामसीह करते[1] कि जितनी सामग्री धनाढ्यों के पास होती है, उतनी दरिद्रों के पास नहीं । यदि धनाढ्य लोग विवेक से धर्ममार्ग में व्यय करें, तो दरिद्र नीच गति में पड़े रहें, और धनाढ्य उत्तम गति को प्राप्त हो सकते हैं ।।७९।।

८०—यीशु ने उनसे कहा, मैं तुमसे सच कहता हूं कि—'नई सृष्टि में जब मनुष्य का पुत्र अपने ऐश्वर्य के सिंहासन पर बैठेगा, तब तुम भी, जो मेरे पीछे हो लिये हो, बारह सिंहासनों पर बैठके इस्राएल के बारह कुलों का न्याय करोगे ।।

[2]जिस किसी ने मेरे नाम के लिये घरों वा भाइयों वा बहिनों

पाठ आगे-पीछे छपा है । सं० ३ में यथास्थान पाठ रखा, और 'महाजंगली' के आगे 'अविद्वानों के' पाठ बढ़ाया ।

१. यहां कुछ पाठ-भ्रंश हुआ है, वाक्यार्थ स्पष्ट नहीं होता ।

२. सं० ३४ में बाइबल के पाठानुसार 'जिस' से पूर्व '[और]' पद बढ़ाया ।

वा पिता वा माता वा स्त्री वा लड़कों वा भूमि को त्यागा है, सो सौ गुणा[1] पावेगा, और अनन्त जीवन का अधिकारी होगा ।।

इं० म० प० १९ । २८, २९ ।।

समीक्षक - अब देखिये, ईसा के भीतर की लीला कि मेरे जाल से मरे पीछे भी लोग न निकल जायें। और जिसने ३०) रुपये के लोभ से अपने गुरु को पकड़ा मरवाया,[2] वैसे पापी भी इसके पास सिंहासन पर बैठेंगे । और इस्रायेल के कुल का पक्षपात से न्याय ही न किया जायगा, किन्तु उनके सब गुनाह[1] माफ और अन्य कुलों का न्याय करेंगे ।

अनुमान होता है इसीसे ईसाई लोग ईसाइयों का बहुत पक्षपात कर किसी गोरे ने काले को मार दिया हो, तो भी बहुधा पक्षपात से निरपराधी कर छोड़ देते हैं ।[3] ऐसा ही ईसा के स्वर्ग का भी न्याय होगा ।

और इससे बड़ा दोष आता है । क्योंकि एक सृष्टि की आदि में मरा, और एक कयामत की रात के निकट मरा[4] । एक तो आदि से अन्त तक आशा ही में पड़ा रहा कि कब न्याय होगा ? और दूसरे का उसी समय न्याय हो गया । यह कितना बड़ा अन्याय है ?

और जो नरक में जायगा, सो अनन्त काल तक नरक भोगे-[गा], और जो स्वर्ग में जायगा वह सदा स्वर्ग भोगेगा, यह भी बड़ा अन्याय है । क्योंकि अन्तवाले साधन और कर्मों का फल अन्तवाला होना चाहिये ।

और तुल्य पाप वा पुण्य दो जीवों का [क]भी नहीं हो सकता । इसलिये तारतम्य से अधिक न्यून सुख-दुःखवाले अनेक स्वर्ग और नरक हों, तभी [यथाकर्म] सुख-दुःख भोग सकते हैं । सो ईसाइयों

---

१. सं० २ में 'गुण' अपपाठ है । २. द्र०—संख्या ८५ समीक्ष्यांश ।
३. अंग्रेजी राज्य के प्रारम्भिक काल में इस निर्भीकता से लिखना विशेष साहस का काम था ।
४. सं० २ में 'निकरा' मुद्रण-प्रमादज अपपाठ है ।

के पुस्तक में कहीं व्यवस्था नहीं। इसलिये यह पुस्तक ईश्वरकृत वा ईसा ईश्वर का बेटा कभी नहीं हो सकता।

यह बड़े अनर्थ की बात है कि कदापि किसी के मां-बाप सौ-सौ नहीं हो सकते[1], किन्तु एक की एक मां और एक ही बाप होता है। अनुमान है कि मुसलमानों ने [जो] एक को ७२ स्त्रियां बहिश्त में मिलती हैं लिखा है, सो[2] यहीं से लिया होगा ॥८०॥

८१—भोर को जब वह नगर[3] को फिर जाता था, तब उसको भूख लगी ॥ और मार्ग में एक गूलर का वृक्ष देखके वह उस[के]पास आया। परन्तु उसमें और कुछ न पाया केवल पत्ते [के][4]।

और उसको कहा तुझमें फिर कभी फल न लगेंगे। इस पर गूलर का पेट तुरन्त सूख गया ॥ इं० म०, प० २१। आ० १८, १९ ॥

समीक्षक—सब पादरी लोग ईसाई कहते हैं कि वह बड़ा शान्त शमान्वित और क्रोधादि-दोषरहित था। परन्तु इस बात को देखने[5] से ज्ञात होता है कि[5] क्रोधी [और] ऋतु का ज्ञानरहित ईसा था। और वह जङ्गली मनुष्यपन के स्वभावयुक्त वर्त्तता था।

भला जो [वृक्ष] जड़ पदार्थ है, उसका क्या अपराध था कि उसको शाप दिया, और वह सूख गया? इसके शाप से तो न सूखा होगा, किन्तु कोई ऐसी ओषधि डालने से सूख गया हो, तो आश्चर्य नहीं। ८१॥

८२—उन दिनों क्लेश के पीछे तुरन्त सूर्य अंधियारा हो जायगा। और चांद अपनी ज्योति न देगा, तारे आकाश से गिर

---

१. 'जो मां बाप को त्यागेगा, वह भी सौ गुणा पायेगा, अर्थात् सौ-सौ मां बाप पायेगा' की समीक्षा है।

२. यह वाक्य पांचवें संस्करण से जोड़ा गया है।

३. सं० २ में 'बहन घर' अपपाठ है।

४. इसके बिना वाक्यार्थ अस्पष्ट रहता है।

५. सं० २ में 'ने से ज्ञात होता है कि' पाठ लिपिकर वा मुद्रण-प्रमाद से छूट गया है। सं० ३ में पूरा किया।

पड़ेंगे। और आकाश की सेना डिग जायगी॥

इं० म० प० २४। आ० २९॥

समीक्षक—वाह जी ईसा! तारों को किस विद्या से गिर पड़ना आपने जाना? और आकाश की सेना कौन सी है, जो डिग जायगी?

जो कभी ईसा थोड़ी भी विद्या पढ़ता, तो अवश्य जान लेता कि ये तारे सब भूगोल हैं, क्योंकर गिरेंगे? इससे विदित होता है कि ईसा बढ़ई के कुल में उत्पन्न हुआ था। सदा लकड़े चीरना छीलना काटना और जोड़ना करता[1] रहा होगा। जब तरङ्ग उठा कि मैं भी इस जङ्गली देश में पैगम्बर हो सकूंगा, बातें करने लगा।

कितनी बातें उसके मुख से अच्छी भी निकलीं, और बहुत-सी बुरी। वहां के लोग जङ्गली थे, मान बैठे। जैसा आजकल यूरोप देश उन्नतियुक्त है वैसा पूर्व होता, तो इसकी सिद्धाई कुछ भी न चलती।

अब कुछ विद्या हुए पश्चात् भी व्यवहार के पेच और हठ से इस पोल मत को न छोड़कर सर्वथा सत्य वेदमार्ग की ओर नहीं झुकते, यही इनमें न्यूनता है॥८२॥

८३—आकाश और पृथिवी टल जायेंगे, परन्तु मेरी बातें कभी न टलेंगी॥ इं० म०, प० २४। आ० ३५॥

समीक्षक—यह भी बात अविद्या और मूर्खता की है। भला आकाश हिलकर कहां जायेगा? जब आकाश अतिसूक्ष्म होने से नेत्र से दीखता नहीं, तो इसका हिलना कौन देख सकता है? और अपने मुख से अपनी बड़ाई करना अच्छे मनुष्यों का काम नहीं॥८३॥

८४—तब वह उनसे, जो बांई ओर हैं कहेगा—'हे स्रापित लोगो! मेरे पास से उस अनन्त आग में जाओ, जो शैतान और उसके दूतों के लिये तैयार की गई है॥ इं० म०, प० २५। आ० ४१॥

समीक्षक—भला यह कितनी बड़ी पक्षपात की बात है? जो अपने शिष्य हैं उनको स्वर्ग, और जो दूसरे हैं उनको अनन्त आग में

---

१. सं० २ में 'कर्त्ता' अपपाठ है।

गिराना। परन्तु जब आकाश ही न रहेगा लिखा [है], तो अनन्त आग नरक बहिश्त कहां रहेगी ?

जो शैतान और उसके दूतों को ईश्वर न बनाता, तो इतनी नरक की तैयारी क्यों करनी पड़ती ? और एक शैतान ही ईश्वर के भय से न डरा, तो वह ईश्वर ही क्या है ? क्योंकि उसी का दूत होकर बागी हो गया। और ईश्वर उसको प्रथम ही पकड़कर बन्दीगृह में न डाल सका, न मार सका, पुनः उसकी ईश्वरता क्या ?

जिसने ईसा को भी चालीस दिन दुःख दिया, ईसा भी उसका कुछ न कर सका, तो ईश्वर का बेटा होना व्यर्थ हुआ। इसलिये ईसा ईश्वर का न बेटा, और न बाइबल का ईश्वर, ईश्वर हो सकता है ॥८४॥

८५—तब बारह शिष्यों में से एक यहूदाह[1] इसकरियोती[2] नाम एक शिष्य प्रधान याजकों के पास गया॥ और कहा—जो मैं यीशु को आप लोगों के हाथ पकड़वाऊं, तो आप लोग मुझे क्या देंगे ? उन्होंने उसे तीस रुपये देने को ठहराया॥

इं० म०, प० २६। आ० १४, १५॥

समीक्षक—अब देखिये, ईसा को सब करामात और ईश्वरता यहां खुल गई। क्योंकि जो उसका प्रधान शिष्य था, वह भी उसके साक्षात् संग से पवित्रात्मा न हुआ, तो औरों को वह मरे पीछे पवित्रात्मा क्या कर सकेगा ?

और उसके विश्वासी लोग उसके भरोसे में कितने ठगाये जाते हैं। क्योंकि जिसने साक्षात् सम्बन्ध में शिष्य का कुछ कल्याण न किया, वह मरे पीछे किसी का कल्याण क्या कर सकेगा ? ॥८५॥

८६—जब वे खाते थे, तब यीशु ने रोटी लेके धन्यवाद किया। और उसे तोड़के शिष्यों को दिया, और कहा लेओ खाओ, यह मेरा देह है॥

---

१ सं० ३४ में बाइबल (सन् १९१९) के अनुसार 'यिहूदा' पाठ बनाया।
२. Judas Iscariot.

और उसने कटोरा ले के धन्यवाद माना, और उनको देके कहा—तुम सब इससे पीओ ।। क्योंकि यह मेरा लोहू अर्थात् नये नियम का [लोहू] है ।। इ० म०, प० २६ । आ० २६-२८[1] ।।

समीक्षक—भला यह ऐसी बात कोई भी सभ्य करेगा ? विना अविद्वान् जङ्गली मनुष्य के शिष्यों से खाने की चीज को अपने मांस और पीने की चीजों को लोहू नहीं कह सकता ।

और इसी बात को आजकल के ईसाई लोग 'प्रभुभोजन' कहते हैं। अर्थात् खाने-पीने की चीजों में ईसा के मांस और लोहू की भावना कर खाते-पीते हैं, यह कितनी बुरी बात है ? जिन्होंने अपने गुरु के मांस-लोहू को भी खाने-पीने की भावना से न छोड़ा, तो और को कैसे छोड़ सकते हैं ? ।।८६।।

८७—और वह पितर[2] को और जब्दी[3] के दोनों पुत्रों को अपने संग ले गया । और शोक करने और बहुत उदास होने लगा ।। तब उसने उनसे कहा कि मेरा मन यहां लों अति उदास है कि मैं मरने पर हूं ।।

और थोड़ा आगे बढ़के वह मुंह के बल गिरा । और प्रार्थना की--'हे मेरे पिता ! जो हो सके, तो यह कटोरा मेरे पास से टल जाय' ।। इं० म०, प० २६ । आ० ३७-३९ ।।

समीक्षक—देखो, जो वह केवल मनुष्य न होता, ईश्वर का बेटा और त्रिकालदर्शी और विद्वान् होता, तो ऐसी अयोग्य चेष्टा न करता ।

इससे स्पष्ट विदित होता है कि यह प्रपञ्च ईसा ने अथवा उसके चेलों ने झूंठमूंठ बनाया है कि वह ईश्वर का बेटा, भूत भविष्यत् का वेत्ता, और पाप[4] क्षमा का कर्त्ता है । इससे समझना चाहिये

१. स० २ में २८ के स्थान में ८३ 'अशुद्ध' है ।

२. Peter. सं० ३४ में 'पितर' पाठ बनाया है । सं० २ से ३३ तक 'पिता' पाठ है । ३. Zabedee.

४. सं० २ से ३५ तक यही पाठ है । 'आप का क्षमा-कर्त्ता' पाठ अधिक स्पष्टार्थक हो जाता है ।

यह केवल साधारण सूधा सच्चा अविद्वान् था। न विद्वान्, न योगी, न सिद्ध था ॥८७॥

८८-वह बोलता ही था कि देखो, यहूदाह[1] जो बारह शिष्यों में से एक था, आ पहुंचा। और लोगों के प्रधान याजकों और प्राचीनों की ओर से बहुत लोग खड्ग और लाठियां लिये[2] उसके संग ॥

यीशु के पकड़वानेहारे ने उन्हें यह पता दिया था जिसको मैं चूमूं[3] उसको पकड़ो ॥ और वह तुरन्त यीशु पास आ[4] बोला—हे गुरु प्रणाम, और उसको चूमा ॥

तब उन्होंने[5] यीशु पर हाथ डालके उसे पकड़ा ॥ तब सब शिष्य उसे छोड़के भागे ॥ अन्त में दो झूठे साक्षी आके बोले—इसने कहा कि मैं ईश्वर का मन्दिर ढ़ा सकता[6] हूं, उसे तीन दिन में फिर बना सकता हूं ॥

तब महायाजक [ने] खड़ा हो यीशु से कहा—क्या तू कुछ उत्तर नहीं देता[7], ये लोग तेरे विरुद्ध क्या साक्षी देते हैं ॥ परन्तु यीशु चुप रहा। इस पर महायाजक ने उससे कहा—मैं तुझे जीवते ईश्वर की क्रिया[8] देता हूं, हमसे कह तू ईश्वर का पुत्र खीष्ट है कि नहीं ? ॥ यीशु उससे बोला, तू तो कह चुका ॥

तब महायाजक ने अपने वस्त्र फाड़के कहा, यह ईश्वर की निन्दा कर चुका है। अब हमें साक्षियों का और क्या प्रयोजन ? देखो तुमने अभी उसके मुख से ईश्वर की निन्दा सुनी है ॥ [9]अब क्या

---

१. द्र०—पृष्ठ ७८३ टि० १।

२. इस से आगे सं० ३४ मे 'हुए' पद बाइबल [सन् १९१९] के अनुसार बढ़ाया है। इस के विना भी अर्थ विदित हो जाता है। इसी प्रकार आगे बढ़ाये पाठों के सम्बन्ध मे भी जानें।

३. इसके आगे स० ३४ में '[वही है']' पाठ बढ़ाया है।

४. इसके आगे सं० ३४ में '[के]' बढाया है।

५. इसके आगे सं० ३४ में '[आके]' पाठ बढ़ाया है।

६. यहां सं० ३४ में 'सकता और उसे' पाठ बदला है।

७. इसके आगे सं० ३४ मे '[है]' बढ़ाया है। ८. अर्थात् शपथ।

९. सं० ३४ में 'अब' के स्थान में 'तुम' बनाया है।

विचार करते हो ? तब[1] उन्होंने उत्तर दिया, वह वध के योग्य है ॥

तब उन्होंने उसके मुंह पर थूंका, और उसे घूंसे मारे ॥ औरों ने थपेड़े मारके कहा—हे ख्रीष्ट ! हमसे भविष्यद्वाणी बोल, किसने तुझे मारा ? ॥

पितर[2] बाहर अंगने में बैठा था। और एक दासी उस पास आके बोली—तू भी यशु गालीली के सङ्ग था ॥ उसने[3] सभों के सामने मुकरके कहा—मैं नहीं जानता तू क्या कहती [है]॥ जब वह बाहर डेवढ़ी में गया, तो दूसरी दासी ने उसे देखके जो लोग वहां थे उनसे कहा—यह भी यीशु नासरी के सङ्ग था॥

उसने किरिया खाके फिर मुकरा कि मैं उस मनुष्य को नहीं जानता हूं॥ तब वह धिक्कार[4] देने और किरिया खाने लगा कि मैं उस मनुष्य को नहीं जानता हूं ॥

इं० म० प० २६। आ० ४७-५०, [५६,] ६१-७२, ७४॥

समीक्षक—अब देख लीजिये कि जिसका इतना भी सामर्थ्य वा प्रताप नहीं था कि अपने चेले का दृढ़ विश्वास करा सके। और वे चेले चाहे प्राण भी क्यों न जाते, तो भी अपने गुरु को लोभ से न पकड़ाते, न मुकरते, न मिथ्याभाषण करते, न झूठी किरिया खाते।

और ईसा भी कुछ करामाती नहीं था। जैसा तौरेत में लिखा है कि—'लूत के घर पर पाहुनों को बहुत से मारने को चढ़ आये थे, वहां ईश्वर के दो दूत थे, उन्होंने उन्हींको अन्धा कर दिया।' यद्यपि वह भी बात असम्भव है, तथापि ईसा में तो इतना भी सामर्थ्य न था।

और आजकल कितना भड़वा[5] उसके नाम पर ईसाइयों ने बढ़ा

---

१. सं० ३४ में 'तब' पद हटा दिया। २. सं० २ में 'पितरस' पाठ है।
३. सं० २ में 'उन्होंने' अपपाठ है।
४. सं० २ में इसके आगे 'देकर' अपपाठ है।
५. 'भड़वा'=व्यर्थ का दिखावा है। सं० १४ में 'भड़वा' के स्थान में 'बढ़ावा' बनाया है। यह सं० ३३ तक छपता रहा। सं० ३४ में 'भड़वा [=बढ़ावा]' पाठ छपा। भड़वा का बढ़ावा अर्थ दर्शाना ठीक नहीं है।

रक्खा है। भला ऐसी दुर्दशा से मरने से आप स्वयं झूझ[1] वा समाधि चढ़ा, अथवा किसी प्रकार से प्राण छोड़ता तो अच्छा था, परन्तु वह बुद्धि विना विद्या के कहां से उपस्थित हो? ॥८८॥

वह ईसा यह भी कहता है कि—

८९—[क्या तू समझता है कि][2] मैं अभी अपने पिता से विनती नहीं कर [सक]ता हूं? और वह मेरे पास स्वर्ग-दूतों की बारह सेनाओं से अधिक पहुंचा न देगा? ॥ इं० म० प० २६। आ० ५३॥

समीक्षक—धमकाता भी[3] जाता, अपनी और अपने पिता की बड़ाई भी करता जाता, पर कुछ भी नहीं कर सकता। देखो आश्चर्य की बात, जब महायाजक ने पूछा था कि—ये लोग तेरे विरुद्ध साक्षी देते हैं, इसका उत्तर दे। तो ईसा चुप रहा। यह भी ईसा ने अच्छा न किया। क्योंकि जो सच था, वह वहां अवश्य कह देता, तो भी अच्छा होता। ऐसी बहुत-सी अपने घमण्ड की बातें करनी उचित न थीं।

और जिन्होंने ईसा पर झूंठ दोष लगाकर[4] मारा, उनको भी उचित न था। क्योंकि ईसा का उस प्रकार का अपराध नहीं था, जैसा उसके विषय में उन्होंने किया। परन्तु वे भी तो जङ्गली थे। न्याय की बातों को क्या समझें?

यदि ईसा झूंठमूठ ईश्वर का बेटा न बनता, और वे उसके साथ ऐसी बुराई न वर्त्तते, तो दोनों के लिये उत्तम काम था। परन्तु इतनी विद्या धर्म्मात्मता और न्यायशीलता कहां से लावें? ॥८९॥

९०—यीशु अध्यक्ष[5] आगे खडा हुआ। और अध्यक्ष ने उससे

---

१. सं० ३ में 'जूझ' पाठ शोधा है।

२. सं० ३४ में बढ़ाया, बढ़ाना आवश्यक है।

३. सं० २ में 'भी' पद है, सं० ३४ में हटा दिया।

४. सं० ३४ में 'झूंठ फरेब डालकर बुरे हवाल कर' पाठ है। संभव है यह हस्तलेख के अनुसार बनाया होगा। सं० २ से ३३ तक ऊपर छपा पाठ है। यह मुंशी समर्थदान ने बदला होगा।

५. सं० ३४ में इसके आगे '[के]' बढ़ाया है। इसी प्रकार आगे भी कुछ पद बढ़ाये हैं। इनकी विशेष आवश्यकता नहीं।

पूछा—'क्या तू यहूदियों का राजा है'? यीशु ने उससे कहा, आप ही तो कहते हैं ।। जब प्रधान याजक और प्राचीन लोग उस पर दोष लगाते थे, तब उसने कुछ उत्तर नहीं दिया ।।

तब पिलात[1] ने उससे कहा—'क्या तू नहीं सुनता कि ये लोग तेरे विरुद्ध कितनी साक्षी देते है'? ।। परन्तु उसने एक बात का भी उसको उत्तर न दिया, यहां लों कि अध्यक्ष ने बहुत अचम्भा किया ।।

पिलात ने उनसे कहा—'तो मैं यीशु से जो ख्रीष्ट कहावता है, क्या करूं'? ।। सभों ने उससे कहा—'वह क्रूश पर चढ़ाया जावे ।। और यीशु को कोड़े मारके क्रूश पर चढ़ा जाने को सौंप दिया ।।

तब अध्यक्ष के योधाओं ने यीशु को अध्यक्ष भुवन[2] में लेजाके सारी पलटन उस पास इकट्ठी की ।। और उन्होंने उसका वस्त्र उतारके उसे लाल बागा[3] पहिराया ।। और कांटों का मुकुट गूंथके उसके शिर[4] पर रक्खा । और उसके दहिने हाथ पर नर्कट[5] दिया ।।

और उसके आगे घुटने टेकके यह कहके उ[स]से ठट्ठा किया—हे यिहूदियों के राजा प्रणाम ।। और उन्होंने उस पर थूंका, और उस नर्कट को ले उसके शिर पर मारा ।।

जब वे उससे ठट्ठा कर चुके, तब उ[स]से वह बागा उतारके मसी[6] का वस्त्र पहिराके, उसे क्रूश पर चढ़ाने को लेगये ।। जब वे एक स्थान पर, जो गलगथा था[7] अर्थात् खोपडी का स्थान कहाता है, पहुंचे ।। तब उन्होंने सिरके में पित्त मिलाके उसे पीने को दिया । परन्तु उसने चीखके पीना न चाहा ।।

---

१. Pilate. २. द्र०—पृष्ठ ७६४ टि०, ३ । ३. Scarlet Clock.
४. स० ३४ में 'सिर' भ्रष्ट पाठ बनाया । ५. Reed.
६. सं० २ से ३० तक यही पाठ है—मसी=ईसामसी अर्थात् उसी का । सं० ३२ से ३५ तक 'उसी' पाठ मिलता है । सं० ३१ से ३३ के मध्य बदला गया ।
७. सं० २ से ३३ तक 'गल गया था' अपपाठ है । सं० ३४ में शोधा है । गलगथा=Golgotha.

तब उन्होंने उसे क्रूश पर चढ़ाया ॥ और उन्होंने उसका दोष-पत्र उसके शिर[1] के ऊपर लगाया ॥ तब दो डाकू एक दहिनी ओर और दूसरा बाईं ओर उसके संग क्रूशों पर चढ़ाये गये ॥

जो लोग उधर से आते जाते थे, उन्होंने अपने शिर[1] हिलाके और यह कहके उसकी निन्दा की—॥ हे मन्दिर के ढाहनेहारे अपने को बचा। जो तू ईश्वर का पुत्र है, तो क्रूश पर से उतर आ ॥

इसी रीति से प्रधान याजकों ने भी अध्यापकों और प्राचीनों के संगियों ने[2] ठट्ठा कर कहा—॥ उसने औरों को बचाया, अपने को बचा नहीं सकता है। जो वह इस्राएल का राजा है, तो क्रूश पर से अब उतर आवे, और हम उसका विश्वास करेंगे ॥

वह ईश्वर पर भरोसा रखता है। यदि ईश्वर उसको[3] चाहता है, तो उसको अब[4] बचावे। क्योंकि उसने कहा—'मैं ईश्वर का पुत्र हूं' ॥ जो डाकू उसके संग चढ़ाये[5] गये, उन्होंने भी इसी रीति से उनकी निन्दा की ॥

दो प्रहर से तीसरे प्रहरलों सारे देश में अन्धकार हो गया ॥ तीसरे प्रहर के निकट यीशु ने बड़े शब्द से पुकारके कहा—'एली एली लामा सबक्तनी।'[6] अर्थात् हे मेरे ईश्वर! हे मेरे ईश्वर! तूने क्यों मुझे त्यागा है? ॥

जो लोग वहां खड़े थे, उनमें से कितनों ने यह सुनके कहा—वह एलियाह[7] को बुलाता है ॥ उनमें से एक ने तुरन्त दौड़के इसपंज[8] लेके सिर्के में भिगोया ॥ और नल[9] पर रखके उसे पीने को दिया ॥

---

१. सं० ३४ 'सिर' भ्रष्ट पाठ बनाया है। २. सं० २ से ३३ तक यही 'संगियों ने' पाठ है। सं० ३४ में 'संग' बदला है। संग=मिलकर।

३. सं० ३४ में 'उसे' पाठ बनाया।

४. सं० ३४ में 'अब' पद निकाल दिया।

५. अर्थात् क्रूशों पर चढ़ाये गये। सं० ३४ में ['क्रूशों पर'] पाठ व्यर्थ में बढ़ाया गया है।

६. Eli. Eli. Lama Sabachthani. ७. Elias.

८. Sponge. ९. Reed.

तब यीशु ने फिर बड़े शब्द से पुकारके प्राण त्यागा ॥ इं० म० प० २७। आ० ११-१४, २१, २२, २३, २६-३१, ३३, ३४, [३५], ३७-४८, ५०[1] ॥

समीक्षक—सर्वथा यीशु के साथ उन दुष्टों ने बुरा काम किया। परन्तु यीशु का भी दोष है। क्योंकि ईश्वर का न कोई पुत्र, न वह किसी का बाप है। क्योंकि जो वह किसी का बाप होवे, तो किसी का श्वसुर श्याला सम्बन्धी आदि भी होवे।

और जब अध्यक्ष ने पूछा था, तब जैसा सच था उत्तर देना था। और यह ठीक है कि जो-जो आश्चर्य कर्म्म प्रथम किये हुए सच होते, तो अब भी क्रूश पर से उतर कर सबको अपने शिष्य बना लेता। और जो वह ईश्वर का पुत्र होता, तो ईश्वर भी उसको बचा लेता।

जो वह त्रिकालदर्शी होता, तो सिर्के में पित्त मिले हुए को चीखके क्यों छोड़ता? वह पहिले ही से जानता होता। और जो वह करामाती होता, [तो] पुकार-पुकारके प्राण क्यों त्यागता? इससे जानना चाहिये कि चाहे[2] [कोई] कितनी ही चतुराई करे, परन्तु अन्त में सच सच और झूंठ झूंठ होता है।

इससे यह भी सिद्ध हुआ कि यीशु एक उस समय के जङ्गली मनुष्यों में से कुछ अच्छा था। न वह करमाती, न ईश्वर का पुत्र, और न विद्वान् था। क्योंकि जो ऐसा होता, तो ऐसा वह दुःख क्यों भोगता? ॥९०॥

९१—और देखो, बड़ा भूइंदोल[3] हुआ कि परमेश्वर का एक दूत [स्वर्ग से] उतरा, और आके कबर के द्वार पर से पत्थर लुढ़काके उस पर बैठा ॥ वह यहां नहीं है जैसे उसने कहा, वैसे जी उठा है ॥ जब वे उसके शिष्यों को सन्देश [देने को] जाती[4] थीं,

१. सं० २ में यहां आयत संख्या २४ तथा ४९ भी दी हैं, किन्तु उनका पाठ उद्धृत नहीं है।

२. सं० २ तथा अन्य कुछ संस्करणों में 'चाहो' पाठ है।

३. अर्थात् भूकम्प।

४. संभवतः पहरा देनेवाली स्त्रियां।

देखो यीशु उनसे आ मिला [और] कहा¹—'कल्याण हो'। और उन्होंने निकट आ उसके पांव पकड़के उसको प्रणाम किया ॥ तब यीशु ने कहा—'मत डरो, जाके मेरे भाइयों से कहदो [कि] वह गालील को जावें, और वहां वे मुझे देखेंगे ॥

ग्यारह शिष्य गालील को², उस परवत पर में गये, जो यीशु ने उन्हें बताया था ॥ और उन्होंने उसे देखके उसको प्रणाम किया, पर कितनों को सन्देह हुआ ॥ यीशु ने उन पास आ उनसे कहा—'स्वर्ग में और पृथिवी पर समस्त अधिकार मुझको दिया गया है' ॥ और देखो मैं जगत् के अन्त लों सब दिन तुम्हारे संग हूं ॥

इं० म०, प० २८। आ० २, ६, ९, १०, १६—१८, २० ॥

समीक्षक—यह बात भी मानने योग्य नहीं, क्योंकि सृष्टिक्रम और विद्याविरुद्ध है। प्रथम ईश्वर के पास दूतों का होना, उनको जहां-तहां भेजना, ऊपर से उतरना, क्या तहसीलदारी कलेक्टरी के समान ईश्वर को बना दिया ?

क्या उसी शरीर से स्वर्ग को गया और जी उठा ? क्योंकि उन स्त्रियों ने उनके पग पकड़के प्रणाम किया, तो क्या वही शरीर था ? और वह तीन दिनलों सड़ क्यों न गया ?

और अपने मुख से सबका अधिकारी बनना, केवल दम्भ की बात है। शिष्यों से मिलना और उनसे सब बातें करनी असम्भव हैं। क्योंकि जो ये बातें सच हों, तो आजकल भी कोई क्यों नहीं जी उठते ? और उसी शरीर से स्वर्ग को क्यों नहीं जाते ? ॥९१॥

यह मत्तीरचित इंजील³ का विषय हो चुका। [अब] मार्क-रचित इंजील के विषय में लिखा जाता है—

मार्क⁴ रचित इञ्जील

९२—यह क्या बढ़ई नहीं ? ॥ इं० मार्क० प० ६। आ० ३ ॥

समीक्षक—असल में यूसफ बढ़ई था। इसलिये ईसा भी बढ़ई

---

१. सं० २ में 'कहा' अपपाठ है।
२. सं० ३४, ३५ में 'में' पाठ बदला है।
३. सं० २ में 'अंजील' अपपाठ है।
४. Mark.

था। कितने ही वर्ष तक बढ़ई का काम करता था। पश्चात् पैगम्बर बनता-बनता ईश्वर का बेटा ही बन गया। और जङ्गली लोगों ने बना लिया। तभी बड़ी कारीगरी चलाई। काट-कूट फूट-फाट करना उसका काम है ॥९२॥

लूक[1] रचित इञ्जील

९३—यीशु ने उससे कहा—'तू मुझे उत्तम क्यों कहता है? कोई उत्तम नहीं [है, केवल] एक अर्थात् ईश्वर'॥

[इं]लू० प० १८। आ० १९॥

समीक्षक—जब ईसा ही एक अद्वितीय ईश्वर कहता है, तो ईसाइयों ने पवित्रात्मा पिता और पुत्र तीन कहां से बना लिये? ॥९३॥

९४—तब उसे हेरोद[2] के पास भेजा॥ हेरोद यीशु को देखके अति आनन्दित हुआ। क्योंकि वह उसको बहुत दिन[3] से देखना[4] चाहता था, इसलिये कि उसके विषय में बहुत सी बातें सुनी थीं। और उसका कुछ आश्चर्य कर्म्म देखने की उसको आशा[5] हुई॥ उसने उससे बहुत बातें पूंछी, परन्तु उसने उसे कुछ उत्तर न दिया॥

[इं] लूक० प० २३। आ० ७[6]-९॥

समीक्षक—यह बात मत्तीरचित में नहीं है। इसलिये ये साक्षी बिगड़ गये। क्योंकि साक्षी एक-से होने चाहियें। और जो ईसा चतुर और करामाती होता, तो हेरोद को उत्तर देता, और करामात भी दिखलाता। इससे विदित होता है कि ईसा में विद्या और करामात कुछ भी न थी ॥९४॥

[7]योहनरचित सुसमाचार

९५—आदि में वचन था, और वचन ईश्वर के संग था, और वचन ईश्वर था॥ वह आदि में ईश्वर के संग था॥ सब कुछ उसके

---

१. Luke. २. Herod.
३. सं० ३४ में 'दिनों' पाठ बनाया, सो व्यर्थ है।
४. सं २ में 'देखने' पाठ है। ५. सं० २ में 'आसा' पाठ है।
६. सं २ में संख्या ७ नहीं है ७. John.

द्वारा सृजा गया। और जो सृजा गया है,कुछ भी उस विना नहीं सृजा गया॥[1] उसमें जीवन था, और वह जीवन मनुष्यों का उजियाला था॥ [यो०] प० १। आ० १–४॥

समीक्षक—आदि में वचन विना वक्ता के नहीं हो सकता। और जो वचन ईश्वर के संग था, तो यह कहना व्यर्थ हुआ। और वचन ईश्वर कभी नहीं हो सकता। क्योंकि जब वह आदि में ईश्वर के संग था, तो पूर्व वचन वा ईश्वर था, यह नहीं घट सकता।

वचन के द्वारा सृष्टि कभी नहीं हो सकती, जब तक उसका कारण न हो। और वचन के विना भी चुपचाप रहकर कर्त्ता सृष्टि कर सकता है। जीवन किसमें वा क्या था? इस वचन से जीव अनादि मानोगे।

जो अनादि हैं,तो आदम के नथुनों में श्वास फूंकना झूंठा हुआ। और क्या जीवन मनुष्यों ही का उजियाला है, पश्वादि का नहीं? ॥९५॥

९६—और वियारी[2] के समय में जब शैतान शिमोन[3] के पुत्र यिहूदा इस्करियोती के मन में उसे पकड़वाने का मत डाल चुका था॥ यो० प० १३। आ० २॥

समीक्षक—यह बात सच नहीं। क्योंकि जब कोई ईसाइयों से पूंछेगा कि शैतान सबको बहकाता है, तो शैतान को कौन बहकाता है? जो कहो शैतान आप-से-आप बहकता है, तो मनुष्य भी आप-से-आप बहक सकते हैं; पुन, शैतान का क्या काम?

और यदि शैतान का बनाने और बहकानेवाला परमेश्वर है, तो वही शैतान का शैतान ईसाइयों का ईश्वर ठहरा। परमेश्वर ही नें सबको उसके द्वारा बहकाया।

---

१. भारत में शब्दब्रह्मवाद नामक एक मत था। भर्तृहरि ने वाक्यपदीय के प्रथम श्लोक से उसका स्पष्ट वर्णन किया है। भर्तृहरि से बहुत पहले से वह मत चला आ रहा था। उसी मत का अतिभ्रष्ट रूप इन आयतों में है। भ० द० २. Supper. ३. Simon.

भला ऐसे काम ईश्वर के हो सकते हैं? सच तो यही है कि यह पुस्तक ईसाइयों का और ईसा ईश्वर का बेटा जिन्होंने बनाये, वे शैतान हों तो हों, किन्तु न यह ईश्वरकृत पुस्तक, न इसमें कहा ईश्वर, और न ईसा ईश्वर का बेटा हो सकता है ॥९६॥

९७—तुम्हारा मन व्याकुल न होवे, ईश्वर पर विश्वास करो ॥ और मुझ पर विश्वास करो। मेरे पिता के घर में बहुत-से रहने के स्थान हैं। नहीं तो मैं तुमसे कहता मैं तुम्हारे लिये स्थान तैयार करने जाता हूं॥

और जो मैं जाके तुम्हारे लिये स्थान तैयार करूं, तो फिर आके तुम्हें अपने यहां ले जाऊंगा कि जहां मैं रहूं तहां तुम भी रहो॥ यीशु ने उससे कहा मैं ही मार्ग औ सत्य औ जीवन हूं। विना मेरे द्वारा से कोई पिता के पास नहीं पहुंचता है॥ जो तुम मुझे जानते तो मेरे पिता को भी जानते॥ यो० प० १४। आ० १—३[1], ६, ७॥

समीक्षक—अब देखिये, ये ईसा के वचन क्या पोपलीला से कमती हैं? जो ऐसा प्रपञ्च न रचता, तो उसके मत में कौन फसता? क्या ईसा ने अपने पिता को ठेके में ले लिया है? और जो वह ईसा के वश्य है, तो पराधीन होने से वह ईश्वर ही नहीं। क्योंकि ईश्वर किसी की सिफारिश नहीं सुनता।

क्या ईसा के पहले कोई भी ईश्वर को नहीं प्राप्त हुआ होगा? ऐसा स्थान आदि का प्रलोभन देता। और जो अपने मुख से आप मार्ग सत्य और जीवन बनता है, वह सब प्रकार से दंभी कहाता है। इससे यह बात सत्य कभी नहीं हो सकती॥९७॥

९८—मैं तुमसे सच सच कहता हूं—जो मुझ पर विश्वास करे,

---

१. सं० २ से १६, शता० सं० तक १, २, ३, ४, ६, ७ संख्या मिलती है सं० १७ या १८ में ५ संख्या बढ़ाई गई। यह सं० ३३ तक छपती रही। सं० ३४ में संख्या ४, ५ हटाई गई। क्योंकि इन संख्याओं की आयतों का पाठ उद्धृत नहीं है।

जो काम मैं करता हूं उन्हें वह भी करेगा, और इनसे बड़े काम करेगा ॥ यो० प० १४ । आ० १२ ॥

समीक्षक—अब देखिये, जो ईसाई लोग ईसा पर पूरा विश्वास रखते हैं, वैसे ही मुर्दे जिलाने आदि काम क्यों नहीं कर सकते ? और जो विश्वास से भी आश्चर्य-काम नहीं कर सकते, तो ईसा ने भी आश्चर्य-कर्म नहीं किये थे, ऐसा निश्चित जानना चाहिये। क्योंकि स्वयं ईसा ही कहता है कि तुम भी आश्चर्य-काम करोगे।

तो भी इस समय ईसाई कोई एक भी नहीं कर सकता। तो किसकी हिये[1] की आंख फूट गई है, [जो] वह ईसा को मुर्दे जिलाने आदि काम का कर्त्ता[2] मान लेवे ? ॥९८॥

९९—जो अद्वैत सत्य ईश्वर है ॥ यो० प० १७ । आ० ३ ॥

समीक्षक—जब अद्वैत एक ईश्वर है तो ईसाइयों का तीन कहना सर्वथा मिथ्या है ॥९९॥

इसी प्रकार बहुत ठिकाने इञ्जील[3] में अन्यथा बातें भरी हैं ॥

योहन के प्रकाशित वाक्य

अब योहन की अद्भुत बातें सुनो—

१००—और अपने-अपने शिर पर सोने के मुकुट दिये हुए थे ॥[4] और सात अग्निदीपक सिंहासन के आगे जलते थे, जो ईश्वर के सातों आत्मा हैं ॥

और सिंहासन के आगे कांच का समुद्र है। और सिंहासन के आसपास चार प्राणी हैं, जो आगे और पीछे नेत्रों से भरे हैं ॥

यो० प्र० प० ४ । आ० ४-६ ॥

---

१. हिये की=हृदय की=अन्तःकरणरूपी। २ सं० २ में 'का काम कर्त्ता' पूर्वापर पाठ है। ३. सं० २ में 'अंजील' पाठ है।

४. इस वाक्य से पूर्व लिखा है—'स्वर्ग में एक सिंहासन धरा है, उस पर एक बैठा है। जो सूर्यकान्त मणि और माणिक्य के समान है। उस सिंहासन के चारों ओर २४ सिंहासन हैं। उन पर **'चौबीस प्राचीन'** बैठे हुए हैं।' पाठक देखें—यहां भी पौराणिकों के २४ अवतार, एवं बौद्ध-जैनियों के २४ तीर्थङ्करों के समान ही २४ प्राचीन लिखे हैं।

समीक्षक—अब देखिये, एक नगर के तुल्य ईसाइयों का स्वर्ग है। और इनका ईश्वर भी दीपक के समान अग्नि है। और सोने का मुकुटादि आभूषण धारण करना[1] और आगे-पीछे नेत्रों का होना असम्भावित है। इन बातों को कौन मान सकता है? और वहां सिंहादि[2] चार पशु लिखे हैं॥१००॥

१०१—और मैंने सिंहासन पर बैठनेहारे के दहिने हाथ में एक पुस्तक देखा, जो भीतर और पीठ पर लिखा हुआ था। और सात छापों से उस पर छाप दी हुई थी॥ यह पुस्तक खोलने और उसकी छापें तोड़ने के योग्य कौन है?॥

और न स्वर्ग में न पृथिवी पर, न पृथिवी के नीचे कोई वह पुस्तक खोलने अथवा उसे देखने सकता था॥ और मैं बहुत रोने लगा, इसलिये कि पुस्तक खोलने और पढ़ने अथवा उसे देखने के योग्य कोई नहीं मिला॥ यो० प्र० पर्व० ५। आ० १-४॥

समीक्षक—अब देखिये, ईसाइयों के स्वर्ग में सिंहासनों और मनुष्यों का ठाठ, और पुस्तक कई छापों से बन्ध किया हुआ, जिसको खोलने आदि कर्म करनेवाला स्वर्ग और पृथिवी पर कोई नहीं मिला।

योहन का रोना, और पश्चात् एक प्राचीन ने कहा कि वही ईसा खोलनेवाला है[3]। प्रयोजन यह है कि जिसका विवाह उसका गीत। देखो ईसा ही के ऊपर सब माहात्म्य झुकाये जाते हैं। परन्तु ये बातें केवल कथनमात्र हैं॥१०१॥

१०२—और मैंने दृष्टि की, और देखो सिंहासन के और चारों प्राणियों के बीच में, और प्राचीनों के बीच में एक मेम्ना जैसा वध

---

१. सम्भवत: उद्धृत वाक्य को ईश्वर-विषयक समझकर यह वाक्य लिखा गया है।

२. सिंह, बछड़ा, मनुष्य और गिद्ध के समान चार प्राणियों का उल्लेख अगली ७वीं आयत में है।

३. पुस्तक खोलनेवाले का संकेत अगली ५वीं आयत में है। वहां साक्षात् ईसा का नाम नहीं है, परन्तु अगले सारे प्रसंग को देखकर ग्रन्थकार ने यहां 'ईसा' का निर्देश किया है।

किया हुआ खड़ा है। जिसके सात सींग और सात नेत्र हैं, जो सारी पृथिवी में भेजे हुए ईश्वर के सातों आत्मा हैं ॥

यो० प्र० प० ५। आ० ६ ॥

समीक्षक—अब देखिये, इस योहन के स्वप्न का मनोव्यापार। उस स्वर्ग के बीच में सब ईसाई और चार पशु तथा ईसा भी है, और कोई नहीं।

यह बड़ी अद्भुत बात हुई कि यहां तो ईसा के दो नेत्र थे, और सींग का नाम भी न था, और स्वर्ग में जाके सात सींग और सात नेत्रवाला हुआ! और वे सातों ईश्वर के आत्मा ईसा के सींग और नेत्र बन गये थे! हाय! ऐसी बातों को ईसाइयों ने क्यों मान लिया? भला कुछ तो बुद्धि लाते ॥१०२॥

१०३—और जब उसने पुस्तक लिया, तब चारों प्राणी और चौबीसों प्राचीन मेम्ने के आगे गिर पड़े। और हर एक के पास बीण थी, और धूप से भरे हुए सोने के पियाले, जो पवित्र लोगों की प्रार्थनायें हैं॥ यो० प्र० प० ५। आ० ८ ॥

समीक्षक—भला जब ईसा स्वर्ग में न होगा, तब ये बिचारे धूप दीप नैवेद्य आर्ति आदि पूजा किसकी करते होंगे? और यहां प्रोटस्टेण्ट[1] ईसाई लोग बुतपरस्ती (=मूर्त्तिपूजा) को तो खण्डन करते हैं, और इनका स्वर्ग बुतपरस्ती का घर बन रहा है ॥१०३॥

१०४—और जब मेम्ने [ने] छापों में से एक को खोला, तब मैंने दृष्टि की, चारों प्राणियों में से एक को जैसे मेघ गर्जने के शब्द को, यह कहते सुना कि आ और देख ॥

और मैंने दृष्टि की, और देखो एक श्वेत घोड़ा है, और जो उस पर बैठा है उस पास धनुष है। और उसे मुकुट दिया गया, और वह जय करता हुआ और जय करने को निकला ॥

और जब उसने दूसरी छाप खोली ॥ दूसरा घोड़ा जो लाल था निकला। उसको यह दिया गया कि पृथिवी पर से मेल उठा देवे ॥

१. Protestant.

और जब उसने तीसरी छाप खोली, देखो एक काला घोड़ा है ।।

और जब उसने चौथी छाप खोली ।। और देखो एक पीला-सा घोड़ा है । और जो उस पर बैठा है उसका नाम मृत्यु है, इत्यादि ।।

यो० प्र० प० ६ । आ० १-५, ७, ८ ।।

समीक्षक—अब देखिये, यह पुराणों से भी अधिक मिथ्या लीला है वा नहीं ? भला पुस्तकों के बन्धनों के छापे के भीतर घोड़ा सवार क्योंकर रह सके होंगे ? यह स्वप्ने का बरड़ाना, जिन्होंने इसको भी सत्य माना है, उनमें अविद्या जितनी कहें, उतनी ही थोड़ी है ।।१०४।।

१०५—और वे बड़े शब्द से पुकारते थे कि हे स्वामी पवित्र और सत्य कब लों तू न्याय नहीं करता है । और पृथिवी के निवासियों से हमारे लोहू का पलटा नहीं लेता है ।।

और हर एक को उजला वस्त्र दिया गया । और उनसे कहा गया कि जब लों तुम्हारे संगी दास भी, और तुम्हारे भाई जो तुम्हारी नाईं वध किये जाने पर हैं पूरे न हों, तब लों और थोड़ी वेर विश्राम करो ।। यो० प्र० प० ६ । आ० १०, ११ ।।

समीक्षक- जो कोई ईसाई होंगे, वे दौड़े सुपुर्द होकर ऐसे न्यास कराने के लिए रोया करेंगे । जो वेदमार्ग को स्वीकार करेगा, उसके न्याय होने में कुछ भी देर न होगी । ईसाइयों से पूंछना चाहिये—क्या ईश्वर की कचहरी आजकल बन्ध[1] है ? और न्याय का काम नहीं होता, न्यायाधीश निकम्मे बैठे हैं ? तो कुछ भी ठीक-ठीक उत्तर न दे सकेंगे ।

और ईश्वर को भी बहकाकर[2], और इनका ईश्वर बहक भी जाता है, क्योंकि इनके कहने से झट इनके शत्रु से पलटा लेने लगता है, और दांशिले स्वभाववाले हैं कि मरे पीछे स्ववैर लिया करते हैं ।

---

१. सभी संस्करणों में यहां 'बन्द' शब्द है । अन्यत्र सारे ग्रन्थ में 'बन्ध' का प्रयोग मिलता है ।

२. यह पाठ संस्करण ५ में हटाया गया, ३३ तक नहीं छपा ।

शान्ति कुछ भी नहीं, और जहां शान्ति नहीं, वहां दुःख का क्या पारावार होगा ? ॥१०५॥

१०६—और जैसे बड़ी बयार से हिलाये जाने पर गूलर के वृक्ष से उसके कच्चे गूलर झड़ते हैं, तैसे आकाश के तारे पृथिवी पर गिर पड़े ॥ और आकाश पत्र की नाईं जो लपेटा जाता है अलग हो गया ॥ यो० प्र० प० ६ । आ० १३, १४ ॥

समीक्षक—अब देखिये, योहन भविष्यद्वक्ता ने, जब विद्या नहीं है तभी तो, ऐसी अण्डबण्ड कथा गाई। भला तारे सब भूगोल हैं, एक पृथिवी पर कैसे गिर सकते हैं ? और सूर्यादि का आकर्षण उनको इधर-उधर क्यों आने-जाने देगा ?

और क्या आकाश को चटाई के समान समझता है ? यह आकाश साकार पदार्थ नहीं है, जिसको कोई लपेटे वा इकट्ठा कर सके। इसलिये योहन आदि सब जङ्गली मनुष्य थे। उनको इन बातों की क्या खबर ? ॥१०६॥

१०७—मैंने उनकी संख्या सुनी। इस्राएल के सन्तानों के समस्त कुल में से एक लाख चवालीस सहस्र पर छाप दी गई ॥ यिहूदा के कुल में से बारह सहस्र पर छाप दीगई ॥

यो० प्र० प० ७। आ० ४, ५ ॥

समीक्षक—क्या जो बाइबल में ईश्वर लिखा है, वह इस्राएल आदि कुलों का स्वामी है, वा सब संसार का ? ऐसा न होता तो उन्हीं जंगलियों का साथ क्यों देता ?

और उन्हीं का सहाय करता था, दूसरे का नामनिशान भी नहीं लेता, इससे वह ईश्वर नहीं। और इस्राएल कुलादि के मनुष्यों पर छाप लगाना अल्पज्ञता अथवा योहन की मिथ्या कल्पना है ॥१०७॥

१०८—इस कारण वे ईश्वर के सिंहासन के आगे हैं। और उसके मन्दिर में रात और दिन उसकी सेवा करते हैं ॥

यो० प्र० प० ७। आ० १५ ॥

समीक्षक—क्या यह महाबुतपरस्ती नहीं है ? अथवा उनका

ईश्वर देहधारी मनुष्य तुल्य एकदेशी नहीं है? और ईसाइयों का ईश्वर रात में सोता भी नहीं है। यदि सोता है तो रात में पूजा क्योंकर करते होंगे? तथा उसकी नींद भी उड़ जाती होगी। और जो रात-दिन जागता होगा, तो विक्षिप्त वा अति रोगी होगा ॥१०८॥

१०९—और दूसरा दूत आके वेदी के निकट खड़ा हुआ, जिस पास सोने की धूपदानी थी, और उसको बहुत धूप दिया गया॥ और धूप का धुंआ पवित्र लोगों की प्रार्थनाओं के संग दूत के हाथ में से ईश्वर के आगे चढ़ गया॥

और दूत ने वह धूपदानी लेके उसमें वेदी की आग भरके उसे पृथिवी पर डाला। और शब्द और गर्जन और बिजुलियां और भुंइडोल हुए॥ यो० प्र० प० ८। आ० ३-५॥

समीक्षक—अब देखिये, स्वर्ग तक वेदी धूप दीप नैवेद्य तुरही[1] के शब्द होते हैं। क्या वैरागियों के मन्दिर से ईसाइयों का स्वर्ग कम है? कुछ धूमधाम अधिक ही है॥१०९॥

११०—पहिले दूत ने तुरही फूंकी। और लोहू से मिले हुए ओले और आग हुए, और वे पृथिवी पर डाले गये। और पृथिवी की एकतिहाई जल गई॥ यो० प्र० प० ८। आ० ७॥

समीक्षक—वाह रे ईसाइयों के भविष्यद्वक्ता! ईश्वर, ईश्वर के दूत, तुरही का शब्द और प्रलय की लीला केवल लड़कों ही का खेल दीखता है। [2]क्या यह प्रलय की बात हो सकती है? ॥११०॥

१११—और पांचवें दूत ने तुरही फूंकी, और मैंने एक तारे को देखा, जो स्वर्ग में से पृथिवी पर गिरा हुआ था। और अथाह कुण्ड के कूप की कुञ्जी उस को दी गई॥ और उसने अथाह कुण्ड

---

१. तुरही और उसके शब्दों का निर्देश अगली आयत में है।

२. यह वाक्य अगली (१११) समीक्षा के अन्त में सभी संस्करणों में मिलता है। वहां इसको कोई प्रसंग न होने से और यहां प्रलय का प्रसंग होने से यहां रख दिया है।

का कूप खोला, और कूप में से बड़ी भट्ठी के धुंए की नाईं धुंआ उठा ।।

और उस धुंए में से टिड्डियां पृथिवी पर निकल गईं । और जैसा पृथिवी के बीछुओं को अधिकार होता है, तैसा उन्हें अधिकार दिया गया ।। और उनसे कहा गया कि उन मनुष्यों को, जिनके माथे पर ईश्वर की छाप नहीं है ।। पांच मास उन्हें पीड़ा दी जाय ।।

यो० प्र० प० ९ । आ० १-५।।

समीक्षक—क्या तुरही का शब्द सुनकर तारे उन्हीं दूतों पर और उसी स्वर्ग में गिरे होंगे ? यहां तो नहीं गिरे। भला वह कूप वा टिड्डियां भी प्रलय के लिये ईश्वर ने पाली होंगी। और छाप को देख बांच भी लेती होंगी कि छापवालों को मत काटो ?

यह केवल भोले मनुष्यों को डरपाके[1] ईसाई बना लेने का धोखा देना है कि जो तुम ईसाई न होगे, तो तुमको टिड्डियां काटेंगी। ऐसी बातें विद्याहीन देश में चल सकती हैं, आर्य्यावर्त्त में नहीं[2] ।।१११।।

११२—और घुड़चढ़ों की सेनाओं की संख्या बीस करोड़ थी ।।

यो० प्र० प० ९ । आ० १६ ।।

समीक्षक—भला इतने घोड़े स्वर्ग में कहां ठहरते, कहां चरते, और कहां रहते, और कितनी लीद करते थे ? और उसका दुर्गन्ध भी स्वर्ग में कितना हुआ होगा ? बस ऐसे स्वर्ग, ऐसे ईश्वर और ऐसे मत के लिये हम सब आर्य्यों ने तिलाञ्जलि[3] दे दी है। ऐसा बखेड़ा ईसाइयों के शिर पर से भी सर्वशक्तिमान् की कृपा से दूर हो जाय, तो बहुत अच्छा हो ।।११२।।

११३—और मैंने दूसरे पराक्रमी दूत को स्वर्ग से उतरते देखा,

---

१ सं० २ से ३३ तक यही पाठ है । ३४ में 'डराके' अनावश्यक संशोधन किया गया ।

२. इसके आगे 'क्या यह प्रलय की बात हो सकती है' पाठ अस्थान में था इसे प्रकरणानुसार समीक्षा ११० के अन्त में रखा है ।

३. पौराणिक मतानुसार इसका अभिप्राय है—पितरों के निमित्त तिल देना । परन्तु भाषा में 'तिलाञ्जलि देना' मुहावरे का अर्थ है छोड़ देना ।

जो मेघ को ओढ़े था। और उसके शिर पर मेघ-धनुष[1] था। और उसका मुंह सूर्य्य की नाईं, और उसके पांव आग के खम्भों के ऐसे थे॥ और उसने अपना दहिना पांव समुद्र पर और बायां पृथिवी पर रक्खा॥ यो० प्र० प० १०। आ० १, २[2]॥

समीक्षक—अब देखिये इन दूतों की कथा, जो पुराणों वा भाटों की कथाओं से भी बढ़कर हैं॥११३॥

११४—और लग्गी[3] के समान एक नर्कट मुझे दिया गया। और कहा गया कि उठ, ईश्वर के मन्दिर को और वेदी और उसमें के भजन करनेहारों को नाप॥ यो० प्र० प० ११। आ० १॥

समीक्षक—यहां तो क्या, परन्तु ईसाइयों के तो स्वर्ग में भी मन्दिर बनाये और नापे जाते हैं। अच्छा है, उनका जैसा स्वर्ग है वैसी ही बातें हैं। इसलिये यहां प्रभुभोजन में ईसा के शरीरावयव मांस लोहू की भावना करके खाते-पीते हैं। और गिर्जा में भी क्रूश आदि का आकार बनाना आदि भी बुतपरस्ती है॥११४॥

११५—और स्वर्ग में ईश्वर का मन्दिर खोला गया। और उसके नियम का सन्दूक उसके मन्दिर में दिखाई दिया॥

यो० प्र० प० ११। आ० १९॥

समीक्षक—स्वर्ग में जो मन्दिर है, सो हर समय बन्द रहता होगा, कभी-कभी खोला जाता होगा? क्या परमेश्वर का भी कोई मन्दिर हो सकता है?

जो वेदोक्त परमात्मा सर्वव्यापक है, उसका कोई भी मन्दिर नहीं हो सकता। हां, ईसाइयों का जो परमेश्वर आकारवाला है, उसका चाहें स्वर्ग में हो चाहें भूमि में। और जैसी लीला टन्-टन् पूं-पूं की यहां होती है, वैसी ही ईसाइयों के स्वर्ग में भी।

---

१. Rainbow. अर्थात् इन्द्र-धनुष।

२. स० २ से ३५ तक आयत संख्या १, २, ३ छपी है। इस उद्धरण में आयत ३ का कोई अंश नहीं है। अतः ३ संख्या हमने हटा दी है।

३. Rod.

और नियम [का] सन्दूक भी कभी-कभी ईसाई लोग देखते होंगे। उससे न जाने क्या प्रयोजन सिद्ध करते होंगे? सच तो यह है कि ये सब बातें मनुष्यों को लुभाने[1] की हैं ॥११५॥

११६—और एक बड़ा आश्चर्य स्वर्ग में दिखाई दिया, अर्थात् एक स्त्री जो सूर्य पहिने है, और चांद उसके पांवों तले है, और उसके शिर पर बारह तारों का मुकुट है ॥

और वह गर्भवती होके चिल्लाती है, क्योंकि प्रसव की पीड़ा उसे लगी है। और वह जनने को पीड़ित हैं ॥

और दूसरा आश्चर्य स्वर्ग में दिखाई दिया। और देखो, एक बड़ा लाल अजगर है, जिसके सात शिर और दस सींग हैं। और उसके शिरों पर सात राजमुकुट हैं ॥ और उसकी पूंछ ने आकाश के तारों की एक-तिहाई को खींच के उन्हें पृथिवी पर डाला ॥

यो० प्र० प० १२। आ० १-४ ॥

समीक्षक—अब देखिये, लम्बे-चौड़े गपोड़े। इनके स्वर्ग में भी बिचारी स्त्री चिल्लाती है। उसका दुःख कोई नहीं सुनता, न मिटा सकता है।

और उस अजगर की पूंछ कितनी बड़ी थी, [2]जिसने तारों की एक-तिहाई [को] पृथिवी पर डाला? भला, पृथिवी तो छोटी है, और तारे भी बड़े-बड़े लोक हैं। इस पृथिवी पर एक भी नहीं समा सकता। किन्तु यहां यही अनुमान करना चाहिये कि ये तारों की तिहाई इस बात के लिखनेवाले के घर पर गिरे होंगे?

---

१. सं० २ में 'भुलाने' पाठ है। सं० ३ में लुभाने बनाया।

२. सं० २ से ३३ तक 'जिसने तारों को (की, पाठा०) एक तिहाई पृथिवी पर' पाठ है। यह पाठ मूल अभिप्राय से विरुद्ध है। मूल समीक्ष्य आयतांश में 'तारों की एक तिहाई' अभिप्रेत है। यही अभिप्राय समीक्षक ने आगे दो वाक्यों में प्रकट किया है। जैसा सं० २ से ३३ का मुद्रित पाठ है, उसके अनुसार 'एक तिहाई' का सम्बन्ध पृथिवी के साथ जुड़ता है। सं० ३४ के सम्पादक ने 'जिसने एक तिहाई तारों को पृथिवी पर' इस प्रकार शोधा है। परन्तु हमने ग्रन्थकार के अभिप्रायानुसार सामान्य सा संशोधन करके पाठ ठीक कर दिया है।

और जिस अजगर की पूंछ इतनी बड़ी थी, जिसने सब तारों की तिहाई लपेटकर भूमि पर गिरा दी, वह अजगर भी उसी के घर में रहता होगा ? ॥११६॥

११७—और स्वर्ग में युद्ध हुआ। मीखायेल[1] और उसके दूत अजगर से लड़े। और अजगर और उसके दूत लड़े॥

यो० प्र० प० १२। आ० ७॥

समीक्षक—जो कोई ईसाइयों के स्वर्ग में जाता होगा, वह भी लड़ाई में दुःख पाता होगा। ऐसे स्वर्ग की यहीं से आश छोड़ हाथ जोड़ बैठ रहो। जहां शान्तिभंग और उपद्रव मचा रहे, वह[2] ईसाइयों के योग्य है ॥११७॥

११८—और वह बड़ा अजगर गिराया गया। हां, वह प्राचीन सांप जो दियाबल[3] और शैतान[4] कहावता है, जो सारे संसार का भरमानेहारा है॥ यो० प्र० प० १२। आ० ६॥

समीक्षक—क्या जब वह शैतान स्वर्ग में था, तब लोगों को नहीं भरमाता था ? और उसको जन्मभर बन्दी में घिरा[5] अथवा मार क्यों न डाला ? उसको पृथिवी पर क्यों डाल दिया ? जो सब संसार का भरमाने वाला शैतान है, तो शैतान को भरमानेवाला कौन है ? यदि शैतान स्वयं भर्मा है, तो शैतान के विना भरमनेहारे भर्मेंगे। और जो उसको भरमानेहारा परमेश्वर है, तो वह ईश्वर ही नहीं ठहरा।

विदित तो यह होता है कि ईसाइयों का ईश्वर भी शैतान से डरता होगा। क्योंकि जो शैतान से प्रबल है, तो ईश्वर ने उसको अपराध करते समय ही दण्ड क्यों न दिया ? जगत् में शैतान का जितना राज्य है, उसके सामने सहस्रांश भी ईसाइयों के ईश्वर का राज्य नहीं। इसीलिये ईसाइयों का ईश्वर उसे हटा नहीं सकता होगा।

१. Michael. २. अर्थात् वैसा स्वर्ग।
३. Devil. ४. Satan.
५. अर्थात् बन्दीगृह में गिरा। सं० ३४ में 'गृह' पद बढ़ाया गया।

इससे यह सिद्ध हुआ कि जैसा इस समय के राज्याधिकारी ईसाई डाकू चोर आदि को शीघ्र दण्ड देते हैं, वैसा भी ईसाइयों का ईश्वर नहीं। पुनः कौन ऐसा निर्बुद्धि मनुष्य है, जो वैदिकमत को छोड़ पोकल[1] ईसाई मत स्वीकार करे ? ॥११८॥

११९—हाय पृथिवी और समुद्र के निवासियो ! क्योंकि शैतान तुम पास उतरा है॥ यो० प्र० प० १२। आ० १२॥

समीक्षक—क्या वह ईश्वर वहीं का रक्षक और स्वामी है ? [2]पृथिवी, मनुष्यादि प्राणियों का रक्षक और स्वामी नहीं है? यदि भूमि का भी राजा है, तो शैतान को क्यों न मार सका ? ईश्वर देखता रहता है, और शैतान बहकाता फिरता है, तो भी उसको बर्जता नहीं। विदित तो यह होता है कि एक अच्छा ईश्वर और एक समर्थ दुष्ट दूसरा ईश्वर हो रहा है।।११९॥

१२०—और बयालीस मास लों युद्ध करने का अधिकार उसे दिया गया॥ और उसने ईश्वर के विरुद्ध निन्दा करने को अपना मुंह खोला कि उसके नाम की और उसके तंबू की और स्वर्ग में वास करनेहारों की निन्दा करे॥

और उसको यह दिया गया कि पवित्र लोगों से युद्ध करे, और उन पर जय करे। और हर एक कुल और भाषा और देश पर उसको अधिकार दिया गया॥ यो० प्र० प० १३। आ० ५-७॥

समीक्षक—भला जो पृथिवी के लोगों को बहकाने के लिये शैतान

---

१. अर्थात् सारहीन। 'पोकल' राजस्थानी भाषा का शब्द है। सं० ३ में इसके स्थान में 'कपोल कल्पित' पाठ बनाया है। यही सं० ३५ तक छप रहा है। 'पोकल' (=सारहीन) शब्द से जो विशेष भाव यहां प्रकट किया गया है, वह कपोलकल्पित से व्यक्त नहीं होता। आश्चर्य तो इस बात का है कि सं० ३४ के सम्पादक ने राजस्थानी होते हुए भी इस पर ध्यान नहीं दिया। पोकल का दूसरा रूपान्तर 'फोकल' भी प्रयुक्त होता है।

२. यही पाठ सं० २ से ३३ तक है। सं० ३४ में 'पृथिवी के' संशोधन किया गया। उत्तर वाक्य 'यदि भूमि का भी राजा है' के अनुसार सं० ३४ में 'के' बढ़ाना और वह भी बिना कोष्ठक में रखे, अनावश्यक मिश्रण है।

और पशु आदि को भेजे, और पवित्र मनुष्यों से युद्ध करावे, वह काम डाकुओं के सर्दार के समान है वा नहीं ? ऐसा काम ईश्वर वा ईश्वर के भक्तों का नहीं हो सकता ? ॥१२०॥

१२१—और मैंने दृष्टि की। और देखो मेम्ना सियोन पर्वत पर खड़ा है। और उसके संग एक लाख चवालीस सहस्र [जन][1] थे, जिनके माथे पर उसका नाम और उसके पिता का नाम लिखा है ॥

यो० प्र० प० १४। आ० १ ॥

समीक्षक—अब देखिये, जहां ईसा का बाप रहता था, वहीं उसी सियोन पहाड़ पर उसका लड़का भी रहता था। परन्तु एक लाख चवालीस सहस्र मनुष्यों की गणना क्योंकर की ? एक लाख चवालीस सहस्र ही स्वर्ग के वासी हुए। शेष[2] करोड़ों ईसाइयों के शिर पर न मोहर लगी ? क्या ये सब नरक में गये ?

ईसाइयों को चाहिये कि सियोन पर्वत पर जाके देखें कि ईसा का बाप[3] और उनकी सेना वहां है वा नहीं ? जो हों तो यह लेख ठीक है, नहीं तो मिथ्या।

यदि कहीं से वहां आया, तो कहां से आया ? जो कहो स्वर्ग से, तो क्या वे पक्षी हैं कि इतनी बड़ी सेना और आप ऊपर-नीचे उड़कर आया-जाया करें ?

यदि वह आया-जाया करता है, तो एक जिले के न्यायाधीश के समान हुआ। और वह एक, दो वा तीन हो, तो नहीं बन सकेगा। किन्तु न्यून-से-न्यून एक-एक भूगोल में एक-एक ईश्वर चाहिये। क्योंकि एक दो तीन अनेक ब्रह्माण्डों का न्याय करने और सर्वत्र युगपत् घूमने में समर्थ कभी नहीं हो सकते ॥१२१॥

---

१. यह पद आवश्यक है, बाईबल में भी है। सं० ३४ में बिना कोष्ठक के बढ़ाना उचित नहीं है।

२. सं० ५ में 'शेष आया तब कहा करोड़ों' अपपाठ छपा है।

३. सं० २ से २७ तक यही पाठ है। सं० २८ में 'मा-बाप' पाठ बनाया गया, जो सं० ३३ तक छपता रहा। सं० ३४ में 'उक्त बाप' संशोधित किया गया (सं० ३५ में भी यही छपा है। दोनों परिवर्धन अनावश्यक हैं।

१२२—आत्मा कहता है हां कि वे अपने परिश्रम से विश्राम करेंगे, परन्तु उनके कार्य उनके संग हो लेते हैं ॥

यो० प्र० प० १४ । आ० १३ ॥

समीक्षक—देखिये, ईसाइयों का ईश्वर तो कहता है उनके कर्म उनके सङ्ग रहेंगे, अर्थात् कर्मानुसार फल सबको दिये जायेंगे। और ये लोग कहते हैं कि ईसा पापों को ले लेगा और क्षमा भी किये जायेंगे।

यहां बुद्धिमान् विचारें कि ईश्वर का वचन सच्चा वा ईसाइयों का ? एक बात में दोनों तो सच्चे हो ही नहीं सकते। इनमें से एक झूठा अवश्य होगा। हमको क्या, चाहें ईसाइयों का ईश्वर झूठा हो, वा ईसाई लोग ? ॥१२२॥

१२३—और उसे ईश्वर के कोप के बड़े रस के कुण्ड[1] में डाला ॥ और रस के कुण्ड का रौन्दन नगर के बाहर किया गया। और रस के कुण्ड में से घोड़ों की लगाम तक लोहू एकसौ कोस तक बह निकला ॥

यो० प्र० प० १४ । आ० १९, २० ॥

समीक्षक—अब देखिये इनके गपोड़े पुराणों से भी बढ़कर हैं, वा नहीं ? ईसाइयों का ईश्वर कोप करते समय बहुत दुःखित हो जाता होगा। और जो उसके कोप के कुण्ड भरे हैं, क्या उसका कोप जल है ? वा अन्य द्रवित पदार्थ है, कि जिससे कुण्ड भरे हैं ?

और सौ कोश तक रुधिर का बहना असम्भव है। क्योंकि[2] रुधिर वायु लगने से झट जम जाता है, पुनः क्योंकर बह सकता है ? इसलिये ऐसी बातें मिथ्या होती हैं ॥१२३॥

१२४—और देखो स्वर्ग में साक्षी के तम्बू का मन्दिर खोला गया ॥ यो० प्र० प० १५ । आ० ५ ॥

समीक्षक—जो ईसाइयों का ईश्वर सर्वज्ञ होता, तो साक्षियों

---

१. Great wine Press.

२. सं० २ से ३३ तक यही पाठ है। सं० ३४ में 'किन्तु' पाठ बदला। यह परिवर्तन अनावश्यक है।

का क्या काम ? क्योंकि वह स्वयं सब कुछ जानता होता। इससे सर्वथा यही निश्चय होता है कि इनका ईश्वर सर्वज्ञ नहीं। क्योंकि [जो] मनुष्यवत् अल्पज्ञ है, वह ईश्वरता का क्या काम कर सकता है ? नहिं नहिं नहिं।

और इसी प्रकरण में दूतों की बड़ी-बड़ी असम्भव बातें लिखी हैं। उनको सत्य कोई नहीं मान सकता। कहां तक लिखें ? इस प्रकरण में सर्वथा ऐसी ही बातें भरी हैं ॥१२४॥

१२५—और ईश्वर ने उसके कुकर्मों को स्मरण किया। जैसा तुम्हें[1] उसने दिया है, तैसा उसको भर देओ। और उसके कर्मों के अनुसार दूना उसे दे देओ ॥ यो० प्र० प० १८। आ० ५, ६॥

समीक्षक—देखो, प्रत्यक्ष ईसाइयों का ईश्वर अन्यायकारी है। क्योंकि 'न्याय' उसी को कहते हैं कि जिसने जैसा वा जितना कर्म किया, उसको वैसा और उतना ही फल देना। उससे अधिक-न्यून देना अन्याय है। अन्यायकारी की उपासना करते हैं, वे अन्यायकारी क्यों न हों ? ॥१२५॥

१२६—क्योंकि मेम्ने का विवाह आ पहुंचा है। और उसकी स्त्री ने अपने को तैयार किया है ॥ यो० प्र० प० १९। आ० ७॥

समीक्षक—अब सुनिये, ईसाइयों के स्वर्ग में विवाह भी होते हैं। क्योंकि ईसा का विवाह ईश्वर ने वहीं किया। पूछना चाहिये कि उसके श्वसुर-सासू-शालादि कौन थे ? और लड़के बाले कितने हुए ?

और वीर्य के नाश होने से बल बुद्धि पराक्रम आयु आदि के भी न्यून होने से अब तक ईसा ने वहां शरीरत्याग किया होगा। क्योंकि संयोगजन्य पदार्थ का वियोग अवश्य होता है। अब तक ईसाइयों ने उसके विश्वास में धोखा खाया, और न जाने कब तक धोखे में रहेंगे ॥१२६॥

१२७—और उसने अजगर को अर्थात् प्राचीन सांप को, जो

---

१. सं० ३४ मे सन् १९१९ की छपी बाइबल के अनुसार 'उसने तुम्हें' ऐसा आगे-पीछे पाठ बनाया है, जो निरर्थक है।

दियाबल और शैतान है, पकड़के उसे सहस्र वर्ष लों बांध रक्खा ॥ और उसको अथाह कुण्ड में डाला और बन्द करके उसे छाप दी। वह जबलों सहस्र वर्ष पूरे न हों, तबलों फिर देशों के लोगों को न जिसतें भरमावे ॥ यो० प्र० प० २० । आ० २, ३ ॥

समीक्षक—देखो मरूं-मरूं करके शैतान को पकड़ा, और सहस्र वर्ष तक बन्ध किया। फिर भी छूटेगा, क्या फिर न भरमावेगा? ऐसे दुष्ट को तो बन्दीगृह में ही रखना वा मारे विना छोड़ना ही नहीं।

परन्तु यह शैतान का होना ईसाइयों का भ्रममात्र है। वास्तव में कुछ भी नहीं, केवल लोगों को डराके अपने जाल में लाने का उपाय रचा है।

जैसे किसी धूर्त्त ने किन्हीं भोले मनुष्यों से कहा कि चलो तुमको देवता का दर्शन कराऊं[1]। किसी एकान्त देश में लेजाके एक मनुष्य को चतुर्भुज बनाकर रक्खा। झाड़ी में खड़ा करके कहा कि आंख मीच लो। जब मैं कहूं तब खोलना। और फिर जब कहूं, तभी मीच लो। जो न मीचेगा वह अन्धा हो जायगा[2]।

जब वह सामने आया तब कहा देखो, और पुनः शीघ्र कहा कि मीच लो। जब फिर झाड़ी में छिप गया, तब कहा खोलो। देखो नारायण को, सबने दर्शन किया।

जैसी[3] लीला मजहबियों की है। [4]वैसी इन मत वालों की बातें हैं कि जो हमारा मजहब न मानेगा, वह शैतान का बहकाया हुआ है। इसलिये इनको माया में किसी को न फसना चाहिये ॥१२७॥

१२८—जिसके सम्मुख से पृथिवी और आकाश भाग गये, और

---

१. देखो पूर्व पृष्ठ ५६३ से ५६५ स्वामी-नारायण मत-प्रकरण।

२. यहां से आगे 'वैसी इन...बहकाया हुआ है।' वाक्य अस्थान में पड़ा था। उससे प्रकरणभंग होता था। हमने उसे आगे यथास्थान रख दिया है। देखो अगली टिप्पणी।

३. यहां सब संस्करणों में 'वैसी' पाठ है।

४. यह पाठ सब संस्करणों में 'अन्धा' हो जायेगा के आगे अस्थान में पठित है।

उनके लिये जगह न मिली ।। और मैंने क्या छोटे क्या बड़े सब मृतकों को ईश्वर से आगे खड़े देखा, और पुस्तक खोले गये । और दूसरा पुस्तक अर्थात् जीवन का पुस्तक खोला गया । और पुस्तकों में लिखी हुई बातों से मृतकों का विचार उनके कर्मों के अनुसार किया गया ।।

यो० प्र० प० २० । आ० ११, १२ ।।

समीक्षक—यह देखो लड़कपन की बात । भला पृथिवी और आकाश कैसे भाग सकेंगे ? और वे किस पर ठहरेंगे, जिनके सामने से भागे ? और उसका सिंहासन और वह कहां ठहरा ? और मुर्दे परमेश्वर के सामने खड़े किये गये, तो परमेश्वर भी बैठा वा खड़ा होगा ?

क्या यहां की कचहरी और दूकान के समान ईश्वर का व्यवहार है, जो कि पुस्तक-लेखानुसार होता है ? और सब जीवों का हाल ईश्वर ने लिखा वा उसके गुमाश्तों ने ? ऐसी-ऐसी बातों से अनीश्वर को ईश्वर और ईश्वर को अनीश्वर ईसाई आदि मत वालों ने बना दिया ।।१२८।।

१२९—उनमें से एक मेरे पास आया, और मेरे सङ्ग[1] बोला कि आ मैं दुलहिन को अर्थात् मेम्ने की स्त्री को तुझे दिखाऊंगा ।।

यो० प्र० प० २१ । आ० ९ ।।

समीक्षक—भला ईसा ने स्वर्ग में दुलहिन अर्थात् स्त्री अच्छी पाई, मौज करता होगा । जो-जो ईसाई वहां जाते होंगे, उनको भी स्त्रियां मिलती होंगी, और लड़के बाले होते होंगे । और बहुत भीड़ के हो जाने से रोगोत्पत्ति होकर मरते भी होंगे । ऐसे स्वर्ग को दूर से हाथ ही जोड़ना अच्छा है ।।१२९।।

१३०—और उसने उस नल से नगर को नापा कि साढ़े सात सौ कोश का है । उसकी लम्बाई और चौड़ाई और ऊंचाई एक समान हैं ।। और उसने उसकी भीत को मनुष्य के अर्थात् दूत के नाप से नापा कि एक सौ चवालीस हाथ की है ।।

---

१. सं० ३४ में 'संग' के आगे '[बात करके]' पाठ बढ़ाया है । यह अनावश्यक है ।

और उसकी भीत की जुड़ाई[1] सूर्यकान्त की थी। और नगर निर्मल सोने का था, जो निर्मल कांच के समान था॥ और नगर के भीत की नेवें हरएक बहुमूल्य पत्थर से संवारी हुई थीं। पहिली नेव सूर्यकान्त की थी, दूसरी नीलमणि की, तीसरी लालड़ी की, चौथी मरकत की॥

पांचवी गोमेदक की, छठवीं माणिक्य की, सातवीं पीतमणि की, आठवीं पेरोज की, नवीं पुखराज की, दसवीं लहसनिये की, ग्यारहवीं धूम्रकान्त की, बारहवीं मर्टीष की॥

और बारह फाटक बारह मोती थे। एक-एक मोती से एक-एक फाटक बना था। और नगर की सड़क स्वच्छ कांच के ऐसे निर्मल सोने की थी॥ यो० प्र० प० २१। आ० १६-२१॥

समीक्षक—सुनो ईसाइयों के स्वर्ग का वर्णन। यदि ईसाई मरते जाते और [वहां] जन्मते जाते हैं, तो इतने बड़े शहर में [भी] कैसे समा सकेंगे? क्योंकि उसमें मनुष्यों का आगम होता है, और उससे निकलते नहीं।

और जो यह[2] बहुमूल्य रत्नों की बनी हुई नगरी मानी है, और[3] सर्व सोने की है, इत्यादि लेख केवल भोले-भोले मनुष्यों को बहका-कर फसाने की लीला है।

भला लम्बाई, चौड़ाई तो उस नगर की लिखी सो हो सकती, परन्तु ऊंचाई साढ़े सात सौ कोश क्योंकर हो सकती है? यह सर्वथा मिथ्या कपोल-कल्पना की बात है।

और इतने बड़े मोती कहां से आये होंगे? इस लेख के लिखने-वाले के घर के घड़े में से [निकले होंगे]। यह गपोड़ा पुराण का भी बाप है॥१३०॥

१३१—और कोई अपवित्र वस्तु अथवा घिनित कर्म करनेहारा,

---

१. अर्थात् जड़ाई।

२. सं० २ से ३० तक 'यह' पाठ है। सं० ३२ में 'वह' मिलता है।

३. श्री पं० भगवद्दत्तजी की टिप्पणी के अनुसार मूल में 'वह' पाठ है। सं० २ से 'और' पाठ मिलता है।

अथवा झूंठ पर चलनेहारा उसमें किसी रीति से प्रवेश न करेगा ॥ यो० प्र० प० २१[1] । आ० २७ ॥

समीक्षक—जो ऐसी बात है, तो ईसाई लोग क्यों कहते हैं कि पापी लोग भी स्वर्ग में ईसाई होने से जा सकते हैं ? यह ठीक बात नहीं है । यदि ऐसा है, तो योहन्ना[2] स्वप्ने की मिथ्या बातों का कहनेहारा[3] स्वर्ग में प्रवेश कभी न कर सका होगा ।

और ईसा भी स्वर्ग में न गया होगा । क्योंकि जब अकेला पापी स्वर्ग को प्राप्त नहीं हो सकता, तो जो अनेक पापियों के पाप के भार से युक्त है, वहक्योंकर स्वर्गवासी हो सकता है ? ॥१३१॥

१३२—और अब कोई श्राप न होगा, और ईश्वर का और मेम्ने का सिंहासन उसमें होगा, और उसके दास उसकी सेवा करेंगे ॥ और उसका[4] मुंह देखेंगे, और उसका नाम उनके माथे पर होगा ॥

और वहां रात न होगी, और उन्हें दीपक का अथवा सूर्य्य की ज्योति का प्रयोजन नहीं । क्योंकि परमेश्वर उन्हें ज्योति देगा, [5]वे सदा सर्वदा राज्य करेंगे ॥ यो० प्र० प० २२ । आ० ३-५ ॥

समीक्षक—देखिये, यही ईसाइयों का स्वर्गवास । क्या ईश्वर और ईसा सिंहासन पर निरन्तर बैठे रहेंगे ? और उनके दास उनके सामने सदा मुंह देखा करेंगे ? अब यह तो कहिये, तुम्हारे ईश्वर का मुंह यरोपियन के सदृश गोरा वा अफ्रीकावालों के सदृश काला, अथवा अन्य देशवालों के समान है ?

यह तुम्हारा स्वर्ग भी बन्धन है । क्योंकि जहां छोटाई-बड़ाई है । और उसी एक नगर में रहना अवश्य है, तो वहां दुःख क्यों न होता होगा ? जो मुखवाला है, वह ईश्वर सर्वज्ञ सर्वेश्वर कभी नहीं हो सकता ॥१३२॥

---

१. सं० २ से ३३ तक '२०' अपपाठ है । २. John.

३. सं० २० तक यही पाठ है, (२१, २२ हमारे पास नहीं है । २३ से ३३ तक 'करनेहारा' पाठ मिलता है ।

४. अर्थात् ईश्वर का । सं० ३४ में मूल में ही कोष्ठक में बढ़ाया ।

५. सं० ३४ में 'वे' से पूर्व '[और]' पाठ बढ़ाया ।

१३३—देख, मैं शीघ्र आता हूं, और मेरा प्रतिफल मेरे साथ है। जिसतें हरएक को जैसा उसका कार्य ठहरेगा, वैसा फल देऊंगा ॥

यो० प्र० प० २२। आ० १२॥

समीक्षक—जब यही बात है कि कर्मानुसार फल पाते हैं, तो पापों की क्षमा कभी नहीं होती। और जो क्षमा होती है, तो इञ्जील की बातें झूठी [हैं]। यदि कोई कहे कि क्षमा करना भी इञ्जील में लिखा है, तो पूर्वापरविरुद्ध अर्थात् 'हल्फ़दरोग़ी' हुई तो झूंठ है। इसका मानना छोड़ देओ।

अब कहां तक लिखें, इनकी बाइबल में लाखों बातें खण्डनीय हैं। यह तो थोड़ा-सा चिह्नमात्र ईसाइयों की बाइबल पुस्तक का दिखलाया है। इतने ही से बुद्धिमान् लोग बहुत समझ लेगें। थोड़ी-सी बातों को छोड़ शेष सब झूंठ भरा है।

जैसे झूंठ के संग से सत्य भी शुद्ध नहीं रहता[1], वैसा ही बाइबल पुस्तक भी माननीय नहीं हो सकता। किन्तु वह सत्य तो वेदों के स्वीकार में गृहीत होता ही है। १३३॥

[2][यह थोड़ा-सा बाइबल के सम्बन्ध में लिखा है। बुद्धिमानों के सामने बहुत लिखना अनावश्यक है। इसके आगे मुसलमानों के मत के विषय में लिखा जायगा॥]

इति श्रीमद्दयानन्दसरस्वतीस्वामिनिर्मिते सत्यार्थप्रकाशे सुभाषाविभूषिते कृश्चीनमतविषये त्रयोदशः समुल्लासः सम्पूर्णः ॥१३॥

—:o:—

१. न तत्सत्यं यच्छलेनाभ्युपेतम्। महाभारत उद्योगपर्व ३५।३८॥

२. ग्रन्थकार की यह सार्वत्रिक शैली है कि वह प्रत्येक समुल्लास के अन्त में समाप्यमान-समुल्लास के विषय का निर्देश करके अगले समुल्लास के विषय का निर्देश करते हैं। यहां भी इसी प्रकार का पाठ होना चाहिये। कैसे रह गया, यह विचारणीय है।

अनुभूमिका (४)

जो यह १४ चौदहवां समुल्लास मुसलमानों के मतविषय में लिखा है, सो केवल कु़रान[1] के अभिप्राय से, अन्य ग्रन्थ[2] के मत से नहीं। क्योंकि मुसलमान कु़रान पर ही पूरा-पूरा विश्वास रखते हैं।

यद्यपि फिरके होने के कारण किसी शब्द-अर्थ आदि विषय में विरुद्ध बात है, तथापि कु़रान पर सब ऐकमत्य हैं। जो कु़रान अर्बी भाषा में है, उस पर मौलवियों ने उर्दू में अर्थ लिखा है। उस अर्थ का देवनागरी अक्षर और आर्य्यभाषान्तर कराके, पश्चात् अर्बी के बड़े-बड़े विद्वानों से शुद्ध करवाके लिखा गया है।[3]

यदि कोई कहे कि यह अर्थ ठीक नहीं है, तो उसको उचित है कि मौलवी साहबों के तर्जुमाओं का पहिले खण्डन करे। पश्चात् इस विषय पर लिखे।

क्योंकि यह लेख केवल मनुष्यों की उन्नति और सत्यासत्य के निर्णय के लिये [है, अर्थात्] सब मतों के विषयों का थोड़ा-थोड़ा

---

१. "वास्तव में यह शब्द 'कुरआन' है, परन्तु भाषा में लोगों के बोलने में 'कुरान' आता है।" इसलिये ऐसा ही लिखा है। यह टिप्पणी आगे ५ वीं समीक्षा में पठित 'कुरान' पद पर सं० २ से मिलती है। उसे हम यहां ले आये हैं।

२. अर्थात् हदीसों आदि के मत से नहीं। हदीसों को कुछ मुसलमान मानते हैं, कुछ नहीं मानते।

३. जिस देवनागरी कुरान के आधार पर ग्रन्थकार ने समीक्षाएं लिखी हैं, वह परोपकारी सभा अजमेर के संग्रह में सुरक्षित है। इसके अन्त का पाठ इस प्रकार है—"**सं० १९३५ कार्तिक शु० ९ रविवासरे कुराणाख्योऽयं ग्रन्थः सम्पूर्णः। इन्द्रप्रस्थनगरे** ..।" इसका संशोधन गुड़ हट्टा, पटना के निवासी मुंशी मनोहर लाल ने किया था। द्र०—ऋ० द० के पत्र और विज्ञापन, पृष्ठ १८१ (द्वि० सं०) मुन्शी मनोहरलाल के नाम का पत्र। इसी प्रसंग में ऋ० द० के पत्र और विज्ञापन के पृष्ठ २२ (द्वि० सं०) की टि० १ भी द्रष्टव्य है।

ज्ञान होवे, इससे मनुष्यों को परस्पर विचार करने का समय[1] मिले। और एक-दूसरों के दोषों का खण्डन कर गुणों का ग्रहण करें।

न किसी अन्य मत पर, न इस मत पर झूंठ-मूंठ बुराई वा भलाई लगाने का प्रयोजन है। किन्तु जो-जो भलाई है वही भलाई, और जो बुराई है वही बुराई सबको विदित होवे। न कोई किसी पर झूंठ चला सके और न सत्य को रोक सके। और सत्यासत्य विषय प्रकाशित किये पर भी जिसकी इच्छा हो वह न माने वा माने। किसी पर बलात्कार नहीं किया जाता।

और यही सज्जनों की रीति है कि अपने वा पराये दोषों को दोष और गुणों को गुण जानकर गुणों का ग्रहण और दोषों का त्याग करें। और हठियों का हठ-दुराग्रह न्यून करें-करावें। क्योंकि पक्षपात से क्या-क्या अनर्थ जगत् में न हुए और न होते है ?

सच तो यह है कि इस अनिश्चित क्षणभङ्ग[2] जीवन में पराई हानि करके लाभ से स्वयं रिक्त रहना और अन्य को रखना मनुष्य-पन से बहिः[3] है। इसमें जो कुछ विरुद्ध लिखा गया हो, उसको सज्जन लोग विदित कर देंगे। तत्पश्चात् जो उचित होगा, तो माना जायगा।

क्योंकि यह लेख हठ दुराग्रह ईर्ष्या-द्वेष वाद-विवाद और विरोध घटाने के लिये किया गया है, न कि इनको बढ़ाने के अर्थ। क्योंकि एक-दूसरे की हानि करने से पृथक् रह परस्पर को लाभ पहुंचाना हमारा मुख्य कर्म है।

अब यह १४ चौदहवें समुल्लास में मुसलमानों का मतविषय सब सज्जनों के सामने निवेदन करता हूं। विचारकर इष्ट का ग्रहण अनिष्ट का परित्याग कीजिये। अलमतिविस्तरेण बुद्धिमद्वर्य्येषु ॥

इत्यनुभूमिका

---

१. अर्थात् अवसर। २. अर्थात् नाशवान्।
३. अर्थात् बाहर की बात है।

अथ चतुर्दश-समुल्लासारम्भः

अथ यवनमतविषयं व्याख्यास्यामः[1]

———

इसके आगे मुसलमानों के मत-विषय में लिखेंगे—

१—आरम्भ साथ नाम अल्लाह् के क्षमा करनेवाला दयालु ।।

मंजिल १ । सिपारा १ । सूरत १ । ।।[2]

समीक्षक—मुसलमान लोग ऐसा कहते हैं कि यह क़ुरान ख़ुदा का कहा है। परन्तु इस वचन से विदित होता है कि इसका बनाने वाला कोई दूसरा है। क्योंकि जो परमेश्वर का बनाया होता, तो 'आरम्भ साथ नाम अल्लाह् के' ऐसा न कहता। किन्तु 'आरम्भ वास्ते उपदेश मनुष्यों के' ऐसा कहता।

यदि मनुष्यों को शिक्षा करता है कि तुम ऐसा कहो, तो भी

---

१. सं० ३ से ३३ तक 'समीक्षिष्यामः' परिवर्तित पाठ मिलता है।

२. सं० २ में समर्थदान, प्रबन्धकर्त्ता, वैदिक यन्त्रालय, प्रयाग की इस विषय में ग्रन्थस्थ विषयसूची के आरम्भ में यह सूचना छपी है—'चौदहवें समुल्लास में कुरान की मंज़िल, सिपारा, सूरत और आयत का ब्यौरा लिखा है। उस में और तो सब ठीक है, परन्तु आयतों की संख्या में दो-चार के आगे पीछे का अन्तर होना सम्भव है। अत एव पाठक गण क्षमा करें।' यह आवश्यक सूचना अगले संस्करणों में नहीं छपी। स० २६ में जिन आयतों की संख्याएं शोधी गईं, उनके संशोधक आर्यसमाज के प्रसिद्ध विद्वान् श्री पं० महेश प्रसाद जी मौलवी आलिमफाजिल थे। उन्होंने यह कार्य १९४३ में अजमेर आकर किया था। इसी काल में श्री० पं० रामचन्द्र देहलवी ने सत्यार्थप्रकाश में समीक्ष्य आयतांशों को देवनागरी लिपि में भाषानुवाद सहित छापा था। उसमें भी आयतों की संख्याएं प्रायः वही दी गईं हैं, जो २६ वें संस्करण में शोधी गईं। इसलिये हमभी २६ वें संस्करण के अनुसार ही शुद्ध आयत संख्याएं छाप रहे हैं। उस में ४-५ स्थानों पर रही साधारण भूलों को श्री प० रामचन्द्र जी देहलवी के अनुसार ठीक कर दिया है। फिर भी क़ुरान के विभिन्न संस्करणों में आयत संख्याओं में एक दो का अन्तर होने से साधारण अन्तर सम्भव है।

ठीक नहीं। क्योंकि इससे पाप का आरम्भ भी ख़ुदा के नाम से होकर उसका नाम भी दूषित हो जायगा।

जो वह क्षमा और दया करनेहारा है, तो उसने अपनी सृष्टि में मनुष्यों के सुखार्थ अन्य प्राणियों को मार, दारुण पीड़ा दिलाकर, मरवाके मांस खाने की आज्ञा क्यों दी? क्या वे प्राणी अनपराधी और परमेश्वर के बनाये हुए नहीं हैं?

और यह भी कहना था कि—'परमेश्वर के नाम पर अच्छी बातों का आरम्भ, बुरी बातों का नहीं'। इस कथन[1] में गोलमाल है। क्या चोरी जारी मिथ्या-भाषणादि अधर्म का भी आरम्भ परमेश्वर के नाम पर किया जाय?

इसी से देख लो, कसाई आदि मुसलमान गाय आदि के गले काटने में भी 'बिस्मिल्लाह' इस वचन को पढ़ते हैं। जो यही इसका पूर्वोक्त अर्थ है, तो बुराइयों का आरम्भ भी परमेश्वर के नाम पर मुसलमान करते[2] हैं।

और मुसलमानों का 'ख़ुदा' दयालु भी न रहेगा। क्योंकि उसकी दया उन पशुओं पर न रही। और जो मुसलमान लोग इसका अर्थ नहीं जानते, तो इस वचन का प्रगट होना व्यर्थ है। यदि मुसलमान लोग इसका अर्थ और करते हैं, तो सूधा[3] अर्थ क्या है? इत्यादि ॥१॥

२—सब स्तुति परमेश्वर के वास्ते हैं, जो परवरदिगार अर्थात् पालन करनेहारा है सब संसार का ॥ क्षमा करनेवाला दयालु है ॥

मं० १। सि० १। सूरतुल्फातिहा। आ० १, २॥

समीक्षक—जो क़ुरान का ख़ुदा संसार का पालन करनेहारा होता, और सब पर क्षमा और दया करता होता, तो अन्य मत वाले और पशु आदि को भी मुसलमानों के हाथ से मरवाने का हुक्म न देता।

---

१. अर्थात् जैसा प्रथम सूरत के आरम्भ में कहा है।
२. सं० २ में 'कहते' पाठ है। सं० ३ में शोधा गया है।
३. अर्थात् सीधा वा शुद्ध।

जो क्षमा करनेहारा है, तो क्या पापियों पर भी क्षमा करेगा? और जो वैसा है, तो आगे लिखेंगे कि 'काफ़िरों को क़त्ल करो' अर्थात् जो क़ुरान और पैग़म्बर को न मानें वे काफ़िर हैं, ऐसा क्यों कहता? इसलिये क़ुरान ईश्वरकृत नहीं दीखता ॥२॥

३—मालिक दिन न्याय का ॥ तुझ ही को हम भक्ति करते हैं, और तुझ ही से सहाय चाहते हैं ॥ दिखा हमको सीधा रास्ता ॥

मं० १। सि० १। सू० १। आ० ३-५॥

समीक्षक—क्या ख़ुदा नित्य न्याय नहीं करता? किसी एक दिन न्याय करता[1] है। इससे तो अन्धेर विदित होता है। उसीकी भक्ति करना और उसीसे सहाय चाहना तो ठीक, परन्तु क्या बुरी बात का भी सहाय चाहना?

और सूधा मार्ग एक मुसलमानों ही का है, वा दूसरे का भी? सूधे मार्ग को मुसलमान क्यों नहीं ग्रहण करते? क्या सूधा रास्ता बुराई की ओर का तो नहीं चाहते? यदि भलाई सबकी एक है, तो फिर मुसलमानों ही में विशेष कुछ न रहा। और जो दूसरों की भलाई नहीं मानते, तो पक्षपाती हैं ॥३॥

४—[दिखा[2]] उन लोगों का रास्ता कि जिनपर तूने निआमत की ॥ और उनका मार्ग मत दिखा कि जिनके ऊपर तूने ग़ज़ब अर्थात् अत्यन्त क्रोध की दृष्टि की, और न गुमराहों का मार्ग हमको दिखा ॥

मं० १। सि० १। सू० १। आ० ६, ७॥

समीक्षक—जब मुसलमान लोग पूर्वजन्म और पूर्वकृत पाप-पुण्य नहीं मानते, तो किन्हीं पर निआमत अर्थात् फ़ज़ल वा दया करने और किन्हीं पर न करने से ख़ुदा पक्षपाती हो जायगा। क्योंकि विना पाप-पुण्य [के] सुख-दुःख देना केवल अन्याय की बात है।

और विना कारण किसी पर दया और किसी पर क्रोध दृष्टि

---

१. सं० २ में 'कर्त्ता' पाठ है।

२. यह पद सं० २ से ३० तक नहीं मिलता। ३२ वें में छपा है।

करना भी स्वभाव से बहिः[1] है। वह दया अथवा क्रोध नहीं कर सकता। और जब उनके पूर्वसंचित पुण्य-पाप ही नहीं, तो किसी पर दया और किसी पर क्रोध करना नहीं हो सकता।

और इस सूरत की टिप्पन पर 'यह सूर: अल्लाह साहेब ने मनुष्यों के मुख से कहलाई कि सदा इस प्रकार से कहा करें'। जो यह बात है, तो 'अलिफ़् बे' आदि अक्षर भी खुदा ही ने पढ़ाये होंगे। जो कहो कि विना अक्षरज्ञान के [पढ़ाया, तो] इस सूर: को कैसे पढ़ सके? क्या कण्ठ ही से बुलाये और बोलते गये? जो ऐसा है, तो सब क़ुरान ही कण्ठ से पढ़ाया होगा[2]।

इससे ऐसा समझना चाहिये कि जिस पुस्तक में पक्षपात की बातें पाई जायें, वह पुस्तक ईश्वरकृत नहीं हो सकता। जैसा कि अरबी भाषा में उतारने से अरबवालों को इसका पढ़ना सुगम, अन्य भाषा बोलनेवालों को कठिन होता है। इससे खुदा में पक्षपात आता है।

और जैसे परमेश्वर ने सृष्टिस्थ सब देशस्थ मनुष्यों पर न्यायदृष्टि से सब देश-भाषाओं से विलक्षण संस्कृतभाषा, कि जो सब देशवालों के लिये एक-से परिश्रम से विदित होती है, उसी में वेदों का प्रकाश किया है[3], [4]करता तो यह[5] दोष नहीं होता॥४॥

५—यह पुस्तक कि जिसमें सन्देह नहीं परहेज़गारों को मार्ग दिखलाती है॥ जो कि ईमान लाते हैं साथ ग़ैब (=परोक्ष) के (और) नमाज़ पढ़ते, और उस वस्तु से जो हमने दी खर्च करते हैं॥

---

१. अर्थात् ईश्वर के स्वभाव से बाहर है।

२. यह दोष वेद पर नहीं आता। क्योंकि परमेश्वर ने वेद का ज्ञान आदि ऋषियों के हृदयों में अथवा ज्ञान में प्रेरणा करके दिया। द्र०—ऋ० १।७१।१॥

३. इस पर विशेष विचार पूर्व पृष्ठ २९७ पर देखें।

४. वाक्य के आरम्भ 'जैसे' पद का निर्देश होने से यहां 'वैसे' पद का अध्याहार जानना चाहिये—'वैसे करता तो'।

५. सं० २ में 'कुछ भी' पाठ है। सं० ३ में 'यह' पाठ बनाया गया। आगे भी यही पाठ छप रहा है। यह परिवर्तन आवश्यक है।

और वे लोग जो उस किताब पर ईमान लाते हैं जो रखते हैं तेरी ओर वा तुझसे पहिले उतारी गई और विश्वास क़यामत पर रखते हैं ।। ये लोग अपने मालिक की शिक्षा पर हैं, और ये ही छुटकारा पानेवाले हैं ।।

निश्चय जो काफ़िर हुए और उन पर तेरा डराना-न-डराना समान है वे ईमान न लावेंगे ।। अल्लाह ने उनके दिलों कानों पर मोहर करदी और उनकी आंखों पर पर्दा है और उनके वास्ते बड़ा अज़ाब है ।। मं० १ । सि० १ । सूर: २ । आ० २-७ ।।

समीक्षक—क्या अपने ही मुख से अपनी किताब की प्रशंसा करना ख़ुदा की दम्भ की बात नहीं ? जो[1] परहेज़गार अर्थात् धार्मिक लोग हैं,वे तो स्वत: सच्चे मार्ग में हैं । और जो झूठे मार्ग पर हैं उनको यह क़ुरान मार्ग ही नहीं दिखला सकता,फिर किस काम का रहा ?

क्या पाप-पुण्य और पुरुषार्थ के विना ख़ुदा अपने ही ख़ज़ाने से ख़र्च करने को देता है ? जो देता है, तो सब को क्यों नहीं देता ? और मुसलमान लोग परिश्रम क्यों करते हैं ?

और जो बाइबल इञ्जील आदि पर विश्वास करना योग्य है, तो मुसलमान इञ्जील आदि पर ईमान, जैसा क़ुरान पर है वैसा, क्यों नहीं लाते ? और जो लाते हैं, तो क़ुरान[2] का होना क़िसलिये ? जो कहें कि क़ुरान में अधिक बातें हैं, तो पहिली क़िताब में लिखना ख़ुदा भूल गया होगा । और जो नहीं भूला, तो क़ुरान का बनाना निष्प्रयोजन है ।

और हम देखते हैं, तो बाइबल और क़ुरान की बातें कोई-कोई न मिलती होंगी, नहीं तो सब मिलती हैं । एक ही पुस्तक जैसा कि वेद है क्यों न बनाया ? क़यामत पर ही विश्वास रखना चाहिये,अन्य पर नहीं ?

---

१. सं० २ में 'अब' पाठ है ।

२. यहां पर जो टिप्पणी मिलती है, वह आरम्भ में ही होनी चाहिये । इसलिये हम उसे आरम्भ में (पृष्ठ ८१४ टि० १) ले गये हैं ।

क्या ईसाई और मुसलमान ही खुदा की शिक्षा पर हैं ? उनमें कोई भी पापी नहीं है ? क्या जो ईसाई और मुसलमान अधर्मी हैं, वे भी छुटकारा पावें, और दूसरे धर्मात्मा भी न पावें, तो बड़े अन्याय और अन्धेर की बात नहीं है ? और क्या जो लोग मुसलमानी मत को न मानें, उन्हींको काफ़िर कहना वह एकतर्फी डिगरी नहीं है ?

जो परमेश्वर ही ने उनके अन्तःकरण और कानों पर मोहर लगाई, और उसी से वे पाप करते हैं, तो उनका कुछ भी दोष नहीं। यह दोष खुदा ही का है, फिर उन पर सुख-दुःख वा पाप-पुण्य नहीं हो सकता। पुनः उनको सज़ा-जज़ा क्यों करता है ? क्योंकि उन्होंने पाप वा पुण्य स्वतन्त्रता से नहीं किया ॥५॥

६—उनके दिलों में रोग है, अल्लाह ने उनको रोग बढ़ा दिया ॥ मं० १। सि० १। सू० २। आ० १०॥[1]

समीक्षक—भला विना अपराध खुदा ने उनको रोग बढ़ाया, दया न आई। उन बिचारों को बड़ा दुःख हुआ होगा। क्या यह शैतान से बढ़कर शैतानपन का काम नहीं है ? किसी के मन पर मोहर लगाना, किसी को रोग बढ़ाना, यह खुदा का काम नहीं हो सकता। क्योंकि रोग का बढ़ना अपने पापों से [होता] है ॥६॥

७—जिसने तुम्हारे वास्ते पृथिवी बिछौना और आसमान की छत को बनाया ॥ मं० १। सि० १। सू० २। आ० २२॥

समीक्षक—भला आसमान छत किसी की हो सकती है ? यह अविद्या की बात है। आकाश को छत के समान मानना हंसी की बात है। यदि किसी प्रकार की पृथिवी को आसमान मानते हों, तो उनकी घर की बात है ॥७॥

८—जो तुम उस वस्तु से सन्देह में हो, जो हमने अपने पैग़म्बर के ऊपर उतारी, तो उस कैसी[2] एक सूरत ले आओ और साक्षियों

---

१. यहां तथा आगे मं० २६ में आयतों की संख्याएं शोधी गई हैं। इस विषय में पृष्ठ ८१६ की टि० ३ देखें।

२. अर्थात् उस जैसी।

अपने को पुकारो अल्लाह के विना [जो] तुम सच्चे हो ॥ जो तुम [न करो] और कभी न करोगे, तो उस आग से डरो कि जिसका इन्धन मनुष्य[1] है और काफिरों के वास्ते पत्थर तैयार किये गये हैं ॥[2]

मं० १। सि०१। सू०२। आ० २३, २४॥

समीक्षक—भला यह कोई बात है कि उसके सदृश कोई सूरत न बने? क्या अकबर बादशाह के समय में मौलवी फैजी ने विना नुक़ते का क़ुरान नहीं बना लिया था? वह कौन-सी दोज़ख़ की आग है? क्या इस[3] आग से न डरना चाहिये? इसका भी इन्धन जो कुछ पड़े सब है।

जैसे क़ुरान में लिखा है कि काफ़िरों के वास्ते पत्थर तैयार किये गये हैं, तो वैसे पुराणों में लिखा कि म्लेच्छों के लिये घोर नरक बना है। अब कहिये किसकी बात सच्ची मानी जाय?

अपने-अपने वचन से दोनों स्वर्गगामी, और दूसरे के मत से दोनों नरकगामी होते हैं। इसलिये इन सबका झगड़ा झूठा है। किन्तु जो धार्मिक हैं वे सुख, और जो पापी हैं वे सब मतों में दुःख पावेंगे ॥८॥

९—और आनन्द का सन्देसा दे उन लोगों को कि ईमान लाये और काम किये अच्छे, यह कि उनके वास्ते बहिश्तें हैं जिनके नीचे से चलती हैं नहरें, जब उसमें से मेवों के भोजन दिये जावेंगे तब कहेंगे कि वह वो वस्तु हैं जो हम पहिले इससे दिये गये थे।[4] और उनके लिये पवित्र बीबियां सदैव वहां रहनेवाली[5] हैं॥

मं० १। सि० १। सू० २। आ० २५॥

समीक्षक—भला यह क़ुरान का बहिश्त संसार से कौन-सी

---

१. सं ३४ में इसके आगे 'और पत्थर हैं,जो काफिरों के वास्ते तैयार की गई हैं' परिवर्तित पाठ है।

२. इस अनुवाद के सम्बन्ध में देखो अन्त में परिशिष्ट २।

३. अर्थात् भौतिक आग।

४. यहां से आगे सं० २ में......पाठ छोड़ने का चिह्न है। सं० ४ में अनावश्यक होने से हटाया गया है।

५. इस अनुवाद के सम्बन्ध में देखो अन्त में परिशिष्ट २।

उत्तम बात वाला है ? क्योंकि जो पदार्थ संसार में हैं, वे ही मुसलमानों के स्वर्ग में हैं। और इतना विशेष है कि यहां जैसे पुरुष जन्मते-मरते और आते-जाते हैं, उसी प्रकार स्वर्ग में नहीं।

किन्तु यहां की स्त्रियां सदा नहीं रहतीं, और वहां [की] बीबियां अर्थात् उत्तम स्त्रियां सदा काल रहती हैं। तो जब तक क़यामत की रात न आवेगी, तब तक उन बिचारियों के दिन कैसे कटते होंगे ? हां, जो ख़ुदा की उनपर कृपा होती होगी, और ख़ुदा ही के आश्रय समय काटती होंगी, तो ठीक है।

क्योंकि यह मुसलमानों का स्वर्ग गोकुलिये गुसांइयों के गोलोक और मन्दिर के सदृश दीखता है। क्योंकि वहां स्त्रियों का मान्य बहुत, पुरुषों का नहीं। वैसे ही ख़ुदा के घर में स्त्रियों का मान्य अधिक, और उन पर ख़ुदा का प्रेम भी बहुत है, उन पुरुषों पर नहीं।

क्योंकि बीबियों को ख़ुदा ने बहिश्त में सदा रक्खा, और पुरुषों को नहीं। वे बीबियां विना ख़ुदा की मर्ज़ी स्वर्ग में कैसे ठहर सकतीं? जो यह बात ऐसी ही हो, तो ख़ुदा स्त्रियों में फस जाय ? ॥९॥

१०—आदम को सारे नाम सिखाए, फिर फ़रिश्तों के सामने करके कहा जो तुम सच्चे हो मुझे उनके नाम बताओ॥ कहा हे आदम ! उनको[1] उनके नाम बतादे, तब उसने बता दिये[1] (तो ख़ुदा ने फरिश्तों से[2]) कहा कि क्या मैंने तुमसे नहीं कहा था कि निश्चय मैं पृथिवी और आसमान की छिपी वस्तुओं को और प्रकट छिपे कर्मों को जानता हूं॥ मं० १। सि० १। सू० २। आ० ३१,३३॥

समीक्षक—भला ऐसे फ़रिश्तों को धोखा देकर अपनी बड़ाई करना ख़ुदा का काम हो सकता है ? यह तो एक दम्भ की बात है। इसको कोई विद्वान् नहीं मान सकता, और न ऐसा अभिमान करता। क्या ऐसी बातों से ही ख़ुदा अपनी सिद्धाई जमाना चाहता

---

१. सं० २ से १३ तथा ३४,३५ में है। सं० १४ में यह पाठ छूटा है।

२. यह ( ) चिह्न सं० २ से ६ तक मिलता है। सं० ७ या ८ में हटाया गया है।

है ? हां, जंगली लोगों में कोई कैसा ही पाखण्ड चला लेवे, चल सकता है, सभ्यजनों में नहीं ॥१०॥

११—जब हमने फ़रिश्तों से कहा कि बाबा आदम को दण्डवत् करो, देखा सभों ने दण्डवत् किया, परन्तु शैतान ने न माना और अभिमान किया क्योंकि वो भी एक क़ाफ़िर था।

मं० १। सि० १। सू० २। आ० ३४॥

समीक्षक—इससे ख़ुदा सर्वज्ञ नहीं, अर्थात् भूत भविष्यत् और वर्त्तमान की पूरी बातें नहीं जानता। जो जानता हो, तो शैतान को पैदा ही क्यों किया ? और ख़ुदा में कुछ तेज भी नही है। क्योंकि शैतान ने ख़ुदा का हुक्म ही न माना, और ख़ुदा उसका कुछ भी न कर सका।

और देखिये, एक शैतान काफ़िर ने ख़ुदा का भी छक्का छुड़ा दिया, तो मुसलमानों के कथनानुसार [उनसे] भिन्न जहां क्रोड़ों काफ़िर हैं, वहां मुसलमानों के ख़ुदा और मुसलमानों की क्या चल सकती है ?

कभी-कभी ख़ुदा भी किसी का रोग बढ़ा देता, किसी को गुम-राह कर देता है। ख़ुदा ने ये बातें शैतान से सीखी होंगी, और शैतान ने ख़ुदा से। क्योंकि विना ख़ुदा के शैतान का उस्ताद और कोई नहीं हो सकता ॥११॥

१२—हमने कहा कि ओ आदम ! तू और तेरी जोरू बहिश्त में रहकर आनन्द में जहां चाहो खाओ, परन्तु मत समीप जाओ उस बृक्ष के कि पापी हो जाओगे॥

शैतान ने उनको डिगाया और उनको बहिश्त के आनन्द से खो दिया, तब हमने कहा कि उतरो, तुम्हारे में कोई परस्पर शत्रु हैं, तुम्हारा ठिकाना पृथिवी है और एक समय तक लाभ है॥ आदम अपने मालिक की कुछ बातें सीखकर पृथिवी पर आ गया॥

मं० १। सि० १। सू० २। आ० ३५-३७॥

समीक्षक—अब देखिये ख़ुदा की अल्पज्ञता। अभी तो स्वर्ग में

रहने का आशीर्वाद दिया, और पुनः थोड़ी देर में कहा कि निकलो। जो भविष्यत् बातों को जानता होता, तो वर ही क्यों देता ? और बहकानेवाले शैतान को दण्ड [न] देने से असमर्थ भी दीख पड़ता है।

और वह वृक्ष किसके लिये उत्पन्न किया था ? क्या अपने लिये वा दूसरे के [लिये] ? जो दूसरे के लिये तो क्यों रोका? इसलिये ऐसी बातें न ख़ुदा की और न उसके बनाये पुस्तक में हो सकती हैं।

आदम साहेब ख़ुदा से कितनी बातें सीख आये ? और जब पृथिवी पर आदम साहेब आये, तब किस प्रकार आये ? क्या वह बहिश्त पहाड़ पर है, वा आकाश पर ? उससे कैसे उतर आये? अथवा पक्षी के तुल्य आये, अथवा जैसे ऊपर से पत्थर गिर पड़े ?

इसमें यह विदित होता है कि जब आदम साहब मही[1] से बनाये गये, तो इनके स्वर्ग में भी मही[1] होगी ? और जितने वहां और हैं, वे भी वैसे ही फ़रिश्ते आदि होंगे। क्योंकि मही[1] के शरीर विना इन्द्रिय-भोग नहीं हो सकता।

जब पार्थिव शरीर है, तो मृत्यु भी अवश्य होना चाहिये। यदि मृत्यु होता है, तो वे वहां से कहां जाते हैं ? और मृत्यु नहीं होता, तो उनका जन्म भी नहीं हुआ। जब जन्म है, तो मृत्यु अवश्य ही है।

यदि ऐसा है, तो क़ुरान में लिखा है कि बीबियां सदैव बहिश्त में रहती हैं, सो झूठा हो जायगा। क्योंकि उनका भी मृत्यु अवश्य होगा। जब ऐसा है, तो बहिश्त में जानेवालों का भी मृत्यु अवश्य होगा ॥१२॥

१३—उस दिन से डरो कि जब कोई जीव किसी जीव से भरोसा न रक्खेगा, न उसकी सिफ़ारिश स्वीकार की जावेगी, न उससे बदला लिया जावेगा, और न वे सहाय पावेंगे ॥

सं० १। सि० १। सू० २। आ० ४८ ॥

---

१. यही पाठ सं० २ से १८ तक है। सं० १९ या २० में यहां तथा आगे 'मही' के स्थान में 'मट्टी' बनाया गया है। वही पाठ सं० ३५ तक छप रहा है।

समीक्षक—क्या वर्त्तमान दिनों में न डरें? बुराई करने में सब दिन डरना चाहिये। जब सिफ़ारिश न मानी जावेगी, तो फिर पैग़म्बर की गवाही वा सिफ़ारिश से ख़ुदा स्वर्ग देगा, यह बात क्योंकर सच हो सकेगी?

क्या ख़ुदा बहिश्तवालों ही का सहायक है, दोज़खवालों का नहीं? यदि ऐसा है, तो ख़ुदा पक्षपाती है ॥१३॥

१४—हमने मूसा को किताब और मौजिज़े दिये ॥[1]

सं० १। सि० १। सू० २। आ० ५३ ॥

समीक्षक—जो मूसा को किताब दी, तो क़ुरान का होना निरर्थक है। और उसको आश्चर्यशक्ति दी, यह बाइबल और क़ुरान में भी लिखा है। परन्तु यह बात मानने योग्य नहीं। क्योंकि जो ऐसा होता, तो अब भी होता। जो अब नहीं, तो पहिले भी न था।

जैसे स्वार्थी लोग आजकल भी अविद्वानों के सामने विद्वान् बन जाते हैं, वैसे उस समय भी कपट किया होगा। क्योंकि ख़ुदा और उसके सेवक अब भी विद्यमान हैं। पुनः इस समय ख़ुदा आश्चर्यशक्ति क्यों नहीं देता? और नहीं कर सकते।

जो मूसा को किताब दी थी, तो पुनः क़ुरान का देना क्या आवश्यक था? क्योंकि जो भलाई-बुराई करने-न-करने का उपदेश सर्वत्र एक सा हो, तो पुनः भिन्न-भिन्न पुस्तक करने से पुनरुक्त दोष

---

१. यहां से आगे सं० २ से ३३ तक वह पाठ है, जो समीक्ष्यांश १७ पर हमने दिया है। जिस हिन्दी क़ुरान के आधार पर ऋ०द०ने ये समीक्ष्यांए लिखीं थीं,उसका ८ वां९वांपृष्ठ जिल्द बांधने के समय भूल से १४ वें पृष्ठ के आगे लग गया। इन पृष्ठों में ५४ से ६४ तक आयतें थीं। इस भूल की ओर ध्यान न जाने से ग्रन्थकार ने भी आयत संख्या ५४ से ६४ की ११ आयतों में से संख्या ५८ और ६१ की समीक्षा आगे कर दी, और यहां आयत संख्या ५३ के साथ ६५ जड़ गई। हमने इस भूल की ओर सन् १९४९ में प्रकाशित 'ऋ० द० के ग्रन्थों का इतिहास' ग्रन्थ में पृष्ठ ४३, ४४ पर ध्यान आकृष्ट किया था। सं० ३४ में आगे-पीछे हो रहे अंशों को यथास्थान रख दिया।। हम भी इसी प्रकार छाप रहे हैं। यहां जिन आयत-संख्याओं का निर्देश है, वह शोधी गई संख्या के अनुसार है

होता हैं। क्या मूसाजी आदि को दी हुई पुस्तक में खुदा भूल गया था? ॥१४॥

१५—[1]'और कहो कि क्षमा मांगते हैं हम, क्षमा करेंगे तुम्हारे पाप और अधिक भलाई करनेवालों के ॥

मं० १। सि० १। सू० २। आ० ५८ ॥

समीक्षक—भला यह खुदा का उपदेश सबको पापी बनानेवाला है वा नहीं? क्योंकि जब पाप क्षमा होने का आश्रय मनुष्यों को मिलता है, तब पापों से कोई भी नहीं डरता। इसलिये ऐसा कहनेवाला खुदा, और यह खुदा का बनाया हुआ पुस्तक नहीं हो सकता। क्योंकि वह न्यायकारी है, अन्याय कभी नहीं करता। और पाप क्षमा करने में अन्यायकारी हो जाता[2] है। किन्तु यथापराध दण्ड ही देने में न्यायकारी हो सकता है ॥१५॥

१६—जब मूसा ने अपनी कौम के लिये पानी मांगा, हमने कहा कि अपना असा (=दण्ड) पत्थर पर मार, उसमें से बारह चश्मे बह निकले ॥ मं० १। सि० १। सू० २। आ० ६०॥

समीक्षक—अब देखिये, इन असम्भव बातों के तुल्य दूसरा कोई कहेगा? एक पत्थर की शिला में डण्डा मारने से बारह झरनों का निकलना सर्वथा असम्भव है। हां, उस पत्थर को भीतर से पोला कर उसमें पानी भर बारह छिद्र करने से सम्भव है। अन्यथा नहीं ॥१६॥

१७—[3]हमनें उनको कहा कि तुम निन्दित बन्दर हो जाओ॥ यह एक भय दिया जो उनके सामने और पीछे थे उनको, और शिक्षा

---

१. समीक्ष्यांश १५, १६ तथा इनकी समीक्षाएं संस्करण २ से ३३ तक संख्या २१ (नई संख्यानुसार २२) के आगे छपते रहे।

२. संस्करण ५ में 'हो सकता है' पाठ बनाकर अगला वाक्य हटाया। संस्करण ३३ तक ऐसा ही छपता रहा।

३. यह अंश और इसका समीक्षांश मं० २ से ३३ तक समीक्ष्यांश १४ के साथ सम्बद्ध था। उससे पृथक् करने से समीक्ष्य संख्या में एक संख्या की वृद्धि हो गई है।

ईमानदारों को ॥ मं० १ । सि० १ । सू० २ । आ० ६५, ६६ ॥

[समीक्षक–][1]जो ख़ुदा ने निन्दित बन्दर हो जाना केवल भय देने के लिये कहा था, तो उसका कहना मिथ्या हुआ, वा छल किया । जो ऐसी बातें करता [है], और जिसमें ऐसी बातें हैं, वह न ख़ुदा और न यह पुस्तक ख़ुदा का बनाया हो सकता है ॥१७॥

१८—इस तरह ख़ुदा मुर्दों को जिलाता है, और तुमको अपनी निशानियां दिखलाता है कि तुम समझो ॥

मं० १ । सि० १ । सू० २ । आ० ७३ ॥

समीक्षक—क्या मुर्दों को ख़ुदा जिलाता था ? तो अब क्यों नहीं जिलाता ? क्या क़यामत की रात तक कबरों में पड़े रहेंगे ? आज-कल दौड़ा सुपुर्द हैं ? क्या इतनी ही ईश्वर की निशानियां हैं ? पृथिवी सूर्य चन्द्रादि निशानियां नहीं हैं ? क्या संसार में जो विविध रचनाविशेष प्रत्यक्ष दीखती हैं, ये निशानियां कम हैं ? ॥१८॥

१९—वे सदैव काल बहिश्त अर्थात् वैकुण्ठ में वास करनेवाले हैं ॥

मं० १ । सि० १ । सू० २ । आ० ८२ ॥

समीक्षक—कोई भी जीव अनन्त पाप-पुण्य करने का सामर्थ्य नहीं रखता । इसलिये सदैव स्वर्ग-नरक में नहीं रह सकते । और जो ख़ुदा ऐसा करे, तो वह अन्यायकारी और अविद्वान् हो जावे ।

क़यामत की रात न्याय होगा, तो मनुष्यों के पाप-पुण्य बराबर होना उचित है । जो अनन्त नहीं है, उसका फल अनन्त कैसे हो सकता है ? और सृष्टि हुए सात-आठ हजार वर्षों से इधर ही बतलाते हैं । क्या इसके पूर्व ख़ुदा निकम्मा बैठा था, और क़यामत के पीछे भी निकम्मा रहेगा ?

ये बातें सब लड़कों के समान हैं । क्योंकि परमेश्वर के काम सदैव वर्त्तमान रहते हैं । और जितने जिसके पाप-पुण्य हैं, उतना ही उसको फल देता है । इसलिये क़ुरान की यह बात सच्ची नहीं ॥१९॥

१. यह समीक्षांश संस्करण २ से ३३ तक समीक्ष्य संख्या १४ की समीक्षा के साथ सम्बद्ध था ।

२०—जब हमने तुमसे प्रतिज्ञा कराई न बहाना लोहू अपने आपस के और किसी अपने आपस को घरों से न निकालना। फिर प्रतिज्ञा की तुमने इसके तुम ही साक्षी हो ॥

फिर तुम वे लोग हो कि अपने आपस [के] को मार डालते हो, एक फिरके को आप में से घरों उनके से निकाल देते हो ॥

मं० १। सि० १। सू० २। आ० ८४, ८५ ॥

समीक्षक—भला प्रतिज्ञा करानी और करनी अल्पज्ञों की बात है, वा परमात्मा की? जब परमेश्वर सर्वज्ञ है, तो ऐसी कड़ाकूट संसारी मनुष्य के समान क्यों करेगा? भला यह कौन-सी भली बात है कि आपस का लोहू न बहाना, अपने मत वालों को घर से न निकालना, अर्थात् दूसरे मत वालों का लोहू बहाना, और घर से निकाल देना? यह मिथ्या मूर्खता और पक्षपात की बात है।

क्या परमेश्वर प्रथम ही से नहीं जानता था कि ये प्रतिज्ञा से विरुद्ध करेंगे? इससे विदित होता है कि मुसलमानों का ख़ुदा भी ईसाइयों की बहुत सी उपमा[1] रखता है। और यह क़ुरान स्वतन्त्र नहीं बन सकता। क्योंकि इसमें से थोड़ी-सी बातों को छोड़कर बाक़ी सब बातें बाइबल की हैं ॥२०॥

२१—ये वे लोग हैं कि जिन्होंने आख़रत के बदले जिन्दगी यहां की मोल लेली, उनसे[2] पाप कभी हल्का न किया जावेगा और न उनको सहायता दी जावेगी ॥ मं० १। सि० १। सू० २। आ० ८६ ॥

समीक्षक—भला ऐसी ईर्ष्या-द्वेष की बातें कभी ईश्वर की ओर से हो सकती हैं? जिन लोगों के पाप हल्के किये जायेंगे, वा जिनको सहायता दी जावेगी वे कौन हैं? यदि वे पापी हैं, और पापों का दण्ड दिये विना हल्के किये जावेंगे, तो अन्याय होगा।

---

१. अर्थात् सादृश्य। उपमा सादृश्यमूलक होती है। इस कारण यहां सदृश के लिये ही उपमा का लाक्षणिक प्रयोग किया है।

२. सं० २ में अस्पष्ट मुद्रण है। 'उन में' भी समझा जा सकता है। सं० २ से २५ तक 'उन से' ही पाठ है।

जो सजा देकर हल्के किये जावेंगे, तो जिनका बयान इस आयत में है, ये भी सज़ा पाके हल्के हो सकते हैं। और दण्ड देकर भी हल्के न किये जायेंगे, तो भी अन्याय होगा।

जो पापों से हल्के किये जानेवालों से प्रयोजन धर्मात्माओं का है, तो उनके पाप तो आप ही हल्के हैं, ख़ुदा क्या करेगा? इससे यह लेख विद्वान् का नहीं। और वास्तव में धर्मात्माओं को सुख और अधर्मियों को दुःख उनके कर्मों के अनुसार सदैव होना चाहिये ॥२१॥

२२--निश्चय हमने मूसा को किताब दी, और उसके पीछे हम पैग़म्बर को लाये और मरियम के पुत्र ईसा को प्रकट मौजिज़े अर्थात् दैवीशक्ति और सामर्थ्य दिये, उसके साथ रूहुलकुद्स[1] के, जब तुम्हारे पास उस वस्तु सहित पैग़म्बर आया कि जिसको तुम्हारा जी चाहता नहीं फिर तुमने अभिमान किया, एक मत को झुठलाया और एक को मार डालते हो॥ मं० १। सि० १। सू० २। आ० ८७॥

समीक्षक—जब क़ुरान में साक्षी है कि मूसा को किताब दी, तो उसका मानना मुसलमानों को आवश्यक हुआ। और जो-जो उस पुस्तक में दोष हैं, वे भी मुसलमानों के मत में आ गिरे।

और 'मौजिज़े' अर्थात् दैवीशक्ति की बातें सब अन्यथा हैं। भोले-भाले मनुष्यों के बहकाने के लिए झूंठमूंठ चला ली हैं। क्योंकि सृष्टिक्रम और विद्या से विरुद्ध सब बातें झूंठी ही होती हैं।

जो उस समय 'मौजिज़े' थे, तो इस समय क्यों नहीं ? जो इस समय भी[2] नहीं, तो उस समय भी न थे। इसमें कुछ भी सन्देह नहीं ॥२२॥

२३—और इससे पहिले काफ़िरों पर विजय चाहते थे, जो कुछ पहिचाना था जब उनके पास वह आया झट काफ़िर हो गये

---

१. रूहुलकुद्स कहते हैं जबरईल को, जो कि हरदम मसीह के साथ रहता था। टि० संस्करण २

२. सं० २ से ३५ तक यहां वर्तमान 'भी' अनावश्यक है।

काफ़िरों पर लानत है अल्लाह की ॥

मं० १। सि० १। सू० २। आ० ८८ ॥

समीक्षक—क्या जैसे तुम अन्य मत वालों को काफ़िर कहते हो, वैसे वे तुमको काफ़िर नहीं कहते हैं? और उनके मत के ईश्वर की ओर से धिक्कार देते हैं। फिर कहो कौन सच्चा और कौन झूंठा?

जो विचार कर देखते हैं, तो सब मत वालों में झूंठ पाया जाता है। और जो सच है, सो सब में एक-सा है। ये सब लड़ाइयां मूर्खता की हैं ॥ २३॥

२४—आनन्द का सन्देशा ईमानदारों को॥ अल्लाह, फ़रिश्तों, पैग़म्बरों, ज़िबरईल[1] और मीकाईल[2] का जो शत्रु है अल्लाह भी ऐसे काफ़िरों का का शत्रु है॥

मं० १। सि० १। सू० २। आ० ९७, ९८ ॥

समीक्षक—जब मुसलमान कहते हैं कि ख़ुदा लाशरीक है, फिर यह फौज की फ़ौज शरीक कहां से करदी? क्या जो औरों का शत्रु वह ख़ुदा का भी शत्रु है? यदि ऐसा है, तो ठीक नहीं। क्योंकि ईश्वर किसी का शत्रु नहीं हो सकता ॥२४॥

२५—और अल्लाह ख़ास करता है जिसको चाहता है साथ दया अपनी के॥ मं० १। सि० १। सू० २। आ० १०५॥

समीक्षक—क्या जो मुख्य और दया करने के योग्य न हो, उसको भी प्रधान बनाता, और उस पर दया करता है? जो ऐसा है, तो ख़ुदा बड़ा गड़बड़िया है। क्योंकि फिर अच्छा काम कौन करेगा? और बुरे कर्म को कौन छोड़ेगा? क्योंकि ख़ुदा की प्रसन्नता पर निर्भर करते हैं, कर्म-फल पर नहीं। इससे सबकी अनास्था होकर कर्मोच्छेद प्रसंग होगा ॥२५॥

२६—ऐसा न हो कि काफ़िर लोग ईर्ष्या करके तुमको ईमान से फेर देवें, क्योंकि उनमें से ईमानवालों के बहुत-से दोस्त हैं ॥[3]

मं० १। सि० १। सू० २। आ० १०६ ॥

---

१. Gabriel. २. Michael.

३. इस अनुवाद के विषय में देखो अन्त में परिशिष्ट २।

समीक्षक—अब देखिये, ख़ुदा ही उनको चिताता है कि तुम्हारे ईमान को काफ़िर लोग न डिगा देवें। क्या वह सर्वज्ञ नहीं है? ऐसी बातें ख़ुदा की नहीं हो सकती हैं ॥२६॥

२७—तुम जिधर मुंह करो उधर ही मुंह अल्लाह का है ॥

मं० १। सि० १। सू० २। आ० ११५ ॥

समीक्षक—जो यह बात सच्चा है, तो मुसलमान क़िबले की ओर मुंह क्यों करते हैं? जो कहें कि हमको क़िबले की ओर मुंह करने का हुक्म है, तो यह भी हुक्म है कि चाहें जिधर की ओर मुख करो। क्या एक बात सच्ची और दूसरी झूठी होगी?

और जो अल्लाह का मुख है, तो वह सब ओर हो ही नहीं सकता। क्योंकि एक मुख एक ओर रहेगा, सब ओर क्योंकर रह सकेगा? इसलिये यह संगत नहीं ॥२७॥

२८—जो आसमान और भूमि का उत्पन्न करनेवाला है, जब वो कुछ करना चाहता है, यह नहीं कि उसको करना पड़ता है, किन्तु उसे कहता है कि हो जा, बस हो जाता है ॥[1]

मं० १। सि० १। सू० २। आ० ११७।

समीक्षक—भला ख़ुदा ने हुक्म दिया कि हो जा, तो हुक्म किसने सुना, और किसको सुनाया? और कौन बन गया, किस कारण से बनाया?[2]

जब यह लिखते हैं कि सृष्टि के पूर्व सिवाय ख़ुदा के कोई भी दूसरा वस्तु न था, तो यह संसार कहां से आया? विना कारण के कोई भी कार्य नहीं होता, तो इतना बड़ा जगत् कारण के विना कहां से हुआ? यह बात केवल लड़कपन की है।

पूर्वपक्षी—नहीं-नहीं। ख़ुदा की इच्छा से।

उत्तरपक्षी—क्या तुम्हारी इच्छा से एक मक्खी की टांग भी

---

१. ऐसा ही भाव बाइबल में है—'उसने कहा, हो जा'।
२. 'बना' पाठ अधिक उचित है।

बन जा[1] सकती है ? जो कहते हो कि खुदा की इच्छा से यह सब कुछ जगत् बन गया।

पूर्वपक्षी– खुदा सर्वशक्तिमान् है। इसलिये जो चाहे सो कर लेता है।

उत्तरपक्षी –सर्वशक्तिमान् का क्या अर्थ है ?

पूर्वपक्षी—जो चाहे सो कर सके।

उत्तरपक्षी—क्या खुदा दूसरा खुदा भी बना सकता है ? अपने आप मर सकता है ? मूर्ख रोगी और अज्ञानी भी बन सकता है ?

पूर्वपक्षी-–ऐसा कभी नहीं बन सकता।

उत्तरपक्षी –इसलिये परमेश्वर अपने और दूसरों के गुण कर्म स्वभाव के विरुद्ध कुछ भी नहीं कर सकता। जैसे संसार में किसी वस्तु के बनने-बनाने में तीन पदार्थ प्रथम अवश्य होते हैं—एक बनाने वाला जैसे कुम्हार; दूसरी घड़ा बननेवाली मिट्टी, और तीसरा उसका साधन जिससे घड़ा बनाया जाता है।

जैसे कुम्हार मिटटी और साधन से घड़ा बनता है, और बनने-वाले घड़े के पूर्व कुम्हार मिट्टी और साधन होते हैं, वैसे ही जगत् के बनने से पूर्व जगत् का कारण प्रकृति और उनके गुण कर्म स्वभाव अनादि हैं। इसलिये यह क़ुरान की बात सर्वथा असंभव है ॥२८॥

२९—जब हमने लोगों के लिये काबे को पवित्र स्थान सुख देने-वाला बनाया, तुम नमाज के लिये इबराहीम के स्थान को पकड़ो ॥

मं० १। सि० १। सू० २। आ० १२५ ॥

समीक्षक—क्या काबे के पहिले पवित्र स्थान खुदा ने कोई भी न बनाया था ? जो बनाया था, तो काबे के बनाने की कुछ आवश्यकता न थी। जो नहीं बनाया था, तो बिचारे पूर्वोत्पन्नों को पवित्र स्थान के विना ही रक्खा था ? पहिले ईश्वर को पवित्र स्थान बनाने का स्मरण न हुआ होगा ॥२९॥

---

१. 'जा' के विना भी भाव स्पष्ट हो जाता है।

३०—वो कौन मनुष्य है जो इबराहीम के दीन से फिर जावे, परन्तु[1] जिसने अपनी जान को मूर्ख बनाया ? और निश्चय हमने दुनिया में उसीको पसन्द किया, और निश्चय आख़रत में वो ही नेक है ॥ मं० १ । सि० १ । सू० २ । आ० १३० ॥

समीक्षक—यह कैसे सम्भव है कि [जो] इबराहीम के दीन को नहीं मानते, वे सब मूर्ख हैं ? इबराहीम को ही ख़ुदा ने पसन्द किया, इसका क्या कारण है ? यदि धर्मात्मा होने के कारण से किया, तो धर्मात्मा और भी बहुत हो सकते हैं ? यदि विना धर्मात्मा होने के ही पसन्द किया, तो अन्याय हुआ । हां, यह तो ठीक है कि जो धर्मात्मा है, वही ईश्वर को प्रिय होता है, अधर्मी नहीं ॥३०॥

३१—निश्चय हम तेरे मुख को आसमान में फिरता देखते हैं, अवश्य हम तुझे उस क़िबले को फेरेंगे कि पसन्द करे उसको बस अपना मुख मस्जिदुल्हराम की ओर फेर, जहां कहीं तुम हो अपना मुख उसकी ओर फेर लो ॥ मं० १ । सि० २ । सू० २ । आ० १४४॥

समीक्षक—क्या यह छोटी बुतपरस्ती है ? नहीं बड़ी ।

पूर्वपक्षी—हम मुसलमान लोग बुतपरस्त नहीं हैं, किन्तु बुत्-शिकन अर्थात् मूर्त्तों को तोड़नेहारे हैं । क्योंकि हम क़िबले को ख़ुदा नहीं समझते ।

उत्तरपक्षी—जिनको तुम बुतपरस्त समझते हो, वे भी उन मूर्त्तों को ईश्वर नहीं समझते, किन्तु उनके सामने परमेश्वर की भक्ति करते हैं । यदि बुतों के तोड़नेहारे हो, तो उस मस्जिद क़िबले बड़े बुत् को क्यों न तोड़ा ?

पूर्वपक्षी—वाह जी ! हमारे तो क़िबले की ओर मुख फेरने का क़ुरान में हुक्म है । और इनको वेद में नहीं है, फिर वे बुतपरस्त क्यों नहीं, और हम क्यों ? क्योंकि हमको ख़ुदा का हुक्म बजाना अवश्य है ।

उत्तरपक्षी—जैसे तुम्हारे लिये क़ुरान में हुक्म है, वैसे इनके

---

१. परन्तु अर्थात् सिवाय उसके ।

लिये पुराण में आज्ञा है। जैसे तुम क़ुरान को खुदा का कलाम समझते हो, वैसे पुराणी भी पुराणों को खुदा के अवतार व्यासजी का वचन समझते है। तुममें और इनमें बुतपरस्ती का कुछ भिन्नभाव नही है। प्रत्युत तुम बड़े बुतपरस्त और ये छोटे हैं।

क्योंकि जबतक कोई मनुष्य अपने घर में से प्रविष्ट हुई बिल्ली को निकालने लगे, तबतक उसके घर में ऊंट प्रविष्ट हो जाय, वैसे ही मुहम्मद साहब ने छोटे बुत् को मुसलमानों के मत से निकाला, परन्तु बड़ा बुत् जो कि पहाड़ के सदृश मक्के की मस्जिद है, वह सब मुसलमानों के मत में प्रविष्ट करा दी। क्या यह छोटी बुतपरस्ती है ?

हां जो हम लोग वैदिक हैं, वैसे ही तुम लोग भी वैदिक हो जाओ, तो बुतपरस्ती आदि बुराइयों से बच सको, अन्यथा नहीं। तुमको[1] जब तक अपनी बड़ी बुतपरस्ती को न निकाल दो, तबतक दूसरे छोटे बुतपरस्तों के खण्डन से लज्जित होके निवृत्त[2] रहना चाहिये। और अपने को बुतपरस्ती से पृथक् करके पवित्र करना चाहिये ॥३१॥

३२—जो लोग अल्लाह के मार्ग में मारे जाते हैं, उनके लिये यह मत कहो कि ये मृतक हैं, किन्तु वे जीवित हैं ॥

मं० १। सि० २ सू० २। आ० १५४ ॥

समीक्षक—भला ईश्वर के मार्ग में मरने-मारने की क्या आवश्यकता है ? यह क्यों नहीं कहते हो कि यह बात अपने मतलब सिद्ध करने के लिये है ? कि यह लोभ देंगे तो लोग खूब लड़ेंगे, अपना विजय होगा। मारने से न डरेंगे, लूटमार करने[3] से ऐश्वर्य प्राप्त होगा, पश्चात् विषयानन्द करेंगे। इत्यादि स्वप्रयोजन के लिये यह विपरीत व्यवहार किया है ॥३२॥

---

१. 'तुम को' का सम्बन्ध 'निवृत्त रहना चाहिये' क्रिया के साथ है।
२. अर्थात् मूर्तियों को तोड़ने रूप कर्म से निवृत्त रहना चाहिये।
३. सं० २ से ६ तक 'करने' पाठ है। सं० ११ से ३५ तक 'कराने' पाठ है।

३३—और यह कि अल्लाह कठोर दुःख देनेवाला है ॥ शैतान के पीछे मत चलो, निश्चय वो तुम्हारा प्रत्यक्ष शत्रु है ॥ उसके विना और कुछ नहीं कि बुराई और निर्लज्जता की आज्ञा दे, और यह कि तुम कहो अल्लाह पर जो नहीं जानते ॥

मं० १। सि० २। सू० २। आ० १६५, १६८, १६९॥

समीक्षक—क्या कठोर दुःख देनेवाला दयालु ख़ुदा पापियों पुण्यात्माओं पर है? अथवा मुसलमानों पर दयालु, और अन्य पर दयाहीन है? जो ऐसा है, तो वह ईश्वर ही नहीं हो सकता।

और पक्षपाती नहीं है, तो जो मनुष्य कहीं धर्म करेगा उस पर ईश्वर दयालु, और जो अधर्म करेगा उस पर दण्डदाता होगा। फिर बीच में मुहम्मद साहब और क़ुरान को मानना आवश्यक न रहा।

और जो सबको बुराई करानेवाला मनुष्यमात्र का शत्रु शैतान है, उसको ख़ुदा ने उत्पन्न ही क्यों किया? वह क्या भविष्यत् की बात नहीं जानता था?

जो कहो कि जानता था, परन्तु परीक्षा के लिये बनाया, तो भी नहीं बन सकता। क्योंकि परीक्षा करना अल्पज्ञ का काम है। सर्वज्ञ तो सब जीवों के अच्छे-बुरे कर्मों को सदा से ठीक-ठीक जानता है।

और शैतान सबको बहकाता है, तो शैतान को किसने बहकाया? जो कहो कि शैतान आप-से-आप बहकता है, तो अन्य भी आप-से-आप बहक सकते हैं। बीच में शैतान का क्या काम?

और जो ख़ुदा ही ने शैतान को बहकाया, तो ख़ुदा शैतान का भी शैतान ठहरेगा। ऐसी बात ईश्वर की नहीं हो सकती। और जो कोई बहकाता है, वह कुसङ्ग तथा अविद्या से भ्रान्त होता है ॥३३॥

३४—तुम पर मुर्दार, लोहू और गोश्त सूअर का हराम है, और अल्लाह के विना जिस पर कुछ पुकारा जावे ॥

मं० १। सि० २। सू० २। आ० १७३॥

समीक्षक—यहां विचारना चाहिये कि मुर्दा चाहे आप-से-आप मरे वा किसी के मारने से, दोनों बराबर हैं। हां, इनमें कुछ भेद भी है, तथापि मृतकपन में कुछ भेद नहीं। और जब एक सूअर का निषध किया, तो क्या मनुष्य का मांस खाना उचित है?

क्या यह बात अच्छी हो सकती है कि परमेश्वर के नाम पर शत्रु आदि को अत्यन्त दुःख देके प्राणहत्या करनी? इससे ईश्वर का नाम कलङ्कित हो जाता है। हां, ईश्वर ने बिना पूर्वजन्म के अपराध के मुसलमानों के हाथ से दारुण दुःख क्यों दिलाया? क्या उन पर दयालु नहीं है? उनको पुत्रवत् नहीं मानता?

जिस वस्तु से अधिक उपकार होवे, उन गाय आदि के मारने का निषेध न करना, जानो हत्या कराकर खुदा जगत् का हानिकारक है। [और] हिंसारूप पाप से कलङ्कित भी हो जाता है। ऐसी बातें खुदा और खुदा के पुस्तक की कभी नहीं हो सकतीं।।३४।।

३५—रोज़े की रात तुम्हारे लिये हलाल की गई कि मदनोत्सव करना अपनी बीबियों से, वे तुम्हारे वास्ते पर्दा हैं और तुम उनके लिये पर्दा हो, अल्लाह ने जाना कि तुम चोरी करते हो अर्थात् व्यभिचार, बस फिर अल्लाह ने क्षमा किया तुम को, बस उनसे मिलो और ढूंढो जो अल्लाह ने तुम्हारे लिये लिख दिया है अर्थात् सन्तान। खाओ-पीओ यहां तक कि प्रकट हो तुम्हारे लिये काले तागे से सुपेद तागा वा रात से जब दिन निकले।।

मं० १। सि० २। सू० २। आ० १८७।।

समीक्षक—यहां यह निश्चित होता है कि जब मुसलमानों का मत चला, वा उसके पहिले किसी ने किसी पौराणिक को पूछा होगा कि चान्द्रायणव्रत जो एक महीने भर का होता है, उसका विधि क्या [है]?

वह शास्त्रविधि जो कि मध्याह्न में[1] चन्द्र की कला घटने-बढ़ने

---

१. यहां 'मध्याह्न में' पाठ व्यर्थ-सा है। इसका चन्द्र की कला के घटने-बढ़ने से सम्बन्ध नहीं है। भोजनकाल के साथ इसका सम्बन्ध है, सो आगे यथास्थान पढ़ा ही है।

के अनुसार ग्रासों को घटाना-बढ़ाना, और मध्याह्न दिन में खाना लिखा है, उसको न जानकर कहा होगा कि चन्द्रमा का दर्शन करके खाना। उसको इन मुसलमान लोगों ने इस प्रकार कर लिया।

परन्तु व्रत में स्त्रीसमागम का त्याग है। वह एक बात ख़ुदा ने बढ़कर कह दी कि तुम स्त्रियों का भी समागम भले ही किया करो, और रात में चाहें अनेक बार खाओ। भला यह व्रत क्या हुआ? दिन को न खाया, रात को खाते रहे। यह सृष्टिक्रम से विपरीत है कि दिन में न खाना रात में खाना ॥३५॥

३६—अल्लाह के मार्ग में लड़ो उनसे जो तुमसे लड़ते हैं॥ मार डालो तुम उनको जहां पाओ॥ क़त्ल से कुफ़्र बुरा है॥ यहां तक उनसे लड़ो कि कुफ़्र न रहे और होवे दीन अल्लाह का॥ उन्होंने जितनी ज़ियादती करी तुम पर उतनी ही तुम उनके साथ करो॥

मं० १। सि० २। सू० २। आ० १९०, १९१, १९३, १९४॥

समीक्षक—जो क़ुरान में ऐसी बातें न होतीं, तो मुसलमान लोग इतना बड़ा अपराध, जो कि अन्य मत वालों पर किया है, न करते। और बिना अपराधियों को मारना उन पर बड़ा पाप है।

जो मुसलमान के मत का ग्रहण न करना है, उसको 'कुफ़्र' कहते हैं। अर्थात् कुफ़्र से क़त्ल को मुसलमान लोग अच्छा मानते हैं। अर्थात् जो हमारे दीन का न मानेगा, उसको हम क़त्ल करेंगे। सो करते ही आये, मज़हब पर लड़ते-लड़ते आप ही राज्य आदि से नष्ट हो गये।

और उनका मन अन्य मत वालों पर अति कठोर रहता है। क्या चोरी का बदला चोरी है? कि जितना अपराध हमारा चोर आदि चोरी [से] करें, क्या हम भी चोरी करें? यह सर्वथा अन्याय की बात है।

क्या कोई अज्ञानी हमको गालियां दे, क्या हम भी उसको गाली देवें? यह बात न ईश्वर की और न ईश्वर के भक्त विद्वान् की, और

न ईश्वरोक्त पुस्तक की हो सकती है। यह तो केवल स्वार्थी ज्ञान-रहित मनुष्य की है ॥३६॥

३७—अल्लाह झगड़े को मित्र नहीं रखता ॥ ऐ लोगो ! जो ईमान लाये हो इस्लाम में प्रवेश करो ॥

मं० १। सि० २। सू० २। आ० २०५, २०८ ॥

समीक्षक—जो झगड़ा करने को ख़ुदा मित्र नहीं समझता, तो क्यों आप ही मुसलमानों को झगड़ा करने में प्रेरणा करता ? और झगड़ालू मुसलमानों से मित्रता क्यों करता है ?

क्या मुसलमानों के मत में मिलने ही से ख़ुदा राज़ी है ? तो वह मुसलमानों ही का पक्षपाती है, सब संसार का ईश्वर नहीं। इससे यहां यह विदित होता है कि न क़ुरान ईश्वरकृत, और न इसमें कहा हुआ [ईश्वर] ईश्वर हो सकता है ॥३७॥

३८—ख़ुदा जिसको चाहे अनन्त रिज़क देवे ॥

मं० १। सि० २। सू० २। आ० २१२ ॥

समीक्षक—क्या विना पाप-पुण्य के ख़ुदा ऐसे ही रिज़क देता है ? फिर भलाई-बुराई का करना एक-सा ही हुआ। क्योंकि सुख-दुःख प्राप्त होना उसकी इच्छा पर है। इससे धर्म से विमुख होकर मुसलमान लोग यथेष्टाचार करते हैं। और कोई-कोई इस क़ुरानोक्त पर विश्वास न करके धर्मात्मा भी होते हैं ॥३८॥

३९—प्रश्न करते हैं तुझसे रजस्वला को कह वो अपवित्र हैं, पृथक् रहो ऋतुसमय में, उनके समीप मत जाओ जब तक कि वे पवित्र न हों। जब नहा लेवें उनके पास उस स्थान से जाओ, ख़ुदा ने आज्ञा दी ॥

तुम्हारी बीबियां तुम्हारे लिये खेतियां हैं। बस जाओ जिस तरह चाहो अपने खेत में ॥ तुमको अल्ला लग़ब (=बेकार, व्यर्थ) शपथ में नहीं पकड़ता ॥

मं० १। सि० २। सू० २। आ० २२२, २२३, २२५ ॥

समीक्षक—जो यह रजस्वला का स्पर्श-सङ्ग न करना लिखा

है, वह अच्छी बात है। परन्तु जो यह स्त्रियों को खेती के तुल्य लिखा, और जैसा जिस तरह से चाहो जाओ, यह मनुष्यों को विषयी करने का कारण है।

जो ख़ुदा बेकारी शपथ पर नहीं पकड़ता, तो सब झूंठ बोलेंगे, शपथ तोड़ेंगे। इससे ख़ुदा झूंठ का प्रवर्त्तक होगा ॥३९॥

४०—वो कौन मनुष्य है जो अल्लाह को उधार देवे, अच्छा बस अल्लाह द्विगुण करे उसको उसके वास्ते ॥

मं० १। सि० २। सू० २। आ० २४५॥

समीक्षक—भला ख़ुदा को कर्ज़ उधार[1] लेने से क्या प्रयोजन? जिसने सारे संसार को बनाया वह मनुष्य से कर्ज़ लेता है? कदापि नहीं। ऐसा तो विना समझे कहा जा सकता है। क्या उसका ख़जाना खाली हो गया था?

क्या वह हुण्डी पुड़ियां व्यापारादि में मग्न होने से टोटे में फस गया था, जो उधार लेने लगा? और एक का दो-दो देना स्वीकार करता है, क्या यह साहूकारों का काम है? किन्तु ऐसा काम तो दिवालियों वा खर्च अधिक करनेवाले और आय न्यून होनेवालों को करना पड़ता है, ईश्वर को नहीं ॥४०॥

४१—उनमें से कोई ईमान न[2] लाया और कोई काफ़िर हुआ, जो अल्लाह चाहता न लड़ते, जो चाहता है अल्लाह करता है ॥

मं० १। सि० ३। सू० २। आ० २५३॥

समीक्षक—[3]क्या जितनी लड़ाई होती है. वह ईश्वर ही की

---

१. इसी आयत के भाष्य में 'तफसीरहुसेनी' में लिखा है कि—'एक मनुष्य मुहम्मद साहब के पास आया। उसने कहा कि ए रसूलल्लाह ख़ुदा कर्ज़ क्यों मांगता है? उन्होंने उत्तर दिया कि तुमको बहिश्त में ले जाने के लिये। उसने कहा जो आप ज़मानत लें तो मैं दूं। मुहम्मद साहब ने उसकी ज़मानत ले ली॥' ख़ुदा का भरोसा न हुआ, उसके दूत का हुआ। टिप्पणी संस्करण २

२. सम्भव है मुद्रणपत्र-संशोधक के प्रमाद से यहां 'न' पद व्यर्थ में जुड़ गया है। द्र०—ग्रन्थ के अन्त में परिशिष्ट नं० २।

३. यहां पहले भाग की समीक्षा त्रुटित प्रतीत होती है।

इच्छा से ? क्या वह अधर्म करना चाहे, तो कर सकता है ? जो ऐसी बात है, तो वह ख़ुदा हो नहीं क्योंकि भले मनुष्यों का यह कर्म नहीं कि शान्ति भङ्ग करके लड़ाई करावें। इससे विदित होता है कि यह क़ुरान न ईश्वर का बनाया, और न किसी धार्मिक विद्वान् का रचित है ॥४१॥

४२—जो कुछ आसमान और पृथिवी पर है, सब उसी के लिये है। चाहे[1] उसकी कुरसी ने आसमान और पृथिवी को समा लिया है॥ मं० १। सि० ३। सू० २। आ० २५५॥

समीक्षक—जो आकाश भूमि में पदार्थ हैं, वे सब जीवों के लिये परमात्मा ने उत्पन्न किये हैं, अपने लिये नहीं। क्योंकि वह पूर्ण-काम है, उसको किसी पदार्थ की अपेक्षा नहीं। जब उसकी कुर्सी है, तो वह एकदेशी है। जो एकदेशी होता है, वह ईश्वर नहीं कहाता। क्योंकि ईश्वर तो व्यापक है ॥४२॥

४३—अल्लाह सूर्य को पूर्व से लाता है, बस तू पश्चिम से ले आ। बस जो काफ़िर हैरान हुआ था। निश्चय अल्लाह पापियों को मार्ग नहीं दिखलाता॥ मं० १। सि०। ३। सू० २। आ० २५८।

समीक्षक—देखिये यह अविद्या की बात। सूर्य न पूर्व से पश्चिम और न पश्चिम से पूर्व कभी आता-जाता है। वह तो अपनी परिधि में घूमता रहता है। इससे निश्चित जाना जाता है कि क़ुरान के कर्त्ता को न खगोल और न भूगोल विद्या आती थी।

जो पापियों को मार्ग नहीं बतलाता, तो पुण्यात्माओं के लिये भी मुसलमानों के ख़ुदा की आवश्यकता नहीं। क्योंकि धर्मात्मा तो धर्ममार्ग में ही होते हैं। मार्ग तो धर्म से भूले हुये मनुष्यों को बतलाना होता है। सो कर्त्तव्य[2] के न करने से क़ुरान के कर्त्ता की बड़ी भूल है ॥४३॥

४४—कहा चार जानवरों [में] से ले, उनकी सूरत पहिचान रख,

---

१. यहां 'चाहे पद' असम्बद्ध है। इसके सम्बन्ध में परिशिष्ट २ देखें।
२. अर्थात् करने योग्य कार्य के।

फिर हर पहाड़ पर उनमें से एक-एक टुकड़ा रख दे। फिर उनको बुला, दौड़ते तेरे पास चले आवेंगे ॥

मं० १। सि० ३। सू० २। आ० २६० ॥

समीक्षक—वाह-वाह ! देखोजी, मुसलमानों का ख़ुदा भानमती के समान खेल कर रहा है। क्या ऐसी ही बातों से ख़ुदा की ख़ुदाई है ? बुद्धिमान् लोग ऐसे ख़ुदा को तिलांजलि देकर दूर रहेंगे, और मूर्ख लोग फसेंगे। इससे ख़ुदा की बड़ाई के बदले बुराई उसके पल्ले पड़ेगी ॥४४॥

४५—जिसको चाहै नीति देता है ॥

मं० १। सि० ३। सू० २। आ० २६९ ॥

समीक्षक—जब जिसको चाहता है [उसको] नीति देता है, तो जिसको नहीं चाहता उसको अनीति देता होगा। यह बात ईश्वरता की नहीं। किन्तु जो पक्षपात छोड़ सब को नीति का उपदेश करता है, वही ईश्वर और आप्त हो सकता है, अन्य नहीं ॥४५॥

४६—[1]जो व्याज खाते हैं, वे कबरों से नहीं खड़े होंगे ॥

मं० १। सि० ३। सू० २। आ० २७५ ॥

समीक्षक—क्या वे कबरों में ही पड़े रहेंगे ? और जो पड़े रहेंगे तो कब तक ? ऐसी असम्भव बात ईश्वर के पुस्तक की तो नहीं हो सकती, किन्तु बालबुद्धियों की तो हो सकती है ॥४६॥

४७—वह कि जिसको चाहेगा, क्षमा करेगा, जिसको चाहे दण्ड देगा, क्योंकि वह सब वस्तु पर बलवान् है ॥

मं० १। सि० ३। सू० २। आ० २८४ ॥

समीक्षक—क्या क्षमा के योग्य पर क्षमा न करना, अयोग्य पर

---

१. यह समीक्ष्यांश और इसकी समीक्षा सं० २ से ३३ तक नहीं छपी। कैसे छपने से रह गई ज्ञात नहीं। सं० ३४ में प्रथम बार छपी है। इस आयत में व्याज खाना बुरा कहा गया है, पर समीक्ष्यांश ४० में ख़ुदा का उधार मांगना और दूना देना क्या व्याज खाना नहीं है ? सम्भवतः इसी कारण (=ख़ुदा का अनुकरण कर) अफगान उधार दिये धन का कई गुणा वसूल करते हैं।

क्षमा करना गवरगंड[1] राजा के तुल्य यह कर्म नहीं है ? यदि ईश्वर जिसको चाहता पापी वा पुण्यात्मा बनाता है, [तो] जीव को पाप-पुण्य न लगना चाहिये ।

जब ईश्वर ने उसको वैसा ही किया, तो जीव को दुःख-सुख भी होना न चाहिये । जैसे सेनापति की आज्ञा से किसी भृत्य ने किसी को मारा वा रक्षा की, उसका फलभागी वह नहीं होता, वैसे वे भी नहीं ।।४७।।

४८—कह इससे अच्छी और क्या परहेज़गारों को खबर दूं कि अल्लाह की ओर से बहिश्तें हैं, जिनमें नहरें चलती हैं, उन्हीं में सदैव रहनेवाली शुद्ध बीवियां हैं अल्लाह की प्रसन्नता से, अल्लाह उनको देखनेवाला है साथ बन्दों के ।। मं० १ । सि० ३ । सू० ३ । आ० १४ ।।

समीक्षक—भला यह स्वर्ग है किंवा वेश्यावन ? इसको ईश्वर कहना वा स्त्रैण ? कोई भी बुद्धिमान्, ऐसी बातें जिसमें हों, उसको परमेश्वर का किया पुस्तक मान सकता है ?

यह पक्षपात क्यों करता है ? जो बीबियां बहिश्त में सदा रहती हैं, वे यहां जन्म पाके वहां गई हैं, वा वहीं उत्पन्न हुई हैं ? यदि यहां जन्म पाकर वहां गई हैं, और जो क़यामत की रात से पहिले ही वहां बीबियों को बुला लिया, तो उनके खाविन्दों को क्यों न बुला लिया ? और क़यामत की रात में सब का न्याय होगा, इस नियम को क्यों तोड़ा ?

यदि वहीं जन्मी हैं, तो क़यामत तक वे क्योंकर निर्वाह करती हैं ? जो उनके लिये पुरुष भी हैं, तो यहां से बहिश्त में जानेवाले मुसलमानों को ख़ुदा बीबियां कहां से देगा ?

और जैसे बीबियां बहिश्त में सदा रहनेवाली बनाईं, वैसे पुरुषों को वहां सदा रहनेवाले क्यों नहीं बनाया ? इसलिये मुसलमानों का ख़ुदा अन्यायकारी बेसमझ है ।।४८।।

---

१. गवरगण्ड राजा की कथा ग्रन्थकार ने स्वीय 'व्यवहारभानु' ग्रन्थ में दी है, वहां देखें ।

४९—निश्चय अल्लाह की ओर से दीन इस्लाम है ॥

मं० १ । सि० ३ । सू० ३ । आ० १८ ॥

समीक्षक—क्या अल्लाह मुसलमानों ही का है, औरों का नहीं? क्या तेरह सौ वर्षों के पूर्व ईश्वरीय मत था ही नहीं? इसी से यह क़ुरान ईश्वर का बनाया तो नहीं, किन्तु किसी पक्षपाती का बनाया है ॥४९॥

५०—प्रत्येक जीव को पूरा दिया जावेगा जो कुछ उसने कमाया, और वे न अन्याय किये जावेंगे ॥ कह या अल्लाह! तू ही मुल्क का मालिक है, जिसको चाहे देता है. जिससे[1] चाहे छीनता है। जिसको चाहे प्रतिष्ठा देता है, जिसको चाहे अप्रतिष्ठा देता है। सब-कुछ तेरे ही हाथ में है, प्रत्येक वस्तु पर तू ही बलवान् है ॥

रात को दिन में और दिन को रात में पैठाता है, और मृतक को जीवित से जीवित को मृतक से निकालता है, और जिसको चाहे अनन्त अन्न देता है ॥

मुसलमानों को उचित है कि काफ़िरों को मित्र न बनावें, सिवाय मुसलमानों के, जो कोई यह करे बस वह अल्लाह की ओर से नहीं ॥

कह जो तुम चाहते हो अल्लाह का तो पक्ष करो मेरा। अल्लाह चाहेगा तुमको और तुम्हारे पाप क्षमा करेगा। निश्चय करुणामय है ॥ मं० १ । सि० ३ । सू० ३ । आ० २४–२७, ३० ॥

समीक्षक—जब प्रत्येक जीव को कर्मों का पूरा-पूरा फल दिया जायगा, तो क्षमा नहीं किया जायगा। और जो क्षमा किया जायगा, तो पूरा फल नहीं दिया जायगा, और अन्याय होगा। जब विना उत्तम कर्मों के राज्य देगा, तो भी अन्यायकारी हो जायगा।

भला जीवित से मृतक और मृतक से जीवित कभी हो सकता है? क्योंकि ईश्वर की व्यवस्था अछेद्य अभेद्य है। कभी अदल-बदल नहीं हो सकती।

---

१. स० २ में 'जिसको' अपपाठ है।

अब देखिये पक्षपात की बातें, कि जो मुसलमान के मज़हब में नहीं हैं, उनको काफ़िर ठहराना। उनमें श्रेष्ठों से भी मित्रता न रखने, और मुसलमानों में दुष्टों से भी मित्रता रखने के लिये उपदेश करना, ईश्वर को ईश्वरता से बहिः कर देता है।

इससे यह क़ुरान, क़ुरान का ख़ुदा और मुसलमान लोग केवल पक्षपात अविद्या के भरे हुए हैं। इसीलिये मुसलमान लोग अंधेरे में हैं।

और देखिये मुहम्मद साहब की लीला, कि जो तुम मेरा पक्ष करोगे तो ख़ुदा तुम्हारा पक्ष करेगा। और जो तुम पक्षपातरूप पाप करोगे, उसको क्षमा भी करेगा।

इससे सिद्ध होता है कि मुहम्मद साहब का अन्तःकरण शुद्ध नहीं था। इसीलिये अपने मतलब सिद्ध करने के लिये मुहम्मद साहब ने क़ुरान बनाया वा बनवाया, ऐसा विदित होता है ॥५०॥

५१—जिस समय कहा फ़रिश्तों ने कि ऐ मर्यम तुझको अल्लाह ने पसन्द किया और पवित्र किया ऊपर जगत् की स्त्रियों के[1] ॥ मं० १। सि० ३। सू० ३। आ० ४१॥

समीक्षक—भला जब आजकल ख़ुदा के फ़रिश्ते और ख़ुदा किसी से बातें करने को नहीं आते, तो प्रथम कैसे आये होंगे? जो कहो कि पहिले के मनुष्य पुण्यात्मा थे अब के नहीं, तो यह बात मिथ्या है।

किन्तु जिस समय ईसाई और मुसलमानों का मत चला था, उस समय उन देशों में जङ्गली और विद्याहीन मनुष्य अधिक थे। इसीलिये ऐसे विद्याविरुद्ध मत चल गये। अब विद्वान् अधिक हैं, इसीलिये नहीं चल सकता। किन्तु जो-जो ऐसे पोकल मज़हब हैं, वे भी अस्त होते जाते हैं, वृद्धि की तो कथा ही क्या है? ॥५१॥

५२—उसको कहता है कि हो, बस हो जाता है॥ काफ़िरों ने धोखा दिया ईश्वर ने धोखा दिया, ईश्वर बहुत मकर करने-

---

१. द्र०—पृष्ठ ७६७, समीक्ष्यांश सं० ६३।

वाला है ॥ मं० १ । सि० ३ । सू० ३ । आ० ४६, ५३ ॥

समीक्षक—जब मुसलमान लोग ख़ुदा के सिवाय दूसरी चीज़ नहीं मानते, तो ख़ुदा ने किससे कहा ? और उसके कहने से कौन हो गया ? इसका उत्तर मुसलमान सात जन्म में भी नहीं दे सकेंगे। क्योंकि विना उपादान कारण के कार्य्य कभी नहीं हो सकता।

विना कारण के कार्य्य कहना, जानो अपने मां-बाप के विना मेरा शरीर हो गया, ऐसी बात है। जो धोखा खाता [और धोखा करता] अर्थात् छल और दम्भ करता है, वह ईश्वर तो कभी नहीं हो सकता, किन्तु उत्तम मनुष्य भी ऐसा काम नहीं करता ॥५२॥

५३—क्या तुमको यह बहुत न होगा कि अल्लाह तुमको तीन हज़ार फ़रिश्तों के साथ सहाय देवे ॥

मं० १ । सि० ४ । सू० ३ । आ० १२३ ॥

समीक्षक—जो मुसलमानों को तीन हज़ार फ़रिश्तों के साथ सहाय देता था, तो अब मुसलमानों की बादशाही बहुत-सी नष्ट हो गई, और होती जाती है, क्यों सहाय नहीं देता ? इसलिये यह बात केवल लोभ देके मूर्खों[1] को फसाने के लिये महा अन्याय की है ॥५३॥

५४—और काफ़िरों पर हमको सहाय कर ॥ अल्लाह तुम्हारा उत्तम सहायक और कारसाज़ है ॥ जो तुम अल्लाह के मार्ग में मारे जाओ वा मर जाओ, [तो] अल्लाह की दया बहुत अच्छी है ॥

मं० १ । सि० ४ । सू० ३ । आ० १४६, १४९, १५६ ॥

समीक्षक—अब देखिये मुसलमानों की भूल, कि जो अपने मत से भिन्न हैं उनके मारने के लिये ख़ुदा की प्रार्थना करते हैं। क्या परमेश्वर भोला है, जो इनकी बात मान लेवे ?

यदि मुसलमानों का कारसाज़ अल्लाह ही है, तो फिर मुसलमानों के कार्य नष्ट क्यों होते हैं ? और ख़ुदा भी मुसलमानों के साथ

---

१. सं० २ में 'भूखों को' पाठ है।

मोह से फसा हुआ दीख पड़ता है। जो ऐसा पक्षपाती ख़ुदा है, तो धर्मात्मा पुरुषों का उपासनीय कभी नहीं हो सकता ।।५४।।

५५—और अल्लाह तुमको परोक्षज्ञ नहीं करता, परन्तु अपने पैग़म्बरों से जिसको चाहे पसन्द करे, बस अल्लाह और उसके रसूल के साथ ईमान लाओ ।। मं० १। सि० ४। सू० ३। आ० १७९ ।।

समीक्षक—जब मुसलमान लोग सिवाय ख़ुदा के किसी के साथ ईमान नहीं लाते, और न किसी को ख़ुदा का साझी मानते हैं, तो पैग़म्बर साहब को क्यों ईमान में ख़ुदा के साथ शरीक किया? अल्लाह ने पैग़म्बर के साथ ईमान लाना लिखा। इसीसे पैग़म्बर भी शरीक हो गया। पुन: लाशरीक कहना ठीक न हुआ।

यदि इसका अर्थ यह समझा जाय कि मुहम्मद साहब के पैग़म्बर होने पर विश्वास लाना चाहिये, तो यह प्रश्न होता है कि मुहम्मद साहब के होने की क्या आवश्यकता है? यदि ख़ुदा उनको पैग़म्बर किये विना अपना अभीष्ट कार्य नहीं कर सकता, तो अवश्य असमर्थ हुआ ।।५५।।

५६—ऐ ईमानवालो! सन्तोष करो, परस्पर थामे रखो और लड़ाई में लगे रहो, अल्लाह से डरो कि तुम छुटकारा पाओ ।।
मं० १। सि० ४। सू० ३। आ० २०० ।।

समीक्षक—यह क़ुरान का ख़ुदा और पैग़म्बर दोनों लड़ाईबाज़ थे। जो लड़ाई की आज्ञा देता है, वह शान्ति भङ्ग करनेवाला होता है। क्या नाममात्र ख़ुदा से डरने से छुटकारा पाया जाता है, वा अधर्मयुक्त लड़ाई आदि से डरने से? जो प्रथम पक्ष है तो डरना-न-डरना बराबर, और जो द्वितीय पक्ष है तो ठीक है ।।५६।।

५७—ये अल्लाह की हद्दें हैं, जो अल्लाह और उसके रसूल का कहा मानेगा वह बहिश्त में पहुँचेगा, जिनमें नहरें चलती हैं, और यही बड़ा प्रयोजन है ।।

जो अल्लाह की और उसके रसूल की आज्ञा भंग करेगा, और

उसकी हद्दों से बाहर हो जायगा, वो सदैव रहनेवाली आग में जलाया जायगा, और उसके लिये ख़राब करनेवाला दुःख है ॥

मं० १। सि० ४। सू० ४। आ० १३, १४॥

समीक्षक—ख़ुदा ही ने मुहम्मद साहब पैग़म्बर को अपना शरीक कर लिया है, और ख़ुद क़ुरान ही में लिखा है। और देखो, ख़ुदा पैग़म्बर साहब के साथ कैसा फसा है, कि जिसने बहिश्त में रसूल का साझा कर दिया है? किसी एक बात में भी मुसलमानों का ख़ुदा स्वतन्त्र नहीं, तो लाशरीक कहना व्यर्थ है। ऐसी-ऐसी बातें ईश्वरोक्त पुस्तक में नहीं हो सकतीं ॥५७॥

५८-और एक त्रसरेणु को बराबर भी अल्लाह अन्याय नहीं करता, और जो भलाई होवे उसका दुगुण करेगा उसको ॥

मं० १। सि० ५। सू० ४। आ० ४०॥

समीक्षक—जो एक त्रसरेणु भी ख़ुदा अन्याय नहीं करता, तो पुण्य का द्विगुण [फल] क्यों देता, और मुसलमानों का पक्षपात क्यों करता है? वास्तव में द्विगुण वा न्यून फल कर्मों का देवे, तो ख़ुदा अन्यायी हो जावे ॥५८॥

५९—जब तेरे पास से बाहर निकलते हैं, तो तेरे कहने के सिवाय (विपरीत) शोचते[1] हैं, अल्लाह उनकी सलाह को लिखता है॥

अल्लाह ने उनकी कमाई वस्तु के कारण से उनको उलटा किया। क्या तुम चाहते हो कि अल्लाह के गुमराह किये हुए को मार्ग पर लाओ? बस जिसको अल्लाह गुमराह करे, उसको कदापि मार्ग न पावेगा॥ मं० १। सि० ५। सू० ४। आ० ८१, ८८॥

समीक्षक—जो अल्लाह बातों को लिख बहीखाता बनाता जाता है, तो सर्वज्ञ नहीं। जो सर्वज्ञ है, तो लिखने का क्या काम?

और जो मुसलमान कहते हैं कि शैतान ही सब को बहकाने से दुष्ट हुआ है, तो जब ख़ुदा ही जीवों को गुमराह करता है, तो ख़ुदा और शैतान में क्या भेद रहा?

---

१. अर्थात सोचते हैं।

हां, इतना भेद कह सकते हैं कि खुदा बड़ा शैतान, वह छोटा शैतान। क्योंकि मुसलमानों ही का क़ौल है कि जो बहकाता है वही शैतान है। तो इस प्रतिज्ञा से खुदा को भी शैतान बना दिया ॥५६॥

६०—और अपने हाथों को न रोकें, तो उनको पकड़ लो, और जहां पाओ मार डालो।

मुसलमान को मुसलमान का मारना योग्य नहीं। जो कोई अनजाने[1] से मार डाले, बस एक गर्दन मुसलमान का छोड़ना है।[2] और [जो] खून बहा उन लोगों की ओर से हुई जो [सन्धि] उस कौम से होवे [और] तुम्हारे लिये दान कर देंगे, जो दुश्मन की क़ौम से हैं॥

और जो कोई मुसलमान को जानकर मार डाले, वह सदैव काल दोज़ख में रहेगा। उस पर अल्लाह का क्रोध और लानत हैं॥

मं० १। सि० ५। सू० ४। आ० ६१-६३॥

समीक्षक—अब देखिये महापक्षपात की बात, कि जो मुसलमान न हो उसको जहां पाओ मार डालो, और मुसलमानों को न मारना। भूल से मुसलमानों को मारने में प्रायश्चित्त, और अन्य को मारने से बहिश्त मिलेगा। ऐसे उपदेश को कुए में डालना चाहिये।

ऐसे-ऐसे पुस्तक, ऐसे-ऐसे पैग़म्बर, ऐसे-ऐसे खुदा और ऐसे-ऐसे मत से सिवाय हानि के लाभ कुछ भी नहीं, ऐसों का न होना अच्छा। और ऐसे प्रामादिक मतों से बुद्धिमानों को अलग रहकर वेदोक्त सब बातों को मानना चाहिये। क्योंकि उसमें असत्य किञ्चिन्मात्र भी नहीं है।

और जो मुसलमान को मारे उसको दोज़ख मिले, और दूसरे मत वाले कहते हैं कि मुसलमान को मारे तो स्वर्ग मिले। अब कहो इन दोनों मतों में से किसको मानें, किसको छोड़ें?

किन्तु ऐसे मूढ़ प्रकल्पित मतों को छोड़कर वेदोक्त मत स्वीकार

---

१. सं० २ में 'अनजानों' अपपाठ है।

२. अर्थात् एक मुसलमान (=ईमानवाले गुलाम या लौण्डी) को गुलामी से आजाद कर देना चाहिये।

करने योग्य सब मनुष्यों के लिये है, कि जिसमें आर्यमार्ग अर्थात् श्रेष्ठ पुरुषों के मार्ग में चलना, और दस्यु अर्थात् दुष्टों के मार्ग से अलग रहना लिखा है[1], सर्वोत्तम है ॥६०॥

६१—और शिक्षा प्रकट होने के पीछे जिसने रसूल से विरोध किया, और मुसलमानों से विरुद्ध पक्ष किया, अवश्य हम उसको दोज़ख में भेजेंगे ॥ मं० १ । सि० ५ । सू० ४ । आ० ११५॥

समीक्षक—अब देखिये ख़ुदा और रसूल की पक्षपात की बातें। मुहम्मद साहब आदि समझते थे कि जो ख़ुदा के नाम से ऐसी [बात] हम न लिखेंगे, तो अपना मज़हब न बढ़ेगा, और पदार्थ न मिलेंगे, आनन्दभोग न होगा।

इसी से विदित होता है कि वे अपने मतलब [सिद्ध] करने में पूरे थे, और अन्य के प्रयोजन बिगाड़ने में। इससे ये अनाप्त थे. इनकी बात का प्रमाण आप्त विद्वानों के सामने कभी नहीं हो सकता ॥६१॥

६२—जो अल्लाह फ़रिश्तों किताबों रसूल और क़यामत के साथ कुफ्र करे, निश्चय वह गुमराह है ॥ निश्चय जो लोग ईमान लाये, फिर काफ़िर हुए, फिर-फिर ईमान लाये पुनः फिर गये, और कुफ्र में अधिक बढ़े, अल्लाह उनको कभी क्षमा न करेगा, और न मार्ग दिखलावेगा ॥ मं० १ । सि० ५ । सू० ४ । आ० १३६, १३७ ॥

समीक्षक—क्या अब भी ख़ुदा लाशरीक रह सकता है? क्या लाशरीक कहते जाना, और उसके साथ बहुत से शरीक भी मानते जाना, यह परस्परविरुद्ध बात नहीं है?

क्या तीन बार क्षमा के पश्चात् ख़ुदा क्षमा नहीं करता? और

---

१. ऋ० १।५१।८ में कहा है—हे जगत के रक्षक राजन्। तू आर्यों=श्रेष्ठमार्ग पर चलनेवालों और दस्युओं=दुष्ट मार्ग पर चलनेवालों को जान=उनका भेद समझ। तथा श्रेष्ठकर्म करनेवालों की रक्षा के लिये असत्य चोरी छल-कपट करनेवाले दुष्टों को नष्ट कर—**विजानीह्यार्यान् ये च दस्यवो बर्हिष्मते रन्धय शासदव्रतान्**। यहां दुष्ट मार्ग पर चलनेवालों को दण्डित करना लिखा है। क़ुरान के सदृश स्वमत से विपरीत व्यक्ति को दण्ड देना नहीं लिखा।

तीन बार कुफ़ करने पर रास्ता दिखलाता है ? वा चौथी बार से आगे नहीं दिखलाता ? यदि चार-चार बार भी कुफ़ सब लोग करें, तो कुफ़ बहुत ही बढ़ जाये ।।६२।।

६३—निश्चय अल्लाह बुरे लोगों और काफ़िरों को जमा करेगा दोज़ख़ में ।। निश्चय बुरे लोग धोखा देते हैं अल्लाह को, और उनको वह धोखा देता है ।।

ऐ ईमानवालो ! मुसलमानों को छोड़ काफ़िरों को मित्र मत बनाओ ।। मं० १ । सि० ५ । सू० ४ । आ० १४०, १४२, १४४ ।।

समीक्षक—मुसलमानों के बहिश्त और अन्य लोगों के दोज़ख़ में जाने का क्या प्रमाण ? वाह जी वाह ! जो बुरे लोगों के धोखे में आता और अन्य को धोखा देता है, ऐसा ख़ुदा हमसे अलग रहे।

किन्तु जो धोखेबाज़ हैं उनसे जाकर मेल करे, और वे उससे मेल करें । क्योंकि—'**यादृशी शीतला देवी तादृशः खरवाहनः**'[1] जैसे को तैसा मिले तभी निर्वाह होता है। जिसका ख़ुदा धोखेबाज़ है, उसके उपासक लोग धोखेबाज़ क्यों न हों ?

क्या दुष्ट मुसलमान हो उससे मित्रता, और अन्य श्रेष्ठ[2] मुसलमान भिन्न से शत्रुता करना किसी को उचित हो सकतो है ? ।।६३।

६४—ऐ लोगो ! निश्चय तुम्हारे पास सत्य के साथ ख़ुदा क ओर से पैग़म्बर आया, बस तुम उन पर ईमान लाओ ।। अल्लाह माबूद अकेला है ।। मं० १ । सि० ६ । सू० ४ । आ० १७०, १७१ ।।

समीक्षक—क्या जब पैग़म्बरों पर ईमान लाना लिखा, तो ईमान में पैग़म्बर ख़ुदा का शरीक अर्थात् साझी हुआ वा नहीं ? जब अल्लाह एकदेशी है, व्यापक नहीं, तभी तो उसके पास से पैग़म्बर आते-जाते हैं। तो वह ईश्वर भी नहीं हो सकता।

---

१. यह एक लोकोक्ति है। इसका भाव यह है कि जैसी शीतला देवी है, वैसी उसकी सवारी खर=गदहा है।

२. इनका सम्बन्ध इस प्रकार समझें—'और मुसलमान से भिन्न अन्य श्रेष्ठ से शत्रुता करना'।

कहीं सर्वदेशी लिखते हैं, कहीं एकदेशी। इससे विदित होता है कि क़ुरान एक का बनाया नहीं, किन्तु बहुतों ने बनाया है ॥६४।

६५—तुम पर हराम किया गया मुर्दार, लोहू सूअर का मांस[1], जिस पर अल्लाह के बिना कुछ और पढ़ा जावे, गला घोटे, लाठी मारे ऊपर से गिर पड़े, सींग मारे, और दरंदे[2] का खाया हुआ ॥

मं० २। सि० ६। सू ५। आ० ३॥

समीक्षक—क्या इतने ही पदार्थ हराम हैं? अन्य बहुत-से पशु तथा तिर्य्यक् जीव कीड़ी आदि मुसलमानों को हलाल होंगे? इस वास्ते यह मनुष्यों की कल्पना है, ईश्वर की नहीं। इससे इसका प्रमाण भी नहीं ॥६५॥

६६—और अल्लाह को अच्छा उधार दो, अवश्य मैं तुम्हारी बुराई दूर करूंगा, और तुम्हें बहिश्तों में भेजूंगा।

मं० २। सि० ६। सू० ५। आ० १२॥

समीक्षक—वाहजी! मुसलमानों के ख़ुदा के घर में कुछ भी धन विशेष[3] नहीं रहा होगा। जो विशेष[3] होता, तो उधार क्यों मांगता? और उनको क्यों बहकाता कि तुम्हारी बुराई छुड़ाके तुमको स्वर्ग में भेजूंगा? यहां विदित होता है कि ख़ुदा के नाम से मुहम्मद साहेब ने अपना मतलब साधा है ॥६६॥

६७—जिसको चाहता है क्षमा करता है, जिसको चाहे दुःख देता है॥ जो कुछ किसी को भी न दिया, वह तुम्हें दिया॥

मं० २। सि० ६। सू० ५। आ० १८, २०॥

समीक्षक—जैसे शैतान जिसको चाहता पापी बनाता [है], वैसे ही मुसलमानों का ख़ुदा भी शैतान का काम करता है? जो ऐसा है तो फिर बहिश्त और दोज़ख़ में ख़ुदा जावे। क्योंकि वह पाप-पुण्य करनेवाला हुआ, जीव पराधीन हैं। जैसी सेना सेनापति के आधीन रक्षा करती और किसी को मारती है, उसकी भलाई-बुराई सेनापति

१. द्रष्टव्य—पृष्ठ ८३७, समीक्ष्यांश सं० ३४। २. अर्थात् दरिन्दे।
३. यहां 'शेष' इतना ही पाठ चाहिये।

को होती है, सेना पर नहीं ॥६७॥

६८—आज्ञा मानो अल्लाह की, और आज्ञा मानो रसूल की ॥

मं० २। सि० ७। सू० ५। आ० ९२॥

समीक्षक—देखिये यह बात खुदा के शरीक होने की है। फिर खुदा को 'लाशरीक' मानना व्यर्थ है ॥६८॥

६९—अल्लाह ने माफ़ किया जो हो चुका, और जो कोई फिर करेगा अल्लाह उससे बदला लेगा ॥

मं० २। सि० ७। सू० ५। आ० ९५॥

समीक्षक—किये हुए पापों का क्षमा करना जानो पापों को करने की आज्ञा देके बढ़ाना है। पाप क्षमा करने की बात जिस पुस्तक में हो, वह न ईश्वर और न किसी विद्वान् का बनाया है, किन्तु पापवर्द्धक है।

हां, आगामी पाप छुड़ाने के लिये किसी से प्रार्थना, और स्वयं छोड़ने के लिये पुरुषार्थ [तथा] पश्चात्ताप करना उचित है। परन्तु केवल पश्चात्ताप करता रहे छोड़े नहीं, तो भी कुछ नहीं हो सकता ॥६९॥

७०—और उस मनुष्य से अधिक पापी कौन है, जो अल्लाह पर झूंठ बांध लेता है, और कहता है कि मेरी ओर वही[1] की गई, परन्तु वही उसकी ओर नहीं की गई, और जो कहता है कि मैं भी उतारूंगा कि जैसे अल्लाह उतारता है ॥

मं० २। सि० ७। सू० ६। आ० ९४॥

समीक्षक—इस बात से सिद्ध होता है कि जब मुहम्मद साहब कहते थे कि मेरे पास खुदा की ओर से आयतें आती हैं, तब किसी दूसरे ने भी मुहम्मद साहब के तुल्य लीला रची होगी कि मेरे पास भी आयतें उतरती हैं, मुझको भी पैग़म्बर मानो। इसको हठाने और अपनी प्रतिष्ठा बढ़ाने के लिये मुहम्मद साहब ने यह उपाय किया होगा ॥७०॥

---

१. अर्थात् पुस्तक।

७१—अवश्य हमने तुमको उत्पन्न किया,फिर तुम्हारी सूरतें बनाईं, [फिर] फ़रिश्तों से कहा कि आदम को सिजदा करो, बस उन्होंने सिजदा किया, परन्तु शैतान सिजदा करनेवालों में से न हुआ ।।

कहा,जब मैंने तुझे आज्ञा दी, फिर किसने रोका कि तूने सिजदा न किया?[1] कहा, मैं उससे अच्छा हूं। तूने मुझको आग से और उसको मिट्टी से उत्पन्न किया ।।

कहा, बस उसमें[2] से उतर, यह तेरे योग्य नहीं है कि तू उसमें अभिमान करे ।। कहा, उस दिन तक ढील दे कि [लोग] कब्रों में से उठाये जावें ।। कहा, निश्चय तू ढील दिये गयों से है ।।

कहा, बस इसकी क़सम है कि तूने मुझको गुमराह किया, अवश्य मैं [भी] उनके लिये तेरे सीधे मार्ग पर बैठूंगा ।। और प्राय: तू उनको धन्यवाद करनेवाला न पावेगा ।। कहा उससे दुर्दशा के साथ निकल। अवश्य जो कोई उनमें से तेरा पक्ष करेगा, तुम सबसे दोज़ख को भरूंगा ।। मं० २ । सि० ८ । सू० ७ । आ० ११-१८ ।।

समीक्षक—अब ध्यान देकर सुनो ख़ुदा और शैतान के झगड़े को। एक फरिश्ता जैसाकि चपरासी हो,था । वह भी ख़ुदा से न दबा, और ख़ुदा उसके आत्मा को पवित्र भी न कर सका । फिर ऐसे बागी को, जो पापी बनाकर ग़दर करनेवाला था, उसको ख़ुदा ने छोड़ दिया । ख़ुदा की यह बड़ी भूल है ।

शैतान तो सबको बहकानेवाला, और ख़ुदा शैतान को बहकानेवाला होने से यह सिद्ध होता है कि शैतान का भी शैतान ख़ुदा है । क्योंकि शैतान प्रत्यक्ष कहता है कि तूने मुझे गुमराह किया । इससे ख़ुदा में पवित्रता भी नहीं पाई जाती । और सब बुराइयों का चलानेवाला मूल कारण खुदा हुआ ।

ऐसा खुदा मुसलमानों का ही हो सकता है, अन्य श्रेष्ठ विद्वानों का नहीं । और फ़रिश्तों से मनुष्यवत् वार्त्तालाप करने से देहधारी,

१. अर्थात् शैतान ने कहा । २. अर्थात् बहिश्त में से ।

अल्पज्ञ, न्यायरहित मुसलमानों का ख़ुदा है। इसी से विद्वान् लोग इस्लाम के मज़हब को प्रसन्न[1] नहीं करते ॥७१॥

७२—निश्चय तुम्हारा मालिक अल्लाह है, जिसने आसमानों और पृथिवी को छः दिन में उत्पन्न किया, फिर करार पकड़ा[2] अर्श पर ॥ दीनता से अपने मालिक को पुकारो ॥

मं० २। सि० ८। सू० ७। आ० ५४, ५५ ॥

समीक्षक—भला जो छः दिन में जगत् को बनावे, अर्श अर्थात् ऊपर के आकाश में सिंहासन पर आराम करे, वह ईश्वर सर्वशक्तिमान् और व्यापक कभी हो सकता है ? इसके न होने से वह ख़ुदा भी नहीं कहा सकता।

क्या तुम्हारा ख़ुदा बधिर है, जो पुकारने से सुनता है ? ये सब बातें अनीश्वरकृत हैं। इससे क़ुरान ईश्वरकृत नहीं हो सकता।

यदि छः दिनों में जगत् बनाया, सातवें दिन अर्श पर आराम किया, तो थक भी गया होगा। और अब तक सोता है वा जागा[3] है ? यदि जागता है, तो अब कुछ काम करता है वा निकम्मा सैल-सपट्टा और ऐश करता फिरता है ? ॥७२॥

७३—मत फिरो पृथिवी पर झगड़ा करते ॥

मं० २। सि० ८। सू० ७। आ० ७४ ॥

समीक्षक—यह बात तो अच्छी है, परन्तु इससे विपरीत दूसरे स्थानों में जिहाद करना और काफ़िरों को मारना भी लिखा है। अब कहो [यह][4] पूर्वापर विरुद्धनहीं है ?

इससे यह विदित होता है कि जब मुहम्मद साहब निर्बल हुए होंगे, तब उन्होंने यह उपाय रचा होगा। और जब सबल हुए होंगे,

---

१. लेखक अपने ग्रन्थों में सर्वत्र 'पसन्द' के लिये 'प्रसन्न' शब्द का प्रयोग करते हैं। सं० २ से ३० तक यही पाठ है। सं० ३१ या ३२ में 'पसन्द' बदला गया। यही बदला हुआ शब्द सं० ३५ तक मिलता है।

२. अर्थात् विश्राम किया सिंहासन पर पृष्ठ ७५५, समीक्ष्यांश ४५। द्र०—बाइबल उत्पत्ति पुस्तक पर्व १ में ६ दिन में सृष्टि बनाना लिखा है।

३. अर्थात् जागा हुआ है। ४. सं० ३४ में विना कोष्ठक के बढ़ाया।

तब झगड़ा मचाया होगा। इसीसे ये बातें परस्पर विरुद्ध होने से दोनों सत्य नहीं हैं ॥७३॥

७४—बस एक ही बार अपना असा[1] डाल दिया, और वह अजगर था प्रत्यक्ष ॥ मं० २ । सि० ९ । सू० ७ । आ० १०७ ॥

समीक्षक—अब इसके लिखने से विदित होता है कि ऐसी झूंठी बातों को खुदा और मुहम्मद साहब भी मानते थे। जो ऐसा है तो ये दोनों विद्वान् नहीं थे। क्योंकि जैसे आंख से देखने और कान से सुनने को अन्यथा कोई नहीं कर सकता। इसी से ये इन्द्रजाल की बातें हैं ॥७४॥

७५—बस हमने उन[2] पर मेह का तूफान भेजा, टीढ़ी चिचड़ी और मेंढक और लोहू ॥ बस उनसे हमने बदला लिया और उनको डुबो दिया दरियाव में ॥

और हमने बनी[3] इसराईल को दरियाव से पार उतार दिया ॥ निश्चय वह दीन झूंठा है कि जिसमें [ये] हैं, और उनका कार्य्य भी झूंठा है ॥ मं० २ । सि० ९ । सू० ७ । आ० १३३, १३६, १३८, १३९ ॥

समीक्षक—अब देखिये जैसा कोई पाखण्डी किसी को डरवावे[4] कि हम तुझ पर सर्पों को मारने के लिये भेजेंगे, ऐसी यह भी बात है। भला जो ऐसा पक्षपाती, कि एक जाति को डुबा दे, और दूसरे को पार उतारे, वह अधर्मी खुदा क्यों नहीं ?

जो दूसरे मतों को, कि जिसमें हजारों क्रोड़ों मनुष्य हों, झूंठा बतलावे और अपने को सच्चा, उससे परे झूंठा दूसरा मत कौन हो सकता है ? क्योंकि किसी मत में सब मनुष्य बुरे और भले नहीं हो सकते। यह इकतर्फी डिगरी करना महामूर्खों का मत है।

क्या तौरेत ज़बूर का दीन, जो कि उनका था, झूंठा हो गया ? वा उनका कोई अन्य मज़हब था कि जिसको झूंठा कहा ? और जो

---

१. अर्थात् लाठी। २. सं० २ में 'उस' अपपाठ है।
३. अर्थात् औलाद=सन्तान। ४. सं० ३४ में 'डरावे' पाठ बदला।

वह अन्य मज़हब था, तो कौन-सा था? कहो कि जिसका नाम क़ुरान में हो ॥७५॥

७६—बस [तू] मुझको[1] अलबत्ता देख सकेगा, जब प्रकाश किया उसके मालिक ने पहाड़ की ओर, उसको[2] परमाणु-परमाणु किया, गिर पड़ा मूसा बेहोश ॥ मं० २। सि० ६। सू० ७। आ० १४३ ॥

समीक्षक—जो देखने में आता है, वह व्यापक नहीं हो सकता। और ऐसे चमत्कार करता फिरता था, तो ख़ुदा इस समय ऐसा चमत्कार किसी को क्यों नहीं दिखलाता? सर्वथा विरुद्ध होने से यह बात मानने योग्य नहीं ॥७६॥

७७—और अपने मालिक को दीनता [और] डर से मन में याद कर धीमी आवाज़ से सुबह को और शाम को ॥

मं० २। सि० ६। सू० ७। आ० २०५ ॥

समीक्षक—कहीं-कहीं क़ुरान में लिखा है कि बड़ी[3] आवाज़ से अपने मालिक को पुकार, और कहीं-कहीं धीरे-धीरे ईश्वर का स्मरण कर। अब कहिये कौन-सी बात सच्ची, और कौन-सी झूंठी?

जो एक दूसरी बात से विरोध करती है, वह बात प्रमत्तगीत के समान होती है। यदि कोई बात भ्रम से विरुद्ध निकल जाय, उसको मान ले, तो कुछ चिन्ता नहीं। ७७॥

७८—प्रश्न करते हैं तुझको लूटों से[4]। कह, लूटें वास्ते अल्लाह के और रसूल के [है], और डरो अल्लाह से ॥

मं० २। सि० ६। सू० ८। आ० १ ॥

समीक्षक—जो लूट मचावें, डाकू के कर्म करें-करावें, और ख़ुदा तथा पैग़म्बर और ईमानदार भी बनें, यह बड़े आश्चर्य की बात है। और अल्लाह का डर बतलाते और डाका आदि बुरे काम भी करते जायें, और 'उत्तम मत हमारा है' कहते लज्जा भी नहीं। हठ छोड़के सत्य वेदमत का ग्रहण न करें, इससे अधिक कोई बुराई दूसरी होगी? ॥७८॥

---

१. सं० २ में 'तुझको' अपपाठ है। २. अर्थात् पहाड़ को।
३. अर्थात् ऊंची। ४. अर्थात् प्रश्न करते हैं लूटों के बारे में तुझ से।

७९—और काटे जड़ काफ़िरों की ।। मैं तुमको सहाय दूंगा, साथ सहस्र फ़रिश्तों के पीछे-पीछे आने वाले ।। अवश्य मैं काफ़िरों के दिलों में भय डालूंगा। बस मारो ऊपर गर्दनों के, मारो उनमें से प्रत्येक पोरी (=सन्धि) पर ।।

मं० २। सि० ९। सू० ८। आ० ७, ९, १२ ।।

समीक्षक—वाह जी वाह ! कैसा ख़ुदा और कैसे पैग़म्बर दया-हीन, जो मुसलमानी मत से भिन्न काफ़िरों की जड़ कटवावे। और ख़ुदा आज्ञा देवे—'उनकी[1] गर्दन [पर] मारो'। और हाथ-पग के जोड़ों को काटने का सहाय और सम्मति देवे। ऐसा ख़ुदा लङ्केश[2] से क्या कुछ कम है ?

यह सब प्रपञ्च क़ुरान के कर्त्ता[3] का है, ख़ुदा का नहीं। यदि ख़ुदा का हो, तो ऐसा ख़ुदा हमसे दूर और हम उससे दूर रहें ।।७९।।

८०—अल्लाह मुसलमानों के साथ है ।। ऐ लोगो ! जो ईमान लाये हो, पुकाराना स्वीकार करो वास्ते अल्लाह के, और वास्ते रसूल के ।।

ऐ लोगो ! जो ईमान लाये हो, मत चोरी करो अल्लाह की रसूल की और मत चोरी करो अमानत अपनी की ।। और मकर करता था अल्लाह, और अल्लाह भला[4] मकर करने वालों का है ।।

मं० २। सि० ९। सू० ८। आ० १९, २४, २७, ३० ।।

समीक्षक—क्या अल्लाह मुसलमानों का पक्षपाती है ? जो है तो अधर्म करता है। नहीं तो ईश्वर सब सृष्टि-भर का है। क्या ख़ुदा विना पुकारे नहीं सुन सकता, बधिर है ? और उसके साथ रसूल को शरीक करना बहुत बुरी बात नहीं है ?

अल्लाह का कौन-सा खज़ाना भरा है, जो चोरी करेगा ? क्या रसूल और अपनी[5] अमानत की चोरी छोड़कर अन्य सब की

१. सं० २ में 'उनको' पाठ है। २. अर्थात् रावण।
३. सं० २ में 'करता' अपपाठ है। ४. भला=उत्तम=अधिक।
५. सं० २ में 'अपने' पाठ है।

चोरी किया करें ? ऐसा उपदेश अविद्वान् और अधर्मियों का हो सकता है ?

भला, जो मकर करता, और जो मकर करनेवालों का सङ्गी है, वह ख़ुदा कपटी छली और अधर्मी क्यों नहीं ? इसलिये यह क़ुरान ख़ुदा का बनाया हुआ नहीं है। किसी कपटी-छली का बनाया होगा, नहीं तो ऐसी अन्यथा बातें लिखित क्यों होतीं[1] ? ॥८०॥

८१—और लड़ो उनसे, यहां तक कि न रहे फ़ितना अर्थात् बल काफ़िरों का, और होवे दीन तमाम वास्ते अल्लाह के ॥

और जानो तुम यह कि जो कुछ तुम लूटो किसी वस्तु को निश्चय वास्ते अल्लाह के है पांचवां हिस्सा उसका और वास्ते रसूल के ॥ मं० २। सि० ९। सू० ८। आ० ३९, ४१ ॥

समीक्षक—ऐसे अन्याय से लड़ने-लड़ानेवाला, मुसलमानों के ख़ुदा से भिन्न शान्तिभङ्गकर्त्ता[3] दूसरा कौन होगा ? अब देखिये यह मज़हब, कि अल्लाह और रसूल के वास्ते सब जगत् को लूटना-लुटवाना लुटेरों का काम नहीं है ?

और लूट के माल में ख़ुदा का हिस्सेदार बनना जानो डाकू बनना है। और ऐसे लुटेरों का पक्षपाती बनना, ख़ुदा अपनी ख़ुदाई में बट्टा लगाता है।

बड़े आश्चर्य की बात है कि ऐसा पुस्तक, ऐसा ख़ुदा और ऐसा पैग़म्बर संसार में ऐसी उपाधि और शान्तिभङ्ग करके मनुष्यों को दुःख देने के लिये कहां से आया ? जो ऐसे-ऐसे मत जगत् में प्रचलित न होते, तो सब जगत् आनन्द में बना रहता ॥८१॥

८२—और कभी देखे जब काफ़िरों को फ़रिश्ते कब्ज[4] करते हैं, मारते हैं मुख उनके और पीठें उनकी, और कहते चखो अज़ाब जलने का ॥

---

१. अर्थात् क्यों लिखी जाती ? २. सं० २ में 'से' अपपाठ है।
३. सं० २ 'करता' अपपाठ है।
४. अर्थात् कब्जे में लेते हैं=बन्धन में डालते हैं।

हमने उनके पाप से उनको मारा, और हमने फ़िराओन की कौम को डुबा दिया ॥ और तैयारी करो वास्ते उनके जो कुछ तुम कर सको ॥ मं० २ । सि० ६ । सू० ८ । आ० ५०, ५४, ६० ॥

समीक्षक—क्योंजी ! आजकल रूस ने रूम आदि और इंगलैंड ने मिश्र की दुर्दशा कर डाली, फ़रिश्ते कहां सो गये ? और अपने सेवकों के शत्रुओं को ख़ुदा पूर्व मारता डुबाता था, यह बात सच्ची हो तो आजकल भी ऐसा करे। जिससे ऐसा नहीं होता, इसलिये यह बात मानने योग्य नहीं।

अब देखिये यह कैसी बुरी आज्ञा है कि—'जो कुछ तुम कर सको वह भिन्न मतवालों के लिये दुःखदायक कर्म करो'। ऐसी आज्ञा विद्वान् और धार्मिक दयालु की नहीं हो सकती। फिर लिखते हैं कि 'ख़ुदा दयालु और न्यायकारी है'। ऐसी बातों से मुसलमानों के ख़ुदा से न्याय और दयादि सद्गुण दूर वसते हैं ॥८२॥

८३—ऐ नबी ! किफ़ायत है तुझको अल्लाह, और उनको जिन्होंने मुसलमानों से तेरा पक्ष किया ॥ ऐ नबी रग़बत अर्थात् चाह चस्कादे[1] मुसलमानों को ऊपर लड़ाई के, जो हों तुममें से २० आदमी सन्तोष[2] करनेवाले, तो पराजय करें दो सौ का ॥

बस खाओ उस वस्तु को[3] कि लूटा है तुमने हलाल पवित्र, और डरो अल्लाह से। वह क्षमा करनेवाला दयालु है ॥

मं० २ । सि० १० । सू० ८ । आ० ६४, ६५, ६९ ॥

समीक्षक—भला यह कौन-सी न्याय विद्वत्ता और धर्म की बात है कि जो अपना पक्ष करे, और चाहें अन्याय भी करे, उसी का पक्ष और लाभ पहुंचावे ?

और जो प्रजा में शान्ति भङ्ग करके लड़ाई करे-करावे, और

---

१. अर्थात् उभार दे मुसलमानों को लड़ाई के वास्ते।

२. यहां 'संतोष करनेवाले' के स्थान में 'जमे रहनेवाले लड़ाई में' पाठ होना चाहिये।

३. सं० २ में 'से' अपपाठ है।

लूट मारके पदार्थों को हलाल बतलावे, और फिर उसी का नाम क्षमावान् दयालु लिखे, यह बात खुदा की तो क्या किन्तु किसी भले आदमी की भी नहीं हो सकती। ऐसी-ऐसी बातों से क़ुरान ईश्वर-वाक्य कभी नहीं हो सकता ॥८३॥

८४—सदा रहेंगे बीच उसके, अल्लाह [के] समीप, है उसके पुण्य बड़ा ॥[1] ऐ लोगो ! जो ईमान लाये हो मत पकड़ो बापों अपने को और भाइयों अपने को मित्र जो दोस्त रखें कुफ़ को ऊपर ईमान के ॥

फिर उतारी अल्लाह ने तसल्ली अपनी ऊपर रसूल अपने के, और ऊपर मुसलमानों के। और उतारे लश्कर नहीं देखा तुमने उनको, और अज़ाब किया उन लोगों[2] को और यही सज़ा है काफ़िरों को ॥

फिर-फिर आवेगा अल्लाह पीछे उसके ऊपर [जिसको चाहे]॥ और लड़ाई करो उन लोगों से जो ईमान नहीं लाते। मं० २। सि० १०। सू० ९। आ० २२, २३, २६, २७, २९॥

समीक्षक—भला जो बहिश्तवालों के समीप अल्लाह रहता है, तो सर्वव्यापक क्योंकर हो सकता है ? जो सर्वव्यापक नहीं, तो सृष्टिकर्त्ता[3] और न्यायाधीश नहीं हो सकता।

और अपने मा बाप भाई और मित्र को छुड़वाना केवल अन्याय की बात है। हां, जो वे बुरा उपदेश करें [उसे] न मानना, परन्तु उनकी सेवा सदा करनी चाहिये।

जो पहिले खुदा मुसलमानों पर [बड़ा] सन्तोषी[4] था, और उनके

---

१ मोहम्मद फारूख खां ने इस आयत का हिन्दी अनुवाद इस प्रकार किया है—'ए ईमानलानेवाले लोगो ! अपने बापों अपने भाइयों को अपना मित्र न बनाओ, यदि वे ईमान की अपेक्षा कुफ्र को पसन्द करें'। इसके अनुसार सारा भाव ही बदल गया है। श्री पं० रामचन्द्र देहलवी का अनुवाद सत्यार्थ-प्रकाश के अनुसार है। २. अर्थात् जो काफिर हुए।

३. मं० २ में 'करता' अपपाठ है। ४. देखो—समीक्ष्यांश सं० ८३।

सहाय के लिए लश्कर उतारता था, सच हो तो अब ऐसा क्यों नहीं करता ?

और जो प्रथम काफ़िरों को दण्ड देता, और पुनः उसके ऊपर आता था, तो अब कहां गया ? क्या विना लड़ाई के ईमान ख़ुदा नहीं बना सकता ? ऐसे ख़ुदा को हमारी ओर से सदा तिलांजलि है। ख़ुदा क्या है एक खिलाड़ी है ॥८४॥

८५—और हम बाट[1] देखनेवाले हैं वास्ते तुम्हारे यह कि पहुंचावे तुमको अल्लाह अज़ाब अपने पास से वा हमारे हाथों से ॥
मं० २। सि० १०। सू० ६। आ० ५२॥

समीक्षक—क्या मुसलमान ही ईश्वर की पुलिस बन गये हैं ? कि अपने हाथ वा मुसलमानों के हाथ से अन्य किसी मतवालों को पकड़ा देता है ? क्या दूसरे क्रोड़ों मनुष्य ईश्वर को अप्रिय हैं ? मुसलमानों में पापी भी प्रिय हैं ?

यदि ऐसा है तो 'अन्धेर नगरी गवरगण्ड[2] राजा' की-सी व्यवस्था दीखती है। आश्चर्य है कि जो बुद्धिमान् मुसलमान हैं, वे भी इस निर्मूल अयुक्त मत को मानते हैं ॥८५॥

८६—प्रतिज्ञा की है अल्लाह ने ईमानवालों से और ईमानवालियों से बहिश्तें, चलती हैं नीचे उनके से नहरें, सदैव रहनेवाली बीच उसके, और घर पवित्र [बीच] बहिश्तों अदन के, और प्रसन्नता अल्लाह की, और [सब से] बड़ी है और यह कि वह है मुराद पाना बड़ा ॥ बस [जो] ठट्ठा करते हैं उनसे[3], ठट्ठा किया अल्लाह ने उनसे ॥ मं० २। सि० १०। सू० ६। आ० ७२, ७६॥

समीक्षक—यह ख़ुदा के नाम से स्त्री-पुरुषों को अपने मतलब के लिये लोभ देना है। क्योंकि जो ऐसा प्रलोभन न देते तो कोई मुहम्मद साहब के जाल में न फसता। ऐसे ही अन्य मत वाले भी किया करते हैं।

---

१. सं० २ में 'वार' अपपाठ है। २. द्र०—पृष्ठ ८४३, टि० १।
३. अर्थात् स्वेच्छा पूर्वक साधारण भेंट देनेवालों से।

मनुष्य लोग तो आपस में ठट्ठा किया ही करते हैं, परन्तु खुदा को किसी से ठट्ठा करना उचित नहीं है। यह क़ुरान क्या है, बड़ा खेल है॥८६॥

८७--परन्तु रसूल और जो लोग कि साथ उसके ईमान लाये, जिहाद किया उन्होंने साथ धन अपने के तथा जान अपनी के। और इन्हीं लोगों के लिये भलाई है॥

और मोहर रक्खी अल्लाह ने ऊपर दिलों उनके के, बस वे नहीं जानते॥ मं० २। सि० १०। सू० ९। आ० ८८, ९३॥

समीक्षक—अब देखिये मतलबसिन्धु की बात! कि वही भले हैं, जो मुहम्मद साहब के साथ ईमान लाये। और जो नहीं लाये, वे बुरे हैं। क्या यह बात पक्षपात और अविद्या से भरी हुई नहीं है?

जब ख़ुदा ने मोहर ही लगा दी, तो उनका अपराध पाप करने में कोई भी नहीं। किन्तु ख़ुदा ही का अपराध है। क्योंकि उन बिचारों को भलाई से दिलों पर मोहर लगाके रोक दिये। यह कितना बड़ा अन्याय है!!! ॥८७॥

८८—ले माल उनके से ख़ैरात, कि पवित्र करे तू उनको अर्थात् बाहरी, और शुद्ध करे तू उनको साथ उसके अर्थात् गुप्त में॥

निश्चय अल्लाह ने मोल ली हैं मुसलमानों से जानें उनकी और माल उनके बदले, कि वास्ते उनके बहिश्त है, लड़ेंगे बीच मार्ग अल्लाह के, बस मारेंगे और मर जावेंगे॥ मं० २। सि० ११। सू० ९। आ० १०३, १११॥

समीक्षक—वाह जी वाह मुहम्मद साहब! आपने तो गोकुलिये गुसांइयों की बराबरी कर ली। क्योंकि उनका माल लेना और उनको पवित्र करना यही बात तो गुसांइयों की है।

वाह ख़ुदाजी! आपने अच्छी सौदागरी लगाई कि मुसलमानों के हाथ से अन्य गरीबों के प्राण लेना ही लाभ[1] समझा। और उन

---

१. सं० २-३०, ३४, ३५ म यही पाठ है। सं० ३१ या ३२ में 'लाभ' के स्थान के 'काम' पाठ बदला है। लेना ही लाभ=लेने में ही लाभ।

अनाथों को मरवाकर उन निर्दयी मनुष्यों को स्वर्ग देने से दया और न्याय से मुसलमानों का ख़ुदा हाथ धो बैठा। और अपनी ख़ुदाई में बट्टा लगाके बुद्धिमान् धार्मिकों में घृणित हो गया ॥८८॥

८९—ऐ लोगो! जो ईमान लाये हो, लड़ो उन लोगों से कि पास तुम्हारे हैं काफ़िरों से और चाहिये कि पावें बीच तुम्हारे दृढ़ता ॥

क्या नहीं देखते यह कि वे बलाओं में डाले जाते हैं हरवर्ष के एक वार वा दो वार, फिर वे नहीं तोबा: करते और न वे शिक्षा पकड़ते हैं ॥ मं० २। सि० ११। सू० ९। आ० १२३, १२६ ॥

समीक्षक—देखिये ये भी एक विश्वासघात की बातें ख़ुदा मुसलमानों को सिखलाता है, कि चाहें पड़ोसी हों वा किसी के नौकर हों, जब अवसर पावें तभी लड़ाई वा घात करें।

ऐसी बातें मुसलमानों से बहुत बन गई हैं, इसी क़ुरान के लेख से। अब तो मुसलमान समझके इन क़ुरानोक्त बुराइयों को छोड़ दें, तो अच्छा है ॥८९॥

९०—निश्चय परवरदिगार तुम्हारा अल्लाह है, जिसने पैदा किया आसमानों और पृथिवी को बीच छः दिन के, फिर करार पकड़ा ऊपर अर्श के[1] तदवीर करता[2] है काम की ॥

मं० ३। सि० ११। सू० १०। आ० ३ ॥

समीक्षक—आसमान=आकाश एक और विना बना अनादि है। उसका बनाना लिखने से निश्चय हुआ कि वह क़ुरानकर्त्ता[3] पदार्थ विद्या को नहीं जानता था। क्या परमेश्वर के सामने[4] छ: दिन तक बनाना पड़ता है? तो जो 'हो मेरे हुक्म से और हो गया'[5] जब जब क़ुरान में ऐसा लिखा है, फिर छ. दिन कभी नहीं लग सकते। इससे छ: दिन लगना झूठ है।

---

१. द्र०—पूर्व पृष्ठ ८५५ समीक्ष्यांश सं० ७२।

२. सं० २ में 'कर्त्ता' अपपाठ है। ३. स० २ में 'करता' अपपाठ है।

४. यहां 'क्या परमेश्वर को' पाठ होना चाहिये।

५. द्र०—क़ुरान सूरत २, आयत ११७, पूर्व पृष्ठ ८३२, समीक्ष्यांश सं० २८।

जो वह व्यापक होता, तो ऊपर आकाश[1] के क्यों ठहरता ? और जब काम की तदबीर करता है, तो ठीक तुम्हारा खुदा मनुष्य के समान है । क्योंकि जो सर्वज्ञ है, वह बैठा-बैठा क्या तदबीर करेगा ? इससे विदित होता है कि ईश्वर को न जाननेवाले[2] जङ्गली लोगों ने यह पुस्तक बनाया होगा ॥९०।

९१—शिक्षा और दया वास्ते मुसलमानों के ॥

म० ३ । सि० ११ । सू० १० । आ० ५७ ॥

समीक्षक—क्या यह खुदा मुसलमानों ही का है, दूसरों का नहीं ? और पक्षपाती है, जो मुसलमानों ही पर दया करे, अन्य मनुष्यों पर नहीं । यदि मुसलमान ईमानदारों को कहते हैं, तो उनके लिये शिक्षा की आवश्यकता ही नहीं । और मुसलमानों से भिन्नों को उपदेश नहीं करता, तो खुदा की विद्या ही व्यर्थ है ॥९१॥

९२—परीक्षा लेवे तुमको[3], कौन तुममें से अच्छा है कर्मों में । जो कहे तू—अवश्य उठाये जाओगे तुम पीछे मृत्यु के ॥

सं० ३ । सि० १२[4] । सू० ११ । आ० ७ ॥

समीक्षक—जब कर्मों की परीक्षा करता है, तो सर्वज्ञ ही नहीं । और जो मृत्यु पीछे उठाता है, तो दौड़ा सुपुर्द रखता है ? और अपने नियम जो कि 'मरे हुए न जीवें,' उसको तोड़ता है । यह खुदा को बट्टा लगाना[5] है ॥९२॥

९३—और कहा गया, ऐ पृथिवी ! अपना पानी निगल जा, और ऐ आसमान ! बस कर, और पानी सूख गया ॥

और ऐ कौम ! यह है निशानी ऊंटनी अल्लाह की वास्ते

---

१. सं० ३४ में 'अर्श' पाठ बनाया । यह युक्त है । अर्श=सिंहासन । द्र०—पूर्व पृष्ठ ८५५ समीक्षा सं० ७२ । २. सं० २ में 'जानने वालों' पाठ है ।

३. सं० ३१ या ३२ में 'तुम से' बनाया । यहां 'तुम्हारी' पाठ होना चाहिये ।

४. सं० ३३ तक ११ संख्या छपी है । सं० ३४ में ठीक संख्या दी है ।

५. संस्करण २ से श० सं० तक 'लगना' पाठ है । सं० १८ में 'लगाना' शोधा । सं० ३४ में 'लगता' बनाया ।

तुम्हारे, बस छोड़ दो उसको बीच पृथिवी अल्लाह के खाती फिरे ॥
मं० ३ । सि १२[1] । सू० ११ । आ० ४४, ६४ ॥

समीक्षक—क्या लड़केपन की बात है? पृथिवी और आकाश कभी बात सुन सकते हैं? वाहजी वाह! ख़ुदा के ऊंटनी भी है, तो ऊंट भी होगा? तो हाथी घोड़े गधे आदि भी होंगे?

और ख़ुदा का ऊंटनी से खेत खिलाना क्या अच्छी बात है? क्या ऊंटनी पर चढ़ता भी है? जो ऐसी बातें हैं, तो नवाबी की-सी घसड़-पसड़ ख़ुदा के घर में भी हुई ॥९३॥

९४—और सदैव रहनेवाले बीच उसके जब तक कि रहें आसमान और पृथिवी ॥ और जो लोग सुभागी हुए बस [बीच] बहिश्त के सदा रहनेवाले हैं, जबतक रहें आसमान और पृथिवी ॥
मं० ३ । सि० १२ । सू० ११ । आ० १०८, १०९ ॥

समीक्षक—जब दोज़ख और बहिश्त में क़यामत के पश्चात् सब लोग जायेंगे, फिर आससान और पृथिवी किसलिये रहेगी? और जब दोज़ख और बहिश्त के रहने की आसमान पृथिवी के रहने तक अवधि हुई, तो 'सदा रहेंगे बहिश्त वा दोज़ख में' यह बात झूठी हुई। ऐसा कथन अविद्वानों का होता है। ईश्वर वा विद्वानों का नहीं ॥९४॥

९५—जब यूसुफ़ ने अपने बाप से कहा कि—ऐ बाप मेरे! मैंने एक स्वप्न में देखा ... ॥ मं० ३ । सि० १२ । सू० १२ । आ० ४ से ५७ तक ॥

समीक्षक—इस प्रकरण में पिता-पुत्र का संवादरूप किस्सा-कहानी भरी है। इसलिये क़ुरान ईश्वर का बनाया नहीं, किसी मनुष्य ने मनुष्यों का इतिहास लिख दिया है ॥९५॥

९६—अल्लाह वह है कि जिसने खड़ा किया आसमानों को विना खम्भे के, देखते हो तुम उसको फिर ठहरा ऊपर अर्श के, आज्ञा

---

१. देखो—पृष्ठ ८६५ की टि० ४ ।

वर्त्तनेवाला किया सूरज और चांद को ॥ और वही है जिसने बिछाया पृथिवी को ॥

उतारा आसमान से पानी, बस बहे नाले साथ अन्दाज अपने के ॥ अल्लाह खोलता है भोजन को वास्ते जिसको चाहे और तङ्ग करता है[1] ॥ मं० ३ । सि० १३ । सू० १३ । आ० २, ३, १७,२६ ॥

समीक्षक—मुसलमानों का ख़ुदा पदार्थ-विद्या कुछ भी नहीं जानता था। जो जानता तो गुरुत्व न होने से आसमान को खम्भे लगाने की कथा-कहानी कुछ भी न लिखता। यदि ख़ुदा अर्शरूप एक स्थान में रहता है, तो वह सर्वशक्तिमान् और सर्वव्यापक नहीं हो सकता।

और जो ख़ुदा मेघविद्या जनता तो 'आकाश से पानी उतारा' लिखा, पुनः यह क्यों न लिखा कि 'पृथिवी से पानी ऊपर चढ़ाया'? इससे निश्चय हुआ कि क़ुरान का बनानेवाला मेघ की विद्या को भी नहीं जानता था।

और जो विना अच्छे-बुरे कामों के सुख-दुःख देता है,तो पक्षपाती अन्यायकारी, निरक्षरभट्ट है ॥९६॥

९७—कह, निश्चय अल्लाह गुमराह करता है जिसको चाहता है, और मार्ग दिखलाता है तर्फ अपनी उस मनुष्य को रुजू करता है ॥ मं० ३ । सि० १३ । सू० १३ । आ० २७ ॥

समीक्षक—जब अल्लाह गुमराह करता है,तो ख़ुदा और शैतान में क्या भेद हुआ? जबकि शैतान दूसरों को गुमराह अर्थात् बहकाने से बुरा कहाता है, तो ख़ुदा भी वैसा ही काम करने से बुरा[2] शैतान क्यों नहीं? और बहकाने के पाप से दोज़खी क्यों नहीं होना चाहिये? ॥९७॥

९८—इसी प्रकार उतारा हमने इस क़ुरान को अर्बी [में], जो पक्ष करेगा तू उनकी इच्छा का पीछे इसके आई तेरे पास विद्या से ॥

---

१. 'चाहे जिसको' इतना अध्याहार करें।

२. यहां 'उस से बुरा' या 'बड़ा' पाठ उचित प्रतीत होता है।

बस सिवाय इसके नहीं कि ऊपर तेरे पैग़ाम पहुंचाना है, और ऊपर हमारे है हिसाब लेना ॥

मं० ३ । सि० १३ । सू० १३ । आ० ३७, ४० ॥

समीक्षक—क़ुरान किधर की ओर से उतारा ? क्या ख़ुदा ऊपर रहता है ? जो यह बात सच है, तो वह एकदेशी होने से ईश्वर ही नहीं हो सकता । क्योंकि ईश्वर सब ठिकाने एकरस व्यापक है ।

पैग़ाम पहुंचाना हल्कारे का काम है । और हल्कारे की आवश्यकता उसी को होती है, जो मनुष्यवत् एकदेशी हो । और हिसाब लेना-देना भी मनुष्य का काम है, ईश्वर की नहीं । क्योंकि वह सर्वज्ञ है । निश्चय होता है कि किसी अल्पज्ञ मनुष्य का बनाया क़ुरान है ॥९८॥

९९—और किया सूर्य-चन्द्र को सदैव फिरनेवाले ॥ निश्चय आदमी अवश्य अन्याय और पाप करनेवाला है ॥

मं० ३ । सि० १३ । सू० १४ । आ० ३३, ३४ ॥

समीक्षक—क्या चन्द्र-सूर्य सदा फिरते, और पृथिवी नहीं फिरती [है] ? जो पृथिवी नहीं फिरे, तो कई वर्षों का दिन-रात होवे ।

और जो मनुष्य निश्चय अन्याय और पाप करनेवाला है, तो क़ुरान से शिक्षा करना व्यर्थ है । क्योंकि जिनका स्वभाव पाप ही करने का है, तो उनमें पुण्यात्मा[1] कभी न होगा । और संसार में पुण्यात्मा और पापात्मा सदा दीखते हैं । इसलिये ऐसी बात ईश्वरकृत पुस्तक की नहीं हो सकती ॥९९॥

१००—बस ठीक करूं मैं उसको, और फूंक दूं बीच उसके रूह अपनी से, बस गिर पड़ो वास्ते उसके सिजदा करते हुए ॥

कहा, ऐ रब मेरे ! इस कारण कि गुमराह किया तूने मुझको अवश्य ज़ीनत दूंगा मैं वास्ते उनके बीच पृथिवी के, और गुमराह करूंगा ॥ मं० ३ । सि० १४ । सू० १५ । आ० २९, ३९[2] ॥

---

१. सं० ३४ में 'पुण्यात्मता कभी न होगी' पाठ बनाया गया है ।
२. सं० २ से २५ तक पता 'आ० २९, ३९ से ४६ तक' छपा है ।

समीक्षक—जो ख़ुदा ने अपनी रूह आदम साहब में डाली, तो वह भी ख़ुदा हुआ। और जो वह ख़ुदा न था, तो सिजदा अर्थात् नमस्कारादि भक्ति करने में अपना शरीक क्यों किया?

जब शैतान को गुमराह करनेवाला ख़ुदा ही है, तो वह शैतान का भी शैतान बड़ा भाई गुरु क्यों नहीं? क्योंकि तुम लोग बहकानेवाले को शैतान मानते हो, तो ख़ुदा ने भी शैतान को बहकाया। और प्रत्यक्ष शैतान ने कहा कि मैं बहकाऊंगा, फिर भी उसको दण्ड देकर क़ैद क्यों न किया? और मार क्यों न डाला? ॥१००॥

१०१—और निश्चय भेजे हमने बीच हर उम्मत[1] के पैग़म्बर॥ जब चाहते हैं हम उसको, यह कहते हैं हम उसको 'हो', बस हो जाती है॥ मं० ३। सि० १४। सू० १६। आ० ३६, ४०॥

समीक्षक—जो सब क़ौमों पर पैग़म्बर भेजे हैं, तो सब लोग जो कि पैग़म्बर की राय पर चलते हैं, वे काफ़िर क्यों? क्या दूसरे पैग़म्बर का मान्य नहीं, सिवाय तुम्हारे पैग़म्बर के?

यह सर्वथा पक्षपात की बात है। जो सब देश में पैग़म्बर भेजे, तो आर्य्यावर्त्त में कौन-सा भेजा? इसलिये यह बात मानने योग्य नहीं।

जब ख़ुदा चाहता है और कहता है कि—'पृथिवी हो जा,' वह जड़ कभी नहीं सुन सकती। ख़ुदा का हुक्म क्योंकर बजा[2] सकेगी? और सिवाय ख़ुदा के दूसरी चीज नहीं मानते, तो सुना किसने? और हो कौन-सा गया? ये सब अविद्या की बातें [हैं]। ऐसी बातों को अनजान लोग मानते हैं॥१०१॥

इसी कारण सं० २६ में २६ वीं आयत के 'करते हुये' के आगे...चिह्न दे दिया गया, और पता 'आ० २६ से ४६' बना दिया। यही सं० ३३ तक छपता रहा। सं० ३४ में आ० ३६ का पाठ निर्दिष्ट होने से पूर्व निर्दिष्ट .. चिह्न वहां से हटाकर अन्त में दे दिया, और पता सं० २ के अनुसार बना दिया। वस्तुतः यहां आ० २६ तथा ३६ ही के उद्धृत होने और उनकी ही समीक्षा होने 'से ४६ तक' पाठ युक्त नहीं है। और न आ० ३६ पाठ के पीछे--चिह्न की आवश्यकता है। १. अर्थात् गिरोह=समुदाय।

२. सं० २ में 'बना सकेगा' पाठ है। आगे 'बन सकेगा' बनाया। हुक्म के साथ 'बजाना' क्रिया का प्रयोग होता है।

१०२—और नियत करते हैं वास्ते अल्लाह के बेटियां, पवित्रता है उसको, और वास्ते उनके है जो कुछ चाहे ॥ क़सम अल्लाह की अवश्य भेजे हमने पैग़म्बर ॥

मं० ३। सि० १४। सू० १६। आ० ५७, ६३॥

समीक्षक—अल्लाह बेटियों से क्या करेगा? बेटियां तो किसी मनुष्य को चाहियें। क्यों बेटे नियत नहीं किये जाते, और बेटियां नियत की जाती हैं? इसका क्या कारण है, बताइये?

क़सम खाना झूंठों का काम है, ख़ुदा की बात नहीं। क्योंकि बहुधा संसार में ऐसा देखने में आता है कि जो झूंठा होता है, वही क़सम खाता है। सच्चा सौगन्द क्यों खावे? ॥१०२॥

१०३—ये लोग वे हैं, कि मोहर रक्खी अल्लाह ने ऊपर दिलों उनके और कानों उनके और आंखों उनकी के, और ये लोग वे हैं बेख़बर ॥ और पूरा दिया जावेगा हर जीव को जो कुछ किया है, और वे अन्याय न किये जावेंगे ॥ मं० ३ सि० १४। सू० १६। आ० १०८, १११॥

समीक्षक—जब ख़ुदा ही ने मोहर लगा दी, तो वे बिचारे विना अपराध मारे गये। क्योंकि उनको पराधीन कर दिया। यह कितना बड़ा अपराध है?

और फिर कहते हैं कि जिसने जितना किया है, उतना ही उसको दिया जायगा, न्यूनाधिक नहीं। भला उन्होंने स्वतन्त्रता से पाप किये ही नहीं. किन्तु ख़ुदा के कराने से किये। पुन: उनका अपराध ही न हुआ, उनको फल न मिलना चाहिये। इसका फल ख़ुदा को मिलना उचित है।

और जो पूरा दिया जाता है, तो क्षमा किस बात की की जाती है? और जो क्षमा की जाती है, तो न्याय उड़ जाता है। ऐसा गड़बड़ाध्याय ईश्वर का कभी नहीं हो सकता। किन्तु निर्बुद्धि छोकरों का होता है ॥१०३॥

१०४—और किया हमने दोज़ख़ को वास्ते काफ़िरों के घेरने-

वाला स्थान ॥ और हर आदमी को लगा दिया हमने उसकी अमल-नामा[1] उसका बीच गर्दन उसकी के, और निकालेंगे हम वास्ते उसके दिन क़यामत के एक किताब, कि देखेगा उसको खुला हुआ ॥ और बहुत मारे हमने क़ुरनून से पीछे नूह के[2] ॥

मं० ४। सि० १५। सू० १७। आ० ८, १३, १७ ॥

समीक्षक—यदि काफ़िर वे ही हैं, कि जो क़ुरान पैग़म्बर और क़ुरान के कहे खुदा, सातवें आसमान और नमाज आदि को न मानें, और उन्हींके लिये दोज़ख होवे, तो यह बात केवल पक्षपात की ठहरे। क्योंकि क़ुरान ही के माननेवाले सब अच्छे, और अन्य के माननेवाले सब बुरे कभी हो सकते हैं ?

यह बड़ी लड़कपन की बात है कि प्रत्येक की गर्दन में कर्मपुस्तक [बांधना], हम तो किसी एक की भी गर्दन में नहीं देखते। यदि इसका प्रयोजन कर्मों का फल देना है, तो फिर मनुष्यों के दिलों नेत्रों आदि पर मोहर रखना, और पापों का क्षमा करना, क्या खेल मचाया है ?

क़यामत की रात को किताब निकालेगा खुदा, तो आजकल वह किताब कहां है ? क्या साहूकार की बही [के] समान लिखता रहता है ?

यहां यह विचारना चाहिये कि जो पूर्वजन्म नहीं, तो जीवों के कर्म ही नहीं हो सकते। तो फिर कर्म की रेखा[1] क्या लिखी ? और जो विना कर्म के लिखा, तो उन पर अन्याय किया। क्योंकि विना अच्छे-बुरे कर्मों के उनको दुःख-सुख क्यों दिया ?

जो कहो कि खुदा की मरजी, तो भी उसने अन्याय किया। '**अन्याय**' उसीको कहते हैं कि विना बुरे-भले कर्म किये दुःख-सुखरूप फल न्यूनाधिक देना। और उस समय खुदा ही किताब बांचेगा, वा कोई सरिश्तेदार सुनावेगा ?

---

१. अर्थात् कर्म का लेखा।

२. अर्थात् और नूह के बाद हमने कितनी ही नस्लों को नष्ट कर दिया।

जो ख़ुदा ही ने दीर्घकाल सम्बन्धी[1] जीवों को विना अपराध मारा, तो वह अन्यायकारी हो गया। जो अन्यायकारी होता है, वह ख़ुदा ही नहीं हो सकता ॥१०४॥

१०५-और दिया हमने समूद को ऊंटनी प्रमाण[2] ॥ और बहका जिसको बहका सके ॥

जिस दिन बुलावेंगे हम सब लोगों को साथ पेशवाओं उनके के, बस जो कोई दिया गया अमलनामा उसका बीच दहिने हाथ उसके के ॥ मं० ४। सि० १५। सू० १७। आ० ५९, ६४, ७१ ॥

समीक्षक—वाहजी! जितनी ख़ुदा की साश्चर्य निशानी हैं, उनमें से एक ऊंटनी भी ख़ुदा के होने में प्रमाण अथवा परीक्षा में साधक है?

यदि ख़ुदा ने शैतान को बहकाने का हुक्म दिया, तो ख़ुदा ही शैतान का सरदार और सब पाप करानेवाला ठहरा। ऐसे को ख़ुदा कहना केवल कम समझ की बात है।

जब क़यामत की [रात] अर्थात् प्रलय ही में न्याय करने-कराने के लिये पैग़म्बर और उनके उपदेश माननेवालों को ख़ुदा बुलावेगा, तो जबतक प्रलय न होगा तबतक सब दौड़ासुपुर्द रहैं? और दौड़ासुपुर्द सबको दुःखदायक है, जबतक न्याय न किया जाय। इसलिये शीघ्र न्याय करना न्यायाधीश का उत्तम काम है।

यह तो पोपांबाई[3] का न्याय ठहरा। जैसे कोई न्यायाधीश कहे कि जबतक पचास वर्ष तक के चोर और साहूकार इकट्ठे न हों, तब तक उनको दण्ड वा प्रतिष्ठा न करनी चाहिये। वैसा ही यह यह हुआ कि एक तो पचास वर्ष तक दौड़ासुपुर्द रहा, और एक आज ही पकड़ा गया। ऐसा न्याय का काम नहीं हो सकता।

---

१. अर्थात इजराएल की सन्तति से सम्बद्ध जीवों को।

२. अर्थात् ऊंटनी के रूप में खुली निशानी।

३. यह गुजराती भाषा का शब्द है। उसमें 'पोपाबाई नुं राज' उक्ति 'अंधेर नगरी अनबूझ राजा' या 'ढीलपोल की हाकिमी' के लिये प्रयुक्त होती है।

न्याय [के लिये] तो वेद और मनुस्मृति देखो, जिसमें क्षणमात्र भी विलम्ब नहीं होता। और अपने-अपने कर्मानुसार दण्ड वा प्रतिष्ठा सदा पाते रहते हैं।

दूसरा—पैग़म्बरों को गवाही के तुल्य रखने से ईश्वर की सर्वज्ञता की हानि है। भला ऐसा पुस्तक ईश्वरकृत, और ऐसे पुस्तक का उपदेश करनेवाला ईश्वर कभी हो सकता है? कभी नहीं ॥१०५॥

१०६—ये लोग वास्ते उनके हैं बाग़ हमेशह रहने के, चलती हैं नीचे उनके से नहरें, गहिना पहिराये जावेंगे बीच उसके कङ्गन सोने के-से, और पोशाक पहिनेंगे वस्त्र हरित लाही[1] की-से, और [1]ताफते की-से तकिये किये हुए बीच उसके ऊपर तख्तों के, अच्छा है पुण्य और अच्छी है बहिश्त लाभ उठाने की ॥

मं० ४। सि० १५। सू० १८। आ० ३१॥

समीक्षक-वाहजी वाह! क्या क़ुरान का स्वर्ग है, जिसमें बाग [नहरें] गहने कपड़े गद्दी तकिये आनन्द के लिये हैं। भला कोई बुद्धिमान् यहां विचार करे, तो यहां से वहां मुसलमानों के बहिश्त में अधिक कुछ भी नहीं है, सिवाय अन्याय के। वह यह [है] कि कर्म उनके अन्तवाले और फल उनका अनन्त।

और जो मीठा नित्य खावे, तो थोड़े दिन में विष के समान प्रतीत होता है। जब सदा वे सुख भोगेंगे, तो उनको सुख ही दुःखरूप हो जायगा। इसलिये महाकल्पपर्यन्त[2] मुक्तिसुख भोगके पुनर्जन्म पाना ही सत्य सिद्धान्त है ॥१०६॥

१०७—और यह बस्तियां है कि मारा हमने उनको जब अन्याय किया उन्होंने, और हमने उनके मारने की प्रतिज्ञा स्थापन की ॥

मं० ४। सि० १५। सू० १८। आ० ५९॥

समीक्षक—भला सब बस्तीभर पापी भी हो सकती है? और पीछे से प्रतिज्ञा करने से ईश्वर सर्वज्ञ नहीं रहा। क्योंकि जब उनका

---

१. हरित लाही=उत्तम रेशम; ताफते=सुनहरी कढ़ाई।
२. देखो महाकल्प का परिमाण, पूर्व पृष्ठ ३५८।

अन्याय देखा तो प्रतिज्ञा की, पहिले नहीं जानता था ? इससे दयाहीन भी ठहरा ॥१०७॥

१०८—और वह जो लड़का, बस थे मां-बाप उसके ईमानवाले, बस डरे हम यह कि पकड़े उनको सरकशी में और कुफ्र में ॥

यहां तक कि पहुंचा जगह डूबने सूर्य्य की, पाया उसको डूबता था बीच चश्मे कीचड़ के ॥

कहा उनने ऐ जुलकरनैन ! निश्चय याजूज माजूज[1] फिसाद करनेवाले हैं बीच पृथिवी के ॥ मं० ४ । सि० १६ । सू० १८ । आ० ८०, ८६, ९४ ॥

समीक्षक—भला यह ख़ुदा की कितनी बेसमझ है ? शङ्का से डरा कि लड़कों के मां-बाप कहीं मेरे मार्ग से बहकाकर उलटे न कर दिये जावें । यह कभी ईश्वर की बात नहीं हो सकती[?] ।

अब आगे की अविद्या की बात देखिये, कि इस किताब का बनानेवाला सूर्य्य को एक झील में रात्रि को डूबा जानता है, फिर प्रातःकाल निकलता है । भला सूर्य्य तो पृथिवी से बहुत बड़ा है, वह नदी वा झील वा समुद्र में कैसे डूब सकेगा ?

इससे यह विदित हुआ कि क़ुरान के बनानेवाले को भूगोल-खगोल की विद्या नहीं थी । जो होती तो ऐसी विद्याविरुद्ध बात क्यों लिख देता[2] ? और इस पुस्तक के माननेवालों को भी विद्या नहीं है । जो होती तो ऐसी मिथ्या बातों से युक्त पुस्तक को क्यों मानते ?

अब देखिये ख़ुदा का अन्याय । आप ही पृथिवी का बनानेवाला राजा न्यायाधीश है, और याजूज माजूज को पृथिवी में फ़साद भी

---

१. ये याजूज माजूज असभ्य जातियां थीं, जो सदा लूट मार करती रहती थीं । इन के निवासस्थान के विषय में थोड़ा मतभेद है । इसके लिये महमूद फारूख खां कृत हिन्दी अनुवाद (रामपुर से छपा) पृष्ठ ५३९, टि० ३६ देखें ।

२. सं० २ से ३५ तक 'देते' पाठ है । कर्त्ता के एक होने से एकवचनान्त पद होना चाहिये ।

करने देता है। वह ईश्वरता की बात से विरुद्ध है। इससे ऐसी पुस्तक को जङ्गली लोग माना करते हैं, विद्वान् नहीं ॥१०८॥

१०९—और याद करो बीच किताब के मर्यम को, जब जा पड़ी लोगों अपने से मकान पूर्वी में ॥ बस पड़ा उनसे इधर पर्दा, बस भेजा हमने रूह अपनी को अर्थात् फ़रिश्ता, बस सूरत पकड़ी वास्ते उसके आदमी पुष्ट की ॥

कहने लगी, निश्चय मैं शरण पकड़ती हूं रहमान की तुझसे जो है तू परहेज़गार ॥ कहने लगा सिवाय इसके नहीं कि मैं भेजा हुआ हूं मालिक तेरे के से[1] ता कि[2] दे जाऊं मैं तुझको लड़का पवित्र ॥

कहा, कैसे होगा वास्ते मेरे लड़का, नहीं हाथ लगाया मुझको [किसी] आदमी ने, नहीं मैं बुरा काम करनेवाली ॥ बस गर्भित हो गई साथ उसके और जा पड़ी साथ उसके मकान दूर अर्थात् जङ्गल में ॥ मं० ४। सि० १६। सू० १९। आ० १६-२०, २२ ॥

समीक्षक—अब बुद्धिमान् विचारलें कि फ़रिश्ते सब ख़ुदा की रूह हैं, तो ख़ुदा से अलग पदार्थ नहीं हो सकते। दूसरा यह अन्याय कि वह मर्यम कुमारी के लड़का होना। किसी का संग करना नहीं चाहती थी, परन्तु ख़ुदा के हुक्म से फ़रिश्ते ने उसको गर्भवती किया। यह न्याय से विरुद्ध बात है। यहां[3] अन्य भी असभ्यता की बातें बहुत लिखी हैं। उनको लिखना उचित नहीं समझा ॥१०९॥

११०—क्या नहीं देखा तूने यह कि भेजा हमने शैतानों को ऊपर काफ़िरों के बहकाते हैं उनको बहकाने पर[4] ॥

मं० ४। सि० १६। सू० १९। आ० ८३ ॥

समीक्षक—जब ख़ुदा ही शैतानों को बहकाने के लिये भेजता है, तो बहकनेवालों का कुछ दोष नहीं हो सकता। और न उनको

---

१. 'से' व्यर्थ-सा है। २. वै० यं० मुद्रित में 'तो कि' पाठ है।
३. अर्थात् आयत २१ में तथा २२ से आगे कई आयतों में।
४. यहां सम्बन्ध इस प्रकार समझें—'...काफ़िरों के उनको बहकाने पर, वे बहकाते हैं।'

दण्ड हो सकता, और न शैतानों को। क्योंकि यह ख़ुदा के हुक्म से सब होता है। इसका फल ख़ुदा को होना चाहिये।

जो सच्चा न्यायकारी है, तो उसका फल दोज़ख आप ही भोगे। और जो न्याय को छोड़के अन्याय को करे, तो अन्यायकारी हुआ। अन्यायकारी ही 'पापी' कहाता है ॥११०॥

१११—और निश्चय क्षमा करनेवाला हूं वास्ते उस मनुष्य के, तोबा: की और ईमान लाया कर्म किये अच्छे फिर मार्ग पाया ॥

मं० ४। सि० १६। सू० २०। आ० ८२॥

समीक्षक—जो तोबा: से पाप क्षमा करने की बात क़ुरान में है, यह सबको पापी करानेवाली[1] है। क्योंकि पापियों को इससे पाप करने का साहस बहुत बढ़ जाता है। इससे यह पुस्तक और इसका बनानेवाला पापियों को पाप कराने में हौसला बढ़ानेवाले हैं। इससे यह पुस्तक परमेश्वरकृत, और इसमें कहा हुआ परश्मेवर भी नहीं हो सकता ॥१११॥

११२—और किये हमने बीच पृथिवी के पहाड़, ऐसा न हो कि हिल जावे॥ मं० ४। सि० १७। सू० २१। आ० ३१॥

समीक्षक—यदि क़ुरान का बनानेवाला पृथिवी का घूमना आदि जानता, तो यह बात कभी नहीं कहता कि पहाड़ों के धरने से पृथिवी नहीं हिलती। शंका हुई [होगी] कि जो पहाड़ नहीं धरता तो हिल जाती। इतने कहने पर भी भूकम्प में क्यों डिग जाती है? ॥११२॥

११३—और शिक्षा दी हमने उस औरत को[2], और रक्षा की उसने अपने गुह्य अंगों की, बस फूंक दिया हमने बीच उसके रूह अपनी को॥ मं० ४। सि० १७। सू० २१। आ० ९१॥

समीक्षक—ऐसी अश्लील बातें ख़ुदा की पुस्तक में ख़ुदा की

---

१. यहां 'बनानेवाली' पाठ चाहिये, अथवा 'पापी' के स्थान पर 'पाप' पाठ होना चाहिये।

२. इसके सम्बन्ध में अन्त में परिशिष्ट २ देखें।

क्या, और सभ्य मनुष्य को भी नहीं होती। जब कि मनुष्यों में ऐसी बातों का लिखना अच्छा नहीं, तो परमेश्वर के सामने[1] क्योंकर अच्छा हो सकता है? ऐसी-ऐसी बातों से क़ुरान दूषित होता है। यदि अच्छी बात होती, तो अति प्रशंसा होती, जैसी वेदों की ॥११३॥

११४—क्या नहीं देखा तूने कि अल्लाह को सिजदा करते हैं, जो कोई बीच आसमानों और पृथिवी के, हैं सूर्य और चन्द्र तारे और पहाड़ वृक्ष और जानवर ॥

पहिनाये जावेंगे बीच उसके कंगन सोने के[2] और मोती और पहिनावा उनका बीच उसके रेशमी है ॥

और पवित्र रख घर मेरे को वास्ते गिर्द फिरनेवालों के और खड़े रहनेवालों के ॥

फिर चाहिये कि दूर करें मैल अपने और पूरी करें भेटें अपनी, और चारों ओर फिरें[3] घर क़दीम के ॥ ताकि[4] नाम अल्लाह का याद करें ॥मं० ४। सि० १७। सू० २२। आ० १८, २३, २६, २९, ३४॥

समीक्षक—भला जो जड़ वस्तु हैं, परमेश्वर को जान ही नहीं सकते, फिर वे उसकी भक्ति क्योंकर कर सकते हैं? इससे यह पुस्तक ईश्वरकृत तो कभी नहीं हो सकता, किन्तु किसी भ्रान्त का बनाया हुआ दीखता है।

वाह! बड़ा अच्छा स्वर्ग है, जहां सोने-मोती के गहने और रेशमी कपड़े पहिरने को मिलें। यह बहिश्त यहां के राजाओं के घर से अधिक नहीं दीख पड़ता।

और जब परमेश्वर का घर है, तो वह उसी[5] घर में रहता भी होगा, फिर बुत्परस्ती क्यों न हुई? और दूसरे बुत्परस्तों का खण्डन क्यों करते हैं?

---

१. अर्थात् परमेश्वर के लिये। २. सं० २ में 'से' पाठ है।
३. सं० २ में 'फिर' पाठ है। ४. बै० यं० मुद्रित में 'तो कि' पाठ है।
५. सं० २ में 'उस' पाठ है।

जब ख़ुदा भेंट लेता [है], अपने घर की परिक्रमा करने की आज्ञा देता है, और पशुओं को मरवाके खिलाता है, तो यह ख़ुदा मन्दिर-वाले और भैरव दुर्गा के सदृश हुआ, और महाबुतपरस्ती का चलाने-वाला हुआ। क्योंकि मूर्त्तियों से मस्जिद बड़ा बुत् है। इससे ख़ुदा और मुसलमान बड़े बुतपरस्त, और पुराणी तथा जैनी छोटे बुतपरस्त हैं ॥११४॥

११५- फिर निश्चय तुम दिन क़यामत के उठाये जाओगे ॥

मं० ४। सि० १८। सू० २३। आ० १६॥

समीक्षक—क़यामत तक मुर्दे क़बर में रहेंगे, वा किसी अन्य जगह ? जो उन्हीमें रहेंगे तो सड़े हुए दुर्गन्धरूप शरीर में रहकर पुण्यात्मा भी दुःख-भोग करेंगे ? यह अन्याय है। और दुर्गन्ध अधिक होकर रोगोत्पत्ति करने से ख़ुदा और मुसलमान पापभागी होंगे॥ ११५॥

११६—उस दिन की गवाही देवेंगे, ऊपर उनके ज़बानें उनकी और हाथ उनके और पांव उनके साथ वस्तु के कि थे करते[1]॥

अल्लाह नूर है आसमानों का और पृथिवी का, नूर उसके कि मानिन्द ताक़ की है, बीच उसके दीप हो और दीप बीच कंदील शीशों के हैं, वह कंदील मानों कि तारा है चमकता, रोशन किया जाता है दीपक वृक्ष मुबारिक जैतून के [तेल] से, न पूर्व की ओर है न पश्चिम की समीप है, तेल उसका रोशन हो जावे जो न लगे [आग उस को, रोशनी] ऊपर रोशनी के, मार्ग दिखाता है अल्लाह नूर अपने के, जिसको चाहता है॥ मं० ४। सि० १८। सू० २४। आ० २४, ३५॥

समीक्षक—हाथ-पग आदि जड़ होने से गवाही कभी नहीं दे सकते। यह बात सृष्टिक्रम से विरुद्ध होने से मिथ्या है। क्या ख़ुदा आगी[2] बिजुली है ? जैसाकि दृटान्त देते हैं, ऐसा दृष्टान्त ईश्वर में

१. सं० २ में 'कर्त्ते' अपपाठ है। २. अर्थात् आग। सं० ५ में 'आग' बनाया, यही ३३ तक छपता रहा। सं० ३४ में फिर 'आगी' बदला।

नहीं घट सकता। हां, किसी साकार वस्तु में घट सकता है ॥११६॥

११७—और अल्लाह ने उत्पन्न किया हर जानवर को पानी से, बस कोई उनमें से वह है कि जो चलता है पेट अपने के ॥

और जो कोई आज्ञा पालन करे अल्लाह की रसूल उसके की ॥ कह आज्ञा पालन करै ख़ुदा की रसूल उसके की ॥ और आज्ञा पालन करो रसूल की, ताकि[1] दया किये जाओ ॥ मं० ४। सि० १८। सू० २४। आ० ४५, ५२, ५४, ५६ ॥

समीक्षक—यह कौन-सी फ़िलासफ़ी है कि जिन जानवरों के शरीर में सब तत्त्व दीखते हैं, और कहना कि केवल पानी से उत्पन्न किया ? यह केवल अविद्या की बात है।

जब अल्लाह के साथ पैग़म्बर का आज्ञा-पालन करना होता है, तो ख़ुदा का शरीक हो गया वा नहीं ? यदि ऐसा है, तो क्यों ख़ुदा को लाशरीक क़ुरान में लिखा, और कहते हो ? ॥११७॥

११८—और जिस दिन कि फट जावेगा आसमान साथ बदली के, और उतारे जावेंगे फ़रिश्ते ॥ बस मत कहा मान काफ़िरों का और झगड़ा कर उनके[2] साथ झगड़ा बड़ा ॥

और बदल डालता है अल्लाह बुराइयों उनकी को भलाइयों से ॥ और जो कोई तोबा: करे, और कर्म करे अच्छे, बस निश्चय आता है तर्फ़ अल्लाह की ॥ मं० ४। सि० १९। सू० २५। आ० २१, ५२, ७०, ७१ ॥

समीक्षक—यह बात कभी सच नहीं हो सकती है कि आकाश बद्दलों के साथ फट जावे। यदि आकाश कोई मूर्त्तिमान् पदार्थ हो, तो फट सकता है।

यह मुसलमानों का क़ुरान शान्ति भङ्ग कर गदर झगड़ा मचानेवाला है। इसीलिये धार्मिक विद्वान् लोग इसको नहीं मानते। यह भी अच्छा न्याय है कि जो पाप और पुण्य का अदला-बदला हो

---

१. वै० य० मुद्रित मे 'तो कि' पाठ है।

२. सं० २ में 'उस से' अपपाठ है।

जाय ! क्या यह तिल और उड़द की सी बात [है[1]], जो पलटा हो जावे ?

जो तोबाः करने से [पाप] छूटे और ईश्वर मिले, तो कोई भी पाप करने से न डरे। इसलिये ये सब बातें विद्या से विरुद्ध हैं ।।११८।।

११९—वही की हमने तर्फ मूसा की, यह कि ले चल रात को बन्दों मेरे को, निश्चय तुम पीछा किये जाओगे ।। बस भेजे लोग फिरौन ने बीच नगरों के जमा करनेवाले ।।

और वह पुरुष कि जिसने पैदा किया मुझको, बस वही मार्ग दिखलाता है ।। और वह जो खिलाता है मुझको पिलाता है मुझको ।।

और वह पुरुष की आशा रखता हूं मैं यह कि क्षमा करे वास्ते मेरे अपराध मेरा दिन क़यामत के ।। मं० ५ । सि० १९ । सू० २६ । आ० ५२, ५३, ७८, ७९, ८२ ।।

समीक्षक—जब खुदा ने मूसा की ओर वही भेजी, पुनः दाऊद ईसा और मुहम्मद साहब की ओर किताब क्यों भेजी ? क्योंकि परमेश्वर की बात सदा एक-सी और बेभूल होती है ।

और उसके पीछे क़ुरान तक पुस्तकों का भेजना पहिली पुस्तक को अपूर्ण भूलयुक्त माना जायगा । यदि ये तीन पुस्तक सच्चे हैं, तो यह क़ुरान झूठा होगा । चारों का, जो कि परस्पर प्रायः विरोध रखते हैं, उनका सर्वथा सत्य होना नहीं हो सकता ।

यदि खुदा ने रूह अर्थात् जीव पैदा किये हैं, तो वे मर भी जायेंगे । अर्थात् उनका **कभी नाश[2] [या] कभी अभाव भी होगा** ।

जो परमेश्वर ही मनुष्यादि प्राणियों को खिलाता-पिलाता है,

---

१. द्र०—माषानस्मै तिलेभ्यः प्रतियच्छति (अ० १।४।९२; २।३।११ सूत्र का उदाहरण) । प्राचीन काल में (गांवों में कुछ वर्ष पूर्व तक भी) एक एक वस्तु देकर बदले में दूसरी वस्तु लेने का व्यवहार था ।

२. सं० ५ में 'कभी नाश' पद हटाये । सं० ३४ में पुनः रखे ।

तो किसी को रोग होना न चाहिये। और सबको तुल्य भोजन देना चाहिये। पक्षपात से एक को उत्तम और दूसरे को निकृष्ट, जैसाकि राजा और कंगले को श्रेष्ठ-निकृष्ट भोजन मिलता है, न होना चाहिये।

जब परमेश्वर ही खिलाने-पिलाने और पथ्य करानेवाला है, तो रोग ही न होना चहिये। परन्तु मुसलमान आदि को भी रोग होते हैं। यदि ख़ुदा ही रोग छुड़ाकर आराम करनेवाला है, तो मुसलमानों के शरीरों में रोग न रहना चाहिये। यदि रहता है, तो ख़ुदा पूरा वैद्य नहीं है। यदि पूरा वैद्य है, तो मुसलमानों के शरीर में रोग क्यों रहते हैं?

यदि वही मारता और जिलाता है, तो उसी ख़ुदा को पाप-पुण्य लगता होगा। यदि जन्म-जन्मान्तर के कर्मानुसार व्यवस्था करता है, तो उसका कुछ भी अपराध नहीं।

यदि वह पाप क्षमा, और न्याय क़यामत की रात में करता है, तो ख़ुदा पाप बढ़ानेवाला होकर पापयुक्त होगा। यदि क्षमा नहीं करता, तो यह क़ुरान की बात झूठी होने से बच नहीं सकती है ॥११९॥

१२०—नहीं तू परन्तु[1] आदमी मानिन्द हमारी, बस ले आ कुछ निशानी जो है तू सच्चों से॥ कहा, यह ऊंटनी है। वास्ते उसके पानी पीना है एक बार॥ मं० ५। सि० १९। सू० २६। आ० १५४, १५५॥

समीक्षक—भला इस बात को कोई मान सकता है कि पत्थर[2]

---

१. 'परन्तु' सं० २, ३ में है, सं० ४ में हटाया, सं० ३५ तक नहीं है। यह अनावश्यक-सा है। प० रामचन्द्र देहलवी का अनुवाद इस प्रकार है—'नहीं तू आदमी (परन्तु) मानन्द हमारी'।

२. ऊपर की आयतों से स्पष्ट है कि वह पहाड़ी क्षेत्र था। ऊंटनी की निशानी का वर्णन सू० ११ आ० ६४ तथा सू० १७ आ० ५९ में भी मिलता है। यह निशानी ख़ुदा ने कई पैग़म्बरों को दी। द्र०—समीक्ष्यांश संख्या ६३, १०५।

से ऊंटनी निकले? वे लोग जङ्गली थे कि जिन्होंने इस बात को मान लिया। और ऊंटनी की निशानी देना केवल जङ्गली व्यवहार है, ईश्वरकृत नहीं। यदि यह किताब ईश्वरकृत होती, तो ऐसी व्यर्थ बातें इसमें न होतीं ॥१२०॥

१२१—ऐ मूसा! बात यह है कि निश्चय मैं अल्लाह हूं ग़ालिब॥ और डाल दे असा अपना, बस जबकि देखा उसको हिलता था मानो कि वह सांप है। ऐ मूसा! मत डर, निश्चय नहीं डरते समीप मेरे पैग़म्बर॥

अल्लाह नहीं कोई माबूद, परन्तु वह मालिक अर्श बड़े का॥ यह कि मत सरकशी करो ऊपर मेरे, और चले आओ मेरे पास मुसलमान होकर॥ मं० ५। सि० १९। सू० २७। आ० ९, १०, २६, ३१॥

समीक्षक—और भी देखिये, अपने मुख आप अल्लाह बड़ा ज़बरदस्त बनता है। अपने मुख से अपनी प्रशंसा करना श्रेष्ठ पुरुष का भी काम नहीं, [तो] ख़ुदा का क्योंकर हो सकता है?

तभी तो इन्द्रजाल का लटका दिखला जङ्गली मनुष्यों को वश कर आप जङ्गलस्थ ख़ुदा बन बैठा। ऐसी बात ईश्वर के पुस्तक में कभी नहीं हो सकती।

यदि वह बड़े अर्श अर्थात् सातवें आसमान का मालिक है, तो वह एकदेशी होने से ईश्वर नहीं हो सकता है।

यदि सरकशी करना बुरा है, तो ख़ुदा और मुहम्मद साहब ने अपनी स्तुति से पुस्तक क्यों भर दिये? 'मुहम्मद साहब ने अनेकों को मारे[1]", इससे सरकशी हुई वा नहीं? यह क़ुरान पुनरुक्त और पूर्वापर विरुद्ध बातों से भरा हुआ है॥१२१॥

१२२—और देखेगा तू पहाड़ों को, अनुमान करता है तू उनको जमे हुए, और वे चले जाते हैं मानिन्द चलने बादलों की, क़ारीगरी अल्लाह [की] कि जिसने दृढ़ किया हर वस्तु को, निश्चय वह ख़बर-

१. सम्भवतः यहां 'मारा' पाठ ठीक होवे।

दार है उस वस्तु के कि करते हो ।। मं० ५ । सि० २० । सू० २७ । आ० ८८ ।।

समीक्षक—बद्दलों के समान पहाड़ का चलना क़ुरान बनानेवालों के देश में होता होगा, अन्यत्र नहीं[1] । और ख़ुदा की ख़बरदारी शैतान बाग़ी को न पकड़ने, और न दण्ड देने से ही विदित होती है, कि जिसने एक बाग़ी को भी अबतक न पकड़ पाया, न दण्ड दिया । इससे अधिक असावधानी क्या होगी ? ।।१२२।।

१२३—बस मुष्ट[2] मारा उसको मूसा ने, बस पूरी की आयु उसकी ।। कहा, ऐ रब मेरे निश्चय मैंने अन्याय किया जान अपनी को, बस क्षमा कर मुझको । बस क्षमा कर दिया उसको । निश्चय वह क्षमा करनेवाला दयालु है ।।

और मालिक तेरा उत्पन्न करता है, जो कुछ चाहता है, और पसन्द करता है ।। मं० ५ । सि० २० । सू० २८ । आ० १५, १६, ६८ ।।

समीक्षक—अब अन्य भी देखिये, मुसलमान और ईसाइयों के पैग़म्बर और ख़ुदा, कि मूसा पैग़म्बर मनुष्य की हत्या किया करे । और ख़ुदा क्षमा किया करे । ये दोनों अन्यायकारी हैं वा नहीं ?

क्या अपनी इच्छा ही से जैसा चाहता है, वैसी उत्पत्ति करता है ? क्या उसने अपनी इच्छा ही से एक को राजा दूसरे को कङ्गाल, और एक को विद्वान् और दूसरे को मूर्खादि किया है ? यदि ऐसा है, तो न क़ुरान सत्य, और न अन्यायकारी[3] होने से यह ख़ुदा ही हो सकता है ।।१२३।।

---

१. वेद में बादलों के लिये भी पर्वत शब्द आता है (निघण्टु १।१०) । इन्द्र=बिजुली उन के पक्षों=गमनसामर्थ्य को नष्ट कर देती है । उस से वे बरस जाते हैं । इसी से भ्रान्त होकर पुराणों में पर्वतों को पक्षियों की तरह उड़ता हुआ लिखा है । इन्द्र ने उनके पर काट दिये, वे एक जगह जम गये । सम्भवतः क़ुरान में वहीं से यह बात आई है । परन्तु यहां उन्हें वर्तमान में भी चलता हुआ कहा है । यह बात अन्यत्र कहीं नहीं है ।

२. मुष्ट=मुट्ठी=घूंसा ।

३. स० ११ से ३३ तक 'न्यायकारी' अपपाठ है । सं० ३४ में शोधा गया ।

१२४—और आज्ञा दी हमने मनुष्य को साथ मां-बाप के भलाई करना, [1][और] जो झगड़ा करें तुझसे दोनों, यह कि शरीक लावे तू साथ मेरे उस वस्तु को कि नहीं वास्ते तेरे साथ उसके ज्ञान, बस मत कहा मान उन दोनों का, तर्फ मेरी है[2] ॥

और अवश्य भेजा हमने नूह को तर्फ क़ौम उसके की, बस रहा बीच उनके हज़ार वर्ष परन्तु पचास वर्ष कम ॥

मं० ५ । सि० २० । सू० २९ । आ० ८, १४ ॥

समीक्षक—माता-पिता की सेवा करना तो अच्छा ही है। जो ख़ुदा के साथ शरीक करने के लिये कहे, तो उनका कहा न मानना, यह भी ठीक है। परन्तु यदि माता-पिता मिथ्याभाषणादि करने की आज्ञा देवें, तो क्या मान लेना चाहिये? इसलिये यह बात आधी अच्छी और आधी बुरी है।

क्या नूह आदि पैग़म्बरों ही को ख़ुदा संसार में भेजता है? तो अन्य जीवों को कौन भेजता है? यदि सबको वही भेजता है, तो सभी पैग़म्बर क्यों नहीं? और प्रथम मनुष्यों की [पचास कम] हज़ार वर्ष की आयु होती थी, तो अब क्यों नहीं होती? इसलिये यह बात ठीक नहीं[3] ॥१२४॥

१२५—अल्लाह पहिली बार करता है उत्पत्ति, फिर दूसरी बार करेगा उसको, फिर उसी की ओर फेरे[4] जाओगे ॥ और जिस दिन बर्पा अर्थात् खड़ी होगी क़यामत, निराश होंगे पापी ॥

बस जो लोग कि ईमान लाये और काम किये अच्छे, बस वे बीच बाग के सिंगार किये जावेंगे ॥ और जो भेजदें हम एबांब, बस देखें उस खेती को पीली हुई ॥ इसी प्रकार मोहर रखता है

श्री पं० भगवद्दत्त ने 'न्यायकारी' के आगे [न] बढ़ाया है। उससे भी अर्थ पूरा स्पष्ट नहीं होता।

१. सं० ३४ में विना कोष्ठक के बढ़ाया है।

२. अर्थात् मेरी ही ओर तुम्हें वापिस आना है।

३. बारहवें समुल्लास, पृष्ठ ७०७ में भी इस पक्ष की आलोचना है।

४. सं० २ से ३३ तक 'फेर' अपपाठ है।

अल्लाह ऊपर दिलों उन लोगों के कि नहीं जानते ॥ मं० ५ । सि० २१ । सू० ३० । आ० ११, १२, १५, ५१, ५६ ॥

समीक्षक—यदि अल्लाह दो बार उत्पत्ति करता है, तीसरी बार नहीं, तो उत्पत्ति की आदि और दूसरी बार के अन्त में निकम्मा बैठा रहता होगा ? और एक तथा दो बार उत्पत्ति के पश्चात् उसका सामर्थ्य निकम्मा और व्यर्थ हो जायगा।

यदि न्याय करने के दिन पापी लोग निराश हों, तो अच्छी बात है। परन्तु इसका प्रयोजन यह तो कहीं नहीं है कि मुसलमानों के सिवाय सब पापी समझ कर निराश किये जायें ? क्योंकि क़ुरान में कई स्थानों में पापियों से औरों[1] का ही प्रयोजन है।

यदि बगीचे में रखना और शृंगार पहिराना ही मुसलमानों का स्वर्ग है, तो इस संसार के तुल्य हुआ। और वहां माली और सुनार भी होंगे, अथवा खुदा ही माली और सुनार आदि का काम करता होगा ?

यदि किसी को कम गहना मिलता होगा, तो चोरी भी होती होगी ? और बहिश्त से चोरी करनेवालों को दोज़ख़ में भी डालता होगा ? यदि ऐसा होता होगा, तो सदा बहिश्त में रहेंगे, यह बात झूंठ हो जायगी।

जो किसानों की खेती पर भी खुदा की दृष्टि है, सो यह विद्या खेती करने के अनुभव ही से होती है। और यदि माना जाय कि खुदा ने अपनी विद्या से सब बात जान ली है, तो ऐसा भय देना अपना घमण्ड प्रसिद्ध करना है।

यदि अल्लाह ने जीवों के दिलों पर मोहर लगा पाप कराया, तो उस पाप का भागी वही होवे, जीव नहीं हो सकते। जैसे जय-पराजय सेनाधीश का होता है, वैसे ये सब पाप खुदा ही को प्राप्त होवें ॥१२५॥

१२६—ये आयतें हैं किताब हिक्मतवाले की ॥ उत्पन्न किया

१. अर्थात् मुसलमानों से भिन्न का।

आसमानों को विना सुतून अर्थात् खम्भे के, देखते हो तुम उसको। और डाले बीच पृथिवी के पहाड़, ऐसा न हो कि हिल जावे ॥

क्या नहीं देखा तूने यह कि अल्लाह प्रवेश कराता है, रात को बीच दिन के, और प्रवेश कराता है कि दिन को बीच रात के ॥

क्या नहीं देखा कि किश्तियां चलती हैं बीच दर्या के, साथ निआमतों अल्लाह के, ताकि[1] दिखलावें तुमको निशानियां अपनी ॥

मं० ५। सि० २१। सू० ३१। आ० २, १०, २६, ३१ ॥

समीक्षक—वाहजी वाह ! हिक्मतवाली किताब, कि जिसमें सर्वथा विद्या से विरुद्ध आकाश की उत्पत्ति, और उसमें खम्भे लगाने की शंका, और पृथिवी को स्थिर रखने के लिये पहाड़ रखना ! थोड़ी-सी विद्यावाला भी ऐसा लेख कभी नहीं करता, और न मानता।

और हिक्मत देखो कि जहां दिन है वहां रात नहीं, और जहां रात है वहां दिन नहीं। उसको एक-दूसरे में प्रवेश कराना लिखता है। यह बड़े अविद्वानों की बात है। इसलिये यह क़ुरान विद्या की पुस्तक नहीं हो सकती।

क्या यह विद्याविरुद्ध बात नहीं है कि नौका मनुष्य और क्रिया-कौशलादि से चलती हैं, वा ख़ुदा की कृपा से ? यदि लोहे वा पत्थरों[2] की नौका बनाकर समुद्र में चलावें, तो ख़ुदा की निशानी डूब जाय वा नहीं ? इसलिये यह पुस्तक न विद्वान् और न ईश्वर का बनाया हुआ हो सकता है ॥१२६॥

१२७—तदबीर करता है काम की आसमान से तर्फ़ पृथिवी की, फ़िर चढ़ जाता है तर्फ़ उसकी बीच एक दिन के, कि है अवधि

---

१. वै० यं० मुद्रित में 'तो कि' पाठ है।

२. लोहे की चादरों वा पत्थर के बड़े खण्ड को बीच से खोदकर (पत्थर की ऐसी नौका जालना [महाराष्ट्र] में हमने बचपन में देखी है) बन सकती है। फिर भी उनके भारी होने से अधिक भार नहीं ढोया जा सकता है, डूबने का सदा डर रहता है।

उसकी सहस्र वर्ष उन वर्षों से कि गिनते हो तुम ॥ वह[1] है जानने वाला गैब का और प्रत्यक्ष का, ग़ालिब दयालु ॥

फिर पुष्ट किया उसको, और फूंका बीच[2] [उसके] रूह अपनी से ॥ कह, कब्ज करेगा तुमको फ़रिश्ता मौत का, वह जो नियत किया गया है साथ तुम्हारे ॥

और जो चाहते हम अवश्य देते हम हर एक जीव को शिक्षा[3] उसकी, परन्तु सिद्ध हुई बात मेरी ओर से कि अवश्य भरूंगा [मैं[4]] दोज़ख को, जिनों और आदमियों से इकट्ठे ॥ मं० ५ । सि० २१ । सू० ३२ । आ० ५, ६, ६, ११, १३ ॥

समीक्षक—अब ठीक सिद्ध हो गया कि मुसलमानों का ख़ुदा मनुष्यवत् एकदेशी है । क्योंकि जो व्यापक होता, तो एक देश से प्रबन्ध करना और उतरना-चढ़ना नहीं हो सकता ।

यदि ख़ुदा फ़रिश्ते को भेजता है, तो भी आप एकदेशी हो गया । आप आसमान पर टंगा बैठा है, और फ़रिश्तों को दौड़ाता है । यदि फ़रिश्ते रिश्वत लेकर कोई मामला बिगाड़ दें, वा किसी मुर्दे को छोड़ जायें, तो ख़ुदा को क्या मालूम हो सकता है ।

मालूम तो उसको हो कि जो सर्वज्ञ तथा सर्वव्यापक हो, सो तो है ही नहीं । होता तो फ़रिश्तों के भेजने, तथा कई लोगों की कई प्रकार से परीक्षा लेने का क्या काम था ? और एक हज़ार वर्षों में, तथा आने-जाने, प्रबन्ध करने से सर्वशक्तिमान् भी नहीं ।

यदि मौत का फ़रिश्ता है, तो उस फ़रिश्ते का मारनेवाला कौन-सा मृत्यु है ? यदि वह नित्य है, तो अमरपन में ख़ुदा के बराबर शरीक हुआ । एक फ़रिश्ता एक समय में दोज़ख [को] भरने के लिये जीवों को शिक्षा नहीं कर सकता ।

और उनको विना पाप किये अपनी मर्ज़ी से दोज़ख भरके उनको दुःख देकर तमाशा देखता है, तो वह ख़ुदा पापी, अन्यायकारी

१. सं० २ में 'यह' पाठ है । २. सं० २ में 'बीज' अपपाठ है ।
३. अर्थात् मार्गदर्शन । ४. सं० २ में 'जो' अपपाठ है ।

श्रोर दयाहीन है। ऐसी बातें जिस पुस्तक में हों, न वह विद्वान् और [न] ईश्वरकृत। श्रौर जो दया-न्याय-हीन है, वह ईश्वर भी कभी नहीं हो सकता ॥१२७॥

१२८—कह, कि कभी न लाभ देगा भागना तुमको, जो भागो तुम मृत्यु वा क़तल से॥

ऐ बीवियो नबी की! जो कोई श्रावे तुममें से निर्लज्जता प्रत्यक्ष के, दुगुणा किया जावेगा वास्ते उसके अज़ाब, श्रौर है यह ऊपर श्रल्लाह के सहल॥ मं० ५। सि० २१। सू० ३३। श्रा० १६, ३०॥

समीक्षक—यह मुहम्मद साहब ने इसलिये लिखा-लिखवाया होगा कि लड़ाई में कोई न भागे, हमारा विजय होवे, मरने से भी न डरे, ऐश्वर्य बढ़े, मज़हब बढ़ा लेवें।

और यदि बीवी निर्लज्जता से न श्रावे, तो क्या पैग़म्बर साहब निर्लज्ज होकर आवें? बीवियों पर अज़ाब हो, श्रौर पैग़म्बर साहब पर अज़ाब न होवे, यह किस घर का न्याय है? ॥१२८॥

१२९—श्रौर श्रटकी रहो बीच घरों अपने के, श्राज्ञा पालन करो श्रल्लाह श्रौर रसूल की, सिवाय इसके नहीं॥

बस जब श्रदा करली ज़ैद ने हाजित[1] उससे, ब्याह दिया हमने तुझसे उसको, ताकि न होवे ऊपर ईमानवालों के तंगी बीच बीवियों[2] लेपालकों उनके के, जब श्रदा करलें उनसे हाजित। और है श्राज्ञा खुदा की की गई[3]॥

नहीं है ऊपर नबी के कुछ तङ्गी बीच उस वस्तु के॥ नहीं है मुहम्मद बाप किसी मर्द[4] का॥ और हलाल की स्त्री ईमानवाली, जो देवे विना मिहर[5] के जान श्रपनी वास्ते नबी के॥

---

१. पं० रामचन्द्र देहलवी के श्रनुवाद में 'हाजत' शब्द है।

२. सं० २ से ३३ तक 'बीबियों से' पाठ है। सं० ३४ में 'से' हटाया। यहां 'से' असम्बद्ध है। पं० रामचन्द्र देहलवी के श्रनुवाद में भी नहीं है।

३. इससे पूर्व श्ररब में श्रपने मुंह बोले बेटे की तलाक दी हुई पत्नी से विवाह कर लेने की प्रथा न थी। ४. सं० २ में 'मुर्दे' श्रपपाठ है।

५. मिहर=वह रक़म या माल, जो पति को विवाह के समय श्रपनी पत्नी को देना पड़ता है।

ढील देवे तू जिसको चाहे उनमें से, और जगह देवे तर्फ अपनी जिसको चाहे, नहीं पाप ऊपर तेरे ॥ ऐ लोगो ! जो ईमान लाये हो, मत प्रवेश करो घरों में पैग़म्बर के ॥ मं० ५ । सि० २२ । सू० ३३ । आ० ३३, ३७, ३८, ४०, ५०, ५१, ५३ ॥

समीक्षक--यह बड़े अन्याय की बात है कि स्त्री घर में कैद के समान रहे, और पुरुष खुल्ले रहें । क्या स्त्रियों का चित्त शुद्ध वायु, शुद्ध देश में भ्रमण करना, सृष्टि के अनेक पदार्थ देखना नहीं चाहता होगा ? इसी अपराध से मुसलमानों के लड़के विशेषकर सयलानी और विषयी होते हैं ।

अल्लाह और रसूल की एक अविरुद्ध आज्ञा है, वा भिन्न-भिन्न विरुद्ध ? यदि एक है, तो 'दोनों की आज्ञा पालन करो' कहना व्यर्थ है । और जो भिन्न-भिन्न विरुद्ध है, तो एक सच्ची और दूसरी झूंठी ।

एक खुदा दूसरा शैतान हो जायगा । और शरीक भी होगा । वाह क़ुरान का ख़ुदा और पैग़म्बर तथा क़ुरान को ! जिसको[1] दूसरे का मतलब नष्ट कर अपना मतलब सिद्ध करना इष्ट हो, ऐसी लीला अवश्य रचता है ।

इससे यह भी सिद्ध हुआ कि मुहम्मद साहब बड़े विषयी थे । यदि न होते, तो (लेपालक) बेटे की स्त्री को, जो पुत्र की स्त्री थी, अपनी स्त्री क्यों कर लेते ? और फिर ऐसी बातें करनेवाले का ख़ुदा भी पक्षपाती बना, और अन्याय को न्याय ठहराया । मनुष्यों में जो जङ्गली भी होगा, वह भी बेटे की स्त्री को छोड़ता है ।

और यह कितनी बड़ी अन्याय को बात है कि नबी को विषयासक्ति की लीला करने में कुछ भी अटकाव नहीं होना ! यदि नबी किसी का बाप न था, तो ज़ैद (लेपालक) बेटा किसका था, और क्यों लिखा ?

---

१. सं० १० या ११ में 'को' विभक्ति मुद्रण में छूट गई । ११ से १४ तक जिस दूसरे का' । सं० १६ में 'जिस' को 'जिसे' बनाया । ३३ तक यही पाठ रहा । सं० ३४ में 'जिस को' पुनः बनाया गया ।

यह उसी मतलब की बात है कि जिससे बेटे की स्त्री को भी घर में डालने से पैग़म्बर साहब न बचे, अन्य से क्योंकर बचे होंगे? ऐसी चतुराई से भी बुरी बात में निन्दा होना कभी नहीं छूट सकता।

क्या जो कोई पराई स्त्री भी नबी से प्रसन्न होकर निकाह करना चाहे, तो [वह] भी हलाल है? और यह महा अधर्म की बात है कि नबी [तो[1]] जिस स्त्री को चाहे छोड़ देवे, और मुहम्मद साहब की स्त्री लोग यदि पैग़म्बर अपराधी भी हों, तो कभी न छोड़ सकें?

जैसे पैग़म्बर के घरों में अन्य कोई व्यभिचार-दृष्टि से प्रवेश न करें, तो वैसे पैग़म्बर साहब भी किसी के घर में प्रवेश न करें। क्या नबी जिस-किसी के घर में चाहें निश्शङ्क प्रवेश करें, और माननीय भी रहें?

भला कौन ऐसा हृदय[2] का अन्धा है, कि जो इस क़ुरान को ईश्वरकृत और मुहम्मद साहब को पैग़म्बर, और क़ुरानोक्त ईश्वर को परमेश्वर मान सके? बड़े आश्चर्य की बात है कि ऐसे युक्ति-शून्य धर्मविरुद्ध बातों से युक्त इस मत को अर्बदेशनिवासी आदि मनुष्यों ने मान लिया!! ॥१२९॥

१३०—नहीं योग्य वास्ते तुम्हारे यह कि दुःख दो रसूल को, यह कि निकाह करो बीवियों उसकी को पीछे उसके कभी, निश्चय [ही] यह है समीप अल्लाह के बड़ा पाप॥ निश्चय जो लोग कि दुःख देते हैं अल्लाह को और रसूल उसके को, लानत की है उनको अल्लाह ने॥

और वे लोग कि दुःख देते हैं मुसलमानों को और मुसलमान औरतों को, विना इसके बुरा किया है उन्होंने, बस निश्चय उठाया उन्होंने बोहतान अर्थात् झूंठ और प्रत्यक्ष पाप॥

---

१. सं० २ से ८ तक 'तो' नहीं है। सं० ७ या ८ में बढ़ाया, और सं० ३५ तक विना कोष्ठक के छप रहा है।

२. अर्थात् जिसे हृदय=अन्तः करण की ज्ञानरूपी आंख नहीं है।

लानत मारे जहां पाये जावें[1] पकड़े जावें, क़तल किये जावें, खूब मारा जाना[2]॥ ऐ रब हमारे! दे उनको द्विगुणा अज़ाब से, और लानत से बड़ी लानत कर॥ मं० ५। सि० २२। सू० ३३। आ० ५३, ५७, ५८, ६१, ६८॥

समीक्षक वाह! क्या खुदा अपनी खुदाई को धर्म के साथ दिखला रहा है? जैसे रसूल को दुःख देने का निषेध करना तो ठीक है, परन्तु[3] दूसरे को दुःख देने में रसूल को भी रोकना योग्य था, सो क्यों न रोका? क्या किसी के दुःख देने से अल्लाह भी दुःखी हो जाता है? यदि ऐसा है, तो वह ईश्वर ही नहीं हो सकता।

क्या अल्लाह और रसूल को दुःख देने का निषेध करने से यह नहीं सिद्ध होता, कि अल्लाह और रसूल जिसको चाहें दुःख देवें? अन्य सबको दुःख देना चाहिये?

जैसा मुसलमानों और मुसलमानों की स्त्रियों को दुःख देना बुरा है, तो इनसे अन्य मनुष्यों को दुःख देना भी अवश्य बुरा है। जो ऐसा न माने, तो उसकी यह बात भी पक्षपात की है।

वाह ग़दर मचानेवाले खुदा और नबी! जैसे ये निर्दयी संसार में हैं, वैसे और बहुत थोड़े होंगे। जैसा यह कि 'अन्य लोग जहां पाये जावें मारे जावें पकड़े जावें,' लिखा है, वैसी ही मुसलमानों पर कोई आज्ञा देवे, तो मुसलमानों को यह बात बुरी लगेगी वा नहीं?

वाह क्या हिंसक पैग़म्बर आदि हैं? कि जो परमेश्वर से प्रार्थना करके अपने से दूसरों को दुगुण दुःख देने के लिये प्रार्थना करना लिखा है। यह भी पक्षपात, मतलब सिन्धुपन और महा अधर्म की बात है।

इसीसे अबतक भी मुसलमान लोगों में से बहुत से शठ लोग ऐसा ही कर्म करने में नहीं डरते। यह ठीक है कि शिक्षा के विना मनुष्य पशु के समान रहता है॥१३०॥

---

१. सं० २ में 'जहां पर दे आवे पकड़ने' अपपाठ है।

२. अर्थात् खूब मारे जावें।

३. पूर्व वाक्य में 'जैसे' होने से यहां 'वैसे' पाठ होना उचित है।

१३१—और अल्लाह वह पुरुष है कि भेजता है हवाओं को, बस उठाती हैं बादलों को। बस हांक लेते हैं तर्फ शहर मुर्दे की[1], बस जीवित किया हमने साथ उसके पृथिवी को, पीछे मृत्यु उसकी के। इसी प्रकार क़बरों में से निकालना है[2] ॥

जिसने उतारा बीच घर सदा रहने के दया अपनी से, नहीं लगती हमको बीच उसके मेहनत, और नहीं लगती बीच उसके मांदगी[3] ॥ मं० ५। सि० २२। सू० ३५। आ० ९, ३५ ॥

समीक्षक—वाह क्या फ़िलासफ़ी ख़ुदा की है? भेजता है वायु को, वह उठाता फिरता है बद्दलों को। और ख़ुदा उससे मुर्दों को जिलाता फिरता है। यह बात ईश्वर-सम्बन्धी कभी नहीं हो सकती, क्योंकि ईश्वर का काम निरन्तर एक-सा होता रहता है।

जो घर होंगे[4], वे विना बनावट के नहीं हो सकते। और जो बनावट का है, वह सदा नहीं रह सकता। जिसके शरीर है, वह परिश्रम के विना दुःखी होता। और शरीरवाला रोगी हुए विना कभी नहीं बचता।

जो एक स्त्री से समागम करता है, वह विना रोग के नहीं बचता, तो जो बहुत स्त्रियों[5] से विषयभोग करता है, उसकी क्या ही दुर्दशा होती होगी? इसलिये मुसलमानों का रहना बहिश्त में भी सुखदायक सदा नहीं हो सकता ॥१३१॥

१३२—क़सम है क़ुरान दृढ़[6] की ॥ निश्चय तू भेजे हुओं से है ॥ उस पर मार्ग सीधे के ॥ उतारा है ग़ालिब दयावान् ने ॥

मं० ५। सि० २३। सू० ३६। आ० २-५ ॥

---

१. अर्थात् निर्जीव भू भाग की ओर।

२. इस आयत का भाव यह है कि—जैसे 'अल्लाह से भेजी गई हवाएं बादल उठाकर निर्जीव भूभाग की ओर ले जाती हैं, उससे निर्जीव पृथिवी जीवित हो उठती है। इसी प्रकार कबरों में पड़े मुर्दे जीवित हो उठते हैं।

३. अर्थात् थकावट। ४. सं० २ में 'होगा' पाठ है।

५. यहां अभिप्राय बहिश्त में मिलनेवाली स्त्रियों से है।

६. अर्थात् हिकमतवाले।

समीक्षक—अब देखिये यह क़ुरान ख़ुदा का बनाया होता, तो वह इसकी सौगन्द क्यों खाता ? यदि नबी ख़ुदा का भेजा होता, तो (लेपालक) बेटे की स्त्री पर मोहित क्यों होता ?

यह कथनमात्र है कि क़ुरान के माननेवाले सीधे मार्ग पर हैं। क्योंकि सीधा मार्ग वही होता है, जिसमें सत्य मानना, सत्य बोलना, सत्य करना, पक्षपातरहित न्यायधर्म का आचरण करना आदि हैं। और इससे विपरीत का त्याग करना।

सो न क़ुरान में, न मुसलमानों में, और न इनके ख़ुदा में ऐसा स्वभाव है। यदि सब पर प्रबल पैग़म्बर मुहम्मद साहब होते, तो सबसे अधिक विद्यावान् और शुभगुणयुक्त क्यों न होते ? इसलिये जैसी कूंजड़ी अपने बेरों को खट्टा नहीं बतलाती, वैसी यह बात भी है ॥१३२॥

१३३—और फूंका जावेगा बीच सूर के[1], बस नागहां, वह क़बरों में से मालिक अपने की [ओर] दौड़ेंगे ॥ और गवाही देंगे पांव उनके साथ उस वस्तु के कमाते थे ॥

सिवाय इसके नहीं कि आज्ञा उसकी, जब चाहे उत्पन्न करना किसी वस्तु को[2], यह कि कहता वास्ते उसके कि—'हो जा', बस हो जाता है ॥ मं० ५ । सि० २३ । सू० ३६ । आ० ५१, ६५, ८२ ॥

समीक्षक—अब सुनिये ऊंटपटांग बातें। पग कभी गवाही दे सकते हैं ? ख़ुदा के सिवाय उस समय कौन था, जिसको आज्ञा दी ? किसने सुनी ? और कौन बन गया ? यदि न थी तो यह बात झूंठी, और जो थी तो वह बात, जो 'सिवाय ख़ुदा के कुछ चीज नहीं थी, और ख़ुदा ने सब कुछ बना दिया' वह झूंठी ॥१३३॥

१३४—फिराया जावेगा उसके ऊपर पियाला शराब शुद्ध का ॥ सपैद मजा देनेवाली वास्ते पीनेवालों के ॥ समीप उनके बैठी होंगी नीचे आंख रखनेवालियां, सुन्दर आंखोंवालियां ॥ मानो कि वे अण्डे हैं छिपाये हुए ॥ क्या बस हम नहीं मरेंगे ॥

---

१. अर्थात् बिगुल बजेगा । २. सं० २ में 'का' अपपाठ है ।

और अवश्य लूत निश्चय पैग़म्बरों से था ॥ जबकि मुक्ति दी हमने उसको और लोगों उसके को सबको ॥ परन्तु एक बुढ़िया[1] पीछे रहनेवालों में है ॥ फिर मारा हमने औरों को ॥ मं० ६ । सि० २३ । सू० ३७ । आ० ४५, ४६, ४८, ४९, ५८, १३३–१३६ ॥

समीक्षक–क्योंजी, यहां तो मुसलमान लोग शराब को बुरा बतलाते हैं, परन्तु इनके स्वर्ग में तो नदियां की नदियां बहती हैं ? इतना अच्छा है कि यहां तो किसी प्रकार मद्य पीना छुड़ाया, परन्तु यहां के बदले वहां उनके स्वर्ग में बड़ी खराबी है।

मारे स्त्रियों के वहां किसी का चित्त स्थिर नहीं रहता होगा ! और बड़े-बड़े रोग भी होते होंगे ! यदि शरीरवाले होंगे, तो अवश्य मरेंगे। और जो शरीरवाले न होंगे, तो भोगविलास ही न कर सकेंगे। फिर उनका[2] स्वर्ग में जाना व्यर्थ है।

यदि लूत को पैग़म्बर मानते हो, तो जो बाइबल में लिखा है कि 'उससे उसकी लड़कियों ने समागम करके दो लड़के पैदा किये[3], इस बात को भी मानते हो, वा नहीं ? जो मानते हो, तो ऐसे को पैग़म्बर मानना व्यर्थ है।

और जो ऐसे और ऐसे के सङ्गियों को ख़ुदा मुक्ति देता है, तो वह खुदा भी वैसा ही है। क्योंकि बुढ़िया की कहानी कहनेवाला और पक्षपात से दूसरों को मारने वाला खुदा कभीं नहीं हो सकता। ऐसा ख़ुदा मुसलमानों ही के घर में रह सकता है, अन्यत्र नहीं ॥१३४॥

१३५—बहिश्तें है सदा रहने की, खुले हुए हैं दर उनके वास्ते उनके ॥ तकिये किये हुए बीच उनके, मंगावेंगे बीच इसके मेवे और पीने की वस्तु ॥ और समीप होंगी उनके नीचे रखनेवालियां दृष्टि और दूसरों से समायु ॥

---

१. यह बुढ़िया हजरत 'लूत' की पत्नी थी; उसने अपने पति का साथ नहीं दिया था।

२. सं० २ में 'उनके' अपपाठ है।

३. द्र०—समु० १३, समीक्षांश सं० २३।

बस सिजदा किया फ़रिश्तों ने सब ने ।। [1]परन्तु शैतान ने न माना, अभिमान किया और था काफ़िरों से ।।

ऐ शैतान ! किस वस्तु ने रोका तुझको, यह कि सिजदा करे वास्ते उस वस्तु के कि बनाया मैंने साथ दोनों हाथ अपने के, क्या अभिमान किया तूने, वा था बड़े अधिकारवालों[2] से ? ।।

कहा, कि मैं अच्छा हूं उस वस्तु से, उत्पन्न किया तूने मुझको आग से, उसको मट्टी से ।। कहा, बस निकल इन आसमानों में से, बस निश्चय तू चलाया गया है ।। निश्चय ऊपर तेरे लानत है मेरी दिन जज़ा तक ।।

कहा,ऐ मालिक मेरे ! ढील दे उस दिन तक कि उठाये जावेंगे, मुर्दे ।। कहा, कि बस निश्चय तू ढील दिये गयों से है ।। उस दिन समय ज्ञात तक ।। कहा, कि बस क़सम है प्रतिष्ठा तेरी [की][3], कि अवश्य गुमराह करूंगा उनको मैं इकट्ठे ।। मं० ६ । सि० २३ । सू० ३८ । आ० ५०-५२, ७३-८२ ।।

समीक्षक—यदि वहां जैसे कि क़ुरान में बाग-बगीचे-नहरें-मकानादि लिखे हैं, वैसे है तो वे न सदा से थे, न सदा रह सकते हैं। क्योंकि जो संयोग से पदार्थ होता है,वह संयोग के पूर्व न था। अवश्यभावी वियोग के अन्त में न रहेगा। जब वह बहिश्त ही न रहेगा, तो उसमें रहनेवाले सदा क्योंकर रह सकते हैं? क्योंकि लिखा है कि 'गादी तकिये मेवे और पीने के पदार्थ वहां मिलेंगे'।

इससे यह सिद्ध होता है कि जिस समय मुसलमानों का मज़हब चला, उस समय अर्ब देश विशेष धनाढ्य न था। इसीलिये मुहम्मद साहब ने तकिये आदि की कथा सुनाकर गरीबों को अपने मत में फसा लिया।

---

१. यही उल्लेख पहले भी आया है। द्र०—समीक्ष्यांश संख्या ७१।

२. अर्थात् तू सिर उठाने वालों=विरोध करनेवालों में से है।

३. सं० २ स २३ तक 'तेरी कि' पाठ है। स० ३४ में 'कि' को 'की' बनाकर अल्पविराम दिया। वस्तुतः 'तेरी' के पश्चात् 'की' पाठ भी होना चाहिये। द्र० —पं० रामचन्द्र देहलवी का अनुवाद।

और जहां स्त्रियां हैं, वहां निरन्तर सुख कहां ? वे स्त्रियां वहां कहां से आई हैं ? अथवा बहिश्त की रहनेवाली हैं ? यदि आई हैं तो जावेंगी । और जो वहीं की रहनेवाली हैं, तो क़यामत के पूर्व क्या करती थीं ? क्या निकम्मी अपनी उमर को वहा रही थीं ?

अब देखिये ख़ुदा का तेज कि जिसका हुक्म अन्य सब फ़रिश्तों ने माना, और आदम साहब को नमस्कार किया, और शैतान ने न माना । ख़ुदा ने शैतान से पूंछा, [और] कहा कि मैंने उसको अपने दोनों हाथों से बनाया, तू अभिमान मत कर ।

इससे सिद्ध होता कि क़ुरान का ख़ुदा दो हाथवाला मनुष्य था । इसलिये वह व्यापक वा सर्वशक्तिमान् कभी नहीं हो सकता । और शैतान ने सत्य कहा कि मैं आदम से उत्तम हूं । इस पर ख़ुदा ने गुस्सा क्यों किया ?

क्या आसमान ही में ख़ुदा का घर है, पृथिवी में नही ? तो काबे को ख़ुदा का घर प्रथम क्यों लिखा ? भला परमेश्वर अपने में से वा सृष्टि में से अलग कैसे निकाल सकता है ? और वह सृष्टि सब परमेश्वर की है । इससे विदित हुआ कि क़ुरान का ख़ुदा बहिश्त का ज़िम्मेदार था ।

ख़ुदा ने उसको लानत-धिक्कार दिया, और क़ैद कर लिया । और शैतान ने कहा कि हे मालिक ! मुझको क़यामत तक छोड़ दे । ख़ुदा ने ख़ुशामद से क़यामत के दिन तक छोड़ दिया ।

जब शैतान छूटा तो ख़ुदा से कहता है कि अब मैं खूब बहकाऊंगा और ग़दर मचाऊंगा । तब ख़ुदा ने कहा कि जितने को तू बहकावेगा, मैं उनको दोज़ख में डाल दूंगा, और तुझको भी ।

अब सज्जन लोगो ! विचारिये कि शैतान को बहकानेवाला ख़ुदा है, वा आपसे वह बहका ? यदि ख़ुदा ने बहकाया, तो वह शैतान-का-शैतान ठहरा । यदि शैतान स्वय बहका, तो अन्य जीव भी स्वयं बहकेंगे, शैतान की जरूरत नहीं ।

और जिससे इस शैतान बाग़ी को ख़ुदा ने खुला छोड़ दिया,

इससे विदित हुआ कि वह भी शैतान का शरीक़ अधर्म कराने में हुआ। यदि स्वयं चोरी कराके दण्ड देवे, तो उसके अन्याय का कुछ भी पारावार नहीं ॥१३५॥

१३६—अल्लाह क्षमा करता है पाप सारे, निश्चय वह है क्षमा करनेवाला दयालु ॥ और पृथिवी सारी मूठी में है उसकी दिन क़यामत के, और आसमान लपेटे हुए हैं बीच दाहिने हाथ उसके के ॥

और चमक जावेगी पृथिवी साथ प्रकाश मालिक अपने के, और रक्खे जावेंगे कर्मपत्र और लाया जावेगा पैग़म्बरों को और गवाहों को, और फ़ैसला किया जावेगा ॥ मं० ६। सि० २४। सू० ३९। आ० ५३, ६७, ६९ ॥

समीक्षक—यदि समग्र पापों को ख़ुदा क्षमा करता है, तो जानो सब संसार को पापी बनाता है और दयाहीन है। क्योंकि एक दुष्ट पर दया और क्षमा करने से वह अधिक दुष्टता करेगा, और अन्य बहुत धर्मात्माओं को दुःख पहुंचावेगा। यदि किञ्चित् भी अपराध क्षमा किया जावे, तो अपराध-ही-अपराध जगत् में छा जावे।

क्या परमेश्वर अग्निवत् प्रकाशवाला है? और कर्मपत्र कहां जमा रहते हैं, और कौन लिखता है? यदि पैग़म्बरों और गवाहों के भरोसे ख़ुदा न्याय करता है, तो वह असर्वज्ञ और असमर्थ है।

यदि वह अन्याय नहीं करता, न्याय ही करता है, तो कर्मों के अनुसार करता होगा। वे कर्म पूर्वापर वर्त्तमान जन्मों के हो सकते हैं। तो फिर क्षमा करना, दिलों पर ताला[1] लगाना, और शिक्षा न करना[2], शैतान से बहकवाना[3], दौड़ा सुपुर्द रखना[4] केवल अन्याय है ॥१३६॥

१३७—उतारना किताब का अल्लाह ग़ालिब जाननेवाले की

---

१. द्र०—समीक्ष्यांश संख्या १०३, मोहर लगाना।

२. द्र०—समीक्ष्यांश संख्या ९१। यहां मुसलमानों के लिये ही शिक्षा देनेवाला कहा गया है।

३. इस का निर्देश बहुत स्थानों पर है।

४. अर्थात् क़यामत तक मरे हुओं को कर्मफल न देना।

ओर से है ॥ क्षमा करनेवाला पापों का, और स्वीकार करनेवाला तोबाः का ॥ मं० ६ । सि० २४ । सू० ४० । आ० २,३ ॥

समीक्षक—यह बात इसलिये है कि भोले लोग अल्लाह के नाम से इस पुस्तक को मान लेवें, कि जिसमें थोड़ा-सा सत्य छोड़ असत्य भरा है। और वह सत्य भी असत्य के साथ मिलकर बिगड़ा-सा है।

इसीलिये क़ुरान और क़ुरान का ख़ुदा और इसको माननेवाले पाप बढ़ानेहारे और पाप करने-करानेवाले हैं। क्योंकि पाप का क्षमा करना अत्यन्त अधर्म है। किन्तु इसी से मुसलमान लोग पाप और उपद्रव करने में कम डरते हैं ॥१३७॥

१३८—बस नियत किया[1] उसने[2] सात आसमान बीच दो दिन के, और डाल दिया बीच हमने उसके काम उसका ॥ यहां तक कि जब जावेंगे उसके पास, साक्षी देंगे ऊपर उनके, कान उनके और आंखें उनकी और चमड़े उनके, उनके कर्म से ॥

और कहेंगे वास्ते चमड़े अपने के—क्यों साक्षी दी तूने ऊपर हमारे ? कहेंगे कि—बुलाया है हमको अल्लाह ने, जिसने बुलाया हर वस्तु को ॥ अवश्य जिलाने वाला है मुर्दों को ॥ मं० ६ । सि० २४ । सू० ४१ । आ० १२, २ , २१, ३९ ॥

समीक्षक—वाह जी वाह मुसलमानो ! तुम्हारा ख़ुदा, जिसको तुम सर्वशक्तिमान् मानते हो, वह सात आसमानों को दो दिन में बना सका। और[3] जो सर्वशक्तिमान् है, वह क्षणमात्र में सबको बना सकता है।

भला कान आंख और चमड़े को ईश्वर ने जड़ बनाया है, वे

---

१. अर्थात् पूरा कर दिया। २. सं० २ में 'उसको साथ' अपपाठ है।

३. सं० ३ में 'और' के स्थान में 'वस्तुत:' पाठ बनाया। यही सं० ३३ तक छपता रहा। यह परिवर्तन चिन्त्य है। क्योंकि वैदिक ईश्वर सर्वशक्तिमान् होते हुए भी क्षणमात्र में सृष्टि नहीं बनाता। सृष्टि की क्रमशः रचना में करोड़ों वर्ष लगते हैं। वस्तुतः यह वाक्य क़ुरान के सर्वशक्तिमान् ख़ुदा की दृष्टि से लिखा गया है। अतः यहां 'और' पाठ ही संगत है।

साक्षी कैसे दे सकेंगे ? यदि साक्षी दिलावे, तो उसने प्रथम जड़ क्यों बनाये ? और अपना पूर्वापर[1] नियम विरुद्ध क्यों किया ?

एक इससे भी बढ़कर मिथ्या बात यह है कि जब जीवों पर साक्षी दी, तब वे जीव अपने-अपने चमड़े से पूछने लगे कि तूने हमारे पर साक्षी क्यों दी ? चमड़ा बोलेगा कि खुदा ने दिखाई, मैं क्या करूं ? भला यह बात कभी हो सकती है ? जैसे कोई कहे कि बन्ध्या के पुत्र का मुख मैंने देखा। यदि पुत्र है, तो बन्ध्या क्यों ? जो बन्ध्या है, तो उसके पुत्र ही होना असम्भव है। इसी प्रकार की यह भी मिथ्या बात है।

यदि वह मुर्दों को जिलाता है, तो प्रथम मारा ही क्यों ? क्या अब[2] भी मुर्दा [जीवित] हो सकता है वा नहीं ? यदि नहीं हो सकता है, तो मुर्दपन को बुरा क्यों समझता है ?

और क़यामत की रात तक मृतक जीव किस मुसलमान के घर में रहेंगे ? और दौड़ासुपुर्द खुदा ने विना अपराध क्यों रक्खा ? शीघ्र न्याय क्यों न किया ? ऐसी-ऐसी बातों से ईश्वरता में बट्टा लगता है ॥१३८॥

१३९—वास्ते उसके कुंजियां हैं आसमानों की और पृथिवी की, खोलता है भोजन जिसके वास्ते चाहता है, और तंग करता है॥ उत्पन्न करता है जो कुछ चाहता है, और देता है जिसको चाहे बेटियां, और देता है जिसको चाहे बेटे॥

वा मिला देता है उनको बेटे और बेटियां, और कर देता है जिसको चाहे बांझ॥ और नहीं है शक्ति किसी आदमी को कि बात करे उससे अल्लाह, परन्तु जी में डालने कर, वा पीछे परदे[3] के से,

---

१. सं० ३४ में इसके आगे 'काम' पद बढ़ाया है।

२. सं० ३ में 'आप' बनाया, यही पाठ आगे भी छप रहा है।

३. इस आयत के भाष्य 'तफ़सीर हुसैनी' में लिखा है कि—मुहम्मद साहब दो पर्दों में थे। और ख़ुदा की आवाज सुनी। एक पर्दा ज़री का था, दूसरा श्वेत मोतियों का। और दोनों परदों के बीच में सत्तर वर्ष चलने योग्य मार्ग था।' (इसकी समीक्षा अगले पृष्ठ पर देखिये)

वा भेजे फ़रिश्ते पैग़ाम लानेवाला ।। मं० ६ । सि० २५ । सू० ४२ । आ० १२, ४९-५१ ।।

समीक्षक—ख़ुदा के पास कुंजियों का भण्डार भरा होगा। क्योंकि सब ठिकाने के ताले खोलने होते होंगे ! यह लड़कपन की बात है। क्या जिसको चाहता है, उसको विना पुण्य कर्म के ऐश्वर्य देता है ? और [विना पाप के] तंग करता है ? यदि ऐसा है, तो वह बड़ा अन्यायकारी है।

अब देखिये क़ुरान बनानेवाले की चतुराई कि जिससे स्त्रीजन भी मोहित होके फसें। यदि जो कुछ चाहता है उत्पन्न करता है, तो दूसरे ख़ुदा को भी उत्पन्न कर सकता है वा नहीं ? यदि नहीं कर सकता, तो सर्वशक्तिमत्ता यहां पर अटक गई।

भला मनुष्यों को तो जिसको चाहे बेटे बेटियां ख़ुदा देता है, परन्तु मुरगे मच्छी सूअर आदि, जिनके बहुत बेटा-बेटियां होती हैं, कौन देता है ? और स्त्री-पुरुष के समागम विना क्यों नहीं देता ? किसी को अपनी इच्छा से बांझ रखके दुःख क्यों देता है ?

वाह ! क्या ख़ुदा तेजस्वी है कि उसके सामने कोई बात ही नहीं कर सकता ? परन्तु उसने पहिले कहा है कि परदा डालके बात कर सकता है, वा फ़रिश्ते लोग ख़ुदा से बात करते हैं, अथवा पैग़म्बर। जो ऐसी बात है, तो फ़रिश्ते और पैग़म्बर खूब अपना मतलब [सिद्ध] करते होंगे ?

यदि कोई कहे ख़ुदा सर्वज्ञ सर्वव्यापक है,'तो परदे से बात करना अथवा डाक के तुल्य खबर मंगाके जानना' लिखना व्यर्थ है। और जो ऐसा है तो वह ख़ुदा ही नहीं। किन्तु कोई चालाक मनुष्य होगा। इसलिये यह क़ुरान ईश्वरकृत कभी नहीं हो सकता ।।१३९।।

बुद्धिमान् लोग इस बात को विचारें कि यह ख़ुदा है वा परदे की ओट बात करनेवाली स्त्री ? इन लोगों ने तो ईश्वर ही की दुर्दशा कर डाली। कहां वेद तथा उपनिषदादि सद्ग्रन्थों में प्रतिपादित शुद्ध परमात्मा, और कहां क़ुरानोक्त परदे की ओट से बात करनेवाला ख़ुदा ? सच तो यह है कि अरब के अविद्वान् लोग थे। उत्तम बात लाते किसके घर से ? (सं० २ की टिप्पणी)।

१४०—और जब आया ईसा साथ प्रमाण प्रत्यक्ष के ॥

मं ६ । सि० २५ । सू० ४३ । आ० ६३ ॥

समीक्षक—यदि ईसा भी भेजा हुआ ख़ुदा का है, तो उसके उपदेश से विरुद्ध क़ुरान ख़ुदा ने क्यों बनाया ? और क़ुरान से विरुद्ध इञ्जील[1] है । इसीलिये ये किताबें ईश्वरकृत नहीं हैं ॥१४०॥

१४१—पकड़ो उसको बस घसीटो उसको बीचों-बीच दोज़ख के ॥ इसी प्रकार रहेंगे और ब्याह देंगे उनको साथ गोरियों अच्छी आंखवालियों के ॥ मं० ६ । सि० २५ । सू० ४४ । आ० ४७, ५४ ॥

समीक्षक—वाह क्या ख़ुदा !! न्यायकारी होकर प्राणियों को पकड़ाता और घसीटवाता है ? जब मुसलमानों का ख़ुदा ही ऐसा है, तो उसके उपासक मुसलमान अनाथ निर्बलों को पकड़े-घसीटें, तो इसमें क्या आश्चर्य है ? और वह संसारी मनुष्यों के समान विवाह भी कराता है ? जानो कि मुसलमानों का पुरोहित ही है ॥१४१॥

१४२—बस जब तुम मिलो उन लोगों से कि क़ाफिर हुए, बस मारो गर्दन उनकी, यहां तक कि जब चूर कर दो उनको, बस दृढ़ करो क़ैद करना ॥ और बहुत बस्तियां हैं कि वे बहुत कठिन थीं शक्ति में बस्ती तेरी से, जिसने[2] निकाल दिया तुझको, मारा हमने उसको, बस न कोई हुआ सहाय देनेवाला उनका ॥

तारीफ़ उस बहिश्त की कि प्रतिज्ञा किये गये हैं परहेज़गार, बीच उसके नहरें हैं बिन बिगड़े पानी की, और नहरें हैं दूध की कि नहीं बदला मज़ा उनका, और नहरें हैं शराब की मज़ा देनेवाली पीनेवालों को[3], [और नहरें हैं][4] शहद साफ किये गये की[5], और वास्ते

---

१. सं० २ में 'अञ्जील' पाठ है ।

२. समीक्षा इसी पाठ के अनुसार है । क़ुरान के अनुसार 'जिससे' ।

३. २ से ६ तक 'को' शुद्ध पाठ है । सं० ८ से ३५ तक 'के' अपपाठ है ।

४. कोष्ठान्तर्गत पाठ सं० २ से ३३ तक नहीं है । सं० ३४ में विना कोष्ठक के बढ़ाया है । पाठ आवश्यक है ।

५. सं० २ से ८ तक 'की' शुद्ध पाठ है । सं० ९ से ३३ तक 'कि' अपपाठ है ।

उनके बीच उसके मेवे हैं प्रत्येक प्रकार के[1], दान[2] मालिक उनके से ।। मं० ६ । सि० २६ । सू० ४७ । आ० ४, १३, १५ ।।

समीक्षक—इसीसे यह क़ुरान ख़ुदा और मुसलमान ग़दर मचाने, सबको दुःख देने, और अपना मतलब साधनेवाले दयाहीन हैं। जैसा यहां लिखा है वैसा ही दूसरा कोई दूसरे मत वाला मुसलमानों पर करे, तो मुसलमानों को वैसा ही दुःख, जैसा कि अन्य को देते हैं, हो वा नहीं ? और [ख़ुदा] बड़ा पक्षपाती है कि जिन्होंने मुहम्मद साहब को निकाल[3] दिया, उनको ख़ुदा ने मारा।

भला जिसमें शुद्ध पानी दूध मद्य और शहद की नहरें हैं, वह संसार से अधिक हो सकता है ? और दूध की नहरें कभी हो सकती हैं, क्योंकि वह थोड़े समय में बिगड़ जाता है। इसीलिये बुद्धिमान् लोग क़ुरान के मत को नहीं मानते ।।१४२।।

१४३—जबकि हिलाई जावेगी पृथिवी हिलाये जाने कर ।। और उड़ाए जावेंगे पहाड़ उड़ाये जाने कर ।। बस हो जावेंगे भुनगे टुकड़े-टुकड़े ।।

बस साहब दाहिनी ओर वाले, क्या हैं साहब दाहिनी ओर के ।। और बाईं ओरवाले, क्या हैं बाईं ओर के ।।

ऊपर पलङ्ग सोने के तारों से बुने हुए हैं ।। तकिये किये हुए हैं ऊपर उनके आमने-सामने ।। और फिरेंगे ऊपर उनके लड़के सदा रहनेवाले ।। साथ आबख़ोरों के और आफ़ताबों के, और प्यालों के शराब साफ से ।।

नहीं माथा दुखाये जावेंगे उससे, और न विरुद्ध बोलेंगे ।। और मेवे उस क़िस्म से कि पसन्द करें ।। और गोश्त जानवर पक्षियों के उस किस्म से कि पसन्द करें ।।

और वास्ते उनके औरतें है अच्छी आंखोंवाली ।। मानिन्द मोतियों छिपाये हुओं की ।। और [लगे हुए] बिछौने बड़े ।। निश्चय

---

१. सं० २ में 'से' पाठ है। २. अर्थात् क्षमा ईश्वर की ।
३. अर्थात जिन शत्रुओं ने मक्के से निकाल दिया ।

हमने उत्पन्न किया है औरतों को, एक प्रकार का उत्पन्न करना है[1] ।।

बस किया है हमने उनको कुमारी ।। सुहागवालियां बराबर अवस्थावालियां ।। बस भरनेवाले हो उससे पेटों को ।। बस कसम खाता हूं मैं साथ गिरने तारों के ।। मं० ७ । सि० २७ । सू० ५६ । आ० ४-६, ८, ९, १५– २३, ३४–३७, ५३, ७५ ।।

समीक्षक—अब देखिये, क़ुरान बनानेवाले की लीला को। भला पृथिवी तो हिलती[2] ही रहती है, उस समय भी हिलती रहेगी। इससे यह सिद्ध होता है कि क़ुरान बनानेवाला पृथिवी को स्थिर जानता था।

भला पहाड़ों को क्या पक्षीवत् उड़ा देगा ? यदि भुनगे हो जावेंगे, तो भी सूक्ष्म शरीरधारी रहेंगे, तो फिर उनका दूसरा जन्म क्यों नहीं ? वाहजी ! जो ख़ुदा शरीरधारी न होता, तो उसके दाहिनी ओर और बाईं ओर कैसे खड़े हो सकते ?

जब वहां पलङ्ग सोने के तारों से बुने हुए हैं, तो बढ़ई-सुनार भी वहां रहते होंगे ? और खटमल काटते होंगे, जो उनको रात्रि में सोने भी नहीं देते होंगे ? क्या वे तकिये लगाकर निकम्मे बहिश्त में बैठे ही रहते हैं, वा कुछ काम किया करते हैं ?

यदि बैठे ही रहते होंगे, तो उनको अन्न-पचन न होने से वे रोगी होकर शीघ्र मर भी जाते होंगे ? और जो काम किया करते होंगे, तो जैसे मेहनत-मजदूरी यहां करते हैं, वैसे ही वहां परिश्रम करके निर्वाह करते होंगे, फिर यहां से वहां बहिश्त में विशेष क्या है ? कुछ भी नहीं।

यदि वहां लड़के सदा रहते हैं, तो उनके मां-बाप भी रहते होंगे, और सासू-श्वसुर भी रहते होंगे ? तब तो बड़ा भारी शहर बसता होगा ? फिर मलमूत्रादि के बढ़ने से रोग भी बहुत-से होते होंगे ?

---

१. इस का भाव यह है कि हमने ऐसी औरतों को उत्पन्न किया है, जिन के शरीर का उठान विशेष प्रकार का है।

२. अर्थात् गति करती=घूमती रहती है।

क्योंकि जब मेवे खावेंगे, गिलासों में पानी पीवेंगे, और प्यालों से मद्य पीवेंगे, न उनका सिर दूखेगा, और न कोई विरुद्ध बोलेगा, यथेष्ट मेवा खावेंगे और जानवरों तथा पक्षियों के मांस भी खावेंगे, तो अनेक प्रकार के दुःख, पक्षी, जानवर वहां होंगे ?

हत्या होगी और हाड़ जहां-तहां बिखरे रहेंगे। और कसाइयों की दुकानें भी होंगी। वाह ! क्या कहना इनके बहिश्त की प्रशंसा ? कि वह अरब देश से भी बढ़कर दीखती है !!!

और जो मद्य-मांस पी-खाके उन्मत्त होते हैं, इसीलिये अच्छी-अच्छी स्त्रियां और लौंडे भी वहां अवश्य रहने चाहियें। नहीं तो ऐसे नशेबाजों के सिर में गर्मी चढ़के प्रमत्त हो जावें। अवश्य बहुत स्त्री-पुरुषों के बैठने-सोने के लिये बिछौने बड़े-बड़े चाहियें। जब ख़ुदा कुमारियों को बहिश्त में उत्पन्न करता है, तभी तो कुमारे लड़कों को भी उत्पन्न करता है।

भला कुमारियों का तो विवाह जो यहां से उम्मेदवार होकर गये है उनके साथ ख़ुदा ने लिखा, पर उन सदा रहनेवाले लड़कों का किन्हीं कुमारियों के साथ विवाह न लिखा। तो क्या वे भी उन्हीं उम्मेदवारों के साथ कुमारीवत् दे दिये जायेंगे ? इसकी व्यवस्था कुछ भी न लिखी। यह ख़ुदा में बड़ी भूल क्यों हुई ?

यदि बराबर अवस्थावाली सुहागिन स्त्रियां पतियों को पाके बहिश्त में रहती हैं, तो ठीक नहीं हुआ। क्योंकि स्त्रियों से पुरुष का आयु दूना ढाईगुना[1] चाहिये। यह तो मुसलमानों के बहिश्त की कथा है।

और नरकवाले सिहोड़ अर्थात् थोर के वृक्षों को खाके पेट भरेंगे, तो कण्टक वृक्ष भी दोज़ख में होंगे, तो कांटे भी लगते होंगे। और गर्म पानी पीयेंगे, इत्यादि दुःख दोज़ख में पावेंगे।

१. निश्चय ही यहां पाठ भ्रष्ट हुआ है। ग्रन्थकार ने इसी ग्रन्थ में (पृष्ठ ११८) तथा 'संस्कारविधि' में (पृष्ठ १३५, सं० ३) कन्या से वर की आयु ड्योढ़ी से दूनी तक ही लिखी है—१६ वर्ष की कन्या २५ वर्ष का वर,······२४ वर्ष की कन्या ४८ वर्ष का वर।

क़सम का खाना प्रायः झूंठे का काम है, सच्चों का नहीं। यदि ख़ुदा ही क़सम खाता है, तो वह भी झूंठ से अलग नहीं हो सकता ॥१४३॥

१४४—निश्चय अल्लाह मित्र रखता है उन लोगों को, कि लड़ते हैं बीच मार्ग उसके के॥ मं० ७। सि० २८। सू० ६१। आ० ४॥

समीक्षक—वाह! ठीक है ऐसी-ऐसी बातों का उपदेश करके बिचारे अरब देशवासियों को सबसे लड़ाके शत्रु बनाकर परस्पर दुःख दिलाया। और मज़हब का झण्डा खड़ा करके लड़ाई फैलावे[1]। ऐसे को कोई बुद्धिमान् ईश्वर कभी नहीं मान सकते। जो जाति में विरोध बढ़ावे, वही सबको दुःखदाता होता है॥ १४४॥

१४५—ऐ नबी! क्यों हराम करता है उस वस्तु को, कि हलाल किया है ख़ुदा ने तेरे लिए, चाहता है तू प्रसन्नता बीवियों अपनी की। और अल्लाह क्षमा करनेवाला दयालु है॥

जल्दी है मालिक उसका[2] जो वह तुमको छोड़ देवे तो, यह कि उसको तुमसे अच्छी मुसलमान और ईमानवालियां बीवियां बदल दे, सेवा करनेवालियां, तोबाः करनेवालियां, भक्ति करनेवालियां, रोज़ा रखनेवालियां, पुरुष देखी हुईं और बिन देखी हुईं॥

मं ७। सि० २८। सू० ६६। आ० १, ५॥

समीक्षक—ध्यान देकर देखना चाहिये कि ख़ुदा क्या हुआ, मुहम्मद साहब के घर का भीतरी और बाहरी प्रबन्ध करनेवाला भृत्य ठहरा!!

प्रथम आयत पर दो कहानियां हैं—

एक तो यह कि—मुहम्मद साहब को शहद का शर्बत प्रिय था। उनकी कई बीवियां थीं। उनमें से एक के घर पीने में देर लगी, तो दूसरियों को असह्य प्रतीत हुआ। उनके कहने-सुनने के पीछे मुहम्मद साहब सौगन्द खा गये कि हम न पीवेंगे।

१. 'फैलाई' चाहिये। २. अर्थात् उसके ख़ुदा को क्या देर लगेगी?

दूसरी यह कि—उनकी कई बीवियों में से एक की बारी थी। उसके यहां रात्रि को गये, तो वह न थी। अपने बाप के यहां गई थी। मुहम्मद साहब ने एक लौंडी अर्थात् दासी को बुलाकर पवित्र किया।

जब बीवी को इसकी ख़बर मिली, तो अप्रसन्न हो गई। तब मुहम्मद साहब ने सौगन्द खाई कि मैं ऐसा न करूंगा। और बीवी से भी कह दिया कि तुम किसी से यह बात मत कहना। बीवी ने स्वीकार किया कि न कहूंगी।

फिर उन्होंने दूसरी बीवी से जा कहा। इस पर यह आयत ख़ुदा ने उतारी—'जिस वस्तु को हमने तेरे पर हलाल किया, उसको तू हराम क्यों करता है ?'

बुद्धिमान् लोग विचारें कि भला कहीं ख़ुदा भी किसी के घर का निमटेरा करता फिरता है ? और मुहम्मद साहब के तो आचरण इन बातों से प्रगट ही हैं। क्योंकि जो अनेक स्त्रियों को रक्खे, वह ईश्वर का भक्त वा पैग़म्बर कैसे हो सके ?

और जो एक स्त्री का पक्षपात से अपमान करे, और दूसरी का मान्य करे, वह पक्षपाती होकर अधर्मी क्यों नहीं ? और जो बहुत-सी स्त्रियों से भी सन्तुष्ट न होकर बांदियों के साथ फसे, उसको लज्जा, भय और धर्म कहां से रहे ? किसी ने कहा है कि—'**कामातुराणां न भयं न लज्जा**'। जो कामी मनुष्य हैं, उनको अधर्म से भय वा लज्जा नहीं होती।

और इनका ख़ुदा भी मुहम्मद साहब की स्त्रियों और पैग़म्बर के झगड़ का फैसला करने में जानो सरपञ्च बना है। अब बुद्धिमान् लोग विचार लें कि यह क़ुरान विद्वान् वा ईश्वरकृत है, वा किसी अविद्वान् मतलबसिन्धु का बनाया ? स्पष्ट विदित हो जायेगा।

और दूसरी आयत से प्रतीत होता है कि मुहम्मद साहब से उनकी कोई बीबी अप्रसन्न हो गई होगी। उस पर ख़ुदा ने यह आयत उतारकर उसको धमकाया होगा, कि यदि तू गड़बड़ करेगी,

और मुहम्मद साहब तुझे छोड़ देंगे, तो उनको उनका ख़ुदा तुझसे अच्छी बीवियां देगा कि जो पुरुष से न मिली हों।

जिस मनुष्य को तनिक-सी बुद्धि है, वह विचार ले सकता है कि ये ख़ुदा-बुदा के काम हैं, वा अपने प्रयोजन-सिद्धि के? ऐसी-ऐसी बातों से ठीक सिद्ध है कि ख़ुदा कोई नहीं कहता था, केवल देश-काल देखकर अपने प्रयोजन के सिद्ध होने के लिये ख़ुदा की तर्फ से मुहम्मद साहब कह देते थे।

जो लोग ख़ुदा ही की तर्फ लगाते हैं, उनको हम क्या सब बुद्धिमान् यही कहेंगे कि—ख़ुदा क्या ठहरा, मानो मुहम्मद साहब के लिये बीवियां लानेवाला नाई[1] ठहरा ॥१४५॥

१४६—ऐ नबी! झगड़ा कर काफ़िरों और गुप्त शत्रुओं से, और सख्ती कर ऊपर उनके ॥ मं० ७। सि० २८। सू० ६६। आ० ९॥

समीक्षक—देखिये मुसलमानों के ख़ुदा की लीला! अन्य मत वालों से लड़ने के लिये पैग़म्बर और मुसलमानों को उचकाता है। इसीलिये मुसलमान लोग उपद्रव करने में प्रवृत्त रहते हैं। परमात्मा मुसलमानों पर कृपादृष्टि करे, जिससे ये लोग उपद्रव करना छोड़के सबसे मित्रता से वर्तें ॥१४६॥

१४७—फट जावेगा आसमान, बस वह उस दिन सुस्त होगा॥ और फ़रिश्ते होंगे ऊपर किनारों उसके के, और उठावेंगे तख्त मालिक तेरे का ऊपर अपने, उस दिन आठ जन॥

उस दिन सामने लाये जाओगे तुम, न छिपी रहेगी कोई बात छिपी हुई॥ बस जो कोई दिया गया कर्मपत्र अपना बीच दाहिने हाथ अपने के, बस कहेगा—लो पढ़ो कर्मपत्र मेरा॥

और जो कोई दिया गया कर्मपत्र बीच बायें हाथ अपने के,

---

१. ५०-६० वर्ष पूर्व तक लड़के-लड़कियों का विवाह कराने में नाई प्रमुख भागीदार होते थे। नाइयों को स्वभावतः चतुर माना जाता था (नराणां नापितो धूर्तः)। अत एव विवाह-सम्बन्ध प्रायः नाई ही तय कर देते थे। उसी परिपाटी के अनुसार उक्त लेख है।

बस कहेगा—हाय न दिया गया होता मैं कर्मपत्र अपना ॥
मं० ७। सि० २९। सू० ६९। आ० १६-१९, २५॥

समीक्षक—वाह! क्या फ़िलासफ़ी और न्याय की बात है? भला आकाश भी कभी फट सकता है? क्या वह वस्त्र के समान है, जो फट जावे? यदि ऊपर के लोक को आसमान कहते हैं, तो यह बात विद्या से विरुद्ध है।

अब क़ुरान का ख़ुदा शरीरधारी होने में कुछ सन्दिग्ध न रहा। क्योंकि तख़्त पर बैठना, आठ कहारों से उठवाना, विना मूर्तिमान के कुछ भी नहीं हो सकता। और सामने वा पीछे भी आना-जाना मूर्त्तिमान् ही का हो सकता है।

जब वह मूर्त्तिमान् है, तो एकदेशी होने से सर्वज्ञ सर्वव्यापक सर्वशक्तिमान् नहीं हो सकता। और सब जीवों के सब कर्मों को कभी नहीं जान सकता।

यह बड़े आश्चर्य की बात है कि पुण्यात्माओं के दाहने हाथ में पत्र देना, बचवाना, बहिश्त में भेजना। और पापात्माओं के बांये हाथ में देना कर्मपत्र का, नरक में भेजना, कर्मपत्र बांचके न्याय करना। भला यह व्यवहार सर्वज्ञ का हो सकता है? कदापि नहीं। यह सब लीला लड़केपन की है॥१४७॥

१४८—चढ़ते[1] हैं फ़रिश्ते और रूह तर्फ उसकी, वह अज़ाब होगा बीच उस दिन के कि है परिमाण उसका पचास हज़ार वर्ष॥ जब निकलेंगें क़बरों में से दौड़ते हुए मानो कि वह बुतों के स्थानों की ओर दौड़ते हैं॥ मं० ७। सि० २९। सू० ७०। आ० ४, ४३॥

समीक्षक—यदि पचास हज़ार वर्ष दिन का परिमाण है, तो पचास हज़ार वर्ष की रात्रि क्यों नहीं? यदि उतनी बड़ी रात्रि नहीं है, तो उतना बड़ा दिन कभी नहीं हो सकता। क्या पचास हज़ार वर्षों तक ख़ुदा फ़रिश्ते और कर्मपत्रवाले खड़े वा बैठे वा जागते ही रहेंगे? यदि ऐसा है, तो सब रोगी होकर पुनः मर ही जायेंगे।

---

१. सं० ३२-३३ में 'कहते' अपपाठ छपा है।

क्या क़बरों से निकलकर ख़ुदा की कचहरी की ओर दौड़ेंगे ? उनके पास सम्मन क़बरों में क्योंकर पहुंचेंगे ? और उन बिचारों को, जो कि पुण्यात्मा वा पापात्मा हैं, इतने समय तक सभी को क़बरों में दौरेसुपुर्द क़ैद क्यों रक्खा ?

और आजकाल ख़ुदा की कचहरी बन्ध होगी, और ख़ुदा तथा फ़रिश्ते निकम्मे बैठे होंगे ? अथवा क्या काम करते होंगे ? अपने-अपने स्थानों में बैठे इधर-उधर घूमते, सोते, नाच-तमाशा देखते वा ऐश-आराम करते होंगे।

ऐसा अन्धेर किसी के राज्य में न होगा। ऐसी-ऐसी बातों को सिवाय जङ्गलियों के दूसरा कौन मानेगा ? ॥१४८॥

१४९—निश्चय उत्पन्न किया तुमको कई प्रकार से ॥ क्या नहीं देखा तुमने कैसे उत्पन्न किया अल्लाह ने सात आसमानों को ऊपर तले ॥ और किया चांद को बीच उनके[1] प्रकाशक और किया सूर्य को दीपक ॥ मं० ७। सि० २९। सू० ७१। आ० १४-१६ ॥

समीक्षक—यदि जीवों को ख़ुदा ने उत्पन्न किया है, तो वे नित्य अमर कभी नहीं रह सकते। फिर बहिश्त में सदा क्योंकर रह सकेंगे ? जो उत्पन्न होता है, वह वस्तु अवश्य नष्ट हो जाता है।

आसमान को ऊपर-तले कैसे बना सकता है ? क्योंकि वह निराकार और विभु पदार्थ है। यदि दूसरी चीज का नाम आकाश रखते हो, तो भी उसका आकाश नाम रखना व्यर्थ है।

यदि ऊपर-तले आसमानों को बनाया है, तो उन सबके बीच में चांद सूर्य्य कभी नहीं रह सकते। जो बीच में रक्खा जाय, तो एक ऊपर और एक नीचे का पदार्थ प्रकाशित [होता] है।[2] दूसरे से लेकर सबमें अन्धकार रहना चाहिये। ऐसा नहीं दीखता, इसलिये यह बात सर्वथा मिथ्या है ॥१४९॥

---

१. सं० २ में 'उसके' पाठ है। २. सं० २ से ३३ तक 'प्रकाशित है' पाठ है। सं० ३४ में 'है' को 'हो' बना दिया !

१५०—यह कि मस्जिदें वास्ते अल्लाह के हैं,बस मत पुकारो साथ अल्लाह के किसी को ।। मं० ७ । सि० २९ । सू० ७२ । आ० १८।।

समीक्षक—यदि यह बात सत्य है, तो मुसलमान लोग 'ला इलाह इल्लिला: मुहम्मदर्रसूलल्ला:' इस कलमे में ख़ुदा के साथ[1] मुहम्मद साहब को क्यों पुकारते हैं ? यह बात क़ुरान से विरुद्ध है । और जो विरुद्ध नहीं करते, तो इस क़ुरान की बात को झूंठ करते हैं ।

जब मस्जिदें ख़ुदा के घर हैं, तो मुसलमान महाबुत्परस्त हुए । क्योंकि जैसे पुरानी जैनी छोटी-सी मूर्त्ति को ईश्वर का घर मानने से बुत्परस्त ठहरते हैं, [वैसे] ये लोग क्यों नहीं ? ।।१५०।।

१५१—इकट्ठा किया जावेगा सूर्य्य और चांद ।।

मं० ७ । सि० २९ । सू० ७५ । आ० ९ ।।

समीक्षक—भला सूर्य्य-चांद कभी इकट्ठे हो सकते हैं ? देखिये यह कितनी बेसमझ की बात है । और सूर्य्य-चन्द्र ही के इकट्ठे करने में क्या प्रयोजन था ? अन्य सब लोकों को इकट्ठे न करने में क्या युक्ति है ? ऐसी-ऐसी असम्भव बातें परमेश्वरकृत कभी हो सकती हैं ? विना अविद्वानों के अन्य किसी विद्वान् की भी नहीं होतीं ।।११५।।

१५२—और फिरेंगे ऊपर उनके लड़के सदा रहनेवाले, जब देखेगा तू उनको, अनुमान करेगा तू उनको मोती बिखरे हुए ।। और पहनाये जावेंगे कंगन चांदी के, और पिलावेगा उनको रब उनका शराब पवित्र ।। मं० ७ । सि० २९ । सू० ७६ । आ० १९,२१ ।।

समीक्षक—क्योंजी ! मोती के वर्ण-से लड़के किसलिये वहां रक्खे जाते हैं ? क्या जवान लोग सेवा वा स्त्रीजन उनको तृप्त नहीं कर सकतीं[2] ? क्या आश्चर्य है कि जो यह महा बुरा कर्म लड़कों के साथ दुष्टजन करते हैं, उसका मूल यही क़ुरान का वचन हो ?

और बहिश्त में स्वामी-सेवकभाव होने से स्वामी को आनन्द और सेवक को परिश्रम होने से दुःख तथा पक्षपात क्यों है ? और

१. सं २ में 'साथी' पाठ है । स० ३४ में विना टिप्पणी के बदला ।

२. अर्थात् क्या जवान लोगों को स्त्रीजन अपनी सेवा द्वारा प्रसन्न नहीं कर सकतीं ?

जब ख़ुदा ही मद्य पिलावेगा, तो वह भी उनका सेवकवत् ठहरेगा। फिर ख़ुदा की बड़ाई क्योंकर रह सकेगी ?

और वहां बहिश्त में स्त्री-पुरुष का समागम और गर्भ स्थित और लड़के-बाले भी होते हैं, वा नहीं ? यदि नहीं होते, तो उनका विषयसेवन करना व्यर्थ हुआ। और जो होते हैं, तो वे जीव कहां से आये ?

और विना ख़ुदा की सेवा के बहिश्त में क्यों जन्मे ? यदि जन्मे तो उनको विना ईमान लाने और ख़ुदा की भक्ति करने से बहिश्त मुफ्त मिल गया। किन्हीं बिचारों को ईमान लाने और किन्हीं को विना धर्म के सुख मिल जाय, इससे दूसरा बड़ा अन्याय कौन-सा होगा ? ॥१५२॥

१५३—बदला दिये जावेंगे कर्मानुसार॥ और प्याले हैं भरे हुए हैं॥ जिस दिन खड़े होंगे रूह और फ़रिश्ते सफ बांधकर॥

मं० ७। सि० ३०। सू० ७८। आ० २६, ३४, ३८॥

समीक्षक—यदि कर्मानुसार फल दिया जाता, तो सदा बहिश्त में रहनेवाले हूरें, फ़रिश्ते और मोती के सदृश लड़कों को कौन कर्म के अनुसार सदा के लिये बहिश्त मिला ? जब प्याले भर-भर शराब पीयेंगे, तो मस्त होकर क्यों न लड़ेंगे ?

रूह नाम यहां एक फ़रिश्ते का है,[1] जो सब फ़रिश्तों से बड़ा है। क्या ख़ुदा रूह तथा अन्य फ़रिश्तों को पंक्तिबद्ध खड़े करके पलटन बांधेगा ? क्या पलटन से सब जीवों को सज़ा दिलावेगा ? और ख़ुदा उस समय खड़ा होगा वा बैठा ? यदि क़यामत तक ख़ुदा अपनी सब पलटन एकत्र करके शैतान को पकड़ ले, तो उसका राज्य निष्कण्टक हो जाय। इसका नाम ख़ुदाई है !! ॥१५३॥

१५४—जबकि सूर्य लपेटा जावे॥ और जब कि तारे गदले हो जावें॥ और जबकि पहाड़ चलाये जावें॥ और जब आसमान की खाल उतारी जावे॥ मं० ७। सि० ३०। सू० ८१। आ० १-३, ११॥

---

१. देखो समीक्ष्यांश १६१ की समीक्षा पर टिप्पणी।

समीक्षक—यह बड़ी बेसमझ की बात है कि—गोल सूर्यलोक लपेटा जावेगा ? और तारे गदले क्योंकर हो सकेंगे ? और पहाड़ जड़ होने से कैसे चलेंगे ? और आकाश को क्या पशु समझा कि उसकी खाल निकाली जावेगी ? यह बड़ी ही बेसमझ और जङ्गली-पन की बात है ॥१५४॥

१५५—और जबकि आसमान फट जावे ॥ और जब तारे झड़ जावें ॥ और जब दर्या चीरे जावें ॥ और जब क़बरें जिलाकर उठाई जावें ॥ मं० ७ । सि० ३० । सू० ८२ । आ० १-४ ॥

समीक्षक—वाहजी क़ुरान के बनानेवाले फ़िलासफ़र ! आकाश को क्योंकर फाड़ सकेगा ? और तारों को कैसे झाड़ सकेगा ? और दर्या क्या लकड़ी है, जो चीर डालेगा ? और क़बरें क्या मुर्दे हैं, जो जिला सकेगा ? ये सब बातें लड़कों के सदृश हैं ॥१५५॥

१५६—क़सम है आसमान बुर्जों वाले की ॥ किन्तु वह क़ुरान है बड़ा ॥ बीच लोह महफ़ूज़ (रक्षित) के ॥ मं० ७ । सि० ३० । सू० ८५ । आ० १, २१, २२ ॥

समीक्षक—इस क़ुरान के बनानेवाले ने भूगोल-खगोल कुछ भी नहीं पढ़ा था । नहीं तो आकाश को किले के समान बुर्जोंवाला क्यों कहता ? यदि मेषादि राशियों को बुर्ज कहता है, तो अन्य बुर्ज क्यों नहीं ? इसलिये यह बुर्ज नही हैं, किन्तु सब तारे लोक हैं ।

क्या वह क़ुरान ख़ुदा के पास है ? यदि यह क़ुरान उसका किया है, तो वह भी विद्या और युक्ति से विरुद्ध अविद्या से अधिक भरा होगा ॥१५६॥

१५७—निश्चय वे मकर करते हैं एक मकर ॥ और मैं भी मकर करता हूं एक मकर ॥ मं० ८ । सि० ३० । सू० ८६ । आ० १५, १६ ॥

समीक्षक—मकर कहते हैं ठगपन को । क्या ख़ुदा भी ठग है ? और क्या चोरी का जवाब चोरी और झूंठ का जवाब झूंठ है ? क्या कोई चोर भले आदमी के घर में चोरी करे, तो क्या भले आदमी

को चाहिये कि उसके घर में जाके चोरी करे ? वाह वाहजी !! क़ुरान के बनानेवाले।।१५७।।

१५८—और जब आवेगा मालिक तेरा, और फ़रिश्ते पंक्ति बांधके ।। और लाया जावेगा उस दिन दोज़ख़ को ।।

मं० ७ । सि० ३० । सू० ८९ । आ० २२, २३ ।।

समीक्षक—कहो जी, जैसे कोटवाल वा सेनाध्यक्ष अपनी सेना को लेकर पंक्ति बांध फिरा करे, वैसा ही इनका ख़ुदा है ? क्या दोज़ख़ को घड़ा-सा समझा है, कि जिसको उठाके जहां चाहे वहां ले जावे ? यदि इतना छोटा है, तो असंख्य क़ैदी उसमें कैसे समा सकेंगे ? ।।१५८।।

१५९—बस कहा था वास्ते उनके पैग़म्बर ख़ुदा के ने, रक्षा करो ऊंटनी ख़ुदा की को, और पानी पिलाना उसके को ।। बस झुठलाया उसको, बस पांव काटे उसके, बस मरी डाली ऊपर उनके, रब उनके ने ।। मं० ७ । सि० ३० । सू० ९१ । आ० १३, १४ ।।

समीक्षक—क्या ख़ुदा भी ऊंटनी पर चढ़के सैल किया करता है ? नहीं तो किसलिये रक्खी ? और विना क़यामत के अपना नियम तोड़ उन पर मरी रोग क्यों डाला ? यदि डाला तो उनको दण्ड किया। फिर क़यामत की रात में न्याय, और उस रात का होना झूंठ समझा जायेगा ।

इस ऊंटनी के लेख से यह अनुमान होता है कि अरब देश में ऊंट-ऊंटनी के सिवाय दूसरी सवारी कम होती हैं। इससे सिद्ध होता है कि किसी अरबदेशी ने क़ुरान बनाया है ।।१५९।।

१६०—यों जो न रुकेगा, अवश्य घसीटेंगे [उसको][1] हम साथवालों माथे के ।। वह माथा कि झूंठा है और अपराधी ।। हम बुलावेंगे फ़रिश्ते दोज़ख़ के को ।। मं० ७ । सि० ३० । सू० ९६ । आ० १५, १६, १८ ।।

समीक्षक—इस नीच चपरासियों के काम घसीटने से भी ख़ुदा

---

१. सं ३४ में बिना कोष्ठक के बढ़ाया ।

न बचा ? भला माथा भी कभी झूंठा और अपराधी हो सकता है, सिवाय जीव के ? भला यह कभी ख़ुदा हो सकता है, कि जैसे जेलखाने के दरोगा को बुलावा भेजे ? ॥१६०॥

१६१—निश्चय उतारा हमने क़ुरान को बीच रात क़दर के ॥ और क्या जाने तू क्या है रात क़दर की ॥ उतरते हैं फ़रिश्ते और पवित्रात्मा बीच उसके, साथ आज्ञा मालिक अपने के, वास्ते हर काम के ॥ मं०७ । सि० ३० । सू०९७ । आ० १, २, ४ ॥

समीक्षक—यदि एक ही रात में क़ुरान उतारा, तो वह आयत अर्थात् 'उस समय में उतरी और धीरे-धीरे उतारा"[1] यह बात सत्य क्योंकर हो सकेगी ? और रात्रि अन्धेरी है, इसमें क्या पूंछना है ?

हम लिख आये हैं[2] ऊपर-नीचे कुछ भी नहीं हो सकता । और यहां लिखते हैं कि फ़रिश्ते और पवित्रात्मा ख़ुदा के हुक्म से संसार का प्रबन्ध करने के लिये आते हैं । इससे स्पष्ट हुआ कि ख़ुदा मनुष्यवत् एकदेशी है ।

अबतक देखा था कि ख़ुदा फ़रिश्ते और पैग़म्बर तीन की कथा है । अब एक पवित्रात्मा चौथा निकल पड़ा । अब न जाने यह चौथा पवित्रात्मा क्या हैं[3] ? यह तो ईसाइयों के मत अर्थात् पिता पुत्र और पवित्रात्मा तीन के मानने से चौथा भी बढ़ गया ।

यदि कहो कि हम इन तीनों को ख़ुदा नहीं मानते, ऐसा भी हो, परन्तु जब पवित्रात्मा पृथक् है, तो ख़ुदा फ़रिश्ते और पैग़म्बर को पवित्रात्मा कहना चाहिये वा नहीं ?

---

१. इस का भाव यह है कि क़ुरान के व्याख्याता कौन-सी आयत कब उतरी, इसका वणन करते हैं । उससे जाना जाता है कि क़ुरान एक साथ नहीं उतरा, समय समय पर उतरता रहा । यहां एक रात में क़ुरान उतारने का उल्लेख है ।

२. यहां पाठ कुछ खण्डित-सा प्रतीत होता है ।

३. मुहम्मद फारूफ खां ने हिन्दी-अनुवाद की टिप्पणी में रूह (= पवित्रात्मा) से हजरत जिब्रील का निर्देश करके स्वयं भी संशय व्यक्त किया है ।

यदि पवित्रात्मा हैं, तो एक ही का नाम पवित्रात्मा क्यों ? और घोड़े आदि जानवर[1], रात दिन और क़ुरान आदि की[2] ख़ुदा क़समें खाता है। क़समें खाना भले लोगों का काम नहीं ॥१६१॥

अब इस क़ुरान के विषय को लिखके बुद्धिमानों के सन्मुख स्थापित करता हूं कि यह पुस्तक कैसा है ? मुझसे पूछो तो यह किताब न ईश्वर न विद्वान् की बनाई, और न विद्या की हो सकती है।

यह तो बहुत थोड़ा-सा दोष प्रकट किया। इसलिये कि लोग धोखे में पड़कर अपना जन्म व्यर्थ न गमावें। जो कुछ इसमें थोड़ा-सा सत्य है, वह वेदादि विद्यापुस्तकों के अनुकूल होने से जैसे मुझको ग्राह्य है, वैसे अन्य भी मज़हब के हठ और पक्षपातरहित विद्वानों और बुद्धिमानों को ग्राह्य है।

इसके विना जो कुछ इसमें है, वह सब अविद्या भ्रमजाल[3] और मनुष्य के आत्मा को पशुवत् बनाकर शांति भङ्ग कराके उपद्रव मचा, मनुष्यों में विद्रोह फैला परस्पर दुःखोन्नति करनेवाला विषय है। और पुनरुक्त दोष का तो क़ुरान जानो भण्डार ही है।

परमात्मा सब मनुष्यों पर कृपा करे कि सबसे सब प्रीति, परस्पर मेल, और एक-दूसरे के सुख की उन्नति करने में प्रवृत्त हों। जैसे मैं अपना वा दूसरे मतमतान्तरों का दोष पक्षपातरहित होकर प्रकाशित करता हूं, इसी प्रकार यदि सब विद्वान् लोग करें, तो क्या कठिनता है कि परस्पर का विरोध छूट, मेल होकर आनन्द में एक मत होके सत्य की प्राप्ति सिद्ध हो।

यह थोड़ा-सा क़ुरान के विषय में लिखा। इसको बुद्धिमान् धार्मिक लोग ग्रन्थकार के अभिप्राय को समझ लाभ लेवें। यदि कहीं भ्रम से अन्यथा लिखा गया हो, तो उसको शुद्ध कर लेवें ॥[4]

---

१. यहां भी पाठ खण्डित या भ्रष्ट हुआ है।
२. सं० २ में 'के' अपपाठ है। ३. सं० २ में 'जान' अपपाठ है।
४. सत्यार्थ-प्रकाश (संशोधित संस्करण) के इस सन्दर्भ से स्पष्ट है

अब एक बात यह शेष है कि बहुत-से मुसलमान ऐसा कहा करते, और लिखा वा छपवाया[1] करते हैं कि हमारे मज़हब की बात अथर्ववेद में लिखी है। इसका यह उत्तर है कि अथर्ववेद में इस बात का नाम-निशान भी नहीं है।

प्रश्न—क्या तुमने सब अथर्ववेद देखा है? यदि देखा है, तो अल्लोपनिषद् देखो। यह साक्षात् उसमें लिखी है। फिर क्यों कहते हो कि अथर्ववेद में मुसलमानों का नाम-निशान भी नहीं है?

अथाऽल्लोपनिषदं व्याख्यास्यामः

अस्माल्लां इल्ले मित्रावरुणा दिव्यानि धत्ते।
इल्लल्ले वरुणो राजा पुनर्दुदुः।
हया मित्रो इल्लां इल्लल्ले इल्लां वरुणो मित्रस्तेजस्कामः ॥१॥
होतारमिन्द्रो होतारमिन्द्र महासुरिन्द्राः।
अल्लो ज्येष्ठं श्रेष्ठं परमं पूर्णं ब्रह्माणं अल्लाम् ॥२॥
अल्लोरसूल महामदरकबरस्य अल्लो अल्लाम् ॥३॥
आदल्लाबूकमेककम्। अल्लाबूक निखातकम् ॥४॥
अल्लो यज्ञेन हुतहुत्वा। अल्ला सूर्य्यचन्द्रसर्वनक्षत्राः ॥५॥
अल्ला ऋषीणां सर्वदिव्यां इन्द्राय पूर्वं माया परममन्तरिक्षाः॥६॥

कि ग्रन्थकार इस सन्दर्भ पर १४ वां समुल्लास पूर्ण कर चुके थे। पाण्डुलिपि (रफ कापी) में इस सन्दर्भ के पश्चात् ही 'इसके आगे स्वमन्तव्यामन्तव्य का .....' वाक्य है। अगला सन्दर्भ रफ़ कापी के पश्चात् बढ़ाया गया है। देखो—अगली टिप्पणी।

१. यहां 'लिखा वा छपवाया करते हैं' का संकेत 'भारतमित्र' (कलकत्ता) पत्र के सं० १९४० श्रावणसुदि ६ गुरुवार के अंक में छपे एक समाचार की ओर है। जिसमें 'मुसलमानों के मजहब का मूल अथर्ववेद में है' लिखकर अल्लोपनिषद का उल्लेख किया गया था। इस सम्बन्ध में ग्रन्थकार ने 'भारतमित्र' के सपादक को एक पत्र लिखा था। वह पत्र 'ऋ० द० के पत्र और विज्ञापन' के पृष्ठ ४४७, ४४८ (सं० २) पर छपा है। उससे स्पष्ट है कि ग्रन्थकार ने यह 'अल्लोपनिषद्' समीक्षावाला अंश उक्त पत्र में छपे लेख को पढ़कर बढ़ाया था॥

अल्लः पृथिव्या अन्तरिक्षं विश्वरूपम् ॥७॥

इल्लाँ कबर इल्लाँ कबर इल्लाँ इल्लल्लेति इल्लल्लाः ॥८॥

ओम् अल्लाइल्लल्ला अनादिस्वरूपाय अथर्वणाश्यामा हुं ह्रीं जनानपशूनसिद्धान् जलचरान् अदृष्टं कुरु कुरु फट् ॥९॥

असुरसंहारिणी हुं ह्रीं अल्लोरसूलमहमदरकबरस्य अल्लो अल्लाम् इल्लल्लेति इल्लल्लाः ॥१०॥ इत्यल्लोपनिषत् समाप्ता ॥

जो इसमें प्रत्यक्ष मुहम्मद साहब रसूल लिखा है, इससे सिद्ध होता है कि मुसलमानों का मत वेदमूलक है।

उत्तर—यदि तुमने अथर्ववेद न देखा हो, तो हमारे पास आओ, आदि से पूर्ति तक देखो। अथवा जिस-किसी अथर्ववेदी के पास बीस काण्डयुक्त मन्त्रसंहिता अथर्ववेद को देख लो। कहीं तुम्हारे पैग़म्बर साहब का नाम वा मत का निशान न देखोगे।

और जो यह अल्लोपनिषद् है, वह न अथर्ववेद में, न उसके गोपथब्राह्मण वा किसी शाखा में है। यह तो अकबरशाह के समय में अनुमान है कि किसी ने बनाई है। इसका बनानेवाला कुछ अरबी और कुछ संस्कृत भी पढ़ा हुआ दीखता है। क्योंकि इसमें अरबी और संस्कृत के पद लिखे हुये दीखते हैं।

देखो (अस्माल्लां इल्ले मित्रावरुणा दिव्यानि धत्ते) इत्यादि में जो कि दश अङ्क[1] में लिखा है। जैसे—इसमें '**अस्माल्लां और इल्ले**' अरबी, और '**मित्रावरुणा दिव्यानि धत्ते**' यह संस्कृत पद लिखे हैं। वैसे ही सर्वत्र देखने में आने से किसी संस्कृत और अरबी के पढ़े हुये ने बनाई है। यदि इसका अर्थ देखा जाता है, तो यह कृत्रिम अयुक्त वेद और व्याकरण-रीति से विरुद्ध है।

जैसी यह उपनिषद् बनाई है, वैसी बहुत-सी उपनिषदें मतमतान्तरवाले पक्षपातियों ने बनाली हैं। जैसी कि **स्वरोपोपनिषद्, नृसिंहतापनी, रामतापनी, गोपालतापनी** बहुत-सी बनाली हैं।

---

१. अर्थात् दश खण्डों में।

प्रश्न—आज तक किसी ने ऐसा नहीं कहा, अब तुम कहते हो। हम तुम्हारी बात कैसे मानें ?

उत्तर—तुम्हारे मानने वा न मानने से हमारी बात झूठ नहीं हो सकती है। जिस प्रकार से मैंने इसको अयुक्त ठहराई है, उसी प्रकार से जब तुम अथर्ववेद गोपथ वा इसकी शाखाओं से प्राचीन लिखित पुस्तकों में जैसा-का-तैसा लेख दिखलाओ, और अर्थसंगति से भी शुद्ध करो, तब तो सप्रमाण हो सकती है।

प्रश्न—देखो, हमारा मत कैसा अच्छा है, कि जिसमें सब प्रकार का सुख और अन्त में मुक्ति होती है।

उत्तर—ऐसे ही अपने-अपने मत वाले सब कहते हैं कि—'हमारा ही मत अच्छा है, बाकी सब बुरे। विना हमारे मत के दूसरे मत में मुक्ति नहींहो सकती'। अब हम तुम्हारी बात को सच्ची मानें, वा उनकी ?

हम तो यही मानते हैं कि सत्यभाषण, अहिंसा, दया आदि शुभ गुण सब मतों में अच्छे हैं। और बाकी वादविवाद, ईर्ष्या-द्वेष, मिथ्याभाषणादि कर्म सब मतों में बुरे हैं। यदि तुमको सत्यमत ग्रहण की इच्छा हो, तो वैदिकमत को ग्रहण करो॥

इसके आगे 'स्वमन्तव्यामन्तव्य' का प्रकाश संक्षेप से लिखा जायगा॥

इति श्रीमद्दयानन्दसरस्वतीस्वामिकृते सत्यार्थ-प्रकाशे सुभाषाविभूषिते यवनमतविषये चतुर्दश-समुल्लासः सम्पूर्णः॥१४॥

—:o:—

ओ३म्

स्वमन्तव्यामन्तव्य-प्रकाशः

'सर्वतन्त्र सिद्धान्त' अर्थात् साम्राज्य सार्वजनिक धर्म, जिसको सदा से सब मानते आये, मानते हैं और मानेंगे भी, इसीलिये उसको सनातन नित्यधर्म कहते हैं, कि जिसका विरोधी कोई भी न हो सके।

यदि अविद्यायुक्त जन अथवा किसी मत वाले के भ्रमाये हुये जन जिसको अन्यथा जानें वा मानें, उसका स्वीकार कोई भी बुद्धिमान् नहीं करते। किन्तु जिसको आप्त अर्थात् सत्यमानी सत्यवादी सत्यकारी परोपकारक पक्षपातरहित विद्वान् मानते हैं, वही सबको मन्तव्य [होने से प्रमाण के योग्य], और जिसको नहीं मानते, वह अमन्तव्य होने से प्रमाण के योग्य नहीं होता।

अब जो वेदादि सत्यशास्त्र और ब्रह्मा से लेकर जैमिनिमुनि पर्यन्तों के माने हुये ईश्वरादि पदार्थ हैं, जिनको कि मैं भी मानता हूं, सब सज्जन महाशयों के सामने प्रकाशित करता हूं।

मैं अपना मन्तव्य उसी को जानता हूं कि जो तीन काल में सबको एक-सा मानने योग्य है। मेरा कोई नवीन कल्पना वा मत-मतान्तर चलाने का लेशमात्र भी अभिप्राय नहीं है। किन्तु जो सत्य है उसको मानना-मनवाना, और जो असत्य है उसको छोड़ना और छुड़वाना मुझको अभीष्ट है।

यदि मैं पक्षपात करता, तो आर्य्यावर्त्त में प्रचरित मतों में से किसी एक मत का आग्रही होता। किन्तु जो-जो आर्य्यावर्त्त वा अन्य देशों में अधर्मयुक्त चालचलन है उसका स्वीकार, और जो धर्मयुक्त बातें हैं उनका त्याग नहीं करता, न करना चाहता हूं। क्योंकि ऐसा करना मनुष्यधर्म से बहिः है।

'मनुष्य' उसी को कहना, कि मननशील होकर स्वात्मवत् अन्यों के सुख-दुःख और हानि-लाभ को समझे। अन्यायकारी बलवान् से भी न डरे, और धर्मात्मा निर्बल से भी डरता रहे।

इतना ही नहीं, किन्तु अपने सर्वसामर्थ्य से धर्मात्माओं, कि

चाहे वे महा अनाथ निर्बल और गुणरहित क्यों न हों, उनकी रक्षा उन्नति प्रियाचरण, और [अधर्मी] चाहे चक्रवर्ती सनाथ महाबलवान् और गुणवान् भी हो, तथापि उसका नाश अवनति और अप्रियाचरण सदा किया करे।

अर्थात् जहां तक हो सके वहां तक अन्यायकारियों के बल की हानि और न्यायकारियों के बल की उन्नति सर्वथा किया करे। इस काम में चाहे उसको कितना ही दारुण दुःख प्राप्त हो, चाहे प्राण भी भले ही जावें, परन्तु इस मनुष्यपनरूप धर्म से पृथक् कभी न होवे।

इसमें श्रीमान् महाराजा भर्तृहरिजी आदि ने श्लोक कहे हैं। उनका लिखना उपयुक्त समझकर लिखता हूं—

निन्दन्तु नीतिनिपुणा यदि वा स्तुवन्तु,
लक्ष्मीः समाविशतु गच्छतु वा यथेष्टम्।
अद्यैव वा मरणमस्तु युगान्तरे वा,
न्याय्यात् पथः प्रविचलन्ति पदं न धीराः॥१॥ भर्तृहरिः[१]

न जातु कामान्न भयान्न लोभाद्,
धर्मं त्यजेज्जीवितस्यापि हेतोः।
धर्मो नित्यः सुख-दुःखे त्वनित्ये,
जीवो नित्यो हेतुरस्य त्वनित्यः॥२॥ महाभारते[२]

एक एव सुहृद्धर्मो निधनेऽप्यनुयाति यः।
शरीरेण समं नाशं सर्वमन्यद्धि गच्छति॥३॥ मनुः[३]

सत्यमेव जयते नानृतं सत्येन पन्था विततो देवयानः।
येनाऽऽक्रमन्त्यृषयो ह्याप्तकामा यत्र तत्सत्यस्य परमं निधानम्॥४॥[४]

नहि सत्यात्परो धर्मो नानृतात्पातकं परम्।
नहि सत्यात्परं ज्ञानं तस्मात् सत्यं समाचरेत्॥५॥ उ० नि०[५]

इन्हीं महाशयों के श्लोकों के अभिप्राय के अनुकूल सब को निश्चय रखना योग्य है

---

१. नीतिशतक ८४। विभिन्न संस्करणों में संख्या-भेद भी मिलता है।
२. उद्योगपर्व ४०। ११ उत्तरार्ध, १२ पूर्वार्ध॥ ३. मनु० ८।१७॥
४. मुण्डकोप० ३।१।६॥ ५. अनुपलब्धमूल।

अब मैं जिन-जिन पदार्थों को जैसा-जैसा मानता हूं, उन-उनका वर्णन संक्षेप से यहां करता हूं, कि जिनका विशेष व्याख्यान इस ग्रन्थ में अपने-अपने प्रकरण में कर दिया है[1]। इनमें से—

१—प्रथम 'ईश्वर'[2] कि जिसके ब्रह्म परमात्मादि नाम हैं, जो सच्चिदानन्दादि-लक्षणयुक्त है, जिसके गुण कर्म स्वभाव पवित्र हैं, जो सर्वज्ञ निराकार सर्वव्यापक अजन्मा अनन्त सर्वशक्तिमान् दयालु न्यायकारी, सब सृष्टि का कर्त्ता धर्त्ता हर्त्ता, सब जीवों को कर्मानुसार सत्यन्याय से फलदाता आदि लक्षणयुक्त है, उसी को **'परमेश्वर'** मानता हूं।

२—'चारों वेदों[3] (विद्या-धर्मयुक्त ईश्वर-प्रणीत संहिता मन्त्र-भाग[4]) को निर्भ्रान्त स्वतःप्रमाण मानता हूं। वे स्वयं प्रमाणरूप हैं, कि जिनका प्रमाण होने में किसी अन्य ग्रन्थ की अपेक्षा नहीं। जैसे सूर्य वा प्रदीप अपने स्वरूप के स्वतःप्रकाशक, और पृथिव्यादि के भी प्रकाशक होते हैं, वैसे 'चारों वेद' हैं।

और चारों वेदों के ब्राह्मण, छः अङ्ग, छः उपाङ्ग, चार उपवेद, और ११२७ (ग्यारह सौ सत्ताईस) वेदों की शाखा, जो कि वेदों के व्याख्यानरूप ब्रह्मादि महर्षियों के बनाये ग्रन्थ हैं, उनको परतःप्रमाण अर्थात् वेदों के अनुकूल होने से प्रमाण, और जो इनमें वेदविरुद्ध वचन हैं उनका अप्रमाण करता हूं।

३—जो पक्षपातरहित न्यायाचरण सत्यभाषणादियुक्त ईश्वराज्ञा वेदों से अविरुद्ध है उसको **'धर्म'**[5]; और जो पक्षपातसहित

---

१. इन विषयों का निर्देश ग्रन्थकार ने अपने अन्य ग्रन्थों में भी किया है। उन में से 'आर्योद्देश्यरत्नमाला' का संकेत हम आगे दे रहे हैं।

२. आर्योद्देश्यरत्नमाला सं० १; आर्यसमाज के नियम सं० २।

३. आर्योद्देश्य० सं० ६५।

४. यहां 'भाग' शब्द का प्रयोग लौकिक व्यवहारानुसार किया है। इस से मन्त्र-ब्राह्मण-समुदायरूप भागी की कल्पना नहीं करनी चाहिये। अथवा व्याख्येय-व्याख्यान दोनों का औपचारिक एकत्व मान कर 'भाग' शब्द का प्रयोग जानना चाहिये, न कि वस्तुतः।

५. आर्योद्देश्य० सं० २।

अन्यायाचरण मिथ्याभाषणादि ईश्वराज्ञाभंग वेदविरुद्ध है, उसको '**अधर्म**'[1] मानता हूं।

४—जो इच्छा द्वेष सुख दुःख और ज्ञानादि गुणयुक्त, अल्पज्ञ नित्य है, उसी को '**जीव**'[2] मानता हूं।

५—'**जीव और ईश्वर**' स्वरूप और वैधर्म्य से भिन्न, और व्याप्य-व्यापक और साधर्म्य से अभिन्न हैं। अर्थात् जैसे आकाश से मूर्तिमान् द्रव्य कभी भिन्न न था न है न होगा, और न कभी एक था न है न होगा, इसी प्रकार परमेश्वर और जीव को व्याप्य-व्यापक, उपास्य-उपासक, और पिता-पुत्र आदि सम्बन्धयुक्त मानता हूं।

६—'**अनादि पदार्थ**'[3] तीन हैं—एक ईश्वर, द्वितीय जीव, तीसरा प्रकृति अर्थात् जगत् का कारण। इन्हीं को नित्य भी कहते हैं। जो नित्य पदार्थ हैं, उनके गुण कर्म स्वभाव भी नित्य हैं।

७—'**प्रवाह से अनादि**[4]' जो संयोग से द्रव्य गुण कर्म उत्पन्न होते हैं, वे वियोग के पश्चात् नहीं रहते। परन्तु जिससे प्रथम संयोग होता है, वह सामर्थ्य उनमें अनादि है। और उससे पुनरपि संयोग होगा तथा वियोग भी। इन तीनों को 'प्रवाह से अनादि' मानता हूं।

८—'**सृष्टि**'[5] उसको कहते हैं—जो पृथक् द्रव्यों का ज्ञान युक्तिपूर्वक मेल होकर नानारूप बनना।

९—'**सृष्टि का प्रयोजन**' यही है कि जिसमें ईश्वर के सृष्टि-निमित्त गुण कर्म स्वभाव का साफल्य होना। जैसे किसी ने किसी से पूछा कि—नेत्र किसलिये हैं? उसने कहा—देखने के लिये। वैसे ही सृष्टि करने के ईश्वर के सामर्थ्य की सफलता सृष्टि करने में है। और जीवों के कर्मों का यथावत् भोग कराना आदि भी।

१०—'**सृष्टि सकर्तृक**' है, इसका कर्त्ता पूर्वोक्त ईश्वर है। क्योंकि सृष्टि की रचना देखने, और जड़ पदार्थ में अपने आप यथायोग्य

१. आर्योद्देश्य० सं० ३।
२. आर्योद्देश्य० सं० ७७।
३. आर्योद्देश्य० सं० ५२।
४. आर्योद्देश्य० सं० ५३।
५. आर्योद्देश्य० सं० २७।

बीजादि स्वरूप बनने का सामर्थ्य न होने से '**सृष्टि का कर्त्ता**' अवश्य है।

११—'**बन्ध**' सनिमित्तक अर्थात् अविद्या-निमित्त से है। जो-जो पापकर्म ईश्वर-भिन्नोपासना अज्ञानादि सब दुःखफल करनेवाले हैं। इसीलिये यह बन्ध है, कि जिसकी इच्छा नहीं, और भोगना पड़ता है।

१२—'**मुक्ति**'[1] अर्थात् सर्व दुःखों से छूटकर बन्धरहित सर्वव्यापक ईश्वर और उसकी सृष्टि में स्वेच्छा से विचरना, नियत समय पर्यन्त मुक्ति के आनन्द को भोग के पुनः संसार में आना।

१३—'**मुक्ति के साधन**'[2] ईश्वरोपासना अर्थात् योगाभ्यास धर्मानुष्ठान, ब्रह्मचर्य से विद्याप्राप्ति, आप्त विद्वानों का संग, सत्य विद्या सुविचार और पुरुषार्थ आदि हैं।

१४—'**अर्थ**' वह है कि जो धर्म ही से प्राप्त किया जाय, और जो अधर्म से सिद्ध होता है उसको '**अनर्थ**' कहते हैं।

१५—'**काम**' वह है कि जो धर्म और अर्थ से प्राप्त किया जाय।

१६—'**वर्णाश्रम**'[3] गुण कर्मों की योग्यता से मानता हूं।

१७—'**राजा**' उसी को कहते हैं—जो शुभ गुण कर्म स्वभाव से प्रकाशमान, पक्षपातरहित न्यायधर्म का सेवी, प्रजाओं में पितृवत् वर्त्ते। और उनको पुत्रवत् मानके उनकी उन्नति और सुख बढ़ाने में सदा यत्न किया करे।

१८—'**प्रजा**' उसको कहते हैं कि जो पवित्र गुण कर्म स्वभाव को धारण करके,पक्षपातरहित न्यायधर्म के सेवन से राजा और प्रजा की उन्नति चाहती हुई राजविद्रोहरहित राजा के साथ पुत्रवत् वर्त्ते।

१९—जो सदा विचारकर असत्य को छोड़ सत्य का ग्रहण करे, अन्यायकारियों को हटावे, और न्यायकारियों को बढ़ावे, अपने आत्मा के समान सबका सुख चाहे, सो '**न्यायकारी**'[4] है। उसको मैं भी ठीक मानता हूं।

---

१. आर्योद्देश्य० सं० २९। २. आर्योद्देश्य० सं० ३०।
३. आर्योद्देश्य० सं० ४३,४४, ४५, ४६। ४. अर्थात् न्यायाधीश।

२०—**'देव'** विद्वानों को, और अविद्वानों को **'असुर'**, पापियों को **'राक्षस'**, अनाचारियों को **'पिशाच'** मानता हूं।

२१—उन्हीं विद्वानों, माता पिता आचार्य अतिथि, न्यायकारी, राजा, और धर्मात्मा जन, पतिव्रता स्त्री, और स्त्रीव्रत पति का सत्कार करना **'देवपूजा'**[१] कहाती है। इससे विपरीत **'अदेव पूजा'**। इनकी मूर्त्तियों को पूज्य, और इतर पाषाणादि जड़मूर्तियों को सर्वथा अपूज्य समझता हूं।

२२—**'शिक्षा'** जिससे विद्या सभ्यता धर्मात्मता जितेन्द्रियतादि की बढ़ती होवे, और अविद्यादि दोष छूटें, उसको 'शिक्षा' कहते हैं।

२३—**'पुराण'**[२] जो ब्रह्मादि के बनाये ऐतरेयादि ब्राह्मण पुस्तक हैं, उन्हीं को पुराण इतिहास कल्प गाथा और नाराशंसी नाम से मानता हूं। अन्य भागवतादि को नहीं।

२४—**'तीर्थ'**[३] जिससे दुःखसागर से पार उतरें, कि जो सत्य-भाषण विद्या सत्संग यमादि योगाभ्यास पुरुषार्थ विद्यादानादि शुभ कर्म हैं, उसी को 'तीर्थ' समझता हूं। इतर जलस्थलादि को नहीं।

२५—**'पुरुषार्थ प्रारब्ध से बड़ा'** इसलिये है कि जिससे संचित प्रारब्ध बनते, जिसके सुधरने से सब सुधरते, और जिसके बिगड़ने से सब बिगड़ते हैं। इसी से प्रारब्ध की अपेक्षा पुरुषार्थ बड़ा है।

२६—**मनुष्य**[४] को सबसे यथायोग्य स्वात्मवत् सुख-दुःख हानि-लाभ में वर्त्तना श्रेष्ठ, अन्यथा वर्त्तना बुरा समझता हूं।

२७—**'संस्कार'** उसको कहते हैं कि जिससे शरीर मन और आत्मा उत्तम होवे। वह निषेकादि श्मशानान्त सोलह प्रकार का है। इसको कर्त्तव्य समझता हूं। और दाह के पश्चात् मृतक के लिये कुछ भी न करना चाहिये।

२८—**'यज्ञ'**[५] उसको कहते हैं कि जिसमें विद्वानों का सत्कार, यथायोग्य शिल्प अर्थात् रसायन जो कि पदार्थ विद्या उससे उपयोग,

---

१. तुलना करो—'पञ्चायतन-पूजा' आर्योद्देश्य० सं० ६४।
२. आर्योद्देश्य० सं० ६६। ३. आर्योद्देश्य० सं २०।
४. आर्योद्देश्य० सं० ३६। ५. आर्योद्देश्य० सं० ४७।

और विद्यादि शुभ गुणों का दान, अग्निहोत्रादि जिनसे वायु वृष्टि जल ओषधि की पवित्रता करके सब जीवों को सुख पहुंचाना है, उसको उत्तम समझता हूं।

२९—जैसे 'आर्य'[1] श्रेष्ठ, और 'दस्यु'[2] दुष्ट मनुष्यों को कहते हैं, वैसे ही मैं भी मानता हूं।

३०—'आर्य्यावर्त्त'[3] देश इस भूमि का नाम इसलिये है कि इसमें आदि-सृष्टि से आर्य लोग निवास करते हैं। परन्तु इसकी अवधि उत्तर में हिमालय, दक्षिण में विन्ध्याचल, पश्चिम में अटक, और पूर्व में ब्रह्मपुत्रा नदी है। इन चारों के बीच में जितना देश है, उसको 'आर्य्यावर्त्त' कहते [हैं]। और जो इसमें[4] सदा रहते हैं, उनको भी 'आर्य' कहते हैं।

३१—जो साङ्गोपाङ्ग वेदविद्याओं का अध्यापक सत्याचार का ग्रहण और मिथ्याचार का त्याग करावे, वह 'आचार्य'[5] कहाता है।

३२—'शिष्य' उसको कहते हैं कि जो सत्यशिक्षा और विद्या को ग्रहण करने योग्य धर्मात्मा, विद्याग्रहण की इच्छा और आचार्य का प्रिय करनेवाला है।

३३—'गुरु'[6] माता-पिता, और जो सत्य का ग्रहण करावे और असत्य को छुड़ावे, वह भी 'गुरु' कहाता है।

३४—'पुरोहित' जो यजमान का हितकारी सत्योपदेष्टा होवे।

३५—'उपाध्याय' जो वेदों का एकदेश वा अङ्गों को पढ़ाता हो।

३६—'शिष्टाचार'[7] जो धर्माचरणपूर्वक ब्रह्मचर्य से विद्याग्रहण कर, प्रत्यक्षादि प्रमाणों से सत्यासत्य का निर्णय करके सत्य का ग्रहण, असत्य का परित्याग करना है यही 'शिष्टाचार', और जो इसको करता है वह 'शिष्ट' कहाता है।

३७—प्रत्यक्षादि 'आठ प्रमाणों'[8] को भी मानता हूं।

---

१. आर्योद्देश्य० सं० ४०।
२. आर्योद्देश्य० सं० ४२।
३. आर्योद्देश्य० सं० ४१।
४. सं० २ में 'इन में'।
५. आर्योद्देश्य० सं० ६१।
६. आर्योद्देश्य० सं० ६२।
७. आर्योद्देश्य० सं० ८५।
८. आर्योद्देश्य० सं० ८३, ८६-९२।

३८—'आप्त'[1] जो यथार्थवक्ता, धर्मात्मा, सबके सुख के लिये प्रयत्न करता है, उसी को 'आप्त' कहता हूं।

३९—'परीक्षा'[2] पांच प्रकार की है। इसमें से प्रथम—जो ईश्वर, उसके गुण कर्म स्वभाव, और वेदविद्या। दूसरी—प्रत्यक्षादि आठ प्रमाण। तीसरी—सृष्टिक्रम। चौथी—आप्तों का व्यवहार। और पांचवीं—अपने आत्मा की पवित्रता, विद्या। इन पांच परीक्षाओं से सत्याऽसत्य का निर्णय करके सत्य का ग्रहण, असत्य का परित्याग करना चाहिये।

४०—'परोपकार'[3] जिससे सब मनुष्यों के दुराचार दुःख छूटें, श्रेष्ठाचार और सुख बढ़ें, उसके करने को 'परोपकार' कहता हूं।

४१—'स्वतन्त्र', 'परतन्त्र' जीव अपने कामों में स्वतन्त्र, और कर्मफल भोगने में ईश्वर की व्यवस्था से परतन्त्र। वैसे ही ईश्वर अपने सत्याचार आदि काम करने में स्वतन्त्र है।

४२—'स्वर्ग'[4] नाम सुख-विशेष भोग और उसकी सामग्री की प्राप्ति का है।

४३—'नरक'[5] जो दुःख-विशेष भोग और उसकी सामग्री को प्राप्त होना है।

४४—'जन्म'[6] जो शरीर धारण कर प्रकट होना। सो पूर्व पर और मध्य भेद से तीनों प्रकार का मानता हूं।

४५—शरीर के संयोग का नाम 'जन्म', और वियोगमात्र को 'मृत्यु'[7] कहते हैं।

४६—'विवाह' जो नियमपूर्वक प्रसिद्धि से अपनी इच्छा करके पाणिग्रहण करना, वह 'विवाह' कहाता है।

४७—'नियोग' विवाह के पश्चात् पति [वा पत्नी] के मर जाने

---

१. आर्योद्देश्य० सं० ८१।
२. आर्योद्देश्य० सं० ८२।
३. आर्योद्देश्य० सं० ५७।
४. आर्योद्देश्य सं० १४।
५. आर्योद्देश्य० सं० १५।
६. आर्योद्देश्य० सं० १२।
७. आर्योद्देश्य० सं० १३।

आदि वियोग में, अथवा नपुंसकत्वादि स्थिर रोगों में, स्त्री वा पुरुष [का] आपत्काल में स्ववर्ण वा अपने से उत्तम वर्णस्थ स्त्री वा पुरुष के साथ सन्तानोत्पत्ति करना।

४८—'स्तुति'[1] गुण-कीर्तन श्रवण और ज्ञान होना। इसका फल प्रीति आदि होते हैं।

४९—'प्रार्थना'[2] अपने सामर्थ्य के उपरान्त ईश्वर के सम्बन्ध से जो विज्ञान आदि प्राप्त होते हैं, उनके लिये ईश्वर से याचना करना। और इसका फल निरभिमान आदि होता है।

५०—'उपासना'[3] जैसे ईश्वर के गुण कर्म स्वभाव पवित्र हैं, वैसे अपने करना। ईश्वर को सर्वव्यापक, अपने को व्याप्य जानके ईश्वर के समीप हम और हमारे समीप ईश्वर है, ऐसा निश्चय योगाभ्यास से साक्षात् करना 'उपासना' कहाती है। इसका फल ज्ञान की उन्नति आदि है।

५१—'सगुणनिर्गुण-स्तुतिप्रार्थनोपासना'[4] जो-जो गुण परमेश्वर में हैं उनसे युक्त, और जो-जो गुण नहीं हैं उनसे पृथक् मानकर प्रशंसा करना **'सगुणनिर्गुण-स्तुति'**। शुभ गुणों के ग्रहण की ईश्वर से इच्छा, और दोष छुड़ाने के लिये परमात्मा का सहाय चाहना **'सगुणनिर्गुण-प्रार्थना'**। और सब गुणों से सहित, सब दोषों से रहित परमेश्वर को मानकर अपने आत्मा को उसके, और उसकी आज्ञा के अर्पण कर देना **'सगुणनिर्गुणोपासना'** कहाती है।

ये संक्षेप से स्वसिद्धान्त दिखला दिये हैं। इनकी विशेष व्याख्या इसी **'सत्यार्थ-प्रकाश'** के प्रकरण-प्रकरण में है। तथा **'ऋग्वेदादि-भाष्यभूमिका'** आदि ग्रन्थों में भी लिखी है। अर्थात् जो-जो बात सबके सामने माननीय है उसको मानता। अर्थात् जैसे सत्य बोलना सबके सामने अच्छा, और मिथ्या बोलना बुरा है, ऐसे सिद्धान्तों को स्वीकार करता हूं।

---

१. आर्योद्देश्य० सं० २१, २२॥ २. आर्योद्देश्य० सं० २४, २५।
३. आर्योद्देश्य० सं० २६। ४. आर्योद्देश्य० सं० २८, २७।

और जो मतमतान्तर के परस्पर-विरुद्ध झगड़े हैं, उनको मैं प्रसन्न नहीं करता। क्योंकि इन्हीं मत वालों ने अपने मतों का प्रचार कर मनुष्यों को फसाके परस्पर शत्रु बना दिये हैं।

इस बात को काट, सर्वसत्य का प्रचार कर, सबको ऐक्यमत में करा,द्वेष छुड़ा,परस्पर में दृढ़ प्रीतियुक्त कराके, सब से सब को सुख-लाभ पहुंचाने के लिये मेरा प्रयत्न और अभिप्राय है।

सर्वशक्तिमान् परमात्मा की कृपा सहाय, और आप्तजनों की सहानुभूति से 'यह सिद्धान्त सर्वत्र भूगोल में शीघ्र प्रवृत्त हो जावे'। जिससे सब लोग सहज से धर्मार्थ-काम मोक्ष की सिद्धि करके सदा उन्नत और आनन्दित होते रहैं। यही मेरा मुख्य प्रयोजन है॥

अलमतिविस्तरेण बुद्धिमद्वर्येषु॥

ओम् शन्नो मित्रः शं वरुणः शन्नो भवत्वर्यमा।
शन्न इन्द्रो बृहस्पतिः शन्नो विष्णुरुरुक्रमः॥
नमो ब्रह्मणे नमस्ते वायो त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि।
त्वामेव प्रत्यक्षं ब्रह्मावादिषम् ऋतमवादिषं सत्यमवादिषम्।
तन्मामावीत् तद्वक्तारमावीद् आवीन्माम् आवीद्वक्तारम्[१]॥
ओ३म् शान्तिः शान्तिः शान्तिः॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्याणां परमविदुषां श्रीविरजा-
नन्दसरस्वतीस्वामिनां शिष्येण श्रीमद्दयानन्दसरस्वती-
स्वामिना विरचितः स्वमन्तव्यामन्तव्यसिद्धान्त-
समन्वितः सुप्रमाणयुक्तः सुभाषाविभूषितः
सत्यार्थ-प्रकाशोऽयं ग्रंथः सम्पूर्तिमगमत्॥

---

१. तै० आ० ७।१२॥

प्रथम परिशिष्ट

शुद्धाशुद्धि-पत्र

पृष्ठ	पं०	अशुद्ध	शुद्ध
१९	४	अकारमात्र (तथा इसकी टिप्पणी)	अकारमात्रा
२०	२३	(अ० ५।४।३८) से	(अ० ५।४।३८) के आकृतिगण होने से
२१	२७	से विहित ..चाहिये।	से विहित।
२३	११	(वरण:)	(वरुण:)
२४	११	सुनिश्चित और	सुनिश्चित [प्रेम] और
२५	२४	वह	यहां
२८	२५	दोनों	वेदान्त
३५	१३	जड़ और जीव	जड़, जीव और
३७	२०	मकार	यकार
४३	२५	(शु० यजु: १।१७)	(शु० यजु: प्राति० १।१७
७३	६	आधार[ण]रूप	आधाररूप
८९	९, १०	कहाता है[२]। नेत्र	कहाता है। नेत्र[२]
१०२	टि० ३—यह टि० पृष्ठ १०३, पंक्ति ३ के 'दो-दो'[३] पर है		
१५७	१७, १८	'साथ'	'हाथ'
१७१	१५	औ रविधवा	और विधवा
१८५	७, ८	वा वसन्तं	वाव सन्तं
२२२	२	(दाम)	(दाम[१])
२२३	१६	[दस सहस्र के अधिपति]	[दस सहस्र के दश अधिपति]
२६७	१२	मुत नं	मुत मा न
,,	१३	मा मातरं	मातरं मा

पृष्ठ	पं०	अशुद्ध	शुद्ध
३०६	५	रस्वाद्व०	स्वाद्व०
३०७	६	सांख्य सू०[3]	सांख्य सू०[2]
३१८	२८	द्र०—टिप्पणी[1]	द्र०—टिप्पणी[2]
३४८	३	हो जायगा	हो[ता]जायगा
३५९	१५	[पञ्चकोष]	[पञ्चकोश]
३६४	१५	ये चार	ये चार[1]
३६७	२	समय-समय में राज	समय-समय में [प्राप्त] राज
३८३	२	ज्ञाननेत्र करके	ज्ञाननेत्र[से देख] करके
४१४	२५	६४वें उद्धरण की	६७ वें समीक्ष्यांश की
४४३	१९	(अध्यातम)	(अध्यात्म[5])
,,	२७, २८	टि० सं० २, ३, ४	टि० सं० ३, ४, २
,,	२९ टि०	५—सं० २ में (अध्यात्मा) अपपाठ है।	
४४४	२४-३०	टि० सं० १, २, ३, ४	टि० सं० २,३,४, ५
४४५	२१	यथा[1]	यथा[3]
४४६	२६-२९	टि० सं० २, ३, ४, ५	टि० सं० ३,४,५,२
५२४	४	गिर, उसने	गिर [पड़ी], उसने
५५१	१०	उस[1] की	उसकी
६०८	२८	गया	छपा
६६५	१६	नवद्य	वद्य
७५७	८	और त	और तू
७७९	२२, २३	बाहर	बारह
८२०	२७	यहां पर	सत्यार्थ-प्रकाश में यहां पर
८२९	२८	सं० २ से १५	सं० ३ से ३५

द्वितीय परिशिष्ट

चतुर्दश समुल्लास में उद्धृत

क़ुरान की आयतों का भाषानुवाद

[श्री पं० रामचन्द्र जी देहलवी क़ुरान के विशेषज्ञ थे। वे क़ुरान की आयतों का उच्चारण इतना शुद्ध करते थे कि उनका पाठ सुनकर बड़े-बड़े ख्यातनामा मौलवी भी दांतों तले अङ्गुली देते थे। आपने सन् १९४३ में सत्यार्थ-प्रकाश में उद्धृत क़ुरान की आयतों के देवनागरी अक्षरों में पाठ के साथ उनका भाषानुवाद भी **'सत्यार्थ-प्रकाश चतुर्दश समुल्लास में उद्धृत कुर्आन् की आयतें'** नामक एक पुस्तक के रूप में छपवाया था। उसकी भूमिका विशेष महत्त्वपूर्ण होने से हम उसे यहां उद्धृत कर रहे हैं। सम्पा०]

मुसलमान महाशयों की ओर से बहुधा यह कहा जाता है कि 'सत्यार्थ-प्रकाश' के १४ वें समुल्लास में क़ुर्आन् की कई आयतों का अनुवाद यथार्थ व युक्त नहीं है। आयतों की संख्या भी बहुत स्थानों पर भ्रान्त है।

मैंने इस बात की सत्यता को परखने के लिये १४ वें समुल्लास का बहुत ध्यान से निरीक्षण किया। परन्तु सिवाय कुछ आयतों की संख्या-संबंधी भूलों के अर्थ-सम्बन्धी ऐसी कोई भूल नहीं पाई, जिससे समीक्षा में कुछ अनुचित या इस्लामी सिद्धान्तों के विरुद्ध आक्षेप हो गया हो। समीक्षा अद्भुततया सत्य व अपरिहार्य है।

इस समुल्लास में दी हुई आयतों का आर्यभाषानुवाद शाह रफ़ीउद्दीन साहब देहलवी के उर्दू तर्जुमें से किया हुआ प्रतीत होता है, जो बेमुहावरा होने से आर्य-भाषा की प्रचलित पद्धति की दृष्टि से असंबद्ध अथवा बेजोड़ है। विरामों के न होने से भाषा कई स्थानों

पर अनर्थक-सी प्रतीत होती है। इसलिये आर्य-भाषा में अनुवाद करने वाले ने अर्थ की संभवता व सार्थकता को दृष्टि में रखते हुये विरामों की कल्पना करली है। जहां-जहां इस कल्पना से कुछ भेद हुआ है, उसका निराकरण नीचे कर दिया गया है।

उर्दू भाषा के लिखने व पढ़ने में यह दोष रहा है कि छोटी 'पे' और बड़ी 'ये' को बिना विवेक एक दूसरे के स्थान में लिख दिया जाता है। इससे अर्बी न जाननेवाले को उस भाषा के उर्दू तर्जुमें में लिङ्ग की पहचान में भ्रम उत्पन्न हो जाता है।

सबसे बड़ी बात इस संभावना का ध्यान में रखना है कि एक भाषा को दूसरी का, और दूसरी का तीसरी का वेष धारण कराने में अनुवादक से सहसा भूल हो सकती है। जिसको उस सबसे पहली भाषा के विद्वान् तो केवल सुनकर जान सकते हैं, परन्तु अविद्वान् नहीं जान सकते। इसलिये जिन महाशयों को एक भाषा से दूसरी भाषा में अनुवाद करने, किताबों के लिखने-लिखाने और छपवाने का काम पड़ता रहता है, वह १४ वें समुल्लास के उद्धरणों के मार्ग में आने वालो स्पष्ट कठिनाइयों को जानते हुये भी यदि उनकी सत्यता की प्रशंसा करने के स्थान में निंदा करें, तो यह उनका पक्षपात होगा।

श्री स्वामी जी महाराज ने समीक्षा के योग्य क़ुर्आनी आयतों को १५९ खण्डों में विभक्त किया है। जिस-जिस खण्ड में कुछ शंका होती है या हुई है, उसका नीचे निराकरण करता हूं—

(१) खण्ड सं० ८ की अंतिम आयत के अनुवाद में अर्बी भाषा की दृष्टि से एक भूल हो गई है। सत्यार्थ-प्रकाश का भाषानुवाद इस प्रकार है—

'तो उस आग से डरो कि जिसका इंधन मनुष्य है और काफ़िरों के वास्ते पत्थर तय्यार किये गए हैं।'

शाह रफ़ीउद्दीन का उर्दू अनुवाद यह है—

'पस डरो उस आग से जो इंधन उसका आदमी है और पत्थर तैयार की गई है वास्ते काफ़िरों के।'

क़ुर्आन् की आयत के अनुसार शाह साहब के तर्जुमें का यह मतलब है

'पस उस आग से डरो जिसका इंधन मनुष्य और पत्थर हैं, और जो (=आग) काफ़िरों के लिये तय्यार की गई है।'

वास्तव में इस भूल का कारण शाह साहब के अनुवाद का प्रकार ही है। अकस्मात् शाह साहब ने 'हैं' क्रिया को 'आदमी' के पीछे लिख दिया, और 'पत्थर' के पीछे विराम (Comma) नहीं नहीं दिया आर्यभाषा में अनुवाद करनेवाले ने सामान्य बुद्धि का प्रयोग करके 'हैं' के पीछे विराम समझ लिया, और 'पत्थर' को आगे वाले टुकड़े से जोड़ दिया, और 'गई' को 'गए' पढ़ लिया। इस प्रकार अनर्थक से वाक्य को सार्थक बना दिया।

यहां क़ुर्आन् के कर्त्ता का मतलब 'मनुष्य' से मूर्तिपूजक और 'पत्थर' से मूर्तियां है। मूर्तिपूजक चेतन होने से आग में डाले जा सकते हैं, और ईंधन की नाई जल सकते हैं, परन्तु पत्थर की मूर्तियां जड़ होने से आग का इंधन नहीं हो सकतीं, और न उनको कोई दुःख हो सकता है। इसलिये आर्यभाषानुवादक ने संभवार्थ के आधार पर विराम की कल्पना की—'हैं' के पश्चात् विराम लगाया, और 'पत्थर' को आगे वाले वाक्य से जोड़ दिया, और बेमुहावरा उर्दू तर्जुमे को बामुहावरा आर्यभाषा में लिख दिया, जैसा कि १४ वें समुल्लास में इस समय छपा हुआ है, और जो ऊपर उद्धृत किया जा चुका है। इसमें श्री स्वामी जी की भूल तो क्या, अनुवादक की भूल भी नहीं कह सकते, जिसने अर्बी न जानने की अवस्था में, बिना किसी अशुद्ध भावना के, केवल बुद्धि के आधार पर शाह साहब के अनुवाद को सार्थक बना कर आर्यभाषा का रूप दे दिया।

(२) खण्ड सं० ६ में 'ख़ालिदून्' शब्द के अर्थ में लिङ्ग का भेद हुआ है। इसका अर्थ 'सदैव रहने वाले' है, और 'सदैव रहने वाली' नहीं है, यह शब्द पुलिङ्ग है। इस भूल का कारण भी शाह साहब का तर्जुमा ही है। जो इस प्रकार है—

'वास्ते उनके बीच उनके बीबियां हैं पाक की हुई—और बीच उनके हमेशा रहनेवाले'

अर्बी न जाननेवाला यदि उपर्युक्त वाक्य का आर्यभाषानुवाद करे, तो वह अर्थ की सार्थकता 'वाली' में समझेगा, 'वाले' में नहीं। क्योंकि उर्दू भाषा में 'ये' तहतानी (छोटी) व फ़ौकानी (बड़ी) को एक दूसरे के स्थान पर लिख-पढ़ देने का आ़म रिवाज है।

(३) खण्ड सं० २६—इस आयत का तर्जुमा शाह साहब ने यह किया है—

'दोस्त रखते हैं बहुत अहले किताब में से काश कि फेर देवें तुमको पीछे ईमान तुम्हारे के काफ़िर हसद से'।

उपर्युक्त तर्जुमे का मतलब कुछ भी समझ में नहीं आता। कोई अर्बी जाननेवाला भी जब तक क़ुर्आन् की मूल आयत को न देखे, तब तक सत्यार्थ जान ही नहीं सकता। आर्यभाषानुवादक ने तो इसको कुछ मतलबवाला भी बना दिया है, परन्तु शाह साहब के तर्जुमे का तो सिर-पैर ही दिखाई नहीं देता। 'सत्यार्थ-प्रकाश' में दिये हुए आर्यभाषानुवाद को ही मैं जरा विस्तार से लिखता हूं, जिससे सत्याथ सुगमता से समझ में आ जावेगा।

'ऐसा न हो कि काफ़िर लोग, जिनके ईमानवालों में से (अर्थात् यहूद व नसारा में से) बहुत से दोस्त हैं, ईर्ष्या करके तुमको ईमान से फेर देवें'।

इस आयत में आये हुये 'वद्द' शब्द का अर्थ शाह रफ़ीउद्दीन ने 'दोस्त रखते हैं' किया है, और अन्यों ने 'चाहते हैं' किया है। इस शब्द के दोनों अर्थ हैं।

(४) खण्ड सं० ४१ में 'ईमान न लाया' के स्थान में 'ईमान लाया' चाहिये।

(५) खण्ड सं० ४२ में 'चाहे' दृष्टिदोष से मिल गया है। जो 'उसकी कुर्सी' वाले वाक्य से पहले आये हुए वाक्य [जो यहां उद्धृत नहीं किया गया] का अंतिम शब्द है।

(६) खण्ड सं० ११३ में यह वाक्य 'और शिक्षा दी हमने उस औरत को' मूल आयत में नहीं है। शाह साहब ने अर्थ को स्पष्ट करने के लिये अपनी ओर से इस तरह बढ़ा दिया है—'और हिदायत दी उस औरत को'।

इन ६ स्थलों के अतिरिक्त ऐसा कोई और स्थल दिखाई नहीं दिया, जिस पर कुछ लिखने की आवश्यकता हो।

स्वामी जी की समीक्षा इतनी सामान्य है कि उसमें उपर्युक्त बातों से कोई दोष नहीं आता है। समीक्षा पर इनका कोई प्रभाव नहीं पड़ता है, और वह जैसी की तैसी ही रहती है।

छापे की भूलों को छोड़ दिया गया है। क्योंकि प्रत्येक आवृत्ति में वे बदल जाती हैं। पाठक स्वयं उनको सही कर लेंगे।

सत्यार्थ-प्रकाश में समीक्षित आयतों का भाषानुवाद, कहीं-कहीं सिवाय एक दो अक्षरों के हेर-फेर के, जैसा-का-तैसा ही रहने दिया है, ताकि शाह रफ़ीउद्दीन साहब देहलवी के उर्दू तर्जुमे की झलक इसमें मौजूद रहे, जिसके आधार पर आर्य-भाषानुवाद किया गया है।

ता० १८-१०-४३
शुक्रवार, दीपावली

—रामचन्द्र देहलवी

सत्यासत्य का निर्णय

मेरा तात्पर्य किसी की हानि व विरोध करने में नहीं, किन्तु सत्यासत्य का निर्णय करने-कराने का है। इसी प्रकार सब मनुष्यों को न्यायदृष्टि से वर्तना अति उचित है। मनुष्य का जन्म होना सत्यासत्य का निर्णय करने-कराने के लिये है, न कि वाद-विवाद विरोध करने-कराने के लिये। इसी मत-मतान्तर के विवाद से जगत् में जो-जो अनिष्ट फल हुए होते हैं और होंगे, उनको पक्षपात-रहित विद्वज्जन जान सकते हैं। जब तक इस मनुष्य जाति में परस्पर मिथ्या मत-मतान्तर का विरुद्ध-वाद न छूटेगा, तब तक अन्योऽन्य को आनन्द न होगा। यदि हम सब मनुष्य और विशेष विद्वज्जन ईर्ष्या-द्वेष छोड़ सत्यासत्य का निर्णय करके सत्य का ग्रहण और असत्य का त्याग करना चाहें, तो हमारे लिये यह बात असाध्य न...

—स्वामी दयानन्द सरस्वती